आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

आधुनिक हिन्दी साहित्य

[१९००-१९५० ई०]

की

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

[प्रयाग विश्वविद्यालय, की डी० फिल० उपाधि के लिये स्वीकृत शोध–प्रबंध]
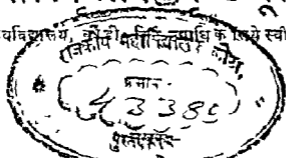
प्रस्तुतकर्ता—
डा० भोलानाथ,
एम. ए., डी. फिल,
अध्यक्ष, हिन्दी—विभाग,
महारानी लालकुंवरि महाविद्यालय,
बलरामपुर, गोण्डा [उत्तर प्रदेश]

निर्देशक—
पद्मभूषण डा० रामकुमार वर्मा,
एम. ए., पी एच डी.,
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी–विभाग,
प्रयाग विश्व विद्यालय, प्रयाग

प्रगति प्रकाशन
बेतुल बिल्डिंग, आगरा–३

प्रथम - संस्करण
सितम्बर - १९६९

मूल्य चालीस रुपये

प्रकाशक
रामगोपाल परदेशी संचालक
प्रगति प्रकाशन
बेतुल बिल्डिंग,
आगरा-३
फोन नं० 61461

मुद्रक
होरीलाल आर्य
राष्ट्र भाषा प्रिंटिंग प्रेस
हाथरस

समर्पण

उन कृपाओं, अनुकम्पाओ, सहयोगो, प्रोत्साहनो एव आशीर्वादो को,

(जो जीवन-पथ के बाम पार्श्व मे रहे)

उन प्रवचनाओ, प्रपीडनो, विश्वासघातो, निष्ठुरताओं एव दर्पों को

(जो जीवन -पथ के दक्षिण पार्श्व में रहे)

तथा

चिरंजीवि हेरम्ब कुमार को

(जो इस शोध प्रबध का जुड़वां भाई है)

और

अन्त में

माता सरस्वती

एव

उसके अनुरागी सपूतों को

—लेखक

भूमिका

सुनता हूँ कि रामभक्त ने मुर्दे को भी जिला दिया था,
देखता हूँ कि रामकुमार ने मेरी मरी सी लेखनी मे भी जान डालदी है।
बात कुछ यो है —
गुरुदेव डा० धीरेन्द्र वर्मा के बादाम तुल्य आशीर्वादो, डा० रामकुमार वर्मा की स्नेहासक्त कृपाओ डा०माताप्रसाद गुप्त उदयनारायण तिवारी और गुरुजनो के आशीर्वाद समन्वित प्रोत्साहनो डा० श्रीकृष्णलाल और डा०केसरीनारायण शुक्ल को अहैतुकी अनुकम्पाओ श्री व्रजबासीलाल गौड और उनके परिवार के सभी सदस्यो की स्नेहव्यवहारणी प्रियरूपिणी भिक्षाओ डा०भोलानाथतिवारी डा० लक्ष्मीनारायणलाल श्री कुन्जविहारीलाल अग्रवाल और श्री देवेन्द्र नाथ श्रीवास्तव आदि मित्रो के सहयोग के परिणामस्वरूप (जिनका मैं इतना ऋणी हूँ कि जन्म जन्मान्तर मे भी किसी का भी ऋण न चुका सकता हूँ और न चुकाने की इच्छा ही है क्योकि इन सबके ऋण से मुक्त होने की अपेक्षा उस ऋण भार से दबा रहना अधिक अच्छा लगता है) बहुतो के लिये एक दुर्घटना यह हुई कि मैं डी० फिल हो गया। कुछ अपने स्वभाव की सीमाओ और कुछ परिस्थितियो की क्रूर विद्रूपताओ के कारण मैं इधर-उधर भटकता हुआ अन्त मे हिमालय की तराई मे अचिरावती के तट पर द्विवेदी युगीन काव्य के एक मात्र साहित्यिक वातावरण वाले बलरामपुर मे जा टिका। साहित्यिक केन्द्रो और साहित्यिक हलचलो का सुदूर स्थिति दृष्टामात्र रह गया गभीर अध्ययन समाप्त हो चला। जमाना आगे बढता गया और रुका हुआ मैं पीछे पडता गया। साथी कही के कही पहुँच गये मैं वही की वही धँस गया। उगता हुआ पौधा झुलस गया। सफल शोध छात्र की लेखनी मर-सी गई।

कि ....

गुरुदेव डा० रामकुमार वर्मा ने कहा "भोला मुझे तुमसे एक ही शिकायत है। तुम्हारी लेखनी निष्क्रिय क्यो हो गई?" और एक क्षण मे ही छः सात वर्षों के अन्दर मेरे ऊपर पडी हुई सारी चोटें बिजली की तरह

काँप गई। मैं सम्भवतः यही कह पाया था, "गुरुदेव इसका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं है।" "यह सब कुछ नहीं तुम्हें लिखना चाहिये।" और मैंने देखा—गुरुदेव डा० धीरेन्द्र वर्मा को मेरा जो प्रार्थना पत्र अधूरा छोड़कर अवकाश ग्रहण करना पड़ा था वह पूरा हो गया ······मैं डी० लिट० रुफ़ ! लर·····प्रयाग विश्व विद्यालय के हिंदी विभाग का पुनः सक्रिय छात्र······ मेरे गुरुदेव ··· 'छोटे सहपाठी'·····वही पुस्तकालय·····वही सौम्यमूर्ति कृपाशील भक्ति प्रसाद त्रिवेदी ·····वही रिसर्च टेबुल··· 'पुस्तकों का वही प्यारा साथ·····बरसों पहले छूटा प्यारा साथ जीवन·····मैं और पुस्तकें·····मैं और अध्ययन ··· भोजन से अरुचि ··· परिवार के प्रति हमेशा·····स्वास्थ्य के प्रति उदासीनता···नौकरी के प्रति अरुचि···मुर्दा जो उठा ···मरी-सी लेखनी नवल चेतना से सक्रिय हो उठी·····मैं नत मस्तक हूँ——————————————————————

और आज डी० लिट० का यह शोध प्रबन्ध आपके सम्मुख है।

प्रश्न उठता है कि इसमें है क्या?

बीसवी शताब्दी के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि! ··· ··· महासागर-जैसा विषय और चीटी जैसी मेरी प्रतिभा! संस्कृति पकड में न आ सकने वाला भाव है। उसकी अनुभूति हो सकती है परन्तु बुद्धि की पकड से वह बाहर है और मेरी बुद्धि भी उतनी प्रखर नहीं, उसकी पकड भी उतनी सूक्ष्म नहीं। और फिर यह भारतीय संस्कृति!! बहुतों के लिये आश्चर्य का विषय!! फिर भी जितना कुछ मेरे द्वारा सम्भव है १९०० ई० से लेकर १९५० ई० तक के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का उतना अध्ययन।········

आधुनिक हिन्दी साहित्य का अध्ययन अभी होना है किन्तु हमारे यहाँ का अध्ययन सम्बंधी मनोविज्ञान कुछ विचित्र सा है। नाम 'हिन्दी साहित्य' यदि कहीं और किसी भी प्रकार लगा है तो लोग हिन्दी साहित्य सम्बन्धी सामग्री यानी कृतियों, कृति महाशयों के नामों और तत्सबंधी अध्ययनों की ही प्रधानता देखना चाहते हैं और यदि ऐसा न हो तो उस अध्ययन को हिन्दी का मानने के लिये तैयार नहीं। अस्तु मेरे एकाध आदरणीय मित्रों और मान्य परामर्श दाताओं ने मुझसे कहा कि इसमें हिन्दी लेखकों और उनकी कृतियों पर और अधिक विचार होना चाहिये। एक ने तो यहाँ तक कहा कि इसे हिन्दी का शोध प्रबन्ध ही नहीं माना जा सकता है।

मैं विचार वैभिन्य की स्वतन्त्रता के अधिकार का आदर करता हुआ चुप हो गया। वैसे टाइप की हुई प्रति की पृष्ठ पंक्ति गणना के आधार पर मैं कहना चाहता हूँ कि इस सम्पूर्ण शोध प्रबंध मे आपको औसतन एक तिहाई से कुछ अधिक पक्तियाँ हिन्दी साहित्य या साहित्यिको के सबंध की ही मिलेंगी।

इस शोध प्रबंध मे अँग्रेजी भाषा मे लिखी गई अनेक पुस्तकों के उद्धरण हैं। अँग्रेजी के उन वाक्यों का हिन्दी रूपान्तर या अनुवाद सब का सब मेरे द्वारा किया गया है। इन अनुवादो मे अभिव्यक्तियो का मूल आशय पूर्ण रूपेण सुरक्षित हैं—मूल भाव कही भी खण्डित नहीं होने पाया।

यह पुस्तक आपको कैसी लगेगी यह मैं नही जानता पूर्ण मौलिकता का दावा मैं नही करता। वह शायद ही किसी पुस्तक मे मिले किन्तु स्व० आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने इस शोध प्रबंध को पढकर मुझे बधाई दी थी और कहा था 'तुम्हारा सस्कृत प्रेम-राष्ट्र प्रेम बडा ही उग्र है। डा० रामकुमार वर्मा ने कहा था कि लगता है सस्कृति का एक महान विद्वान इसमे बोल रहा है। एक अन्य महान विद्वान का विचार था कि यह घोर परिश्रम का फल है और अपने जीवन भर के अध्ययन के बावजूद भी वे इस शोध मे कुछ ऐसी बातें पा सके थे जो सर्वथा नवीन हैं। डा० रामकुमार वर्मा के सुयोग्य निर्देशक मे यह कार्य किया गया है। वे, डा० धीरेन्द्र वर्मा और आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इसके परीक्षक थे। मैं इन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

एक बात और! बड़े वृक्ष के नीचे छोटे पनपने नही पाते। मध्य युग मे शिष्य की कृतियाँ गुरुजी की हो जाती थी। अब यह पुनीत कार्य नाम साम्य पर ही होने लगा है। इस समय हिन्दी मे भोलानाथ नाम के दो व्यक्ति हैं। एक केवल भोलानाथ है और दूसरा 'तिवारी' शब्द युक्त। पहला छोटा दूसरा बडा, पहले को कोई नही जानता, दूसरा हिन्दी का महान विद्वान दोनो सहपाठी रहे। पहले ने निबंध लिखा, दूसरे को प्रशसा मिली, पहले को पुरस्कार मिला, दूसरे को बधाई-पत्र, पहले को डी० फिल डिग्री मिली, दूसरे के नाम से जुड गई। लोगो ने छोटे को बडा समझ लिया! यह शोध प्रबंध छोटे का है-कृपा करके इसे बड़े का समझने की भूल न कीजिएगा। बडा दिल्ली मे रहता है, छोटा बलरामपुर मे। छोटे की चीज

पड़े को मिल जायेगी, तो बडे के बडेपन में कुछ भी वृद्धि न होगी—हाँ, छोटा अपनी छोटी चीज से भी वंचित हो जायेगा।

मेरी इस जरासी और बेकार की महत्वाकांक्षा के लिये मेरी धर्मपत्नी श्रीमती कमल, मेरे पुत्र कुमार कार्तिकेय और मेरी पुत्री कुमारी पूजा श्री को जुलाई १९६२ से लेकर दिसम्बर १९६२ तक जो मर्मान्तिक कष्ट शारीरिक और मानसिक दोनों सहने पडे वे अवर्णनीय हैं। भयानक पेड होते तो सूख जाते फूल होते तो धरती मे मिल जाते, सरस्वती होती तो सगम मे लुप्त हो जाती किन्तु वज्र का हृदय था जो सब झेल ले गया। इस शोध प्रबन्ध मे उनका योग अमूल्य है। इस पर एक मात्र अधिकार उनका है, यह उन्हीं की चीज है और मैं उनका कभी भी उऋण न हो सकने वाला ऋणी हूँ।

अन्त मे मैं उन सब विद्वानो के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियो का उपयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे इस शोध प्रबन्ध मे हुआ है इस शोध प्रबन्ध मे मुझे परामर्श प्रोत्साहन एव उत्साहवर्द्धन उस समय के उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन, उस समय के उत्तर प्रदेश के मुख्य मत्री डा० सम्पूर्णानन्द, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा डा० उदयनारायण तिवारी डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० सरस्वती प्रसाद आदि से मिला है, जिसके लिए मैं इन सभी विद्वानो एव विभूतियो का असाधारणरूप से कृतज्ञ हूँ। श्री भक्ति प्रसाद त्रिवेदी ने जिस उदारता के साथ मुझे पुस्तकालय मे अध्ययन करने की अनुमति एव सुविधा प्रदान की उसके लिये मैं सचमुच उनका बहुत ऋणी हूँ। उनकी इस कृपा के बिना यह शोध प्रबध कभी पूरा नही हो सकता था। गुरुदेव डा० धारेन्द्र वर्मा और गुरुदेव डा० रामकुमार वर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की शक्ति मेरी लेखनी में है ही नहीं। मौन हूँ।

मैं अपनी और इस पुस्तक के पाठको की ओर से हिन्दी के जागरूक कवि श्री रामगोपाल परदेशी अध्यक्ष प्रगति प्रकाशन के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। उनके सौहाद्र सहयोग उदारता ग्राहकला के अभाव मे यह पुस्तक कब तक न छपती, मैं कह नहीं सकता। सच बात कोई यह कहता—इतनी मोटी किताब कौन छापे, मैं इतना बडा प्रकाशक नहीं—साहब किताब तो अच्छी है मगर आप इतने प्रसिद्ध नही हैं कि यह रिस्क लिया जा सके। साहब किताब तो अच्छी है मगर अब मैं केवल शिक्षण सम्बन्धी किताब ही

इधर कई वर्षों तक छापूँगा।

जीवन की एक बड़ी इच्छा यह भी रही है कि मैं कभी किसी के भी प्रति कृतघ्न रहूँ। अतएव मौन से लेकर विचार विमर्श तक, संकेत से लेकर स्नेह स्निग्ध परामर्शों एवं परीक्षणों तक तथा सहायता से लेकर बाधा तक मैं सबके प्रति कृतज्ञ हूँ। आभारी हूँ।

भोलानाथ
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
महारानीलाल कुँवर महाविद्यालय,
बलरामपुर (गोण्डा)

अनुक्रमणिका

विषय प्रवेश

बीसवी सदी के पचास वर्ष और भारत की महानता—बीसवीं शताब्दी के पचास वर्ष और हिन्दी की समृद्धि—कुछ हिन्दी विरोधी दृष्टिकोण—दुर्दमनीयता एवं शक्ति का स्रोत—संस्कृति क्या है—प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य और स्वरूप—भारतीय संस्कृति की प्रकृति—सामाजिक परिप्रेक्ष्य—१८५७ से १९०० तक का युग।

विषय-प्रवेश

बीसवीं सदी के पचास वर्ष और भारत की महानता

बीसवीं शताब्दी में भारत का आत्म-बोध विश्व इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड संसार का सबसे बड़ा साम्राज्यवादी सूत्रधार था। कहा जाता है कि तब अंग्रेजों के राज्य में सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता था। उनके साम्राज्य के एक भाग में यदि वह अस्त होता था तो उसी समय उसके दूसरे भाग में उदय हो उठता था। इस साम्राज्य का सबसे बड़ा उपनिवेश-सबसे बड़ा गुलाम देश-भारतवर्ष था। यह गुलाम भारतवर्ष वही भारतवर्ष था *जिसने संसार की सभ्यता और संस्कृति के विकास में असाधारण रूप से योगदान* किया था। इस क्षेत्र में जितना महत्वपूर्ण योग भारत ने दिया उतना अन्य कोई भी राष्ट्र नहीं दे सका। संसार ने बीसवीं शताब्दी में इसी पराधीन भारतवर्ष द्वारा प्रवर्त्तित इतिहास का अभूतपूर्व आश्चर्य देखा। सत्याग्रहमयी राजनीति ने विश्व के इतिहास में एक नया अध्याय खोला। आज इसको संसार के अनेक छोटे बड़े राष्ट्र अपनी-अपनी आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार अपनाने का प्रयास करते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतवर्ष में इसे जो सफलता मिली उसके परिणामस्वरूप वह इंग्लैंड के "ग्लोरियस रेवोल्यूशन" से कहीं अधिक "ग्लोरियस" माना जा सकता है।

विश्व के नवीनतम रंगमंच पर भी नव स्वतन्त्र भारत का कार्य-कलाप कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत की स्वतन्त्रता ने एशिया और अफ्रीका के पराधीन देशों के लिए स्वतन्त्रता की आशा का अवरुद्ध द्वार उन्मुक्त कर दिया। दोनों महाद्वीपों की पिछड़ी हुई, दबी पिसी एवं अर्द्धसभ्य जातियों की आंखों के सामने उन्नति एवं विकास की अनन्त सम्भावनाएं और आकांक्षायें आदर्श रूप में मूर्त हो उठीं। युद्धों के इतिहास में नये मूल्य-नए प्रतिमान-जन्म लेते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। चीन ने भारत पर आक्रमण किया और रणक्षेत्र में उस युद्ध कहीं-कहीं विजय मिली। भारतीय

सेनाओ को पीछे हटना पडा। पराजय-सी दिखाई पडी। उसी समय संसार ने एक अचम्भे की बात देखी। जीतने वाला अपने आप पीछे हट गया। कुछ वर्ष पहले स्वेज नहर के प्रश्न पर होने वाले सशक्त संघर्ष मे विजेता-सा इंगलैंड पीछे हटा और मिस्र को लक्ष्य-प्राप्ति हुई। उसी घटना की नये रूप मे पुनरावृत्ति हुई। आज विश्व-राजनीति के रंगमंच पर जीते हुए-से चीन की दुर्गति हो रही है और पराजित-से भारत की प्रतिष्ठा मे कहीं किसी ओर से कमी नही दिखाई पडती। नई बात है !!

पराधीन भारत के रामकृष्ण-विवेकानन्द, रामतीर्थ-दयानन्द, तिलक-गांधी गोखले रानाडे, अरविन्द रमन, टैगोर-भारती, प्रेमचन्द-प्रसाद, मालवीय-नेहरू, जवाहर, लाल विनोबा, राधाकृष्णन आदि की उपेक्षा संसार की कोई भी प्रगतिशील शक्ति नही कर सकती। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आस-पास के समय मे भारतवर्ष मे इतनी प्रतिभाओ का जन्म हुआ कि समय पर भारत उनके प्रकाश मे जगमगा उठा। अमावस्या को दीपावलियाँ के मधुर प्रकाश ने जैसे सजा दिया हो! गुलाम भारत मे भी कितनी असाधारण क्षमता थी!! प्रश्न यह है कि दबे पिसे-लुटे-पस्त भारत मे इतनी शक्ति और क्षमता कहा से आ गई थी कि वह संसार के लिए आश्चर्यो की सृष्टि कर सका। उसके अन्दर यह शक्ति कहा छिपी थी!! भारत की शक्ति और सम्भावनाऐं लोगो के लिए अनबूझ पहेली बनी है।

बीसवी शताब्दी के पचास वर्ष और हिन्दी की समृद्धि :

ठीक इसी प्रकार हिन्दी भी अपरिचितो और विरोधियो के लिये पहेली बनी हुई है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय से लेकर आज तक हिन्दी ने जिस प्रकार उन्नति की है, वह सचमुच आश्चर्य का विषय है। उस समय कविता ब्रजभाषा मे लिखी जाती थी और आज खडी बोली मे लिखी जाती है। उस समय के गद्य मे भी ब्रजभाषा के शब्द आ जाते थे और आज पद्य मे भी वे वहीं नही दिखलाई पडते। बीसवी शताब्दी के आसपास की खडी बोली की कविता और आज की कविता का तुलनात्मक अध्ययन करे तो भाषा, शैली, विषय, काव्यात्मकता, अभिव्यंजना शक्ति आदि की दृष्टियों से दोनो मे आश्चर्यजनक अन्तर मिलता है। यही स्थिति गद्य के क्षेत्र मे भी है। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति शैली की विविधता, विषय की अनेकता, विधाओ की विभिन्नता, अभिव्यक्तियो की प्रौढता, सूक्ष्म विचारो को सूत्र रूप मे उपस्थित करने की शक्ति, आदि की दृष्टियो से आज के गद्य मे और भारतेन्दु युग के गद्य मे बहुत अन्तर आ गया है। उस समय साहित्य उतना प्रचुर नही था जितना आज है। स्थिति मे भी बडा अन्तर है। उस समय की हिन्दी पूर्ण रूप से उपेक्षित

थी, आज उसका सर्वत्र आदर है। आज वह भारत की राष्ट्रभाषा है। कुछ लोग यह तथ्य मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं और कुछ लोग रुद्धकण्ठ से। कुछ लोग इसका विरोध ईर्ष्या-द्वेषवश करते हैं और कुछ लोग स्वार्थवश। फिर भी, इसकी महत्ता सभी स्वीकार करते हैं। आज हिन्दी भारत के ही सभी प्रान्तों की नवोदित प्रतिभाओं के अध्ययन और आदर का विषय नहीं बनी है, विदेशी भी उसका महत्त्व स्वीकार करते हैं। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग में यह कुछ कम था, आज बहुत है। दूर-दूर के प्रांतों के और भिन्न-भिन्न देशों के लोग हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने यहां आते हैं और अपने यहां उसके अध्ययन की व्यवस्था करते हैं। यह सारी की सारी कायापलट बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही—पचास वर्षों में ही—सम्भव हो गई। इस शताब्दी के पचास वर्षों में जैसे भारतवर्ष का आश्चर्यजनक रूप से उत्थान एवं विकास हो गया है, उसी प्रकार हिन्दी का भी हो गया है।

कुछ हिन्दी-विरोधी दृष्टिकोण

प्रश्न यह है कि इतनी जल्दी ऐसा सब कैसे हो गया। इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण भारतवर्ष को लोग क्या कहते हैं, यह यद्यपि इस प्रबन्ध का विषय नहीं है, फिर भी, इतना कह देने में कोई हर्ज नहीं कि भारत की जनता की महानता के विषय में लोगों को अभी सन्देह है, कुछ पुराने लोग अब भी अंग्रेजी राज को इस राज से अच्छा मानते हैं और कुछ लोगों के अनुसार, भारत समय से पहले स्वतन्त्र कर दिया गया—वह अभी स्वतन्त्र होने के योग्य बन नहीं पाया था। ऐसे लोग कम हैं और सामने आने से घबराते हैं—सम्भवतः जनमत से डरते हैं। हिन्दी को, चूंकि, अभी सम्पूर्ण भारत से भिन्न रखा गया है और अब लोग हिन्दी और देश की स्वतन्त्रता—इन दोनों को दो भिन्न-भिन्न तत्व मानने लगे हैं अतएव हिन्दी के विषय में उचित-अनुचित कह डालने में लोग संकोच नहीं करते। यही कारण है कि हिन्दी और उसकी महानता के विषय में लोगों के अनेक दृष्टिकोण हो रहे हैं। कुछ का विचार है कि हिन्दी भ्रष्ट हो रही है। किन्हीं का निश्चित मत है कि हिन्दी में है ही क्या? देखना-पढ़ना हो तो संस्कृत-अंग्रेजी देखा-पढ़ा जाय। हिन्दी पर स्नेह रखने वाले कुछ विचारशील व्यक्ति हिन्दी को संस्कृत की बेटी मानते हुए यह कहते हैं कि बिना संस्कृत जाने हिन्दी समझी ही नहीं जा सकती। कुछ प्रगतिशील विद्वान् यह कहते हैं कि हिन्दी में जो-कुछ अच्छा है वह अंग्रेजी साहित्य के अनुकरण और प्रभाव के ही परिणामस्वरूप है। एक दृष्टिकोण तो यह भी है कि खड़ी बोली हिन्दी असंस्कृत, कुसंस्कृत, अपढ़, फूहड़ है तथा कविता के अनुपयुक्त है और देश-विदेश के सद् साहित्यों के अध्ययन के परिणामस्वरूप उत्पन्न साहित्यिक सुरुचि खड़ी बोली हिन्दी की कविता सुनने से विकृत

हो उठती है। कुछ लोग ज्ञान-विज्ञान और शासन प्रशासन के क्षेत्रों मे अभी इसकी उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं एव कई वर्षो—यहा तक कि दो-तीन पीढियो-के बाद इसे इस योग्य हो सकना सम्भव मानते हैं कि भारत भर के लोग पढ, बोल, समझ और लिख सके।

दुर्दमनीयता एव शक्ति का स्रोत

फिर भी, भारत की प्रगति के साथ हिन्दी भी विकसित होती चली जा रही है। विरोधी लोग अपनी कमजोरियो के कारण हारी हुई बाजी के खेलने का दुराग्रह कर रहे हैं, काल देवता जो निर्णय लिख चुका है उसके विरुद्ध हाथ-पाव मारने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं। सेवको मे अनेक त्रुटिया हैं। फिर भी, विकास निरन्तर हो रहा है और उसकी गति अप्रतिहत है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यो है? सोचना पडता है कि वह क्या है जो इन्हे इस प्रकार दुर्दमनीय बनाये है, एव किसने दोनो को एक सा ऊर्ध्वमुखी एव प्रगतिशील तथा उत्थान की ओर तीव्र गति से प्रेरित कर रखा है। जिनकी सूझ की गति उस तत्व तक नही है उनके लिए सचमुच यह विश्वास कर लेना कठिन है कि भारत ने या हिन्दी ने सचमुच उन्नति कर ली है और विकसित हो गई। उनके लिए यह आश्चर्य और अविश्वास का विषय है।

मेरे अध्ययन और शोध का विषय इसी रहस्य के उद्घाटन से, इसी आश्चर्य को बोधगम्य बना देने से सम्बन्धित है। वास्तविकता तो यह है कि सम्पूर्ण भारत की-और इसीलिए हिन्दी की भी-जो यह असाधारण गति से उन्नति हुई है उसका मूल कारण भारत की अपनी सस्कृति है। भारतीय सस्कृति से हमे जो तत्व मिले हैं, उन्होंने ही हमारे अन्दर इतनी शक्ति भर दी है कि हम कठिन से कठिन एव भयानक से भयानक तथा असाधारण रूप से प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी कभी निःशेष नही होने पाते। यह वह भागीरथी है जिसका मूल स्रोत कभी सूखता नही। इसी से हमे जीवन मिलता रहा है और मिला है।

सस्कृति क्या है?

सस्कृति-विहीन जीवन कोई जीवन नही होता। आज के विचारक भले ही यह कहे कि आधुनिक वह है जो आज के पहले की परम्पराओ और प्रभावो से मुक्त है किन्तु प्रभावो और परम्पराओ से पूर्णत अप्रभावित अस्तित्व की कल्पना ही मेरे लिये दुर्लभ रही है। मुझे तो यह घोषणा ही दम्भ प्रतीत होती है। मा की गोद से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक हमारी चेतना और हमारी बुद्धि हमारे आसपास

के ज्ञान और वातावरण के विभिन्न तत्वों से ही बाधित एवं मर्यादित होकर गतिशील होती है। वातावरण और परंपरा ही मिलकर व्यक्ति का निर्माण करते हैं। यह परम्परा ही संस्कृति का रूप धारण करती है। व्यक्ति के मानस में ये परम्पराएँ संस्कार का रूप धारण करती हैं और जन-मानस पर ये संस्कृति बन कर छाई रहती हैं। विभिन्न तत्वों से परिपूर्ण यह संस्कृति उस आकाश की तरह है जिसकी सरस स्निग्ध व छाया में जन मानस रूपी रमणीय जगत तरंगित होता रहता है। संस्कृति मानव की व्यापक मानवीय चेतना की विशिष्टता का स्वरूप है। जीवन का समग्र रूप इसमें सन्निहित होता है। हम यहाँ जो कुछ हैं उससे भिन्न और कुछ क्यों नहीं हुए इसका उत्तर संस्कृति ही दे सकती है। इसका विश्लेषण करते हैं तो इतिहास राजनीति, समाज धर्म, दर्शन, नीति रीति सभी कुछ संस्कृति की झांकी देने में समर्थ हैं। उदाहरणतः जब हमारी संस्कृति से पूर्णतः स्वतंत्र होकर हमारी राजनीति का निर्माण नहीं हो सकता, तो हमारी राजनीति के अनन्त पदों में हमारी संस्कृति के स्वरूप पर कुछ न कुछ प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिए। यही बात इतिहास, समाज, धर्म, दर्शन आदि सबके बारे में भी सही है। अतएव हमारी संस्कृति इन विभिन्न विषयों में प्रतिबिम्बित होती है और हमारी संस्कृति का स्वरूप इन विषयों से अभिव्यंजित होता है। अस्तु, संस्कृति को अभिव्यंजित करने वाले, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाले, उसका एक चित्र उपस्थित करते वाले विभिन्न तत्वों के रूप में भी इन विषयों का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य और स्वरूप

प्रस्तुत अध्ययन का संबंध बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के उत्तर भारत की या हिन्दी प्रदेश की सांस्कृतिक परिस्थिति से है। साथ ही, हमें यह भी देखना है कि इन परिस्थितियों से कौन-कौन से ऐसे तत्व निकले जिन्होंने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। इतिहास धर्म दर्शन, राजनीति आदि जीवन के भिन्न भिन्न तत्व समाज में भिन्न भिन्न प्रकार की हलचलों का निर्माण करते हैं। उनसे भिन्न भिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ बनती हैं। ये सब एक ही मूल तत्व से (संस्कृति से) अनुप्राणित होती रहती हैं। एक यही दृष्टिकोण सभी में कुछ न कुछ व्याप्त रहता है। ये परिस्थितियाँ साहित्य में चित्रण का विषय बनती हैं। ये सब मिलकर सामूहिक एवं व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्था को विशिष्ट रूप प्रदान करती हैं। इस व्यवस्था में पल हुए समाज और व्यक्ति का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण बन जाता है। साहित्य इस विशिष्ट जीवन-व्यवस्था एवं विशिष्ट दृष्टिकोण का दर्पण

होता है। किसी साहित्यकार के मन पर उसके अपने और उसके आसपास के जीवन और परिस्थितियों का (राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि सभी का) कुल मिलाकर अर्थात् सामूहिक रूप से प्रभाव पड़ता है। धीरे-धीरे पड़ने वाले ये विभिन्न प्रभाव अन्ततोगत्वा उसकी मनोवृत्ति को एक विशिष्ट रूप दे देते हैं। उसकी अपनी एक विशेष मनोवृत्ति हो जाती है। यह मनोवृत्ति उसके द्वारा रचित साहित्य में बराबर प्रतिबिम्बित होती रहती है। इस प्रकार बाहरी जगत में जो प्रगति होती है अन्तर में वही एक विशेष प्रकार बनकर रम जाती है। अस्तु, इस प्रबंध में उन प्रभावों का, उन मनोवृत्तियों का उन दृष्टिकोणों का और उन रेखाओं का अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है जिनसे बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का हिन्दी साहित्य विनिर्मित हुआ है। प्रगति के भावात्मक प्रतीकों के समझने की चेष्टा की गई है। यह सब समझने के लिये हम उन परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनके परिणाम स्वरूप वे प्रभाव विशेष, मनोवृत्ति विशेष, या दृष्टिकोण विशेष बने है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध की ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक तथा नैतिक और आत्मिक उत्थान-संबंधी प्रयत्नों में उत्पन्न परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। प्रत्येक क्षेत्र की प्रमुख प्रवृत्तियां, प्रमुख घटनाओं एवं प्रमुख दृष्टिकोण का ज्ञान ही उन निष्कर्षों को प्राप्त करने में सहायक होता है जिनसे हम वह झांकी पा सकते हैं जिसका संबंध संस्कृति से है। उदाहरणार्थ, गांधी द्वारा प्रेरित राजनीतिक आन्दोलन का चित्रण और उनकी घटनाओं का विवरण जहां इस युग की राजनीतिक परिस्थिति स्पष्ट करता है वहां हड़ताल, धरना, जेलयात्रा, चुपचाप मार खाना आदि दृष्टिकोण की अहिंसा पर प्रकाश डालते हुए भारतीय संस्कृति के इस (अहिंसा) तत्व की ओर भी संकेत करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में हमें अपनी संस्कृति का रूप मिलता है जिसे हम अपने साहित्य में पाते हैं। इस प्रकार अहिंसात्मक दृष्टि बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का एक तत्व इसी दृष्टिकोण से अन्य परिस्थितियों का भी अध्ययन किया गया है। पाश्चात्य सभ्यता का, तथा उसके विषाक्त प्रभावों से अपने को मुक्त करके यथासम्भव अपने सांस्कृतिक स्वरूप के अधिकाधिक निकट रहने के प्रयत्नों का, इतिहास बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारत का इतिहास है। अपने समाज और साहित्य के ऊपर इन दृष्टिकोणों का भी प्रभाव है। इन दो प्रवृत्तियों के घातों-प्रतिघातों ने निश्चित रूप से समाज और साहित्य की गतिविधि और उनके रूपों के निर्माण में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस लिये इनका भी अध्ययन

अनिवार्य हो गया है। इस प्रकार जीवन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन और उनसे प्राप्त निष्कर्षों तथा उन पर डाली गई समग्र दृष्टि के द्वारा आलोच्य काल की संस्कृति का एक रूप हमारे सामने स्पष्ट होता है।

भारतीय संस्कृति की प्रकृति

संस्कृति का प्रवाह नदी की धारा की भांति अविच्छिन्न और अविभाज्य होता है। पीछे से चली आती हुई जल राशि किसी स्थान विशेष के जल की शक्ति भी होती है और जीवन तथा अस्तित्व भी। पीछे के जल से किसी स्थान विशेष के जल को अलग कर सकना असंभव है और यदि संभव भी हो सके तो फिर नदी का नदी बना रहना असंभव होता है। जगह-जगह आकर मिल जाने वाली अनेक जल धाराएं नदी की अपनी मूलधारा की उपयोगिता और महत्व कम नहीं कर पातीं। ठीक इसी प्रकार अतीत से चले आते हुए सांस्कृतिक तत्वों से पूर्णतः अलग करके किसी देश के किसी काल विशेष की संस्कृति का अध्ययन मूल्यांकन कर सकना संभव नहीं होता। देश के समाज के अंग अंग में उस देश की प्राचीन परम्पराओं मूल्यों और तत्वों के शाश्वत अंश बराबर रमे रहते हैं। जन-समाज का जीवन प्रधानतः इन्हीं से अनुप्राणित एवं अनुप्रेरित रहा करता है। जिन विदेशी तत्वों से उस जीवन समाज का संपर्क होता है वे उसे प्रभावित अवश्य करते हैं परन्तु मूलतत्व को पूर्णतः हटा नहीं पाते। यदि ऐसा संभव हो सके तो वह देश, समाज या जाति मिट जाय। भारतवर्ष का अतीत असाधारण रूप से महत्वपूर्ण रहा है। यहां के ऋषियों मुनियों तत्वदर्शियों विचारकों तथा समाजशास्त्रियों मनीषियों ने जिन तत्वों के आधार पर यहां के समाज का निर्माण किया वे कालान्तर में शाश्वत सिद्ध हुए। उन्होंने हमारे समाज को अमर कर दिया। वे सभी समय के लिये समान रूप से उपयोगी सिद्ध हुए। युगों की चट्टानों पर पैर रखता हुआ यह समाज आगे बढ़ा। कालान्तर में अनेक विदेशी तत्वों से उसका संपर्क हुआ। उनसे उसे शक्ति मिली नवजीवन मिला प्रेरणा मिली किन्तु समाज ने अपने मूल तत्वों का सांस्कृतिक उत्तराधिकार का पूर्णतः परित्याग कभी भी नहीं किया। अपनी प्राचीन परम्पराओं और जीवन के शाश्वत तत्वों तथा वर्तमान परिस्थितियों में यथोचित समन्वय करके अपना कायापलट करता हुआ नवीन संजीवनी शक्ति नवचेतना नवस्फूर्ति प्राप्त करता हुआ ही भारतीय समाज आगे बढ़ा है। उसने न प्राचीन की पूर्ण उपेक्षा और तिरस्कार किया है और न नवीन का निरादर। साथ ही न सदैव प्राचीन से ही चिपका रहा है और न नवीन पर

पूर्णत लुब्ध होकर उसी रग मे रग गया है। उसकी दृष्टि दोनो मे सुन्दरतम सन्तुलन बनाये रखती है। यही उसकी अमरता और अजय सजीवनी शक्ति का रहस्य है। अपने समाज के तात्कालिक विकास-उन्नति समृद्धि के लिये भारत का समाज प्राचीन के असामयिक, अनुपयोगी एव निरर्थक तत्वो का परित्याग धीरे धीरे कर देता है और इस कार्य मे जो प्रवृत्तिया बाधक बनकर खडी होती हैं उनका विरोध होता है। साथ ही, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर यह नवीन तत्वों के उन अशो का, जो उपयोगी, अनिवार्य और समयानुकूल होते हैं, धीरे-धीरे, सतर्कतापूर्वक और उदारतापूर्वक स्वागत करता है। इसके लिये जिस शक्ति या सूझ की आवश्यकता है वह समाज की विभिन्न सहयोगी एव विरोधी प्रवृतियो के घात-प्रतिघात क्रियाओ प्रति क्रियाओ से प्राप्त हो जाती है। तात्कालिक परिस्थितियो की पारस्परिक गतिविधिया एव उनकी प्रतीक शक्तिया हम मे वह अन्तर्दृष्टि सक्रिय कर देती हैं, वह सूझ पैदा कर देती हैं, वह समझ ला देती हैं कि हम एव हमारा समाज कल्याणमार्ग की ओर, उचित दिशा की ओर चल पडता है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य

जब हम बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अपनी सस्कृति का अध्ययन एव विश्लेषण करने तथा उनसे निष्कर्ष प्राप्त करने के लिये अग्रसर होते हैं तब हमें सस्कृति के नैरन्तर्य के कारण, अपना अध्ययन तैतालीस वर्ष पीछे या और ठीक कहें तो, कभी-कभी एक सौ तैतालीस वर्ष पीछे तक खींच ले जाना पडता है। कारण यह है कि बीसवी शताब्दी की कुछ प्रवृत्तियो का सूत्रपात एक सौ तेतालीस वर्ष पीछे से कर दिया गया था। हमारे समाज की जो अवस्था आज हो गई है उसको लाने का दायित्व जिन बातो पर है, उनका प्रारम्भ हमारे समाज मे अंग्रेजो ने लगभग एक सौ तैतालीस वर्ष पहले ही कर दिया था। बीज उस समय बोया गया था, वृक्ष आज उगा है। उदाहरण के लिये, इस युग मे हमारी जो आर्थिक दुर्दशा दिखाई पड रही है, उसका एक कारण है अंग्रेजो की स्वार्थवृत्ति और भारत का उनके द्वारा होने वाला भयानक आर्थिक शोषण। यह आर्थिक शोषण वस्तुत मुगल सम्राट फर्रुखसियर के समय से ही प्रारम्भ कर दिया गया था। परिणाम यह है कि यदि आज के आर्थिक शोषण को सही ढग से समझना है तो अध्ययन को उतने पीछे तक—जब अंग्रेज यहाँ आये थे और उन्हें व्यापार करने की आज्ञा मात्र मिल पाई थी—ले जाना पडेगा। सामान्यत बीसवीं शताब्दी की समस्त प्रवृत्तियो का उदय १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य सग्राम तथा उसके कुछ दशाब्दियों बाद के लगभग हो गया था। आलोच्य काल के अन्दर उन्हीं मे से कुछ मे अधिक तीव्रता आ गई और कुछ मन्द हो गई। उदाहरणार्थ, अंग्रेजो राज्य के प्रति

असन्तोष, अत्याचारी अंग्रेजो एव उनके सहयोगी भारतीयो के प्रति राष्ट्रवादियो के अन्दर हिंसा प्रधान आक्रोश, अपने समाज के सर्वतोमुखी कल्याण एव उत्थान की भावना और इस दिशा मे हो सकने वाले प्रयत्नो का प्रारम्भ उसी युग से हो गया था। आलोच्यकाल में आ कर इनकी गति बहुत आवेगपूर्ण हो गई थी। राजभक्ति का स्वर उस युग मे भी था और इस युग मे भी रहा, किन्तु उस युग मे अत्यधिक प्रखर एव मुखर था और इस युग मे क्षीण एव निष्प्रभ रह गया। अस्तु, १८५७ ई० के अथवा उससे भी पहले की अवस्थाओ का अध्ययन इस आलोच्य काल की अवस्थाओं के अध्ययन की अनिवार्य पृष्ठभूमि–अनिवार्य रूप से सम्बद्ध तत्व–बन जाता है। इन्ही सब का मन पर प्रभाव पड़ता है जो साहित्य लिखने की प्रेरणा देता है।

१८५७ ई० से १९०७ ई० तक का युग

बीसवी शताब्दी की अवस्थाओं की पृष्ठभूमि के रूप में जब हम इस काल के पहले की अवस्था का अध्ययन करते हैं तब हमको ज्ञात होता है कि उस युग मे समाज के अन्दर दो प्रवृत्तियां प्रधान रूप से सक्रिय थीं। पहली प्रवृत्ति थी अपने समाज की युगो-युगों से चली आती हुई रूढ़ियो और परम्पराओंके पालन की। उस युग मे हमारा समाज मध्ययुगीन अवस्था से निकल कर आधुनिक युग में आ रहा था। परिस्थितियां परिवर्तित हो चली थीं। अंग्रेजों की राज्य-स्थापना के साथ-साथ ही मध्य युगीन परिस्थितिया जाने लगी थीं। वातावरण बदलने लगा था। नवीन युग का आभास भी मिलने लगा था। इतना सब होने पर भी मध्ययुगीन परिस्थितियो से निर्मित मनोवृत्तियों का अभाव नही हो सका था। व्यक्ति अपने जीवन को अब भी उन्हीं दृष्टिकोणों से परिचालित कर रहा था जिनसे वह आज से पहले करता रहा। आस्था, विश्वास, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, आदि क्षेत्रों मे समाज का अधिकतम भाग मध्ययुगीन मान्यताओं को ही अपनाये रहा।

समाज मे दो वर्ग थे। एक वर्ग परम्पराओ का अन्धानुकरण कर रहा था। यह वर्ग अन्धविश्वासी था। यह काल की प्रवृत्तियों के परिवर्तन के अनुरूप अपने को परिवर्तित करने के लिये तैयार नहीं था। पंडे, पुजारी, गोसाई, आदि इस वर्ग मे आते हैं। इस वर्ग का विश्वास यह था कि शास्त्रवचनों के अक्षरश: पालन करनेसे ही भारत का कल्याण हो सकता है। यह वर्ग परम्परा से प्राप्त सभी मान्यताओं एव मानदण्डों का कट्टर समर्थक था। राधाचरण गोस्वामी और बालमुकुन्द गुप्त आदि की कविताओं मे इसके प्रमाण मिलते हैं—

धर्म चार पद नसो बसो सुरपति-पुर जाके
कर्म गयो उड़ि सत्य लोक सन्निधि ब्रह्मा के

योग गयो कैलास शंभु ने लियो उठा के
भक्ति गई बैकुंठ पारषद् जन अकुला के
भारत गारत हुवै रह्यो अति आरत कलिकाल मे[1]

ये लोग यज्ञ-याग, पितर-पिंड एवं फारसी के अध्ययन तक को बुरा मानते थे—

यज्ञ-याग मख मेट पेट भरने , को चातुर
पितर पिंड नहिं देत यवन-सेवा के आतुर
पढ़े जनम तें फारसी छोड़ वेद मारग दियो[2]
माता दादी नानी चाची फूफी घर की नार
कोई विधवा को (हो?) हम उसकी शादी पर तैय्यार
भला हम बोज न छोड़ें विधवा का

समाज में दूसरा वर्ग उन लोगों का था जो युग के अनुकूल आवश्यक परिवर्तनों एवं अनिवार्य सुधारों के पक्षपाती थे। इनमें से कुछ लोग आर्यसमाज आंदोलनों से प्रभावित थे और कुछ प्रगतिशील या उदार दृष्टिकोण वाले सनातनी थे। महात्मा मुन्शीराम पहले वर्ग के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दूसरे वर्ग के। इन दोनों में वस्तुतः कोई विशेष अन्तर नहीं था। ये लोग बड़े दुःख के साथ सामाजिक दोषों का वर्णन करते हैं। धार्मिक वाद-विवाद, बाल-विवाह, विधवा-विवाह न होने देना, जाति-पाँति का भेद-भाव, अन्धविश्वास, समुद्रयात्रा-निषेध, शराब, आदि मादक द्रव्य पान छुआछूत, स्त्रीशिक्षा का अभाव, पर्दा, अविद्या, 'अपनपो' के भावना की कमी, आदि से ये कवि व्यथित होते थे। "प्रेमघन" ने स्पष्ट रूप से घोषणा की—

"आवश्यक समाज संशोधन करो, न देर लगाओ"[3]

प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा—

निज धर्म भली विधि जाने, निज गौरव को पहिचाने
स्त्री-गण को विद्या देवें, करि पतिव्रता यश लेवें।[4]
बाल-व्याह की रीति मिटाओ मिटाओ रहे लाली मुँह छाय।[5]

---

१ "आधुनिक काव्यधारा," पृष्ठ ६४।६५।
२. वही „ ६५
३. "आनन्द अरुणोदय",
४ "प्रेम पुष्पावली"
५ "होली है"

तडित गैस परकास राजपथ रजनि सुहाए
महा महा नद माँहि सेतु सुन्दर बंधवाए
बने विश्व विद्यालय विद्यालय पाठालय
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनते बिन ससय[१]

इन सबके होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समग्र रूप से पाश्चात्य जीवन दृष्टि भारतीय विचारकों को पूर्णतः कभी भी स्वीकृत नहीं हुई। इसका कारण यह है कि उसकी प्रकृति हमारी प्रकृति से मूलत भिन्न है। "अपनपौ" को जागृत करने की माग मूल रूप से भारतीय समाज मे प्रचलित होने वाली पाश्चात्य दृष्टि की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न हुई है —

निज धर्म कर्म व्रत नेम नित दृढ चित हुये पालन करैं
नहिं 'आपनपौ' बिसराय के आन और सपनेहुँ ढरैं[२]

उपर्युक्त उद्धरण का 'आन और' पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और पाश्चात्य दृष्टिकोण की ओर सकेत करता है। इसी प्रतिक्रिया ने हमारे अन्दर राष्ट्रीय दृष्टिकोण जागृत करके उस युग की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति बना दिया। भारतेन्दु युग से लेकर सम्पूर्ण आलोच्य काल मे भारत की आत्मा अखण्ड रूप से प्रधानत राष्ट्रीय रग मे रँगी रही और साहित्य मे राष्ट्रीयता के स्वर ही प्रधान रहे। इस स्वर के स्वरूप भिन्न-भिन्न अवश्य रहे हैं। कभी प्राचीन भारत की महत्ता के गुण गान के रूप मे यह भावना अभिव्यक्त हुई, कभी वर्तमान काल की दुर्दशा के चित्रण के रूप मे, कभी अंग्रेजों की स्वार्थ नीति के प्रति अभिव्यजित आक्रोश के रूप में, कभी भारत देश की प्राकृतिक विशेषताओं के गुणानुवाद के रूप म, कभी उद्बोधन और आह्वान के रूप मे, आदि।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ आलोच्य काल मे सक्रिय रही। अस्तु, आलोच्य काल की भारतीय जीवन दृष्टि के विभिन्न तत्त्व निम्नलिखित हुए —

(१) भारतीय परम्पराओ के अन्धानुकरण का विरोध।
(२) भारतीय परम्पराओ के अन्दर युगानुकूल सुधार और नये प्रयोग।
(३) पाश्चात्य प्रभावो के स्वस्थ एव कल्याणकारी अश का विरोध।
(४) पाश्चात्य प्रभावो के स्वस्थ एव कल्याणकारी अशो का स्वागत।
(५) पाश्चात्य सस्कृति के रग मे पूर्णतः रग जाने की प्रवृत्ति का विरोध।

१—'स्वागत' शीर्षक कविता।

२—बालमुकुन्द गुप्त कृत स्फुट कविता रामविनय, पृ० १६।

सभ्यता लेकर आई थी। राजनीतिक क्षेत्र में विरोधियों के क्रूरता पूर्वक दमन ने उनकी शक्ति का सिक्का हमारे मन पर जमा दिया था और विक्टोरिया की सुप्रसिद्ध घोषणा ने उनकी भलमनसाहत पर हमें विश्वास करा दिया था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हमारे समाज का नवयुवक वर्ग बड़ी तेजी से उनका अनुकरण करने लगा। यह अनुकरण स्वस्थ ढङ्ग से भी हुआ और विकृत ढङ्ग से भी। जिस अनुकरण के कारण हम "अपनपो" भूल कर उनके सांस्कृतिक दास बनने लगे वह विकृत ढङ्ग का अनुकरण था। इस प्रकार के अनुकरण का विरोध समाज के सभी समझदार व्यक्तियों ने किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा —

पढ़ि विद्या परदेश की बुद्धि विदेशी पाय
चाल चलन परदेश की गई इन्हें अति भाय
अँग्रेजी वाहन बसन वेष रीति औ नीति
अँग्रेजी रुचि गृह सकल वस्तु देस विपरीत
सबे विदेशी वस्तु, नर, गति, रति-रीति लखात
भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात
हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात
भारतीय सब वस्तु ही सों ये हाय घिनात[1]

अम्बिकादत्त व्यास कहते हैं —

पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर
भालू चरबी चरचि लवेंडर को लगाइ फिर
नई विदेशी विद्या ही को मानत सर्वस
संस्कृत के मृदु वचन लगत इनको अति कर्कस[2]

जो अनुकरण स्वस्थ ढंग से हुआ उसका स्वागत किया गया। दादा भाई नौरोजी पार्लियामेंट के सदस्य चुने जाते हैं तो 'प्रेमघन" प्रसन्न होकर हार्दिक बधाई देते हैं। 'प्रेमघन" ने नये शासन की गुणावली गाई है —

जहाँ काफिले लुटत रहे सोजतन किये हू
जिन दुर्गम थल माँहि गयो कोऊ नहिं कबहूँ
रेल यान परसाद अँधेरी रातहु निधरक
अध पगु असहाय जात बालक अबला तक

१—"आर्याभिनन्दन", पृ० ५
२—"मन की उमग", "भारतधर्म

तडित गैस परकास राजपथ रजनि सुहाए
महा महा नद माँहि सेतु सुन्दर बँधवाए
बने विशद विद्यालय विद्यालय पाठालय
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनते बिन संशय[1]

इन सबके होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समग्र रूप में पाश्चात्य जीवन-दृष्टि भारतीय विचारकों को पूर्णत कभी भी स्वीकृत नहीं हुई। इसका कारण यह है कि उसकी प्रकृति हमारी प्रकृति से मूलत भिन्न है। "अपनपौं" को जागृत करने की मांग मूल रूप से भारतीय समाज में प्रचलित होने वाली पाश्चात्य दृष्टि की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न हुई है —

निज धर्म कर्म व्रत नेम नित दृढ चित हुये पालन करें
नहिं "आपनपौं" बिसराय के आन और सपनेहु ढरें[2]

उपर्युक्त उद्धरण का "आन और" पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है और पाश्चात्य दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है। इसी प्रतिक्रिया ने हमारे अन्दर राष्ट्रीय दृष्टिकोण *जागृत करके उस युग की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति बना दिया। भारतेन्दु युग से लेकर सम्पूर्ण* आलोच्य काल में भारत की आत्मा अखण्ड-रूप से प्रधानत राष्ट्रीय रग में रंगी रही और साहित्य में राष्ट्रीयता के स्वर ही प्रधान रहे। इस स्वर के स्वरूप भिन्न-भिन्न अवश्य रहे हैं। कभी प्राचीन भारत की महत्ता के गुण-गान के रूप में यह भावना अभिव्यक्त हुई, कभी वर्तमान काल की दुर्दशा के चित्रण के रूप में, कभी अँग्रेजों की स्वार्थ नीति के प्रति अभिव्यंजित आक्रोश के रूप में, कभी भारत देश की प्राकृतिक विशेषताओं के गुणानुवाद के रूप में, कभी उद्बोधन और आह्वान के रूप में, आदि।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियां आलोच्य काल में सक्रिय रहीं। अस्तु, आलोच्य काल की भारतीय जीवन दृष्टि के विभिन्न तत्व निम्नलिखित हुए —

(१) भारतीय परम्पराओं के अन्धानुकरण का विरोध।
(२) भारतीय परम्पराओं के अन्दर युगानुकूल सुधार और नये प्रयोग
(३) पाश्चात्य प्रभावों के स्वस्थ एवं कल्याणकारी अंश का विरोध।
(४) *पाश्चात्य प्रभावों के स्वस्थ एवं कल्याणकारी अंशों का स्वागत।*
(५) *पाश्चात्य संस्कृति के रंग में पूर्णत रंग जाने की प्रवृत्ति का विरोध।*

१—*'स्वागत' शीर्षक कविता।*

२—बालमुकुन्द गुप्त कृत स्फुट कविता-रामविनय, पृ० १६।

इसे हम यो भी देख सकते हैं —

भारतीय जीवन दृष्टि

- देश की परम्पराएं
  - उनका अन्धानुकरण जिसका विरोध हुआ।
  - अनुकरण मे युगानुकूल नये प्रयोगो और तत्वो के समावेश की सभावना।
    - सस्कृति के नवीन चरण
- विदेशी प्रभाव
  - पाश्चात्य क्रिया
    - स्वस्थ (इनका स्वागत)
    - विकृत (इनका विरोध)
  - इस्लामी, आदि
    - पूर्ण अ धानुकरण (प्रतिक्रिया)
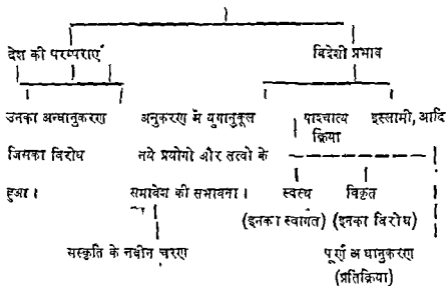
उपर्युक्त प्रवृत्तियो का समुचित समन्वय अभी नही हो पाया है। अभी समाज और साहित्य मे इनकी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ ही चल रही हैं। यही कारण है कि आलोच्य काल की सस्कृति सक्रान्तिकालीन सस्कृति है और उनकी पृष्ठभूमि मे निर्मित साहित्य सक्रान्ति काल का साहित्य समझा जाना चाहिए।

अध्याय-1

सांस्कृतिक चेतना के आयाम

हिन्दी साहित्य की व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति—संस्कृति का अर्थ—संसार क्या है—सभ्यता और संस्कृति—सभ्यता और संस्कृति तथा कलाकार की चेतना—संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों के विचार—विभिन्न व्याख्याओं के विभिन्न तत्व—परिभाषाओं की विवेचना—निष्कर्ष—संस्कृति और सभ्यता का सम्बन्ध—प्रस्तुत प्रबन्ध में अपनाया गया संस्कृति सम्बन्धी दृष्टिकोण—भारत की जातीय विशेषता—भारतीय संस्कृति—पाश्चात्य संस्कृति का स्वरूप—पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताएँ—दोनों संस्कृतियों में संघर्ष और सन्धि-बिन्दु—हमारी आज की संस्कृति।

सांस्कृतिक चेतना के आयाम

हिन्दी साहित्य की व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति

हिन्दी साहित्य एक प्रकार से भारतवर्ष का राष्ट्र-साहित्य है। भारतवर्ष की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने की क्षमता रखने वाला यह साहित्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस साहित्य में स्थानीय विशिष्टताओं के होने पर भी प्रांतीयतावाद का दोष नहीं मिल सकता। इसमें समस्त भारत वर्ष का दर्शन सुलभ है। इसमें भारतवर्ष के सभी वर्गों का, समस्त प्रांतों का, भारतवर्ष की दीनता और निर्धनता का, भारतवर्ष के तेज और गौरव का, भारतवर्ष के आन्दोलनों और संघर्षों का, भारतवर्ष के हृदय की विशालता का, मन की छटपटाहटों का, एवं आत्मा की अमरता का चित्र मिलता है। बड़ा अनोखा साहित्य है यह। अस्तु, इस साहित्य को समझने के लिये इस राष्ट्र की संस्कृति का अध्ययन अनिवार्य है। भारतवर्ष की संस्कृति को समझे बिना हम हिन्दी साहित्य का वास्तविक महत्व न समझ सकते हैं और न इसका सही मूल्यांकन कर सकते हैं।

"संस्कृति" शब्द संस्कृत भाषा के "कृ" धातु से बना है। "कृ" का अर्थ है। 'करना' 'कृत' का अर्थ है "किया हुआ" और "कृति' उसकी भाववाचक संज्ञा है। "सं" उपसर्ग से इस "कृति' में 'भलीभांति' का, "सम्यक् रूप से" का अर्थ आ जाता है। यह परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। तब "संस्कृति" का अर्थ हुआ "सम्यक् रूप में, भली प्रकार से, किये गये या बने हुए कुछ कार्यों का भाव रूप'।

संस्कृति का अर्थ

ठीक यही बात पी० के० आचार्य ने भी लिखी है। संस्कृति शब्द "सम्" उपसर्गपूर्वक "कृ" धातु से निष्पन्न होता है। यह परिष्कृत एवं परिमार्जित करने के भाव का सूचक है[१] संस्कृति के लिये अंगरेजी में "कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है।' *इसकी व्याख्या करते हुए बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, "कल्चर" शब्द लेटिन* भाषा के "कुलतुरा" शब्द से निकला है जिसका अर्थ पौधा लगाना या पशुओं का पालन करना है। इसका मुख्य अर्थ होता है मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना-शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना।[२]

१—"भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता", पृ० १

२—"आर्य संस्कृति" पृ० ४१४, ४१५

'संस्कृति' शब्द का भी अर्थ है मन को, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना तथा उदात्त बनाना। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, कहते हैं, अंगरेजी के प्रसिद्ध प्रबंध लेखक बेकन ने इस शब्द को "मानसिक खेती" के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंगरेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में संस्कृति संज्ञा लगभग एक ही भाव का द्योतन करती है[1]।"

गुलाबराय ने कहा है, "संस्कृति का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं[2]।

संस्कार क्या है?

"कृ" धातु से "कार" बनता है जो 'सं' उपसर्ग से युक्त होकर "संस्कार" हो जाता है। व्यक्ति के रूपमें हम इसे यों समझ सकते हैं कि किसी एक व्यक्ति की चेतना पर तात्पर्य यह कि मन पर एवं जीवन में या अनेक जीवनों में किये गये कार्यों का वातावरणों का, जो अमिट प्रभाव पड़ता है उसे संस्कार कहते हैं। उन वातावरणों में पले हुए प्रायः सभी व्यक्तियों की अन्तर्चेतना पर वातावरणों का प्रभाव लगभग एक-सा पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि इन व्यक्तियों से जो समाज बनेगा उस समाज की मुख्य प्रवृत्तियों का आधार व्यक्तियों की अन्तर्चेतना पर पड़ा हुआ यही प्रभाव होगा। युगों-युगों के पश्चात् उस समाज के अनेक स्थितियों एवं परिस्थितियों से-क्रियाओं-और प्रतिक्रियाओं से गुजर जाने के पश्चात् इस प्रभाव का अनावश्यक, अस्थायी, एवं तत्वहीन अंश नष्ट हो जाता है और तब जो कुछ बच जाता है वह ऐसा होता है जो फिर मूल रूप से तो कभी भी नष्ट नहीं होता। हां, कुछ प्रमुख एवं असाधारण समसामयिक परिस्थितियां ऐसी अवश्य होती हैं जो उस "प्रभाव" को कुछ अंशों तक पुनः प्रभावित करने लगती हैं। कभी-कभी तो ऐसा लगने लगता है जैसे वह "प्रभाव" मूलतः परिवर्तित हो जायगा किन्तु ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि शताब्दियों से अनुभूत वह मूल "प्रभाव" ही उस समाज विशेष को उन असाधारण परिस्थितियों में जीवित रहने और महत्वपूर्ण कार्य-सम्पादन करने की शक्ति देता है। वह प्रभाव ही उसका अपना तत्व होता है एवं उसका अपना मन होता है जिसे खोकर कोई भी व्यक्ति या समाज अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व की विशिष्टता खो बैठता है, उसका कोई भी महत्व नहीं रह जाता, और

१—"सभ्यता और संस्कृति", पृ० ६

२—"भारतीय संस्कृति की रूपरेखा", पृ० १

वह "पर" मे विलीन हो जाता है क्योकि उसका "स्व" कुछ भी नही रह जाता। किसी भी व्यक्ति मे यह सामर्थ्य नही पाया जाता कि वह आदि से आज तक चले आते हुए इन मूल प्रभावो एव मौलिक तत्वो से अपने को अलग रख सके।

इन प्रभावो अथवा मूल तत्वो की पृष्ठभूमि मे अथवा आदिम अवस्था मे भौगोलिकता का प्रभाव अनिवार्य तथा महत्वपूर्ण ढग से पडता है। गर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव वाले प्रदेश म रहने वालो के रहन-सहन, रीति रिवाज, खान-पान, वस्त्र-आवास, व्यवहार-व्यवसाय के अतिरिक्त उन के स्वभावो, उनके सोचने की दशाओ और दिशाओ, उनकी आस्थाओ और विश्वासो तथा उनकी धारणाओ और मान्यताओ म जो विशिष्टताए पाई जाए गी वे ठडे एव मरुभूमि के निवासियो म नही पाई जा सकती।

सभ्यता और संस्कृति

इन प्रभावो की दो विशेष दिशाए होती हैं। एक दिशा तो यह होती है कि उस भू-भाग विशेष के अन्दर रहने वाले समाज विशेष के व्यक्ति कुछ थोडे से, छोटे-मोटे, महत्वहीन, सारहीन एव मौलिक तत्वविहीन विभिन्नताओ के बावजूद भी एक विशेष ढग से मकान बनाते हैं, एक विशेष प्रकार की वेशभूषा अपनाते हैं, एक विशेष प्रकार का उनका रहन-सहन होता है, एक विशेष प्रकार की उनकी शासन-व्यवस्था होती हैं और एक विशेष प्रकार के ही उनके रीति-रिवाज होते हैं, इत्यादि। प्रभाव की दूसरी दिशा अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होती है। इस दिशा मे हम यह पाते हैं कि जीवन सम्बन्धी उनका अपना दृष्टिकोण एक विशेष प्रकार का हो जाता है। बाह्य वातावरण का देखने और समझने की उनकी अपनी एक विशेष दृष्टि हो जाती है। उनका भाव, उनका स्वभाव, उनकी मान्यताए, उनकी धारणाए, उनके विश्वास, उनकी आस्थाए आदि एक विशेष प्रकार की हो जाती हैं। ये ऐसी होती हैं जो उनको (उस समाज और उसके सदस्यो की) एक विशिष्टता प्रदान करती हैं। उन्हें दूसरो मे अलग करती हैं। उनकी ये विशिष्टताए अबाध गति से प्रहवमान सरिताधारा की तरह होती हैं जिसमे सामयिक परिस्थितियो की छोटी-मोटी सहायक नदिया आ-आकर मिला करती हैं और उसे समृद्ध करती रहती हैं किन्तु उसके मूल को आमूल परिवर्तित कर सकने मे असमर्थ रहती हैं। मूलाधार उनको अपने मे आत्मसात कर-करके बलवती, स्फूर्तिमयी एव सप्राण होती रहती है। प्रभाव की पहली दिशा सभ्यता है, और दूसरी दिशा, संस्कृति। दूसरी का अध्ययन पहले के बिना असभव एव अपूर्ण होता है—और, इन दोनो के अध्ययन

के बिना किसी समाज विशेष एवं व्यक्ति विशेष की प्रवृत्ति एवं प्रकृति एवं संस्कृति का– उस की भलीभांति समझने का–प्रयास अधूरा असफल एवं भ्रामक सिद्ध होता है। दोनों एक पन्ने के दो पृष्ठों के समान होते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। इसी पुस्तक में चौथे पृष्ठ पर उक्त विद्वान् लेखक ने यह भी लिखा है सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे के पूरक हैं। [१]

सभ्यता और संस्कृति तथा कलाकार की चेतना

इन्हीं दोनों से मिलकर किसी व्यक्ति–संवेदनशील कलाकार–की उस चेतना का निर्माण होता है जिससे वह किसी को देखता और समझता है और संवेदना ग्रहण करने की प्रक्रिया और उनके स्वरूप के विभिन्न तत्व भी इन्हीं दोनों से मर्यादित एवं निर्धारित होते हैं। बचपन से वह जो कुछ देखता और सुनता है उसे जो कुछ समझाया और बताया जाता है उसे जो कुछ सिखाया और पढ़ाया जाता है उसी के सहारे वह करना देखना सोचना और समझना प्रारम्भ करता है। मात्रा में न्यूनता अथवा अधिकता हो सकती है किन्तु स्वरूप और प्रकार एक सा होता है। दूसरे की, पढ़ी लिखी बातें बुद्धि ग्राह्य सिद्धान्त एवं आदर्श उसको आमूल परिवर्तित करने में असमर्थ रहते हैं। कलाकार की कृति की पृष्ठभूमि यही होती है और इसी लिये कलाकार की कृतियों को समझने के लिए इनका अध्ययन अनिवार्य होता है। इसे न समझ पाने पर उसका भलीभांति समझ सकना असंभव है। इस ज्ञान को पूरा तरह से समझ कर, इसके मूलतत्वों को आधार बनाकर चलने से उनको पथ के सम्बल रूप में स्वीकार करने से ही किसी व्यक्ति समूह और राष्ट्र की उन्नति हो सकती है, लक्ष्य प्राप्ति हो सकती है कल्याण हो सकता है अन्यथा यह सब असम्भव है। इन्द्र विद्यावाचस्पति का मत है– जो लोग संस्कृति को मार कर राष्ट्र को जिन्दा रखना चाहते हैं वे असम्भव को सम्भव बनाना चाहते हैं [२]।'

संस्कृति के संबंध में विद्वानों के विचार

संस्कृति के सम्बन्ध में विद्वानों ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं [३] – दिनकर।

१—' सभ्यता और संस्कृति पृष्ठ ३।

२– " हिन्दू संस्कृति की रक्षा ', पृ, ९६६

३– ' संस्कृति के चार अध्याय ' पृ० ६५३

महादेवी वर्मा ने लिखा है, " संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है।[1]

इन्द्र विद्यावाचस्पति का मत है :- " किसी देश की आध्यात्मिक, सामाजिक और मानसिक विभूति को उस देश की संस्कृति कहते हैं। संस्कृति शब्द में देश के धर्म, साहित्य, रीति-रिवाज, परम्पराओं सामाजिक संगठन, आदि सब आध्यात्मिक और मानसिक तत्वों का समावेश होता है। इन सबके समुदाय का नाम संस्कृति है[2]।

सुमित्रानन्दन पंत ने लिखा है, " संस्कृति को मैं मानवीय पदार्थ मानता हूँ जिसमें हमारे जीवन के सूक्ष्म-स्थूल दोनों धरातलों के सत्यों का समावेश तथा हमारे ऊर्ध्व चेतना - शिखर का प्रकाश और समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं की छायाएं गुंफित हैं। उसके भीतर अध्यात्म, धर्म, नीति से लेकर सामाजिक रूढि रीति तथा व्यवहारों का सौंदर्य भी एक अन्तर सामंजस्य ग्रहण कर लेता है।[3]

संस्कृति की व्याख्या करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, जो व्यक्ति के अन्तर का विकास हो ....भविष्य के अतीत के आदर्श पर जिसकी दृष्टि हो, जो दूर की ओर दृष्टि रखती हो, व्यवस्था के अतीत पर दृष्टि रखती हो, जो "स्थायी" हो वह संस्कृति है[4]

जी० एस० घुरे महोदय का मत है कि संस्कृति वह कवच है जो जीवन युद्ध का कठोरतम वास्तविकताओं का धीरतापूर्वक सामना करने के प्रयत्नों में सहायक होता है।[5]

जगद्गुरु शंकराचार्य प्रभु श्रीज्योष्पीठाधीश्वर स्वामी श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती जी महाराज ज्योतिर्मठ बदरिकाश्रम ने लिखा है, मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक पारलौकिक अभ्युदय के

१- " क्षणदा ", पृ, २३

२- " भारतीय संस्कृति का प्रवाह ", पृ, १

३- "उत्तरा", पृ० १५

४- " सभ्यता और संस्कृत", पृ० ४

५- कल्चर एण्ड सोसाइटी पृ० १२०

अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। (देहेन्द्रिय की समस्त चेष्टाएं "आचार" के क्षेत्र में और मन-बुद्धि-चित्ताहंकार की चेष्टाएं 'विचार' के क्षेत्र के अंतर्गत कही जाती हैं, इसलिये) संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।[1]

रामजी उपाध्याय ने संस्कृति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अभ्युदय पथ पर निरन्तर प्रगति करते रहना मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन की प्रथम प्रवृत्ति है।[2] इस प्रवृत्ति के अनुसार मनुष्य की प्रगति पर विचार करते हुए, उसी पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है, मानव ने अन्य प्रकार की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये योग दर्शन में आत्मा और परमात्मा का अनुभव किया है, शिल्प और कला की परख की है विज्ञान का अनुशीलन किया है और समाज की सुव्यवस्था के लिये योजनाएं बनाई हैं... इस साधना के पीछे उसकी बुद्धि, वाणी, सौंदर्य भावना और सहानुभूति की नित्य अपेक्षा रहती है। इनको सतत् उच्चतर स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए ही मानव अपने व्यक्तिगत और सामाजिक सुख सौरभ की सृष्टि करता है। मनुष्य की यही प्रवृत्ति उसकी संस्कृति है।[3] अन्यत्र इसी विद्वान ने लिखा है कि मानव की सहृदयता और बुद्धि के वैभव का विकास[4] ही संस्कृति है।

संस्कृति पर अपना निश्चित मत देते हुए राधाकृष्णन ने लिखा है, " संस्कृति उत्पादन के साधनों की बाहरी रूप रेखा मात्र नहीं है हालांकि मार्क्सवादी संस्कृति को यही समझते हैं[5] "। उनका विचार है कि इसमें तो आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्तियां, आध्यात्मिक परम्पराएं विभिन्न दर्शन, सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक व्यवस्थाएं, वैज्ञानिक मान्यताएं आदि अनेक तत्व समाविष्ट हैं।

हमारे प्राचीन विचारकों का एक मत यह था कि "आत्म-संस्कृतिर्वाव शिल्पानि एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते।[6]" वहां अच्छे ढंग से व्यवस्था करने की

१- "कल्याण" पत्रिका का हिन्दू संस्कृति अंक, पृ, २४

२-भारतीय संस्कृति की साधना पृ० १

३-'वही, "

४-'भारतीय संस्कृति का उत्थान", पृ०३

५-"ईस्ट ऐंड वेस्ट", पृ० १७

६-ऐतरेय ब्राह्मण, ६।५।१

अच्छे ढग से बनाने को अथवा उच्चकोटि का कार्य-सम्पादन शिल्प कहा गया है। इन शिल्पो के द्वारा होता अपने यजमान की आत्मा का सस्कार करता है अर्थात् उसकी आत्मा सस्कार करता है अर्थात् उसकी आत्मा सस्कृत होती है। जिनके द्वारा यह सब होता है वह सस्कृति है। रगनाथ रामचन्द्र दिवाकर का विचार है, 'मानव-इतिहास के आरम्भ से ही मानव-जीवन के विकास पर घटनाक्रम, परिस्थितियो, वातावरण और अन्य बातो का अपना अलग-अलग प्रभाव रहा है। इसीलिये मानव-सस्कृति मे विविधता आये बिना न रही।'[1] इन दोनो परिभाषाओ को मिलाकर देखने से जो निष्कर्ष निकलता है वह एक ही है और वह यह है कि हम पर जो-जो प्रभाव पड़ते हैं और उनसे प्रभावित होकर हम जो-जो करते हैं और जो-कुछ बनते हैं वही हमारी सस्कृति का रूप है।

सस्कृति के सम्बन्ध म भगवत शरण उपाध्याय ने कहा है कि 'सस्कृति, जिस रूप मे हम उसे आज मानने लगे हैं, इन विकास की मजिलो की ओर उतना सकेत न कर अधिकतर उन सूक्ष्म तत्वो से सम्बन्ध रखती है जो विचार, विश्वास रुचि, कला, आदर्श, आदि की दुनिया है ....।[2] अन्यत्र इसी विद्वान का कहना है कि सस्कृति एक प्रकार का मानसिक विकास है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जो सभ्य मानव मे हो भी सकती है, नही भी हो सकती। यह एक प्रकार का सस्कार है, मानसिक निखार है ....।[3] देवराज ने सस्कृति की निम्नलिखित परिभाषाएँ उद्धृत की है—मौलिक मूल्यो का क्षेत्र' (मैकाइवर), 'वह जटिल तत्व है जिसमे ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाजो तथा दूसरी उन योग्यताओं और आदतो का समावेश है जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है' (टायलर), 'सामाजिक विरासत (लिंटन) 'समस्त सामाजिक परम्परा' (लावा), 'मनुष्य का समस्त सीखा हुआ व्यवहार (हर्षे कोविट्स), और प्रसिद्ध विद्वान् ईलियट विशिष्ट वर्गों के पारस्परिक सघनतम सम्बन्धो की रूपरेखा या उसके स्वरूप को सस्कृति मानता है।'[4] अन्यत्र इसी विद्वान् ने लिखा कि 'नृ विज्ञान मे सस्कृति का अर्थ समस्त सीखा हुआ व्यवहार होता है' अर्थात् वे सब बातें जो हम समाज के सदस्य होने के नाते सीखते हैं। इस अर्थ मे सस्कृति शब्द परम्परा का पर्याय है।[5] सस्कृति के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ लेखक लिखता है,

---

१—'कल्पना' पत्रिका, फरवरी, १९५२ ई०, पृ० ६५
२—'सास्कृतिक भारत', पृ० ११
३—'भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण', पृ० २२३
४—'सस्कृति का दार्शनिक विवेचन'
५—'भारतीय सस्कृति', पृ० १९

'वस्तुत संस्कृति उन गुणो का समुदाय है जिन्हे मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है। संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यत मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव मनोवृत्तिया (Attitudes) से है।'[1] अन्त मे यह जैसे निष्कर्ष निकालता हुआ कहता हैं, 'वस्तुत संस्कृति जीवन के महत्वपूर्ण एव मार्यव रूपो की आत्म चेतना है।[2]

विभिन्न व्याख्याओं के विभिन्न तत्व

उपर्युक्त परिभाषाओ को यदि हम सक्षप मे देखना चाहे तो उन्हें इस रूप मे पायेंगे —

(१) सदियो से जमा होकर उस समाज मे छाया हुआ जिन्दगी का तरीका,

(२) आध्यात्मिक और मानसिक तत्वो का समुदाय (धर्म, साहित्य, रीति-रिवाज, परम्परा),

(३) जीवन के सूक्ष्म-स्थूल धरातलो के सत्य, ऊर्ध्व चेतना शिखर का प्रकाश (अध्यात्म, धर्म, नीति, सामाजिक रूढि, रीति, व्यवहार आदि।

(४) व्यक्ति के अन्तर का विकास-भविष्य के, अतीत के आदर्श, पर दृष्टि।

(५) कठोर वास्तविकताओ से होने वाले जीवन-युद्ध के सहायक तत्व,

(६) लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार,

(७) [अ] आत्मा-परमात्मा का अनुभव, शिल्पकला, विज्ञान, समाज-व्यवस्था की योजनाएं (व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-सौरभ की सृष्टि),

[आ] सहृदयता और बुद्धि के वैभव का विकास,

(८) आदर्श, विश्वास, अध्यात्मिक शक्तिया और परम्परा, विभिन्न जीवन-दर्शन सामाजिक संस्थाएं, आर्थिक व्यवस्थाएं, वैज्ञानिक मान्यताएं, आदि।

(९) आत्मा का संस्कार करने वाले शिल्प।

(१०) प्रभावशाली घटनाक्रम, परिस्थिति, वातावरण, आदि बातो का प्रभाव।

(११) अ -विचार, विश्वास, रुचि, कला, आदर्श, आदि,
आ -मानसिक विकास, मानसिक निखार,

(१२) ज्ञान, नीति, कानून, रीति-रिवाज, आदि योग्यताए, स्वभाव,

(१३) सामाजिक विरासत,

१—वही, पृ० २०-२१
२—वही, पृ० २५

(१४) समस्त सामाजिक परम्परा,

(१५) समस्त सीखा हुआ व्यवहार,

(१६) विशिष्ट वर्गों के पारस्परिक सघनतम सबध,

(१७) परम्परा,

(१८) अ –बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्ति, आदि,

आ –जीवन के महत्वपूर्ण एव सार्थक रूपो की आत्म–चेतना।

परिभाषाओ की विवेचना –

सस्कृति की उपर्युक्त परिभाषाओ पर विचार करने से हम ऐसा प्रतीत होता है कि पहली, तेरहवी, चौदहवी पन्द्रहवी और सत्रहवी परिभाषाए स्पष्ट रूप से एक ही बात की ओर सकेत करती हैं और वह बात है "प्राप्त परम्पराए।" दूसरी और तीसरी परिभाषाए धर्म, साहित्य, सामाजिक रुढियो, नीति, और रीति–रिवाजो की बात करती हैं। ध्यान यह रखना चाहिये कि इन सभी तत्वो का मूलाधार भी प्राप्त परपराए हैं। इन परिभाषाओ म प्राप्त परपराओ का क्षेत्र–निर्देश मात्र कर दिया गया है। मूल तत्व वही है। आठवी परिभाषा, अर्थात् आदर्श, विश्वास, आध्यात्मिक शक्ति और परपराए, विभिन्न जीवन दर्शन, सामाजिक सस्थाए, आर्थिक व्यवस्थाए, वैज्ञानिक मान्यताए, पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इनमे से कोई भी तत्व ऐसा नही है जो प्राप्त परपराओ का आधार लिये बिना अपना वर्तमान अस्तित्व एव अपना वर्तमान स्वरूप निर्माण कर सकें। उदाहरणार्थ, हमारी आध्यात्मिक शक्ति हमारे ऋषियो मुनियो, आदि द्वारा प्राप्त अनुभवो की वही समष्टि तो है जो हम विरासत के रूप में मिली है। एक और उदाहरण लें। हमारी सामाजिक सस्थाओ और आर्थिक व्यवस्थाओ का निर्माण उन्ही प्रवृत्तियो, मान्यताओ एव सिद्धान्तो के आधार पर होता है जो समाज मे पहले से चली आ रही हैं। यदि इनम से किसी एक की भी स्थापना किसी ऐसे आदर्श, मान्यता, प्रवृत्ति या सिद्धान्त के आधार पर होती है जो हमारी अपनी नही है, हमारी अपनी परम्परा का नही है, हमारी अपनी सस्कृति का नही है तो जीवन मे एक ऐसी अव्यवस्था आ जाती है जो उसे कुरूप बना देती है। उदाहरण के लिये हम भूमि को ल लें। हमारी सस्कृति धरती को माता कहती है। मा को कोई बेचता नही और भारत की धरती क्रय-विक्रय की चीज (कमाडेटी) नही थी। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने धरती को (कमाडेटी) क्रय विक्रय की वस्तु का स्वरूप दे दिया। परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष की भूमि व्यवस्था आज तक अर्थशास्त्रियो के लिये एक ऐसी समस्या बनी हुई है जिसका

विग्नन हल दिखाई नहीं पड़ता। अमान्य प्राणी इस कुव्यवस्था के शिकार बन चुके हैं। भयानक गरीबी हमारे भाल पर मुहर की भांति अंकित है। भारतीय जीवन श्री हत हो गया है कुरूप हो गया है। अस्तु प्राप्त परपराओं की आधार शिला पर ही इन व्यवस्थाओं का सुभव्य प्रासाद विनिर्मित हो सकता है। हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि हमारी आत्मा का संस्कार करने वाले शिल्प वे ही हो सकते है जिनकी रूपरेखा का आधार परपरा से प्राप्त हमारे अपने तत्व हों। अन्यथा हमारी आत्मा का संस्कार होना तो दूर की बात है हमारी आत्मा का हनन हमारे आत्म स्वरूप की विकृति उसी प्रकार हो जायगी जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के द्वितीयार्द्ध मे कलकत्ते के हिंदू कालेज से निकले हुए उन विद्यार्थियो की हो जाती थी जो न यूरोपीय बन पाते थे न भारतीय रह जाते थे न अंग्रेज हो पाते थे न हिंदू रह जाते थे। इसीलिये नवी परिभाषा की प्राणशक्ति प्राप्त परपराओं पर ही आधारित है क्योंकि हमारी आत्मा का संस्कार उन्हीं तत्वो या शिल्पों से हो सकता है जो हम परपरा से प्राप्त हैं और जिन पर हमे विश्वास है। हम यह नहीं कहते कि सामयिक एव तात्कालिक अनुभवो का कोई महत्व नहीं। उनका महत्व है और उनका महत्वपूर्ण योग होता है किंतु वे हमारा विश्वास तभी पा सकते हैं हमारी संस्कृति की कक्षा मे तभी स्थान पा सकते हैं जब वे अनेक बार कसौटी पर चढ कर खरे सिद्ध हो जायें और जहा यह स्थिति आई वहीं वे प्राप्त परपराओं की कोटि मे आ जाते हैं। इस तथ्य को हृदयगम कर लेने पर सातवी दसवी ग्यारहवी और बारहवी परिभाषाओं के अन्दर भी हम प्राप्त परपराओं का तत्व ही मूल रूप से व्याप्त दिखलाई देगा। एक बात पर और विचार कर लेना चाहिए। वह बात यह है—व्यक्ति का विकास क्या है तथा हमारी लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ क्या है। विकसित व्यक्ति हम उसे कहते हैं जिसके अन्दर तत्वो और तथ्यो को सही ढग से समझ कर व्यक्ति गत और सामाजिक सुख समृद्धि के लिये उनका उपयोग करने की शक्ति एव क्षमता हो। तत्वों को समझने का सही ढग, व्यक्तिगत सुख समृद्धि और सामाजिक सुख समृद्धि—इन तीनों का आधार है इन तीनो के स्वरूपो की सामाजिक स्वीकृति एव सामाजिक मान्यता और समाज उसी को स्वीकृत करता और मान्यता देता है जो उसके परम्परागत ज्ञान और अनुमान से आमूल भिन्न न हो। भूमि के रूप या मूल्य-परिवर्तन को आज दो-सौ वर्षों से भी अधिक हो गए और व्यावहारिकता की सभी दृष्टियों और कसौटियो विधानो और व्यवस्थाओं को देखते हुए हमे स्वीकार करना पड़ता है कि हमने भूमि को कमाडिटी क्रय विक्रय की वस्तु मान लिया है हमारी सवेदना इतनी समर्थ नहीं रह गई है कि हम कह सकें—

समुद्रवसने ! देवि ! पर्वत-स्तनमंडले !

विष्णुपत्नि ! नमस्तुभ्यम् ! पादस्पर्शं क्षमस्व मे !

इसी प्रकार हमने अन्न को भी क्रय-विक्रय की वस्तु मान लिया है। उसको देवता मानना छोड़ दिया है। इतने पर भी हमारी अन्तर्चेतना ने, हमारी सामाजिक समष्टि ने, हमारी परम्परा ने, क्रय-विक्रय की वस्तु मानने वाली प्रवृत्ति को न तो मान्यता दी है और न माता और देवता मानने वाली आस्था का उपहास उड़ाया है। आज भी बीज बोने जाने के समय धरती माता की समुचित रूप से पूजा की जाती है और विज्ञान के प्रकाड पंडितो को भी भोजन करने के पश्चात् थाली को प्रणाम करके उठते हुए देखा गया है। समाज अपनी प्राप्त परपराओ से आमूलत विभिन्न किसी भी तत्व को मान्यता नहीं देता। अस्तु, तथ्यो-तत्वो को समझने का सही ढग वही है जिसे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है, और इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक सुख-समृद्धि का स्वरूप भी वही है जिसे समाज परम्परा से मानता चला आया है। समाज की इस कसौटी पर जो व्यक्ति खरा नही उतरता वह पागल कहलाता है और दुखी माना जाता है, और जो ज्ञान-विज्ञान खरा नही उतरता उससे समाज को सुख-समृद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। अध्यात्मसबधी जिस ज्ञान और अनुभूति को भारत ने आदि युग से आज तक प्राप्त किया है उसके विपरीत प्रतीत एव सिद्ध होने वाले ज्ञान एव अनुभूति को हम आध्यात्मिक उत्कर्ष का साधन अथवा आध्यात्मिक ज्ञान राशि के कोष का बहुमूल्य, अमूल्य, अथवा उल्लेखनीय रत्न नहीं मान सकते। व्यक्तिगत सुख-समृद्धि सौंदर्य का रूप और मापदण्ड निश्चित है। उसका अतिक्रमण नही किया जा सकता। जिस समाज ने यह मान रखा है कि लज्जा नारी का भूषण है वह वावकट बालो वाली तथा सैंडो कट बनियान-जैसे बाहु-विहीन ब्लाउज या चुस्त कुर्ता या सर्कस मे काम करने वालो की तरह चिपका हुआ पतलून या पाजामा पहन कर अपने रूप और आकर्षण को उभार-उभार कर उसे मादक बनाकर प्रदर्शित कर-करके पुरुषो के बीच ठहाका मार-मारकर हँसने वाली नारी को देखकर चुप भले ही रह जाय, उसे आदर्श नहीं मान सकता। चू कि शहर की नारियो का रूप-स्वरूप देहात मे मान्यस्वीकृत नारी-रूप के अनुरूप नही होता इसलिये, हमारा व्यक्तिगत अनुभव है कि, शहर की नारिया देहात की गृहलक्ष्मियो के लिये अमान्य एव अस्वीकृत होती हैं-चिड़ियाघर की कोई जीव मात्र होती हैं! पति-पुत्र विहीन किन्तु धन-सपत्ति से सपन्न महिला को सुखी मान लेना अभी हमारी चेतना के बाहर की बात है। कारण वही है कि ये रूप हमारी परम्परा के प्रतिकूल

पढ़ते हैं और इसीलिये ये हमारी संस्कृति के अ ग नहीं बन सके। इस दृष्टि से देखो पर चौथी और छठवी परिभाषाएँ भी प्राप्त परंपरा के अन्दर ही आ जाती हैं। अब रह जाती है पाचवी परिभाषा जो जीवन-युद्ध मे प्राप्त होने वाले सहायक की बात करती है। किसी भी युद्ध मे हम उसी को अपना सहायक मानते हैं जो हमारी शक्ति बढ़ाए और हमे विजयी बनाए। निश्चित है कि सहायक का स्वरूप शक्ति और विजय-संबंधी हमारी धारणा और मान्यता पर आधारित होगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से हमारा युद्ध था। इस युद्ध म शक्ति-संबंधी हमारी धारणा थी उत्कृष्ट चरित्र और हमारे विचारों का समर्थन और विजय संबंधी हमारी मान्यता थी अंग्रेजो को यह विश्वास दिला देना कि भारत पर उनका शासन करना किसी भी प्रकार से उचित नही। अस्तु निश्चित हो गया कि हमारा सहायक वही हो सकता था जो भारतवासियो के चरित्र की कमियो को दूर कर सकता और हमारी विचार धारा का प्रचार कर सकता न कि वह जो हमे अस्त्र-शस्त्र और सैनिक देता अथवा हमारी सहायता के लिये अंग्रेजो पर आक्रमण करता। एक दूसरा उदाहरण ल। हमे गरीबी से लड़ना है। यदि इसका तात्पर्य यह है कि हमारे पास अकूत धन संपत्ति हो जाय तो हमारा सहायक कुबेर माना जायगा। हमारी मान्यता है कि दरिद्र वह नहीं है जिसके पास धन-संपत्ति का अभाव है बल्कि दरिद्र वह है जो धन-संपत्ति के लिये निरन्तर हाय !' 'हाय !!' करता है। अतएव इस युद्ध म हमारे सहायक होगे गाधी और विनोबा के विचार एव ईशोपनिषद् का यह वाक्य —

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचि जगत्या जगत।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध कस्यस्विद्धनम् ॥

इस जीवन-युद्ध म हमारा प्रतिद्वन्द्वी कौन है ? वे विचार वे परिस्थितियाँ, वे वातावरण, वे अवस्थाएँ, वे व्यवस्थाएँ जो हमे वह नहीं रहने देतीं और उस प्रकार से नही रहने देतीं जिस प्रकार से रहना हमने परम्परा से सीखा और पसन्द किया है। इसीलिये इस युद्ध के हमारे सहायक वे ही तत्व माने जायेंगे जो हमे हमारी परम्परा के हमारे अपने स्वरूप के अनुरूप रहने म उपयोगी सिद्ध हों। अस्तु ये तत्व वे ही होंगे जिनका आधार प्राप्त परम्पराएँ ही हों। यही बात अठारहवीं परिभाषा के संबंध में भी सत्य है।

निष्कर्ष—

निष्कर्ष यह निकला कि प्राप्त परम्पराएँ ही संस्कृति हैं। इस परिभाषा को यदि और अधिक स्पष्ट करना है तो हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति और समाज

परिष्करण, उदात्तीकरण अथवा उसके सत्य, शिव, सुन्दर स्वरूप निर्माण के लिये उस व्यक्ति और समाज को उसके अस्तित्व के आदि युग से आज तक जो परम्पराएँ प्राप्त हुई हैं उन्हीं का नाम संस्कृति है। दूसरे शब्दों में हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि भीतर और बाहर से हम जो कुछ हैं, वही हमारी संस्कृति का स्वरूप है।

सस्कृति और सभ्यता का सम्बन्ध—

सस्कृति के साथ ही साथ एक और शब्द का प्रयोग प्राय होता है। वह शब्द है "सभ्यता"। इसके विषय में महात्मा गांधी ने लिखा है "सभ्यता तो आचार-व्यवहार की वह रीति है जिससे मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करे।"[1] जी एस घुरे का कथन है कि सभ्यता सामाजिक उत्तराधिकार या विरासत का वह सम्पूर्ण योग है जो सामाजिक धरातल पर प्रतिच्छायित होता है।"[2] "हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव सस्कृति है।"[3] तात्पर्य यह हुआ कि सभ्यता वह तत्व है जिसका आन्तरिक प्रभाव सस्कृति है। हमारे अन्तर पर प्रभाव हमारे बाह्य वातावरण एवं स्थूल तत्वों का पड़ता है। निष्कर्ष यह निकला कि हम जिस वातावरण मे रहते हैं उसका स्थूल, दृश्यमान एव मूर्त रूप ही सभ्यता है।

इस प्रकार सभ्यता और सस्कृति दोनों एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध सिद्ध होते हैं। इसलिये जब टायलर यह कहता है कि सभ्यता और सस्कृति पर्यायवाची शब्द हैं तब व्यावहारिक दृष्टि से वह सत्य से बहुत दूर नहीं रहता। जी एस. घुरे[4] और 'दिनकर'[5] ने इन दोनों के सम्बन्ध मे एक ही बात लिखी है और वह यह है कि सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है और जो कुछ हम हैं (जो हम मे व्याप्त है) वह सस्कृति है। ब्रानिसला मैलिनाउस्की ने लिखा है कि ऊँची सस्कृति के एक खास पहलू को सभ्यता कहते हैं। यह खास पहलू उसका बाह्य स्वरूप या मूर्त रूप ही हो सकता है। इससे अधिक स्पष्ट अध्ययन हुमायुन कबीर का है जो यह कहते हैं कि सस्कृति सभ्यता की फलश्रुत है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का उपर्युक्त निष्कर्ष भी यही है। सत्यदेव जी परिव्राजक का विचार है, "सभ्यता है अपरा विद्या और सस्कृति है

१ हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ, ६२
२ "कल्चर एण्ड सोसायटी' पृ०,
३ "सभ्यता और सस्कृति" पृ०, ३
४ "कल्चर और सोसायटी" पृ० ३
५ "सस्कृति के चार अध्याय" पृ०'

परा विद्या।"[1] उन्होंने इन दोनो मे "आकाश-पाताल का अन्तर"[2] पाया है। हमे यह दृष्टिकोण अतिवादी प्रतीत होता है। परा विद्या वाले की भी तो कोई न कोई सभ्यता होती ही है और अपरा विद्या वाले की भी कोई न कोई संस्कृति तो होती है। दोनो को एक दूसरे का विरोधी मानना युक्ति-युक्त नही प्रतीत होता। सम्पूर्णानन्द जी का कथन है, "सभ्यता और संस्कृति सर्वथा असम्बन्ध न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। संस्कृति आभ्यन्तर, सभ्यता बाह्य तत्व है। संस्कृति को अपनाने मे देर लगती है, परन्तु सभ्यता की सद्य नकल की जा सकती है।"[3] अस्तु हम जिस वातावरण मे रहते हैं उसका स्थूल, दृश्यमान एवं मूर्त रूप ही सभ्यता है और इन सबके प्रभाव स्वरूप हम जो कुछ बन जाते हैं, जैसे-कुछ हो जाते हैं वह है हमारी संस्कृति। इन्ही दोनो के अध्ययन द्वारा ही हम किसी समाज या व्यक्ति का सम्यक् अध्ययन कर सकते हैं, उसके वास्तविक रूप को ठीक से समझ सकते हैं, उसकी प्रवृत्तियो और विशेषताओ का उचित आकलन एवं समुचित मूल्यांकन कर सकते हैं। संस्कृति का अध्ययन सभ्यता के विभिन्न अङ्गो के अध्ययन के बिना सभव ही नहीं है। सभवतः इसीलिये, जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, संस्कृति का अध्ययन तभी पूर्ण एवं उपयोगी हो सकता है जब हम धर्म, साहित्य, रीति रिवाज, सामाजिक संगठन, आर्थिक और राजनैतिक अवस्थाओ, आदि का पूर्ण रूपेण विश्लेषण एवं विवेचन करके उन्हे पूरी तरह से समझ लें। ऊपर हम देख चुके हैं कि संस्कृति इन्ही सबके प्रभाव स्वरूप उद्भूत होती है। इसलिये संस्कृति को समझने के लिये इन सबका अध्ययन अनिवार्य है।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे अपनाया गया संस्कृति सम्बन्धी दृष्टिकोण—

इस प्रबन्ध मे हमे हिन्दी साहित्य (१६००–१६५० ई०) की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना है अर्थात् बीसवी शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध मे हिन्दी साहित्य का जो रूप हमे मिलता है वह जिस सामाजिक, राजनतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, दार्शनिक, धार्मिक, आत्मिक अवस्थाओं एवं व्यवस्थाओ की पीठिका पर लिखा गया है, ऐसी जिन स्थितियों एवं परिस्थितियो से प्रभावित हुआ है, वे क्या थीं और कैसी थीं! तात्पर्य यह है कि हमे हिन्दी प्रदेश की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की संस्कृति का अध्ययन करना है। यह कहने की बात नही है कि संस्कृति की एक अविच्छिन्न धारा होती है और हिन्दी प्रदेश की संस्कृति की धारा का क्रम सौ-पचास वर्षों का नहीं,

---

१ कल्याण पत्रिका, हिन्दू संस्कृति अङ्क, पृष्ठ २३४

२ वही

३ वही, पृष्ठ ६६

शताब्दियो का नही, बल्कि सहस्राब्दियो से अखण्ड एव अबाध गति से अटूट रूप से मिलता है। तो, हिन्दी प्रदेश की बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की संस्कृति का अध्ययन करने के लिये और उसका महत्व समझने के लिये हमे अब तक के हिन्दी प्रदेश के जीवन की विशिष्टताओ एव संस्कृति के तत्वो का अध्ययन करके उन्हे समझना होगा, और उनके मूल्यांकन एव महत्वांकन के लिये यूरोपीय संस्कृति से उसकी तुलना करनी होगी। अन्त मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचेगे कि हमारी संस्कृति के मूल तत्व क्या हैं? इसके बाद हमारी स्थिति यह हो जायगी कि हम इन हिन्दी प्रदेश की बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की उन परिस्थितियो एव स्थितियो का (जो मिलकर संस्कृति की रूपरेखा निर्धारित करती हैं) चित्रण करके अपने हिन्दी साहित्य पर पडने वाले उनके प्रभावो का उल्लेख कर सकें।

भारत की जातीय विशेषता—

अस्तु, हम हिन्दी प्रदेश के जीवन की सामान्य विशिष्टताओ पर एक दृष्टि डालने का प्रयत्न करने जा रहे हैं। प्रत्येक देश या राष्ट्र की अपनी कोई न कोई विशिष्टता होती है। भारत की अपनी जातीय विशेषता है उसकी धार्मिकता एव आध्यात्मिकता। राधाकृष्णन ने लिखा है, 'यदि हम भारतीय जीवन की सप्राण अविच्छिन्न धारा देखना चाहते हैं तो उसका दर्शन हमे उसके राजनीतिक इतिहास मे नही वरन् उसके सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन में ही मिल सकता है।"[1] अन्यत्र उन्होंने भारतीय समाज की निम्नलिखित विशिष्टताएँ बतलाई हैं—(१) समस्त जीवन जिस एक की अभिव्यक्ति है उस अदृश्य सत्य, उस अनन्त शक्ति पर विश्वास, (२) आध्यात्मिक अनुभवो एव अनुभूतियों के नितांत वैयक्तिक होने पर विश्वास, (३) रीतिरिवाजों, मतवादों और अन्धविश्वासो के सापेक्षिक होने पर विश्वास, (४) बौद्धिक प्रतिमानो पर अडिग विश्वास, और (५) प्रतीयमान विरोधो मे सामजस्य स्थापित करने की आकांक्षा।[2] भारतीय समाज का महत्व धार्मिक विधि निषेधो के समूह के रूप मे उतना नही है जितना इस रूप मे कि यह मानवता को आध्यात्मिक तृषा को तृप्त करने मे समर्थ सजीव सत्यो का सकलन किए हुए है। हिन्दी साहित्य मे हिन्दुत्व का यही आदर्श मिलता है। त्रुटियो से पूर्ण यथार्थ की झाँकी हिन्दी के अपेक्षाकृत नवीन कथा साहित्य मे ही मिल सकती है। हमारा भारतीय समाज इस आध्यात्मिकता पर इस हद तक आस्थावान हो चुका है कि इस पक्ति मे किसी भी प्रकार की

१ "भारत की अन्तरात्मा", पृ० १६

२ "ईस्ट एण्ड वेस्ट", पृ० ४२

भारतीय संस्कृति—

भारतीय जीवन और दृष्टिकोण की इन्हीं विशेषताओं से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने वाले विभिन्न विद्वानों की विचारधारा से परिचित हो लेना अनावश्यक न होगा। विदेशियों के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप यद्यपि भारतीय जीवन में बहुत से परिवर्तन हुए हैं फिर भी मूल रूप से हमारे अधिकांश महान् पुरुषों का "सारा जीवन परम पुरुष, जगदीश्वर, एकमेव, निरपेक्ष एवं अनंत की इस खोज में ही होम दिया जाता है। और इस अपार्थिव लक्ष्य का अनुसरण करने के लिए आज भी मनुष्य बाह्य जीवन, समाज, घर, परिवार तथा अपने अत्यन्त प्रिय विषयों को एवं उस सबको, जो तर्क प्रधान मन के लिए सच्चा तथा ठोस मूल्य रखता है, त्याग देने में सन्तोष अनुभव करते हैं। यही एक ऐसा देश है जिस पर अभी तक संन्यासी की पोशाक का गेरुआ रंग खूब पक्का चढ़ा हुआ है, जहाँ अभी तक परात्पर का एक सत्य के रूप में प्रचार किया जाता है और मनुष्य अन्य लोकों तथा पुनर्जन्म में और प्राचीन विचारों की उस सम्पूर्ण शृङ्खला में जीवंत विश्वास रखते हैं जिसकी सत्यता भौतिक विज्ञान के उपकरणों के द्वारा बिल्कुल ही नहीं परखी जा सकती। यहाँ योग के अनुभवों को वैज्ञानिक प्रयोगशाला के परीक्षणों के समान या उनसे भी अधिक वास्तविक माना जाता है।"[१] भारतीय अब भी मानता है कि 'प्रत्येक जीवन एक पग है जिसे वह पीछे या आगे की ओर उठा सकता है, अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्थाओं से लेकर अन्तिम परात्परता में पहुचने तक उसका जीवन-गत कर्म, जीवनगत संकल्प, उसका विचार और ज्ञान जिनके द्वारा वह अपने जीवन का नियन्त्रण और परिचालन करता है, उसके भावी अस्तित्व या जीवन का निर्धारण करते हैं। यह विश्वास जीवन विषयक भारतीय विचार की धुरी है कि आत्मा का क्रमशः विकास होता है और अन्त में वह एक ऊर्ध्व गति या लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त होता है।"[२] अब भी हमारा विश्वास है कि "एक ही अनंत चित् शक्ति, कार्य संचालक शक्ति, परम संकल्प बल या विधान, माया, प्रकृति, शक्ति या कर्म—सभी घटनाओं के पीछे अवस्थित है चाहे वे हमें अच्छी लगें या बुरी, स्वीकार्य लगें या अस्वीकार्य, सौभाग्यपूर्ण लगें या दुर्भाग्यपूर्ण।'[३] इन उद्धरणों में हमें ये तत्व मिलते हैं—(१) सबके पीछे एक अनन्त चित् शक्ति को मानना, (२) जीवन का लक्ष्य उसी की खोज है, (३) इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग, (४) अन्य

१ "अदिति" पत्रिका, १९५६, पृ० ९५–९६

२ वही, पृ० ११०

३ वही, पृ० १४६

लोको, पुनर्जन्म और प्राचीन विचारो की श्रृङ्खलाबद्धता मे विश्वास, (५) आत्मा की विकासशीलता पर विश्वास, और (६) यही जीवन सब कुछ नहीं है बल्कि यह अनंत क्रम का एक लघु अंश है। वास्तविकता तो यह है कि भारत एक भौगोलिक, आर्थिक एव भौतिक इकाई मात्र नही है। ऐसा वह कभी भी नही रहा। उसे जनसख्या, क्षेत्र आदि से कभी भी नापा नही जा सकता, समझा नही जा सकता। करोडो के अन्तर की मांगें, पवित्रतम परम्पराओ को सुरक्षित रखने वाली स्मृतियाँ, अमिट शौर्य, चिर परिवर्तनशील सामाजिक विधान असाधारण महत्व की साहित्यिक और सौंदर्यात्मक उपलब्धियाँ, आदि भारतीय संस्कृति की आत्मा की उपलब्धियाँ हैं। अद्वितीय गहनता दृढता वाले धर्म, दर्शन और नैतिक सिद्धांत, आदि उसकी शक्ति एव स्फूर्तिदायिनी आंतरिक प्रवृत्तियाँ हैं। भारतीय संस्कृति ने वाह्य तत्वो का पूर्णत निरादर किया हो, ऐसी बात नही है। उसने उन्हे उचित स्थान दिया है किन्तु उसे अपेक्षाकृत उच्च-तर स्थान नही दिया है। गम्भीरता पूर्वक देखें तो ऐसा लगता है कि भारत ने वाह्य तत्वो को आन्तरिक तत्वो से सम्बन्धित कर दिया है और इस प्रकार उनके महत्व में भी वृद्धि कर दी है क्यो कि वस्तुत महत्वपूर्ण तो वही है जो शाश्वत है और अपरि-वर्तनशील है और ऐसा तत्व सूक्ष्म ही हो सकता है अर्थात् आंतरिक ही हो सकता है। भारत सामयिक महत्व और शाश्वत महत्व का स्वरूप, उसका अन्तर, और उसकी उपयोगिता को समझता है और सब को समुचित महत्व देना जानता है। सम्भवत इसीलिये के० शेषाद्रि ने लिखा है, 'भारत वाह्य और आन्तरिक के मौलिक अन्तर को समझना जानता है भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है मन और इन्द्रियो को आत्मा के द्वारा समुचित रूप से नियंत्रित करके एक सतुलित और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना। सचमुच भारतीय संस्कृति मे लौकिक आलौकिक भौतिक और आध्यात्मिक, सांसारिक और पारलौकिक, धार्मिक और व्यावहारिक का इस समुचित रूप से नियंत्रित करके एक सतुलित और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना। सचमुच भारतीय संस्कृति मे लौकिक और अलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, सांसारिक और पारलौकिक, धार्मिक और व्यावहारिक का इस समुचित रूप से समन्वय किया गया है कि हमे एक भी ऐसा सामाजिक तत्व न मिलेगा जिसका कोई आध्यात्मिक अर्थ न हो और एक भी ऐसा आध्यात्मिक तत्व न मिलेगा जिसका कोई सामाजिक लक्ष्य न हो। यह संस्कृति आत्मा के प्रति आदर की भावना पर आधारित है।"[1] निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय संस्कृति की आधारभूत भावना है (१) आध्यात्मिकता और लौकिकता का समन्वय, और (२) आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था।

१. "सडे स्टेण्डर्ड, २८ जुलाई, १९६२ ई०

भारतीय संस्कृति अमर संस्कृति है। कारण यह है कि आत्मतत्व अविनाशी तत्व है। जो उस पर आधारित हो कर चलेगा उसमें अस्थायी के प्रति कोई आस्था ही न रह जायगी। इसलिये भारतीय संस्कृति ने अस्थायी तत्वों को स्थायी महत्व नहीं दिया बल्कि उन्हें सापेक्षिक एवं सामयिक महत्व की चीज समझा है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने जीवन के विषय में जो चिन्तन किया है वह पूर्ण है और स्थायी महत्व का है। जीवन की इतनी व्यापक व्यवस्था और अभिव्यक्ति, जीवन के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म गहन और स्थायी महत्व का चिन्तन और कहीं भी नहीं मिलता। इसका एक कारण और है। भारतीय संस्कृति किसी एक व्यक्ति की ही, किसी एक वर्ग के व्यक्ति की ही, किसी एक प्रकार के ही व्यक्ति की देन नहीं है। राम जी उपाध्याय का कथन है, "इस सांस्कृतिक साधना में ब्रह्मचारियों से लेकर सन्यासियों तक चारों आश्रमों के लोगों का, आरण्यक वनजीवी से लेकर अभ्रंकष प्रासाद के निवासी महाराजा तक छोटे-बड़े लोगों का और चाण्डाल से लेकर ब्राह्मणायन का योगदान रहा है।"[१] भारतीय संस्कृति की व्यापकता, पूर्णता, और अमरता का यही रहस्य है। अस्तु, जो इतना विशाल है, इतना व्यापक है, इतना पूर्ण है उसका संकुचित, पक्षपाती एवं भेद-भावयुक्त होना कल्पनातीत है। वह सब कुछ सह सकता है, सबको अपना सकता है, सबको व्यवस्थित कर सकता है। इसीलिये बलदेव उपाध्याय ने लिखा है, "आर्य संस्कृति का रहस्य है सब जातियों, सब मतों, सब आचारों की तितिक्षा, सहनशीलता.. .विरोध का प्रशमन, अनेकता में एकत्व की दृष्टि, नाना के स्तरों में एकता की पहचान यही है आर्य संस्कृति की कुंजी।'[२] जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है, "भारतवर्ष के सांस्कृतिक एवं नस्ल सम्बन्धी विकास की भी मुख्य प्रवृत्ति .. .समन्वय थी।"[३] इसी तथ्य को 'दिनकर" ने इस प्रकार घोषित किया है कि भारतीय संस्कृति सामासिकता प्रधान है[४]। राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, "यह बात अब आम तौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिन्दुस्तान संसार के धर्मों का सन्धिस्थल और विश्व के संस्कृति का एक संस्थान है।"[५] महादेवी वर्मा ने भी लिखा है, " . . .और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है।"[६]

---

१ "भारत की संस्कृति साधना", भूमिका।

२ "आर्य संस्कृति", पृष्ठ ४२६

३ "डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृष्ठ ६४

४ "संस्कृति के चार अध्याय"

५ पट्टाभि सीतारमैया कृत "कांग्रेस का इतिहास" की भूमिका, पृष्ठ ६

६ "क्षणदा", पृष्ठ २३

वास्तविकता यही है कि भारतीय संस्कृति ने सदा सर्वदा समन्वय के रूप में ही समस्याओं का समाधान उपस्थित किया है। समन्वय और एक उस ब्रह्म पर विश्वास (जगत के विभिन्न नाम-रूप जिस एक की ही अभिव्यक्तियाँ हैं) ये दोनों तत्व भारतीय संस्कृति की आत्मा हैं। भारतीय संस्कृति की ब्रह्म सम्बन्धी अडिग आस्था पर पहले भी लिखा जा चुका है। इस सम्बन्ध में कुछेक और विद्वानों की सम्मतियाँ इसके स्वरूप को कुछ और अधिक स्पष्ट करेंगी। सम्पूर्णानन्द ने लिखा है, "भारत की संस्कृति की यह सुदृढ़ मान्यता है कि "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। वह तत्व जिसकी उपासना की जाती है वह एक है, चाहे उसको किसी नाम से पुकारा जाय, किसी भाषा में बुलाया जाय, और भारतीय जीवन के यह दो आधार हैं कि धर्म का, कर्तव्य का, अधिकारों का नहीं, परित्याग कदापि न होना चाहिये और व्यवहार में ध्यान रखना चाहिये कि "परस्पर भावयन्त श्रेय परमेवाप्स्यथ"—एक दूसरे के हित-साधन से ही परम श्रेय की सिद्धि होती है। समाज में मूर्द्धन्य स्थान विद्या तप और त्याग का होना चाहिये। भारतीय संस्कृति का यही प्राण है।"[1] स्पष्ट हुआ कि भारतीय संस्कृति का प्राण है विद्या, तप, त्याग, दूसरे का हित साधन, धर्म-पालन, और यह विश्वास कि सारे संसार का उपास्य तत्व एक ही है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, 'मध्य देश की संस्कृति का मूल-सूत्र ब्रह्म तत्व है... . नर वही है जिसका सखा नारायण है .....मध्यदेश की गङ्गा के तट पर प्रजाशील मानव ने देव तत्व को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया. . . . ,इद सर्व या विश्व, जगत, ईशावास्य है। यही भारतीय विचारों का मंगलघट है जिसकी स्थापना से प्रत्येक यज्ञ की वेदी धन्य हुई है और भविष्य के नव यज्ञ-मंडप भी प्राग्द्वारों पर इसी पूर्ण कुम्भ की शोभा से अलंकृत होते रहेंगे।"[2] यहां भी हम यही पाते हैं कि मध्य देश की संस्कृति का मूल सूत्र ब्रह्म तत्व है। ऐसे उच्च एव अनादि-अनन्त तत्व पर आधारित संस्कृति का प्रवाह यदि अखण्ड एवं अप्रतिहत है तो कोई आश्चर्य नहीं है। सभी लोग मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय संस्कृति के इतिहास की यह विशेषता है कि उसका प्रवाह कहीं टूटा नहीं। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने लिखा है कि जैसे गङ्गा की धारा को नहीं अवरुद्ध किया जाता वैसे ही इस सांस्कृतिक गङ्गा की गति नहीं रोकी जा सकती। जैसे सन्यासी को नहीं बांधा जा सकता वैसे ही इसको नहीं बांधा जा सकता।[3] इन्द्र

१ हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका का "लोक संस्कृति अंक", पृ० २५

२ 'हिन्दी अनुशीलन' पत्रिका, ११ वें वर्ष का पहला अङ्क, 'मध्यदेशीय संस्कृति का सूत्र" नामक लेख।

३ "भगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ", पृ० ७

विद्यावाचस्पति ने भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार बताई हैं —उदार दृष्टिकोण, लचकीलापन, अपना बना लेने की शक्ति, आध्यात्मिकता, वेदों की मान्यता और आध्यात्मिक विचार।[1] राधाकृष्णन ने भारतीय संस्कृति की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं के साथ-साथ उसके महत्व की अभिव्यंजना इस प्रकार की है, "अपने रहस्यवाद, प्रत्यक्षवाद अपनी दार्शनिक रुझानों और मुक्तिवादी प्रवृत्तियों के साथ भारतीय संस्कृति लगभग ४०० से भी अधिक वर्षों तक संसार में बहुत अधिक प्रभावशाली रही है।"[2] भारतीय संस्कृति के विषय में यह भ्रम कुछ कम व्यक्तियों को नहीं है कि वह एक-मात्र अध्यात्म-मूलक है। वस्तुस्थिति यह है कि ब्रह्म विद्या और आध्यात्मिकता पर अपेक्षाकृत अधिक जोर देते हुए भी भारतीय संस्कृति ने जीवन के प्रत्यक्ष एवं यथार्थ रूप की उपेक्षा कभी भी नहीं की। इस विषय में पंडित जवाहरलाल नेहरू के विचार बहुत स्पष्ट एवं उल्लेखनीय हैं, "..... 'सब कुछ देखते हुए, हिन्दुस्तानी संस्कृति ने जिन्दगी से इन्कार करने पर कभी भी जोर नहीं दिया है, यद्यपि यहाँ के कुछ दर्शनों ने ऐसा अवश्य किया है।[3] इस सम्बन्ध में साने गुरु जी के विचार इस प्रकार हैं—"भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदारभावना और निर्मल ज्ञान के योग से जीवन में सुन्दरता लाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के साथ हृदय का मेल बैठा कर संसार में मधुरता का प्रचार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है कर्म, ज्ञान, भक्ति की जीती-जागती महिमा—शरीर, बुद्धि और हृदय की सतत सेवा में लीन करने की महिमा। भारतीय संस्कृति का अर्थ है सहानुभूति। भारतीय संस्कृति का अर्थ है विशालता। भारतीय संस्कृति का अर्थ है बिना स्थिर रहे ज्ञान का मार्ग ढूँढते-ढूँढते आगे बढ़ना। संसार में जो कुछ सुन्दर व सत्य दिखाई दे, उसे प्राप्त करके बढ़ती जाने वाली ही यह संस्कृति है। वह संसार के सारे ऋषियों-महर्षियों की पूजा करेगी। वह संसार की सारी सन्तान की वन्दना करेगी। संसार के सारे धर्म-संस्थापकों का यह आदर करेगी। चाहे कहीं भी महानता दिखाई दे, भारतीय संस्कृति उसकी पूजा ही करेगी। वह आनन्द और आदर के साथ उसका संग्रह करेगी। भारतीय संस्कृति संग्रह करने वाली है। वह सबको पास-पास लाने वाली है। "सर्वेषामविरोधेन ब्रह्म कर्म समारभे" ही वह कहने वाली है। यह संस्कृति संकुचितता से परहेज करने वाली है। इससे त्याग, संयम, वैराग्य, सेवा, प्रेम, ज्ञान, विवेक, आदि बातें हमें याद आ जाती

---

१ "भारतीय संस्कृति का प्रवाह", दूसरा अध्याय।

२ "ईस्ट एण्ड वेस्ट", पृ० १८

३ हिन्दुस्तान की कहानी, पृ० ३४

है।[१] उनके अनुसार भारतीय संस्कृति का अर्थ है सान्त से अनन्त की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना, कीचड़ से कमल की ओर जाना, विरोध से विवेक की ओर जाना, और अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर जाना। वे कहते हैं, भारतीय संस्कृति का अर्थ है मेल सारे धर्मों का मेल, सारी जातियों का मेल, सारे ज्ञान-विज्ञान का मेल, सारे कालों का मेल। इस प्रकार के महान् मेल पैदा करने की इच्छा रखने वाली, सारी मानव जाति के बेड़े को मंगल की ओर ले जाने की इच्छा रखने वाली यह संस्कृति है।"[२] उनका कथन है कि हिन्दुस्तान के उत्तर में जिस प्रकार गौरीशङ्कर का उच्च शिखर स्थित है, उसी प्रकार यहाँ संस्कृति के पीछे भी उच्च और भव्य तत्व एवं विचार हैं।[३] आगे उन्होंने लिखा है, "अद्वैत भारतीय संस्कृति की आत्मा है।"[४] इसी को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "यह भारतीय संस्कृति की महान विशेषता है। अभेद में भेद और भेद में अभेद, यही भारतीय संस्कृति का स्वरूप है।[५] वे कहते हैं, "भारतीय संस्कृति में अन्ध श्रद्धा के लिये स्थान नहीं है। वहाँ सर्वत्र विचारों की महिमा गाई हुई दिखाई देगी। वेद भारतीय संस्कृति के आधार माने जाते हैं लेकिन वेद का अर्थ क्या है? वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान भारतीय संस्कृति का आधार है।[६] उनके अनुसार "जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही मानो वेद है।"[७] आगे उन्होंने लिखा है, "भारतीय संस्कृति में त्याग और पवित्रता, इन दो गुणों का बहुत बड़ा स्थान है।"[८] उन्होंने जीवन के समस्त प्रयत्नों की सार्थकता की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "भारतीय संस्कृति यही बात हम से कह रही है। शरीर, हृदय और बुद्धि की शक्ति प्राप्त करो, सङ्गठन करो, संघ स्थापित करो, वातावरण तेजस्वी बनाओ और इस संगठन का महान् ध्येय के लिये उपयोग करो।" सम्भवतः सन्तुलन की भावना को ही ध्यान में रख कर उन्होंने लिखा है, "भारतीय संस्कृति कहती है कि भोग हो लेकिन प्रमाण से हो, सम्भल कर हो, गिन कर हो. ..धर्म की नींव पर ही अर्थ-काम के

१ "भारतीय संस्कृति", पृ० ५

२ वही, पृ० ११

३ वही, पृ० २०

४ वही, पृ० २३

५ भारतीय संस्कृति, पृ० ३०

६ वही पृ० २४१

७ वही, पृ० २३८

मन्दिर की इमारत बनाइए। यदि अर्थ और काम के साथ धर्म होगा तो वे सुखदायी बनेंगे। वे बन्धनकारक न हो कर मोक्षकारक होंगे।"[१] यदि ऐसा हो सके तो जीवन पूर्ण हो जायगा। भारतीय संस्कृति इसी रूप में व्यक्ति को पूर्ण देखना चाहती है और इसीलिये उसने चार पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की व्यवस्था की है। साने गुरुजी कहते हैं, "भारतीय संस्कृति कहती है कि संसार में चार वस्तुयें प्राप्त कीजिये, चार वस्तुएँ जोड़िये। भारतीय संस्कृति केवल एक वस्तु पर ही जोर नहीं देती। वह व्यापक है, एकांगी नहीं।"[२] भारतीय संस्कृति की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है मृत्यु की भीषणता को समाप्त कर देना और कार्य उसने अनन्त जीवनों की कल्पना करके और मृत्यु को एक विराम मात्र का महत्व देकर किया है। इस विषय में साने गुरु जी ने लिखा है, "भारतीय संस्कृति ने मृत्यु का डङ्क काट फेंक कर उसको सुन्दर और मधुर बना दिया है।"[३] (यहाँ) 'मृत्यु का अर्थ है निर्वाण अर्थात् अनन्त जीवन भुलगा देना।"[३अ] भारतीय संस्कृति में वर्ण का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी व्याख्या करते हुए साने गुरु जी ने लिखा है, "वर्ण शब्द का अर्थ है रंग। ... ईश्वर ने हमें कौन सा रंग दे कर भेजा है। कौन-से गुण-धर्म देकर मुझे भेजा है। "कुहू" बोलना कोकिल का जीवन-रंग है।"[४] सम्भवत यह लिखते समय साने गुरु जी के मस्तिष्क में गीता का यह श्लोक था—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।"[५] इस प्रकार निम्नलिखित विशेषताएँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं (१) उदार भावना और निर्मल ज्ञान का योग, (२) कर्म ज्ञान और भक्ति की महिमा, (३) पर सेवा (४) सहानुभूति, (५) ज्ञान के सहारे अथक रूप से प्रगति करना, (६) संग्रह शीलता, (७) उदारता, (८) विशालता, (९) अद्वैतधारणा, (१०) समन्वय, (११) लक्ष्य के लिये समस्त साधनों के उपयोग करने की वृत्ति, (१२) चार पुरुषार्थ, (१३) व्यापकता, (१४) वर्ण, (१५) मृत्यु के भय को समाप्त करने की प्रवृत्ति। वासुदेव शरण अग्रवाल ने २० संक्षिप्त सूत्रों में हिन्दू संस्कृति की विशेषताएँ इस प्रकार बताई हैं—

(१) धर्म, संस्कृति और जीवन—तीनों का समान विस्तार

(२) समन्वय (विश्व के साथ अविरोध भाव)

---

१ भारतीय संस्कृति पृ० १३८

२ वही पृ० १२८

३ "भारतीय संस्कृति" पृ० ३०६

३अ वही, पृ० ३०३

४ वही, पृ० ५४

५ गीता, ४ १३।

(३) सहिष्णुता
(४) बहुत्व में एकत्व की पहचान
(५) संघर्षों के बीच समन्वय
(६) सत्यदर्शन के उद्देश्य से सब के लिये धार्मिक, सामाजिक और व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य
(७) जड़ चेतन का आपेक्षिक मूल्यांकन
(८) महान्, नित्य, रस परिपूर्ण और प्राप्त करने योग्य उस चेतन्य की प्राप्ति के लिए सचेष्ट प्रयत्न और उस पर तीव्र एव पूर्ण विश्वास
(९) संसार और उसके उपभोग अल्प, सीमित, तुच्छ और जीतने योग्य हैं
(१०) सांसारिक जीवन की उपेक्षा उचित नहीं है
(११) साहित्य, कला, सौंदर्य और संवारे हुये जीवन के अनेक वरदानों को मान्यता
(१२) धर्म और जीवन का समन्वय
(१३) ऋत, सत्य, धर्म, ब्रह्म, चेतन्य की असाधारण महत्ता
(१४) वैयक्तिक विकास के लिए आग्रह
(१५) आध्यात्मिक साधन एवं ऊर्ध्वगति के लिये आग्रह
(१६) धर्मानुमोदित कर्म की प्रतिष्ठा
(१७) ठीक विधि से किया जाने वाला कर्म ही योग है
(१८) आध्यात्मिक विजय से ही तृप्ति
(१९) सर्वापहारी राजसत्ता से जीवन के अधिकाधिक क्षेत्रों को बचाए रखना
(२०) प्रत्येक हिन्दू का मन हिन्दू संस्कृति का एक टुकड़ा है अर्थात् उदार, सहिष्णु, नूतन भावों का स्वागत करने वाला, त्याग का प्रशंसक[1]

गुलाबराय ने उसकी बारह विशेषताएँ गिनाई हैं।[2] एक अन्य स्थान पर हिन्दू संस्कृति की १६ प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं।[3] इसी प्रकार अन्य अनेक स्थानों पर भी हिन्दू संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। यहां पर उन सबका उल्लेख करना निरर्थक इसलिये है कि इन सबका गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि वासुदेवशरण अग्रवाल की उपर्युक्त २० बातों में भारतीय संस्कृति की सभी की सभी विशेषताएं आ जाती हैं। अभी तक जितना कुछ लिखा गया है उन सब का सारतत्व इनमें उपस्थित है। व्याख्या, विवरण

१ "कल्याण" पत्रिका, 'हिंदू संस्कृति विशेषांक", पृ० ६७–६८
२ "भारतीय संस्कृति की रूपरेखा"
३. 'कल्याण' पत्रिका, "हिन्दू संस्कृति विशेषांक", पृ० ४८–४९–५०

और विस्तार मे अन्तर हो सकता है किन्तु मूल तत्वो को ध्यान मे रखने पर समस्त विशेषताएँ बीजो मे सन्निहित हैं। ये ही बातें भारत के जीवन मे उसकी सस्कृति के आदि युग से लेकर आज तक बराबर पाई जाती हैं। भारतीय जीवन मे इन्हीं की निरन्तर उपस्थिति ही—सभी कालो मे भारतीय जीवन का इन्हीं से अनुप्राणित, प्रभावित एव प्रवाहित होते रहना ही भारतीय सस्कृति का अखण्ड, अबाध, एव निर्विरोध प्रवाह है।

पाश्चात्य सस्कृति का स्वरूप—

आधुनिक युग मे भारतीय जीवन पाश्चात्य जीवन के सम्पर्क मे आया। पाश्चात्य जीवन का विकास जिन भौगोलिक स्थितियो और परिस्थितियो मे और जिस प्रकार हुआ है वे उस प्रकार से भिन्न थी जिनमे भारतीय जीवन का विकास हुआ है। परिणामत दोनो के स्वरूप, दृष्टिकोण और सस्कृति मे पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। चूकि दोनो गोलार्द्धों के निवासी मानव हैं और मानव का मन मूलत एक सा ही होता है इसलिए दोनो स्थानों की सस्कृतियो म कुछ मूलभूत एकताएँ-समानताएँ तो नि सन्देह पाई जाती हैं और सम्भवत इसीलिए राधाकृष्णन ने लिखा है, 'यदि हम इतिहास को व्यापक दृष्टि से देखे तो हमे ज्ञात होगा कि जीवन की ऐसी कोई विशेष पूर्वीय दृष्टि नहीं है जो जीवन के पाश्चात्य दृष्टिकोण से भिन्न हो'[1] किन्तु, जब हम जीवन और उसके स्वरूप को उसकी सम्पूर्णता मे देखने का प्रयत्न करते हैं उसकी भावनाओ, वृत्तियो और प्रवृत्तियो पर विचार करते हैं और विचार करते है स्वभावो और प्रभावो पर तो दोनो का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई पड जाता है। यह अन्तर मौलिक और उल्लेखनीय है। आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति के विभिन्न प्रेरणा स्रोतो के विषय मे राधाकृष्णन ने लिखा है, 'पाश्चात्य सस्कृति ने अपनी प्रेरणा, प्रतिमान, मूल्य और सस्थाएँ यूनान, रोम, और फिलिस्तीन से ली हैं। आलोचना की प्रवृत्ति, निरीक्षण एव प्रयोग, राजनैतिक धारणाएँ उसे यूनान से मिली हैं। धर्म निरपेक्ष कानून और सगठन के सिद्धान्त रोम से मिले हैं। फिलिस्तीन ने उसे एकदेववाद और ईश्वरीय आज्ञाओ पर आधारित एक नीतिवान प्राणी के रूप म मानव की कल्पना प्रदान की है। यूरोप के इतिहास मे इन सबका आदर्श समन्वय कभी नही हो पाया।'[2] इस प्रकार हम देखते है कि पाश्चात्य सस्कृति के निर्माण मे यूनान का बहुत ही महत्वपूर्ण योग रहा है। उसे वैज्ञानिकता की वृत्ति से समन्वित करने का श्रेय यूनान को ही है। मानव की तर्क और युक्ति की शक्ति म विश्वास, सन्तुलन और समन्वय, बौद्धिक और नैतिक मान्यताएँ, व्यक्तिगत

१—'ईस्ट एण्ड वेस्ट', पृ० १३

२—वही, पृ० ४४

स्वतन्त्रता, नागरिकता की धारणा, आदि यूनानी संस्कृति की ही देनें हैं। यह निश्चित है कि पाश्चात्य संस्कृति का विकास किसी ऐसे तत्व पर आधारित होकर नहीं हुआ है जो शाश्वत हो। उसने आध्यात्मिक जीवन और उसकी समस्याओं मे उतनी रुचि नहीं दिखलाई जितनी मनुष्य के आचार, जीवन-यापन की नीति, गणित एव विज्ञान विशेष रूप से भौतिक विज्ञान मे। वहा समाज की बाह्य एव भौतिक वृत्तियों और प्रवृत्तियों पर अधिक विचार, मथन, विश्लेषण, आदि किया गया है। उसमें बौद्धिक तत्व की प्रधानता है। वह व्यक्ति के भौतिक पक्ष पर अधिक बल देती है। वह मनुष्य के मन की लौकिकता की ओर उन्मुख गति और एतत् सम्बन्धी उसकी प्रकृति का अध्ययन और विश्लेषण करती है। वह मानव की बाह्य सत्ता की ओर अधिक उन्मुख है। वह उसके स्वाभाविक एव प्राकृतिक स्तर तक ही पहुँच सकी। वह राजसिक है। वह हिंसा प्रधान है क्योंकि वह सघर्ष के द्वारा होने वाले विकास की बात करती है। यहा तक कि वह अस्तित्व के लिए भी सघर्ष अनिवार्य समझती है। 'स्ट्रगलफार एग्जि-स्टेंस' वाली प्रचलित युक्ति इस बात का प्रमाण है कि उसने मानव को एक 'बायलोजि-कल बीइङ्ग' अर्थात् हाड-मास का पुतला मान मान रखा है। उसकी नैतिकता का सीमा-क्षेत्र है मनुष्य का बाह्य आचार-व्यवहार मात्र। 'पश्चिम मे मनुष्य सदा ही प्रकृति का एक क्षणिक जीवनमात्र रहा है अथवा वह एक ऐसी आत्मा रहा है जिसे जन्म के समय मनमौजी सृष्टा अपनी मनमानी इच्छा के द्वारा रचता है और मोक्ष पाने के लिए सर्वथा प्रतिकूल अवस्थाओं में रख देता है, पर कहीं अधिक सम्भावना यही होती है कि उसे एक नितान्त असफल व्यक्ति की भांति नरक मे जलते हुए कूडे के ढेर में फेंक दिया जाय। अधिक से अधिक उसे यही श्रेय प्राप्त है कि उसमें एक तर्क-वितर्क करने वाला मन और सकल्पशक्ति है और ईश्वर या प्रकृति ने उसे जैसा बनाया है उससे अच्छा बनने का वह प्रयास करता है।'[1] ध्यान रहे कि भारतीय संस्कृति मे यही स्थिति सर्वोच्च एव एकमात्र नहीं मानी गई। सच्ची बात तो यह है कि भारतीय संस्कृति के अनुसार मानव की दिव्यता का यह सबसे पहला और सबसे नीचा स्तर है। तो, भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठतम अंश जहा से प्रारम्भ होता है वहा पाश्चात्य संस्कृति जाकर समाप्त हो जाती है। पाश्चात्य संस्कृति का लक्ष्य है भौतिक सुख-सुविधा, भौतिक उन्नति और भौतिक कार्य कुशलता।

अरविन्द का विचार है कि हमारे देश और यूरोप मे प्रधान भेद यह है कि हमारा जीवन अन्तर्मुखी होता है और यूरोप का जीवन बहिर्मुखी होता है। हम भाव का आश्रय कर पाप-पुण्य, इत्यादि का विचार करते हैं, और यूरोप कर्म का

१—'अदिति' पत्रिका, फरवरी, १९४६, पृ० १०७।

आश्रय कर पाप-पुण्य इत्यादि का विचार करता है। हम भगवान को अन्तर्यामी और आत्मस्थ समझ कर उन्हे अपने भीतर खोजते हैं और यूरोप भगवान को जगत का राजा समझ कर उन्हे बाहर देखता और उनकी उपासना करता है।[1] इस सबंध मे उन्होंने अन्यत्र भी लिखा है, "पाश्चात्य लोग प्रजातन्त्र के बाहरी आकार और उपकरणों मे ही फस गये हैं .. ..।"[2] इस प्रकार हम पाते हैं कि बाहर के मिथ्या अनुभव मे मग्न रहना, तत्व की परछाई की भक्ति एव नाम और रूप मे अनुरक्ति पाश्चात्य सस्कृति की विशेषताए हैं। इस सबंध मे योगिराज अरविन्द का बहुत ही सुन्दर कथन इस रूप मे मिलता है, "पाश्चात्य मन की साधारण गति है नीचे मे ऊपर की ओर जीवन का विकास करना, प्राण और जडसत्ता को ही उसका आधार समझ कर ग्रहण करना तथा ऊर्ध्व की सारी शक्तियो का केवल इसीलिये आह्वान करना कि वे इस प्रस्तुत पार्थिव जीवन को सशोधित और बहुत कुछ उन्नत बना देगी। ... . पाश्चात्य जीवन-प्रवाह इस समय प्रधानत युक्तिवाद और जडवाद से ही नियन्त्रित हो रहा है ...... ।"[3] जिसका प्रेरणा-स्रोत यह हो उससे किसी उच्चम, श्रेष्ठतम एव लोकोत्तर आदर्श, विचार एव कार्यक्रम की आशा नही की जा सकती। जिसके प्रेरणा-स्रोत ये हो उसकी कथा भारतीय कथा की अपेक्षा कुछ दूसरी तो होनी ही चाहिये और वह कथा द्वारिका प्रसाद मिश्र के शब्दो मे इस प्रकार है, "इधर बीसवी शताब्दी की कथा दूसरी ही है। उसने अपनी प्रत्येक सतान का यह धर्म बना दिया है कि वह आमोद-प्रमोद की सामग्री एकत्र करने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझे... ......केवल आज का स्वार्थ यही एक आदर्श योरप के प्रत्येक युवा के लिये इस समय रह गया है। ... .''[4] माधवराम सप्रे के लेख मे पाश्चात्य जीवन का एक रूप इस प्रकार दिग्दर्शित किया गया है, "पश्चिमी देशो मे यह बात नहीं पाई जाती। वहा के कुटुम्बो का सम्बन्ध आवश्यकता और इच्छा के अनुसार जोड अथवा तोड लिया जाता है। आदर्श के बदलने मे कुछ देर नही लगती। इण्डियन सिविल सर्विस के मेम्बर मिस्टर एच० फील्डिग हाल साहब लिखते हैं कि वहा पाठशाला के लडको को सच बोलना नही सिखलाया जाता ..... पहले से ही वे इस बात की शिक्षा पाते हैं कि किसी सत्य बात को उसके सिद्ध स्वरूप मे जान लेने की कोई भी आवश्यकता नही है। सिखलाया केवल यह जाता है कि मौका पडने

१—"अदिति" पत्रिका, अप्रैल, १६४७ ई०, पृ० २६

२—वही, फरवरी, १६४७ ई०, पृ० ३८

३—वही, अप्रैल, १६४७ ई०, पृ० ८

४—"सरस्वती" पत्रिका, १६२२ ई० पृ० ५६६।

पर वह बात अपने पक्ष के समर्थन में किसी भी तरह कैसे काम में लाई जा सकती है........योरप आदि पश्चिमी देश कोरे भौतिकवादी हैं....... ।[1] यह भौतिकवादी सभ्यता ही वह सभ्यता है जिसे प्रेमचन्द ने "महाजनी सभ्यता" कहा है और जिसके विषय में उन्होंने लिखा है, "इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियां चलाई हैं उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त पिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धान्त है। मियां-बीबी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु शिष्य में बिजनेस ! सारे मानवी आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त !"[2] सच है कि जब बात का स्वरूप और उसके महत्व की कसौटी होगी मौके का रूप, और दृष्टिकोण का रूप होगा व्यक्तिगत-भौतिक स्थूल स्वार्थ, तब समस्त रागात्मकता, लोकोत्तरता और नीतिमत्ता की शव-यात्रा अनिवार्य हो जायगी। जब मानव का मानव से किसी प्रकार का स्थायी सम्बन्ध न रह जायगा, जब समस्त मानव-जाति को एकत्व के सूत्र में सग्रथित करने वाले किसी सर्वव्यापी तत्व के सत्य को हम कल्पना मान लेंगे, जब हम "त्वम्" में "अहम्" की प्रतीति कराने वाली विचारधारा से वंचित रहेंगे तो केवल नीति के सैद्धांतिक आधार-विनिर्मित सम्बन्ध माधुर्य एवं व्यवहार-सौष्ठव का प्रासाद स्वार्थ की वेगवती आंधी के आगे देखते ही देखते भिन्नता के भग्नावशेष मात्र में परिवर्तित हो ही जायगा। नींव की सुदृढ़ता ही प्रासाद के दीर्घ जीवन और उसके स्थायी सौंदर्य का रहस्य एवं प्रधान अथवा एकमात्र आवश्यक तत्व होता है। पाश्चात्य संस्कृति में इसी का अभाव देखकर मानो गुरुजी ने लिखा है, "पश्चिम के निवासियों में भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की मान्यता की कल्पना न होने के कारण वे संसार में हाहाकार फैलाने का आसुरी कर्म कर रहे हैं।"[3] ऊपर उपयुक्त कथन में प्रेमचन्द जी ने बिजनेस की व्यापकता का जो उल्लेख किया है और उससे जिन नेह-नातों की समाप्ति की बात की थी मानो गुरुजी के इस कथन में उसी के परिणाम का उल्लेख मिलता है। नेह-नाते समाप्त होंगे तो हाहाकार का वातावरण अनिवार्यत निर्मित होगा। कोई आश्चर्य नहीं कि जिस सभ्यता का यह परिणाम हो वह गांधी जी की दृष्टि में धर्म न होकर अधर्म हो, क्योंकि उन्होंने लिखा है, "यह सभ्यता अधर्म है।"[4] उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की "सच्ची पहचान" का इस प्रकार

१–(१९१८ ई० में लिखा लेख) "सरस्वती पत्रिका हीरक जयंती विशेषांक १९६२ ई०

२–'हंस' पत्रिका, सितम्बर १९३६, पृ० ५६

३–"भारतीय संस्कृति", पृ० ६४।

४–"हिन्द स्वराज्य", पृ० ३२।

उल्लेख किया है, "इस सभ्यता की पक्की पहचान तो यह है कि उसकी गोद में पले हुए लोग बाहर की खोज और शरीर के सुख को ही जीवन की सार्थकता और परम पुरुषार्थ मानते हैं।"[1] हमारा विचार तो यह है कि यह संस्कृति उतनी बुरी नहीं है जितनी अपूर्ण अथवा एकांगी। कारण यह है कि इस संस्कृति से भारत का थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य हुआ है। उसमें हमारे जीवन का और हमारी विचारधारा का रूप बदलने लगा है, और उसने हम फिर से कुछ बातों पर विचार करने, मनन करने, अध्ययन करने और निष्कर्ष निकालने के लिये विवश कर दिया है। अत्युक्ति न होगी यदि हम यह कहें कि उससे हमारी कुछ कमियाँ समाप्त हो रही हैं। अब यह बात दूसरी है कि स्वयं हम ही संतुलन बिगाड़ दें और हमारी कुछ हानि भी हो जाय, किन्तु इसके लिये दोषी यह संस्कृति न होगी। पाश्चात्य संस्कृति की अच्छी देन के विषय में लिखते हुए आबिद हुसेन ने लिखा है, "यों तो शासक राष्ट्र की हर बात में शासित जनों के लिये एक आकर्षण-सा होता है परन्तु सच यह है कि पाश्चात्य संस्कृति का निहित गुण या उसका आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और व्यवहारिक कार्य-कुशलता',[2] लेकिन उसने हमें शान्ति और व्यवस्था दी और वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की एक नई अवधारणा दी जो हमारे भावी राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिये इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण और मूल्यवान थी। उन्होंने सार्वजनिक जीवन की लोकतन्त्रीय विधि का प्रारम्भिक पाठ हमें पढ़ाया।'[3] इतना सब होने पर भी यह मानना पड़ेगा कि यह संस्कृति मनुष्य को यंत्र बना देती है। यह यांत्रिक संस्कृति है।

पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताएं—

इतने विवेचन के उपरांत हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि पाश्चात्य संस्कृति की विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

(१) यांत्रिक होना।

(२) इसमें भौतिक विज्ञान के पीछे अद्वैत की भावना का अभाव है।

(३) यह पूर्ण रूप से भौतिकवादी सभ्यता है।

(४) इसका एक मात्र आदर्श है आज का स्वार्थ।

(५) यह युक्तिवाद और जड़वाद से ही प्रेरित होती है। इसमें तर्क की प्रधानता है।

१— वही, पृ० ३०

२—"राष्ट्रीय संस्कृति" पृ० ७६।

३—वही, पृ० ८२

(६) इसका लक्ष्य है प्रस्तुत पार्थिक जीवन को ही संशोधित और उन्नत बनाना, भौतिक सुख-सुविधा, भौतिक उन्नति और भौतिक कार्य-कुशलता।
(७) इसके अनुसार मानव प्रकृति का एक क्षणिक जीवमात्र है।
(८) यह संघर्षशील एवं हिंसाप्रधान है। राजसिक है।
(९) इसमें बौद्धिक तत्वों की प्रधानता है।
(१०) इसकी रुचि मनुष्य के आचार, जीवन-यापन की नीति, एवं भौतिक विज्ञान की ओर अधिक है।
(११) यह आलोचना-प्रधान एवं विश्लेषण प्रधान है।
(१२) यह प्रत्यक्ष निरीक्षण और प्रयोग की विधि पर आस्था रखती है।
(१३) यह वैज्ञानिकता की वृत्ति से समन्वित है।
(१४) यह धर्म निरपेक्ष कानून और संगठनों एवं संस्थाओं पर विश्वास करती है।

दोनों संस्कृतियों में संघर्ष और संधि बिंदु—

आधुनिक युग में भारत में ये दो विभिन्न दृष्टिकोण, ये दो विभिन्न धारणाएं, ये दो विभिन्न आदर्श, ये दो विभिन्न परंपराएं, ये दो विभिन्न जीवन पद्धतियां, ये दो विभिन्न प्रवृत्तियां, ये दो विभिन्न संस्कृतियां, परस्पर टकराईं। इस पाश्चात्य संस्कृति के संपर्क में और देश भी आए। किन्तु वे इसके रंग में रंग गए। वास्तविक टकराहट भारत में ही हुई और भारतीय संस्कृति से ही हुई। शायद भारतीय संस्कृति में ही इतना दम था कि वह इससे टक्कर ले सकती। मजे की बात तो यह थी कि हम जिसके गुलाम हुए उसी की संस्कृति से हमारी संस्कृति को टक्करें लेनी पड़ी। संस्कृतियों की इस टकराहट की कहानी, इस सांस्कृतिक घातों प्रतिघातों की कहानी बारबचाव की कहानी, तलवार और कवच की कहानी, शक्ति और युक्ति की कहानी बड़ी ही रोचक है। एक ने दूसरे को मिटाने की पूरी कोशिश की। राज्य छीना, भूमि-व्यवस्था बिगाड़ी, राज्य का स्वरूप बदला, आर्थिक मान्यताओं पर आघात किया, आदर्श वाक्य बदले, भाषा बदली, दूसरे की भाषा का तिरस्कार किया, पूरे साहित्य से अपने पुस्तकालय की एक अलमारी के एक कोने को श्रेष्ठतम साहित्य को गड़रियों का गीत कहा, नवयुवकों का स्वरूप बदला, उनकी धारणाएं, उनके विश्वास, उनका रहन-सहन, आदि बदला, उन्हें आधा तीतर और आधा बटेर बना दिया। लगा कि संस्कृति मिट जायगी। लगा कि भारत आस्ट्रेलिया और अमेरिका हो जायगा, लगा कि उसके निवासी हम लोग आरण्यक हो जायगे, इंगलैण्ड हमारा फादर लैंड (पितृभू) हो जायगा किन्तु तभी सुदूर अतीत से पांचजन्य की गूंज पर

तैरता हुआ उद्बोधन सुनाई पडा, "क्षुद्र हृदय दौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"। सुनाई पडा, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्।" भगवान के अवतार हुए—रामकृष्ण परम हस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द, तिलक, गाधी। हमने गीता, रामायण, महाभारत रूपी कवच पहना। ये अवतार हमारे सेनापती बने। केसरिया बाना पहने हुए, निहत्थे, किन्तु आत्म-विश्वास एव आत्मबल के तेज से प्रदीप्त भाल वाले बन्दरो की सेना ने कहा—"यतो-धर्मस्ततो जय" यत्र योगीश्वरो कृष्णो यत्र पार्थ धनुर्धर, तत्र श्री विजयो भूतिध्रुवा-नीतिर्मतिर्मम।" और आज हमे विश्वास है कि हमारी सस्कृति एक बार फिर इस सघर्ष से अपराजेय होकर निकल रही है। सघर्ष का प्रभाव उस पर दृष्टिगोचर न होता हो, ऐसी बात नही है किन्तु साथ ही, यह भी स्पष्ट है कि उस सस्कृति के मूल तत्व सुरक्षित हैं। उनकी उपयोगिता और महत्व आज भी असदिग्ध सिद्ध हो रहा है। तभी तो के० एम० पणिक्कर ने कहा है कि "विगत शताब्दी मे भारतीय सस्कृति और पश्चिमी जीवन-दर्शन के बीच जो टक्कर हुई थी उसमे भारतीय सस्कृति को ही विजय लाभ मिला है और इस प्रकार उसने अपनी सप्राणता सिद्ध कर दी है।"

हमारी आज की सस्कृति—

अस्तु, बीसवी शताब्दी की हिन्दी प्रदेश की सस्कृति का तात्पर्य हुआ (१) हिन्दी-प्रदेश की भारतीय सस्कृति अर्थात् हिन्दी प्रदेश को परपरा से प्राप्त होने वाले भारतीय सस्कृति के मूल तत्व, (२) हिन्दी-प्रदेश पर यूरोपीय सस्कृति अर्थात् पाश्चात्य सस्कृति के पडने वाले प्रभाव, और (३) इन दोनो सस्कृतियो के प्रभावो मे से हमारे ऊपर किसका प्रभाव कितना और कितना गहरा पडा है। इतना अध्ययन कर लेने के पश्चात् ही हम अपने हिंदी-साहित्य की वास्तविक आत्मा, उसके वास्तविक स्वरूप और उसके महत्व को समझ सकेगे। जब तक हम इन प्रभावो के वास्तविक अनुपात और उसके सापेक्षिक महत्व का अध्ययन न कर लेगे तब तक हम मे से कोई यह कहता रहेगा कि आधुनिक हिंदीसाहित्य तो अग्रेजी साहित्य की नकल हैं, कोई यह कहा करेगा कि हिंदी साहित्य सस्कृत का उच्छिष्ट मात्र है, किसी को यह धारणा होगी कि हिंदी मे है ही क्या, जो उसे पढा जाय, आदि। हिंदी का साहित्यक है क्या? हिंदी का आधुनिक साहित्यक भावो से स्पन्दित होने वाली उस आधुनिक भारतीय चेतना का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाला अश है जो इस बीसवी सदी मे विकसित हुई है। हिन्दी की आधुनिक साहित्यक चेतना का विकास और स्वरूप-निर्माण आधुनिक भारत के विकास और स्वरूप-निर्माण के साथ-साथ हुआ है। हिन्दी का साहित्य जीवित साहित्य है। वह जीवन के स्पन्दनों से परिपूर्ण साहित्य

कहा तक और किन-किन दिशाओ म प्रभावित किया है। इन सबके निष्कर्ष से ही हम यह समझ सकेगे कि आधुनिक सस्कृति का हमारे आधुनिक साहित्य से कितना घनिष्ट, अनिवार्य एव अविभाज्य सबध है। वास्तविकता यह है कि इन परिस्थितियो ने पहले एक व्यक्ति पर प्रभाव डाला और उसे सोचने को विवश किया। उसने अध्ययन, मनन और चिंतन द्वारा अपने मन पर पडने वाले इन प्रभावो की पुष्ट एव सुदृढ पृष्ठभूमि दी। उसने कुछ अन्य लोगो पर अपने नये विचार और उनके समर्थन मे युक्तिया प्रकट की। इस प्रकार कुछ लोगो का एक दल बना जिसने प्रचार और ठोस कार्यो द्वारा समाज मे एक नई विचारधारा फैला दी जिसे पहले कुछ लोगो ने माना और बहुतो ने नही माना और बाद मे बहुतो ने माना। पहले कुछ लोग छिपकर मानते थे, अब कुछ लोग छिपकर नही मानते। इस प्रकार व्यक्ति और समाज की चेतना और उसका मनोविज्ञान परिवर्तित एव प्रभावित होता है। हिंदी का आधुनिक साहित्यक व्यक्ति के रूप मे इन समस्त परिवर्तनो और क्रान्तियो का प्रभाव ग्रहण करता है और समाज के प्रतिनिधि के रूप मे साहित्य मे उन्हे अभिव्यजित करता है। एक सत्य यह भी है कि यदि व्यक्तिगत रुचियो एव प्रवृत्तियो का अध्ययन कर सकें तो हम पायेंगे कि इन व्यक्तिगत विशिष्टताओ पर तो कुछ-कुछ, किन्तु इनके अतिरिक्त व्यक्ति की चेतना का जो सामाजिक अश होता है, उस पर पडने वाला प्रभाव बहुत-कुछ वही होता है जो समाज का हुआ करता है। तभी तो व्यक्ति समाज का प्रतिनिधित्व कर पाता है। अस्तु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं हिन्दी के साहित्यिकों पर पडने वाले प्रभाव प्राय वे ही हैं जिन्होने व्यापक रूप से पूरे समाज को भी प्रभावित किया है। इस प्रकार समाज को तरह-तरह से प्रभावित करने वाले तत्वो का अध्ययन उस व्यक्ति की चेतना का भी अध्ययन-और उन समस्त व्यक्तियो की भी चेतना का अध्ययन-उपस्थित कर देता है जिन्होने साहित्य की-और प्रस्तुत प्रबध के अन्दर, आधुनिक हिन्दी साहित्य की-रचना की है। परिणामत इनका अध्ययन साहित्य के स्वरूप, उसके उस स्वरूप के कारण और उसके महत्व को समझाने स्पष्ट करने मे पूर्ण रूप से सहायता दे सकता है। आगे के पृष्ठो मे इसी उद्देश्य को लेकर इसी प्रकार से अध्ययन करने का प्रयास किया जायगा।

—*—*—

अध्याय—२

हिन्दी प्रदेश का आधुनिक इतिहास
और
उसके निर्माण की प्रक्रिया

सांस्कृतिक इतिहास का तीसरा चरण—हमारा इतिहास और हमारी संस्कृति—हमारी भ्रांतियां और तभी यूरोपीय आक्रमण—१८५७ की विद्रोह एक सांस्कृतिक आक्रोश—१८५७ का विद्रोह और नीति परिवर्तन—शान्ति के लिए सम्पन्नता की बलि—विक्टोरिया की मृत्यु—भारतीय स्वतन्त्रता—गांधी युग—भारतीय परतन्त्रता की उग्र—कर्जन—बंग-भंग—एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति—भारत मे दो प्रकार के व्यक्ति-बंग-भंग विरोधी आन्दोलन की तीव्रता एवं उसका प्रभाव—इस आन्दोलन की देनें—वायसराय—तिथियां और घटनाएं—युग की प्रधान प्रवृत्तियां—दो महत्वपूर्ण घटनाएं—झकझोरने वाली अन्य घटनाएँ, होमरूल, चम्पारन, भूख हड़ताल, खेडा, खिलाफत, रौलट ऐक्ट-विरोध—जलियां वाला काण्ड और मार्शल ला-असहयोग आन्दोलन-तिलक स्मारक फण्ड-बहिष्कार-धरना, आदि—माडरेट लोगो का अलग होना और विशुद्ध जन-आन्दोलन—राजकुमार के स्वागत का विरोध—चौरी-चौरा काण्ड—रचनात्मक कार्यक्रम—झण्डा सत्याग्रह—गुरु का बाग का सत्याग्रह—जेल मे सत्याग्रहियो पर अत्याचार-साम्प्रदायिक दगे—साइमन कमीशन—बारदोली—पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा लक्ष्य—धोरसद-नमक आन्दोलन—गांधी-इर्विन समझौता—क्रान्तिकारियो को फांसी—अवध का कृषि-आन्दोलन—गोलमेज कान्फ्रेंसें और दमन—साम्प्रदायिक निर्णय—प्रथम चुनाव—द्वितीय युद्ध—नाटक की चरमसीमा—रक्तरंजित स्वतन्त्रता आतंकवादी आन्दोलन—संवैधानिक सुधार—साम्प्रदायिक दगे—युग की प्रधान प्रवृत्तियां—अखिल भारतीय दृष्टिकोण—राष्ट्रीयता और साहित्य—राष्ट्रीयता और हिन्दी भाषा—घटनाओं का साहित्य पर प्रभाव।

हिन्दी-प्रदेश का आधुनिक इतिहास
और
उसके निर्माण की प्रक्रिया

सांस्कृतिक इतिहास का तीसरा चरण—

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का विचार है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्थान का तीसरा अध्याय १७०० ई० के पास से प्रारम्भ होता है। पंजाब के सिक्ख गुरु, दक्षिण के शिवाजी, राजस्थान की अनेक विभूतियां, उत्तर के अनेक वीर, आदि हुंकार उठे। किन्तु इसके पहले कि भारत इस पुनरुत्थान का फल चखने पाता, भाग्य ने उसके मत्थे इंगलैंड की राजनैतिक और आर्थिक दासता मढ़ दी। फिर भी, पुनरुत्थान की धारा इससे समाप्त न हुई। वह दूसरी दिशाओं में बह निकली। उसका रूप कुछ बदल गया। वह अप्रत्याशित स्वरूपों और क्षेत्रों में प्रकट हुई। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि शक्ति चाहे जिस उद्देश्य को ध्यान में रखकर अर्जित की गई हो किन्तु यदि कोई ऐसी परिस्थिति आ जाय जो शक्तिवान के अस्तित्व को ही मिटाने पर तुली हो, तो उस शक्ति का प्रयोग (पहले वाले उद्देश्य को किनारे करके) इस नवीन परिस्थिति का सामना करने के लिए, उसे पराजित करने के लिए और उसको अपने अधिकार में करने के लिए ही किया जायगा। यही बात भारत के साथ हुई। तीसरे सांस्कृतिक उत्थान से प्राप्त शक्ति की क्रियाशीलताएं इसीलिए अप्रत्याशित रूपों और क्षेत्रों में दिखाई पड़ीं। १८५७ ई० का विद्रोह, रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द, टैगोर, गांधी आदि उसकी प्रगतिशीलता के विभिन्न प्रतीक हैं। इनकी कहानियां, इनकी प्रवृत्तियां ही हमारा इतिहास एवं हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्तियां हैं।[१] हमारी ऐतिहासिक प्रवृत्तियों का स्वरूप इन्हीं से विनिर्मित होता है।

हमारा इतिहास और हमारी संस्कृति—

हमारे देश के जीवन की गतिविधि की दिशा एवं उसके स्वरूप का निर्धारण हमारी सांस्कृतिक चेतना ही करती है। वही हमारे जीवन की नाड़ी है। १८ वीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते हमारी सांस्कृतिक चेतना ने एक नवीन परिधान धारण किया था जिसका ताना बाना हिन्दू और मुस्लिम इन दो संस्कृतियों के तत्वों से विनिर्मित हुआ था। औरंगजेब के शासन का स्वरूप भारतीय संस्कृति के सामासिक स्वरूप से भिन्न था—बिल्कुल उलटा था। हम सबको मिलाकर रहने के कायल थे, वह शिया-

---

१—'भगवद्गीता एण्ड माडर्न लाइफ' पृ० ६।

मुन्नियो तक मे घातक भेद करता था; भारतीय संस्कृति सब मे एक तत्व का दर्शन करती है, वह अपने सगे भाइयो मे भी एक तत्व नही देख सकता था, हमारी संस्कृति कहती है 'पितृदेवो भव', और उसने 'किबले के ठौर बाप बादशाह शाहजहा ताको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है', हमारी संस्कृति उदार थी, वह कट्टर था, और तब, हमारी संस्कृति के अर्थात् उस युग की सामाजिक संस्कृति के प्रतीक समर्थ रामदास ने 'अनीति'[1] असंस्कृति—के विरुद्ध क्षोभ प्रकट किया। उस क्षोभ को शक्ति (तलवार) दी भवानी ने। इस प्रकार हमारे देश के इतिहास की एक नई शानदार कहानी बनी जिसका सांस्कृतिक उद्गान भूषण ने प्रस्तुत किया। इतिहास का निर्माण करती हुई संस्कृति की वही गंगाधारा बही। राज्य बदले, राजा बदले, नीतियां बदली, शक्तियां बदली। घटनाओ ने नई-नई मोडें ली।

हमारी सांस्कृतिक भूलें और तभी यूरोपीय आक्रमण—

औरंगजेब की सांस्कृतिक भूलों का परिणाम देश को भुगतना पडा। संस्कृति रूपी भवन की दीवारो म दरारें पड गई जिन पर पलस्तर लगाने का काम जन-जीवन और दृष्टिकोण करने लगा। सन्तुलन बिगड गया। हम इस महत्वपूर्ण काम में लगे ही थे कि यूरोपीय संस्कृति के बादल अपनी समस्त शक्ति, क्षमता सकुलता एव सघनता के साथ हम पर बरसने लगे। रूपक छोड दें। वे व्यापारी विजेता राजनीतिक शक्ति का आयुध लेकर हमारी संस्कृति पर टूट पडे। ये नवीनता का आकर्षण लेकर आये थे। सम्भवत जनता इनकी कूटनीति न समझ सकी। इन्होंने जीवन-सम्बन्धी हमारा दृष्टिकोण बदलना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि ये हमको अपने सांस्कृतिक उपनिवेश का रूप देना चाहते थे। हम प्रेम के पुजारी थे, ये संघर्ष के समर्थक थे, हम श्रद्धावान थे, ये एकमात्र बौद्धिक थे, हम कर्ममय धर्म चाहते थे, ये स्वार्थ प्रेरित कर्मवादी थे, हम अभेदवादी थे, ये भेदवादी थे, हमें शान्ति चाहिए थी, इन्हे रुपया चाहिये था, हम उनसे मिलने के लिए बढ रहे थे, वे हमे झुकाने के लिए लड रहे थे, हम भीम की तरह आलिंगन करने की दिशा मे चल रहे थे, वे हमें दबाकर हमे चूर-चूर करने के लिए अन्धे धृतराष्ट्र की तरह स्वयं जल और हमें छल रहे थे। हमने इसे समझा तब जब हम उनकी शक्ति और कूटनीति के पाश मे पूर्णत आबद्ध हो चुके थे। जब हमने समझा तब उस आबद्धता-परवशता-शक्ति-असहायता की अवशता में भी मुक्ति के लिए हुंकार भरी, जोर लगाया और हाथ-पाव मारे।

१—जिसकी व्यंजना शिवराज भूषण के 'किबले के ठौर बाप बादशाह शाहजहा' वाले छन्द में हुई है।

१८५७ का विद्रोह एक सांस्कृतिक आक्रोश—

इतिहासकारो ने इसे १८५७ ई० ई० का सैनिक विद्रोह कहा किन्तु वे भूल गये कि वे सैनिक जनता की मुक्ति की छटपटाहट और उसके आक्रोश के प्रतीक थे। उन्हे जनता का समर्थन प्राप्त था। यह असतोष-आक्रोश न केवल सैनिकों का ही था और न केवल कुछ राजाओ और उनके कुछ नौकरो मात्र का ही यह भारत माता की आत्मा की व्याकुलता थी। यह उसकी आहत पुकार थी जिसको सुनकर लाखों ने अपने तन-मन-जीवन-धन सुख समृद्धि-सतोष आदि की आहुति दे दी। १८५७ ई० की हुँकार भारतीय सस्कृति को स्वार्थ की भोथरी छुरी से रेते जाने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली उसकी करुण चीत्कार के आह्वान के परिणामस्वरूप उठी थी। १७०० ई० के आसपास उठने वाले सास्कृतिक उत्थान की अजस्रधारा मे प्राप्त किन्तु उस समय क्षीण–सी प्रतीत होने वाली शक्ति के पुनर्जागरण की क्षोभ भरी एक करवट थी। "अग्रेजो की विजय के कारण जनता राजनैतिक और सास्कृतिक दृष्टि से बहुत पीडित थी। यह विद्रोह केवल फौजी बगावत न था मगर डा० डफ के शब्दो मे यह बलवा और क्रान्ति दोनो एक साथ था। एक प्रकार से यह आगे आने वाले स्वातत्र्य सग्राम का विधिवत रिहर्सल था और उसमे से सयुक्त आन्दोलन की परम्परा ने जन्म लिया। पुराने समाज की सामाजिक परपराए १८५७ ई० मे अपनी शक्ति के पुन सस्थापन के अन्तिम प्रयत्न मे पूरी तरह से विनष्ट हो गई।"[१] इसने भारतीय इतिहास को फिर एक नई मोड पर ला खडा किया। सबको सोचने के लिये विवश कर दिया। इस पर कुछ बाद मे विचार किया जायगा। अभी यह देखना है कि इस हुंकार का कारण क्या सचमुच सास्कृतिक था। ईस्वरीप्रसाद ने लिखा है, "१८५७ ई० के विप्लव के कारण सौ सालो के इस शासन से उत्पन्न असतोष मे ही मिल जाते हैं, चर्बी लगे कारतूस तो असतोष के इस बारूदखाने मे एक चिनगारी के समान थे।"[२] अगरेजो की भारतीय सम्राट के प्रति अवज्ञा और सामान्य रूप से पाई जाने वाली धृष्टता का उल्लेख करते हुए इसी लेखक ने लिखा है, "इसी प्रकार अवध के नवाब और झासी की रानी के प्रति अगरेजो के दुर्व्यहार ने उनकी प्रजा के मन मे अगरेजो के लिये घृणा उत्पन्न कर दी थी',[३]। ईश्वरीप्रसाद ने कुछ अगरेजो के उद्धरण दिये हैं जो इस विषय पर अच्छे ढग से प्रकाश डालते हैं। उनमें से कुछ ये हैं जस्टिन मैकार्थी

१–"आज का भारतीय साहित्य' पृ० ४८।

२–"अर्वाचीन भारत का इतिहास", पृ० २८३।

३–"वही, पृ० २८६।

ने अपने ग्रंथ "हिस्ट्री आफ अवर टाइम्स" में लिखा है, "......(यह विद्रोह) एक राष्ट्रीय और धार्मिक युद्ध था।" यही सम्मति "ए इयर्स केम्पेन फ्राम मार्च १८५७ टु मार्च १८५८" नामक पुस्तक के लेखक मेडले की भी है क्योंकि वह कहता है, "इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि भारत सन् १८५७-५८ ई० में सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बंधा हुआ था"। इससे निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्रोह सांस्कृतिक था और जो कुछ हुआ वह सांस्कृतिक प्रेरणा से हुआ। एडवर्ड स्टेनफोर्ड द्वारा प्रकाशित "दि काजेज आफ दि इण्डियन रिवोल्ट बाइ ए हिन्दू आफ बंगाल" नामक पुस्तक में हमें यह महत्वपूर्ण उद्धरण मिलता है, "इस वर्ष (१८५७ ई०) के प्रारंभ में भारतीय सेना के अनेकानेक कर्नल सेना को ईसाई बनाने जैसी राक्षसी और दुस्साध्य कर्म में निरन्तर पकड़े गये।" मेल्कम ल्युइन ने "इण्डियन रिवोल्ट" में लिखा है, ... हमने उनकी जाति को अपमानित किया है, हमने उनके दाय-भाग के नियमों को भंग किया है, हमने उनकी विवाह-सम्बन्धी प्रथाओं को बदला है, हमने उनके धर्म के पवित्रतम संस्कारों की अवहेलना की है, हमने उनके देवालयों की सम्पत्ति को हड़प लिया है . . ..हमने संसार के प्राचीनतम अभिजाति वर्ग को उखाड़ने और उसको अति शूद्रों की स्थिति में धकेलने की चेष्टा की है।"[१] यह पूरे का पूरा उद्धरण एक अंग्रेज की इस बात के लिये गवाही है कि उसकी जाति भारत की संस्कृति को मिटाने पर तुल गई थी। हमें गालियां दी गईं, हमारे संस्कारों का मजाक उड़ाया गया, हमारी प्रथाओं को जंगली कहा गया, हमारे देवताओं के लिये अपशब्दों का प्रयोग किया गया और उन्हें अपमानित किया गया, हमारे धर्म के स्वरूप की हंसी उड़ाई गई, हमारे महान् साहित्य का तिरस्कार किया गया, और उसे व्यर्थ एवं निरर्थक सिद्ध किया गया। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है, "प्रजा की बेचैनी का असली कारण यह था कि अंग्रेज पादरी और शिक्षक मिलकर प्राचीन धर्म, संस्कृति और परम्पराओं की जड़ पर कुठाराघात कर रहे थे।"[२] ईसाई लेखक डयडुबोई और ब्युशैम्प-ने जो कुछ विषवमन किया है वह हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी बदनीयती और उनके वास्तविक दृष्टिकोण का परिचायक है[३]। इन बातों का तो हमें पता लग गया किन्तु नवीन अर्थ-व्यवस्था और नवीन शिक्षा संस्थाओं और नवीतम जीवन-पद्धति के द्वारा वे हमारे रहन-सहन और दृष्टिकोण को जिस प्रकार नष्ट कर रहे थे उसका पता उस समय तो बहुत कम लगा

१—ये सभी उद्धरण उपर्युक्त पुस्तक के दूसरे अध्याय में हैं।
२—"भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त" पृ २७८
३—"हिन्दू मैनर्स, कस्टम्स ऐंड सेरेमनीज",

ही,, मेरा तो यह अनुभव है कि हमम से अधिकाश आज तक उसके कुप्रभाव से नही बच पाये। आज उसे हम कभी फैशन, प्रगति, परिवर्तन, सास्कृतिक सगम, और प्रगतिशीलता जैसे महत्वपूर्ण एव भारी भरकम शब्दो के पर्याय समझ बैठने की गलती कर जाते हैं और कभी इनकी आड मे अपनी दुर्बलताओं को छिपाते हैं। अस्तु, यह सास्कृतिक विद्रोह हुआ। इतिहास ने नई करवट ली। विजित और विजेता–दोनो को सोचने के लिये मजबूर होना पड़ा। अग्रेजो ने आज तक जो दृष्टिकोण बनाया था उसे उन्हे बदलना पडा। सभवत उन्होने सोचा था कि यूनान, मिश्र, रोम, चीन, आदि की तरह भारतीय सस्कृति भी अत्यन्त पुरानी होने के कारण जीर्ण शीर्ण, हतशक्ति, समय के पीछे की चीज एव नये जीवन को नयी प्रेरणा देने मे पूर्णत असमर्थ हो गई है और इसलिये शायद उनकी यह धारणा भी बनी थी कि भारतीय सस्कृति के विभिन्न तत्वो को जिस तरह चाहो, उस तरह तोडो मरोडो, उस तरह उसका कुव्याख्या करो, उस तरह उसे बदनाम और निरर्थक सिद्ध करके उसके अनुयायियो को जिस तरह चाहो उस तरह सभी दृष्टियो से लूटो, नेस्त नाबूद करो। हिन्दुस्तानी निर्जीव हो गया है। एच०नी०ई० ज्वारिमाज ने लिखा है कि १८५७ ई० के विद्रोह से अगरेज बुरी तरह से डर गये थे[1]।

१८५७ ई० का विद्रोह और नीति परिवर्तन—

१८५७ ई० के विद्रोह ने अग्रेजो को यह सोचने को मजबूर कर दिया कि जिसे वे शव समझ रहे थे वह किसी सबल–सचल का सुप्त–निष्क्रिय–निश्चेष्ट शरीर था। वे शायद समझ गये कि धर्म, सामाजिक परम्पराओ, आस्थाओ, अधिकार, आदि के रूप मे उन्होने शिव के तीसरे नेत्र को कोच दिया है जिसकी आग की एक छोटी-सी लपट इतनी भयानक है। अग्रेज समझ गया कि भारत राष्ट्र मे अभी भी शक्ति और चेतना है। उससे प्रत्यक्ष शत्रुता करके भारत मे टिक सकना असम्भव हो जायगा। उसने नीति बदल दी। उसके बाद से भारत मे अग्रेजो और भारतीयो का उस रूप मे युद्ध नहीं हुआ जिस रूप मे १८५७ ई० के पहले होता था। उसके बाद फिर भारत मे साम्राज्य के विस्तार की नीति छोड दी गई, साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति और साम्राज्य के प्रभाव–क्षेत्र को बढाने की नीति अपनाई गई। हमे हथियारो की शक्ति से वश में लाने की अपेक्षा कानून की शक्ति से वश मे लाने की नीति अपनाई गई। मधुर एव प्रिय भाषा–शैली तथा स्वार्थसने कार्यो और कानूनो का बोल–वाला हुआ। आक्राता के चेहरे पर मैत्री और प्रशिक्षण का नकाब चढाया गया। दिखाया

---

[1]–'रेमेन्ट इन्डिया", पृ० ६२

गया कि हम धारयों आपके सभी अधिकार धीरे-धीरे दे देना चाहते हैं। देरी केवल उतने समय तक की है जबतक कि आप यह सिद्ध न कर दें कि आप उन अधिकारो का उपयोग करने के योग्य हैं, और वास्तविकता यह थी कि वे हम पर अविश्वास करते लगे थे और सोचते यह थे कि भारतीयो को उतना ही दिया जाय जिससे अंग्रेजो की प्रभुता, उनकी शक्ति और उनके हितो पर कभी किसी प्रकार की आच न आने पाये। सांस्कृतिक आक्रमणो की तीव्रता कम हो गई। आगे का इतिहास दो अविश्वासी जातियो के परस्पर प्रेम एव सद्भावना-प्रदर्शन का इतिहास है। यदि अंग्रेजो ने सोचा तो भारतीयो को भी सोचने के लिये मजबूर होना पडा। महारानी विक्टोरिया की घोषणा हुई कि अब अधिकृत प्रदेशो को नही बढाया जायगा, ईस्ट इ डिया कपनी के द्वारा की गई सन्धियो और समझौतो को माना जायगा, सबको अपने कर्त्तव्य पालन की स्वतन्त्रता रहेगी, सबको धार्मिक कर्त्तव्यों एव अनुष्ठानो को पालन करने एव पूरा करने की स्वतत्रता रहेगी, शिक्षा-योग्यता और ईमानदारी के आधार पर सबको समान रूप से नौकरिया दी जायगी, बलपूर्वक धर्म परिवर्तन करवाने वाला दड का भागी होगा, भारतीयो के भारत प्रेम का सम्मान किया जायगा, तथा भारतीयो के अधिकारो और न्यायोचित मागो को माना जायगा। सहज-विश्वासी भारतीयो ने विश्वास कर लिया और उनका सारा आक्रोश समाप्त हो गया, प्रवृत्ति बदल गई। वे राजभक्त हो गये। उनकी तरफ से लडने-मरने को तैयार होगये। कवि भारतेंदु ने आशीर्वाद दिया—"पूरी अमी की कटोरिया-सी चिरजीवहु तुम विक्टोरिया रानी" या "हे प्रभु रच्छहु श्री महारानी"[1], किन्तु सत्य की ओर से आखे कहा तक मूदी जाती। सम्राज्ञी के घोषणा-पत्र पर पूरी ईमानदारी से अमल नही किया गया। विश्वासी अधा तो नही होता। उसी भारतेन्दु को आखिर एक दिन "भारत-दुर्दशा" लिखनी पडी और कहना पडा "पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी[2]।" भारतीय राष्ट्र अंग्रेजो के स्वरूप को पहचान गया किन्तु वह यह भी समझ गया कि अब भारत के रगमच पर से हथियारो के प्रयोग के दिन बहुत दिनो के लिये उठ गये। हथियारो का प्रयोग दोनो नही करना चाहते थे क्योंकि दोनो ने दोनो की तलवारो का पानी देख लिया था और फिर जब एक कानूनी शिकजे मे हो और दूसरा सर्वशक्ति सपन्न, तो दोनो मे हथियारो की लड़ाई हो भी कैसे सकती है! भारत ने समझ लिया कि अब उसे हथियारो का सहारा छोडना है। १७०० ई० के आसपास से नई मोड लेकर चली आने वाली सास्कृतिक-चेतना-और शक्ति ने

१—"भारतेन्दु ग्रथावली" भा० २, पृ० ८१४।
२—भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ४६८।

प्रेरणा दी। इतिहास ने एक नईमोड़ ली। युद्ध ने नया रूप धारण किया। इतिहास ने एक नई कहानी लिखनी प्रारम्भ की। हमने स्वयं हथियार छोड़ा तो उनके भी हथियार रखवा दिये। वे अपनी अनीति और दुर्नीति का समर्थन नीति और झूठ का सहारा लेकर करने लगे। भारतीय संस्कृति की जय हुई। हमने जबरदस्ती का उत्तर अनुरोध, व्याख्यान का उत्तर व्याख्यान, दुर्बुद्धि का उत्तर सद्बुद्धि, घृणा का उत्तर प्रेम, दमन का उत्तर असहयोग, जबरदस्ती लादे गये कानून का उत्तर कानून भङ्ग, कूटनीति का उत्तर स्पष्ट एवं सत्य-कथन, मायाजाल के बादलों का उत्तर सत्य के सूर्य-प्रकाश, और हिंसा का उत्तर अहिंसा से दिया, और १९४७ ई० में इतिहास ने सुनहरे अक्षरों से अपना निर्णय लिख दिया—"सत्यमेव जयते नानृतम्"। अस्तु, १८५७ ई० के बाद भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक विधिवत् उपनिवेश बन गया। भारत के इतिहास में यह एक नई बात हुई। नया अनुभव मिला। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "हिन्दुस्तान के इतिहास में पहली बार उसके ऊपर बाहर के किसी अन्य देश का राजनीतिक नियंत्रण स्थापित हुआ और उसके अर्थ तंत्र का केन्द्र बिंदु किसी सुदूर देश में स्थापित हुआ। उन लोगों ने हिंदुस्तान को आधुनिक युग का एक विचित्र उपनिवेश बना दिया। अपने लम्बे इतिहास में भारत पहली बार गुलाम देश बना।" [१]

शान्ति के लिए सम्पन्नता की बलि—

१. भारत को विक्टोरिया—युग के साम्राज्य की देनों को सम्भवतः निष्कर्ष रूप में उपस्थित करते हुए रमेश दत्त ने लिखा है, 'भविष्य के इतिहासकारों को यह दुखभरी कहानी कहनी होगी कि (ब्रिटिश) साम्राज्य ने भारतीय जनता को शान्ति तो दी किंतु समृद्धि नहीं दी, कारीगरों के हाथों से उनके उद्योग निकल गये, निरन्तर बढ़ते जाने वाले भारी-भारी करों ने, जिनके कारण बचत की कोई भी सम्भावना नहीं रह गई थी, किसानों को पीस डाला, देश की आय का अधिकांश भाग इङ्गलैंड को रवाना कर दिया जाता था और करोड़ों की संख्या में जनता बार-बार होने वाले प्रलयकारी अकालों से साफ कर दी जाया करती थी।'[२] १८५७ ई० से १८९९ ई० तक के ब्रिटिश शासन की भी यही कहानी है। महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र १ नवम्बर, १८५८ ई० को इलाहाबाद में आयोजित दरबार में सरकारी तौर से सुनाया था। इस घोषणा पत्र के अनुसार रानी ने भारत का शासन अपने हाथों में ले लिया। ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है, 'भारतीयों के लिए रानी का भारत-शासन अपने हाथ में लेना एक नये युग

१—"डिस्कवरी आफ इंडिया", पृ० ३३३।
२—"इंडिया इन दी० विक्टोरिया एज" भूमिका पृ० ८-९

का प्रारम्भ था, इस घोषणा का भारतियों के अधिकार-पत्र के रूप में अभिनन्दन किया गया।'[1] इस घोषणा पत्र से शासन में नई नीति का समावेश हुआ, देशी रियासतों की सीमाओं में छेड़ छाड़ समाप्त हो गई, रियासती प्रदेशों को अंगरेजी राज्य में मिलाने की नीति समाप्त हो गई, गोद लेने के अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार बेदखली की नीति समाप्त हो गई, शान्ति-समृद्धि की आशा होने लगी, अपने-अपने धर्म की रक्षा का विश्वास हो गया, समान व्यवहार और योग्यता के अनुसार ऊँची-ऊँची सरकारी नौकरी पा सकने की उम्मीदें की जाने लगी। भारत में शान्ति और सन्तोष की भावना जगी। ध्यान रहे कि ये वादे डर कर किये गये थे न कि किसी सिद्धान्त एवं नैतिक भावना से प्रेरित होकर। यह हाथ मिलाना अपना-अपना दाव खेलते हुए हाथ मिलाना था। यह प्रदर्शन मात्र था। अभी तक इस प्रकार व्यवहार किया जाता था जैसे कोई स्वार्थी मालिक अपने गुलाम से करता है। अब इस प्रकार का व्यवहार किया जाने लगा जैसे कोई मालिक अपने अधीनस्थ उस नौकर से करता हो जिसकी शक्ति और सम्भावनाओं से वह स्वयं डरता हो पहले स्वार्थ का नाच खुलकर बेशर्मी के साथ किया जाता था, अब कूटनीति के साथ किया जाने लगा। दिखाया गया कि हम आपकी भलाई के लिए आपको सब कुछ दे रहे हैं और सब-कुछ करने के लिए तैयार हैं लेकिन दिया और किया वही गया जिसके लिए विवशता हो गई और वह भी, जहा तक हो सका अपने स्वार्थ और अधिकार को सुरक्षित रखते हुए इस युग में दस वायसराय आये। शासन अवधि के साथ उनके नाम इस प्रकार हैं—लार्ड केनिंग (१८५८ १८६२), लार्ड एल्गिन (१८६२–६३), लार्ड जान लारेंस (१८६३-१८६६), लार्ड मेयो (१८६६–७२), लार्ड नार्थब्रुक (१८७२–७६), लार्ड लिटन (१८७६–८०), लार्ड रिपन (१८८०–८४), लार्ड डफरिन (१८८४–८८), लार्ड लेन्सडाउन (१८८८–१८९४), और लार्ड एल्गिन (१८९४–९९)। इस युग की सर्व प्रमुख विशेषता है भारत-सरकार की शासन-नीति का विकास। १८७० ई० में लाल सागरीय केबल की स्थापना से शिमला और लन्दन के बीच समाचारों का आदान-प्रदान मिनटों में होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय कार्यों पर भारत-सचिव का नियन्त्रण बहुत बढ़ गया। इस नियन्त्रण से भारत का प्राय अहित ही हुआ। आर्थिक अधिकारों के वितरण की नीति इसी युग में अपनाई गई। इसके अनुसार व्यय के कुछ विभागों, जैसे—जेलें, सड़कें, पुलिस आदि को इनके साथ सम्बद्ध आय-सहित स्थानीय सरकारों के हाथ में रख दिया। प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार से एक निश्चित धन प्रति वर्ष मिलता था। प्रान्तों को बचत का धन अपने पास रखने

१—'अर्वाचीन भारत का इतिहास,' पृ० ३३५।

और अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यय कर सकने का अधिकार मिला। यह भी निश्चित किया गया कि गवर्नर जनरल, अपनी परिषद् सहित, किसी भी विभाग म निरीक्षण और नियन्त्रण के अपने अधिकार तो न छोडेगा परन्तु हस्तान्तरित राजस्व और सेवा-आयोगो की व्यवस्था के ब्यौरो मे हस्तक्षेप और प्रांतीय अर्थव्यवस्था की उलझनो से वे दूर रहेंगे। निश्चय किया गया कि किसी ऐसे युद्ध को छोडकर जिसमे केन्द्रीय सरकार के समस्त साधन समाप्त हो जाय, अन्य किसी युद्ध मे प्रान्तीय सरकारो से कोई माग न की जायगी। अकालो मे शाही सरकार तत्काल सहायता पहुँचायेगी। स्थानीय स्वायत शासन का प्रारम्भ भी इसी युग मे हुआ। ग्रामीण स्वायत शासन अधिकार दिये गये। १८६१ से १८६६ के बीच ७ भयानक अकाल पडे। सारा देश अकाल से पीडित हो उठा। इस युग मे कृषि की दशा सुधारने के जो प्रयत्न हुए वे न होने के बराबर थे। व्यापार-नीति ने कृषि पर और भी बोझ डाल दिया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति और भारत मे विदेशी पूँजीवाद के प्रवेश ने भारत के उद्योग धन्धो का जीना दूभर कर दिया। कच्चा माल पाने और तैयार माल को खपाने के लिए मडियो को अपने अधिकार मे रखना इङ्गलैंड की आर्थिक नीति थी। भारतियो के उच्च पदो पर पहुँचने के मार्ग मे तरह तरह की बाधाएँ खडी की जाती रही। सिविल सर्विस की परीक्षा मे, जो लदन मे होती थी, बैठने के लिए अधिकतम आयु पहले २२ (१८६० ई०) फिर २१ (१८६१) कर दिये जाने के कारण भारतियो के लिए यह परीक्षा और उससे मिलने वाले पद दुराशामात्र रह गये। इसका कारण था अविश्वास की नीति। इससे लोगो मे असाधारण असन्तोष पैदा हो गया। १८७० ई० तक प्रेस स्वतन्त्र रहा। तब तक वह अङ्गरेजो के हाथो मे था। बाद मे यह भारतियो के हाथो मे आ गया और राजनीतिक शिक्षा और जागृति का सन्देह वाहक बना। सरकार की आलोचनाएँ भी होने लगी। सरकार सतर्क हो गई। १८७८ ई० मे वर्नाक्युलर ऐक्ट पास कर दिया गया। इससे प्रेस की स्वतन्त्रता छिन गई। १८८२ ई० मे यह रद्द हुआ। १८८३ ई० मे इल्वर्ट बिल पास हुआ। इस बीच जातीय घृणा के भाव बहुत जोर पकड गये थे। काला आदमी यूरोप वासियों का मुकद्दमा देख, यह गोरो को असह्य था। उन्होने इसका विरोध किया। भारतियो ने इस विरोध की निंदा की। भारतेन्दु युग की कविताओ मे ये सारी दुरवस्थाएँ बडे ही मार्मिक रूप मे अभिव्यक्त हुई हैं। अकाल सम्बन्धी निम्नलिखित कविता देखिए—

कोई पात पेडन के चाबै, कोई माटी कोई घास चबाय
कोई बेटवा बिटिया बेचै, अब तो भूख सही नहि जाय

कोई घर घर भीख मागें, कोई लूट पाट के खाय।[1]
टैक्स और महगाई के विषय मे प्रताप नारायण मिश्र ने लिखा है —
महगी और टिकट के मारे सगरो वस्तु अमोली है"[2]
'प्रेमघन" ने बडी ही दूरदर्शिता के साथ भारत की वास्तविक माग इस प्रकार सामने रखी है —

पै दुख अति भारी इक यह जो बढत दीनता
भारत मे सपति की दिन-दिन होत छीनता
सुख सुकालहू जिनहिं अकालहिं के सम त्रासित
कई कोटि जन सदा महत भोजन की सासत
. . . .
भारत को धन अन्न और उद्यम व्यापारहिं
रच्छहु वृद्धि करहु साचे उन्नति आधारहिं।[3]

इससे राष्ट्रीयता के विकास मे पर्याप्त सहायता मिली। १८८५ ई० मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना हुई। सुधारों की मागें प्रारम्भ हो गई। प्रारम्भ से ही यह नरम दलीय और वैधानिक सुधारो वाली सस्था रही। इस युग की वृत्तियों की एक झलक महात्मा गाधी द्वारा लिखित निम्न पक्तियों मे मिल जाती है; "उनके शासन से हमारा देश कगाल होता जा रहा है। वे साल व साल हमारे देश का धन ढोये लिये जा रहे हैं। वे गोरे चमडे वालों को ही ऊचे ओहदे देते हैं, हमें गुलाम की दशा मे रखते हैं। हमारे साथ उद्दण्डता से पेश आते हैं और हमारे भावो की तनिक भी परवाह नही करते।"[4] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी भाव की अभिव्यक्ति इन पक्तियो मे की है —

बाहर भीतर सब रस चूसे, हसि हसि के तन मन धन मूसे
जाहिर बातन मे अति तेज, क्यो सखि, साजन, नहिं, अगरेज।[5]

इस समय की एक और बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है और यह यह है कि अगरेज मुसलमानो से विशेष रूप से खिंचे रहे, क्योकि वे, जैसा कि स्वाभाविक

१—"हिन्दी प्रदीप" मे प्रकाशित, "भारतेन्दु युग" पृ० १२ से उद्धृत
२—"होली है" शीर्षक कविता से
३—"हार्दिक हर्षादर्श" से
४—"हिन्द स्वराज्य", पृ० २२
५—"भारतेन्दु ग्रथावली", पृ० ८११

है, सोचते थे कि साम्राज्य हमने मुसलमानो से लिया है और इसलिये मुसलमान हमसे विशेष रूप से शत्रुता रक्खेंगे और विश्वास न करेंगे। इधर कुछेक कारणों से मुसलमान भी अंगरेज, अंगरेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति से खिंचे रहे। इस युग की मानसिक प्रवृति चित्रित करते समय मन्मथ नाथ गुप्त ने लिखा है, "गदर हुए ४० साल गुजर चुके थे। इस बीच मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई भी चूं करने वाला नही था। बडे आनंद से सरकार और उसके पिट्ठुओ के दिन कट रहे थे। मालूम होता था कि यही बहार सदा रहेगी। भारतवासी ऐसे ही गुलाम रहेगे।"[1] इस पृष्ठभूमि मे हमारा आलोच्य काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध प्रारम्भ होता है।

विक्टोरिया की मृत्यु—

इस युग की सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है बयासी वर्षीया महारानी विक्टोरिया का देहान्त। इस महीयसी का जीवन इस १९ वी शताब्दी पर छाया हुआ है। इसका जन्मकाल भले ही १९ वी शताब्दी का जन्मकाल न रहा हो किन्तु इसकी मृत्यु अवश्य ही १९ शताब्दी की मृत्यु थी। बयासी वर्ष का जीवन लगभग एक शताब्दी का जीवन होता है। विक्टोरिया १९ वी शताब्दी की प्रतीक थी। उन्नीसवी शती विक्टोरिया की शती थी जिसे साम्राज्य-विस्तार की शती कहा जा सकता है। यह इंगलैंड के उत्कर्ष की शती थी। विक्टोरिया का देहान्त एक प्रवृत्ति का, एक दृष्टिकोण का देहान्त था। बीसवी शताब्दी परिवर्तित प्रवृति, परिवर्तित दृष्टिकोण की शताब्दी है—भले ही आमूलत परिवर्तित प्रवृत्ति की शताब्दी कम से कम उस समय न हो पाई हो।

भारतीय स्वतन्त्रता—

जिस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध की सबसे प्रमुख घटना थी १८५७ ई० की क्रांति या विद्रोह, जिसे कुछ इतिहासकारो ने 'सैनिक विद्रोह' मात्र कहना चाहा था, वैसे ही बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की सबसे प्रमुख घटना है १९४७ ई० की भारतीय स्वतन्त्रता। २९ मार्च, १८५७ ई० को मंगल पांडे की गोली ने विप्लव का सूत्रपात किया था और १५ अगस्त, १९४७ ई० की मध्य रात्रि मे १२ बजे नेहरू और पटेल के हस्ताक्षर द्वारा उस महान् विप्लव को समाप्त किया गया। एक यज्ञ पूरा हुआ।

१—"भारत मे सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास", पृ० २१।

गांधी युग—

८२ वर्ष की आयु विक्टोरिया की थी, ७८ वर्ष की आयु गाधी को मिली। यदि इंगलैंड के इतिहास का वह युग महारानी विक्टोरिया का युग था, तो भारत के इतिहास का यह युग महात्मा गाधी का युग था। १६०१ ई० के आते ही विक्टोरिया चली गई और १६४७ ई० मे स्वतत्रता पाते ही गाधी चले गये। प्रत्येक महापुरुष के जीवन का एक लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति उनके जीवन की समाप्ति होती है। महाभारत की समाप्ति के पश्चात् अरजुन बेकार हो गये और गाडीव चलाना एव दिव्यास्त्रो का प्रयोग करना भूल गये थे। १६४७ ई० की स्वतत्रता के बाद गाधी असहाय हो गये थे– उनकी कोई सुनता ही नही था। 'लास्ट फेज" मे प्यारे लाल ने और 'प्रार्थना प्रवचन' मे कई जगह गाधी ने स्वय कहा है कि आज मे अकेला हूँ, मेरा कोई प्रभाव नही रह गया है मेरी कोई नही सुनता। तात्पर्य यह कि गाधी युग समाप्त हो गया।

भारतीय परतन्त्रता की उम्र—

इस प्रकार, यदि परतन्त्रता का अर्थ है दूसरे देशवासियो का दूसरे देशवासियो पर शासन तो भारतीय इतिहास के इतने लम्बे काल मे भारत केवल ८८ वर्ष ४ महीने ही परतन्त्र रहा–अब यह बात दूसरी है कि यह परतन्त्रता इतनी भयानक थी कि लगता है कि गुलाम रहना और गुलामो के दोषो से "दूषित" होना ही हमारा स्वभाव है? प्रचार का प्रभाव कितना भयानक होता है और वह गलत बात को भी "विश्वास" मे परिवर्तित कर देने म कितना समर्थ है–इसका उदाहरण कुछ लोगो की उपर्युक्त धारणा है। समन्वय एव सामजस्य हमारी सास्कृतिक प्रकृति है अन्यथा किसी की दासता भारत ने अपने इस दीर्घकालीन इतिहास मे कभी–भी नही स्वीकार की है। जिसने पराया बनकर भारत मे रहना चाहा भारत की आत्मा ने उसे या उसके शासन को कभी भी नही स्वीकार किया–उसे कभी भी चैन से नही बैठने दिया। भाव दृष्टि से भारत कभी भी गुलाम नही रहा।

कर्जन—

१८६६ ई० मे एक बहुत ही योग्य और परिश्रमी आदमी भारत मे आया और उसने १६०५ ई० मे कहा, "इसमे सन्देह नही कि पूर्व मे, जहा चालाकी और कूटनीतिक चालबाजियो का हमेशा ही बहुत सम्मान होता रहा है, उच्च सम्मान प्राप्त करने के पहले सत्य पाश्चात्य देशों के नैतिक नियमो मे बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुका था [१]।" किन्तु वही व्यक्ति जब भारत से गया तब "उसकी दशा एक

१—"अर्वाचीन भारत का इतिहास," पृ० ४१०

हताश व्यक्ति की-सी थी, अपने ही देश के मन्त्रिमण्डल ने उस को हतोत्साह किया था, जिस जनता की प्रसन्नता के लिये उसे भेजा गया था, उसी की घृणा लेकर वह लौट रहा था, उसके सहयोगी और अधीन कर्मचारी उस पर श्रद्धा या प्रेम रखने की अपेक्षा उससे भयभीत ही रहे थे। भारत से विदा होते समय उसका मानसिक सन्तुलन इतना बिगड़ गया था कि वह राजकीय जीवन के सामान्य शिष्टाचारों का भी पालन न कर सका"[१]। भारत का अपमान करने वाले योग्य से योग्य व्यक्ति की यह दशा हो जाती है। भारत एक न्यायप्रिय, पवित्र एवं आध्यात्मिक अस्तित्व है। उसका अहित करने वाला फूलने-फलने नहीं पाता।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ ने देखा कि ब्रिटिश सरकार ने अपने वायसराय के रूप में भारत को एक बड़ी अच्छी चीज उपहार-स्वरूप भेंट की है जिसका नाम है कर्जन और जिसने यह कहा था, 'मैंने भारतीयों को राजनीतिक सुविधाएँ इसलिये नहीं दी हैं क्योंकि मैं ऐसा करना भारत के हित में न तो बुद्धिमानी समझता था और न राजनीति-कुशलता ही" अथवा जिसकी मनोवृत्ति इन शब्दों से स्पष्ट झलकती है, "भारत में रहते हुए मेरी एक महान् आकांक्षा यह है कि मैं कांग्रेस के शान्ति-पूर्वक समाप्त हो जाने में सहायता करूं।"

बंग-भंग—

भारत ने कृतज्ञता पूर्वक इस उपहार को स्वीकार किया। इस उपहार का परिणाम १६ जुलाई, १६०५ ई० को 'बंग-भंग' के विवरण के रूप में मिला। उपहार और बंग-भंग के लिये धन्यवाद-प्रदर्शन के स्वरूप ही जैसे "१६ अक्टूबर को, जिस दिन सरकारी तौर पर बंगाल के विभाजन का उद्घाटन हुआ, उस दिन सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक-दिवस मनाया गया। लोगों ने सारा दिन उपवास किया, गंगा में स्नान किया, एक दूसरे के हाथ में एकता और भ्रातृत्व की प्रतीक रेशमी राखी बांधी और "वंदे मातरम्" के तुमुल नाद के साथ, शपथ ली कि जब तक बंग-भंग की योजना समाप्त नहीं कर दी जाती तब तक वे यथासम्भव विदेशी-वस्तुओं का परित्याग करेंगे"[१] भारतवासी बहुत दिनों से यह सोचते आ रहे थे कि उनका इंगलैण्ड में बनी हुई वस्तुओं का व्यवहार करना उचित नहीं है क्योंकि जब हम विदेशी वस्तुओं का उपभोग करते हैं तब एक तो हम पराश्रित होते हैं तथा "अपनपौ" खो बैठते हैं, और दूसरे अंगरेजों का व्यापार बढ़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था —

१—"अर्वाचीन भारत का इतिहास", पृ० ३६७।

मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम,
परदेसी जुलहान के मानहुँ भए गुलाम।
....

परदेसी की बुद्धि अरु वरि वस्तुन की आस,
परतस ह्वै कब लौं कहौ रहिहौ तुम ह्वै दास।[१]

बालमुकुन्द गुप्त ने चाहा था कि:—

अपना बोया आप ही खावें,
अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें,
अपना चरखा आप चलावें।[२]

भारतेन्दु जी ने साधारण जनता के नाम एक अपील निकाली और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की मांग की थी—"हम सब लोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्टा और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह नियम मानते हैं और लिखते हैं कि सब लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिरेंगे और जो कपड़ा पहले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावेंगे पर नवीन मोल लेकर किसी भांति का भी बिलायती कपड़ा न पहिरेंगे......।"[३]

इस कार्यक्रम ने बंग-भंग के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया और बाद में तो इसने लंकाशायर और मानचेस्टर को तथा उनके संरक्षकों को आसमान के तारे तका दिये। सचमुच वास्तविक कवि भविष्य द्रष्टा होता है। अस्तु, बंग-भंग का उत्तर भारत ने स्वदेशी आंदोलन से दिया। बंग-भंग असफल होगया, स्वदेशी आंदोलन सफल हो गया। यह आंदोलन और यह सफलता सम्भवतः भविष्य के आंदोलनों और उनकी सफलताओं एवं अन्तिम महानतम सफलता की प्रतीक थी। यह देव का इशारा था जिसे उचित समय पर अंग्रेज कभी भी न समझ पाया। भारतीय संस्कृति ने स्वाधीनता के आंदोलन को वह स्वरूप दिया था कि स्वाधीनता की प्राप्ति में न एक बूंद रक्त बहने पाता, न एक बूंद पसीना! काश कि अंग्रेज बुद्ध और दूरदर्शी होते- बुद्ध और समझदार!!

१—"भारतेन्दु ग्रंथावली" पृ० ७३५, ७३७,
२—स्फुट कविता, पृ० १६६।
३—"कवि वचन सुधा", मार्च, १८७४ ई०।

एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति—

इस युग की ऐतिहासिक प्रवृत्ति यह थी कि भारतवासी यह समझ गये कि एक मात्र विनम्रतापूर्वक माँगते रहने से—प्रार्थना पत्र देते रहने से—कुछ मिलने का नही। उसके लिये युक्ति, बुद्धि, और तर्क के साथ-साथ जनमत का समर्थन—जनता की शक्ति भी होनी चाहिये। महात्मा गाधीने लिखा है 'अब तक हमयह समझते आ रहे थे कि हमे बादशाह के पास अपनी अरजी, फरियाद पहुचानी चाहिये और वहा सुनवाई न होतो चुपचाप कष्ट अन्याय सहन करते रहे, हां, बीच-बीच मे अरजी जरूर भेजते रहें। बगभग के बाद लोगो ने देखा कि अरजी प्रार्थना के पीछे कुछ बल होना चाहिये, लोगों मे कष्ट-सहन करने की क्षमता होनी चाहिये। नई भावना को ही बगभग का मुख्य परिणाम समझना चाहिये ....जो बातें डरते हुए और लुक-छिप कर कही जाती थी वे अब खुले-खजाने कही जाने लगीं.... अग्रेज को देखकर पहले छोटे-बड़े सभी डर कर भागते थे, अब डरना-काँपना बंद हो गया।"[1] उनका यह भी विश्वास हो गया था कि भारतवर्ष पर अग्रेजो का शासन किसी नीति, सदुद्देश्य एव भारत की हित से प्रेरित होकर नहीं हो रहा है बल्कि उसके पीछे उनका राजनीतिक एव आर्थिक स्वार्थ है, जिसकी पूर्ति के लिये वे कूटनीति से लेकर बर्बरतापूर्ण दमन तक कुछ भी करने को तैयार हैं। सांस्कृतिक पुनरुत्थान ने उनके अन्दर आत्म-विश्वास की भावना पूर्ण रूप से भर दी थी। अग्रेज यह समझता था कि भारतवासी अयोग्य हैं, उनकी अयोग्यता से लाभ उठाना चाहिये, उन्हें थोड़ा-"बहुत देकर फुसला लो न मानें, तो शक्ति-प्रयोग करके उन्हें दबा दो और अगर इतने से भी न काम चले तो कुछ और देकर उन्हें चुप करने का प्रयत्न करो। होता यह था कि जब तक वे यह 'कुछ और' देने का निर्णय करते थे तब तक बीसवीं शताब्दी की तीव्रतम ऐतिहासिक प्रगतियां और प्रवृत्तियां हमे और भी जागरूक करके 'कुछ और' भी माँगने को विवश कर देती थी और वे इन्कार करके हमे फिर दबाने-मारने लगते थे तथा हम नये सिरे से नया आंदोलन करने लगते थे। इन दोनों प्रवृत्तियो का सम्मिलन सन् १९४७ ई० मे हुआ जब एक ओर भारत के प्रतीक गाधी ने कहा था कि अग्रेजो को जल्दी से जल्दी भारत छोडकर चला जाना चाहिये और दूसरी ओर इगलैंड के प्रधान मत्री ने घोषणा की थी वे अधिक से अधिक जून, १९४८ ई० तक सत्ता हस्तातंरित कर देना चाहते हैं। गाधी ने कहा था कि जून, १९४८ ई० से भी पहले उन्हें चला जाना चाहिये और वे अगस्त, १९४७ ई० को ही चले गये। इस प्रकार दोनो जहा मिल गये वही समस्या का समाधान प्राप्त हो गया।

---

१ "हिंद स्वराज्य" पृ १७–१८।

भारत मे दो प्रकार के व्यक्ति—

इस युद्ध मे भारत के रणमच पर दो प्रधान दल थे। पहला, भारत की स्वतत्रता के लिये सब कुछ बलिदान कर देने को कटिबद्ध देशभक्तो का दल, और दूसरा, किसी न किसी बहाने मे भारत की परतन्त्रता बनाये रखने को कटिबद्ध अ ग्रेजी शासक दल। देशभक्तों के पीछे थी भारत की समस्त देश भक्त, प्रगतिशील, स्वातन्त्र्यप्रिय, निरीह-पीडित जनता एव उष्ण रक्त वाला तरुण वर्ग, अ ग्रेजी शासक दल की सहायता करने वाले वे लोग थे जिन्हे अ ग्रेजी शासन ने अपने स्वार्थ के लिये अधिकारो से विपन्न किन्तु भोग विलास के साधनो से सपन्न कर दिया था, जिनके लिये शरीर सुख, शरीर को सजाने का सुख, भौतिक सुख एव अधिकारी होने का स्वाग भरने का सुख भारत मा के स्वातत्र्य-सुख से अधिक महत्वपूर्ण था, जो मन से अभारतीय थे, जो पस्तदिल मृतात्मा या हतात्मा, अथवा नीच थे। इनमे से कुछ लोग ऐसे थे जो किसी न किसी अनिवार्य विवशता के कारण देशभक्तो का साथ नही दे पाते थे, एकात मे अपनी कायरता पर रोते थे, प्रत्यक्ष रूप एव क्रियात्मक रूप से हमारा साथ नही दे पाते थे, कभी कभी स्वातन्त्र्य विरोधियो का साथ भी देते थे किन्तु जिनके भावो का अन्तर का एक एक कण हमारे साथ था। ये लोग चोरी छिपे हमारी सहायता भी करते थे। और, मैं तो यह मानता हूँ कि इस युग मे जिसका हृदय एक बार भी परतन्त्रता के कारण क्षुब्ध हुआ और स्वाधीनता के लिये छटपटाया उसके अन्तर का स्पन्दन भारत मा के अन्तर के स्पन्दन का एक भाग हो गया। अपने को भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अमृत से सीच कर उसमे अनुरजित हो जाने वाली प्रत्येक चेतना भारतीय चेतना थी धन्य चेतना थी माता की चेतना थी। मैं इन सबको देशभक्त एव देशभक्तो के साथ मानता हूँ। स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात दूसरे वर्ग के लगभग सभी लोगो ने अपने को इसी वर्ग का बताया और आजादी का फल अधिकांशत वे ही लोग खा रहे हैं। हिन्दी-साहित्य की सेवा सभी वर्ग वालो ने किसी न किसी रूप मे अपने अपने ढग से करने का प्रयास किया है। माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पत, निराला, रामकुमार वर्मा, श्री नारायण चतुर्वेदी, नवीन, गणेश शकर विद्यार्थी, आदि इसके उदाहरण हैं।

वग-भग विरोधी आन्दोलन की तीव्रता एव उसका प्रभाव—

अस्तु, इस युग के इतिहास की सर्वप्रथम महत्वपूर्ण घटना है वग-भग। इसके महत्व की ओर सकेत करते हुये पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "१८५७ के विद्रोह के बाद पहली बार भारत लडने की क्षमता दिखा रहा था। विदेशी राज्य के सम्मुख

पालतू पशु की तरह पराजित हो कर दब नहीं रहा था।"[1] ३ सितम्बर, १९०३ ई० को यह प्रसिद्ध प्रस्ताव सामने आया। इस योजना के अनुसार "पूर्वी बंगाल तथा आसाम" नामक एक नया प्रान्त बनना था जिसमें आसाम के अतिरिक्त बंगाल के चटगांव, ढाका तथा राजशाही प्रदेश सम्मिलित किये गये। सरकार ने कहा कि यह पुनर्व्यवस्था शासन की सुविधा की दृष्टि से की गई है, जनता ने समझा कि यह बंगाल की राजनीतिक एकता भंग करने की, हिन्दुओं—मुसलमानों में भेद पैदा करने की, और नव जाग्रत राष्ट्रीय चेतना पर कुठाराघात करने की चाल है। जनता ने इसका इतना तीव्र विरोध किया कि दिसम्बर, १९११ में राज्याभिषेक दरबार के समय (लार्ड मकडानेल के शब्दों में) "प्लासी के युद्ध के समय के बाद से लेकर आज तक के बीच की गई सबसे बड़ी भूल" को सुधारना पड़ा और बंग-भंग का विचार छोड़ देना पड़ा। भारतीय दृष्टिकोण से बंग-भंग का विरोध सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। इसके विरोध ने ही उस स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया जिसने आगे चल कर लंकाशायर और मैनचेस्टर के मिल-मालिकों को आसमान के तारे दिखला दिये थे। इसके विषय में सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लिखते हैं, "नये प्रान्त के निर्माण की घोषणा बम के समान गिरी। हमने अनुभव किया कि हमारा अपमान किया गया ⋯ हमारे साथ चाल चली गई है ⋯⋯ जनता की बढ़ती हुई दृढ़ता एवं आत्म चेतना पर आघात किया गया है; ⋯⋯।" महात्मा गांधी ने लिखा है, "जिसे आप सच्ची जाग मानते हैं वह तो बंग भंग से पैदा हुई है।"[2] कांग्रेस ने बंग-भंग को एक अखिल भारतीय समस्या का रूप दे दिया था जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कोना-कोना इससे प्रभावित हो उठा था। बंगाल के इस आंदोलन का प्रभाव उत्तर प्रदेश के एक १०—११ वर्षीय बच्चे पर कैसा पड़ा, इसे उसी के शब्दों में पढ़िये, "सन् १९०७ ई० के बंग-भंग के आन्दोलन के समय देश की समस्या की ओर मेरा ध्यान पहले पहल गया था। उस समय मैं केवल १०—११ वर्ष का था ⋯ विदेशी कपड़ों का पहनना मैंने तभी से छोड़ा था ⋯⋯।"[3] यह बंगभंग-विरोधी आंदोलन बड़े ही उग्र रूप में चला। सरकार के लिये इस प्रकार का आंदोलन एवं सरकार का इस प्रकार विरोध एक नया अनुभव था। उसने समझा कि यह कुछ स्वार्थी व्यक्तियों का हुड़दंगा है जो बढ़ना ही जा रहा है। वह इस उग्रता से बहुत ही चिढ़ उठी। उसने दमन-चक्र उठाया। जिन स्कूलों और कालेजों ने अपने छात्रों को आंदोलन में भाग लेने से न रोका उनको सरकारी

१ "आटो बायग्राफी" पृ० २१

२ 'हिंद स्वराज्य', पृ० १६

३ 'मेरी कालेज डायरी', ले० डा० धीरेन्द्र वर्मा पृ० ८५

सहायता रोकने की धमकी दी गई थी। 'वन्देमातरम' का उच्चारण अवैध हो गया। किन्तु इन सबसे आंदोलन रुका नहीं।

इस आन्दोलन की देने—

बगभग की घटना से कुछ प्रवृत्तियां पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गई। एक बात तो यह थी कि अंग्रेज शासक हमारी राष्ट्रीयता को फूलते फलते नहीं देखना चाहता। दूसरी बात यह भी सामने आ गई कि अंग्रेज इस बात को समझ गया था कि भारत मे उसका शासन न तो अच्छे ढग का है और न अच्छी नीयत से किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में लाला लाजपतराय ने डा० वी० एच० रथफोर्ड की निम्न सम्मति उद्धृत की है, 'यह सरकार जनता की शिक्षा की अवहेलना करती है, गांवों मे सफाई और चिकित्सा की व्यवस्था नहीं करती, शान्ति नहीं स्थापित रख सकती, निर्धनों के निवास की ओर ध्यान नहीं देती, ऋण देने वालो से कृषकों की रक्षा करने की परवाह नहीं करती, कृषि सम्बन्धी बैंक नहीं खोलती, इसी प्रकार कृषि की उन्नति और विकास की ओर ध्यान नहीं देती, भारतीय उद्योग-धन्धो की वृद्धि नहीं करती, ट्राम गाडियां चलाने, बिजली की रोशनी का प्रबध करने और दूसरी सार्वजनिक सेवाओ मे अंग्रेज व्यापारियों के पूरे दखल को नहीं रोकती, और भारतीय करेंसी का लन्दन के हित में प्रयोग किए जाने की रोकथाम नहीं करती' 'भारतवर्ष मे जिस पद्धति के अनुसार ब्रिटिश शासन चलाया जा रहा है वह इस ससार मे अत्यन्त निकृष्ट और पतित—एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र द्वारा लूट-खसोट की पद्धति है।"[1] इस अनुभूति ने उसकी नैतिक दृढता को खत्म कर दिया था। इसी से तीसरी बात यह निकली कि वह अपनी कमज़ोरी को कूटनीति, अहकार, अधिकार, रोब-दाब, क्रूरता-प्रदर्शन एव दमन, आदि से ढके रहना चाहता था। चौथी बात यह निकली कि उसने हमें हराने के लिए अपने को उतना सुदृढ करने का प्रयत्न नहीं किया जितना हमें वंचित रखने और हमें कमजोर करने का। इसका कारण यह है कि वह जान गया था कि भारतीय प्रवृत्ति अब प्रशासनिक रियायतो और राजनैतिक अधिकारो के लिये प्रार्थना करने की जगह आन्दोलन करने की हो गई है। अंग्रेज हमारी शक्ति से आतंकित और हमारी बढ़ती हुई राष्ट्रीयता से आशंकित था। अग्रेजो ने जो बग-भग की आयोजना रद्द कर दी उससे हमे अपने आंदोलन की सफलता पर विश्वास भी हो गया था। हम अंग्रेजो की राजनीतिक और आर्थिक नीयत से परिचित हो चुके थे। इसलिए भारत की स्वतन्त्रता को हमने अपना परम पुनीत कर्तव्य समझ लिया था। सांस्कृतिक

---

१. "आधुनिक भारत और उसकी समस्याएं" के पृ० १६१ और ७७ से उद्धृत।

पुनरुत्थान हमे सबल एव उत्साह से पूर्ण किए हुए थ मय अर्थात् १९०५ ई० मे जापान ने रूस पर सामरिक विजय प्राप्त की जिससे योरोपवासियों की अजेयता के भ्रम का निवारण हो गया। भारतीय भी जीत सकता है, अंग्रेज भी हार सकता है। वे देवता नही हैं, हम वर्बर नही हैं। हम दोनो बराबर स्थिति के हैं। इस राष्ट्रीयता की भावना को–शक्ति को कम करने के लिए उसके प्रतिकार के लिए अंग्रेज शासकों ने बडे हर्ष के साथ १९०६ ई० म मुस्लिमलीग को जन्म दिया था। अन्धकार की तामसिक शक्तिया भारतीय स्वतन्त्रता की सबसे बडी बाधक प्रवृत्ति और उसके प्रतीक-प्रतिमूर्ति–को जन्म देने के लिए सारे प्रयत्न कर रही थीं–उसकी तैयारी कर रही थीं। दूसरी ओर, परम पिता परमात्मा–या यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक प्रवृत्तियां शक्तियां भारत से हजारों मील दूर दक्षिण अफ्रीका मे भारत के 'बापू' भारतीय स्वतन्त्रता के भव्य प्रतीक स्वातन्त्र्य युद्ध के अद्वितीय सेनानी का निर्माण कर रही थी। आतक का उत्तर आतक से देने के लिए भी भारतीय युवक तैयार हो गए थे। इस प्रकार बीसवी शताब्दी की प्रथम दशाब्दि के समाप्त होते-होते भारत के रगमच पर उन सभी शक्तियो का उदय हो चुका था जो आगे आने वाले दिनों मे भारत के इतिहास का नाटक खेलने मे महत्वपूर्ण भाग लेने वाली थीं।

वायसराय—

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे भारत के अन्दर निम्नलिखित वायसराय तथा गवर्नर जनरल आये —(१) लार्ड कर्जन, (१८९९-१९०५), (२) लार्ड मिन्टो (१९०५-१९१०), (३) लार्ड हार्डिज (१९१०-१९१६), (४) लाड चेम्सफोर्ड (१९१६ १९२१) (५) लाड रीडिंग (१९२१ १९२६), (६) लार्ड इरविन (१९२६-१९३१), (७) लार्ड विलिंगडन (१९३१-१९३६), (८) लार्ड लिनलियगो (१९३६-१९४४), (९) लार्ड वेवल (१९४४ १९४७), (१०) लार्ड माउन्टबेटन (१९४७-१९४८), और (११) राजगोपालचार्य (१९४८-१९५०)।

तिथियाँ और घटनाएं—

इस युग की महत्वपूर्ण तिथियां और घटनाएं इस प्रकार हैं —

१८९९–(१) प्लेग, दुर्भिक्ष (इस वर्ष २०० वर्षों के अन्दर सर्वाधिक अनावृष्टि), मलेरिया, इन्फ्लुएन्आ, कई लाख मौत।
(२) लार्ड कर्जन का आगमन।

१९००–(१) उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त बना।
(२) एग्रीकल्चरल बैंक और सहकारी समितियों की स्थापना।

(३) नगरपालिका अधिनियम ।

१९०१–(१) पूसा, विहार, मे कृषि अन्वेषण संस्था ।

(२) इन्सपेक्टर जनरल ऑव एग्रीकल्चर की नियुक्ति ।

(३) सर कालिन स्काट मान्क्रीफ की अध्यक्षता मे सिंचाई जाँच समिति की नियुक्ति ।

(४) रेल मार्ग व्यवस्था की जाँच के लिये टामस राबर्ट्सन की नियुक्ति ।

(५) शिक्षा विभाग के उच्चतम अधिकारियो और प्रमुख विश्वविद्यालयो के सरकारी प्रतिनिधियो का सम्मेलन ।

(६) महारानी विक्टोरिया का देहान्त

(७) हबीबुल्ला अफगानिस्तान के अमीर बने

१९०२–(१) सर ऐन्ड्र फ्रेजर की अध्यक्षता मे पुलिस जाँच-समिति की नियुक्ति ।

(२) विश्वविद्यालय जाँच समिति की नियुक्ति ।

१९०३–(१) दिल्ली दरबार ।

(२) बग-भग प्रस्ताव सामने आया ।

१९०४–(१) कोआपरेटिव सोसाइटीज ऐक्ट ।

(२) विश्वविद्यालय अधिनियम ।

(३) सहकारी ऋण समिति कानून ।

१९०५–(१) प्लेग के कारण के रूप मे पिस्सुओ का ज्ञान ।

(२) रैंड तथा आर्यस्ट नामक प्लेग अधिकारियो की हत्या ।

(३) पुलिस-विभाग का नये ढङ्ग से सगठन ।

(४) बग-भग की घोषणा ।

(५) बग-भग के विरोध मे स्वदेशी आन्दोलन का श्री गणेश ।

(६) वाणिज्य-उद्योग विभाग खुला ।

(७) कर्जन का पद-त्याग ।

(८) रूस पर जापान की विजय ।

(९) इगलैंड मे लिबरल दल की सरकार ।

(१०) मार्ले भारत सचिव बने ।

१९०६–(१) दादा भाई नौरोजी कलकत्ता कांग्रेस के सभापति बने ।

(२) मुस्लिम लीग का सगठन, तत्कालीन वायसराय के आशीर्वाद और सलाह से ।

१९०७–(१) सूरत कांग्रेस मे कांग्रेस का नरम-गरम दल मे विभाजन-गरम दल उदय ।

(२) बंगाल के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर को ले जाने वाली रेलगाड़ी उलट दी गई और ढाका के भूतपूर्व मजिस्ट्रेट की पीठ में गोली मार दी गई।

(३) 'सभानियम अध्यादेश' बना, इसी वर्ष 'राजद्रोहात्मक सभा विधेयक' बन गया।

१९०८–(१) किंग्सफोर्ड के धोखे मे मुजफ्फरपुर मे श्री और श्रीमती कैनेडी की हत्या।

(२) तिलक को ६ वर्षों की कैद।

(३) दण्ड विधान संशोधक कानून।

(४) प्रेस ऐक्ट (हत्याओं और हिंसाओं को उभाड़ने के अपराध में दण्ड और जब्ती की व्यवस्था।

(५) "विस्फोटक द्रव्य कानून"

१९०९–(१) मिंटो मार्ले सुधार।

(२) लंदन मे विली और लाल काका का वध।

१९१०–(१) लार्ड हार्डिंज पर बम फेंका गया।

१९११–(१) राजद्रोहात्मक सभा निषेध कानून।

(२) प्रेस विधान।

(३) दण्ड-विधान और संशोधक कानून।

(४) राजधानी परिवर्तन।

१९१२–(१) बंग-भंग रद्द।

(२) दिल्ली दरबार और सम्राट जार्ज पंचम का भारत आगमन

१९१३–(१) दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के बारे मे लार्ड हार्डिंज की घोषणा।

१९१४ }
१९१८ } –(१) प्रथम महायुद्ध

(२) महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे।

१९१५–(१) तिलक के नेतृत्व मे उग्र दल का कांग्रेस में पुनः प्रवेश।

१९१६–(१) होमरूल लीग बनी-होमरूल आन्दोलन।

(२) लखनऊ कांग्रेस में हिन्दू मुस्लिम समझौता।

१९१७–(१) माटेग्यू भारत सचिव बने।

(२) भारत सचिव भारत आये।

(३) कुली प्रथा समाप्त।

(४) गाँधी जी चम्पारन मे।

१९१८–(१) प्रथम महायुद्ध समाप्त।

१९१९–(१) रौलट ऐक्ट।

(२) ६ अप्रैल का प्रसिद्ध हड़ताल-प्रदर्शन।

(३) अमृतसर और जलियान वाला बाग के काण्ड और मार्शल लॉ।

(४) टैगोर का "सर" की पदवी छोड़ना।

१९२०–(१) तिलक का देहान्त।

(२) अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन का श्री गणेश।

(३) हन्टर कमीशन की रिपोर्ट।

१९२१–(१) भारतीय व्यवस्थापिका सभा का उद्‌घाटन।

(२) प्रिंस आफ वेल्स का भारत-आगमन।

(३) मोपला विद्रोह।

(४) चेम्बर आफ प्रिंसेज की स्थापना।

१९२२–(१) चौरीचौरा काण्ड जिससे आन्दोलन बन्द।

(२) गांधी गिरफ्तार।

(३) गुरु का बाग काण्ड।

१९२३–(१) नमक कर विधिवत् स्वीकार कर लिया गया।

१९२४–बंगाल आर्डिनेन्स।

(२) कांग्रेस में परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी।

(३) स्वराज्य दल और कौंसिल में उसका प्रवेश।

(४) गांधी जी का २१ दिनों का उपवास।

१९२५–(१) चितरंजनदास का देहान्त।

(२) मुडीमैन जाँच समिति की रिपोर्ट।

१९२६–(१) कृषि के लिये शाही कमीशन।

(२) कलकत्ते में हिन्दू मुस्लिम दंगे।

(३) स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या।

१९२७–(१) फिर हिन्दू-मुस्लिम दंगे।

(२) साइमन कमीशन की घोषणा।

(३) "रूपी स्टैबिलाइजेशन" कानून।

(४) काकोरी ट्रेन डकैती।

१९२८–(१) दिल्ली में सर्वदल सम्मेलन।

(२) नेहरू रिपोर्ट।

(३) भारतीय राजनीति में जिना का एक साम्प्रदायिक नेता के रूप में पुन प्रवेश।

(४) साइमन कमीशन का बहिष्कार.

१६२६–(१) जिना की चौदह माँगें।

(२) वायसराय की गाडी के नीचे बम फूटा।

१६३०–(१) पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य की घोषणा।

(२) २६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस घोषित।

(३) सविनय अवज्ञा (नमक) आन्दोलन।

(४) डाँडी कूच।

(५) प्रथम गोलमेज कान्फ्रेंस।

१६३१–(१) गाँधी-इरविन समझौता।

(२) मोतीलाल नेहरू का देहान्त।

(३) द्वितीय गोलमेज कान्फ्रेंस।

(४) साम्प्रदायिक दगे, गणेशशङ्कर विद्यार्थी की हत्या।

(५) भगतसिंह को फासी (आतकवादी आन्दोलन पूरे जोरो पर)

(६) चन्द्रशेखर आजाद प्रयाग में शहीद हुए।

१६३२–(१) कम्युनल अवार्ड।

(२) गाँधी जी का अनशन और पूना समझौता।

(३) कांग्रेस का दमन।

(४) तृतीय गोलमेज कान्फ्रेंस।

१६३३–(१) सामूहिक सत्याग्रह स्थगित और व्यक्तिगत सत्याग्रह चलता रहा।

(२) बिहार का भूकम्प

(३) श्रीमती एनी बेसेंट की मृत्यु।

१६३५–(१) भारत सरकार कानून।

१६३६ }
१६३७ } –(१) प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ के चुनाव और कांग्रेस की जीत।

१६३८–(१) हिन्दू-मुस्लिम समझौते के असफल प्रयत्न।

(२) सुभाष बोस के फारवर्ड ब्लाक की स्थापना।

(३) कांग्रेस मन्त्रिमण्डल का पदत्याग और लीग का मुक्ति दिवस।

१६४०–(१) पाकिस्तान की माँग।

(२) व्यक्तिगत सत्याग्रह।

१६४१–(१) जापान युद्ध में कूदा।

१९४२–(१) सिंगापुर पतन तथा जापान की अन्य सफलताएँ ।
(२) असफल क्रिप्स मिशन ।
(३) "भारत छोड़ो" आन्दोलन ।
१९४३–(१) गांधी जी का उपवास ।
(२) वेवल का आगमन
(३) बंगाल का दुर्भिक्ष ।
१९४४–(१) गाँधी जी की रिहाई।
(२) गाँधी जिना वार्त्ता।
१९४५–(१) असफल शिमला सम्मेलन ।
(२) मजदूर दल की जीत ।
(३) आई० एन० ए० के मुकदमे ।
१९४६–(१) *नौसेना के कर्मचारियों की हड़ताल ।*
(२) कैबिनेट मिशन ।
(३) संविधान सभा के लिये चुनाव ।
(४) जिना की "प्रत्यक्ष कार्यवाही" और भयानक नर-संहार
(५) अन्तरिम सरकार और जिना का "शोक दिवस" ।
(६) अन्तरिम सरकार में लीग आई ।
(७) भारत भर में दंगों का दौरदौरा ।
(८) गाँधी जी नोआखाली में ।
(९) संविधान सभा की बैठक ।
१९४७–(१) जून, ४८ तक भारत छोड़ने का अँग्रेजो का निश्चय ।
(२) माउन्टबेटन का आगमन।
(३) भारत स्वतन्त्र हुआ ।
(४) भयानक दंगे ।
(५) माउन्टबेटन स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल ।
(६) पाकिस्तान को गांधी जी ने ५५ करोड़ रुपये दिलाये ।
(७) गाँधी जी का महाभिनिष्क्रमण ।
(८) देशी रियासतों पर से अँग्रेजो का अधिराज्य समाप्त और उनका भारत-विलयन ।
(९) पटेल की प्रमुखता मे स्टेट डिपार्टमेंट की स्थापना ।
(१०) काश्मीर भारतीय संघ में सम्मिलित ।

१९४८–(१) हैदराबाद भारत में मिला।

१९४९–(१) राधाकृष्णन आयोग की स्थापना (शिक्षा के लिये)

(२) जूनागढ भारतीय सघ मे।

१९५०–(१) भारत का नया सविधान जनवरी, ५०, से लागू।

(२) राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति।

(३) आयोजना-आयोग की स्थापना

(४) जमीदारी उन्मूलन अधिनियम।

युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ—

उपर्युक्त तथ्यो पर विचार करने से यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि इस युग की सर्वप्रधान प्रवृत्ति थी भारतीयो की स्वाधीनता प्राप्ति की इच्छा और तत्सम्बन्धी प्रयत्न और अंग्रेजो को उसे असफल कर देने और दबाये रखने के सभी प्रकार के प्रयत्न। इस यत्न की बाधाओ को वे पूरी तरह से कुचल डालने को तैयार रहते थे। वे दमन को उद्यत थे और भारतीय अपनी आकांक्षा की दुर्दमनीयता सिद्ध करने को कटिबद्ध थे। वे गाया करते थे कि 'सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल मे है, देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।" कारण यह था कि उनकी प्रेरणा शक्ति [भारतीय सांस्कृतिक पुनरुत्थान प्राचीन गौरव के पुन प्राप्त करने की अभिलाषा] असाधारण रूप से बलवती थी। इस असाधारण इन्जेक्शन से वे दुनियाँ-दारी के दृष्टिकोण से अपना मानसिक सन्तुलन खो कर दीवाने हो गये थे। उन्हें और कुछ नहीं चाहिए था, केवल भारत की आजादी चाहते थे। और इसके लिए बडी से भी बडी कीमत चुकाने को तैयार थे। सब कुछ बलिदान करने को उत्सुक थे और इस रूप में "सर बाँधे कफनियाँ हो शहीदो की टोली निकली।" दीवानो का यह दल पूरी तरह से निर्भय था। वास्तविकता यह है कि व्यर्थ के प्रेमालापों की बात छोड दें तो, इस ससार में भय का कारण होता है मोह और मोह का स्वरूप है किसी भी प्रकार से अपनी प्रिय वस्तु को जाने न देना। यहाँ प्रियता का केन्द्रबिन्दु थी भारत की स्वतन्त्रता। महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा,

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं, नर पशु निरा है, और मृतक समान है।।"—उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु उतनी प्रिय नहीं थी जीवन भी नहीं, परिवार भी नहीं। वस्तु और परिवार के मोह के अभाव ने बन्धन तोड दिये, शरीर के मोह के अभाव ने मृत्यु-भय से मुक्त कर दिया, अपने व्यक्तित्व के महत्व–अपने नाम की आकांक्षा के अभाव ने कल्पनाओं और आकांक्षाओं से मुक्ति दिला कर लगन से ठोस कार्य करने

को तत्पर करा दिया। सब ओर के वैराग्य ने चित्तवृत्ति को एक ओर निरोधित करके एक के प्रति भक्ति पैदा कर दी। भारत की आजादी के ये दीवाने पूर्णत निर्भय हो गये। एक वह युग था कि अंग्रेज की सूरत देखते ही, उसका नाम सुनते ही, लाल पगडी देखते ही, लोग ऐसे भागते थे जैसे बिल्ली से आगे चूहे, और, एक वह दिन आ गया जब जेल ससुराल हो गई, गाँधी बाबा दूल्हा हो गये, सुभाष जवाहर सहबाला हो गये, दीवानो ने बारातियो का रूपक अपनाया, ब्रिटिश सम्राट ससुर हो गया, और जेलो तथा जेलों के बाहर शादी की यह 'गाली' गाई जाने लगी—'गाँधी बाबा जेलन बइठे गोर्से गावन गारी जी वाह वाह', आदि। निर्भयता का एक दूसरा उदाहरण देखिये—"कुछ समय बाद पडित मोतीलाल नेहरू विरोधी दल के नेता और श्री विट्ठल भाई स्पीकर हो गये। उस समय विरोधी दल की ताकत बहुत बढ गई .. .. उनके स्पीकर चुने जाने से पहले एक बार एक सरकारी सदस्य ने भारत मे ब्रिटिश शासन का औचित्य साबित करने के लिए यह कह कर चुनौती दी कि "क्या सदन म कोई भी ऐसा सदस्य है जो छाती पर हाथ रख कर कह दे कि वह चाहता है कि ब्रिटिश शासक भारत से चले जाँय। उस पर विट्ठल भाई ने अपने दोनो हाथ छाती पर रख कर यह घोषणा कर नाटकीय दृश्य उपस्थित कर दिया कि 'मैं ऐसा सदस्य हूँ और मैं चाहता हूँ कि सभी ब्रिटिश शासक अपना बोरिया बिस्तर बाँध कर भारत से विदा हो जांय। हम अपने देश का शासन खुद चला लेंगे।"[1] निर्भयता का इससे भी अधिक उल्लेखनीय उदाहरण इन्ही विट्ठल भाई पटेल के जीवन मे हमे तब मिलता है जब इन्होंने एक स्पीकर की हैसियत से हिन्दुस्तान के बडे लाट साहब यानी वायसराय को यह धमकी देते हुए, कि यदि वे स्वय न गए तो उन्हे अपने आदमियो द्वारा निकलवा दिया जायगा, सदन से बाहर निकाल दिया था और जिससे अपमानित अनुभव करके वायसराय ने कहा था कि आज एक काले आदमी ने हम सदन से बाहर निकाल दिया। जनता में कितनी निर्भयता आ गई थी इसका उल्लेख राजन्द्रबाबू न इस प्रकार किया, 'पर उन्होने इतना सुन लिया था कि उनकी मदद करने वाला कोई पास के जिला मुजफ्फरपुर तक आ गया है और न मालूम उनके दिल मे यह विश्वास कैसे आ गया कि वह उनका उद्धारक है। न मालूम वह डर, जो उनको हमेशा सताया करता था, कहाँ चला गया' ....."[2] "ये लोग वही रैयत थे जो डर के मारे कभी कचहरी के नजदीक नीलवरो के खिलाफ नालिश करने नही आते थे, पर आज गवर्नमेट के हुक्म की अवज्ञा करने वाले के मुकदमे की पेशी देखने वहाँ हजारो की तादाद

१ 'मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ', पृ० ६४
२ 'बापू के कदमो मे', पृ० ६

मे आ जुटे और जब मस्ट्रिट के पहुचने पर मुकदमे की पेशी हुई तो कमरे के अन्दर घुसने मे इतना कोलाहल और धक्कम-धुक्का हुआ कि किवाडो के शीशे भी टूट गये और पुलिस हक्का-बक्का ताकती रही। न मालूम वह डर कहाँ चला गया और जोश और हिम्मत कहाँ से आ गई।"[३] यही अभीष्ट भी था क्योंकि आगे राजेन्द्रबाबू ने लिखा है, *'बात यह थी कि सारे प्रोग्राम की तह मे निहित था कि या तो उससे ब्रिटिश* गवर्नमेंट का रोब और दबदबा इस देश मे कम हो जाय····· [हम] आत्म-निर्भरता सीखें ······ निर्भीकता पूर्वक स्वतन्त्र विचार करना सीखें······।"[४] अंग्रेजो के भय और आतक से मुक्ति का उदाहरण आतकवादियो के कार्यों मे भी मिल जाता है और नवयुवकों की मनोवृत्तियाँ भी इसी के अनुसार थी। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण 'अध्यापक' जिसकी जेब मे भरी पिस्तौल रहती थी' नामक लेख के इस उद्धरण मे मिलता है, 'हैड मास्टर साहब, एक बात मे स्पष्ट कह देना चाहता हूँ। मेरी जेब में भरी हुई पिस्तोल हमेशा रहती है... ..।"[५] यह था निर्भयता का प्रतीक 'एक भारतीय आत्मा।'

दो महत्वपूर्ण घटनाएं —

इस युग की दूसरी महत्वपूर्ण घटना है प्रथम महायुद्ध। प्रथम महायुद्ध ने सारे ससार मे क्रांति की एक लहर फैलादी थी। उसी ने भारतीयों मे भी महान् परिवर्तनो के एक युग का सूत्र पात किया। इस युद्ध के अन्त के पश्चात् ससार मे आर्थिक सकट आ गया था और उस आर्थिक सकट का प्रभाव भारत पर भी पडा था। युद्ध के अन्त मे यह अनुभव किया गया था कि इस समय भारत किसी प्रकार अपनी उत्तेजनाओ को दबाये हुए चुप बैठा है। आशिक औद्योगीकरण के कारण पूजीपति वर्ग की शक्ति और पूजी ·· बढ गई थी। ऊपर के कुछ लोग प्रभुता के लोभी थे और अपनी बचत के धन को किसी उद्योग मे लगाने के अवसर के लिये उत्सुक और इस प्रकार अपना धन बढाने के लिये प्रयत्नशील थे। सामान्य जनता इतनी भाग्यशालिनी नही थी। वह उस बोझ को, जो उसे दबाये और मारे डाल रहा था, कम करने की आशा लगाये थी। मध्य वर्ग किसी बडे सवैधानिक परिवर्तन की आशा लगाये था — ऐसा परिवर्तन जिससे कुछ हद तक स्वशासन मिले जिनके परिणाम स्वरूप उनकी पदवृद्धि, धन–वृद्धि और मानवृद्धि हो तथा विकास के नये रास्ते खुलें। किसानो और सैनिको मे बडा असन्तोष था। पजाब मे सैनिको की भर्ती के सम्बन्ध में

---

३ बापू के कदमो मे, पृ० ८

४ वही, पृ० ७८

५. 'धर्मयुग', साप्ताहिक, ३० जून, १९६३ वाला अक

जो ज्यादतियां हुई थी उनकी स्मृति अभी धुंधली नही हुई थी। इस संबंध में राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है, "जर्मन युद्ध के समय भारतवर्ष ने सरकार की सहायता की थी, पर जो कुछ सहायता ....अपनी खुशी से की थी उसके अलावा जोर-जबरदस्ती से भी बहुत सहायता ली गई थी जिसके कारण देश में बहुत असंतोष भी फैला था"।[1] लौटे हुए सैनिकों में भी बड़ा असन्तोष था। टर्की के साथ किये गये व्यवहार को लेकर मुसलमान मरे बैठे थे। फिर भी, लोग प्रतिज्ञा कर रहे थे आशाएं लगाये थे, मगर कुछ-कुछ आशंकाएं भी थीं, डर भी था। इस युद्ध से सबसे बड़ी बात यह हुई थी कि गोरों का—अंगरेजों का—हौवा समाप्त हो गया था। वे हमारे ही जैसे हैं—हम उनसे किसी भी रूप में और किसी भी मानी में कम नहीं—यह भावना पैदा हो गई थी क्यों कि 'महायुद्ध के अवसर पर, १९१४ की कड़ाके की सर्दी में फ्लेण्डर्स और फ्रांस के मैदानों में जर्मन सेनाओं के आक्रमणों का भारतीय फौजों ने जिस अद्भुत वीरता, धैर्य और सहनशीलता के साथ सफलापूर्वक मुकाबला किया था उससे एशिया और यूरोपीय देशों पर भारतवासियों की खासी अच्छी धाक बैठ गई थी"।[2] जिन गोरों को हम अपने से कुछ अनोखे प्राणी समझते थे उन्हीं के भाई-बन्धुओं और उन्हीं की महिलाओं का आर्त रूप देखा और क्रन्दन सुना था और अपने सिपाहियों को उनके उद्धारक के रूप में देखा था। उन्हीं के देश में हमारे सैनिकों को गोरी जाति वालों की कृतज्ञता, उनका समर्पण, उनकी श्रद्धा' उनका सत्कार, आदि मिला था। वे हमारे लिये वह न रह गये जो भारत का अंगरेज शासक अपने को समझता था क्यों कि पहली बार इस युद्ध में हम एशियावासी भारतीयों ने निर्भय होकर यूरोपवासियों से युद्ध किया था और उन लोगों को विपन्नावस्था में डर कर भागते हुए देखा था। इस युद्ध की समाप्ति हमारे अन्दर साहस और आशा का प्रकाश लेकर आई थी। ईश्वरी प्रसाद ने भी लिखा है, "इस युद्ध को जीतने में भारत ने जो सहायता की वह उसके साधनों से कहीं अधिक थी" "यह सहायता कुछ उन प्रशंसाओं और वचनों का परिणाम थी जो प्रमुख अंगरेज राजनीतिज्ञ भारत पर बरसा रहे थे ...... बार-बार की ये घोषणाएं कि वह युद्ध स्वतंत्रता का जनतंत्र का और मानवीय अधिकारों का युद्ध है, भारतीयों के मन में समा गया ......कांग्रेस ने सरकार के साथ फिलहाल समझौता कर लिया" और सरकार को भारतीयों से सहायताएं इतनी तीव्र गति से और प्रचुर मात्रा में मिलने

---

१. "आत्म-कथा", पृ ३०।

२ "कांग्रेस का इतिहास" (संक्षिप्त संस्करण) ले डा पट्टाभि सीतारामैया, पृ ६६।

लगी कि वह चकित रह गई '' ''(पृ. ४५४-४५५)'''''और अन्त में भारत को क्या मिला ''' उसको तो इस युद्ध के फलस्वरूप आर्थिक दिवालियापन, लकड़ी की टाँगें, विधवाएँ और अनाथ, कोरी प्रशंसाएँ, कुछ उपाधियाँ और थोड़े से विक्टोरिया क्रास ही प्राप्त हुए'' ' युद्ध के बाद भारत की आँखें खुल गईं और इंगलैण्ड के प्रति अविश्वास की भावना जाग उठी' ''' ।"[1]

और, इससे किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण द्वितीय महायुद्ध नहीं था। इस महायुद्ध ने अँग्रेजी शक्ति को इतना खोखला सिद्ध कर दिया और उनकी अपनी ही दृष्टि में उनको इतना हीन और व्यर्थ का सिद्ध कर दिया, तथा भारत को इतना महत्वपूर्ण सिद्ध कर दिया था कि इस महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीय स्वतन्त्रता एक अनिवार्य परिणाम सिद्ध हो चुकी थी। इस युद्ध के बीच में अँग्रेजी राज्य अपनी प्रभुता, अपनी शक्ति और अपने सामर्थ्य का अनुभव कराना चाहता था। उसने भारत रक्षा कानून की धाँधलियाँ चलाईं। देश की आर्थिक स्थिति को बिगड़ जाने दिया। किसान मजदूर पिसा। ठेकेदारों और चोर बाजार के नायकों की पाँचों अँगुलियाँ घी में हुईं। चारों ओर लूट और बेईमानी का बोल बाला हो गया। अधिकारियों और ऊँची तनख्वाहों वालों की तो चाँदी ही थी। पुलिस का राज्य था। राष्ट्रीय और श्रमिक आन्दोलनों का दमन किया जाता रहा। कांग्रेस वालों को जेल भेजने में लोगों को बड़ा आनन्द मिलने लगा। लगा कि भारतीय राष्ट्रीयता सदैव के लिये मिटा दी गई है। दूसरी ओर, हमने देखा कि ये अँग्रेज जापानियों के सामने केवल चतुराई और सफलता के साथ पीछे हट आना ही जानते हैं। हम समझ गये कि इनमें कोई दम नहीं। ये हमारी रक्षा नहीं कर सकते। ये जापानियों के भूत के आगे भी दुम दबा कर भागने वाली बिल्ली हो गये हैं। ये केवल अहिंसक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दमन में ही शेर हैं। द्वितीय महायुद्ध ने अँग्रेजी साम्राज्य पर से हमारे हर एक वर्ग का विश्वास खतम कर दिया। वे स्वयं अपनी योग्यता और कार्य-क्षमता पर सन्देहशील हो उठे थे। सन् १९४२ ई० के आन्दोलन के दमन कार्य के रूप में बुझते हुए दीपक ने आखिरी भभक मारी थी—जैसे दम तोड़ते हुए शेर की आखिरी गुर्राहट हो। ऐसा लगता था कि जैसे किसी व्यक्ति से उसकी अधिकृत बहुमूल्य वस्तु वापस ली जा रही हो और वह लोभ के कारण उसे न देना चाहता हो और इसलिये वह मार-पीट, तड़क-भड़क, भूठ-बेईमानी, नीति-कुनीति, आदि सभी उपाय उसे अपने पास रखने के लिये अपना रहा हो। इस महायुद्ध ने भारत को तीन चीजें दीं—(१) 'भारत छोड़ो' आन्दोलन, (२) बंगाल का अकाल, और (३) आई० एन० ए० के मुकदमे। पहली भारतीयों की स्वतन्त्रता

१. 'अर्वाचीन भारत का इतिहास' पृ ४५७।

प्राप्ति की बेचैनी और उसके लिए बलिदान करने की शक्ति की द्योतक थी, दूसरी, अँग्रेजों की भारतीय जीवन के प्रति उपेक्षा, अपनी स्वार्थप्रियता और प्रशासनिक अक्षमता तथा व्यवस्था एवं आयोजना की रुचि के अभाव की, और, तीसरी इस तथ्य की द्योतक थी कि अब भारतीय स्वतन्त्रता की माँग को दबाया नही जा सकता और यह कि उसे जितना ही दबाया जायगा वह उससे भी अधिक वेग के साथ अवसर पा कर फिर उभरेगी और उसका प्रभावक्षेत्र और अधिक बढ जायगा। नौसेना की हड़ताल ने यह सिद्ध कर दिया कि फौज भी राष्ट्रीयता के रंग मे रंगने लगी है और सम्भवत इस तथ्य ने अँग्रेजों को और भी अधिक कमजोर कर दिया और वे समय रहते चेत गए जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। इस प्रकार ये दोनों महायुद्ध भारतीय स्वाधीनता के दृष्टिकोण से बड़े ही ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं के रूप मे दिखाई पड़ते हैं।

झकझोरने वाली अन्य घटनायें—

(१) होमरूल—इसके पश्चात् अब हम उन घटनाओं के स्वरूप और महत्व की ओर आते हैं जिन्होंने एक के बाद एक घटित होकर भारतीय राजनीति और भारतीय जनता के अंग प्रत्यंग को इस बुरी तरह से झकझोर दिया कि उसका कोई भी अंश, कोई भी अङ्ग, कोई भी कण चेतना-विहीन और इसलिये निष्क्रिय रह ही न सका।

सन् १९१५ ई० के आसपास देश की वास्तविक अवस्था कुछ अच्छी न थी। नरम दल वालों के हाथ से शक्ति निकल चुकी थी। देश का नतृत्व प्रायः वे लोग करने लगे थे जिनकी मनोवृत्ति नौकरशाही वाली थी। राष्ट्रीय दल अभी तक अपने को सम्भाल नहीं पाया था। १९१४ तथा १९१५ में श्रीमती एनी बेसेन्ट ने दोनों दलों को मिलाने का प्रयत्न किया अवश्य था परन्तु वह असफल हो चुका था। इस प्रकार १९१६ के आसपास देश को किसी कार्यक्रम और किसी नेता की आवश्यकता थी। १९१७ मे भारत ने उत्तरदायी शासन की माँग की और श्रीमती बेसेण्ट 'होमरूल' का आन्दोलन लेकर कार्यक्षेत्र मे उतरी। महात्मा गाँधी ने लिखा है, 'होमरूल की लगन लोगों मे पैठ गई। होमरूल के बिना लोगों को कभी सन्तोष न होगा। वे समझते हैं कि उसके लिये जितना बलिदान किया जाय उतना कम है।'[1] राष्ट्रीय कवि चकबस्त ने गाया था—"न लें बहिश्त भी हम होमरूल के बदले।' राजेन्द्रप्रसाद ने भी लिखा है, 'श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने 'होमरूल लीग' कायम करके सारे देश मे १९१७ में हो बड़ी हलचल मचा दी थी। प्राय सभी प्रान्तों मे उसकी शाखायें कायम हो गई थीं। लोग खूब जोरों से प्रचार के काम मे लग गये थे। सर-

१ गाँधी जी की 'आत्मकथा', पृ० ३८८

बार इससे कुछ घबरा-सी गई। उसने श्रीमती एनी बेसेन्ट को, उनके दो साथियों के साथ नजरबन्द कर दिया था। इस पर आन्दोलन ने और जोर पकड़ा।"[1]

(२) चम्पारन—इसी शृङ्खला मे गांधी जी का चम्पारन-अभियान भी आता है। नील के व्यापार मे अत्यधिक लाभ देख कर गोरों ने चम्पारन जिले मे नील की खेती करवानी प्रारम्भ कर दी थी। इस जिले के अपने गरीब किसानो पर वे इस प्रकार हावी थे जैसे जमींदार या तालुकदार हुआ करता है। सरकार इन्हीं गोरो का पक्ष लेती थी। इनकी ज्यादतियां बहुत बढ़ गई थीं। १६१६ के दिसम्बर मे कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन मे इनके प्रतिनिधियो ने गांधी जी को चम्पारन आ कर इनकी हालत देखने का निमन्त्रण दिया। गांधी जी आये और पाया, 'चम्पारन के रैयत इतने अरसे से सताये गये थे कि वे लोग डरपोक हो गये थे और उनकी हिम्मत नीलवरों के खिलाफ कुछ कहने की भी नहीं होती थी''''''उनके जुल्म की खबर स्थानीय अफसरों को मिला करती थी, पर वे भी रैयतो को कोई विशेष मदद नहीं कर सकते थे''''दंगवा-फसाद का नतीजा यह होता कि वे और भी पीसे जाते। कचहरियो द्वारा फांसी और कैद की सजा ''''उनके खेत और घर सब लूट लिये जाते, माल-मवेशी सब भगा दिये जाते, घरों में आग लगा दी जाती और वे खुद भी पीटे जाते तथा बहुतेरो की तो बहू-बेटी की इज्जत भी बरबाद की जाती''''' बहुत दिनों तक जिला भर मे मौत की-सी शांति विराजती। पुलिस का सारा खर्च भी गवर्नमेंट उन्हीं से वसूल करती' उन्हें मजिस्ट्रेट के सामने ही इजलास पर से घसीट ला कर खूब पीटते''''''।"[2] गांधी जी ने सच्चाई और ईमानदारी तथा निर्भीकता और लगन के साथ जांच शुरू की। छोटे मोटे लोगो, अफसरो और उनकी सिफारिश पर स्वय सरकार ने भी गांधी जी को रोकना चाहा किन्तु वे न रोके जा सके। एक बार तो उनके और उनके साथ के लोगों के जेल जाने की भी सम्भावना पैदा हो गई थी! यहां बिहार के कार्यकर्ताओ ने पहली बार 'गांधीमार्ग' के दर्शन किये। सत्य, अहिंसा, कर्तव्य-निष्ठा, स्वावलम्बन, सादगी, जन-आंदोलन चलाने का ढंग, आदि प्रत्यक्ष हुआ। राजेन्द्रबाबू गांधी जी के प्रमुख सहायकों में-से थे और उनका मत है कि चम्पारन का आंदोलन उस बड़े आंदोलन की भूमिका थी जो एक दिन सारे भारतवर्ष में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए फैलने वाला था। गांधी जी के इस आंदोलन ने उस समस्त क्षेत्र की जनता मे आशा और विश्वास के साथ सामूहिक रूप से अहिंसात्मक ढंग से लड़ने का हौसला भर दिया। उनमे असाधारण जागृति एवं आत्मचेतना आ गई।

---

२ 'आत्मकथा', पृ० १२६-३०

१ 'बापू के कदमों मे',

(३) भूख हड़ताल —चम्पारन से अवकाश पाते ही गांधी जी को विवश होकर अहमदाबाद के मजदूरों के अधिकारों के प्रश्न को उठाना पड़ा। उन्होंने मजदूरों को हड़ताल की राय दी। यह हड़ताल २१ दिनों तक चली जिसके अन्तिम तीन दिनों स्वयं गांधी जी को उपवास भी करना पड़ा था। इस कार्य में भी सौजन्यता, सौहार्द्र, अहिंसा और सत्य का उन्होंने सहारा लिया। इसने अशक्त मजदूरों के अन्दर एक चेतना पैदा कर दी।

(४) खेड़ा —१९१८ ई० में ही बेदखली के प्रश्न को लेकर गुजरात के खेड़ा जिले के काश्तकारों और सरकार के बीच संघर्ष चला था। गांधी जी ने काश्तकारों की सही बातों का समर्थन किया और वहां शांतिपूर्ण प्रतिरोध संगठित किया। इस आन्दोलन को भी सफलता मिली और सरकार को झुकना पड़ा। उस क्षेत्र के किसानों तथा समस्त पीड़ित जनता के सामने आंदोलन करके अपने अधिकारों को पाने का एक मार्ग दिखाई पड़ा।

(५) खिलाफत - जैसे इटली के रोम का प्रधान पादरी पोप संसार भर के रोमन कैथोलिक पादरियों का प्रधान होता है वैसे ही मुसलमानों में खलीफा होता है। पहले बगदाद के अब्बासिद वंश के शासक प्रधान होते थे किन्तु सन् १२५८ में मंगोलों ने उनको हराकर उनके प्रभाव को कम कर दिया था। १५२७ में टर्की के प्रथम सलीम ने खलीफा की उपाधि धारण कर ली। भारत के मुसलमानों को खलीफा की अनिवार्य आवश्यकता थी। अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही समस्त व्यावहारिक दृष्टिकोण से भारत के मुसलमान शासक अपने को भारतीय मुसलमानों का खलीफा यानी धर्मगुरु भी मानने लगे थे। बहादुर शाह जफर के बाद भारतीय मुसलमानों के सामने एक कठिन प्रश्न यह उपस्थित हो गया कि वे किसे अपना खलीफा मानें। अङ्गरेज अपर धर्मानुयायी होने के कारण इस स्थान की पूर्ति कर नहीं सकता था। अतएव भारतीय मुसलमान टर्की के सुल्तान को अपना खलीफा मानने लगे और इनकी सहानुभूति उनके साथ हो गई। प्रथम महायुद्ध में टर्की जर्मनी के साथ और अङ्गरेजों के विरुद्ध था। इधर मुसलमानों में सर सैयद अहमद के समय से राजभक्ति की—अंगरेज और अंग्रेजी के समर्थन, अनुकरण एवं अपनाने की—प्रवृत्ति चल पड़ी। भारतीय मुसलमान द्विविधा में पड़ गया। मित्र राष्ट्रों को विजयश्री से विभूषित करके प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ और उसके साथ ही साथ टर्की के सुल्तान के भाग्य पर भी मुहर लग गई। अपने खलीफा की यह दुरवस्था भारतीय मुसलमानों का अन्तर्दाह बन गई। मुहम्मदअली, शौकतअली, जिना, आसफअली, मौलाना अबुल कलाम आजाद, आदि मुसलमान नेताओं ने आशा की थी कि उनकी भावनाओं का ध्यान रखकर अंगरेज

सन्धि-पत्र में टर्की के प्रति दया दिखलायेगा किन्तु प्रतिशोध और निर्ममता अपकार का निवारण असम्भव था। जब यह विचार तथ्य रूप धारण करने लगा तो हमारे मुसलमान भाइयों के हृदय की आशा निराशा का रूप धारण करती हुई क्षोभ में परिवर्तित हो गई जिसकी अभिव्यक्ति खिलाफत आन्दोलन के रूप में हुई। साधारण व्यक्ति राजनीति की इतनी बातें क्या जाने? उसने खिलाफत का अभिधात्मक अर्थ ही स्वीकार किया—अर्थात् विरोध—अंगरेजों का विरोध। इस प्रकार भारत का एक-एक मुसलमान—समझदार और नासमझ, दोनों—अंगरेजों का विरोधी हो चला। एक केन्द्रीय खिलाफत समिति स्थापित की गई। देश भर में इस समिति की शाखाएँ खोली गई। घोर आन्दोलन छिड़ गया। दिन प्रति दिन यह आन्दोल तीव्र से तीव्र तर होता गया। १९१९ में गांधी जी की राय इस आन्दोलन को भी मिली। कांग्रेस का और इस आन्दोलन का पारस्परिक सहयोग हुआ जिसका परिणाम उस समय देश को हिन्दू मुस्लिम एकता के रूप में मिला। इस आन्दोलन ने देश में राजनीतिक असन्तोष खूब भड़का दिया। हिन्दू मुस्लिम एकता के साथ-साथ यह आन्दोलन खूब प्रगति करता रहा। देश की संघर्षात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन और बल मिला। आन्दोलन ने ऐसा जोर पकड़ा कि राज्य-सचिव श्री माण्टेग्यू और वायसराय लार्ड रीडिंग भी चौंक पड़े। यह आन्दोलन असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के साथ २ समाप्त हो गया। इसी आन्दोलन के मंच पर से भारतीय राष्ट्रीयता को 'असहयोग' या 'नान-कोआपरेशन' शब्द मिला। १९१९ में गांधी जी दिल्ली के खिलाफत सम्बन्धी कान्फ्रेंस में बुलाये गये थे। लुई फिशर ने लिखा है, गांधी रंगमंच पर बैठे हुए थे और उनका मस्तिष्क किसी उपयुक्त कार्यक्रम की योजना के आविष्कार में व्यस्त था। वे किसी प्रोग्राम की ओर उसके लिए किसी ऐसे उपयुक्त शब्द की खोज में थे जो नारे की तरह हो और जिसके अन्दर से उस कार्यक्रम की संक्षिप्त ध्वनि निकलती हो। अन्ततोगत्वा उन्हें यह मिल गया और जब उनसे बोलने के लिए कहा गया तो वे बोले 'नान-कोआपरेशन'[1]। इस पर विचार करने के पूर्व हमें एक और तूफान का दर्शन करना आवश्यक है।

(६) रौलट ऐक्ट विरोध—ऊपर यह कहा जा चुका है कि गांधी और भारत ने प्रथम महायुद्ध में अंगरेजी सरकार की मुक्त हृदय से सहायता इसलिए की थी कि अंगरेजों के प्रति उनका विश्वास अभी बना था। युद्ध की समाप्ति पर भारत की आशा वादों का प्रत्यक्ष, व्यावहारिक एवं क्रियात्मक रूप देखना चाहती थी। विश्वास का भाव आनवन से उसके अनुभाव की अपेक्षा करने लगा था। और मिला क्या? १९१८ में युद्ध समाप्त हुआ और १९१९ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल में यह

१—'दि लाइफ आफ महात्मा गांधी', भाग० १ पृ० २२८।

बिल पेश हो गया—जिसके पिता थे सरसिडनी रौलट—कि सकट कालीन स्थिति का विश्वास करके 'गवर्नर जनरल सार्वजनिक जीवन को समाप्त करने के लिए पुलिस और कार्यकारिणी को असीमित अधिकार दे सकता है।

ये अधिकार इतने व्यापक थे कि इनके आगे नागरिक स्वतन्त्रता का कोई भी अर्थ नही रह जाता था। १६१६ मे ही ये रौलट विधेयक कानून भी बन गये। निश्चित था कि ये उपाय भारतीय राष्ट्रीयता के दमन के लिये ही अपनाये गये थे। लुई फिशर ने लिखा है, "सारे देश को जैसे बिजली का एक धक्का लग गया। क्या यही औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रारम्भ है। युद्ध मे भारत ने जो खून बहाया, क्या यह उसका पुरस्कार है।"[1] सरकार को बहुत समझाया गया किन्तु परिणाम कुछ न निकला। विरोधी आदोलन उग्रतर हुआ। इस आदोलन की लहरे देश के प्रत्येक भाग और प्रत्येक वर्ग म फैल गई। अनेक स्थानो पर उपद्रव और हत्याए तक हुई। सशस्त्र नौकरशाही नि शस्त्र प्रदर्शनकारियो पर अमानुषिक चोटें कर रही थी। लाठियो और गोलियो की बौछारें हुई। सभी तरफ से निराश होकर गाधी जी ने ६ अप्रैल को हडताल कराने का निश्चय किया। दिल्ली म यह हडताल ३० मार्च को मनाई गई और बम्बई तथा देश के अन्य भागो मे ६ अप्रैल को। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि यह ठीक पहला समय था जब हिन्दुस्तान मे .. . गाधी जी ने सामूहिक रूप से कानून तोडने का कार्यक्रम देश के सामने रखा।" लुई फिशर ने "दि लाइफ आफ महात्मा गाधी" मे इसे भारतवर्ष की अ ग्रेजी सरकार के विरुद्ध गाधी जी का "पहला कार्य" माना है। सचमुच भारत मे यह उनका प्रथम राजनीतिक कार्य था। यह गाधी युग की उषा है। गाधी जी ने प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करके भेजने को कहा। सत्याग्रह सभा के नाम से देश भर मे कमेटिया नियुक्त हुई। देश भर मे उत्साह उमड रहा था। हडताल के दिन गाधी जी ने देश को उपवास करने, सब कार बार बन्द रखने, जुलूस निकालने तथा सभाए करके विरोध प्रस्ताव पास करने का आदेश दिया। उन्होंने यह भी कहा कि उस दिन सभी लोग अपने-अपने धर्म के अनुसार अपने-अपने देवालयो म प्रार्थना करें। इसका स्वरूप बग भग-विरोध आदोलन के स्वरूप से कुछ अधिक भिन्न न था। लेकिन लगा कि यह अनोखी चीज है। बगभग के रद्द हो जाने के बाद लोग उसे भूल से गये थे। हा, जो उग्र मिजाज के थे, वे क्रान्तिकारी दल मे शरीक हो गये। क्रान्तिकारी लोग उन हिन्दुस्तानी और

१—दि लाइफ आफ महात्मा गाधी, पृ० २२१।

२—बापू के कदमो मे, पृ० ७०

अंगरेजी अफसरों को मार डालते थे जो बहुत ही अत्याचार करते थे। निश्चित था कि यह कार्य गुप्त रीति से किया जाय। यही कारण है कि उस का जनता पर अधिक प्रभाव या प्रचार नहीं हो पाया। रोलट बिल के विरुद्ध होने वाले आन्दोलन में भाग लेने वालों के अन्दर असाधारण उत्साह था और इस उत्साह के अभूतपूर्व दृश्य दिखाई पड़े। हड़ताल हुई। पटना के इतिहास में उस दिन सबसे बड़ी सभा आयोजित हुई। किसी भी प्रकार की सवारी या गाड़ी किसी को भी न मिली। गंगा स्नान किया गया। मंदिरों में प्रार्थनाएं हुई और मस्जिदों में दुआएं। दो-ढाई मील लम्बा जुलूस चला नंगेसिर, नंगे पैर लोग जुलूस में थे। देहातों में न हल जोते गये और न बैलगाड़ियां चलीं। गांधी जी ने लिखा है, "न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गई. ... समूचे हिन्दुस्तान में– शहरों में और गांवों में– हड़ताल हुई। वह दृश्य भव्य था।"[१] दिल्ली में उस दिन जैसी हड़ताल हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। ऐसा जान पड़ा मानो हिन्दुओं और मुसलमानों के दिल एक हो गये हैं। श्रद्धानन्दजी को जामा मस्जिद में निमन्त्रित किया गया और वहां उन्हें भाषण करने दिया गया। अधिकारी यह सब नहीं सह पाये और स्टेशन की तरफ जाते हुए जुलूस को रोक कर गोलियां चलादी। बहुत लोग घायल हुए। बहुतों के प्राण गये। बम्बई में सवेरे-सबेरे हजारों लोग चौपाटी पर गये और वहां माधव बाग जाने के लिये जुलूस रवाना हुआ। मुसलमान भी पर्याप्त संख्या में थे। सरोजिनी नायडू और गांधी जी से मस्जिद में भाषण करवाया गया। यहां कानून की सविनय अवज्ञा की तैयारी कर रखी गई थी। निश्चय किया गया था कि या तो बिना आज्ञा नमक बनाया जाय या जप्त पुस्तकें बेची जाय। दूसरे को अधिक पसंद किया गया। शाम को उपवास छूटने के बाद और चौपाटी की विराट् सभा के विसर्जित होने के बाद कई स्वयं सेवक, स्वयं गांधी जी और सरोजिनी नायडू- बेचने निकली। सभी प्रतियां बिक गई। "एक प्रति का मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथ पर अथवा सरोजिनी नायडू देवी के हाथ पर शायद ही किसी न चारआने रखे होंगे। जिसकी जेब में जो था सो सब देकर किताबें खरीदने वाले बहुतेरे निकल आये। कोई कोई दस और पांच के नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रति के लिये ५० रुपये के नोट भी मिले थे। लोगों को समझा दिया गया था कि खरीदने वाले के लिये भी जेल का खतरा है लेकिन क्षण भर लिये लोगों ने जेल का भय छोड़ दिया था।"[२] भारी भीड़, हर्षोन्माद, "बन्देमातरम्" और "अल्ला हो अकबर" के गगन भेदी नारे, पुलिस के घुड़सवार, उनके लिये ईंटों की बौछारें,

१–"आत्म-कथा",

२–गांधी जी की "आत्मकथा", पृ० ४००।

वातावरण को आतंकपूर्ण बनाये थी। गांधी जी ने फिर लिखा है, "जुलूस को रोकने के लिये घुडसवारों की एक टुकडी सामने से आ पहुँची। वे जुलूस को किले की ओर जाने से रोकने की कोशिश कर रहे थे। लोग वहा समा नहीं रहे थे। लोगों ने पुलिस की पात को चीरकर आगे बढने के लिये जोर लगाया। वहा हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड सके। यह देखकर घुडसवारों की टुकड़ी के अफसर ने भीड को तितर-बितर करने का हुक्म दिया और अपने भालो को घुमाते हुए इस टुकडी ने एकदम घोडे दौडाने शुरू कर दिये,..... लोगो की भीड मे दरार पडी। भगदड मच गई। कोई कुचले गये। कोई घायल हुए। घुडसवारो को निकलने के लिये रास्ता नही था। लोगो के लिये आसपास बिखरने का रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटे तो उधर भी हजारो ठसाठस भरे हुए थे ... घुडसवार और जनता दोनो पागल जैसे मालूम हुए।"[१] ऐसी ही हडताल अहमदाबाद मे हुई। गाधी जी को यह निश्चय करना पडा कि जबतक लोग सविनय भग का मर्म न समझ लें तब तक सत्याग्रह मुल्तवी रखा जाय।

(७) जलियाँवाला काण्ड और मार्शल ला —

इस प्रसग मे पजाब मे जो-कुछ हुआ उसने मानवता को रुला दिया तथा बर्बरता और दानवता ने अपने आश्रयस्थल की स्थिति सुदृढ पाकर मुक्त अट्टहास किया। पजाब मे दो घटनाएँ हुई। एक घटना है जलियान वाला बाग की और दूसरी है अमृतसर का मार्शल ला। अमृतसर मे एक समाचार यह मिला कि वहा के स्थानीय नेता डा० सत्यपाल और डा० किचलू को गिरफ्तार करके निर्वासित कर दिया गया है। इस समाचार से जनता क्षुब्ध हो उठी। नेताओ की गिरफ्तारी का समाचार पाकर जनता एक जुलूस बनाकर डिप्टी कमिश्नर के बंगले की ओर बढी। सैनिक टुकडी और घुडसवार पुलिस ने जुलूस को रोका। कुछ गडबडी मची कि सरकार की ओर से अन्धाधुन्ध गोलियो की बौछार कर दी गई। इस अत्याचार से कुछ भावुक व्यक्ति अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। परिणामत एकाध स्थानो पर आग लगी और कुछ यूरोपीय अपनी सपत्ति और अपने प्राणो से हाथ धो बैठे। अगरेजो की एक विचित्र प्रवृत्ति थी। हजारो भारतीय मर जाय तो कोई चिंता की बात नहीं। एक जाच समिति बैठा दी जायगी। दो-चार अगरेज भी मारा जाय तो समस्त निरीहजनता मे 'खून के बदले खूरेजी' के अनुसार पहले निपट लिया जायगा-जाच समिति उसके बाद। अस्तु, अमृतसर का नियत्रण जनरल डायर को

१-वही पृ० ४०२-४०३

सौंप दिया गया। गोली-वर्षा के विरोध मे शान्तिपूर्वक प्रदर्शन करने के लिये निःशस्त्र प्रदर्शनकारी जलियावाला बाग मे एकत्र हुए थे। इस बाग मे एक द्वार था जिस पर इस अत्याचारी के सैनिक एकत्र थे। बाग के चारो ओर ऊंची-ऊंची चहारदीवारी थी। बिना चेतावनी दिये हुए डायर ने गोलियां चलवा दी। सैनिकों के पास की सब की सब गोलियां समाप्त हो गई तब यह वर्षा रुकी। इस अमानुषिक घटना के परिणामस्वरूप सारा पंजाब रोष और क्षोभ से उबल उठा। सारा भारत तड़प उठा। सरकार ने पंजाब से समाचारो और मनुष्यो के आने-जाने को रोक दिया। नलों का पानी बंद कर दिया गया। पेट के बल रेंग-रेंग कर चलने की आज्ञा दी गई और जब लोग इस प्रकार घिसटते थे तो उनको देखकर हंसा जाता था। बिजली काट दी गई। लोगो को नंगा करके सबके सामने ही बेंत लगाये जाते थे। सभी साइकिलें फौज के अधिकार में कर ली गई थी। दूकानें जबरदस्ती खुलवाई जाती थी। जो नहीं खोलता था उसे या तो गोली से उड़ा दिया जाता था या उसकी दूकान खोलकर वहां का सारा सामान लोगों में मुफ्त बांट दिया जाता था। वकील तथा दलालो को शहर से बाहर नही जाने दिया जाता था। जिनके मकान की दीवारो पर फौजी कानून की नोटिस चिपकाई जाती थी वे ही उसकी हिफाजत के उत्तरदायी थे। यदि कोई उसको फाड़ दे, बिगाड़ दे, तो दण्ड मकान का स्वामी पायेगा और वह भी तब जब उसे घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं थी। भारतीयो की मोटरें और साइकिलें फौज में जमा करवा ली गई थी जिन पर अधिकारी चढ़ते थे। हाजिरी देने के लिये सभी तांगे वालो को शहर से बाहर बुलाया जाता था। अपनी उपस्थिति सूचित करने के लिये अप्रैल की उस भयानक गर्मी में विद्यार्थियो को शहर से बाहर ४ मील दूर जाना पड़ता था। लड़के बेहोश होकर गिर पड़ते थे। जहां भीड़ जमा हो जाती वहां बम और मशीनगन का प्रयोग किया जाता था। कर्नल ओब्रायन ने यह आज्ञा प्रसारित कर रखी थी कि जब कोई हिंदुस्तानी किसी अंग्रेज अफसर से मिले तो वह उसको सलाम करे, यदि किसी सवारी या घोड़े, आदि पर हो तो उतर जाय, और यदि छाता लगाये हो तो उसे नीचे झुका दे। स्टेशन के पास एक बड़ा-सा पिंजरा बना दिया गया था जिसमे सन्देहास्पद व्यक्तियों को ठूंस दिया जाता था। खुल आम फांसी लगाने के लिये एक फांसी घर बना दिया गया था। स्कूल के लड़के तीन-तीन बार परेड करते और झण्डे को सलामी देते थे। कितने ही बच्चे लू लगने से मर गये। उन को बार-बार कहना पड़ता था, "मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं कोई अपराध नहीं करूंगा, मुझे अफसोस है, मुझे अफसोस है। चौपायों की तरह चलने की भी आज्ञा

थी। ऐसी और इस तरह की कहानियों को लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि किसी जाति के प्रति विद्वेष पैदा हो बल्कि इनसे उन स्रोतों और प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। जिन्होंने हमारे मन और मस्तिष्क को छूकर हमारे भाव, स्वभाव और साहित्य को बदल दिया। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप सरकार की नैतिक प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा, स्वातन्त्र्य आन्दोलन का नैतिक पक्ष और अधिक प्रबल होगया, टैगोर ने 'नाइट" का और गांधी ने "कैसरे हिंद" पदक और बोअर युद्ध में पाये गये पदकों का परित्याग कर दिया, कवि और दार्शनिक तक अंगरेजों के विरुद्ध हो गये। कांग्रेस ने इन घटनाओं की जांच के लिये जो समिति बनाई थी उसकी रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही देश भर में आंदोलन ने उग्र रूप धारण कर लिया। जब इस बात का पता चला कि डायर ने कहा है कि उसमें लोगों को सजा देने और सबक सिखाने के लिये जानबूझ कर यह हत्याकांड करवाया था वर्ना इसकी कोई आवश्यकता न थी और अपने इस कार्य के लिये उस को कोई दुःख नहीं बल्कि दुःख है तो इस बात का कि वह इससे अधिक कुछ क्यों न कर सका और इसके साथ-साथ जब यह भी मालूम हुआ कि अधिकारियों ने भी उसका समर्थन किया है तब भारतीयों का हृदय अपनी परवशता और अंग्रेजों के प्रति क्रोध की भावना से उबल उठा। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि सेना ने निहत्थे स्त्री-पुरुषों, बाल-वृद्धों पर जो अत्याचार किये उनकी कथाएं सुनकर खून खौलने लगता था। बेगुनाहों की फांसी, लम्बी-लम्बी सजाएं, भगवान पर रोष आता था। उसका न्याय कहां गया! उसका चमत्कार कहां!! [1]

इसने राज भक्त गांधी को विद्रोही बना दिया। १९२२ के अपने प्रसिद्ध अहमदाबाद वाले बयान में उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्हें पहला धक्का रौलट ऐक्ट ने दिया जिसके बाद पंजाब के हत्याकांड का नम्बर आया और उनकी सारी आशाएं धूल में मिल गईं। अनेक समझदार अंग्रेज भी इस अमानुषिक कार्य से शर्मिन्दा हुए। वायसराय चेम्सफोर्ड ने डायर के इस दृष्टिकोण को 'जोरदार ढंग से भर्त्सनीय' समझा, हण्टर कमीशन ने "भयानक भूल" और सर वेलेन्टाइन चिरोल ने "ब्रिटिश भारत के इतिहास का काला दिन" कहा। डायर के इन कुकृत्यों ने देश को मजबूर कर दिया कि वह कोई बड़ा कदम उठाए। गांधी जी अभी सत्याग्रह नहीं करना चाहते थे। १९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें गांधी का महत्व स्वीकार कर लिया और तभी से भारत राजनीतिक मंच पर 'महात्मा गांधी की जय' का घोष गूंजने लगा। कलकत्ता में कांग्रेस के एक विशेष

१—"मेरी जीवन यात्रा', पृ० २६८।

अधिवेशन ने उनके असहयोग प्रस्ताव को बहुमत से स्वीकार कर लिया। और नागपुर के वार्षिक अधिवेशन मे फिर उसी का आग्रह हुआ।

असहयोग आंदोलन—

अन्ततोगत्वा १९२० मे यह आंदोलन छेड दिया गया। इसके मुख्य कार्यक्रम थे सरकारी उपाधि न लेना और मिली हुई को भी छोडना, कौंसिल के चुनाव में न खडा होना और न वोट देना, स्कूलो कालेजो अदालतो का बहिष्कार, विदेशी वस्त्रो का बहिष्कार, चर्खा-खद्दर-राष्ट्रीय-शिक्षा पचायती अदालतो का कार्यक्रम अपनाना गांधी जी ने एक शर्त यह रखी थी कि सत्याग्रह वहां शुरू करेंगे जहां खादी का काफी प्रचार हो और रचनात्मक कार्यक्रम के अग यथासाध्य पूरे किये गये हों। इसका परिणाम यह हुआ कि जगह जगह इन शर्तो को पूरा करने की तैयारियां की जाने लगी। भारत एकदम बदल गया। उसकी राष्ट्रीय बुभुक्षा तीव्रतम हो गई। इस प्रकार राष्ट्रीयता जन जन तक पहुच गई। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'बगभग के आन्दोलन के फलस्वरूप राजनीतिक जागृति समाज के मध्यवर्ग मे पहुची किन्तु स्वतत्र भारत के सन्देश को जनसाधारण तक पहुचाने का श्रेय महात्मा गाधी को है।'[1] कुछ ऐसे लोग भी थे जो इस आन्दोलन के महत्व की कल्पना नहीं कर पाते थे। साधारण जनता मे भी ऐसे लोगों की कमी न थी। इससे कुछ ऊपर के वर्ग वाले लोग यह कहते थे कि जेल जाने से कहीं आजादी मिलती है! इससे कुछ अधिक समझदार लोगो ने इसका मजाक उडाया जिनके शीर्ष बिन्दु पर तत्कालीन वायसराय थे जिनका कथन था कि असहयोग समस्त मूर्खतापूर्ण योजाओं मे भी सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण है। जो लोग राष्ट्रीय थे और फिर भी इसके महत्व को समझने की अन्तर्दृष्टि से वचित थे उनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम श्रीमती ऐनी बेसेन्ट का है जिन्होंने शुरू से ही असहयोग आन्दोलन का विरोध बडे जोरों से किया था और एक बार तो यहा तक लिख दिया था कि गाधी जी अ प्रकार की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं ('रिप्रेजेन्ट्स दि फोर्सेज आफ डार्कनेस')। गाधी जी ने असहयोग को इतना व्यक्तिगत रूप दे दिया था कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने को विवश हो गया कि यदि वह सरकार से असहयोग न करेगा तो स्वराज्य-प्राप्ति में विलम्ब हो जायगा। १९२० में ही गाधी जी ने यह आश्वासन दिया था कि यदि लोग पूर्णत अहिंसात्मक ढग से असहयोग करें तो एक वर्ष मे स्वराज्य मिल जायगा। मोतीलाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, चितरजन दास, वल्लभ भाई पटेल आदि हजारों ने असहयोग

१ 'मध्यदेश—ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन, पृ १८६।

लिया, मादक द्रव्यों का सेवन त्यागा। १९२० में तिलक का देहान्त हो गया और गांधी भारत के एकमात्र नेता हो गये।

तिलक स्मारक फंड बहिष्कार धरना आदि—

इसी बीच गांधी जी ने तिलक स्मारक फंड के लिये चन्दा एकत्र करना प्रारम्भ किया। स्वराज्य फंड के लिये भी प्रयत्न किया गया। शीघ्र ही तिलक स्वराज्य फंड में लक्ष्यातीत धन एकत्र हो गया। इसी बीच ७ महीने तक गांधी जी ने सारे देश का दौरा किया। विदेशी वस्त्रों की होलियां जलाई गई। विदेशी वस्त्रों और शराब की दूकानों पर धरना दिया गया। राजनीतिक होते हुए भी इस आन्दोलन का स्वरूप धार्मिक हो गया। राजेन्द्र बाबू के कथनानुसार 'असहयोग ने राजनीति को अंग्रेजी तरीके से सजे कमरों से बाहर निकाल कर गांवों के बरगदों के साये के नीचे और गांवों के खेत खलियानों तक पहुंचा दिया था।'[1] इस प्रकार गांधी जी का यह आन्दोलन जन-साधारण में पहुंच गया। इसका चित्रण राहुल सांकृत्यायन ने बड़े ही मार्मिक ढंग से उपस्थित किया है, एक ने कहा देवता ने सिर पर आकर घोषित किया 'हम सभी देवता गांधी बाबा के साथ हैं, न हमें बलि चाहिये न गांजा न शराब। गांधी बाबा के हुकम के खिलाफ जो इन चीजों को चढ़ावेगा, हम उसका नाश कर देंगे।'[2] जनता गांधी जी के दर्शनों के लिये पागल थी। दशों दिशाओं को गुंजाने वाले नारे लगाये जाते थे। स्टेशनों पर अनन्त जनसमूह दिखाई पड़ता था चलती रेलगाड़ी के किनारे लाइन पर खड़े होकर लोग अपनी श्रद्धा और विश्वास प्रकट करते थे। विराट सभाएँ होती थी। देश आजादी के लिये दीवाना हो गया था। नारियाँ भी घर और पर्दा छोड़ कर अपनी आहुतियाँ देने निकल पड़ी थीं। हिन्दू मुस्लिम एकता पूर्णरूप से स्थापित दिखाई पड़ती थी।

(१०) माडरेट लोगों का अलग होना और विशुद्ध जन-आन्दोलन—

जब यह आन्दोलन जन साधारण का हो गया तब इसमें वे पढ़े, असभ्य, गँवार, गंदे, रूखे, देहाती, किसान, मजदूर, आदि भी आने लगे। कुछ 'बड़े आदमियों" को यह सहन नहीं हुआ। वे कांग्रेस से अलग हो गये और शायद इसलिये भी अलग हो गये, कि उन्हें अपना अच्छा खाना और अच्छा पहनना भारत माता की स्वतन्त्रता से अधिक प्यारा लगा। त्याग की शक्ति के अभाव और भोग की प्रवृत्ति की प्रबलता ने उनका कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद करा दिया। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी "आटो बायोग्राफी" में इस युग का बड़ा ही कलात्मक ढङ्ग से चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है कि माड-

१ "आत्मकथा", पृ १६५।

२. "मेरी जीवन यात्रा", पृ ३५०।

रेट या लिबरल कांग्रेस से अलग हो गये। वे सरकार मे खप गये। वे सरकारी दृष्टि-कोण से समस्याओ पर विचार करने लगे। वे जो चाहते थे मिल गया परन्तु प्रसन्न वे भी नही थे। जन-आन्दोलन ऐसा नहीं होता कि वह अपने विरोधियो के प्रति दया-लुता दिखाये। ऐसा आन्दोलन अपने सहयोगियो को सजीवनी और स्फूर्ति देता है और विरोधियो को मनोवैज्ञानिक ढग से हलाल कर डालता है। भारत मे भी यही हुआ। आन्दोलन ने जनता का सर ऊँचा कर दिया। उसकी टूटी कमर और रीढ मे शक्ति सजीवित करके उसे सीना तान कर खड़े होने का साहस दे दिया। देश ने स्वराज्य की मांग की। १६२१ मे अधिकांश कांग्रेसियो के ऊपर जैसे नशा चढ गया था। आवेश, आशा, असाधारण उत्साह, और लक्ष्य पर मर मिटने वालो की मस्ती एव खुशी से लोग निकले। एक विलक्षण दीवानगी थी। न शका, न हिचक। सामने रास्ता साफ है। आगे बढे चले जा रहे हैं। परस्पर एक दूसरे को उत्साहित करते हैं। आगे बढने की प्रेरणा देते हैं। अपूर्व लगन और परिश्रम से काम करते है क्योकि जानते हैं कि सरकार से सघर्ष करना होगा। इन सबके बावजूद आजादी का खयाल बराबर बना रहता था और उस आजादी के लिये हम मे एक उच्चकोटि के गौरव को गर्व की भावना थी। दमन और पस्ता की भावना पूरी तरह से हवा हो गई थी। अब न तो फुसफुसाहट होती थी और न अधिकारियो के चगुल से बचने के लिये गोल-माल बातें। जो कुछ अनुभव किया जाता था उसे साफ-साफ चिल्ला कर कहा जाता था। परिणाम की चिन्ता किसी को भी नही होती थी। जेल जाने के लिये तो जैसे सदैव तैयार बैठे रहते थे। सी० आई० डी० और खुफिया पुलिस वालों की स्थिति बडी ही दयनीय होती थी। वे रिपोर्ट दें भी तो क्या ? यहां कोई चीज गुप्त या छिपी होती ही नहीं थी। सिर्फ यही सन्तोष नही था कि लोग एक ऐसा प्रभावशाली राज-नीतिक कार्य कर रहे हैं जो भारत के बाह्य रूप को उनकी आंखो के सामने ही बदले दे रहा था और आजादी को पास ला रहा था बल्कि उन्हे यह भी निश्चित रूप से अनुभव हो रहा था कि वे नैतिक दृष्टि से अपने विरोधियो से ऊँचे हैं। इनका लक्ष्य बेहतर था, इनका ढग ऊँचा था। गांधी और गांधी के बताये मार्ग पर लोगों को विश्वास ही नही, गर्व भी था। इनके विपरीत, सरकार की नैतिकता का ह्रास हो रहा था। वह समझ नही पा रही थी कि क्या हो रहा है। वे देख रहे थे कि उनकी आँखों के सामने ही, देखते ही देखते, उनकी पुरानी परिचित दुनियां को न मालूम क्या होता जा रहा है। वह ढहती जा रही है। वह बदलती जा रही है। सरकार का आत्म-विश्वास, उसकी आक्रामक भावना, उसकी निर्भीकता मिटती जा रही थी।

छोटे पैमाने के दमन या छोटे नेताओं के प्रति कुछ करने से आन्दोलन को बल मिलता

था। बड़े पैमाने पर या बड़े नेताओं के खिलाफ कुछ करने से सरकार हिचकती थी। सरकार समझ नही पा रही थी कि क्या होने जा रहा है। वह किस पर विश्वास करे, किस पर न करे! लार्ड रीडिंग ने कहा था कि सरकार "भ्रान्त एवं उद्विग्न" है। अंग्रेज अफसरों की नसें ढीली हो गई थी। उनके ऊपर बेहद बोझ पड रहा था। उनके सिर पर असहयोगियों की मेघमालाएँ गर्जन कर रही थी। चूँकि साधारण अंग्रेज अहिंसा को समझता नहीं, इसलिये वह समझता था कि कोई भयानक रहस्यमय बात होने जा रही है। उसकी नींद हराम हो गई थी। १९१९-२१ में अंग्रेज इसी तरह घबड़ा रहा था। शक, सन्देह, घबड़ाहट, अविश्वास, आशका, आदि से सरकारी वातावरण भीतर ही भीतर आतंकित था। गांधी जी धार्मिकता और मौलानाओं के रग-ढग के कारण आन्दोलन की प्रजा-क्ता कुछ धार्मिक भी हो रही थी। इस प्रकार १९२१ का वर्ष असाधारण था। इस वर्ष राष्ट्रीयता और राजनीति का तथा धार्मिकता, रहस्यवाद और कट्टरता का अनोखा सम्मिश्रण दिखाई पड़ता था। इन सबके पीछे कृषि सम्बन्धी कठिनाइयां और बड़े शहरों में, श्रमिक वर्ग का उठता हुआ आन्दोलन था। राष्ट्रीयता और आदर्शवाद ने इन सबको मिलाकर एक कर दिया था। ५ अक्तूबर १९२१ को कांग्रेस कार्य समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि प्रत्येक भारतीय सैनिक तथा नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले और आजीविका का कोई दूसरा साधन ढूँढ ले। जो सरकार से सम्बन्ध न तोड़े उसे कांग्रेस और जनता दोनों मे सरकारी पिट्ठू कहा जाता था। पंजाब में इनको "कुत्ते" या "झोली चुक्क" कहा जाता था। बीस की उम्र से नीचे तक के नवयुवक वालन्टियर बनाए जाते थे। इसी युग मे कांग्रेस का झंडा भी तैयार हो गया। १९२१ की सितम्बर में मोहम्मद अली बन्दी बना लिये गये। ऐसे तनाव की परिस्थिति मे सम्भवतः अपने ढहते हुए सम्मान और प्रतिष्ठा को बचाने के लिये सरकार ने इंगलैंड के राजकुमार की भारत-यात्रा करवाली। व्यक्तिगत रूप से कोई भी उनके खिलाफ न था किन्तु बुद्धरत राष्ट्र विरोधी के प्रतीक के स्वागत मे दिलचस्पी कहाँ से दिखाए! वह वैसा मूड कहाँ से लाए! भले ही भारत के लिये अतिथि देव होता है किन्तु हर चीज की एक सीमा होती है! और, जिस उद्देश्य से वे बुलाये गये वह हमारे राष्ट्रीय लक्ष्य के लिये अहितकर था, अतएव उनके स्वागत का बहिष्कार किया गया। संघर्ष अनिवार्य हो गया।

(११) राजकुमार के स्वागत का विरोध—राजकुमार ने भारत भ्रमण किया और प्रत्येक स्थान पर उनका स्वागत सूनी सड़को, नगे-बूचे बाजारों, मूक मार्गों और विधवा-जैसे प्रतीत होने वाले नगरों ने किया। बम्बई मे जो लोग स्वागत करने

वाला आश्चर्य था। एक ओर विजयलक्ष्मी और गौरव की देवी हाथ मे स्वागत की माला लिये खडी है और दूसरी ओर विजेता पराजय की घोषणा करता है। सच है, अध्यात्म का पथ ऐसा ही होता है। उसके पथिक या सूक्ष्म विचार लौकिकता की समझ मे आवे भी तो कैसे! जवाहरलाल नेहरू क्षुब्ध होकर जेल की कोठरी मे इधर से उधर चक्कर काटते रहे, 'क्या कुछ लोगो की भूल से इतना व्यापक आन्दोलन बन्द किया जा सकता है।' उनको गाधी का पत्र-उद्बोधन भी न सन्तुष्ट कर सका। १० मार्च को गाधी गिरफ्तार कर लिये गये। वायसराय लार्ड रीडिंग और उनके साथ-साथ अनेक विचारको का मत था कि सत्याग्रह स्थगन के कार्य के द्वारा गाधी ने अपनी राजनीतिक आत्म हत्या कर ली है। ऐसे आदमी का साथ, जो ठीक समय पर धोखा देकर निकल जाय, कौन देगा! कुछ लोगो का यह भी विचार है कि उनके इस कार्य से लगने वाले मानसिक आघात और उससे उत्पन्न निराशा के परिणामस्वरूप ही उसके बाद देश मे साम्प्रदायिक दगो का दौरदौरा चल पडा। गाधी जी पर मुकद्दमा चला और उन्होने वही अपना अहमदाबाद का प्रसिद्ध बयान दिया जिसमे उन्होने अग्रेजी सरकार के उन दोषो और अत्याचारो का उल्लेख किया उन्होने उनको विद्रोही बना दिया था। उन्हे ६ वर्ष के कारावास का दण्ड मिला। १९२४, १९२५, १९२६ और १९२७ मे गाधी जी खद्दर के प्रचार, चर्खा के प्रचार, आदि पर बहुत जोर देते रहे। १९२५ मे उन्होने सारे देश का दौरा किया था। तब लोगो ने गाधी जी को पूर्णरूप से अलौकिक पुरुष मानना प्रारम्भ कर दिया था।

(१३) रचनात्मक कार्यक्रम—इसी समय मे उन्होने खादी, हरिजनोद्धार, आदि कार्यों के लिए चन्दा एकत्र करना प्रारम्भ किया और लोगो ने आशातीत ढग से उनकी माग पूरी की। महिलाओ ने आभूषण उतार दिये। पुरुषो ने जेबें खाली कर दी। इसी वर्ष सारे भारत मे उनकी ५३ वी वर्षगाठ मनाई गई। उनकी अनुपस्थिति मे कस्तूरबा ने उनका काम चलाते रहने का प्रयत्न किया। १९२४ मे सरकार ने उनकी बीमारी के कारण उन्हे बिना शर्त के छोड दिया। तब तक काग्रेस दो दलो मे बट चुकी थी—अपरिवर्तनवादी और परिवर्तनवादी। अपरिवर्तनवादी गाधी के मार्ग पर चलते हुए सरकार से असहयोग करके ही अपना कार्य करना चाहते थे जबकि परिवर्तनवादी इस नीति मे कुछ परिवर्तन करके कौसिलो मे जाकर सरकार का विरोध करना चाहते थे। गाधी जी ने दोनो दल वालो के बीच देश का कर्त्तव्य बाट दिया। अपरिवर्तनवादी रचनात्मक कार्य करें और परिवर्तनवादी कौसिलो मे जाकर सरकार का विरोध करें क्योकि दोनो ही अच्छे कार्य है। मोतीलाल नेहरू, चितरजनदास, आदि परिवर्तनवादी थे। इन्होने स्वराज्य पार्टी की स्थापना की थी। ये लोग कौसिलो मे और वहा भी सरकार को चैन न लेने दिया। अन्त मे इन लोगो ने अनुभव किया

कि उनके इस कार्य से उन सबके चरम लक्ष्य—स्वतन्त्रता—की प्राप्ति में कुछ अधिक मदद नही मिल सकती।

(१४) झंडा सत्याग्रह (१५) गुरु का बाग का सत्याग्रह.—नागपुर में झंडे के प्रश्न पर कुछ दिनो तक कांग्रेस को आन्दोलन चलाना पड़ा किन्तु इस अवधि का सबसे भयानक आन्दोलन था गुरु का बाग का। पतित मठाधीशो से मठो को मुक्त करने के लिए सिक्खो ने यह आन्दोलन किया था। इसमे सरकार मठाधीशो के साथ थी। सत्याग्रहियो को खूब पीटा जाता था। उनके सिर फूट जाते थे। रक्त-स्नात हो उठते थे किन्तु असाधारण थी उन की अहिंसा की निष्ठा कि चुपचाप सहे जा रहे थे। एक के बाद एक सत्याग्रहियो के दल आते ही जा रहे थे। ऐंड्रूज ने इस कांड के बारे में कहा है कि अब तक मैंने जितने हृदय विदारक और करुणाजनक दृश्य देखे हैं, यह उनमे सबसे बढ़कर है।

(१६) जेल में सत्याग्रहियो पर अत्याचार—

इधर यह हाल था और उधर जेल में सत्याग्रहियो के ऊपर अमानुषिक अत्याचार किये जा रहे थे। उनसे चक्की चलवाना और कोल्हू पेरवाना तो मामूली बात थी। अगर आज्ञा के अनुसार पूरा काम न हो तो उसके लिये अलग से सजा होती थी। पैरो में बेड़ी, डंडा—बेड़ी, खड़ी हथकड़ी, चट्टी कपड़ा जो जेल की सख्त सजाए हैं बहुतो को भोगनी पड़ी। कही—कही बेंत भी लगाये गये। मुसलमानो की संख्या भी जेल मे काफी थी। इसलिये बिहार में उनसे अजान के मामले को लेकर सरकार से मुठभेड़ हो गई। अधिकारियो ने इसे बन्द करने की आज्ञा दी। वे न माने। इसके लिये भी उन्हें सजाए मिली। नगरो मे सरकार और सरकारी आदमियो की कृपा और व्यवस्था के कारण साम्प्रदायिक दंगे दिन—प्रति—दिन बढ़ते ही जा रहे थे और बढ़ती जा रही थी हिन्दू—मुसलमान के बीच की खाई—पारस्परिक वैमनस्य। इसका भयानकतम रूप उस स्वामी श्रद्धानंद की हत्या के रूप में प्रकट हुआ जिसे जामा-मस्जिद के भीतर बुलाकर व्याख्यान दिलवाया गया था। १९२६ में उनकी हत्या हुई और सारे भारतवर्ष में प्रकंपित कर देने वाली एक आतंक की लहर दौड़ गई। साम्प्रदायिकता के विष का यह भयानक परिणाम था जो संभवतः उस समय के २० वर्ष बाद की उन क्रूरताओ की ओर उठी हुई उंगली जैसा था जिनको देखकर हलाकू और चंगेज खां की रूह भी थर्रा गई होगी, जिसके आगे पशुता और दानवता भी कांप उठी होगी परन्तु जिन्हे देखकर उनका एकमात्र जिम्मेदार अंग्रेज जरा भी न पसीजा। गांधी जी से यह सब न देखा गया और उन्होंने १९२४ में साम्प्रदायिक एकता के लिये २१ दिन का उपवास कर डाला। देश भर में घूम—घूम कर, व्याख्यान

देकर, बाने कर-करके, गांधी जी ने स्वराज्य संबंधी विचार और कार्यक्रम समझा-मया कर देश की स्वातन्त्र्य भावना जागरूक और तीव्रतर करते रहे जैसे कोई सैनिक अवकाश-वेला मे अपने अस्त्र शस्त्रों पर धार रख रखकर उसे तेज करता रहे, चमकाता रहे। शिथिलता कहीं आने ही नहीं पाई। कहीं राष्ट्रीय विद्यापीठ खुल रहे हैं। कहीं स्वदेशी प्रदर्शनी हो रही है। कहीं पार्टियों के अधिवेशन हो रहे हैं। कहीं सामाजिक समस्याओं पर विचार-विनिमय हो रहा है। कहीं राष्ट्रभाषा पर बात चीत हो रही है। कभी भाषण होते हैं तो कभी चरखा, खादी एवं साम्प्रदायिक एकता के प्रयत्न हो रहे हैं। कहीं राष्ट्रीय कार्य के लिये बनने वाले भवनों की आधारशिला रखी जा रही है तो कभी राष्ट्रीय नेताओं के चित्रों और मूर्तियों का अनावरण हो रहा है।

(१८) साइमन कमीशन — इस प्रकार देखते ही देखते १९२८ आ गया और केवल अंग्रेजों अर्थात् गोरी चमड़ी वालों से विनिर्मित एवं सुसज्जित और भारतीयों की हवा से भी सुरक्षित "साइमन कमीशन सर साइमन के नेतृत्व में भारत का भाग्य निर्णय करने आया। भारत की आत्मा एक बार फिर तड़प उठी-यह है अंग्रेज प्रभुओं की असली शक्ल। १९२६ में भारत सचिव लार्ड बर्कन हेड ने बड़े ही व्यंग्यात्मक स्वर में हाउस आफ लार्डस में कहा था, "इस सदन में क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कह सकता है कि वह एक पीढ़ी, दो पीढ़ियों में और १०० वर्षों में भी कोई भी सम्भावना इस तथ्य को देख सकता है कि भारत की जनता, सेना, नौ-सेना, नागरिक-नौकरियों पर नियंत्रण रखने की स्थिति में हो सकेगी, और ऐसा गवर्नर-जनरल बना सकेगी जो केवल भारतीय सरकार के लिए ही उत्तरदायी हो—इस देश इंगलैंड की किसी सत्ता के प्रति न हो।' यह थी भारत की नीति के ब्रह्माओं की दूरदर्शिता जो १८ वर्ष आगे होने वाली घटनाओं की कल्पना मात्र तक नहीं कर सकती थी। इसी बर्कन हेड ने एक और अपमानजनक बात कही थी। उसने चुनौती दी थी कि भारतीय भारत की भावी सरकार की रूपरेखा के सम्बन्ध में कोई ऐसी योजना उपस्थित कर दें जो सभी भारतीयों को स्वीकार्य हो। इसका उत्तर भारत ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में निर्मित "नेहरू रिपोर्ट" से दिया। देश ने साइमन-कमीशन का बहिष्कार कर दिया। गांधी जी ने तो उसका बहिष्कार इस सीमा तक किया कि उसका नाम तक नहीं लिया। उनके लिये तो जैसे उसका अस्तित्व ही नहीं था। देश के सभी राजनीतिक दलों ने उसका बहिष्कार किया। पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, "यह जानकर आश्चर्य होता है कि जब कमीशन बम्बई में घूम रहा था तब "सर" की पदवी धारण करने वाले २२ नाइटों में से

एक ने भी कमीशन से मिलने की तकलीफ गवारा न की। देश में बहिष्कार की जो लहर फैली हुई थी उसका इससे ज्वलन्त प्रमाण और क्या मिल सकता है।[1] सारी भारतीय जनता इस अंग्रेजी नाम और 'गो बैक', इन दो अंगरेजी शब्दों से परिचित हो गई। कमीशन के सदस्यों के लिये बायकाट एक होवा हो गया था। आधी रात में चिल्लाते थे सियार और अपने होटलों में सोते हुए ये बेचारे समझते थे कि इस समय भी बायकाट के द्वारा हमारा पीछा नहीं छोड़ा गया। इसी विरोध के सिलसिले में लाठी चार्ज के कारण लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई। अंगरेजों ने 'शेरे पंजाब' को मार डाला। हमारे इतने बड़े नेता के साथ भी यह राक्षसी व्यवहार। सारे भारत ने दुख से सिर नीचे झुका लिया और यही दुख क्रोध और क्षोभ में बदल गया। यह हमारा राष्ट्रीय अपमान है। सारा भारत दांत पीसने लगा। दिसम्बर २८ में लाहौर के प्रसिद्ध सुपरिंटेन्डेन्ट साण्डर्स की हत्या कर दी गई। लुई फिशर ने लिखा है कि १९२८, १९२९ और १९३० में अदृश्य रूप से, स्वयं भी न जानते हुए और विदेशियों द्वारा भी न देखे जाते हुए भारतीय स्वतन्त्र हो चुके थे।[2] शरीर पर शृंखलाएं अब भी थीं किन्तु आत्मा बन्धनों से मुक्त हो चुकी थी। गांधी ने कुंजी घुमा दी थी। शत्रु के विरुद्ध अभियान करते हुए किसी भी सेनापति ने आज तक अपनी वाहिनी की गतिविधि इतनी पूर्ण कुशलता के साथ नहीं योजित की थी जितनी कि इस सन्त ने सत्य के कवच और नैतिक लक्ष्य के भाले को लेकर की। १९३१ ई० में अपने अंतिम क्षणों में मोतीलाल नेहरू ने गांधी से कहा था— मैं जा रहा हूँ महात्मा जी। मैं स्वराज्य देखने के लिये जिन्दा नहीं रहूंगा लेकिन मैं जानता हूँ कि आपने स्वराज्य जीत लिया है और आपको शीघ्र मिल जायगा[3]। सुभाषचन्द्र बोस बंगाल में, उस बंगाल में जो अंगरेजी सरकार के लिये सदा ही एक सिर दर्द बना रहा आजादी की बुभुक्षा तीव्र से तीव्रतर और तीव्रतम कर रहे थे। बहुत बाद में यह घोषणा उन्होंने की थी कि आप हमें खून दें और हम आपको आजादी दिला देंगे।

(१६) बारदोली —१९२८ में ही गांधी जी के आशीर्वादों के साथ बारदोली में सरदार बल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। सरकार ने वहां के किसानों की सम्पत्ति छीननी प्रारम्भ की उनके बैल खोल लिये गये बैल गाड़ियां ले ली गई जमीन ले ली गई लेकिन वीर सत्याग्रहियों ने टैक्स नहीं दिया।

१— दि लाइफ आफ महात्मा गांधी, पृ० ३२०-३२१

२—"मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ पृ० ८४।

३—'कांग्रेस का इतिहास, पृ० १६६।

बारदोली के वीर सत्याग्रहियो के समर्थन मे गाधी जी ने सारे देश मे हडताल कराई। बारदोली का समाचार देश-विदेश पहुंच गया। सारे देश ने सत्याग्रह करने की माग की। अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय विद्रोही भारत की जीत हुई। इस सफलता के कारण सारे देश म उत्साह की लहरें उमड आई। अब सब लोगो के दिल मे यह विचार उठने लगा कि पूरा प्रयत्न अगर किया जाय तो सारे देश मे बारदोली जैसा ही सत्याग्रह चल सकता है और इसी तरह सफलता भी प्राप्त हो सकती है। अब तक सत्याग्रह केवल विचार मे ही रहा करता था। इतने बडे पैमाने पर उसका कोई प्रयोग नही हुआ था.........बारदोली मे उसकी इस सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया कि यदि जनता भी अपनी ओर से डटी रहे, कभी भी बलवा फसाद न करे तो ब्रिटिश गवनमेंट को हार माननी ही पडेगी। गाधी जी ने भारत को निरस्त्र करके अगरेजो के हथियार व्यर्थ कर दिये। १६२६ म विदेशी वस्त्रो के बहिष्कार की आयोजना बनाई गई। दिसम्बर १६२८ म ही यह प्रस्ताव भी पास किया गया कि यदि १६२६ ई० के अन्त तक औपनिवेशिक स्वराज्य की घोषणा न हो जाय तो हम पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना ~दय घोषित कर दगे। १६२६ के ३१ दिसम्बर को १२ बजे रावी नदी के तट पर लाहौर मे कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिये पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त करना हो गया। भारतीयो ने इसके लिये बडे से बडा बलिदान दिया, अत्याचार सहे, कीमत चुकाई।

(२१) बोरसद —ऐसी ही घटना का उल्लेख १२ जनवरी के मेनचेस्टर गार्जियन मे बोरसद म है। 'बोरसद मे भी इसी प्रकार की एक रोमाचकारी घटना हुई। वहा की महिलाओं ने बडी वीरता दिखाई। पुलिस प्रदर्शन को रोकने का निश्चय कर चुकी थी। स्त्रियों ने जुलूस वालो को पानी पिलाने के लिये विभिन्न स्थानो पर पानी के बडे-बडे बर्तन रख छोडे थे। पुलिस ने पहले इन बर्तनों को ही तोडा। फिर स्त्रियो को बलपूर्वक तितर बितर कर दिया। यह भी कहा जाता है कि जब स्त्रिया गिर गई तब पुलिस वाले उनके सीनो को बूटो से कुचलते हुए चले गये। १६३० मे मोतीलाल जी ने अपना सुन्दर मकान "आनन्द भवन" कांग्रेस को दान मे दे दिया।

(२२) नमक आन्दोलन—१२ मार्च, १६३० को प्रसिद्ध दाडी-यात्रा प्रारम्भ हुई जो ६ अप्रैल को दाडी मे नमक कानून तोडने के रूप मे समाप्त हुई। इस प्रकार 'नमक आन्दोलन' या सविनय अवज्ञा आन्दोलन' प्रारम्भ हुआ। दस महीने के थोडे समय म ही नब्बे हजार स्त्री, पुरुष और बच्चे दोषी करार देकर जेलो मे ठूस

दिये गये। यह कोई नही जानता कि मार कितनो पर पडी लेकिन जिनको कैद की सजा हुई थी पिटने वालो की सख्या उनसे तीन या चार गुनी अधिक थी। हाईकोट के एक एडवोकेट को सताने के लिए एक एक करके उसके बाल उखाडे गये और यह सिफ इसलिए कि उसने अपना नाम और पता नही बताया था। सारे भारत मे नमक की गू ज होने लगी और सारा देश नमक कानून तोडने पर उतारू हो गया। बडे शहर छोटे कस्बे गाव देहात जहा देखिये गर कानूनी ढग से नमक बनाया जा रहा है। बडे जोर शोर से जुलूस लाठी प्रहार पकड धकड, हडतालें आदि होने लगी। विदेशी कपडे और शराब की दूकानो पर भी धरना दिया जाने लगा। सभ्रान्त परिवार की सकडो महिलाएँ आदोलन म कूद पडी। काग्रस गर कानूनी करार दी गई। एक दजन आर्डिनेस निकाले गये। भारतवष व्यवहारत फौजी कानून (मार्शल ला) के अन्दर था। जेल अधिकारियो से भी सत्याग्रहियो की न बनी। वे माफी मगवाने पर तुले थे। सजा मारपीट खराब व्यवहार खराब भोजन पेचिश आदि बीमारियों से जेल की कहानिया बनी। जुर्माने किये गये और कडाई के साथ उनको वसूल किया गया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है इस समय ऐसा लगता था मानो किसी दबी हुई स्प्रिंग को सहसा छोड दिया है। अजीब जादू था।[१] राजेन्द्रबाबू के नतृत्व म बिहार का नमक आदोलन एक असाधारण गौरव और मर्यादा के साथ चला। सत्याग्रह की सूचना डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को पहले से दे दी जाती थी ताकि उन्हें चौबीसो घन्टे सत्याग्रहियो की खोज और प्रतीक्षा न करनी पडे। ठीक समय पर वे आयें और सत्याग्रहियों को पकड कर जो-कुछ करना चाहे कर। गुड फ्राइडे और ईस्टर आदि धार्मिक त्यौहारो पर पुलिस वालो के धर्म-पालन म बाधा न पहुँचाने के उद्देश्य से इन विशेष धार्मिक दिनो मे सत्याग्रह के स्थगन की सूचना पुलिस के अफसरो को दे दी जाती थी। इस प्रकार विरोधियो के प्रति गाधीवादी प्रेम की स्निग्धता लेकर बिहार का आदोलन चला। फिर भी दमन की क्रूरता से बिहार भी न बचा। भीड हटाने के लिए डडे और चाबुक का प्रयोग किया जाता था। कभी-कभी भलेमानुष कमचारी बहुत बचा बचा कर वार करते। लोगो के सिर फूटते रक्त बहता फिर भी शात रहते। नमक बनाने के लिए एकत्र किये गये हाडी बरतन तोडे फोडे जाते। जनता दो दो घन्टे पानी मे भीग कर भाषण देने वाले की प्रतीक्षा करती। भाषणकर्ता भीगता भागता आता। पानी बरसते मे भाषण होता। ज्यो-ज्यो मार अधिक पडती त्यो त्यो और अधिक उत्साह के साथ सत्याग्रह किया जाता। कभी कभी वीर सत्याग्रही प्रतिक्रिया को कार्यान्वित न कर पाने के कारण रो रो उठते। मारपीट के अतिरिक्त अ य

१ — आटोबायग्राफी पृ० २९३

प्रकार की कठिनाइया और यातनाएं भी सत्याग्रहियों की शोभा बनती थीं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि एक लड़के के कान में साइकिल का पम्प लगा कर इतने जोर से हवा की गई कि उसके कान का पर्दा फट गया।[1] नेताओं को तथा अन्य सत्याग्रहियों को चोरी-छिपे एक जेल से दूसरी जेल में भेजा जाता। मजिस्ट्रेट लोग कभी-कभी सिर झुका कर मुकद्मा करते, सजा सुनाते और घर जाकर रोया करते थे। कभी-कभी मीटिंगों में स्वय सेवक या सत्याग्रही बेरहमी से पीटे जाते थे। इतनी मार पडती थी कि बेहोश हो हो जाते थे। बेहोशी की हालत में घसीट कर उन्हें नालों और झाडियों में फेंक दिया जाता था जहा से उनको कांग्रेसी लोग खाट पर उठा कर कांग्रेसी अस्पताल में पहुँचाया करते थे। ऐसे समाचार सुनकर भी लोग सत्याग्रह करते थे।

राजेन्द्रप्रसाद जी ने लिखा है, "बिहार में चौकीदारी टैक्स बंद करने का कार्यक्रम चल रहा था। सरकार सख्ती से उसे दबा रही थी "जहा किसी गाव के लोगों ने टैक्स बन्द किया, सारा गाव ही लूट लिया जाता। "" "एक दूसरे गाव में मैंने खुद जाकर देखा था, वहा घर में घुस कर गल्ला रखने की कोठिया तोड डाली गई थी, सभी बासन-बर्तन चूर कर दिये थे, यहा तक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गई थी, मकान के लकड़ी के खम्भे भी काट दिये गये थे। एक गाव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहा गाव में न एक घडा था और न एक रस्सी जिससे लोग कुए से पानी निकाल कर प्यास बुझा सकें। """जुर्माने की अच्छी-अच्छी रकमों की वसूली में घर वालों के साथ ज्यादतिया की जाती, एक के बदले दस का माल बरामद किया जाता।"[2] इस काल में सत्याग्रहियों को जो बात सबसे अधिक खलती थी वह थी बनाये हुए नमक का छीना जाना क्योंकि गाधी जी ने कह दिया था कि सम्प्रति भारत का सम्मान एक मुट्ठी नमक में निहित है और सचमुच नमक से भरी हुई सत्याग्रहियों की मुट्ठी वह वज्र की मुट्ठी हो गई जिसे खोलने में महान ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति पसीने-पसीने हो गई पर खोल न सकी। वह भारत के सम्मान की ही तरह अक्षत रही। गाधी जी ने जो नमक उठाया था उसे एक डाक्टर कनुगा ने १६०० रुपये में खरीद लिया था। विधान परिषदों के अनेक सदस्यों ने सदस्यता से त्यागपत्र दे दिये जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम विट्ठलभाई पटेल का है। कांग्रेस अवैध घोषित कर दी गई। उसके दफ्तरों को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया। लुई फिशर ने लिखा है, "१६३० में गाँधी

१—'बापू के कदमों में', पृ० १५४।

२—"आत्म-कथा" पृ० ४०२।

की जाती थी। इस प्रवृत्ति से जमींदार और पुलिस एक ब्युश के नीचे आ गये थे। ये जमींदार और तालुकदार प्राय पूर्णरूपेण बुद्धिहीन होते थे फिर भी अपने को 'मालिक', 'माई-बाप' और सरकार समझते थे। ये सरकारी अफसरों के पैर अपने सिर पर रखते थे और अपने पैर आधीन कर्मचारियों और किसानों के सिर पर। कांग्रेस की शिक्षा के परिणामस्वरूप मुकदमेबाजी कम हो गई। किसानों की अपनी पंचायतें बनने लगीं। अहिंसा के प्रचार के कारण किसानों ने हिंसात्मक कार्यवाही प्राय नही की। फिर भी वे इतने साहसी हो गये थे कि एक किसान ने एक जमींदार को सबके सामने इसलिये थप्पड मार दिया था कि वह अपनी पत्नी के लिये अनैतिक और असहनशील था। इस घटना का उल्लेख जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'आटो' बायोग्राफी' के ५८वें पृष्ठ पर किया है। बिना सिखाये झुण्ड के झुण्ड किसान बिना टिकट सफर करने लगे। लाखों की संख्या मे लोग कचहरी जा कर अपने नेताओ को छुडाने मे, सजा कम कराने मे और मुकदमों को जेल के ही भीतर करवाने मे सफल हो जाते थे। यह सब देख कर सरकार चौकन्नी हो गई। उसने सोचा कि ऐसे शासन नही चलेगा। ऐसे ही प्रश्न को लेकर राय-बरेली मे लोगों को गोलियों से भून दिया गया। चरखा प्रतीक बन गया। चूंकि चर्खा कृषकों मे लोकप्रिय था इसलिये सरकार उसे पकड पकड कर जलाने लगी। हजारो गिरफ्तारियाँ हुई। बहुत लोग सजाएं काटते काटते दुनियाँ से चल बसे। यह पूरे का पूरा चित्रण जवाहरलाल नेहरू को 'आत्म कहानी' के आधार पर प्रस्तुत किया गया है जिसे पढ कर ऐसा लगता है कि राष्ट्र अपने जन्म सिद्ध अधिकारो की प्राप्ति और उसके लिये संघर्ष करने को तन कर और जम कर खड़ा हो गया था। इस वातावरण मे लोगो ने अनुभव किया गांधी-इर्विन समझौता हो तो गया किन्तु सरकार की ओर से समझौते की शर्तों का पालन करने का कोई प्रयत्न नही किया गया। कांग्रेस ने आन्दोलन बन्द कर दिया था। किसी प्रकार मतभेद को समाप्त कर करा के गाधी द्वितीय गोल मेज परिषद में गये। वहा जार्ज पंचम और रानी मेरी से चप्पल, घुटनो तक की धोती, और चद्दर वाले वेश मे ही भेंट की। वहाँ गाँधी की भेंट लायड जार्ज, चार्ली चैपलिन, जार्ज बर्नार्ड शा, इरविन, स्मट्स, कैण्टरबरी के आर्च बिशप और डीन, हेराल्ड लास्की, आदि से हुई। बच्चों ने इन्हें 'चाचा गाधी', बर्नार्ड शा ने 'महात्मा माइनर, और मैडम मांटेसरी ने 'नोबुल मास्टर' कहा।

(२६) गोलमेज कान्फ्रेंसें और दमन—गोलमेज परिषद् तो एक कठपुतली का तमाशा था। उसे निष्फल होना था, निष्फल हुआ। भारत के सम्मान के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करते हुए गांधी इङ्गलैंड से खाली हाथ लौटे—समझ-

साम्प्रदायिक निर्णय—

१७ अगस्त, १९३२ को रैमजे मैकडानल्ड ने अपना 'कम्युनल अवार्ड' (साम्प्रदायिक निर्णय) घोषित किया जिसके अनुसार भारत के प्रत्येक सम्प्रदाय या वर्ग के लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र और सीटों की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था। यह भारतवर्ष की आत्मा को मानस को टुकड़ों-टुकड़ों में काट डालने का प्रयत्न था। भारत की आत्मा ने विरोध किया अर्थात् गांधी जी ने जेल में आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। दुःख एवं विषाद की काली छाया की दृष्टि से जो उस समय देश पर छा गई थी, टैगोर ने इसे 'सूर्यग्रहण' कहा था। लुई फिशर के अनुसार यह पखवारा (पक्ष) भारत के आधुनिक इतिहास का सर्वाधिक उत्तेजनापूर्ण काल था। राजगोपालाचार्य के मन में यह गुजरात की मृत्यु के समय के समान इनके अनुयायियों को पीड़ा प्रद था। गांधी जी के इस अनशन ने सबको चकित कर दिया उनकी युक्तियों को यदि एक ओर मैकडानल्ड न समझ पाये तो दूसरी ओर उनके होने वाले उत्तराधिकारी जवाहरलाल नेहरू भी न आत्मसात कर सके। २० सितम्बर, १९३२ को यह आमरण अनशन प्रारम्भ हुआ। टैगोर ने यह सम्भावना प्रकट की थी कि कदाचित् गांधी इस दांव में हार जाँय। स्पष्ट था कि इसका परिणाम था उनका देहावसान। राष्ट्र इस संभावना से थर्रा गया। हिन्दुओं ने सोचना प्रारम्भ किया कि यदि इससे कुछ अनिष्ट हो गया तो प्रत्येक हिन्दू को अपने को ही गांधी का हत्यारा समझना पड़ेगा। सबने इस स्थिति को न आने देने का संकल्प करके कार्य करना आरम्भ किया। नेताओं में विचार विनिमय हुआ। हरिजन-प्रतिनिधि अम्बेदकर को सन्तुष्ट करना था। इधर गांधी की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हो गई थी। टैगोर मिलने आये। एक एक क्षण महत्वपूर्ण था। सारा राष्ट्र स्तब्ध होकर, किंकर्त्तव्यविमूढ होकर, चिंता से जड़ सा होकर, देख रहा था प्रतीक्षा कर रहा था कि अब क्या होगा। समाचार जानने की उत्सुकता राष्ट्र को जितनी इस समय थी उससे अधिक संभवतः कभी नहीं थी। कोई भी माता अपने मरते हुए पुत्र की दशा और परिणाम जानने के लिये उतनी उत्सुक न रही होगी जितनी भारतमाता इस समय अपने इस लाल का समाचार जानने के लिये थी। कलकत्ता का कालीघाट मन्दिर, बनारस का राम मन्दिर, दिल्ली के अनेक मन्दिर प्रयाग के एक दर्जन मन्दिर, इस प्रकार हजारों मन्दिर हरिजनों के लिये भी खुल गये। बम्बई में जनता का निर्वाचन हुआ और लगभग ३०,००० लोगों ने अस्पृश्यता निवारण के पक्ष में वोट दिया। स्वरूप रानी नेहरू, बनारस के प्रिंसिपल ध्रुव, आदि ने जनता के सामने हरिजनों के हाथ से बनाया परोसा भोजन स्वीकार किया।

देश भर मे प्रस्ताव पास हुए। अनशन के प्रथम सप्ताह मे देश भर मे हरजनोद्धार की जो स्फूर्ति व्याप्त हुई और जितना काम हुआ उतना अनेक वर्षों मे अनेक समाज सुधारक भी कभी नहीं कर सके थे। गाधीकी प्रेरणा से कभी राजनीतिक महत्वाकांक्षा के कारण देश क्षकझोर उठता था तो कभी समाज सुधार की दृष्टि से सारे देश मे भयानक उथल पुथल मच जाती थी। गाधी जी ने कितनी 'ओवर हालिंग' की है !! पूना पैक्ट के बाद २६ सितम्बर को यह उपवास समाप्त हुआ। निर्मिगडन सरकार फिर भी नरम न हुई। वह इनकी लाश को जलाने का प्रबन्ध कर रही थी। २६ अप्रैल, १६३३ को इन्होंने फिर २१ दिन के उपवास की घोषणा की। ८ मई को सरकार ने इन्हें छोड़ा। यह वह दिन था जब गाधी जी का उपवास प्रारम्भ होना था। २६ मई को यह उपवास समाप्त हुआ। ६ मई को ६ सप्ताहों के लिये सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया गया था। २६ जुलाई को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ किया गया। ७ अप्रैल १६३४ को यह आन्दोलन पूर्णत स्थगित कर दिया गया। १६३४ ई० की १५ वीं जनवरी को विहार का कुप्रसिद्ध भूकम्प आया जिसके पीड़ितो की सहायता सारे देश के लोगो ने मुक्त हृदय से की थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब देश एक व्यक्ति या एक प्रान्त के दृष्टिकोण से न सोचकर समस्त राष्ट्र की दृष्टि से सोचता और अनुभव करता है। हृदय का स्पन्दन अखिल भारतीय हो गया। इस कार्य को राजेन्द्र प्रसाद जी के नतृत्व मे गैर सरकारी लोगों ने जिस ढग मे सफलता पूर्वक सपन्न किया उससे यह स्पष्ट हुआ कि भारतवासी किसी भी कार्य करने मे अक्षम नहीं हैं।

इसके परिणामस्वरूप गांधी जी ने देश की यह इच्छा प्रकट की कि राजेन्द्र बाबू राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति वनें। इस प्रकार देश राजेन्द्रबाबू के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता था। इस अभिव्यक्ति का स्वरूप कितना भव्य था इसका चित्रण राजेन्द्रबाबू ने इस प्रकार किया है, "बहुत धूमधाम से मैं बम्बई पहुंचा। जहाँ-जहाँ रास्ते में गाडी ठहरी, स्वागत का हुजूम रहा। फूलमालाओं से डिब्बा भर गया। रगबिरगी चीजें लोगों ने भेट कीं। बम्बई स्टेशन पर इतनी भीड थी कि मुझे उतार कर सवारी तक ले जाना कठिन था। लोगों ने चार घोडो की गाडी पर चढा कर मुझे जुलूस मे ले जाने का प्रबन्ध किया था जुलूस बहुत लम्बा था। शहर की तैयारी भी अनोखी थी। लोगो की भीड़ भी वैसी ही थी। तम म दूकान सजाई गई थी। जगह-जगह लोगो ने सुन्दर मेहराबें बनाई थीं। बाजार मे जहाँ जिस चीज की मुख्यता थी, वहाँ उसी चीज की प्रधानता सजावट और मेहराब मे नजर आती' ... मैंने सुना कि उस मेहराब मे जो बहुत ही विशाल थी लाख रुपये से अधिक की

(रुई की) गाँठें लगा दी थीं। रास्ते भर मे अनगिनत स्थानों पर लोगों ने फूल, माला, अ रती इत्यादि से स्वागत किये। न मालूम कितनी ही चीजें भेंट देते गये। गाड़ी चीजों से बिल्कुल भर गई थी' ......जुलूस मे प्राय. तीन घन्टे से अधिक लगे।'[1] १६३४ से १६३६ तक देश ने गांधी जी के नेतृत्व मे हरिजनोद्धार, ग्रामोद्योग, चर्खा, स्वास्थ्यप्रद भोजन स्वास्थ्य गो-सेवा, ग्राम स्वातन्त्र्य और ग्रामोद्धार, राष्ट्रभाषा हिन्दी, लघु उद्योगों की प्रधानता, औद्योगीकरण के दोष, रचनात्मक कार्यक्रम, आदि पर ही जोर दिया।

(२८) प्रथम चुनाव —कांग्रेस के १९३३ के दिल्ली वाले अधिवेशन मे एक बात यह स्पष्ट हो गई कि अब कुछ लोग फिर इस सत्याग्रह के कार्य क्रम से असन्तुष्ट होकर चुनावों मे भाग लेकर सरकार के भीतर घुस कर काम करना चाहते हैं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, यह खेद के साथ लिखना पड़ता है कि चुनावों के अनुभव ने मुझे यह मानने पर मजबूर कर दिया है कि बहुतेरे कांग्रेसी कार्यकर्ता अपनी सेवाओं का मूल्य आंकने लगे हैं। उसके बदले मे कुछ न कुछ खोजने लगे हैं, चाहे वह असेम्बली या कौंसिल की मेम्बरी हो चाहे वह जिला बोर्ड या म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्यता या कोई दूसरा पद हो, चाहे और कुछ न हो तो कांग्रेस कमेटियों के अन्दर ही कोई प्रतिष्ठा और अधिकार का स्थान हो।'[2] अखिल भारतीय स्वराज्य पार्टी फिर से जीवित हुई। १९३४ मे भारत सरकार के १९३५ वाले ऐक्ट का विवरण प्रकाशित हुआ। कांग्रेस इसको पूर्णतः अस्वीकार करने के पक्ष मे थी। जिना इसके प्रान्तीय सरकारों वाले भाग मात्र को स्वीकार करने के पक्ष मे थे। यही हुआ। इसका संघीय भाग कभी भी कार्यान्वित न हुआ। १९३६-३७ मे प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के लिये चुनाव हुए। कांग्रेस और लीग दोनों ने भाग लिया। आम निर्वाचन क्षेत्रों मे कांग्रेस की बहुमत से विजय हुई। साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों मे लीग जीती। मद्रास, बिहार उड़ीसा, मध्य प्रान्त, संयुक्त प्रान्त, बम्बई और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त मे कांग्रेस के मन्त्रि मडल बने। सिन्ध और आसाम मे संयुक्त मन्त्रि मडल बना। कांग्रेस ने उन प्रान्तों मे, जहां उनका स्पष्ट बहुमत था, लीग के साथ मिलकर मन्त्रि मडल बनाना इनकार कर दिया। यह एक बड़ी भारी ऐतिहासिक भूल थी जिसका परिणाम बड़ा भयानक हुआ। सरकार वैसे ही मुसलमानों को भड़काना चाहती थी, उसके संकेतों पर चलने वाले स्वार्थी लोग भी इस आग को भड़काये रखना चाहते थे, कांग्रेस की इस भूल ने भी यह अवसर दिया कि लोगों मे यह भावना भर दी जाय कि

१ 'आत्मकथा', पृ० ४८०-४८१

२—"आत्मकथा" पृ०५२८।

आजादी पाने पर हिन्दू-प्रधान कांग्रेस मुसलमानों को इसी तरह दबाकर रखेगी। इस्लाम खतरे में है। मुसलमान सचमुच सशंक हो गया और चिढ़ गया। इस मनोवृत्ति के दुष्परिणाम से आज तक भारत भुगतता आ रहा है। साम्प्रदायिकता की आग पूरी तरह से जला ली गई। जो मुसलमान कांग्रेस में थे उन्हें जातिद्रोही और कांग्रेस के हाथ की कठपुतली कहा गया। लीग ने अपने को मुसलमानों का एक मात्र प्रतिनिधि घोषित किया और सामान्य मुस्लिम जनता ने निर्वाचनों के समय इसी घोषणा की पुष्टि की। अस्तु, मंत्रि मंडल बने। जहां तक हुआ कांग्रेसी मंत्रियों ने असाधारण परिश्रम योग्यता, कुशलता और धैर्य के साथ काम किया। १९३६-३७ तक देश जहां तक प्रगति कर गया था वहां पहुंच कर इस बात की आवश्यकता होनी स्वाभाविक थी कि चूं कि निकट भविष्य में भारतवासियों को शासन संभालना ही है अतः उसका भी एक अनुभव हो जाना चाहिये। १९३५ के ऐक्ट ने यह अवसर दे दिया। इसकी उपलब्धियों के विषय में विचार करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि नए ऐक्ट से कोई भी लाभ नहीं हुआ।[1] हां, मनोवैज्ञानिक परिवर्तन असाधारण हुआ सारे देश में चेतना की एक लहर दौड़ गई। शहर की अपेक्षा देहातों पर यह अधिक पड़ा। शहरों के औद्योगिक केन्द्रों के मजदूरों में भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक इस ढंग की भावना थी मानों जनता को कुचलने वाला बहुत बड़ा बोझ हट गया हो और बहुत आराम-चैन मिले। बहुत समय से दबी हुई सामूहिक शक्ति को मुक्ति मिली। कम से कम कुछ समय के लिये पुलिस और खुफिया विभाग का डर गायब हो गया। गरीब से गरीब किसान में भी आत्म सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना बढ़ी। उसे पहली बार अपने महत्व की अनुभूति हुई। उन्होंने समझा कि वे सरकार के निर्माता हैं। सरकार का आतंक कम होगया। जैसे एक बार रूस की कोई सामान्य बुढ़िया ज़ार को देखकर चिल्ला पड़ी हो— "अरे! यह तो हमीं लोगों की तरह एक आदमी है"—वैसे ही जनता ने कौतूहल के साथ देखा कि सरकार कोई अनजान दैत्य नहीं है। जिनको हमने देखा है, जाना है, जिनके साथ रहे हैं, और जो हम-जैसे ही हैं वे ही सब सरकार हैं। साथीपने का भाव पैदा हुआ। वह रहस्यमय प्रान्तीय सेक्रेटेरियट जहां कोई पहुंच नहीं सकता था, झांक नहीं सकता था, क्योंकि चेतना को आतंकित कर देने वाला रोबदार पहरा वहां था, जहां से ऐसी आज्ञाएं निकलती थीं जिनको कोई चुनौती नहीं दे सकता था अब वहां अचानक ही झुंड के झुंड लोग घूम रहे हैं। जहां चाहते हैं, घूमते हैं। मिनिस्टर का कमरा झांका। पुरानी मशीनरी हट गई। पुरानी कमेटियां बेकार पड़ गईं। यूरोपीय पोशाक का अब कोई महत्व—

१— 'डिस्कवरी आफ इण्डिया'- पृ० ३७३-३७४।

नहीं रह गया था। असेम्बली के मेम्बरों और शहर-देहात से आये हुए आदमियों में पहचान करना कठिन हो गया।

(२९) द्वितीय महायुद्ध — ऐसे वातावरण और मनो विज्ञान की सृष्टि करके कांग्रेस के प्रथम मन्त्रिमंडल फिर १९३९ में बाहर आ गये क्योंकि १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होगया था और सरकार ने भारतवासियों की राय लिये बिना ही भारत को युद्ध में घसीट लिया था। यह भारत का घोर अपमान था। उसकी पराधीनता का द्योतक था। कांग्रेस का दृष्टिकोण यह था कि द्वितीय महायुद्ध और उसके साथ भारत के सम्बन्धों की रूपरेखा का निर्णय स्वयं भारतीयों के द्वारा किया जाना चाहिये। क्रियात्मक रूप से अंग्रेज का कथन था— 'तुम गुलाम हो। तुम्हें स्वतंत्र रूप से निर्णय करने का क्या अधिकार हम तुम्हारे शासक हैं। हम जो निर्णय कर दें वही तुम्हारा निर्णय।' फिर वही आजादी और गुलामी का प्रश्न। फिर वही संघर्ष अनिवार्य होगया। और, इसकी अनिवार्यता का जन्म और उसका अनुभव तो उसी समय हो गया जब इंगलैंड के भाग्य विधाता के रूप में भारतीय स्वतंत्रता का सबसे बड़ा शत्रु चर्चिल वहां का प्रधान मंत्री बना। इस संघर्ष का रूप गांधी के द्वारा कल्पित, इसका उपयुक्त समय परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित और इसकी व्यवहारिक रूपरेखा अंगरेज और उनके पिट्ठुओं द्वारा निर्मित होनी थी। इस युग में भारतवर्ष के अन्दर परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों और विरोधी शक्तियों का विकट टकराव होगया।

(३०) नाटक की चरम सीमा — १९०० से १९४० ई० के बीच भारतवासियों के रंगमंच पर विधाता जो नाटक खिलवा रहा था उसकी चरम सीमा १९४० से १९४५ ई० की अवधि में अभिनीत हुई। इस अवधि में भारत के अन्दर भारतीयों को विकट चिन्तन और मनन करना पड़ा, विकट तनाव और असामान्य उत्तेजनाओं का अनुभव करना पड़ा और मरणान्तक कष्ट उठाने पड़े। इस अवधि के भारत का न गरीब प्रसन्न था, न अमीर, और न अंगरेज ही। और, चिढ़, खीझ और असहायता की विकटतम चुभन प्रताडित किये थी। भारत के रंगमंच पर प्रत्येक प्रवृत्ति अपनी पूर्ण क्षमता और कुशलता से खुलकर खेली। स्वातन्त्र्य मनोवृत्ति का संघर्ष गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति से हुआ, क्रान्तिकारी प्रवृत्ति वालों का संघर्ष पराधीनता-प्रियता से हुआ, राष्ट्रीयता का संघर्ष साम्प्रदायिकता से हुआ, मानवता-प्रेमियों का संघर्ष एकमात्र स्वार्थप्रेमियों से हुआ, उदारता और परिवर्तनशीलता का संघर्ष कट्टरता और हठवाद से हुआ, अमृत की संजीवनी तरलता का संघर्ष चट्टान की जड़ कठोरता से हुआ, प्रेम का संघर्ष कूटनीति से हुआ। एक ओर अंगरेज था, एक ओर

चर्चिल था, एक ओर पुराने मेम्बर और राजभक्त जमींदार और ताल्लुकदार, आदि थे, एक ओर जिना और उनके अनुयायी थे, एक ओर कम्युनिस्ट थे, एक ओर गुले-छिपे, छोटे-बड़े, सफेद और काले गुन्डे थे, और इन सबके बीच में खड़ा था प्रदीप्त भाल एवं सस्मित आननवाला ७० वर्षीय वृद्ध-७० वर्ष का अभिमन्यु जो अन्ततोगत्वा मारनेवाला क्यों द्रौपदी की सेना करते-करते शहीद हो ही गया। अब तक अंगरेज यह जान गया था कि उसे अब भारत में अधिक दिनों तक नहीं रहना है। लुई फिशर ने लिखा है कि वायसराय की परिषद् के होम मेम्बर सर रेजिनाल्ड मैक्सवेल ने उनसे कहा था कि युद्ध की समाप्ति के दो वर्षों के बाद ही अंग्रेज भारत से चले जायेंगे। स्वयं वायसराय ने भी ऐसी ही धारणा प्रकट की थी।"[१] आश्चर्य होता है कि इतना सब जानते हुए भी अंग्रेजों ने भारत में इतनी खून-खराबी होने दी। चर्चिल-एमरी-लिनलिथगो ने यदि थोड़ी भी उदारता और समझदारी से काम लिया होता तो १९४२ का आन्दोलन न होता, और वेवल-माउन्टबेटन की सरकार के लोग यदि ईमानदारी, सच्चाई, निष्पक्षता और तत्परता से काम करते तो न बंगाल का अकाल पड़ता और न आई० एन० ए० होती, न कलकत्ता-काण्ड होता, न नोआखाली-काण्ड, न बिहार-काण्ड होता, न गढ़मुक्तेश्वर-काण्ड, न लाहौर काण्ड होता, न अमृतसर और रावलपिंडी-काण्ड। ये राजसत्ता पर अधिकार जमाये थे किन्तु जब युद्ध सम्बन्धी कार्य करने का मौका आता था तब "हम तो अब जाने वाले हैं, हम क्या करता है" वाली मनोवृत्ति दिखाते थे। एक बार भी ऐसा न किया कि जिस मन्त्रिमंडल जिस सभा, जिस वर्ग एवं जिस व्यक्ति का दोष होता उसे सबक सिखा देते। उदासीनता दिखाकर, उनका महत्व स्वीकार करके, इन्होंने सदैव उनको प्रोत्साहित किया। इन सबके पीछे चर्चिल था। जिना शायद आखिरी समय तक तैयार न होता यदि उसे माउंटबेटन ने चर्चिल का गुप्त पत्र अपने भवन में आधी रात को अकेले में न दिखाया होता। सब उसी के हाथ में था। वही भारतशत्रु था। विधि की विडम्बना, लीलामय की लीला, कि भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के लिये जब पांच वर्ष रह गये तब भारतीय स्वतन्त्रता के सबसे बड़े शत्रु को भारत पर राज्य करने, मनमानी करने और भारतीय स्वतन्त्रता के निर्माताओं पर अमानुषिक अत्याचार कर सकने का अबाध एवं अगाध अधिकार मिला। कौन जानता है कि भारतीय स्वतन्त्रता को भारतीयों के निर्दोष रक्त से इतने भीषण रूप में भीगा हुआ देखकर भी चर्चिल और जिना को तृप्ति मिली या नहीं!! युद्ध के प्रथम चरण में सरकार ने यह घोषणा की कि केन्द्र में सब-सरकार की योजना भंग कर दी गई। लीग ने

१ – "दि लाइफ आफ महात्मा गांधी, द्वितीय भाग, पृ० १४७।

यह मांग की कि उसकी सहमति के बिना भारत का कोई भी संविधान स्वीकार न किया जाय। १६४० में उसकी यह माग स्वीकृत घोषित की गई। काग्रेस ने यह माग की कि भारत को स्वतत्र राष्ट्र घोषित किया जाय और वर्तमान समय मे इस पद का यथासभव अधिकतम अ श तक विस्तार किया जाय।

वायसराय ने घोषित किया कि युद्ध के पश्चात् सारी सवैधानिक योजना पुन प्रचलित की जायगी और युद्ध काल मे एक सलाहकार समिति नियुक्त की जायगी जिसमे भारत के विभिन्न वर्गों को प्रतिनिधित्व दिया जायगा। काग्रेस मन्त्रि-मण्डलो ने त्याग पत्र दिया और जिना ने सारे भारत मे 'मुक्ति दिवस' मनवाया। १६४० म जिना ने पाकिस्तान की माग की। उधर हिटलर विजय पर विजय प्राप्त करता जा रहा था। गाधी जी ने यह कहा कि हम ब्रिटेन के विनाश मे अपनी स्वतन्त्रता नही खोजते, उनके साथ हमारी नैतिक सहानुभूति है किन्तु सक्रिय सहायता स्वतन्त्रता की घोषणा के बिना असम्भव है। काग्रेस ने कहा कि यदि स्वतन्त्रता का आश्वासन मिल जाय तो हम हर तरह से सहायता करेगे। सरकार ने इस पर कोई ध्यान न दिया और १६४० म सुभाष बोस गिरफ्तार कर लिए गये। दिसम्बर, १६४० म व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। दिसम्बर, १६४१ मे जापान भी युद्ध मे कूदा। उसकी सफलताओ ने सबको चकित कर दिया। अगरेज बुरी तरह से हारने लगे। १६ मार्च, १६४२ को रगून भी जापान के अधिकार मे आ गया। अब युद्ध भारत के द्वार पर आ गया था। उधर उत्तरी अफ्रीका म धुरी राष्ट्रो की विजय-वाहिनी का स्वागत अरब सागर करने को तैयार होने लगा। अफ्रीका मे प्रायः तीन चौथाई भाग धुरी राष्ट्रो के अधिकार मे आने की सभावना हो गई। भारतियो का अग्रेजो पर से विश्वास उठ गया। जन भावना थी कि यह तो होशियारी से पीछे हटना मात्र जानते हैं। बर्मा से भाग कर आये हुए भारतीय अगरेजो की वीरता के कारनामे विन्स-दिलस कर सारे देश मे फैला रहे थे। जब भारत पर जापान का आक्रमण होगा तब ये अगरेज भारत की सम्पत्ति और उसके साधनो को नष्ट भ्रष्ट करते हुए पीछे हटते हटते भारत जापान को सौप देगे। भारत विनाश की यह लीला भारतीय चुपचाप दर्शक बने देखते रहें क्या! अन्तर्राष्ट्रीय दबाव पडने पर क्रिप्स सवैधानिक सुधारो की एक नई योजना लेकर भारत आये और चर्चिल की दुर्नीति के कारण सफलता की पहली सीढी पर पहुँचते-पहुँचते असफल होकर वापस लौट गये। उनके जाने पर सारी आशाएँ समाप्त हो गई। फिर वही भय, आशका, अनिश्चय और सनसनी का वातावरण हो गया। जापानी आक्रमण की सभावनाएँ बढती जा रही थी। एक विकट प्रश्न उपस्थित हो गया। यह दिखाई पड़ने लग गया था कि अग्रेज भारत को नही बचा

सकते। जनता का सकल्प ही भारत को बचा सकता है। समय नाजुक था। कांग्रेस के लोग अथवा कोई भी यदि ऐसी बात कहता जिससे युद्ध-सचालन मे बाधा पडती, तो वह विद्रोही घोषित किया जाता। देश की रक्षा के लिए कोई भी स्वतन्त्र उपाय सोचा नही जा सकता था। सरकार अब भी भारत को अपनी सम्पत्ति के रूप मे ही देखना चाहती थी। वह जापानियो को भले ही न दबा सके किन्तु उसके पास इतनी शक्ति थी कि भारत की राष्ट्रीयता को पीस दे—कम से कम वह तो नही सोचना चाहती थी। महात्मा गाधी जो देश को भारत की रक्षा का भार उठाने की चेतावनी दे रहे थे। भारत समझता था कि इस बार चूका तो न मालूम कब तक के लिए गया। भारत की आत्मा ने माग की कि अगरेजो! "भारत छोडो" और चले जाओ। भारत की तमस् प्रवृत्ति ने कहा, "भारत को बाट दो और चले जाओ।" कांग्रेस ने गाधी जी को अपना निर्देशक मान लिया और ८ अगस्त को गाधी जी ने भारत से कहा कि अब से भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र समझे। आगे आखिरी और सबसे भयानक एव निर्णयात्मक सघर्ष होना है किन्तु उसकी रूपरेखा मैं बाद मे बताऊँगा। पहले वायसराय से मिलूँगा। सरकार ने "पहले हमला कर दो" वाली नीति अपनाई। सुबह होते होते सरकार ने नेताओ को गिरफ्तार कर लिया। जनता समझ नही पाई कि क्या करें। तभी एमरी के एक वक्तव्य ने उसे तोड फोड का कार्यक्रम सुझा दिया। इस प्रकार "भारत छोडो" आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। ऐसा लगा कि जैसे किसी ने दबी हुई स्प्रिंग को छोड दिया हो। शहरो मे धूम मच गई। जुलूस निकले। सरकारी इमारतो पर राष्ट्रीय झण्डे फहराये गये यद्यपि इस कार्य मे न मालूम कितने वीर बालक और युवक गोलियो से भुन गये। कचहरियो को बन्द कर देना पडा। सवारियो का चलना मुश्किल हो गया। धडाधड गिरफ्तारिया होने लगी। जेलो मे जगहो की कमी हो गई। कैम्प जेलें बनाई गई। स्कूल, कालेजो, और विश्व विद्यालयो के छात्रो ने जुलूस निकाले और गोलिया खा-खाकर पुलिस के सामने स्वातन्त्र्य-भावना की आन-और शान रक्खी। जनता काबू से बाहर हो गई। फौज और पुलिस की मदद ली गई। तारें काटे गये। थाने जलाये गये। रेल्वे स्टेशनो, बसो, डाकखानो आदि को आग की लपटो की भेंट कर दिया गया। रेल की पटरिया उखाड डाली गई। रेलवे लाइन के आसपास के गावों का असाधारण विपत्तियो और सामूहिक जुर्मानो से सरकार ने तबाह कर दिया। स्टीमरो का चलना बन्द हो गया। सडको पर बडे-बडे पेडों को काट कर गिरा दिया गया। पुलो को भी तोडने का प्रयत्न किया गया। कही-कही से ब्रिटिश राज्य समाप्त कर दिया गया और स्वतन्त्रता घोषित कर दी गई। सरकार ने गोलियो की वर्षा कर दी। फौज ने अपने आने-जाने के रास्ते मे पडने वाले गावों को तहस-नहस कर डाला। गावो मे आग लगा दी गई।

भागने वालो को सगीनो से छेद डाला। बच्चो को उछाल कर सगीनो पर लोका गया। नारियो और पुरुषो पर ऐसे ऐसे अत्याचार किये गये कि दानवता भी रो उठी। सरकार के पास जापान से लडने के लिए जो सामग्री थी उसका उपयोग भारत को पीस डालने के लिए किया गया। न्याय अन्धा हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "इस आदोलन के पीछे इस उत्कट भावना की प्रेरणा थी कि अब इस विदेशी निरकुश शासन मे रहना और उसका सहन करना किसी भी भाति सम्भव नहीं है।"[1] आगे चलकर उन्होंने लिखा है "एक बार फिर वही पुराना दमन-चक्र चला। १८५७ के बाद पहली बार १९४२ मे विशाल जनता ने भारतवर्ष मे महान् अ ग्रेजी शासन को फिर नि शस्त्र शक्ति से चुनौती दी।"[2]

यह भारतवर्ष की 'फ्रासीसी क्राति' कही जा सकती है। कुछ लोगो ने इसे निरर्थक कहा है। हो सकता है कि यह मूर्खता ही रही हो किन्तु इससे देश का उत्कट स्वातन्त्र्य प्रेम नि सन्देह रूप से अभिव्यजित होता है। सरकार का दमन-चक्र तो बुझते हुए दीपक की आखिरी भडक थी—पूरे का पूरा गाव कोडो की मृत्यु पर्यन्त मार की सजा से दडित हुआ! २५००० की मौत!! १ लाख या २६ लाख का जुर्माना!!! भारत के स्वातन्त्र्य-सघर्ष के इतिहास म "भारत छोडो" आन्दोलन एक बहुत ही महत्वपूर्ण मोड है। यह एक नारा ही नही बल्कि आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये सघर्षशील भारत की आत्मा का सबल सिंहनाद था। इसको अधिकारियो ने कुछ समय के लिये दबा जरूर लिया था किन्तु इस आंदोलन ने जिस भावना जिस आवेश को प्रबुद्ध कर दिया था वह निरन्तर गतिशील रहा। राजनीतिक बुद्धिमत्ता के अनुमान को तपस्वी की अन्तरात्मा ने एक बार फिर गलत कर दिया। उसकी भविष्य वाणी सही सिद्ध हुई। पाच ही वर्षो के अन्दर अंगरेजो को भारत छोडने का कार्यक्रम स्वय बनाना पडा। बन्दी गाधी स्वतन्त्र भारत की आत्मा का प्रतीक बन गया। जो गाधी जापानियो के आक्रमण के प्रतिकार की प्रेरणा से सक्रिय हो रहा था उसे अ गरेज सरकार ससार के सामने जापानियो पिट्ठू और देश के पाचवें दस्ते के रूप मे रख रही थी। दक्षिण अफ्रीका फील्ड मार्शल स्मट्स तक ने इस मनोवृत्ति को "शीयर नानसेन्स" (मूर्खता मात्र) कहा था। अ ग्रेज काग्रेस और गाधी को इस आदोलन का उत्तरदायी ठहरा रही थी। इस पर "भगवान का निर्णय" प्राप्त करने के लिये गाधी ने २१ दिनो का उपवास किया जो चिन्ताजनक स्थिति पर पहुंच कर भी सफलता पूर्वक समाप्त हो गया। अ ग्रेज

१—'दि डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ० ४५१।

२—"दि डिस्कवरी आफ इण्डिया", पृ० ४६६।

इस उपवास के अन्त मे भी गाधी को न जला सके। सारी तैयारिया बेकार हो गई। इसी समय बर्नार्ड शा ने कहा था कि हमारे इस काम से हिटलर के विरुद्ध हमारे अभियान की सारी नैतिकता खोखली पड जाती है। इस अवसर पर देश ने गाधी के स्वास्थ्य और जीवन के प्रति जो जिज्ञासा, जैसी उत्सुकता, जैसी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की उससे अगरेजो को कुछ समझ जरूर आई होगी। इस १६४३ म बगाल को अग्रेजी राज्य की एक और देन मिली। यह देन थी १६४३ का अकाल जो सरकार की दुर्नीति के परिणामस्वरूप थी। इसने यह सिद्ध कर दिया कि भारत मे अगरेजो के अतिरिक्त अभी एक ऐसा वर्ग भी है जो भोगवासना और सम्पत्ति की कामना की पूर्ति के लिये भारत की निरीह जनता को भयानक से भयानक विपत्ति मे पाकर भी अपनी लाभ और लोभवृत्ति को छोडने के लिये तैयार नही। जब मानव वमन के अन्दर से भी अनाज के कण पाने के लिये कुत्तो से लड रहा था, जब एक मुट्ठी चावल के लिये पिता अपनी पुत्री के शुष्क शरीर को भी सेठो की जहरीली आग मे झोंकने को मजबूर था, जब भोजन के लिये मा-बेटे मे चोरी होती थी, जब अशक्त पिता के सामने अशक्त पुत्र की आख कौवे निकाल ले जाते थे और पत्नी का शरीर कुत्ते और सियार काट-काट कर खाते थे तब ये नर राक्षस अपनी कोठियो और खत्तियो को चावल के बोरो से, तिजोरियो को सिक्को और नोटो से, और मन को नारकीय उत्तेजनाओ से भरते जा रहे थे। इस युग के भारत का चित्रण रामकुमार वर्मा ने इस प्रकार किया है, 'वस्त्र के लिये हमने अपना व्यक्तित्व दे दिया है, अन्न के लिये हमने अपनी आत्मा बेच दी है.. .. जहा आत्मा के ऊपर भूखा शरीर बैठ गया है, जहा क्रय-विक्रय के काटो पर रूप और शृङ्गार तुल गया है, वहा ऐसी परिस्थितियो मे मानवता कराह रही है"। [1] भारत की आत्मा तड़प उठी। अगरेजो के दमन से रक्त-स्नान, आहत भारत ने पूरी निष्ठा, सहानुभूति और उदारता के साथ पीडितो की सहायता की। ऐसे समय मे चर्चिल एमरी की झूठ और मक्कारी ने अगरेजों की शराफत और ईमानदारी पर से हमारा विश्वास हिला दिया। बगाल का आर्थिक ढाचा ढह गया। सारे भारत मे जो हो रहा था उसी का भयानक रूप बगाल मे अभिव्यक्त हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१ वे वार्षिक अधिवेशन मे साहित्यसभापति-पद से भाषण करते हुए उक्त विद्वान ने कहा, था, "... आज के जीवन की असुविधाओ ने तो उसे मानसिक भोजन की अपेक्षा शारीरिक भोजन की ओर अधिक यत्नशील बना दिया है। युद्ध की लपटो मे हमारी आवश्यकताए और भी तृपित हो उठी हैं"। इसी बीच भारत म अमेरिका की सेनाए आई। इनके

१—"विचार दर्शन', पृ० १५३।

अमरीकी सैनिक ब्रिटिश नौकरशाही के रग-ढग और चाल-ढाल से अपरिचित थे। ये जिस मुक्तभाव से अपने देश मे रहते थे वैसे ही भारत मे भी रहने लगे। व्यवहार मे किसी प्रकार का-ऊँच और नीच का, शासक और शासित का, गरीब-अमीर का तथा देशी-विदेशी का चुभने वाला भेद-भाव नही। सरकारी रोब-रुतबे को इसके कारण भी बड़ा धक्का लगा। अक्तूबर, १९४३ मे लिनलिथगो गये। वेवल आये और देखा कि नेताओ के सहयोग के बिना असतुष्ट और दुर्भिक्षग्रस्त भारत से सहयोग नही प्राप्त किया जा सकता। गाधी जी बिना शर्त छोडे गये। जेल से छोडे जाने पर गाधी जी का स्वागत जिस भारतवर्ष ने किया वह दीन-हीन पीडित अवश्य था किन्तु अपराजेय रहा। सरकार का दमन पूरे जोरो पर था। छिपे हुए कुछ कार्यकर्त्ता अब भी "भारत छोडो" आदोलन चला रहे थे। राजनीतिक तनाव और गतिरोध बना हुआ था। गाधी जी ने जिना से बातचीत करके साम्प्रदायिक समस्या का कुछ हल निकालना चाहा किन्तु सफलता न मिली। वेवेल कुछ राजनीतिक हल निकालने को कटिबद्ध थे। उन्होने धीरे-धीरे नेताओ को छोडना प्रारम्भ किया। इन छूटे हुए नेताओ का स्वागत जनता ने जिस असाधारण उत्साह-प्रदर्शन के साथ किया वह इस तथ्य का द्योतक है कि अग्रेजो ने जिस भावना को दबा रक्खा है वह भावना तूफानी नदी है। जिस दिन उभरेगी उस दिन साम्राज्यवाद बह जायगा। जापानी आक्रमण का भय समाप्त हो गया। इसी वर्ष आजाद हिंद फौज के तीन बन्दियो पर दिल्ली के लाल किले मे मुकदमे चले। इसी प्रसग मे सुभाष बोस के उन प्रयत्नो पर भी प्रकाश पडा जो उन्होने जर्मनी और जापान मे भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये किये थे। आजाद हिंद फौज उसी का परिणाम थी। पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है, "भारत मे ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसका दिल फौज के रोमाचकारी अनुभवो तथा साहसिक कार्यों को जानकर हिल न उठा हो। जज, एडवोकेट की अदालत मे जिन घटनाओ का बयान किया जाता था उन्हे भारत की साक्षर जनता बडी ही उत्सुकता से नित्य ही पढती थी और निरक्षर जनता बडी उत्सुकता से सुनती थी। इन मुकदमो का विवरण सुनने के लिये निजी तथा सार्वजनिक रेडियो के आसपास भीड लगी रहती थी .. एक समय तो ऐसा जान पडता था कि कर्नल शाहनवाज, कर्नल सहगल और कर्नल ढिल्लन की ख्याति राष्ट्रीय नेताओ की ख्याति को भी ढक लेगी.. . अहिंसात्मक लडाइयो की याद धुधली बना देगी [1]।" गाधी ने देश की राजनीतिक निराशा एव अवसाद को समाप्त किया और आजाद हिंद सेना के मुकद्दमो ने फिर से उत्साह उमग को उत्तेजना दी। वेवेल के प्रयत्नो ने अंगरेजो के

१—"काग्रेस का इतिहास", पृ० ५३९—५४०।

प्रति व्याप्त असतोष और क्षोभ को कम कर दिया। जुलाई, १९४५ मे इगलैंड में अनुदार दल हार गया और चर्चिल एमरी का स्थान एटली पैथिक लारेन्स ने लिया। ग्रहण काल समाप्त हुआ। आशा का सूर्य चमका। दृष्टिकोण बदला।

(३०) रक्त-रजित स्वतत्रता —इसके बाद बहुत-कुछ हुआ। अच्छा भी हुआ और बुरा भी हुआ। जो-कुछ बुरा हुआ उसका उत्तरदायित्व इगलैण्ड के प्रधान मत्री, भारत-सचिव, वायसराय और राष्ट्रीय नेताओ पर नही है। इसके लिये उत्तरदायी है सडी-गली पुरानी निकम्मी अगरेज नौकरशाही और जिना का जहरीला स्वार्थपरक अमानवीय दृष्टिकोण। काग्रेसी नेता असहाय हो गये। वे अग्रेज नौकरशाही और जिना की साम्प्रदायिकता के विष को उभारने की कलारूपी दो चक्कियो के पाट मे पिस गये। इसके बाद हमारे नेता शान्ति और मानवता के लिये तडपे। गाधी का सात्विक हृदय छटपटाया गुमराह जनता की क्रूरतम हत्याए हुई। इस निर्दोष रक्त की सरिता के बीच से कटे-छटे पाकिस्तान और बटे-कटे भारत का नक्शा उभरा। बेगुनाहो के खून से सना हुआ ताज जिना ने पहना। भारत ने उसे माउन्टबेटन को पहना दिया। इसी नारकीय दृश्य के बीच युग के सबसे बडे महापुरुष गाधी की असाधारण, अलौकिक एव तेजस्वी मूर्ति का दर्शन भी सभव हो सका। स्वतंत्रता देवी के दर्शन हुए। तभी हमारी कमजोरिया हमारे "बापू" को खा गई। प्यारेलाल ने लिखा है "सभी वर्गों और सभी प्रकार की जनता मे निजी हानि की भावना पैदा करने वाली और इतने व्यापक क्षेत्र मे दुख एव शोक की भावना उभार देने वाली किसी व्यक्ति की ऐसी मृत्यु शायद ही कभी हुई हो जैसी गाधी की हुई। भारतवर्ष के कुछ लोग तो इस दुखद समाचार के धक्के से ही मर गये और कुछ लोगो ने यह सोचकर कि अब उनके लिये ससार मे कुछ रह ही नही गया आत्म हत्या करने का प्रयत्न किया श्रीमती पर्ल बक ने यह समाचार सुनकर कहा था कि एक बार फिर ईसा सूली पर चढा दिया गया। सरदार पटेल की नीति के परिणाम स्वरूप प्राय सभी देशी रियासतें भारत मे मिल गई। आजादी पाने के बाद देश के नेता नये सिरे से भारत के पुनर्निर्माण मे लग गये। पाकिस्तान के आक्रमण के कारण काश्मीर एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया। पाकिस्तान से भागकर जान बचाकर आये हुए शरणार्थियो को फिर बसाने की समस्या सामने आई। युद्ध कालीन दमन और अनैतिकता के कारण विकृत जन-मनोवृत्ति भी एक समस्या हुई। सदियो की गुलामी से उत्तराधिकार के रूप मे मिली हुई अपनी कमजोरिया भी हैं। भयानक गरीबी, पहनने के लिये कपडे,

---

१—"दि लास्ट फेज", भाग २, पृ० ७८६।

रहने के लिये मकान, व्यक्तित्व के विकास लिये समुचित शिक्षा, राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्र भाषा, पाकिस्तान के साथ समुचित सम्बन्ध, आदि सैंकडो समस्याओ को लेकर बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत से गया। ख्वाजा अहमद अब्बास ने १९५० के युग का चित्रण इस प्रकार किया है, "हिन्दुस्तान के इतिहास की तूफानी नदी मे आज का युग आशा और सभावनाओ के जादुई द्वीप की तरह अलग खड़ा है, और इस देश की उन्नति के बडे आदोलन मे एक महत्वपूर्ण मजिल की तरह से है। तूफान और अधेरे की रात गुजर चुकी है।"[१]

आतकवादी आन्दोलन—

लक्ष्य की दृष्टि से एक-सी, भावनाओ की तीव्रता मे उससे कहीं अधिक, परन्तु साधन और कार्य प्रणाली की दृष्टि से गाधीवाद से पूर्णत भिन्न एक शानदार कहानी है उन प्रयत्नो की जो भारतवर्ष को अग्रेजो के अत्याचारो से मुक्ति दिलाने के लिये यहा के कुछ दीवाने नौजवानो ने किये थे। इन्हे किसी से कुछ लेना नहीं था, इन्होने कुछ चाहा भी नही था, कभी मागा भी नहीं— जो "स्वाहा" हो गये उन्होंने भी नही और जो आज तक जीवित है उन्होने भी कभी नही। इन्हे आत्म सम्मान की फिक्र थी। ये आजादी के दीवाने थे। इन्हे गुलामी से नफरत थी। इनका विश्वास था कि मागने से कुछ नही मिलेगा। इनका रक्त उष्ण था और ये अत्याचार को चुपचाप बर्दाश्त नही कर सकते थे। बदला लेने को बेचैन हो उठते थे। इस प्रकार के कार्यो की प्रेरणा भी हमको नवोत्थान से ही मिली। भारतीय सस्कृति के अनुसार आत्मा अमर है और मृत्यु वस्त्र-परिवर्तन मात्र है। इस तत्व ने मारे जाने का भय मिटा दिया भारत के अतीत के गौरवपूर्ण होने की धारणा और वर्तमान अधोगति का कारण अग्रेजी शासन के होने की अनुभूति ने आत्मसम्मान और अग्रेजो के प्रति असतोष की भावना को जागृत किया। राष्ट्रीयता की सर्वव्यापी भावना ने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठने की प्रेरणा दी। विभिन्न देशो के स्वतत्रता- सग्राम ने लड कर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की उत्तेजना भर दी। राणा प्रताप और शिवा जी के उदाहरण ने राष्ट्र के लिये असख्य कष्ट सहने, त्याग करने और बलिदान के लिये आगे बढने का आह्वान किया। विवेकानन्द ने कृष्ण का पाचजन्य फूका। गीता ने कहा, "क्षुद्र हृदय दौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतप"। "बन्दी जीवन" की भूमिका मे और अपनी विद्रोह भावना और विप्लववादी भावना के विकास को चित्रित करते हुए शचीन्द्रनाथ सान्याल ने इन्ही तत्वो का उल्लेख किया है।". ......भारत के इस विप्लववाद के अन्दर विवेकानन्द

१—"आज भारतीय साहित्य", पृ० ७४।

का ज्वलन्त आदर्श वर्तमान था और भारतीय विप्लवियो मे से अधिकाश इसी महापुरुष की प्रेरणा से अनुप्राणित थे... ।"[१] भारत के सन्यासी भी कितने विचित्र होते हैं। ये कभी समाज सुधार करवाते हैं तो कभी सम्राटों और साम्राज्यो के प्रति विद्रोह करवाते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने सशक्त और निर्भय होने का जो आह्वान किया उसका परिणाम यह विप्लववाद है। तिलक ने लिखा था, "यदि हमारे घर मे चोर घुस आयें और हममे उन्हे भगाने की सामर्थ्य न हो तो हमे चाहिए कि हम बिना किसी हिचक के उन्हे चादरो मे लपेट कर जीवित ही भस्म कर दें। भगवान ने भारत के राज्य का पट्टा ताम्रपत्र पर खोद कर म्लेच्छो के नाम नही कर दिया है।... कुएं के मेढक के समान अपनी दृष्टि को सकुचित मत करो। दण्ड विधान के घेरे से बाहर आ जाओ। "भगवद् गीता" की उच्चतम भूमि मे प्रवेश करो और तब महापुरुषो के कार्यों पर विचार करो।"[२] केसरी की यह दहाड़ सरकार नही सह सकती थी। तिलक को सजा हुई। उसी वर्ष रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या चापेकर बन्धुओ ने कर दी। १६०६ ई० मे मदनलाल धीगरा ने लदन मे सर कर्जन वाइली की हत्या कर दी। उसी वर्ष भारत मे मि० जैक्सन की हत्या हुई और लार्ड और लेडी मिन्टो पर अहमदाबादमे बम फेंका गया। १६०७ मे बगाल मे गवर्नर की गाड़ी उडा देने के लिये दो षड्यन्त्र किये गये। १६०८ मे मि० किंग्सफोर्ड के धोखे मे मि० केनेडी और उनकी पत्नी की हत्या हो गई। अलीपुर षड्यन्त्र भी इन्ही दिनो हुआ। बाद मे इसके सरकारी वकील और डी० एस० पी० की हत्या हो गई। १६१० मे सतारा षडयन्त्र रचा गया। २३ दिसम्बर, १६१२ को फिर वायसराय पर बम फेंका गया। १६१३ मे लाहौर के लारेंस बाग मे बम फूटा। "कोमागाटा मारु" और "तोशा मारु" जहाजों के द्वारा भारत में विदेशो से अस्त्र-शस्त्र लाने का प्रयत्न किया गया। बनारस के शचीन्द्रनाथ सान्याल और बगाल के रासबिहारी बोस ने सारे उत्तर भारत मे एक ही दिन विप्लव मचा देने का प्रयत्न किया। फिर मैनपुरी में षडयन्त्र रचा गया। राजा महेन्द्र प्रताप ने भी विप्लव कराने का प्रयत्न किया। इन क्रान्तिकारियों की पुलिस वालो से मुठभेड़ भी हुई और आमने सामने गोलियाँ भी चलीं। १६१४ मे बिलूची फौज मे गदर हुआ। १६१५ मे सिंगापुर मे भारतीय फौजो ने दगा कर दिया। नागपुर मे छात्रो ने मलका विक्टोरिया की मूर्ति तोड़ी और उसके मुख पर कालिख लगा दिया। नलिनी मोहन मुकर्जी ने जबलपुर की फौजो मे दगा कराने का प्रयत्न किया। बनारस षडयन्त्र रचा गया। १६२३ में बगाल मे शखारी टोला काण्ड हुआ और चटगाव के

१—"बन्दी जीवन", पृ० १८२।

२—'केसरी" पत्र, १५ जून, १८६७ वाला अक।

शस्त्रागार पर डाका डाला गया। चटगाँव काण्ड की जाँच करने वाले दरोगा की हत्या कर दी गई। सर चार्ल्स टेगर्त के धोखे मे "डे" की हत्या हो गई। १६२४ मे ब्रूम की हत्या करने का प्रयत्न किया गया। धन की आवश्यकता होने पर चलती ट्रेनो के खजानो पर डाके डाले गये। प्रसिद्ध काकोरी केस इसी घटना के परिणामस्वरूप हुआ। कानपुर साम्यवादी षडयत्र हुआ। छात्रो ने भी बम बनाना सीखा। बम बनाने की प्रक्रिया मे ही अनेक होनहार युवक शहीद हो गये। १६२७ मे देवघर मे और १६२८ मे मनमाड मे बमकाण्ड हुआ। लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिये साडर्स की हत्या कर दी गई। १६२६ मे लाहौर असेम्बली मे भगतसिह ने बम फेका। १६३१ मे गोली का उत्तर गोली से देते हुए जगदीश मारे गये। इसी प्रकार कानपुर मे शालीग्राम शुक्ल शहीद हुए। जलालाबाद की पहाडो पर भयानक युद्ध हुआ। १६३० मे हरिपद भट्टाचार्य ने पुलिस इन्स्पेक्टर को मार डाला। इसी साल ढाका मे मि० लोमैन की हत्या हुई। १६३१ मे टिपरा मे दो लडकियो ने मजिस्ट्रेट मि० स्टीवेंस को गोली से उडा दिया। १६३२ में वीणादास ने बगाल के गवर्नर पर गोलियाँ चलाई। प्रयाग के आजाद पार्क मे चन्द्रशेखर आजाद लडते हुए मारे गये। १६३८ मे पिपरोडीह और १६४१ मे सहजनवाँ मे ट्रेन डकैतियाँ हुई। १६४० मे लन्दन मे ऊधमसिह ने जलियाँ वाला बाग के हत्यारे डायर को गोली से उडा दिया गया। १६४२ मे बालक, युवक, वृद्ध, बालिकाओ और वृद्धाओ ने अपनी आहुतिया दी। जिस प्रकार फिरग्य के टट्टुओ ने हमारी माँओ तथा बहनो की इज्जत को बात की बात मे नष्ट करके धर दिया और अँग्रेज शायद जिसे सोच भी नही सकते थे ऐसे जघन्य अत्याचार हमारे राष्ट्रीय वीरो पर किये हैं उसे पढ कर भारत की आने वाली पीढियाँ—सदियो-सदियो खून के आँसू बहाया करेंगी—उत्तेजित हो उठा करेंगी। शहीद फुलेनाप्रसाद ६ गोलियाँ खा कर मरे। यह है एक झाँकी उन कार्यों की जो इन विप्लववादियो ने किये। इसमे आजाद हिंद फौज के और १६४२ के आंदोलनकारियो के कार्यों का उल्लेख नही किया गया है। इसकी प्रतिक्रिया मे सरकार ने वह किया जो उस जैसी सरकार को करना चाहिये था। क्रान्तिकारियो मे से मुखबिर तैयार किये गये। क्रांतिकारियो को पकडा गया। उन्हे जेलो की सख्त से सख्त सजाएँ और फाँसिया दी गई। उनके परिवार वालो को नारकीय मन्त्रणाएँ दी गई। व भूख से तडपे। जेल मे क्रान्तिकारियो ने कुछ कहा और किया तो उन पर बेंत लगे। बेत के घावो पर दवा नहीं लगाई गई बल्कि वे घसीट कर कोठरियो मे ले जाये गये। सरदियो मे कम्बल तक न मिले। हर बात पर मार पडी। मार के कारण लोगो के मल-मूत्र तक निकल पड़े। भगियो से पिटवाया गया। खाना न खाने पर मार,

बीमारी के कारण काम न कर पाने पर मार, मारकर अङ्ग-भङ्ग करना, मार से कानों का फटना, गिरा कर टांग उठा कर मारना, उल्टे टांग कर मिर्च की धूनी देना, इतना मारना कि मुंह से खून और टट्टी से खून निकलना, भयानक गालिया, मुर्गा बना कर मारना, नाखूनों में कीलें ठोकना, बर्फ की सिलो पर सुलाना, पानी न देना सोने न देना, असंख्य प्रकार की असहनीय यातनाये इन वीरो ने सहीं। न सह पाने पर अनेक मर गये। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है, 'एक-एक दो-दो करके कितने लोगो ने फांसी के तख्ते पर जान न्यौछावर कर दी, कैदखानो मे बन्दी होकर उनके कितने साथी तिल-तिल करके प्राणों की बलि देने लगे और इसके कारण कितने ही परिवार बरबाद हो गये, कितनों ही की माताएं ये सब दृश्य अधिक न सह सकी और पागल हो गई, कितनो ही के पिताओ की सरकारी नौकरी चली जाने से उनका परिवार गरीबी की चक्की मे पिस कर आश्रय की खोज में दर-दर फिरने लगा, समाज के अन्दर एक मर्मवेधी अन्तर्नाद घहरा उठा '' '' ॥''[१] इन क्रांतिकारियों की वीरता पर राष्ट्र ही नहीं, राष्ट्र के विरोधी तत्व भी मन्त्रमुग्ध थे। मन्मथनाथ गुप्त ने लिखा है, 'उसी समय वह गोरा (बोला), 'आप रोते क्यो हैं ? जिस देश मे ऐसे वीर पैदा होते हैं, वह देश धन्य है। मरेंगे तो सभी किन्तु ऐसी मौत कितने मरते है।'[२] बुडिया बालाम के किनारे यतीन्द्र के युद्ध का वर्णन करते हुए अन्त मे उन्होंने लिखा है 'इस स्वर्गीय दृश्य को देख कर पुलिस वाले रो दिये, नैतिक विजय थी। इस मुठभेड में पुलिस वाले विजयी हुए, किन्तु जब वे अपने द्वारा हराए हुए इन पाच वीरो के सामने आते हैं तो वे रो देते हैं। एक पुलिस अफसर मनोरंजन (नामक व्यक्ति) को रोक कर स्वय पानी लेने गया।'[3] इन सब कार्यों का परिणाम क्या हुआ ? निश्चित है कि इनसे भारत को आजादी नही मिली। किन्तु यह भी निश्चित है कि इन कार्यों का विदेशी शासको पर असाधारण प्रभाव पडा है, भारत की इज्जत बढी है और संवैधानिक सुधारो की प्रगति और मोर्डो को निर्धारित करने मे इनका महत्व असाधारण है।

जाति की मुरझाई हुई मनोवृत्ति पर शहीदों के खून की यह वर्षा काफी उत्तेजक साबित हुई''[४] ', यह बात बिना किसी अत्युक्ति के कही जा सकती है कि कन्हाईलाल और खुदीराम बंगाल की चेतना के अन्तरगतम स्तर मे प्रविष्ट हो गये तथा

१ 'बन्दी जीवन', भाग २, पृष्ठ २१

२. 'भारत मे सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमाँचकारी इतिहास, भाग १, पृ० ५१

३ वही, पृष्ठ १३२-१३३

४. "भारत मे सशक्त क्रान्ति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास", भा. १ पृ. ४७।

बगाल के राष्ट्रीय जीवन के उस हिस्से मे घुस गये जहाँ से उन्हें कोई नही निकाल सकता याने लोरियो मे, गानो मे, बच्चो की कहानियो मे, और जहाँ से वे राष्ट्रीय जीवन के उत्स-स्थल को मजे मे अपनी पवित्रधारा से पूत कर सकते थे"[1]........., "आखिर चिता भी जल चुकी खुदीराम की देह उसमे भस्मीभूत हो चुकी किन्तु जनता को अपने प्यारे शहीद की स्मृति प्यारी थी, वह झपटी उसकी राख के लिये। किसी ने उसकी ताबीज बनवाई, किसी ने उसको सिर से मला, स्त्रियो ने उसे अपने स्तन पर मला! एक स्वर्गीय दृश्य था, और यह क्या? हजारो आदमी एक साथ फूट-फूट कर रो रहे थे "सैकडो अखबारो के जरिये से एक दल वर्षों मे जितना जनता मे प्रविष्ट नही हो पाता ये अलमस्त एक फाँसी से एक दिन के अन्दर उससे कही ज्यादा जनता के दिल मे घर कर लेते थे।"[2] चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह भी इसी प्रकार जनता के प्यारे हो गए हैं। देश के कोने-कोने मे राष्ट्रीयता और वीरता की भावना फैला देने मे इन घटनाओ का महत्वपूर्ण योग है। ये युगान्तरकारी घटनाएँ हैं और इस अर्द्ध-शताब्दी के भारत के लिये गौरव हैं।

संवैधानिक सुधार —

इस अर्द्ध शताब्दी की अन्य उल्लेखनीय घटनाओं में विभिन्न संवैधानिक सुधारों का भी नाम आता है। ये सुधार हैं —१६०६ का (मिन्टो मार्ले), १६१६ (माटेग्यू-चेम्सफोर्ड), १६३५ का और फिर १६४७ का कानून। इन सुधारो या कानूनो की विशेषताएँ इस प्रकार हैं —(१) इनसे धीरे-धीरे भारतीयो को स्वराज्य का अधिकाधिक अधिकार मिलता गया, (२) ये समय और परिस्थिति की प्रगति की दृष्टि से सदैव कुछ पीछे ही रहे, (३) इनसे देश की जनता और उसके नेताओ को कभी भी सन्तोष नही हुआ, (४) ये नये आन्दोलनो के कारण बना करते थे और पिछले आन्दोलनो के परिणामस्वरूप निर्मित होते थे, और (५) ये राष्ट्र की प्रगति के अनुसार और अनुकूल कभी नही होते थे। इनसे जनता के जीवन का प्रत्यक्ष रूप से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। अपने नेताओ के माध्यम से जनता इनसे सम्बन्धित होती थी और उन्ही की धारणाओ और सुझावो के अनुसार इनके प्रतिकूल या अनुकूल अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रकट करती थी।

साम्प्रदायिक दंगे —

इस अर्द्ध शताब्दी की एक अन्य प्रकार की उल्लेखनीय घटनाएँ हैं साम्प्रदायिक दंगे। न इनका उद्देश्य अच्छा था, न इनके प्रेरणा स्रोत अच्छे थे, न इनके नेता अच्छे

१. वही, पृ० ५३

२. वही, पृ० ११०, ११६।

थे, न इनका स्वरूप अच्छा था, न इनके कर्ता अच्छे थे, और न इनका परिणाम अच्छा था। उद्देश्य स्वार्थ था, प्रेरक स्वार्थी थे, प्रेरणा-स्रोत प्रतिक्रियावाद और भय एवं अविश्वास था, स्वरूप कायरता से भरा हुआ और गैर शरीफाना था। कर्ता नीच और गुण्डे थे और परिणाम के रूप में युगों युगों तक चलने वाला अविश्वास तथा संघर्ष का स्थायी साधन, माध्यम अथवा स्रोत निर्मित हो गया। ऐसा क्यों हुआ ?

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने के कुछ पहले तक मुसलमानों में दो वर्ग थे, एक धनी आदमियों का और दूसरे, गरीब आदमियों का। दूसरा वर्ग भारत की सामान्य संस्कृति में घुल मिल गया था, भारत का हो गया था, और भारत के लिये हो गया था। उसके धर्म पर उसको कभी किसी प्रकार का खतरा नहीं दिखाई पड़ा। दूसरा वर्ग स्वार्थ प्रधान था और इसलिये मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों वाला वर्ग था। साम्प्रदायिक समस्या मूलतः इसी वर्ग की समस्या थी। अंग्रेजों ने जब भारत पर अपना पूरा अधिकार कर लिया तब इन्होंने उनको अपना शत्रु समझा, लुटेरा समझा, क्योंकि ये अपने को भारत का शासक समझते थे। उनसे मिलना, उनसे कुछ सीखना उनकी भाषा और उनके साहित्य का अध्ययन, आदि इन्होंने अधार्मिक कार्य समझा। नव्य सांस्कृतिक उत्थान से प्रोत्साहित हिन्दू भारतीय संस्कृति की सामाजिक प्रवृत्ति के अनुसार अंग्रेज और अंग्रेजी संस्कृति से सम्पर्क स्थापित करने लगे। सांस्कृतिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप हिन्दू आंग्ल संस्कृति सरोवर में छक-छक कर नहाते हुए भी अपने प्राचीन ऋषियों, मुनियों, महान पुरुषों और महान् विचारधाराओं में डूब डूब कर मस्त हो रहे थे। परिणामस्वरूप ज्ञान विज्ञान, समाज विकास और समृद्धि सम्पन्नता, आदि की दृष्टि से अपने मुसलमान भाइयों से आगे बढ़ गये। इधर ये भाई समझते थे कि हमने हिन्दुओं पर शासन किया है अतएव उनसे श्रेष्ठ हैं। सम्भवतः महमूद गजनवी और औरंगजेब के कुकृत्यों के स्मरण ने इन्हें स्वयं इस योग्य न रखा कि वे हिन्दुओं की उदारता पर विश्वास कर सकें। अंग्रेजों से शत्रुता और घृणा तथा हिन्दुओं के प्रति अविश्वास और ईर्ष्या उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के मुसलमानों की मनोवृत्ति हो गई। नवोत्थान के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में राष्ट्रीयता की जो मनोवृत्ति उपजी उसकी बाह्य रूप रेखा का धार्मिक अर्थात् हिन्दुत्व प्रधान होना अनिवार्य था। इससे भी मुसलमान भाई कुछ सशंक हुए कि अगर अंग्रेज चले गये तो हमारा क्या होगा ! मुसलमान भाई क्या करें ? धर्म परिवर्तन से किसी की पैतृक ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ नहीं टूट जातीं, यह एक सत्य है परन्तु यह सत्य इन भाइयों की पकड़ में न आया। इसमें उन्हें इस्लाम के लिये खतरा दिखाई पड़ा यद्यपि था नहीं। वे कट चले। मुगल और अफगान युग में उन्होंने ढूँढा लेकिन केवल उतने से रिक्तता न भर

सकी। तत्पश्चात् इस्लाम के व्यापक इतिहास पर गौर फरमाया गया। धार्मिक आग्रह राष्ट्रीयता का तिरस्कार कर गया और भारतीय मस्जिदों में टर्की के सुल्तान का नाम आदर के साथ लिया जाने लगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सन्तोष मिला जो प्रथम महायुद्ध के बाद कमाल पाशा ने पूर्णतः विनष्ट कर दिया। अपनी कमी का अनुभव करके सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों को अंग्रेजी भाषा, संस्कृति-साहित्य के प्रति उन्मुख कर दिया और अंग्रेजों को यह विश्वास दिला दिया कि उनके शत्रु मुसलमान नहीं हिन्दू हैं। परिणामतः मुसलमान अंग्रेजों की ओर और अंग्रेज मुसलमानों की ओर। अंग्रेज सरकार हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपनी पत्नियाँ समझता था और भारत पर शासन करने के लिये दोनों का लड़ते रहना आवश्यक समझता था। कुछ मुसलमानों ने सचमुच हिन्दुओं से सौतिया डाह ठान लिया। सौतों के झगड़ों के कारण घर में शाँति नहीं स्थापित हो पाती। एक सौत कुटिल निकल जाय तो घर बर्बाद होकर ही रहता है। यही भारत का हुआ १९०६ में अंग्रेजों ने "एक बड़ी-बहुत बड़ी घटना" घटित की और वह थी मुस्लिम लीग की स्थापना। यह एक ऐसा जहर था जिसने एक बार योरोप का सर्वनाश कर दिया था। मिण्टो ने लिखा था, "यह राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य है जो भारत और भारतीय इतिहास को बहुत वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। यह कार्य ६ करोड़ २० लाख लोगों को राजद्रोहात्मक विरोध में सम्मिलित होने से रोक देने वाला है।" उसकी यह कल्पना अक्षरशः सत्य हुई। जब-जब "अंग्रेजी राज खतरे में" आया, तब-तब अंग्रेजों के संकेत से "इस्लाम खतरे में" है का नारा बुलन्द किया गया। मरे हिन्दू और मुसलमान और स्थिति मजबूत हुई अंग्रेजों की। कुछ स्वार्थियों की जेबें गरम हुई और भारत माँ का वक्ष उसके ही गरम रक्त से रक्त-स्नात हो उठा। पीपल कटता था तो हिन्दू धर्म के मिटने की आशंका पैदा कर दी जाती थी और मस्जिद के सामने बाजा बजता या ताजिये पर एकाध ढेले फेंक दिये जाते थे तो इस्लाम धर्म के खतरे में होने की घंटी बजवा दी जाती थी। कई बार स्पष्ट रूप से इस बात का पता लगा कि ढेले फेंकने वाले और इस प्रकार दंगे करा देने वाले स्रोत सरकारी नौकर हैं। ऐसा कर-करके ऐसे पंडित और मुल्ला एकान्त में बख्शीश और शाबासी लेने जाया करते थे।

असन्तोष आर्थिक विषमता के कारण होता था और इन असन्तुष्ट व्यक्तियों को अतिरिक्त धर्म वालों से लड़ा दिया जाता था। इधर नोआखाली और उधर मोपला काण्ड की जड़ में यही था। बाद में एसेम्बली की सीटों और नौकरियों की प्राप्ति के लिये उनको लड़ा दिया जाता रहा जो कभी भी उन्हें प्राप्त करने का स्वप्न तक नहीं देख सकते थे। इन दंगों का फल किसको मिला और किसको नहीं मिला—यह

पाकिस्तान बन जाने पर स्पष्ट हुआ। गुजरात का जिना और यू० पी० का लियाकत गवर्नर जनरल और प्रधानमन्त्री बन सकता था किन्तु पाकिस्तान पाने के लिये जिन्होंने खून की नदियाँ बहा दी और जो उसे अपना 'स्वर्ग' समझते थे उनके उस स्वर्ग-प्रवेश पर बन्धन लगा दिया गया। गरीब जिनसे शत्रुता कर बैठा था उन्हीं से उसे फिर मित्रता करनी पडी। न कोई राम को गाली देता था, न कोई मुहम्मद को, न कोई कृष्ण की निंदा करता था, न कोई रसूल की, न किसी ने कुरान जलाई, न किसी ने गीता रामायण, न किसी ने रोजा नमाज को बुरा कहा, न किसी ने सन्ध्योपासना और व्रत उपवास को, न हज को बुरा कहा गया, न तीर्थयात्रा को, उनकी मस्जिद को कोई खतरा नही था, उनके मन्दिर पर कोई आपत्ति नही थी। व्यावहारिक जीवन मे सब मिल कर एक हो गये थे। हम ताजिये पर मिन्नी चढाते थे और वे होली के रङ्ग मे रङ्ग उठते थे। हम सेवइयाँ खाते थे और वे 'परसाद'। बहराइच मे 'सैयद सालार गाजी' के मेले में 'अलम' ले कर ७० प्रतिशत से भी अधिक हिन्दू जाते हैं। इतनी ही मात्रा मे लोग ताजिये भी उठाते हैं। किन्तु तारीफ है उस बुद्धि और चतुराई की सदुपयोग-वृत्ति की और देशभक्ति, जाति-भक्ति और धर्मभक्ति की कि बगुनाहों के खून से धरती रग उठी, गुनाहो की भयानकता से आसमान थर्रा उठा। वास्तविकता यह है कि यह समस्या साँप्रदायिक थी ही नही। यह राजनीतिक गुण्डाशाही थी जिसे स्वार्थवश चलने रहने दिया गया। प्यारेलाल ने लिखा है, भारतवर्ष की सांप्रदायिक समस्या यहाँ के उस प्रतिक्रियावाद की सृष्टि है जिसका प्रतिनिधित्व अँग्रेजी साम्राज्यवाद, यहाँ के कुछ रूढिवादी और कुछ मध्यवर्गीय नेताओं के साथ मिल कर करता है। राजनीतिक शक्ति पाने तथा उस राष्ट्रीय आंदोलन को विघटित करने के उद्देश्य से, जिसने उनके अस्तित्व के लिये खतरा पैदा कर दिया था।, अँग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के *हथियार* को अपने हाथो मे लिया था।"[1] यह एक आश्चर्यजनक बात है कि मध्य वर्ग वाले कुछ स्वार्थी लोगों ने भोली-भाली जनता की एक कमजोरी का इस प्रकार का दुरुपयोग किया। ऐसी ठग विद्या उचित नही कही जा सकती। इस प्रवृत्ति का अन्त भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ हुआ।

युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ—

यह है हमारे देश के इस अर्द्ध शताब्दी के इतिहास की एक संक्षिप्त झाँकी। इस युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ ये हैं—(१) राष्ट्र के प्रति भारतवासियों का अगाध प्रेम, (२) अंग्रेजी शासन के स्वार्थपरक और भेद-भाव पूर्ण व्यवहार से भारतवासियों मे

---

१ 'लास्ट फेज', भा १, पृ० ७२

उनके प्रति क्षोभ, (३) अपने जन्मसिद्ध एवं स्वाभाविक अधिकारों को प्राप्त करने की भारतीयों की इच्छा, (४) उस इच्छा की अभिव्यक्ति, और उसके लिये आंदोलन करने को भी कटिबद्ध होना, (५) अंग्रेजो का ऐसे आंदोलनों का दबाना, कभी कुछ सवैधानिक सुधार करके और कभी क्रूरता के साथ व्यवहार करके, (६) राष्ट्र भाव के जागरण के लिये प्राचीन इतिहास और गौरव की खोज मे, रुचि और उसकी प्रशस्ति, (७) भारतीयों के हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनो प्रकार के प्रयत्न, (८ राष्ट्र के प्रति हमारा प्रेम धार्मिक वृत्ति से, सास्कृतिक वृत्ति से, किसानों और मजदूरों की दृष्टि से, प्रकट हुआ, (६) अराष्ट्रीय तत्वो की राजभक्ति और उसका स्वरूप, (१०) दो-दो महायुद्ध और हमारी राष्ट्रीय वृत्ति पर उनके प्रभाव (११) गांधी और कांग्रेस का महत्व, (१२) साम्प्रदायिकता, और (१३) भारतीयों के प्रति अंग्रेजो का अविश्वास। मूल रूप से इस युग की एकमात्र प्रवृत्ति है स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये किये गये भारतीयों के प्रयत्न और उनको न सफल होने देने के लिये अपनाई गई नीतियां। इन्ही की क्रीडा-क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ-ही इस युग का इतिहास हैं। इस नाटक का प्रधान पात्र है गांधी, प्रधान सस्था है कांग्रेस और प्रधान नीति है सत्य और अहिंसा, इसके खलनायक हैं अंग्रेज शासक, उनकी प्रधान सस्था है प्रशासन-व्यवस्था और [illegible]रन-नीति है असत्य और हिंसा। स्वाधीनता के आंदोलन इस युग की प्रधान घटनायें है। उनको गति मिली है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और विश्वयुद्ध-जन्य परिस्थितियों से।

अखिल भारतीय दृष्टिकोण—

इस युग मे अखिल भारतीय दृष्टिकोण या तो प्रशासन का था या फिर कांग्रेस का महात्मा गांधी ने लिखा है, 'कांग्रेस ने भिन्न भिन्न प्रान्तो के भारतीयो को इकट्ठा करके उनमे एक राष्ट्र होने की भावना पैदा की।'[1] पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है, 'तात्पर्य यह है कि सरकार को भी अगर योग्य भारतीयों की जरूरत हुई तो इसके लिये उसे भी कांग्रेसियो पर ही निगाह डालनी पडी और उनके राजनीतिक विचारो को उसने ऐसा नही समझा जो वह उन्हें सरकारी विश्वास एव बड़ी से बडी जिम्मेदारी के ओहदों के लिये नाकाबिल मान लेती .... कांग्रेस का इतना महत्व स्वीकार करते हुए भी सरकार उसके प्रति सदैव सतर्क रहती थी ....।'[2] जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है, 'हिन्दुस्तान के इतिहास मे तो इनका नाम है ही, बड़े हरफो मे नाम है, क्योंकि कांग्रेस एक बडी सस्था थी। बडे नेता उसने पैदा

१ 'हिंद स्वराज्य', पृ १५।
२ 'कांग्रेस का इतिहास', पृ ६३।

किये, लेकिन उससे भी बड़ी जो बात कहने की वह यह कि एक जमाने के लिये बरसों कांग्रेस एक मायने में एक नमूना हो गई, एक निशानी हो गई हिन्दुस्तान की जनता की आरजुओं की और जजबात की और ताकत की, कमजोरी की और हर चीज की और उसी ताकत से वह अंग्रेजी हुकूमत से लड़ी खाली अपनी संख्या की ताकत से तो नहीं। वह एक चीज थी और इसी लिये करोड़ों की हमदर्दी उसकी तरफ हुई।[१] कांग्रेस को इतना महत्वपूर्ण बनाया गांधी ने क्यों कि उसके पहले तो कांग्रेस प्रस्ताव पास करने वाली और प्रार्थना-पत्र देने वाली संस्था मात्र थी जिसके पास न कोई कार्यक्रम था और न कार्यकर्ता। अन्यत्र भी जवाहर लाल नेहरू ने यह लिखा है, ' गांधी जी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को नया रुख दिया और उससे निराशा और तीखेपन की भावना कम होगई। भावनाएँ बनी रही लेकिन जहां तक मेरा ख्याल है और किसी दूसरे राष्ट्रीय आंदोलन में इतना कम घृणा का भाव नहीं था।[२] एक ओर हम यह कहते थे कि 'हम सब अहिंसक क्रांतिकारी हैं, हम आपके अनुचित कानूनों को न मानने के लिये अपने को सगठित करना चाहते हैं और आप के लिये यह असम्भव कर देना चाहते हैं कि उन कानूनों द्वारा देश पर शासन करें।[३] और दूसरी ओर यह भी कि, 'जब हम ब्रिटिश संबंधों को विच्छेद करने की बात कहते है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि हम सारे संबंधों को तोड़ दें, बल्कि उसका अर्थ होता है कि वर्तमानों संबंधों में उपयुक्त परिवर्तनों।[४] इसी दृष्टिकोण का परिणाम है कि अंग्रेजों में भी—उन अंगरेजों में भी जो हिन्दुस्तान में सदैव बाहरी, विदेशी और बेमेल तथा बिराने और पराये बने रहे अनेक लोग इन राष्ट्रीय नेताओं के आजन्म प्रशंसक, अनुयायी और मित्र बने रहे। बात यह है कि मित्रता और तज्जन्य शान्ति हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्ति है। हम लड़ने और मिलने की जगहें और तरीके जानते हैं। इसलिये जहां भारत ने शत्रुओं के सामने असहाय होकर घुटने कभी भी नहीं टेके, गुलामी और बन्धनों को आत्मा से कभी स्वीकार नहीं किया, आक्रान्ता के आगे पूरी तरह से घुटने कभी भी नहीं टेके, वहाँ भारतवर्ष के इतिहास का व्यापक पर्यवेक्षण करने से यह प्रतीत होता है कि यूरोप की अपेक्षा भारत ने शान्ति और सुव्यवस्था के युगों का आनंद बहुत अधिक काल तक प्राप्त किया है। जवाहर लाल नेहरू ने यह माना है कि यह

१ 'हिंदुस्तान की समस्याएँ', पृ २७।

२ 'हिन्दुस्तान की कहानी', पृ ३७७।

३ 'मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ', पृ ८३।

४ 'वही', पृ ११६।

धारणा कि अँग्रेजी शासन ने भारतवर्ष मे पहली बार शान्ति और व्यवस्था स्थापित की है असाधारण रूप से भ्रामक है।"[1] अस्तु, गाधी ने हमारी राष्ट्रीयता मे से विरोधियो के प्रति घृणा, उनसे प्राप्त निराशा, उनके प्रति भय और आतङ्क की प्रवृत्तियाँ निकाल दी। उन्होंने हमारी राष्ट्रीयता को व्यापक सत्य और व्यापक अहिंसा के सौन्दर्य से समन्वित करके ससार का असाधारण तत्व बना दिया। इसके कारण उसमे प्रेम, सहानुभूति, समझौता, सद्भाव, आदि की भावनाएँ भर गई। इनका परिणाम यह हुआ कि हम सबल, निर्भय और सहिष्णु हो गये। हमें अंग्रेजो का दमन न कमजोर कर सका, न उसकी स्वार्थवृत्ति हमारे अन्दर घृणा पैदा कर सकी और न हम उनसे आतङ्कित हुए।

राष्ट्रपिता और साहित्य—

इस रङ्ग ने सब को रङ्ग लिया—सबको प्रभावित कर दिया। देहात का किसान, मिल का मजदूर, जड़ नौकरशाही और अस्तुदत्ता से ग्रस्त दूकानदार जब इससे अप्रभावित न रह सका तब तरल-सरल चेतना और सुधामयी भावुकता वाले साहित्यिक का इससे अप्रभावित रह सकना आश्चर्य और असभावना की कोटि की बात होती। अधिकतर कवियो ने भारतीय वेशभूषा अपना ली। स्वदेशी एवं खद्दर अपना लिया। उनकी चेतना और उनके साहित्य मे देशभक्ति भर गई। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे ही हमारी प्रमुख साहित्यिक पत्रिका ने छापा—

> "जग मे जन्म भूमि सुखदायी। जिस नर पशु के मन न समायी।
> उसके मुख दर्शक नरनारी। होते हैं अघ के अधिकारी।"[2]

शुष्क वैज्ञानिकता और प्रखर बुद्धिवाद के अन्तर मे भी अमृत सलिला रागा-रुणा सरस्वती गुप्त रूप से तरलित हुआ करती है। धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं, राष्ट्रीय आंदोलन में भाग न लेने के कारण मेरे हृदय मे कभी-कभी भारी सग्राम होने लगता है। जब हम पढ़े-लिखे व समझदार लोगो ने ही कायरता दिखाई है तब औरो से क्या आशा की जा सकती है[3]। माडरेट दल के सदस्यो को कहने मे तो हम लोग जयचन्द की श्रेणी मे रखते हैं किन्तु कार्य के समय हम लोगो मे व माडरेटो मे कोई अन्तर नहीं रह जाता है।"[4] इन्होने बङ्ग-भङ्ग के युग से ही विदेशी का यथा सम्भव

---

१ "डिसकवरी आफ इण्डिया" पृ० १३०

२ 'सरस्वती', १६०२-२ ई० अर्थात् भाग ४, पृ० ५१

३. 'मेरी कालिज डायरी', पृ० ८०

४. वही, पृ० ६८

बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया था। नये–पुराने, छायावादी–रहस्यवादी, हालावादी, संस्कृति–प्रेमी, सभी ने राष्ट्रगीत गाये। सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है, 'मैंने देश के आंदोलन म बाहर से तो कभी भाग नहीं लिया और न भाई की तरह मैंने कारावास ही झेला पर हमारे राष्ट्रीय जागरण के आन्दोलन का जो भीतरी पथ रहा है उससे मैं निरन्तर जूझता रहा हूँ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने उसका ऋण भी चुकाया है।''[1] अपनी काव्य साधना के विकास का संस्मरण प्रस्तुत करते हुए रामकुमार वर्मा लिखते हैं "१९२१ म असहयोग आंदोलन अपनी भरपूर उमग पर था। मैंने उसी उमग मे स्कूल छोड दिया और कांग्रेस का काम करना आरम्भ किया। प्रतिदिन प्रभातफेरी मे झडा लेकर अपने साथियो के साथ निकलता और उस समय समाचार पत्रो मे प्रकाशित राष्ट्रीय कविताएँ प्रभातफेरी मे गाया करता। • • एक दिन प्रभात फेरी के लिए मैंने एक गीत बनाया और अपने खट्टे-मीठे स्वर मे गाया—

कर्मवीरों का है क्या खेल। मुस्कराते जावेंगे जेल ।।
प्राण की तनिक नही परवाह, हृदय मे नहीं किसी से डाह।
यही केवल उनकी चाह, देश प्यारा बस हो न तबाह ।।
सत्य हित सकट लेंगे झेल •••• • •• •।''[2]

१७ वर्ष की अवस्था मे इन्हे इनकी देशसेवा विषय पर लिखी गई कविता के ऊपर कानपुर के वेणीमाधव खन्ना द्वारा आयोजित प्रतियोगिता मे ४१ रुपये का पुरस्कार मिला। उस कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

जिस भारती की धूल लगी है मेरे तन मे
क्या मैं उसको कभी भूल सकता जीवन मे
चाहे घर मे रहूँ, रहूँ अथवा मैं बन मे
पर मेरा मन लगा हुआ है इसी वतन मे
मैं भारत का हूँ सदा, भारत मेरा देश है।

मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है—

न्याय धर्म के लिये लडो तुम श्रुत-हित समझो बूझो
अनय राज, निर्दय-समाज से निर्भय होकर जूझो।[3]

---

१ 'साठ वर्ष–एक रेखाकन', पृ० ३७
२ 'धर्मयुग', साप्ताहिक पत्रिका, ८ सितम्बर, १९६३, वाला अक,
३ 'द्वापर', पृष्ठ ६४,चतुर्थवृत्ति (२०२१ वि०)

'प्रसाद' ने लिखा है—

हिमाद्रि तुङ्ग-शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
अराति सैन्य सिन्धु में
सुवाडवाग्नि से जलो
प्रवीर हो, जयी बनो
बढ़े चलो, बढ़े चलो।[१]

दिनकर गरज उठे—

गरज कर बता सबको मारे किसी के
मरेगा नहीं हिन्द देश
लहू की नदी तैर कर आ गया है
कहीं से कहीं हिन्द देश
लड़ाई के मैदान में चल रहे हैं
ले के, हम उसका उड़ता निशान
खड़ा हो जवानी का झण्डा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान।

खद्दरधारिणी महादेवी ने अपने और भारत का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए 'छायावादी' शैली में कहा—

मैं कम्पन हूँ तू करुण राग
मैं आँसू हूँ तू है विषाद
मैं मदिरा तू उसका खुमार
मैं छाया तू उसका अधार
मेरे भारत, मेरे विशाल
मुझको कह लेने दो उदार
फिर एक बार, बस एक बार।[२]

फिर उन्होंने 'प्रिय' से अनुरोध किया—

मेरे बन्धन आज नहीं, प्रिय,
संसृति की कड़ियाँ देखो

---

१. 'चन्द्रगुप्त' नाटक,
२. यामा, पृ० ३३

मेरे गीले पलक छुओ मत
मुरझाई कलियाँ देखो ।[1]

तत्पश्चात् जैसे झकझोरती हुई कहती हो—

चिर सजग आँखें उनींदी, आज कैसा व्यस्त बाना
जाग, तुझको दूर जाना ।[2]

सोहनलाल द्विवेदी ने बलिदान गीत गाये—

वन्दना के इन स्वरों मे एक स्वर मेरा मिला लो
वन्दिनी माँ को न भूलो
प्रेम मे जब मत्त भूलो
हो जहाँ बलि शीस अगणित एक सर मेरा मिला लो ।[3]

द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने लिखा—

प्रिय स्वतन्त्रता क्लेश जेहि तेहि पै वारहु प्राण
प्रिय दासता विभूति जेहि, मृतहु सो मरण समान[4]

मैथिलीशरण गुप्त, एक, 'एक भारतीय आत्मा', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन,' 'दिनकर', सोहनलाल द्विवेदी, प्रेमचन्द्र, जैनेन्द्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', 'त्रिशूल', सियाराम शरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, आदि असंख्य साहित्यकार तन, मन धन से राष्ट्रीयता के रग मे रँग गये। जेल गये और जो जेल नही भी गये उनका मानस जेल जाने वालो जैसा हो गया। यह सही है कि क्रांतिकारियो का दृष्टिकोण स्वस्थ विचार-दर्शन न बन सका किन्तु उनकी वीरता की प्रशसा जन-जन ने की। साहित्यिक भी पीछे नही रहे। "रक्तमण्डल' नामक जासूसी उपन्यास पढते समय ऐसा लगता है जैसे हम भारत के क्रांतिकारियों की कहानी पढ रहे हैं। राहुल सांकृत्यायन का 'सोने की ढाल' नामक जासूसी उपन्यास का भी लक्ष्य राष्ट्रीय बना दिया गया है। जैनेन्द्र के उपन्यासो और कहानियों मे अपने ढग से ये क्रांतिकारी उपस्थित हैं। निराश प्रेमियो को देशभक्ति की ओर मोड देना कहानियों की एक प्लाट-योजना हो गई। दासता के समस्त मानसिक बधनों को तोड फेंकते हुए देखने का और इस प्रकार निर्भय हो कर निर्णय करने की वास्तविक सम्मानपूर्ण स्थिति तक उठते हुए देखने का अनुभव बडा अद्भुत था—बडा अनोखा,

१. यामा पृ० १५१
२ 'यामा', पृ० २३४
३. भैरवी-पहला गीत
४ कृष्णायन

किन्तु इससे कम अद्भुत और अनोखा अनुभव हम 'रंगभूमि' के सूरदास की कथा मानसिक चक्षुओं से देख कर भी नहीं होता। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' उस युग के सत्याग्रह आन्दोलन की प्रतिच्छाया लगते हैं। कहा जाता है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों को पढ़ कर जेल के अन्दर सत्याग्रही शक्ति और प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। इस आंदोलन से प्रभावित, अनुप्राणित एवं उत्साहित किन्तु अपनी सीमाओं और विवशताओं से बाधित हो कर हमारे अनेक साहित्यिक चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त आदि के युगों तक पहुंच गये। यहाँ अंग्रेजों को न हरा पाने का क्षोभ 'महरण' से सिकन्दर को और चन्द्रगुप्त से सिकन्दर को हरवा कर मिटाया। दूकानें और नौकरियाँ न छोड़ सकने का दुःख युग को ही छोड़ कर मिटाया। इन्होंने युग छोड़ा था युग के लिए शक्तिस्रोत ढूँढने के लिये। इन आंदोलनों में हमारे नारी समाज ने जिस त्याग, जिस बलिदान, जिस कष्ट सहिष्णुता और जिस वीरता का अनुपम उदाहरण हमारे सामने रखा था उसने सीता-सावित्री, दुर्गावती-चाँदबीबी, मनादवी और लक्ष्मीबाई की याद ताजी कर दी और कोई आश्चर्य नहीं कि इसी प्रांजल एवं प्रोज्ज्वल स्वरूप ने युग के सबसे बड़े कवि 'प्रसाद' की आत्मा का भावोन्माद की किसी अद्भुत घड़ी में दुलार से छू कर ऐसा तरंगित कर दिया कि साहित्य को अलका, देवसेना, कमला, ध्रुवस्वामिनी, आदि मिल गईं। अलका के व्यक्तित्व में से सरोजिनी नायडू अथवा ४२ की अरुणा का, देवसेना के व्यक्तित्व में से कमला नेहरू का, कमला के व्यक्तित्व में से स्वरूपरानी का, ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व में से आजादहिंद सेना की कैप्टेन लक्ष्मी का, पर्णदत्त के व्यक्तित्व में से पटेल अथवा मोतीलाल नेहरू का, स्कन्द गुप्त के व्यक्तित्व में से जवाहरलाल नेहरू का, सिंहरण के व्यक्तित्व में से जयप्रकाशनारायण, चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व में से सुभाष बोस का किसी न किसी रूप में दर्शन किया जा सकता है।

'कामायनी' में इड़ा के राज्य की जनता के विद्रोह में इस राष्ट्रीय आंदोलन की आत्मा है और उसकी श्रद्धा तो जैसे गाँधीवाद की आत्मा का प्रतीक है। एक बार फिर सिद्ध हो गया कि हिन्दी विद्रोह और राष्ट्रीयता की भाषा है। इस युग का हिन्दी का कोई भी महान् कलाकार इस राष्ट्रीयता के दायरे से बाहर नहीं जा सका। अंग्रेजी राज्य में भारत की जो दुर्दशा हुई है उसका चित्र और विदेशी बहिष्कार का चित्र 'कामना' के पृष्ठों में मिल जाता है। द्विवेदी युग का साहित्य विशेष रूप से राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है। इसका कारण यह है कि उस युग में देश के अन्दर एकमात्र गाँधी का ही प्रभाव था और देश को एक ही धुन थी अर्थात् भारत को अंग्रेजों के आधिपत्य से छुड़ा लेना। यह अभी दर्शन नहीं बना था क्योंकि गाँधी की विचारधारा कार्यों के माध्यम से देश के सामने अभी आ रही थी। धीरे धीरे वह विचार के क्षेत्र में आई और उसने विचारधारा का स्वरूप अपनाया। गहराई में पहुंच गई। इस

समय तक हमारे अन्दर मातृभूमि के सौंदर्य दर्शन की भावना का उदय हो चुका था। सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभाव ने प्राचीन संस्कृति के प्रति गौरव की भावना और वर्तमान के प्रति क्षोभ की भावना पैदा कर दी। परिणामस्वरूप 'भारत भारती' के कवि का उदय हुआ। चूंकि हमारी राष्ट्रीयता में द्वेष और घृणा का भाव नहीं था अतएव हमारे राष्ट्रीय साहित्य में अंग्रेजों के प्रति द्वेष की भावना उतनी नहीं मिलती जितनी अपनी दुर्दशा का ज्ञान, प्राचीन गौरव और उत्थान के प्रति मोह और तुलना के परिणामस्वरूप जागरण, उद्‌बोधन, उत्थान, आत्मस्वरूप की अनुभूति और अपनी कमजोरियों को मिटाने की ललकार। हमारे देश प्रेम ने भारत की भूमि को 'माता' के 'देवी' के स्वरूप में देखा। इसका पहला स्पष्ट उल्लेख स्वामी रामतीर्थ ने किया। हमने जनता को 'जनार्दन' कह कर पुकारा। इस राष्ट्रीय भावना का प्रवेश प्राचीन विषयों से सम्बन्धित कविताओं में भी हुआ, और सत्यनारायण कविरत्न ने 'भ्रमर गीत' में ब्रजप्रदेश को मातृभूमि के रूप में देखा जिसकी प्रतिमूर्ति बनी जसोदा। प० रामनरेश त्रिपाठी के 'स्वप्न' नामक काव्य में स्वदेश भक्ति की भावना अभिव्यक्त हुई लाला भगवानदीन की कविताओं में भी यही भावना मिलती है कि 'वीरों का सुयश गान है अभिमान कलम का।' द्वारकाप्रसाद मिश्र ने 'कृष्णायन' में भी यही राष्ट्र भावना किसी न किसी प्रकार अभिव्यक्त की है। केसरी नारायण शुक्ल ने लिखा है, 'राष्ट्र जीवन की विवशता और उनके उत्साहपूर्ण बलिदान की झलक' '(और) " दमन चक्र और दरिद्रता के परिणामस्वरूप जो निराशा जगी उसकी अभिव्यक्ति प्राय. सभी छायावादी कवियों की रचनाओं में मिलती है।"[१] 'निराला' की बाद की कविताओं में तो देश का तत्कालीन जीवन और उसकी संस्कृति पूर्णरूप से अभिव्यक्त हुई ही है उनकी प्रारम्भिक और छायावादी कविताओं में भी राष्ट्रीयता के संस्कार विद्यमान हैं। "जागो फिर एक बार" की अंतःप्रेरणा राष्ट्रीय है। राष्ट्रीय प्रभाव ने हमारी कविताओं को वैतालिक के स्वर और योद्धाओं के सिंहनाद का स्वरूप दे दिया है। हमारी छायावादी कविता पर भी गांधीवाद का प्रभाव पड़ा है। दोनों का दर्शन एक ही है अर्थात सर्वात्मवाद। गांधीवाद के दार्शनिक और नैतिक पक्ष की अनुभूति ने सियारामशरण गुप्त को हिन्दी का एकमात्र विशुद्ध गांधीवादी कवि बना दिया है। शेष कवि भी गांधी जी से भिन्न भिन्न प्रकार की प्रेरणाएं ले-लेकर कविताएं लिखते रहे। सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा है कि गांधी के सम्पर्क में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्मविश्वास मिला है।[२] इसकी अभिव्यक्ति पन्त की उन कविताओं में हुई है जो 'ज्योत्सना' और 'ग्राम्या' के बाद लिखी गई हैं।

---

१ 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत' पृ० १८६
२ 'साठ वर्ष–एक रेखांकन', पृ० ६७

राष्ट्रीयता और हिन्दीभाषा —

जब हिन्दी एक बार फिर से विद्रोह की भाषा, विद्रोहियो की भाषा, देशभक्त की भाषा और राष्ट्रीयता की भाषा हो गई तो इस ओर देशभक्त राजनीतिज्ञो का भी ध्यान गया। इस बात का अनुभव किया गया कि यदि भारत को स्वतन्त्र होकर एक राष्ट्र बनना है तो उसकी अपनी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। अनेक कारणो स यह निश्चित हुआ कि वह राष्ट्रभाषा हिन्दी ही होगी। यह निश्चित होते ही सभी के सभी देश भक्त हिंदी अपनाने पढने, सीखन और लिखने के लिये तैयार हो गये। तब यह आश्चर्य की बात नही रह गई यदि 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना की प्रेरणा राजेन्द्रप्रसाद ने दी और मालवीय जी ने उसको स्वरूप दिया तथा पुरुषोत्तमदास टंडन ने आजीवन उसका सरक्षण और मार्ग–दर्शन किया। तिलक, गाधी, पटेल, सुभाष आदि हिन्दी क शुभचिन्तक हुए। इन नेताओ ने हिंदी के प्रचार मे अपना–अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। इसके परिणामस्वरूप नेताओं की प्रकृति की विभिन्नता के अनुरूप भाषा के विभिन्न स्वरूप सामने आये। नेताओ की रुचि और प्रकृति के अनुसार हिंदी को अनेक शैलिया मिली। राष्ट्रीयता के परिणाम स्वरूप सभवत पहली बार हिंदी साहित्य मे विभिन्न विषयो की पुस्तक लिखी जाने लगी। नेताओ ने हिंदी का भडार अनेक प्रकार के विचारो और विचारधाराओ से समृद्ध करना प्रारभ कर दिया। हिन्दी मे अनुवाद कार्य पर विशेष ध्यान भी इसी का परिणाम है। चू कि राष्ट्रीयता का स्वरूप अखिल भारतीय था अतएव हिन्दी ने भी अखिल भारतीय स्वरूप अपनाना प्रारम्भ किया और इस प्रकार असम से उत्तरी–पश्चिमी–सीमा–प्रात तथा काश्मीर से कन्या कुमारी तक हिंदी चली गई। अब हिंदी का कार्यक्षेत्र कविता–कहानी–नाटक–आदि से विस्तृत होकर साहित्येतर विषयो तक पहुँच गया। हिंदी प्रचार की योजनाए बनी और अखिल भारतीय स्तर पर उसकी परीक्षाए आयोजित की जाने लगी। ज्ञानवती दरबार ने लिखा है "वास्तव मे हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि के लिये पचास वर्षों मे जितनी प्रेरणा राष्ट्रीय भावना से मिली, इतनी सभवत और किसी तत्व से नहीं मिली।[१] इसका मूल्याकन उन्होने बडे ही सुन्दर ढग से यो किया है, 'हिन्दी भाषा के इतिहास मे राष्ट्रीय आदोलन विशेषकर कांग्रेस के कार्यक्रम द्वारा, जो प्रोत्साहन मिला है महत्व की दृष्टि से उसकी तुलना हम मध्ययुगीन भक्ति साहित्य (या आन्दोलन ?) से ही कर सकते हैं।[२] इसने हिंदी को पुस्तकें दी लेखक दिये, विषय दिये, प्रेरणाए दी, साहित्य दिया

१—"भारतीय नेताओ की हिन्दी सेवा पृ० १४७।

२— भारतीय नेताओ की हिन्दी सेवा पृ० १५८।

और साहित्य की प्रवृत्तिया दी। हिंदी का कोई भी लेखक इससे अछूता न बचा—अलग न रह सका। आदोलनो की असफलताए साहित्यक को अन्तर्मुखी कर देती थी और सफलता की आशा, मुखरित। दमन का आतक ऐसे साहित्य को जन्म देता था जो छपते ही जब्त हो जाय। उन पर विस्तार से बाद मे लिखा गया किन्तु उस समय भी कभी न कभी कुछ न कुछ ऐसे साहित्य की रचना हो ही जाया करती थी।

घटनाओ का साहित्य पर प्रभाव—

राजनीतिक घटनाओं ने हमारे जीवन और मन को इतना आक्रात कर दिया है कि हम किसी भी बात को अथवा किसी भी भावना को लेकर बहुत दूर तक और बहुत देर तक उलझे रहने—उसमें स्थित रहने मे असमर्थ हो गये। घटनाए हुई, हमारे अन्दर भावनाए उठी, प्रतिक्रिया हुई और कुछ दिनो मे हम आगे बढ गये क्योकि उनके समान या उनसे अधिक प्रभावपूर्ण घटनाए होने लगी। हम नन्हें-नन्हे भाव की छीटो से ही समाज को शीतल करने लगे। इसने एक ओर भावप्रधान लघु गीतो, लघु कथाओ, लघु निबन्धो और एकाकियो, आदि की प्रवृत्ति पैदा की और दूसरी ओर थोडे ही समय के अन्दर साहित्य की प्रवृत्तियो और धाराओ को बदलने मे सहायता दी। दस-दस बारह-बारह वर्षो की आयु के वादो का युग आया। ४० वर्षो के अन्दर हिंदी काव्य ने छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के युग देखे। साहित्य के विषय भी जल्दी-जल्दी बदले। कभी हमने बगाल के अकाल पर कविताए और कहानिया लिखी और कभी साम्प्रदायिक दगो पर। कभी आजाद हिंद फौज के वीरो पर साहित्य रचा गया और कभी गाधी जी की मृत्यु पर। कोई भी महत्वपूर्ण घटना ऐसी नही हुई जिसने कुछ साहित्य न लिखा लिया हो किंतु ऐसा कोई भी साहित्य स्थायी मूल्य का नही हो पाया। महायुद्धो से प्रेरणा प्राप्त करके भी कवियो ने कविताए लिखी किंतु चूकि उनका प्रभाव हिंदी प्रदेश पर सीधा नही पडा था अत वे भी स्थायी न हो पाई। ये कविताए चारण कालीन कविता की भाति न तो भैरवो का नृत्य बन सकी, और न उनसे किसी प्रकार की प्रेरणा ही मिली। द्वितीय महायुद्ध मे सरकार ने आल्ह खड के ढग पर "आल्हा" लिखवाया किंतु कहा आल्हा-ऊदल और कहा नौकर सिपाही !!! अन्त मे जन-भावना ने "जन-साहित्य" के नारे को जन्म दिया।

अध्याय—३

राजनीतिक पृष्ठभूमि

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो का क्रीडा-क्षेत्र—विद्रोह की भावनाओ को दबाने मे सरकार की सतर्कता—दुर्दमनीय राजनीतिक चेतना—सवैधानिक सुधार और उसके लिए होने वाले आन्दोलन—अपूर्ण एव अपर्याप्त सवैधानिक सुधार—राजनीतिक आन्दोलनो की प्रकृति और भाव-जगत—साम्यवादी राजनीति—साम्प्रदायिकता—भारत और अगरेजी राजनीति—हमे किसने जगाया—राष्ट्रीयता—सुधारवादी आन्दोलनो का प्रभाव।

राजनीतिक पृष्ठभूमि

परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का क्रीडाक्षेत्र—

रजनी पाम दत्त [1] का और राजेन्द्रप्रसाद [2] का विचार है कि आधुनिक भारत समस्त विश्व का लघुतम संस्करण होगया है। संसार की सभी प्रकार की प्रवृत्तियां भारत में मिल जाती हैं। हमारी सम्पत्ति और साधन तथा हमारा जीवन और श्रम लोलुपों के हस्तक्षेप, लूट, आक्रमण और अन्ततोगत्वा दासता के लक्ष्य रहे हैं। हमारे देश में एक प्राचीन एवं ऐतिहासिक सभ्यता के भग्नावशेषों के बीच जो आधुनिक विजनाओं के असहनीय बोझ के नीचे दब कर सांस नहीं ले पा रही है, आधुनिक ढंग का शोषण, निम्नतम कोटि की अर्थव्यवस्था, गरीबी और गुलामी है। आयनाओं में ग्रस्त कृषि, अकाल, ऋण, दासत्व, जाति-व्यवस्था के बन्धन, छूआछात की शृंखलाएं, औद्योगिक शोषण, धन का अभाव एवं विषम वितरण, घटिया किस्म की अमीरी और घटिया किस्म की ही गरीबी, धार्मिक और सामाजिक संघर्ष, वर्गसंघर्ष, आदि विश्वजनीन समस्याएं भारत में साक्षात हैं। इनका कारण खोजने पर हमें सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में यही कहना पड़ता है, 'मैं जानता हूँ कि यह हमारी दीर्घ पराधीनता का दुष्परिणाम है।" [3] अस्तु, इस पराधीनता को मिटाना हमारी इस अर्द्ध शताब्दी की समस्त क्रियाशीलताओं का लक्ष्य एवं प्रेरणा-स्रोत रहा है और ऐसा न होने देना सरकार और उसके अनुयायियों की राजनीति का क्षेत्र इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का प्रधान क्रीडा क्षेत्र रहा है। इसका इससे व्याप्य-व्यापक का संबंध है।

विद्रोह की भावनाओं को दबाने में सरकार की सतर्कता—

यद्यपि स्पष्ट रूप से पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग हमने १६२६ ई० में की किन्तु इस मांग का बीज हमारे हृदयों में अनन्त काल से पड़ा था और उसका १८५७ ई० में हुआ जो प्रतिकूल परिस्थिति पाकर एक बार फिर दब गया था। यह एक आग थी जो भीतर ही भीतर धधक रही थी। उसकी लपटों के विस्फोट को रोकने का प्रयत्न सरकार बराबर करती रही। लपटें बाहर निकलने के लिये भट्टी की मिट्टी को फोड़ कर छेद कर लिया करती हैं और भट्टी

१—"इंडिया टुडे" की भूमिका।

२—"पट्टाभि सीतारमैया के "कांग्रेस का इतिहास" की भूमिका।

३—"उत्तरा", पृ० १२।

वाला उस छेद को गीली मिट्टी से बन्द कर दिया करता है। यह क्रम दोनो म से किसी एक की समाप्ति तक बराबर चला करता है। ठीक इसी प्रकार कुछ छूट,कुछ सुविधाए और कुछ छोटे-मोटे राजनीतिक अधिकारो की गीली मिट्टी से सरकार हमारे राजनीतिक असन्तोष की ज्वाला की जिह्वा को मुखरित होने से रोका करती थी। हमारे राजनीतिक असन्तोष को सरकार पूरी तरह समझती थी किंतु वह न तो हम पर विश्वास कर पाती थी और न हमारी योग्यता पर। कलुषित स्वार्थ और साम्राज्यवाद की क्रियाशीलता की प्रवृत्ति ऐसी ही होती है।

दुर्दमनीय राजनीतिक चेतना —

१८५७ ई० म अंग्रेजो ने हमारे साथ क्रूरता करने म कोई कसर उठा नही रखी किंतु *स्वाधीनता की हमारी माग एव पराधीनताजन्य हमारा असतोष मिटा* नही। हम भीतर ही भीतर उबल रहे थे जिसकी अभिव्यक्ति समय-समय पर हो जाया करती थी। अगरेज इस बात को जान गया था कि वातावरण खतरनाक हो रहा है, विद्रोह की प्रलयकारी आधी के आने के पहले की भयानक शाति वाला क्षुब्ध वातावरण है असतोष के आवेग से सारा देश प्रकपित हो रहा है, और यदि कुछ किया न गया तो इस ज्वालामुखी के विस्फोट म सरकार जल कर खाक हो जायगी। वह अपनी कमजोरी —कमजोर स्थिति—को भी जानती था। काकर दत्तात्रेय जावडेकर ने लिखा है, ' जिन अगरेज अधिकारियों ने हिंदुस्तान पर कब्जा कर लिया था वे इस तथ्य से वाकिफ थे। वे कहते थे, 'हमने भारत को नही जीता है। मोहवश वह हमारे आधीन हो गया है। जब अपनी असली ताकत का पता उसे चल जायगा तब एक पल भर के लिये भी उसे अपने काबू म रखना हमारे लिये असभव है। लाख-डेढ लाख लोग तीन-चार करोड की सख्या वाले किसी राष्ट्र को सदा के लिए अपने आधीन नही रख सकते।[१] परिणामस्वरूप एक चतुर अगरेज ह्यूम ने १८८५ में काग्रेस की स्थापना की। काग्रेस मिल की एक चिमनी की तरह थी जिसका लक्ष्य था विद्रोह के धुए को बाध कर ऊपर हवा म उड़ा देना। सरकार ने हमारी राजनीतिक चेतना और हमारे राजनीतिक असतोष को कभी भी स्नेह और सहानुभूति *की दृष्टि से नही देखा क्योकि वह जानती थी कि फोडा घाव से प्रेम करे तो* खाय क्या? हमारी राजनीतिक चेतना का स्वरूप यह था कि हम अपने देश की राजनीति के लक्ष्य, उसकी दिशा और उसके स्वरूप के निर्णय मे अपना हाथ चाहते थे और इसी के अनुरूप हमारे राजनीतिक असतोष का स्वरूप यह था कि भारत पर राज्य करने मे भारतवासियो का अधिकाधिक हाथ नही रहता, इसमे उन्हें सहयोग

१—"आधुनिक भारत", पृ० २१८।

करने का अवसर नहीं दिया जाता और प्राथमिकता और महत्व विदेशियों–विशेषरूप से अंग्रेजों–को दिया जाता है। महत्वपूर्ण पद उनके लिये थे और अधिकाधिक वेतन उनके लिये थे। वे मालिक और हम नौकर थे जबकि उन्हें नौकर और हमें मालिक होना चाहिये था। निश्चित था कि इसका अंतिम परिणाम 'अंगरेजों का भारत छोड़ना" था। अंगरेज जानता था कि भारतीय एक दिन यही मांग करेगा। लार्ड मार्ले ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि सुधारों की रूपरेखा बनाते समय हमें तीन प्रकार के लोगों को अपने सामने रखना पड़ता है जिनमें से कुछ ऐसे झक्की हैं जो एक दिन हमको भारत से निकाल भगाने का मूर्खतापूर्ण स्वप्न देखते हैं। दूसरे वर्ग में ऐसे लोग आते हैं जो उपनिवेशों के ढंग का स्वशासन या स्वाधीनता की आशा करते हैं। औपनिवेशिक स्वराज्य चाहते हैं। तीसरे वर्ग के लोग हमारे प्रशासन में अपना सहयोग देना चाहते हैं और जनता की आवाज जोरदार ढंग से प्रभावशाली शैली में और स्वतन्त्रता के साथ हम तक पहुंचाना चाहते हैं। मेरा विश्वास है कि सुधारों का उद्देश्य दूसरे प्रकार के लोगों को तीसरे वर्ग में ला देना है।

सवैधानिक सुधार और उसके लिये होने वाले आन्दोल —

१८६२ ई० में पार्लियामेंट ने एक नया इण्डिया काउन्सिल अधिनियम बनाया जिसके अनुसार विधान परिषदों का अधिकार क्षेत्र का बढ़ा दिया गया था। कुछ शर्तों और प्रतिबन्धों के साथ ये परिषद अर्थ-सम्बन्धी वार्षिक वक्तव्य पर विचार-विनिमय कर सकती थी। जनता के हित सम्बन्धी बातों पर परिषद् के सदस्य सरकार से प्रश्न पूछ सकते थे जिसके लिये ६ दिनों पूर्व सूचना देनी होती थी। सभापति बिना कारण बताये ही किसी प्रश्न का पूछा जाना रोक सकता था। विषय क्षेत्र पर भी गवर्नर जनरल या गवर्नर प्रतिबन्ध लगा सकता था। सुप्रीम कौंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १० से १६ के बीच तथा बम्बई और मद्रास में ८ से २० तक हो सकती थी। बंगाल की संख्या २० अथवा तथा उत्तर पश्चिमी प्रान्त के लिए १५ थी। अतिरिक्त सदस्यों की २/५ संख्या गैर-सरकारी होनी थी। सरकार ने नियम की सीमा के भीतर ही भारत में चुनाव की आज्ञा दे दी थी फिर भी ये निर्वाचित सदस्य सरकार द्वारा नियुक्ति किये जाने पर ही अपनी सीट पर बैठ सकते थे। इस अधिनियम से दो ही महत्वपूर्ण बातें हुईं, निर्वाचन पद्धति का अपनाया जाना और कार्यकारिणी पर विधान परिषदों का आंशिक नियन्त्रण, नहीं तो यह अधिनियम मुझे तो ऐसा ही लगता है मानो कोई क्रूर एवं निरंकुश व्यक्ति किसी से बोलने लगा हो अथवा उसने यह कह दिया हो कि तुम बोल सकते हो किन्तु बोलने के पहले मुझसे पूछ लेना अनिवार्य है क्योंकि तुम बोलना नहीं जानते। स्पष्ट था कि यह अधिनियम व्यवहार में आने पर

बड़ा ही खोखला सिद्ध होता। स्पष्ट था कि यद्यपि अंग्रेज भारत में धीरे धीरे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन लागू करने का नाटक कर रहे थे किन्तु वे भारतीय स्वराज्य के शत्रु थे और वे लार्ड कर्जन के अनुसार ही यह मानते थे कि भारतवासी कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण पद सँभालने की योग्यता नहीं रखते और यदि अंग्रेजों की ओर से भारतीयों के हाथों में अधिकार सौंपने की उदारता दिखाई गई तो वह भगवान की इच्छा के प्रतिकूल होगी। परिणामतः एक ओर जापान की रूस पर विजय, आयरलैंड की स्वतन्त्रता, रूस के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की सफलता, मिश्र के राष्ट्रीय आन्दोलन, सर्व इस्लामवाद के आन्दोलन नये चीन की गतिविधि १९०६ के चुनाव में उदारदल की जीत, भारतीयों की दुर्दशा और उनके प्रति होने वाले दुर्व्यवहार, भारतीयों के क्षोभ और इन सबके परिणामस्वरूप हमारी विद्रोहाभिव्यक्तियों से डर कर अंग्रेज अधिकारी हमारी भावनाओं को दबाने के लिये हमारे दमन पर कटिबद्ध हो गये, और दूसरी ओर, हमारी राष्ट्रीयता का खंडन करने के लिये १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना कर दी। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि अपने राजनीतिक अधिकारों को माँगने का हमारा ढंग, प्रकार और अन्दाज, सब बदल गया। दमन का उत्तर आतंकवाद से अर्थात् हत्याएँ करके, बलात् किसी योजना को लादने का उत्तर सङ्गठित आन्दोलन से वक्तव्यों का उत्तर वक्तव्यों से, तथा कानून का उत्तर उसकी कटु आलोचना से देना प्रारम्भ किया गया। नरम कांग्रेस गरम हो गई और नरम गरम दलों में बँट गई। शासकों को कुछ और झुकना पड़ा और १९०९ ई० का इण्डिया कौंसिल अधिनियम बना जिसके सुधार मिंटो मार्ले सुधार कहलाए। इसके अनुसार विधान परिषदों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्यों की अधिकाधिक संख्या ६०, मद्रास, बंगाल, यू० पी०, बम्बई, बिहार और उड़ीसा की ५०, पंजाब और आसाम की ३०, शाही विधानपरिषद् में सरकारी सदस्यों की ३७ और गैर-सरकारी सदस्यों की ३२ हो गई। शाही विधान परिषद् के २८ सरकारी और ५ गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल के हाथ की बात थी। सरकारी सदस्यों में से शेष ९ में १ गवर्नर जनरल, परिषद् के ७ सामान्य सदस्य और एक कोई असाधारण सदस्य होता था। परिणामतः (३७+३२) ६९ में से ४२ सरकार के अपने आदमी हो गये। उत्तरदायी शासन के नाटक का एक स्वरूप यह था। प्रान्तीय विधान परिषदों के अधिकांश सदस्य यद्यपि गैर-सरकारी थे परन्तु चूँकि बहुत से गैर-सरकारी सदस्यों को गवर्नर नामजद करता था इसलिये वहाँ भी सरकार के सदस्यों का ही बहुमत रहता था। भारत सरकार क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व के स्थान पर भिन्न भिन्न वर्गों एवं विभिन्न स्वार्थ वालों का विभिन्न प्रतिनिधित्व विभिन्न भारतीय विधान मंडलों में करवाना अधिक

ठीक समझती थी, जैसे मुसलमानों का अलग, जमींदारों का अलग, व्यापारियों का अलग, इत्यादि। इससे पृथक् निर्वाचन या विशेष निर्वाचन की नींव पड़ी। एक को अनेक में बाँट कर इस अनेक के एक-एक को स्वतन्त्र मान लेना और उन्हें स्वतन्त्र एवं पृथक् व्यक्तित्व के अधिकारों के योग्य अनुभव कराना ब्रिटिश साम्राज्य की एक प्रमुख नीति यदि राजनीति में रही जैसा कि ऊपर के विवरण में स्पष्ट है, तो अन्य क्षेत्रों में भी थी। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण में ग्रियर्सन की ज्ञात या अज्ञात रूप से यही नीति प्रतीत होती है। कुछ भी हो विधान परिषदों के काम बढ़ा दिये गये। शाही विधान परिषद् में वित्तीय विवरण (बजट) के बाद विवाद सम्बन्धी नियम बना दिये गये। कर लगाने, कर परिवर्तन, ऋण लेने, प्रस्तावित स्थानीय शासन या स्थानीय सरकार को अतिरिक्त सहायता देने आदि के सम्बन्ध में प्रस्ताव उपस्थित कर सकने का अधिकार सदस्यों को दिया गया। ऋण के ब्याज, धार्मिक व्यय या रक्षा, आदि के विषय पर विवाद कर सकने का अधिकार नहीं दिया गया। किसी विशेष दृष्टिकोण को और अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रश्न या पूरक प्रश्न पूछने का अधिकार तो दिया गया किन्तु उत्तर देने या न देने की स्वतन्त्रता उस विभाग के सदस्य को दे दी गई। सदस्यों को प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार दिया गया और सभापति को यह अधिकार दिया गया कि वह पूरे प्रस्ताव को या उसके किसी अंश को सकारण या अकारण ही रोक दे। जनता के सामान्य हित के विषय में वाद विवाद हो सकने के सम्बन्ध में भी नियम बना दिये गये। अधिकार देने के विचार की इससे अधिक मँहगी हँसी हो भी क्या सकती थी! इसको हम यों समझें कि कोई कहे कि हम आपको अधिकार देते हैं किन्तु अमुक अमुक बातों पर आप नहीं बोल सकते आप बोल तो सकते हैं किन्तु बहस नहीं कर सकते, आप बहस तो कर सकते हैं किन्तु हम उत्तर न देने के लिये स्वतन्त्र हैं और आप प्रार्थना कर तो सकते हैं किन्तु आपके प्रार्थना-पत्र को रद्दी की टोकरी में फेंकने के लिये हम स्वतन्त्र हैं!" किया गया उत्तरदायी शासन देने का वादा और हमको दी गई उदार-हृदय तानाशाही! कहा गया १००० पौंड का चैक देने को और दिया गया आना चैक! पृथक् निर्वाचन पद्धति के परिणामस्वरूप, पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, भारतीय मुसलमानों के चारों ओर एक घेरा डाल दिया गया जिससे उनको शेष भारत से अलग कर दिया। ऐतिहासिक प्रवृत्तियों की दिशा मोड़ दी। कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने इसे पनपते हुए प्रजातन्त्रात्मक पद्धति की पीठ में छुरा भोंकना कहा है। गांधी जी ने कहा था कि इस सुधार ने हमें मिटा दिया। इस प्रकार के द्वारा देश में अंग्रेजों के पिट्ठू वर्ग के निर्माण की प्रेरणा मिली। मार्ले साहब को देश भक्तों को देशद्रोहियों में बदल देने के काम में अर्थात् दूसरे

वर्ग को तीसरे वर्ग मे बदलने मे भी इन सुधारों मे कोई सहायता न मिली। यह प्राणहीन प्रेम था। मृग-मरीचिका थी। महज चाँदनी थी। स्पष्ट था कि बङ्ग-भंग का घाव इससे नही भर सकता था। कुछ आन्तरिक और कुछ वाह्य कारणो से मुसलमान भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो चले। १९१५ मे तुर्कों और जर्मनों का एक दल काबुल आया और वहा उससे ओबेदुल्ला, मुहम्मद अली, आदि भारतीय मुसलमान मिले और अंग्रेजो को निकालने की योजना मे लग गये तथा एक अस्थायी भारत सरकार की रूपरेखा बना डाली। मुस्लिम लीग ने भी अपना दृष्टिकोण बदला और १९१६ मे दोनों ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बना लिया। अंग्रेजो की रङ्ग-भेद की नीति हमे बहुत चुभती थी। युद्ध काल मे ही आयरलैड की समस्या सुलझाने वाला अंग्रेज हमारी मांग पर युद्ध-व्यस्तता का बहाना कर करके हमे और विक्षुब्ध कर रहा था। कुछ अंग्रेज अधिकारियो के मूर्खतापूर्ण वक्तव्यो से भी यह कटुता बढ रही थी। इस समाचार ने कि अंग्रेज युद्ध के बाद अपने साम्राज्य का एक संघ बनायेंगे और इस प्रकार हम भारतीय अन्य उपनिवेशों के भी दास बना दिये जायेंगे, हमे और भी उत्तेजित कर दिया। लार्ड क्रिमी के इस वक्तव्य ने कि वे अपने से भिन्न नस्ल वाले लोगो को अपने संसद के नियन्त्रण से मुक्त करके स्वशासन देने की प्रयोगात्मक स्थिति मे भी लाने को तैयार नहीं, नरम दल वालों को भी अंग्रेजों के विरुद्ध कर दिया। बड़ी सख्ती से क्रान्तिकारियो के मुकदमे करने और उनके निर्णय की अपील न होने देने की सम्भावना ने हमे और भी क्रुद्ध कर दिया। देश-वि श म क्रान्तिकारी संगठन बनने लगे। क्रान्तिकारी आन्दोलन उत्तरी भारत मे तेजी से फैलने लगा। होमरूल लीग ने भी भारत को झकझोरा। वायसराय बनने के बाद लार्ड चेम्सफोर्ड इस निष्कर्ष पर पहुचे कि ब्रिटिश साम्राज्य के अभिन्न भाग के रूप म स्वशासित भारत अंग्रेजी शासन का लक्ष्य है जिसकी पूर्ति तीन प्रकार से की जा सकती है (१) नगरो, कस्बो, गाँवो, आदि के क्षेत्र में स्वायत्त-शासन की स्थापना का अधिकार प्रदान करके भारतीयो को शासन करने की ट्रेनिंग देकर और उनमे उत्तरदायित्व की भावना विकसित करके, (२) भारतीयों को उत्तरदायित्वपूर्ण पदो पर नियुक्त करके, और (३) विधान मण्डलो का विकास करके। १९१७ में मान्टेग्यू भारत सचिव हुए।

इसी बीच मद्रास की एक संस्था ने, जिसका नाम मद्रास पार्लियामेंट था, 'कामनवेल्थ आफ इण्डिया' नामक एक संविधान बनाया। पंजाब चीफ्स एसोसिएशन ने पंजाब के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के पास भारत मे युद्धोत्तर सुधारो की रूपरेखा का एक स्मरण पत्र भेजा। जब सितम्बर, १९१६ मे शाही विधान मण्डल की शिमला मे बैठक हुई तो उसके सदस्यों ने इस बात पर क्षोभ प्रकट किया कि भारत-सरकार ने उनसे

परामर्श किए बिना अपने प्रस्तावित सुझाव भेज दिये थे। परिणामत इस विधान परिषद् के १६ निर्वाचित सदस्यों ने, जिनमें जिन्ना, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्रीनिवास शास्त्री आदि थे, स्वतन्त्र रूप से एक स्मरण पत्र भेजा। १६१६ के दिसम्बर में सुप्रसिद्ध कांग्रेस लीग स्कीम निकली। स्मरण पत्र में कहा गया था, 'भारत को एक अच्छे शासन की ही आवश्यकता नहीं है वरन् उस सरकार की भी आवश्यकता है जो जनता को मान्य हो और जिसका जनता के प्रति उत्तरदायित्व हो। यदि युद्ध के पश्चात भी व्यावहारिक रूप से भारत की वही स्थिति रहती है जो युद्ध के पूर्व थी तो समान संकट के विरुद्ध भारत और इङ्गलैण्ड के समान प्रयत्नों का अपूर्ण आशाओं की दुखमयी स्मृति के अतिरिक्त और कोई परिणाम न होगा। लार्ड विलिंग्डन के कहने पर १६१५ ई० में गोखले ने उन सुधारों की एक रूपरेखा बनाई थी जो युद्ध के बाद भारत में किये जाय। इसे गोखले का राजनीतिक टेस्टामेंट कहते हैं। राउण्ड टेबुल ग्रुप की स्थापना १६०६ ई० के लगभग दक्षिण अफ्रीका में हुई थी। वहां उसे जो सफलता मिली उससे उत्साहित हो कर उसने न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और कनाडा का भी भ्रमण किया। 'कामन वेल्थ आफ नेशन्स' के द्वितीय भाग को लिखते समय उन्हें भारतीय समस्याओं पर भी विचार करना पड़ा। कुर्टिस महोदय की प्रार्थना के अनुसार सर विलियम ड्यूक ने,जो बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर रह चुके थे और जो इस दल के सदस्य भी थे, दल के सम्मुख अपना सुप्रसिद्ध स्मरण पत्र रक्खा। भारतीय समस्याओं का अध्ययन करने कुर्टिस १६१६ ई० में भारत पधारे। कुछेक कारणों से उनके सम्बन्ध में यह धारणा बन गई कि वे भारत देश की आशाओं और महत्वकांक्षाओं को नष्ट करने के षडयन्त्र में लगे हैं। इसी बीच उन्होंने अपने सुधारों की रूपरेखा बनाई। उनके विचारों ने भारत के भावी शासन विधान को बहुत अधिक मात्रा में प्रभावित किया। भारत के प्रति मांटेग्यू का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक उदार था। २० अगस्त, १६१७ को उन्होंने घोषणा की कि सम्राट और उनकी सरकार की नीति यह है कि भारतीयों को प्रशासन के सभी विभागों में अधिकाधिक सहयोग देने का अवसर मिले और स्वशासित संस्थाओं को धीरे-धीरे विकसित किया जाय जिससे ब्रिटिश साम्राज्य के एक अविभाज्य अंग की स्थिति या हैसियत में ही भारत के अन्दर उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना का आदर्श प्रगतिशील रूप में धीरे धीरे कार्यान्वित किया जा सके। यह कार्य एक क्रम से ही हो सकता है। कब, कैसे और किन किन ढंगों से ऐसा होगा— इसका निर्णय ब्रिटिश सरकार और भारत ही करेगी। इसमें दूसरों की राय अवश्य ली जायगी। मांटेग्यू महोदय की इस घोषणा से भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में एक युग की समाप्ति और दूसरे युग का प्रारम्भ होता है। मांटेग्यू महोदय एक शिष्ट

मण्डल के साथ भारत आये और ५½ महीने भारत भ्रमण करके तथा बहुतों से विचार विनिमय करके लन्दन वापस गये। कुछ दिनों के पश्चात् उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। नरम दल वालों ने इस रिपोर्ट का स्वागत किया और गरम दल वालों ने विरोध। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने कहा कि ये प्रस्ताव ऐसे नहीं हैं जिन्हें इङ्गलैण्ड जैसा देश हमारे सम्मुख रखे या जिन्हें हम स्वीकार करें। तिलक ने इसे 'पूर्णत अस्वीकार्य' कहा। कांग्रेस ने कांग्रेस लीग समझौते पर ही फिर अपना विश्वास प्रकट किया। १९१८ के दिसम्बर में कांग्रेस ने फिर अपने कुछ प्रस्ताव उपस्थित किए। माण्टफोर्ड योजना ने कांग्रेस के नरम और गरम दलों में स्थायी रूप से मतभेद उपस्थित कर दिया। २ जून, १९१९ को श्री माण्टेग्यू ने अपना भारत सरकार विधेयक उपस्थित कर दिया। उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थी—

(१) भारत सचिव का वेतन इगलैंड के राजकोष से दिया जायगा। भारत सचिव के कुछ काम उससे लेकर भारत के हाइ कमिश्नर को दे दिये गये जिसकी नियुक्ति भारत सरकार द्वारा होनी थी और जिसका वेतन भी भारत सरकार द्वारा दिया जाना था। उसे गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् के अभिकर्ता (एजेंट) के रूप में कार्य करना था। कुछ विभाग भी उसके अधीन हो गए। प्रान्तीय क्षेत्र के स्थानान्तरित विभागों में भारत-सचिव के अधिकार कम कर दिये गये। भारतीय विषयों का अधीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण भारत-सचिव के ही हाथों में रहा। उसकी आज्ञाओं का पालन गवर्नर जनरल का कर्त्तव्य था।

(२) केन्द्र में दो सदनों वाली व्यवस्थापिका सभाएँ स्थापित होनी थी एक केन्द्रीय विधान सभा और दूसरी राज्य परिषद्। राज्य परिषद् के ६० सदस्यों में से ३३ निर्वाचित और २७ नामजद अर्थात् मनोनीत और केन्द्रीय विधान सभा के १४५ सदस्यों में से १०३ निर्वाचित और ४२ मनोनीत होने थे। निर्वाचन क्षेत्र का आधार पूर्ववत् वर्गीय ही रहा, क्षेत्रीय न हो सका।

(३) केन्द्रीय विधान सभा की आयु ३ वर्ष की और राज्य परिषद् की ५ वर्षों की रखी गई। कार्यकाल को बढ़ा देने का अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया।

(४) दोनों सदनों के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन करवाने का निर्णय किया गया।

(५) मत देने का अधिकार सबको नहीं दिया गया। उसके लिये आयकर आय, लगान या सार्वजनिक कार्यों के अनुभव, आदि की शर्तें लगा दी गई।

(६) गवर्नर जनरल को भवन की बैठक बुलाने, बढ़ाने और भंग कर देने

का अधिकार दे दिया गया। उसे दोनों सदनों के सदस्यों के सम्मुख भाषण देने का भी अधिकार था।

(७) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं को बहुत ही व्यापक अधिकार थे। वह पूरे भारत के लिए विधान बना सकती थी, बने विधान को मसूख कर सकती थी या उसमें परिवर्तन कर सकती थी। केवल उच्च न्यायालय को भंग कर सकने और इंगलैंड की संसद द्वारा लिखित या अलिखित विधान, आदि पर उसका कोई अधिकार नहीं था। अनेक महत्वपूर्ण विषय ऐसे थे जिनमें सम्बन्धित विधेयक उपस्थित करने के लिये गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। पारित प्रस्तावों पर सम्राट की स्वीकृति अनिवार्य थी। गवर्नर जनरल भारत सचिव, संसद और अंग्रेजी राज्य को सामने रखकर भारत में जो चाहे सो कर सकता था। उसका अपना मत ही कानून था। उसके द्वारा लगाये गये अध्यादेश कानून की ही तरह मान्य थे। आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर निषेधाधिकार का भी प्रयोग कर सकता था।

(७) वित्तीय विवरण में कुछ मदें ऐसी भी थीं जो मतदान की सीमा के परे थीं। मतदान की सीमा के अन्दर आने वाली मदों पर भी गवर्नर जनरल को स्वेच्छापूर्वक निर्णय लेने का अधिकार था। वह अपारित को पारित और पारित को अपारित कर सकता था। कार्यकारिणी पर व्यवस्थापिकाओं का कोई भी अधिकार नहीं था।

(८) लोगों ने सही कहा है कि केन्द्रीय सरकार उत्तरदायित्वहीन तो थी किन्तु उत्तरदायित्वपूर्ण या उत्तरदायी नहीं थी।

(९) विषयों को केन्द्रीय और प्रान्तीय दो भागों में विभाजित कर दिया गया था। सिद्धान्त यह था कि जिनका सम्बंध अनेक प्रान्तों से हो व केन्द्रीय और जिनका एक प्रान्त से हो वे प्रान्तीय। अवशिष्ट विषयों को भी केन्द्रीय और प्रान्तीय भागों में विभाजित किया गया था। विभाजन सुस्पष्ट और सुनिश्चित कभी नहीं रहा।

(१०) प्रान्तीय विधान सभाओं की रूपरेखा विस्तृत कर दी गई। ७० प्रतिशत सदस्यों का निर्वाचन अनिवार्य कर दिया गया। सदस्यों के कार्यक्षेत्र और अधिकार भी बढ़ा दिये गये। यह सब हुआ किन्तु इन सबको गवर्नर की इच्छा के अधीन कर दिया गया।

(११) प्रान्तों में द्वैध शासन स्थापित कर दिया गया। इस प्रणाली के द्वारा प्रान्तीय सरकारों के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया रक्षित

और हस्त तरित या स्थानान्तरित। रक्षित विषय गवनर और उसकी कायकारिणी परिषद के अधीन कर दिये गये और हस्तान्तरित विषय गवनर और उसके मन्त्रियो के। परिषद क सदस्यो को मनोनीत और व्यवस्थापिका सभाओ के सदस्यो म से मन्त्रियो का चुनाव गवनर ही करता था। जैसे केन्द्र मे गवनर जनरल सर्वाधिकार सपन्न सर्वेसर्वा था वैसे ही प्रान्तो म गवनर था।

अपूर्ण एव अपर्याप्त सवैधानिक सुधार—

कहने की आवश्यकता नही कि ये सुधार भी पूर्णरूप स असतोषजनक सिद्ध हुए। लक्ष्य की पूर्ति म इनके कारण बहुत असुविधाए, कठिनाइया और बाधाए उपस्थित होती थी। १६१८ के अपन वार्षिक अधिवेशन म काग्रस न अगरजी सरकार स अनुरोध किया कि वह शीघ्रातिशीघ्र भारतवष मे उत्तरदायित्वपूर्ण स्वायत्तशासन की स्थापना की ओर कदम बढाये और यह आश्वासन भी दिया कि इन सुधारो को कार्यान्वित करन म सहयोग दिया जायगा। इसका उत्तर सरकार ने रौलट एक्ट बनाकर दिया इसकी प्रतिक्रिया मे जब हमने ६ अप्रैल १६१६ को हडताल किया तब जलियां वाला बाग और मार्शलला के कुकृत्यो से हमको जवाब दिया गया। भारत न खिलाफत और सत्याग्रह का माग अपनाया। सत्याग्रह बन्द किये जाने के पश्चात् स्वराज्य पार्टी ने व्यवस्थापिका सभाओ म प्रवेश करके सरकार का विरोध इस क्षत्र म भी किया। जाच क लिये आये हुए साइमन कमीशन का बहिष्कार किया गया। १६२८ म लार्ड बर्केन हेड की चुनौती के उत्तर म नेहरू रिपोट प्रकाशित हुई जिसम अगरजी साम्राज्य के अन्तगत स्वशासित स्वराज्य का माग की गई था। इसी बीच इगलैण्ड म रम्जे मकडानल्ड की उदारदलीय सरकार बनी। भारत को इस सरकार स बडी आशाए थी। १६२६ म देश की आन्तरिक उथल पुथल बहुत बढ गई थी। इधर मजदूर सरकार से भी निराशा ही प्राप्त हुई। परिणामस्वरूप जब १६३० म ही नमक आदोलन प्रारम्भ हुआ तब सरकार न सभी प्रकार के नतिक एव अनतिक साधनों से हमारे आदोलन को कुचल डालन का जो क्रूर प्रयास किया उसम सारे देश म इस सरकार के प्रति अपूव एव असाधारण घृणा पदा हो गई। १६३० म साइमन कमीशन की रिपोट प्रकाशित हुई जिसम सघात्मक शासन गवनर जनरल के पहले हो जसे व्यापक अधिकारो ब्रिटिश भारत और रियासतो क प्रतिनिधियो द्वारा सम्राट स निर्मित एक भारत मडल की स्थापना आतरिक मामलो म प्रान्तो का पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान मताधिकार म वृद्धि सेना के धीरे धीरे भारतीयकरण आदि का सुझाव दिया गया। भारत न इस रिपोट को रद्दी टोकरी म फाडकर फक देन योग्य समझा। इसके बाद अगरेज सरकार न

पहला गोल मेज सम्मेलन आयोजित किया जो कांग्रेस के असहयोग के कारण निरर्थक हो गया। बाद में गांधी-इर्विन समझौते के परिणामस्वरूप कांग्रेस के प्रतिनिधि गांधी ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। तब तक इंगलैंड में अनुदार दल की सरकार बन चुकी थी और "राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध रचा गया यह षड्यंत्र" भी असफल होकर रह गया। फिर भी, इस सम्मेलन में संघीय न्यायपालिका, प्रान्तों तथा केन्द्र के बीच आर्थिक साधनों के विभाजन संघीय व्यवस्थापिका के निर्माण, संघ में रजवाड़ों के सम्मिलित होने, आदि की रूपरेखा निश्चित हो गई। इधर राष्ट्रीय आंदोलन उग्रतर हुआ, उधर मुस्लिम लीग के नेताओं ने नौकरशाही का साथ दिया। अछूतों को और साम्प्रदायिक मामलों को ध्यान में रखकर मैकडानल्ड ने अपना 'साम्प्रदायिक परिनिर्णय" घोषित किया जिसके विरोध में गांधी जी ने अपना आमरण अनशन प्रारम्भ किया जो "पूना समझौते" के बाद टूटा। १७ नवम्बर, १६३२ ई० को तृतीय गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया जिसमें केवल ४६ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। मार्च, १६३३ ई० को सरकार ने अपना श्वेतपत्र प्रकाशित किया जिसमें भारत के नये संविधान की रूपरेखा थी। यह अत्यन्त अनुदार तथा प्रतिक्रियावादी था और था हमारी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का अपमान। भारत के विरोध के बावजूद भी ५ फरवरी, १६३५ को भारत सचिव सैम्युएलहोर ने यह विधेयक उपस्थित कर दिया। यह अधिनियम एक लम्बा और पेचीदा विधान था। इसके अनुसार अखिल भारत संघ की स्थापना होनी थी जिसके अन्दर प्रान्तों का सम्मिलित होना अनिवार्य था किन्तु रियासतों के लिये—चाहे छोटी हों चाहे बड़ी—स्वेच्छा की बात थी। सम्मिलित हो जाने के बाद उन्हें बाद में निकल सकने का अधिकार नहीं था। एक निश्चित संख्या में देशी राज्यों का संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था। देशी राज्यों को इस विषय में पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वे अपने कौन से विषय और विभाग संघ को हस्तान्तरित करें। किस राज्य के लिये संघ में कितनी सीटें होंगी इसका निर्धारण किसी एक सिद्धान्त पर आधारित नहीं था। कहीं उसका आधार था जन संख्या और कहीं महत्व और साम्राज्य के प्रति की गई लिखित सेवाएं। राज्यों को विशेष प्रतिनिधित्व भी प्रदान किया गया था। उनके सदस्य शासकों द्वारा मनोनीत होते थे। केन्द्रीय सरकार देशी रियासतों पर केवल दो ही प्रकार के कर लगा सकती थी—निगम कर और आयकर पर विशेष अधिकार। राज्य के शासकों को निषेधाधिकार भी दिये गये थे जिससे वे संघ की सारी योजनाओं को नष्ट कर सकते थे। इस विधान के अनुसार द्वैधशासन प्रान्तों से समाप्त करके केन्द्र पर लागू कर दिया जाने वाला था। संघीय व्यवस्थापिका में दो सदन होने थे— संघसभा और राज्यपरिषद्। इन

व्यवस्थापिकाओं की शक्तियां असाधारण रूप से सीमित थी। संघीय न्यायालय के सभी न्यायाधीशों की नियुक्तियां सम्राट द्वारा होती थी जिनको हटाने के लिये ब्रिटिश प्रिवी कौंसिल की राय अनिवार्य थी। भारत सचिव की भारत-परिषद् समाप्त होनी थी। उसके स्थान पर परामर्शदाताओं की एक परिषद् बननी थी। स्व विवेकानुसार कार्य करने के लिये गवर्नर जनरल और उसके माध्यम से गवर्नर भारत सचिव के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी थे। विशेष परिस्थितियों में गवर्नर जनरल निरंकुश शासक के समस्त अधिकार ग्रहण कर सकने के लिये स्वतंत्र था। यह संविधान अपरिवर्तनीय था। इसमें परिवर्तन केवल इंगलैंड की सरकार ही कर सकती थी। प्रांतों को बहुत स्वतन्त्रता थी किन्तु उस स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिये गवर्नर को अधिकार थे। इसके अनुसार गवर्नर जनरल चर्चिल के शब्दों में, "एक हिटलर अथवा मुसोलिनी की सारी शक्तियों से सुसज्जित है। तनिक-सा कलम घुमाकर वह सारे संविधान को छिन्न भिन्न कर सकता है. .. ...। प्रांतों का गवर्नर मंत्रिमंडल तथा व्यवस्थापिका सभाओं के नियंत्रण से मुक्त था, बल्कि वे ही इस के नियंत्रण में थी। इस अधिनियम को लीग और कांग्रेस दोनों ने अस्वीकार कर दिया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि यह संविधान एक ऐसी मशीन है जिसके ब्रेक तो बहुत मजबूत हैं मगर जिसमें इंजिन कोई भी नहीं। के० टी० शाह ने कहा कि संघ की जड़ें सड़ी हुई हैं, ढांचा कुरूप है और ऊपरी सजावट और चित्रकारी भी घृणित है। सी० वाई० चिन्तामणि ने इसको 'भारत विरोधी अधिनियम" कहा। एटली के अनुसार इसकी मुख्य विशेषता थी "अविश्वास"। मदन मोहन मालवीय ने इस ढोल में पोल ही पोल देखी। सचमुच यह उपयोगिता शून्य आभूषण था। पता नहीं कि इसके निर्माताओं ने क्या सोचकर इसका निर्माण किया था। यदि उन्होंने भारतीयों को इतना मूर्ख समझा हो कि वे इसके दोष समझने की भी बुद्धि नहीं रखते और इसलिये इसे स्वीकार कर लेंगे, तो आश्चर्य है उनकी सूझ-बूझ पर।

सन् १६३७-३६ के वर्षों में कांग्रेस में दो दल हो गये —दक्षिण पंथी और वामपंथी। दक्षिण पंथी थे गांधीवादी राजगोपालाचार्य और पटेल, आदि, वामपक्षी थे सुभाष बोस। गांधीवादी राष्ट्रीय शक्तियों को संगठित करके अंगरेजी साम्राज्यवाद को उन्मूलित करने के विरोधी नहीं थे परन्तु वे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते थे जो फासिस्ट विरोधी युद्ध-नीति के मार्ग में बाधक हो। कांग्रेस ने १६३७ के निर्वाचन में भाग लिया और ११ प्रांतों में से ६ में कांग्रेस की सरकारें बनीं। सरकारें बनाने के पूर्व कांग्रेस को सरकार ने यह आश्वासन दे दिया था कि वह मंत्रियों के कार्य में यथा संभव विघ्न न डालेगी। केन्द्र में भूलाभाई देसाई के नेतृत्व

मे कांग्रेसी दल सरकारी पक्ष के लिये स्थायी सरदर्द बन गया था। इन प्रान्तीय सरकारों ने दो वर्षों तक काम किया। मंत्रियो का परिश्रम और कार्य-सफलता आशातीत थी। ३ दिसम्बर, १६३६ म द्वितीय महायुद्ध छिड़ा और अंग्रेजो ने ३ सितम्बर, १६३६ को भारतवासियो से राय लिये बिना भारत को मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध मे सम्मिलित घोषित कर दिया और भारत रक्षा आर्डिनेन्स भी घोषित किया गया। कांग्रेस ने १६ सितम्बर को इंगलैंड से युद्ध उद्देश्यो की घोषणा करने की माग की जो ठुकरा दी गई और 'वायसराय महोदय के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजो का वश चलते भारत मे जनतंत्र की स्थापना सम्भव नहीं है' (गांधी)। १६ नवम्बर को कांग्रेसी मन्त्रिमंडलो ने त्यागपत्र दे दिया। इसमे लीग को बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने २२ नवम्बर को 'मुक्ति दिवस' मनाया। मार्च, १६४० मे मौलाना आजाद कांग्रेस के प्रेसिडेण्ट हुए। गांधी जी ने प्रत्येक कांग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी म बदलने की राय दी। ७ जुलाई, १६४० को कांग्रेस ने कहा कि यदि अंग्रेज युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र करने का आश्वासन दे और आपत्ति काल के लिये केन्द्र म एक अस्थायी सरकार बना दें तो कांग्रेस धन-जन से युद्ध म इंगलैंड की सहायता करने को प्रस्तुत है। यह प्रस्ताव भी अंग्रेजो ने ठुकरा दिया। इसी बीच इंगलैंड के प्रधान मंत्री बने भारतीय स्वतंत्रता के कट्टर विरोधी चर्चिल और भारत-सचिव बने एमरी। यह भी घोषणा की गई कि एटलान्टिक चार्टर भारत के लिये नहीं है। युद्ध की परिस्थिति बिगड़ी और अंग्रेजो के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। तब ८ अगस्त १६४० को वायसराय लिनलियगो ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसकी मुख्य बातें य थी —(१) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का विस्तार और एक युद्ध परामर्शदात्री समिति की स्थापना। (२) ब्रिटिश सरकार 'ऐसी किसी सरकार को सत्ता हस्तान्तरित नहीं करेगी जिसके अधिकार को भारत के राष्ट्रीय जीवन का कोई बड़ा तथा शक्तिशाली अंग स्वीकार न करता हो।'-तात्पर्य यह कि मुस्लिम लीग के समर्थन के बिना भारत के लिये कोई भी संविधान नहीं बन सकता और न कोई राष्ट्रीय सरकार बन सकती है। (३) युद्ध के बाद भारत अपना संविधान स्वयं बनायगा। (४) राष्ट्रमंडल के इस संकट काल मे वैधानिक समस्याओं पर कोई भी निर्णय न होगा। युद्ध के बाद भारत के प्रतिनिधियो का एक संगठन आयोजित होगा जो नया विधान का निर्माण करेगा। उस समय तक अंग्रेज सरकार देश की विभिन्न संस्थाओं को विधान के व्यापक सिद्धान्तो पर एकमत होने म सहायता करेगी। (५) इस अन्तरिम काल म देश के सभी राजनीतिक दल युद्ध-प्रयासो म सहयोग दें और भारत के लिये अंग्रेजी राष्ट्रमंडल म समानता का स्तर प्राप्त कराने म सहयोग दें।

इस प्रकार जब हमने पूर्ण स्वराज्य मागा तब वेऔपनिवेशिक स्वराज्य देने को तैयार हुए और वह भी युद्ध के बाद। विवश होकर १७ अक्टूबर, १९४० को कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया। मित्र राष्ट्रो के दृष्टिकोण मे युद्ध की स्थिति अत्यत गभीर होने लगी। पूर्व मे जापानी सेनाए वि य पर विजय प्राप्त करने लगी। भारत पर भी खतरा बढ गया। तब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति तथा प्रगतिशील देशो के साथ सक्रिय सहानुभूति की कामना से कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह रोक दिया। चर्चिल और एमरी का भी दृष्टिकोण कुछ बदला सत्याग्रही छोडे जाने लगे। २२ फरवरी, १९४२ को अमेरिका के राष्ट्रपति ने घोषित किया कि एटलाटिक चार्टर सारे ससार के लिये है। २७ फरवरी को आस्ट्रेलिया के विदेश *मत्री डा० इवाट ने भी भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन किया।* २३ मार्च, १९४२ को सर स्ट्रैफोर्ड क्रिप्स अपना मिशन लेकर भारत आये। उन्होने आते ही विभिन्न दलो के नेताओ से परामर्श करना प्रारम्भ कर दिया। कई बार ऐसा लगा कि समझौता हो जायगा पर हुआ नही और २९ मार्च, १९४२ को उन्होने अपना प्रस्तावित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया — (१) युद्ध के बाद स्वतत्र भारतीय सघ का निर्माण हो जिसे पूर्ण उपनिवेश का स्तर प्रदान होगा और ब्रिटिश राष्ट्र सघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकने की भी इसे स्वतन्त्रता होगी। (२) युद्ध के बाद एक भारतीय विधान निर्मात्री सभा का निर्माण होगा। उसके बनाये हुए विधान को ब्रिटिश सरकार तभी स्वीकार करेगी जब —(अ) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त इस नये सविधान से सहमत न हो तो उसे अपनी वर्तमान वैधानिक स्थिति बनाये रखने का अधिकार होगा, (ब) यदि वह आगे चलकर सघ मे सम्मिलित होना चाहे तो इसकी भी व्यवस्था होगी, (स) देशी राज्यो को भी स्वतन्त्रता होगी कि वे नये सविधान को स्वीकार करें या न करें, (द) सविधान-सभा तथा इंगलैंड की सरकार के बीच एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जायगे जिसमे पूर्ण उत्तरदायित्व *हस्तान्तरिक होने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सभावनाओं तथा ब्रिटिश सरकार* के पूर्व आश्वासनो के अनुसार अल्पसंख्यको हितो की रक्षा की व्यवस्था होगी। (३) युद्ध काल मे भारत की सुरक्षा का भार ब्रिटिश सरकार पर ही रहेगा।

गाधी जी ने कहा कि यह एक ऐसी हुंडी है जिस पर आगे की तिथि पडी हुई और सो भी ऐसे बैंक के नाम जिसके दिवालिया होने मे सन्देह नही रह गया है। इस प्रस्ताव मे भारत-विभाजन की पूरी व्यवस्था थी क्यों कि देशी राज्यो को अपने-अपने राज्यो से सविधान-सभा के लिये सदस्यो की नियुक्ति का अधिकार था, प्रान्तो को अलग होने का अधिकार था, और मुस्लिम लीग को अपनी हर माग मनवा

सकने का अधिकार था। कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। क्रिप्स भारत को उत्तेजित अवस्था में ही छोड़ कर इंगलैंड चले गये और अपनी असफलता का उत्तरदायित्व कांग्रेस पर डाल कर उन्होंने ११ अप्रैल को अपने प्रस्ताव वापस ले लिये अब संघर्ष के सिवाय और कोई चारा नहीं रह गया। नेहरू जी ने प्रयाग के एक भाषण में आग के साथ खेलने की और 'दोधारी तलवार' की बात की राजेन्द्र बाबू ने गोली खाने और तोप का सामना करने के लिये तैयार' रहने को कहा पटेल ने थोड़े दिनों के किन्तु बहुत भयानक संग्राम की ओर संकेत किया और गांधी जी ने कहा—'मैं जिना साहब के हृदय परिवर्तन की बाट नहीं देख सकता... यह मेरे जीवन का अंतिम संघर्ष होगा। ८ अगस्त १९४२ ई० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया। ९ अगस्त, १९४२ को देश के कोने-कोने में नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारियां शुरू हो गई जनता पागल हो उठी। साथ ही सम्पूर्ण नौकरशाही सब प्रकार के अमानुषिक अत्याचारों से इस राजनीतिक आंदोलन को दबाने में लग गई। सरकारी अनुमान के अनुसार २५० रेलवे स्टेशन और ५०० डाकघर नष्ट हुए। १५० से अधिक थानों पर आक्रमण हुए। १९४२ के अंत तक ५-८ अवसरों पर गोलियां चलाई गई। ९४० व्यक्ति मरे १६३० घायल हुए और ६०००० व्यक्ति गिरफ्तार हुए। फिर गांधी जी ने इस संबंध में कांग्रेस की नीति स्पष्ट करने और वर्किङ्ग कमेटी के सदस्यों से मिलने का अवसर मांगा जिसके न मिलने पर उन्होंने २१ दिन का अनशन किया। इस संबंध में सरकार की और लिनलिथगो की क्रूर नीति से असन्तुष्ट होकर उनकी कार्यकारिणी के एच० पी० मोदी, नलिनी रंजन सरकार और एम० एस० अणे ने त्याग पत्र दे दिया। १९४३ में बंगाल में भयानक अकाल पड़ा जिसमें लग-भग ५० लाख आदमी भूखे मरे। इसका उत्तरदायित्व एकमात्र सरकारी कुप्रबंध पर था। उड़ीसा मालाबार काठियावाड़, आदि में भी हजारों आदमी भूखों मरे। अक्टूबर, सन् १९४३ ई० में लार्ड वेवेल भारत के वायसराय होकर आये और ६ महीने के मौन के बाद कहा कि उन्हें भारत की समस्या सुलझाने में किसी प्रकार की उतावली नहीं है। अप्रैल, १९४४ में गांधी जी बीमार पड़े। इस बीमारी ने वेवेल को भी विचलित कर दिया और हत्या के कलंक से बचने के लिये ६ मई को उन्हें कारागृह से मुक्त कर दिया गया। इसी अप्रैल, १९४४ में सुभाष बाबू की (जो जनवरी) १९४१ ई० में भारत से छिपकर भाग गये थे और जिन्होंने अफगानिस्तान- इटली, फिर जर्मनी होते हुए जापान आकर हिंद सेना का संगठन किया था) आजाद सेना ने अंगरेजी सेनाओं को हराकर आसाम में कोहिमा पर अपना अधिकार कर लिया था। जापान की हार

के बाद युद्ध सामग्री की कमी और भयानक वर्षा के कारण इस सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। उनके तीन सेनानायकों (सहगल, ढिल्लन तथा शाहनवाज) पर लाल किले में मुकद्दमा चलाया गया जिस के बाद में उन्हें निरपराध घोषित करके छोड़ दिया गया। आजाद हिंद सेना के इन अनेक वीरों पर चलने वाले मुकदमों ने देश के कोने-कोने को आलोड़ित कर दिया। स्वस्थ होने पर गांधी जी ने कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों से भेंट करने की सुविधा वायसराय से मांगी जो अस्वीकृत होगई। फिर जिना साहब के सामने गांधी जी की स्वीकृति से राजा जी ने कांग्रेस-लीग समझौते की अपनी योजना रक्खी। इस योजना की मुख्य बातें ये थीं —(१) मुस्लिम लीग स्वतंत्रता की मांग का समर्थन करे तथा मध्यकालीन अस्थायी सरकार के निर्माण में कांग्रेस के साथ सहयोग करे। (२) युद्ध समाप्त होने पर भारत के उत्तर, पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में समीपस्थित मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों की सीमा निर्धारण करने के लिये कमीशन नियुक्त किया जाय। तत्पश्चात् वयस्क मताधिकार प्रणाली के अनुसार इन क्षेत्रों के निवासियों की मतगणना करके भारत से उनके संबंध-विच्छेद के प्रश्न का निर्णय किया जाय। परन्तु समीपवर्ती उपक्षेत्रों को अपनी इच्छानुसार एक अथवा दूसरे राज्य में रहने का अधिकार रहे। (३) मतगणना के पूर्व सब दलों को अपने दृष्टिकोण के प्रचार की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। संबंध-विच्छेद की दशा में रक्षा, यातायात तथा अन्य आवश्यक विषयों में पारस्परिक समझौते की व्यवस्था हो। (५) निवासियों की अदला-बदली उनकी स्वेच्छा पर हो, (६) उपर्युक्त शर्तें उसी दशा में मान्य होंगी जब इंगलैंड भारतीयों को पूर्ण अधिकार तथा उत्तरदायित्व देना स्वीकार कर ले। जिना साहब ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसी वर्ष गांधी जी ने बम्बई में कई दिनों तक रहकर जिना साहब से मिलकर उनसे बातें करके समझौते का एक प्रयास और किया किन्तु जिना साहब न माने। ऐसे ही कितने असफल प्रयत्न राम ने और कृष्ण ने भी किये थे किन्तु तीनों के हठी प्रतिद्वन्दी नहीं माने। जनवरी, १९४५ में भूलाभाई देसाई और लियाकत अली खां ने आपस में बातचीत करके एक योजना-सूत्र तैयार किया-किन्तु कांग्रेस और लीग में समझौता न हो सका। १४ जून, १९४५ को मि० एमरी ने ब्रिटिश लोकसभा में तथा लार्ड वेवेल ने भारत में साथ-साथ घोषणा की कि कांग्रेसी नेता शीघ्र ही छोड़ दिये जायेंगे तथा शिमले में सब दलों के नेताओं का एक सम्मेलन होगा। उन्होंने एक नई तथा जनमत की प्रतिनिधि कार्यकारिणी परिषद् बनाने के लिये केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजनैतिक दलों के नेताओं को निमन्त्रित किया जिसमें 'सभी सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों तथा "सवर्ण-हिंदुओं और

मुसलमानों की संख्या समान अनुपात में हो।" यह परिषद् तत्कालीन संविधान के अन्तर्गत शासन करने वाली थी। वायसराय तथा प्रधान सेनापति के अतिरिक्त इसके सब सदस्य भारतीय होने थे। ब्रिटिश भारत का विदेशविभाग भी किसी भारतीय को ही सौंपा जाना था। इस अस्थायी सरकार का उद्देश्य स्थायी समझौते का मार्ग प्रशस्त करना था। २५ जून, १९४५ को प्रसिद्ध शिमला सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। जिना साहब ने इस बात पर विशेष बल दिया कि (१) कार्यपालिका के सभी मुसलमान सदस्य लीगी ही हों और (२) यह बात कांग्रेस मान ले कि वह निश्चित रूप से कुलीन हिंदुओं की ही संस्था है। कांग्रेस इस स्थिति को बिल्कुल ही नहीं स्वीकार कर सकती थी। वायसराय लीग के सहयोग के बिना कुछ भी नहीं कर सकते थे। सम्मेलन भंग हो गया।

जुलाई, सन् १९४५ ई० के साधारण निर्वाचन ने इंगलैंड में मि० एटली के नेतृत्व में मजदूर दल की सरकार स्थापित कर दी। परिणामस्वरूप लार्ड पैथिक लारेंस भारत सचिव हुए। प्रान्तीय तथा केन्द्रीय धारा-सभाओं के लिये १९४५-४६ के शीतकाल में साधारण निर्वाचन की घोषणा हुई। भारत सचिव से परामर्श करने के बाद वेवेल ने १९ सितम्बर की घोषणा में बताया कि निर्वाचन के पश्चात् एक संविधान सभा का निर्माण होगा तथा प्रमुख राजनैतिक दलों के सहयोग से कार्य-पालिका का पुनः संगठन होगा। निर्वाचन हुए। सभी प्रान्तों में लगभग शतप्रतिशत गैर मुस्लिम स्थान कांग्रेस को मिले। अनेक स्थानों में कांग्रेस ने कुछ मुस्लिम स्थान भी प्राप्त किये। अप्रैल, १९४६ में सिन्ध तथा बंगाल के अतिरिक्त सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने शासन सभाला। पंजाब में संयुक्त मन्त्रिमण्डल बना। कांग्रेस की इस अद्भुत विजय से अंग्रेज आश्चर्य चकित हो गये। बम्बई, कराची, तथा मद्रास के भारतीय नाविकों ने विद्रोह कर दिया। भारतीय सेनाओं ने इन पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। अम्बाला, आदि स्थानों पर भारतीय वायु सेना ने भी विद्रोह कर दिया। आजाद हिंद सेना के सैनिकों वाले मुकदमे ने भारत में रणोन्मुख राष्ट्रीयता की आग भड़काई। राष्ट्रीय जागरण सेना में पहुंचा। अन्तरष्ट्रीय क्षेत्र में इंगलैंड की महत्ता बहुत घट गई। अस्तु, भारतीय गतिरोध को शीघ्रातिशीघ्र दूर करके समस्या का मैत्रीपूर्ण समाधान निकालना अनिवार्य हो गया। ४ दिसम्बर, १९४५ ई० को भारत सचिव ने मन्त्रिमण्डल मिशन की नियुक्ति की घोषणा की। २४ मार्च, सन् १९४६ को यह मिशन दिल्ली पहुंचा। इसके पहले १५ मार्च को प्रधान मंत्री ने यह घोषणा की कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की प्रगति की राह में रुकावट नहीं डालने दी जायगी।

इस मिशन के दो कार्य थे—(१) ऐसा सुझाव उपस्थित करे जिसके आधार पर भार-

तीय विधान बनाया जा सके और (२) अन्तरिम राष्ट्रीय सरकार स्थापित करे। अंगरेज सरकार द्वारा मुसलमानों को दिये गये वचन अब इस मिशन के कार्य में बाधा उपस्थित करने लगे। लीगी नेताओं ने खुले आम धमकियां दी और उनके द्वारा दिलाई गई उत्तेजनाओं के परिणामस्वरूप देश में वे दंगे हुए जिन्होंने मानवता को पवित्र आनन को कलंकित कर दिया। किसी स्वतन्त्र देश में ऐसे व्यक्तियों और दलों का किया जाना इस मानव के लिए किसी बड़ी कानून की आवश्यकता नहीं है किन्तु अंग्रेज़ लीग और लीगी नेताओं पर कोई भी अंकुश लगाने के बदले उनकी मांगों का समर्थन खुल और छिपे दोनों ढंगों से करने लगे। १ अप्रैल से १७ अप्रैल १९४६ तक कैबिनेट मिशन विभिन्न दलों और वर्गों के नेताओं से मिला। कांग्रेसी और लीगी नेताओं का एक सम्मेलन शिमला में हुआ जो १२ मई को असफल होकर समाप्त हो गया। तब मन्त्रिमण्डल मिशन ने अपनी यह योजना प्रकाशित की—(१) एक भारतीय संघ की स्थापना हो जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त तथा देशी राज्य सम्मिलित हों। वैदेशिक सम्बन्ध रक्षा तथा यातायात विभागों पर संघ का अधिकार हो। इन विषयों की व्यवस्था के लिये वह आवश्यक अर्थ संग्रह कर सकेगा (२) संघ में ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक कार्यपालिका और व्यवस्थापिका हो। किसी महत्वपूर्ण साम्प्रदायिक समस्या से सम्बन्धित किसी प्रश्न का व्यवस्थापिका में निर्णय करने के लिये दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के उपस्थित तथा मतदाता प्रतिनिधियों एवं सब उपस्थित तथा मतदाता सदस्यों का बहुमत आवश्यक होगा। (३) संघ वाले विषयों के अतिरिक्त अन्य सब विषयों तथा अवशिष्ट शक्तियों पर प्रान्तों का अधिकार होगा। (४) देशी राज्यों को वे सारे अधिकार रहेंगे जो उन्होंने संघ शासन को नहीं दिये हैं। (५) प्रान्तों को अपने वर्ग अलग अलग बनाने का अधिकार होगा। इन वर्गों की अपनी कार्यपालिकाएं तथा व्यवस्थापिकाएं होंगी और प्रत्येक वर्ग निश्चय करेगा कि प्रान्तीय सूची में से किन किन विषयों की सम्मिलित व्यवस्था हो। प्रान्तों के तीन वर्ग होंगे—(१) मद्रास, बम्बई संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बिहार तथा उड़ीसा (२) उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त पंजाब, तथा सिंध, (३) बंगाल तथा आसाम। (६) संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के २९६ (सामान्य २१० मुसलमान ७८ सिख ४, तथा चीफ कमिश्नरों द्वारा शासित क्षेत्रों में ४) और देशी राज्यों के अधिकाधिक ९३ प्रतिनिधि सदस्य होंगे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के (लोअर) निम्न सदनों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा निर्वाचित होंगे। देशी राज्यों के प्रतिनिधि मंत्रणा द्वारा निश्चित होंगे। प्रारम्भिक अवस्था में देशी राजाओं का प्रतिनिधित्व एक विशेष मन्त्रणा-समिति करेगी। (७) संविधान सभा में

ब्रिटिश भारत के सदस्य अ वर्ग से १६०, ब से ३६, और स वर्ग से ७० अर्थात् २६६ होगे। (८) प्रमुख राजनैतिक दलो की एक अस्थायी सरकार बने परन्तु वायसराय के विशेष अधिकार पूर्ववत् रहे। देशी राज्यो म सम्बन्धित ब्रिटिश शासन सत्ता या प्रभुत्व नई सरकार को नही दिया जायगा। (६) सविधान लागू होने के दस वर्ष के उपरान्त तथा इसके बाद भी दस दस वर्षों के अन्तर से कोई भी प्रान्त अपनी व्यवस्थापिका सभा के बहुमत द्वारा सविधान की धाराओ मे सशोधन करवाने की माग कर सकेगा। (१०) विधान सभा और इगलैंड की सरकार सत्ता हस्तान्तरण सधिपत्र पर हस्ताक्षर करेगी।

ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत विभाजन रोकने का यह अन्तिम प्रयास था। गाधी जी ने इस योजना को ब्रिटिश सरकार का सबसे महत्वपूर्ण निर्णय माना। कांग्रेस ने इसके सविधान सभा वाले अश को स्वीकार किया। मुस्लिम लीग ने इसे पूरे का पूरा स्वीकार कर लिया। सिक्खो ने पूर्णत अस्वीकार कर दिया। कैबिनेट मिशन २६ जून, १६४६ को लौट गया। उसने सविधान निर्माण की सम्भावना पर सन्तोष प्रकट किया और इस बात का दु ख प्रकट किया कि अन्तरिम सरकार न बन सकी। अन्तरिम सरकार के बनाने की योजना टाल देने से जिन्ना साहब इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होने मुस्लिम लीग से योजना की पहली दी गई स्वीकृति वापस करवा ली। 'सघर्ष के वैधानिक साधनो को तिलाजलि' दे दी। उन्होने १६ अगस्त को सारे भारत मे 'प्रत्यक्ष आदोलन दिवस मनवाया। कलकत्ता नोआखाली बिहार तथा बाद म सारे भारत के अन्दर साम्प्रदायिक दगे हुए। अँग्रेज सरकार ने इसे रोकने का कोई प्रयत्न नही किया। देश की आन्तरिक स्थिति बिगडने लगी और कांग्रेस को विवश होकर केन्द्रीय सरकार म जाना पडा। लार्ड वेवेल ने उस समय के कांग्रेस सभापति पडित जवाहरलाल नेहरू को सरकार बनाने के लिये बुलाया जिन्होंने २ सितम्बर १६४६ को शपथ ग्रहण किया। मुस्लिम लीग इसमे सम्मिलित नही हुई। सम्भवत साम्प्रदायिक दगो से उसे सन्तोष मिल रहा था। १३ अक्टूबर सन् १६४६ ई० को मुस्लिम लीग ने भी इस सरकार म सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया ताकि पाकिस्तान की लडाई सरकार के भीतर से भी लडी जा सके। वहाँ कुछ तो क्षेत्र और विषय ऐसे थे जिसके वे अधिकारी होते और जिसे वे बिगाड सकते थे। अब केन्द्रीय सरकार का वातावरण दूषित और तनावपूर्ण हो गया। सरदार पटेल ने कहा कि लीग और लार्ड वेवेल का उद्देश्य कांग्रेस को सरकार से निकालना था और नेहरू जी का मत था कि ये लोग कैबिनेट को नितान्त निष्क्रिय बना देना चाहते हैं जुलाई ४६ में सविधान सभा के चुनाव हुये और ६ दिसम्बर, १६४६ को उसकी पहली बैठक हुई। मुस्लिम लीग ने इसमे भाग नही लिया। डा० राजेन्द्र प्रसाद इसके स्थायी सभापति बने। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली ने कैबिनेट योजना की रक्षा करने के लिए

लन्दन मे एक सम्मेलन आयोजित किया। यह सम्मेलन ३ से ६ दिसम्वर, १९४६ तक होता रहा पर कोई समझौता न हो सका। ६ दिसम्वर, ४६ को अंग्रेज सरकार ने भारतीय जनता के बहुत बडे भाग का प्रतिनिधित्व विधान सभा के लिए अनिवार्य घोषित करके विधान सभा के प्रभाव पर कुठाराघात कर दिया। २० फरवरी, १९४७ को लार्ड वेवेल के स्थान पर लार्ड माउण्टबेटन की नियुक्ति घोषित की गई और यह कहा गया कि अंग्रेज ३० जून, १९४८ तक अवश्य भारत से चले जाएँगे। इस घोषणा से साम्प्रदायिक दंगा ने और भी भीषण रूप धारण कर लिया। महात्मा गाँधी ने कहा कि अंग्रेज जाने का निश्चय तो कर ही चुके हैं परन्तु शासन अब भी उन्ही के हाथो मे है तथापि वे उसके प्रति उदासीन हैं। यही नीति अव्यवस्था को जन्म दिये है। मार्च १९४७ मे लार्ड माउण्टबेटेन भारत आये। विभिन्न नेताओ से बातचीत करके वे इस निश्चय पर पहुचे कि लीग अपनी माँगो से इन्च भर भी हटने को तैयार नही है और उन्होने देश का विभाजन निश्चय कर लिया। कांग्रेस विभाजन स्वीकार करने को मजबूर हो गई क्योकि वह नही चाहती थी कि हम भारतीय उन्मत्त हो कर राक्षसो की तरह या पशुओ की तरह इसी प्रकार लडते और दूसरे को मारते काटते रहे और इस प्रकार मानवता को कलंकित करते रहे। पाशविकता एवं दानवीयता के प्रचार एवं अस्तित्व को रोकने के लिये उसे ऐसा करना पडा। लीग ने जिना ने इसलिये स्वीकार कर लिया कि उन्हे चर्चिल का सकेत मिल गया था। ३ जून, १९४७ को वायसराय ने देश-विभाजन की घोषणा कर दी। पजाब और बगाल की सीमाएँ निर्धारित करने के लिये सीमा निर्धारण समितियाँ बनाई गई। असम से सिलहट को अलग करके पूर्वी बगाल मे मिला दिया गया पजाब का भी विभाजन हो गया। रजवाडे स्वतन्त्र घोषित किये गये और उन्हे अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान मे सम्मिलित होने का अवसर दिया गया और यही से कश्मीर समस्या का बीजारोपण हो गया। इस योजना से न कांग्रेस प्रसन्न हुई, न लीग, न सिक्ख। यहाँ तक कि प्रसिद्ध साम्यवादी रजनी पामदत्त भी असन्तुष्ट रहा। जुलाई, सन् १९४७ ई० मे ब्रिटिश लोक सभा ने भारतीय स्वतन्त्रता कानून पास किया। इसमे देश-विभाजन, विभाजित भागो को पूर्ण राज्य- प्रभुता ब्रिटिश प्रभुता, की समाप्ति, तत्कालीन सविधान-सभा को ही सविधान बन जाने तक के लिये सर्वोच्च प्रभुता, इस अवधि तक के लिये आवश्यक सशोधन के साथ १९३५ के ही ऐक्ट का चालू रहना, ३ मार्च, १९४८ तक के लिय गवर्नर जनरल का १९३५ के ऐक्ट को सशोधित कर सकने का अधिकार, सम्राट के प्रतिषेधात्मक अधिकार की समाप्ति और वह अधिकार गवर्नर जनरल को दे देना, भारत मे अंग्रेजो की की गई सभी सन्धियो की समाप्ति भारत-

सचिव के पद और कार्यालय का अन्त, सम्राट की उपाधियों में से भारत के सम्राट का निकाल दिया जाना, आदि बाते थी।

संविधान सभा ने दिसम्बर (४६)–जनवरी (४७)–को ही अपना उद्देश्य प्रस्ताव पास कर दिया था। इसे १३ दिसम्बर, ४६ को प० जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्तुत किया था जो २२ जनवरी, ४७ को स्वीकृत हो गया। इसके बाद विभिन्न उद्देश्यों के लिये भिन्न-भिन्न समितियां बनीं। २६ अगस्त, १६४७ ई० को एक प्रारूप समिति (ड्राफ्टिंग कमिटि) डाक्टर अम्बेदकर की अध्यक्षता मे बनी। यह समिति विभिन्न समितियों द्वारा प्रस्तुत निर्णयों के अनुसार संविधान बनाने के लिये थी। मार्च, १६४८ को संविधान का प्रारूप प्रकाशित हो गया। २६ नवम्बर, १६४६ ई० को उस पर विचार-विनिमय का कार्य समाप्त हो गया। २६ जनवरी, १६५० से यह नया संविधान देश पर लागू हो गया। इसके पश्चात् तीन वर्षों तक हम पराधीनता के अन्तिम दिनो के अभिशापों से अपने को मुक्त करने के प्रयास में उलझ गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोभनीय और दुःखद परिस्थितियां निराकरण के लिये जिन राजनैतिक अधिकारों की अपेक्षा करती थी वे मांगने पर उचित समय पर दिये नहीं जाते थे। परिणामस्वरूप हमें अनुकूल वातावरण और वास्तविकता की अनुभूति कराने के लिये राजनीतिक आन्दोलन करने पड़ते थे। ये आन्दोलन और परिस्थितियों एवं ऐतिहासिक घटनाओं का चक्र हमारी अनुभूति को प्रखरतर और तृषा को तीव्रतर कर देता था। सरकार बहुत दूर तक देखती अवश्य थी किन्तु पीछे की ओर देखती थी। उसके कदम उठते अवश्य थे किन्तु समय के बहुत बाद और इसलिये उपयोगी एवं सन्तोषप्रद नहीं होते थे। ये राजनीतिक सुधार कुछ राजनीतिक आन्दोलनों के परिणाम होते थे और स्वयं भावी आन्दोलनों के लिये कारण स्वरूप हो जाया करते थे। इन राजनीतिक आन्दोलनों की प्रकृति पर भी विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

राजनीतिक आन्दोलनों की प्रकृति एवं भाव-जगत—

१८८५ ई० से १६०५ ई० तक राष्ट्रीय कांग्रेस की यही मांग रही कि अंग्रेजी शासन-व्यवस्था में इतना सुधार हो जाय कि हिन्दुस्तानियों को कुछ अधिक प्रतिनिधित्व मिल जाय। १६०१ में रमेशचन्द्र दत्त ने कहा था कि भारतीय जनता एकाएक होने वाले परिवर्तनों और क्रान्तियों को पसन्द नहीं करती, वह मौजूदा सरकार को और मजबूत बनाना चाहती है, साधारण लोगों से उसका घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थायी करना चाहती है, और वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् तथा प्रत्येक प्रान्त की कार्यकारिणी परिषद् में कुछ और भी भारतीय सदस्य चाहती है। सर सुरेन्द्र बनर्जी अंग्रेजी राज्य

के स्वरूप को और अधिक उदार बनाना चाहते थे। इनके कार्य का स्वरूप या प्रार्थना पत्र देते जाना-विनती करते रहना। ऐसी कांग्रेस को भी लार्ड कर्जन शान्तिपूर्वक दफनाना चाहते थे।

इसके बाद के दो तीन वर्षों का समय लक्ष्य और उसके स्वरूप परिवर्तन का समय है। कांग्रेस के अधिवेशन दिन-दिन अधिक उत्साह से, अधिक महत्वपूर्ण ढग से और अधिक महत्वपूर्ण होने लगे। एक नवीन स्वाभिमानी राष्ट्रीय पक्ष सगठित होने लगा। तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, आदि गरम दल के नेता साम्राज्यवाद से समझौते की नीति को त्याग कर सघर्ष की नीति अपनाना चाहते थे। पढे लिखे नवयुवकों, निर्धन छात्रो, बेकारी के शिकार तथा कम वेतन पाने वाले बुद्धिजीवियो को इन नेताओ की बातें जरा ज्यादा अच्छी लगती थी। दादाभाई, इत्यादि यह प्रयत्न कर रहे थे कि कांग्रेस को स्वाभिमानी उग्रदल और विनीत प्रागतिक दल, दोनो के सहयोग से और अधिक सुपुष्ट एव सशक्त किया जाय। उग्र विचार धारा वालो का विश्वास था कि सघर्ष अनिवार्य है। उसके बिना न हमारी इज्जत अक्षत रह सकती है और न सरकार कोई सुधार या सुविधा इज्जत के साथ देगी। यह बात भी स्पष्ट होती जा रही थी कि आगामी क्रान्ति दो-चार दस बडे आदमियो तक न तो सीमित रह सकती है और न इनके द्वारा की ही जा सकती है। यह क्रान्ति प्रजातन्त्रात्मक होगी। यह क्रान्ति मध्यम श्रेणी के बुद्धिवादी मानव, स्वार्थ त्यागी नेता तथा गरीब किसानो की सयुक्त शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न की जा सकेगी। जन-भावना का प्राधान्य होगा, न कि राजाओ-महाराजाओ का। इसमे राजा महाराजा तलवार उठा कर सिपाहियो के आगे-आगे न तो मारकाट करेंगे और इसलिये न उनका उतना महत्व होगा। प्रधानता बुद्धि की होगी, महत्ता, त्याग की होगी। और, जिस दिन यह तै हो गया उसी दिन यह भी तै हो गया कि अब साहित्य से भी राजाओ-महाराजाओ की विरदावली का युग चला गया। अब युग आया है त्यागी और बुद्धिमान् नेताओ तथा त्याग और बलिदान करने वाली सामान्य जनता का। अब सिपाहियो की नहीं, शहीदो की टोलियो का महत्व होगा। अब "खट खट खट खट तेगा बोल बोले छपक-छपक तरवारि" का स्वर शांत हो जायगा और

ले कृषक सन्देश कर बलि वन्दना, ध्वज तिरंगे की करो सब अर्चना।
घूमता चरखा लिये गिरि पर चढो, ले अहिंसा शस्त्र आगे ही बढो ॥[1]

का स्वर प्रबुद्ध होगा। अब "जैसे पान तमोली कतरे जैसे कतरें खेत किसान, तैस उदल दल माँ पइठं सब दल कुनर-कुनर घरि जाय" की जगह "बन पडे जिधर दो पग मग

१ 'हिम किरीटिनी' के 'मरण-त्योहार' से

मे चल पडे कोटि पग उसी ओर"[२] का स्वर सुनाई पडेगा। अब महत्ता जनता जनार्दन की होगी, 'शहीदों की टोली" की होगी। नये लोग राष्ट्रीय आन्दोलन का कट्टर हिन्दुत्व और अध्यात्म प्रधान प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता के आधार पर खडा करना चाहते थे। शिवाजी, गोरक्षा, गणपति पूजा, काली पूजा, आदि को राष्ट्रीय रूप दिया गया। भारत देश "माता' हो गया। परिणाम यह हुआ कि जिस निःशस्त्र और सशस्त्र क्रांतिवाद का जन्म हुआ और जिस राष्ट्रीय शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पक्ष मे नियोजित करने के लिये तिलक, आदि ने भगीरथ प्रयत्न किया उसकी प्रथम अभिव्यक्ति बग भग के प्रतिकार के रूप मे हुई। अब राजनीतिक दृष्टि से जागरूक भारतीयो ने पश्चिम के राजनैतिक और नैतिक इतिहास की जानकारियो का उपयोग अपने राष्ट्र के हित म करना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजो की ही कसौटी पर हम अंग्रेजो के वचन और कार्य की परीक्षा करने लगे। अयोग्य कह कर अंग्रेजो का हमे उत्तरदायित्व और पदो से वंचित रखना, दंडशासन के प्रति अंग्रेजो की ईमानदारी, हमारे राजनीतिक अधिकार देने के पहले सामाजिक एकता स्थापित होने की अंग्रेजों वाली नीति, राज्य कर सकने की हमारी अयोग्यता हमारी अशिक्षा, आदि प्रश्नो पर नैतिक और न्याय-सम्बन्धी दृष्टिकोणो से विचार किया जाने लगा। हम समझने लगे कि राष्ट्रोन्नति एक नैतिक लक्ष्य है। बीच मे एक प्रश्न यह भी उठा कि हमारा कर्त्तव्य केवल भारत राष्ट्र के ही प्रति है (गरम दल) या अंग्रेजों और राष्ट्र दोनो के प्रति (नरम दल)। तिलक ने राष्ट्र को ही प्रधानता दी। १९ वी शताब्दी के हिन्दुत्व के पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि मे गणपति उत्सव, वेदान्त के पुनरुत्थान, शिवाजी, राणा प्रताप आदि स राष्ट्र का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो गया। अध्यात्म, ईश्वर और धर्म, देशभक्ति के आन्दोलन की सहायता में नियोजित किये गये। मैथिलीशरण गुप्त के राम इस पृथ्वी का स्वर्ग के समान बनाने के लिये अवतार लेते हुए दिखाई पडने लगे। इस दृष्टि से अरविन्द का यह उद्धरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है, "राष्ट्र के इतिहास मे कभी-कभी ऐसा अवसर आता है जब उसके सामने परमात्मा की ओर से बस एक ही उद्देश्य, एक ही कार्य का निर्देश रहता है और उस उद्देश्य तथा कार्य के सामने शेष सारे कार्यों और उद्देश्यो का, चाहे वे कितने भी उदात्त और महान् क्यो न हों, परित्याग कर देना पडता है।

हमारी मातृभूमि के लिये ऐसा ही समय उपस्थित है जब कि उसकी सेवा से बढ कर कोई भी वस्तु प्रिय हो नहीं सकती, जब कि हमारे सारे कार्यों का लक्ष्य मातृभूमि की सेवा होना चाहिये। यदि आप लोग अध्ययन करना चाहते

२ सोहनलाल द्विवेदी कृत 'भैरवी' से

है तो माँ के लिये ही अध्ययन कीजिये, अपने शरीर मन और आत्मा का संस्कार माँ की सेवा के लिये ही कीजिये...... ।"[1] अरविन्द का विचार था कि ईश्वर का आदेश हो चुका है कि भारत स्वतंत्र हो और वे आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता को परमात्मा की अवतार शक्ति मानते थे। हमारी राष्ट्र-अन्तर्प्रेरणा को वे एक देवी लीला मानते थे और इसीलिये उन्हे आध्यात्मिक मोक्ष और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य मे कोई भी भेद दिखलाई नही पडता था। वेदान्त ने उन्हे राष्ट्रीय कर्तव्य की ओर बढने की प्रेरणा दी। उपनिषद् के दो पक्षियो की एक कथा का आधार लेकर अरविन्द ने उसे राष्ट्रीय जीवन पर घटित करते हुए कहा था कि विदेशियो का शासन एक माया है जिस का जाल हमारी आत्मा पर भी फैल गया है। जब हमने बग भग के कडुए फल का स्वाद चखा तो हम समझ गए कि हमारा स्वराज्य हमारे ही अन्दर है और उसे पाने तथा उसका साक्षात्कार करने की शक्ति भी हमारे ही अन्दर है। उनका विश्वास था कि भारत की आजादी भगवान का ही कार्य है और वह हमसे यह करा लेना चाहता है। परिणामत 'वन्दे मातरम्' एक मत्र हो गया। एक शक्ति हो गया। एक प्रेरणा बन गया। एक सत्य बन गया। उसने एक अनुभूति का स्वरूप धारण किया। आज के कुछ विचारक उस समय की इस राजनीति को प्रतिक्रियावादी अथवा साम्प्रदायिकतावादी मनोवृत्ति की कहते हैं। वे इस राजनीति की तात्कालिक सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि को भुला बैठते हैं। उस समय के राष्ट्र-प्रेम और स्वातन्त्र्य-सघर्ष के आंदोलन का स्वरूप इस चितन का भी परिणाम था कि हम आज पश्चिम पर बहुत अधिक आधारित हो गये हैं और इसलिये इस विदेशी आधार का परित्याग करना चाहिये। प्रश्न उठा कि हमे फिर कौन सा स्वरूप अपनाना चाहिये ? हमारी प्रेरणा का स्रोत क्या हो ? आज इसमे कोई भी सन्देह नही रह गया है कि हिंदू युग का भारत भारत के इतिहास मे सर्वाधिक गौरवपूर्ण रहा है। हमारी संस्कृति का आदि रूप और असाधारण ढग से दीप्त रूप वही है। यदि पाश्चात्य सस्कृति की आँधी रोकनी है तो हिन्दू युग के भारत से शक्ति प्राप्त करनी होगी। उस युग का भारत अखड था एव अद्वितीय था। जिस समय इस्लाम टर्की के शाह को खलीफा समझ कर उनका आदर करने तथा अंगरेजों को उपयोगी समझ कर उनका अनुकरण करने की ओर प्रवृत्त हुआ उस समय हिन्दुत्व इस स्थिति को पीछे छोड कर चन्द्रगुप्त, अशोक, उपनिषद्, गीता, और ऋषियो मुनियो की ओर देखने और उस युग की सस्कृति को अपनाने की ओर बढ चुका था। इसको साम्प्रदायिकता की दृष्टि से देखना इनके

१. 'अदिति', पत्रिका, 'अरविन्द' विशेषाक, अगस्त, १९५१ ई० पृ १७।

साथ अन्याय करना है। यह विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय था। इसी पृष्ठभूमि मे रख कर हम तिलक की विचार धारा का सही मूल्याकन कर सकते हैं और इसी पृष्ठभूमि में रख कर हम 'भारत भारती', 'हिन्दू', 'गुरुकुल', के कवि के दृष्टिकोण का सही मह्त्वाकन कर सकते हैं और 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'राज्य श्री', आदि के नाटक-कार के दृष्टिकोण को सही ढग से समझ सकते हैं। तिलक के साथ मध्यवर्ग कांग्रेस मे आया और अरविन्द के साथ मध्यवर्ग प्रत्यक्ष संघर्ष के क्षेत्र मे कूद पडा। इसी दृष्टिकोण का जब प्रभाव क्षेत्र बढा तो गांधी के साथ निम्न वर्ग भी आ गया। टामसन और गैरेट ने लिखा है कि लार्ड कर्जन के शासन काल ने शिक्षित भारतीयो को राजनीतिज्ञतात्मक रूप से सोचना और अपने देश को शेष ससार से सबद्ध करके उस रूप मे देखना सिखा दिया।[२] ज्यों ज्यों हमारी स्वाधीनता का सघर्ष तीव्र से तीव्रतर होता गया त्यों त्यो सारे ससार के और स्वत इगलैण्ड के भी कुछ उदार विचार वाले हमारी प्यास को, हमारी आकांक्षाओं को सही रूप में समझने और उनसे सहानुभूति रखने लगे। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध सारे ससार के और विशेष रूप से इगलैण्ड के समाजवादी विचारधारा वाले दलो के साथ हुआ। उस आध्यात्मिक दृष्टि एव विश्वास और इस विश्वव्यापी सहानुभूति ने हमारी राष्ट्रीयता को निर्भीकता का तत्व दिया। हम कष्ट और मृत्यु का स्वागत करने लगे। उनको सहन करके गौरव का अनुभव करने लगे। बगाल के १६०७ के आदोलन मे जब एक युवक को लम्बी सजा मिली तो उसकी बूढी माता ने अपने पुत्र की इस देश सेवा पर हर्ष प्रकट किया और बगाल की ५०० स्त्रिया उसे बधाई देने उसके घर गई।

इस पृष्ठभूमि मे हमारी राजनीति अपने विकास की दूसरी स्थिति मे आती है और उसकी प्रवृत्ति परिवर्तित हो जाती है। अब हमारे कार्य सघर्ष की प्रेरणा से प्रेरित होकर सम्पन्न होने लगे। प्रार्थना-पत्रों और नम्र निवेदनो का युग बीत गया। नैतिकता के तत्व ने खुली चुनौती देकर कार्य करने का साहस दिया। हमारे नेता और कार्यकर्त्ता कचहरियो मे खडे होकर यह वक्तव्य देने का साहस करने लगे कि वे इस सरकार और इस शासन को समाप्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं। इस समय तक मध्य वर्ग और निम्न वर्ग, दोनो राजनीतिक सघर्ष मे भाग लेने के लिए आगे बढ गये किन्तु चूकि आदोलन चलाने के लिए धन की आवश्यकता पडी, सगठन, आदि के लिये प्रभावशाली व्यक्तित्व की आवश्यकता पडी, और कूटनीति एव बुद्धि प्रधान शासकों

---

२ 'राइज ऐण्ड फुल फिल्मेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इडिया', पृ ५१७।

की कानूनी भाषा का जवाब देने के लिये वकीलो और बुद्धिवादियो की आवश्यकता पडी इसलिये स्वाभाविक रूप से प्रधानता मध्यवर्ग की हो गई। कुछ लोग नेता हो गये और शेष लोग *अनुयायी एव कार्यकर्ता। अब कांग्रेस राजनीतिक स्वतन्त्रता* की प्राप्ति के लिये सरकार के खिलाफ सघर्ष मे जनता का नेतृत्व करने वाली राजनीतिक पार्टी हो गई। जन-आन्दोलन चले।

प्रथम महायुद्ध के अन्त तक हमारी राजनीति मे अंग्रेजो के प्रति विश्वास का अश महत्वपूर्ण था। हमारी राजनीति प्रार्थनात्मक न होते हुये भी राजभक्तिस्वरूपा थी। स्वय गांधी महायुद्ध मे अंग्रेजो की जीत चाहते थे और इस बात के लिये प्रयत्न किया था कि देश अंग्रेजो की सहायता करे किन्तु महायुद्ध की समाप्ति ने तख्ता पलट दिया। अंग्रेजो ने अपने विभिन्न कार्यो से हम पर जो अपना अविश्वास प्रकट किया वह बहुत बडी बात हो गई। यह सही है कि उस समय की जनता की दुर्दशा, मँहगाई की मार और अन्धाधुन्ध नफाखोरी के परिणामस्वरूप होने वाली हमारी तबाही और बरबादी, युद्धार्थ बलात् लिये गये चन्दो और सहायताओ एव सैनिक-भर्ती, आदि से उत्पन्न असतोष, होमरूल आंदोलन, रूसी क्रान्ति की सफलता, आयरलैण्ड की स्वतन्त्रता, जापान की रूस पर विजय, आदि अनेक तत्व हमे उग्रतर सघर्ष के लिये उकसा रहे थे किन्तु फिर भी, आने वाले सघर्ष इतने भयानक न होते यदि अंगरेजी साम्राज्यवाद भारतीयो के अन्दर स्थित अपने प्रति असाधारण विश्वास को बूटो की ठोकरें न मारता, पेट के बल न रेंगाता, चौपायो की तरह चलने के लिये मजबूर न करता, उस पर गोलियां न चलाता, उस पर घोडे न दौडाता, उसे हण्टरों से न मारता। भारतीय असाधारण रूप से विश्वासी होता है किन्तु अपमान धूल का भी अच्छा नही होता और वह भी तब जब हम सजग एव जागरूक होकर यह समझ गये हो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे हमारे विरोधी का प्रभुत्व महत्व और सम्मान घट चला, है सास्कृतिक विकास के पथ मे वह एक विघटनकारी एव विनाशकारी तत्व है, लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता का पाठ पढाने के लिये उनके अवतार लेने की बात कोरी शेखी और ढोंग है। उन्हे वास्तविकता एव यथार्थ को समझ कर उसके अनुसार चलना चाहिये था। और नस्ल की श्रेष्ठता की बात भुला देनी थी। हमने ऐसा भुला दिया कि हमारे इस पूरे युग के साहित्य मे नस्ल सम्बन्धी श्रेष्ठता को लेकर एक पंक्ति भी नही लिखी गई किन्तु अंग्रेज नौकरशाही न भुला सकी क्योकि, पण्डित जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे, भारतीय नौकरशाही 'सामन्तवादी और आधुनिकतम नौकरशाही की मशीन का ऐसा सघटन (है) जिसमे अच्छाइयां किसी की नही हैं मगर

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥
जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। साँत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥
हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्ट देव इव सब सुख दाता॥
रामहिं चितव भाय जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया॥

निष्कर्ष यह कि—एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहिं तस देखेउ कोसलराऊ॥
अर्थात्— जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।

ठीक उसी प्रकार जब भारतीय राजनीति के मंच पर गाँधी रूपी बाल पतंग का उदय हुआ तब श्रीमती एनी बेसेन्ट ने उन्हें राजनीति की दृष्टि से दुध-मुँहे-बच्चे के सदृश देखा गरमदल वालों ने इनको एक ऐसे नेता के रूप में देखा जिसका निःशस्त्र प्रतिकार उनको उनका अपने पहले वाला बहिष्कार-योग ही प्रतीत हुआ, नरम दल वालों को इनकी अहिंसा और राज्यभक्ति सद्यानीत दिखाई पड़ी, सुधारकों को वे उस सुधारक के रूप में दिखलाई पड़े जो हमारी कमजोरियों को ही हमारी गुलामी का कारण समझ कर पहले उनका सुधार करना आवश्यक समझता है, धर्म-सुधारकों को वे भागवत धर्मी सुधारक सन्त की तरह लगे, सनातनियों को वे चातुर्वर्ण पालक सनातनी महात्मा के रूप में दिखाई पड़े, नास्तिकों को वे मूलतः सत्य का पालन करने वाले की तरह प्रतीत हुए जो सत्य को ही परमात्मा समझता है, क्रांतिकारियों को वे 'होशियार क्रान्तिकारी' लगे, उग्रवादी उन्हें सरकारी खुफिया समझते थे, साम्यवादी उन्हें बुर्जुआ प्रवृत्ति का समझते थे, अंग्रेजों को वे राजनीतिक सुधारवादी लगे, आदि। कुछ भी हो, किन्तु इस महामानव के नाम का जादू सबके सिर पर चढ़ कर बोलता था। इस महामानव में न मालूम कौन-सा आकर्षण था कि जो इनके सम्पर्क में आता था वह इनका अनुयायी हो जाता था—कम से कम, इस के रंग में रंग अवश्य जाता था।

देश में उनसे अच्छे वक्ता थे, उनसे अधिक बुद्धिवादी थे, उनसे बढ़ कर कानून के विशेषज्ञ थे, उनसे बढ़ कर कार्यकर्त्ता थे, उनसे बढ़ कर त्यागी थे—सब कुछ था, किन्तु इनमें कुछ ऐसा विशेष था जो सबको इनके चरणों पर न्यौछावर कर देता था। इसका विश्लेषण आज तक न हो सका। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि इन्हें मानने वाले सब अन्धविश्वासी हो रहे हों, ऐसी बात नहीं है किन्तु फिर भी न मालूम क्यों सब इनकी बात यथा शक्ति मानते चले जाते थे।"[१] इनके विरोधी भी इनका आदर करते

१ "बापू के कदमों में", पृ०

थे। इसका सबसे बड़ा उदाहरण चौरीचौरा–काण्ड के पश्चात् के सत्याग्रह–स्थगन के पश्चात् मिलता है। गांधी जी ने पूरे आन्दोलन को बन्द कर दिया। सारा देश हक्का-बक्का रह गया। एक एक भारतीय क्षुब्ध हो उठा! क्रोध और दुःख से पागल हो गया! चारों तरफ पस्ती छा गई। गतिरोध और जड़ता का वातावरण था! किन्तु फिर भी, सब लोग गांधी को न छोड़ सके। उन पर विश्वास इतना था कि लोग उनसे मतभेद रख कर उनसे अलग भी हो जाते थे किन्तु संकट की घड़ी आ पड़ने पर फिर सभी उनको अपना एकमात्र पथ-प्रदर्शक मान कर उनकी आज्ञा पर चलते थे। और, इस महामानव ने राजनीतिक चेतना को झटके भले ही दिये हों किन्तु उसके साथ धोखेबाजी कभी नहीं की। जिस कुशलता से इस नेता ने देश की राजनीतिक चेतना और गति-विधि का नेतृत्व किया है उससे स्पष्ट है कि यह पुरुष असाधारण रूप से सुयोग्य कलाकार था। इससे अधिक कलाकुशलता के साथ कोई प्रबन्धकार कवि महाकाव्य की कथावस्तु की योजना नहीं कर सकता! एकान्त में बैठ कर सोच-विचार कर जिस नाटकीयता, कलात्मकता और रस के साथ कोई कहानी या नाटक लिखता है उतनी ही नाटकीयता, कलात्मकता और आत्मा की सरसता के साथ इस कलाकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया है। देश की जनता को गतिशील किया है। और, यह बहुत बड़ी बात है। इसके द्वारा चलाये गये आन्दोलनों और कार्यक्रमों की भट्टी में तप कर हर बार नयी और पहले से अधिक पुष्ट राष्ट्रीय भावना या चेतना एकता और प्रगतिशील प्रवृत्तियों के साथ, आत्मविश्वास और गौरव के साथ, निकलती रही। यह कार्य इतना नाजुक था कि यदि एक बार भी, तनिक सी भी, कमी दूरदर्शिता में रह जाती तो निःशस्त्र क्रांतिवादी तन्त्र, शास्त्र व तत्त्वज्ञान असफल हो जाता और सम्भवतः देश हिंसाप्रधान युद्ध करता एवं पूर्णरूपेण साम्यवादी हो जाता! इस महात्मा के आगे अंग्रेजों की यह इच्छा और प्रयत्न असफल हो गए कि इस महाद्वीप को अनेक राष्ट्रों में बदल दें। और, केवल इसकी बात से तनिक ही लोग हटे तो देश दो भागों में बँट गया। संसार के सभी विचारक और राजनीतिज्ञ भारत की इस अपूर्व राजनीति को देखने लगे। तनिक से शांतिपूर्वक (?) अर्थात् बिना रक्त बहाए होने वाले शासक-परिवर्तन की इङ्गलैंड की घटना को इङ्गलैंड का इतिहासकार 'ग्लोरियस रेवोल्यूशन' कहता है यद्यपि वहां राजा डर के मारे चुपचाप भाग गया था किन्तु भारत का यह "रेवोल्यूशन" कितना 'ग्लोरियस'–कितना, कितना अधिक "ग्लोरियस" है, कि यहाँ एक शासक नहीं, एक पूरे का पूरा–विशालतम और महत्तम साम्राज्यवाद बदला गया, यहाँ का शासक डर कर भागा नहीं, अपनी इच्छा से, अपने मन के अनुरूप व्यवस्था करके, स्वयं तिथि निश्चित करके उसके बाद खुशी खुशी जाने का विधान बना कर गया, यहाँ हटने वालों ने हटने वाले के अंतिम प्रतिनिधि को अपना बना कर अपना

पहला शासक नियुक्त किया, यहाँ जाने वाला मार खाकर, हार कर नही गया, यहाँ सफलता पूर्वक भगाने वालो ने मार खाई, यहाँ हारने वाला जीत गया और जीतने वाला हार गया, और इतना सब हो गया किन्तु किसी भी पैमाने पर युद्ध नही हुआ !!! यह स्वरूप था यहा की राजनीतिक गतिविधियो का ! यह असाधारणता थी यहाँ की राजनीतिक प्रवृत्तियो की !! यह नेतृत्व था गांधी का ! इन सबके पीछे रहस्य क्या था ? किसने यहाँ की राजनीति को इतना गौरवपूर्ण बना दिया ? किसने यहाँ की राष्ट्रीयता से आधुनिक राष्ट्रीयता के सभी दोषो का निराकरण कर दिया ? इसका उत्तर एक है और वह है "सांस्कृतिक पृष्ठभूमि" । यह विशेषता है भारतीय संस्कृति की ! यह अभूतपूर्वता मिली भारतीय संस्कृति के कारण ! इस गौरव का श्रेय है उसी को । उसी भारतीय संस्कृति के रङ्ग मे गाँधी रगे थे और इसलिये उसी भारतीय संस्कृति के रङ्ग मे गांधीवाद रग गया जो तत्कालीन भारतीय जीवन और राजनीति की सबसे बडी, सबसे प्रमुख, और सबसे अधिक प्रभावशाली प्रवृत्ति थी । बात यह है कि राजनीतिक उद्देश्यो और लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये गांधी जी ने अपने राजनीतिक आन्दोलनो को जो स्वरूप दिया वह सत्याग्रह कहलाया । इस सत्याग्रह के बाह्य और आन्तरिक, दोनो पक्षो का निर्माण भारतीय संस्कृति के असाधारण तत्वो से हुआ है । (आ) हमारे चारो ओर व्याप्त या फैले हुए (सत्य) सत्य को (ग्रह) ग्रहण करना ही सत्याग्रह है । भ्रमवश कुछ लोग इसे सत्य का हठ या सच्ची जिद समझ बैठे हैं । सत्य नाम परमेश्वर का है । उसके लिये जिद नही की जाती । उसका ग्रहण किया जाता है । हम समझते थे कि आस पास के वातावरण मे एक यह तथ्य परमेश्वर की तरह व्याप्त है कि अंग्रेजों का भारत मे शासन करना ठीक नही है । इस सत्य का ग्रहण उन्हें भी करना था ।

हम समझते हैं कि विदेशी वस्त्रो का व्यवहार भारत के लिये अहितकर है, कि नमक कर अमानुषिक है, कि मदिरा पान को सभी बुरा समझते हैं और क्यो कि इसका सम्बन्ध आपसे भी है, अतएव, आपको भी इस सत्य का ग्रहण करना चाहिये । यदि आप ऐसा नही करते तो हम अपने आपको अधिकाधिक कष्ट मे डालकर उसे सह कर उसकी अनुभूति करवाना चाहेंगे क्यो कि परमात्मा अर्थात् सत्य का अंश होकर सत्य से विमुख रहना असत्य की ओर प्रवृत्त होना है और 'असतो मा सदगमय' भारत की सांस्कृतिक प्रार्थना है । इसमे विरोधी के प्रति घृणा नहीं होती । उसको कष्ट पहुचाने की मनोवृत्ति नही होती । उसकी हानि करने का लक्ष्य नही होता । उद्देश्य यह होता है कि दूसर पक्ष वाला व्यक्ति सत्य को ग्रहण करके उसी के अनुसार आचरण करे । इसी रास्ते पर चलकर ही हमें

राजनीतिक सत्यों की भी अनुभूति करनी पड़ती है और राजनीतिक अधिकारों की भी प्राप्ति करनी है। इसमें व्यक्ति की भावना जीतनी होती है। उसकी गति-विधि परिवर्तित करनी होती है। सत्य का ग्रहण और सत्य का आचरण भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है। अहिंसा भारतीय संस्कृति का एक अमूल्य तत्व है। गांधी जी ने इसका महत्व समझा और अपने अनुयायियों को भी समझा दिया। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने लिखा है, 'अगर दुनियाँ के हत्याकांडों का इतिहास हमें कुछ सिखाता है तो कम से कम इतना तो साफ बताता ही है कि कभी हिंसा से संहार सत्य और न्याय की जय नहीं हुई है .... लेकिन अगर एक-एक बड़े परिवार का इतिहास खोजा जाय तो अहिंसक उपायों से पारिवारिक कलह सफलतापूर्वक मिटाये जाने के सैकड़ों उदाहरण मिल जायेंगे।'[1] गांधी जी ने राजनीतिक क्षेत्र में इसका प्रयोग इस प्रकार किया कि हमें अपने विरोधी के प्रति द्वेष-भाव ही नहीं रखना है। न मारना ही अहिंसा नहीं है। द्वेष भाव का अभाव ही अहिंसा की प्रतिष्ठा है यह तभी हो सकता है जब हमारे अन्दर उसकी आत्मा के प्रति आत्मभाव हो। हम उसके अपने बीच अद्वैत तत्व की अनुभूति कर लें। जो हमारे अन्दर है वही अंग्रेजों के अन्दर भी है। तब कौन किससे द्वेष करे! बस, बात इतनी सी है कि इस समय वह थोड़ा भ्रम में ग्रस्त हो गया है। इसलिये भ्रम को मिटाई करनी है, भ्रमित को नहीं। इसीलिये पाप से घृणा करनी है, पापी से नहीं। इसलिये हमारी लड़ाई अंग्रेज से नहीं कुछ अंग्रेजों की असद् वृत्ति से है। यही कारण है कि हमारा पूरे का पूरा स्वतन्त्रता संग्राम घृणा और द्वेष की भावना से मुक्त रहा है। इस प्रकार धर्म और राजनीतिक का समन्वय हो गया। श्री कृष्णदत्त पालीवाल ने लिखा है, 'महात्मा जी ने राजनीति में धर्म का सम्मिश्रण करके वारांगना राजनीति को योगिनी बना दिया है'।[2] इस आजादी की प्राप्ति को गांधी जी भारतवर्ष के लिये उसके आत्म-स्वरूप, सांस्कृतिक स्वरूप, की पुनर्प्राप्ति का एक साधन मानते थे, न कि भौतिक समृद्धि मात्र का एक 'मार्ग'। उनके इस मार्ग पर चलने में राजनीतिक सत्ता या प्रभुत्व जीवन के समस्त क्षेत्रों पर सर्वग्राही या सर्वभक्षी प्रभाव नहीं डालने पाया। अहिंसा और सत्य के इस मार्ग पर चलने और देश को चलाने के लिये गांधी जी को कितना सतर्क रहना पड़ता था, कितनी सूक्ष्मता से सोचना पड़ता था, यह कर्म उन्हें कितनी कुशलता के साथ करना पड़ता था, कि कुछ आदमी चौरीचौरा में मारे गये और मारे देश का आंदोलन रोक देना पड़ा।

१ 'गांधीवाद और समाजवाद' पृ० २६-२७।
२ 'गांधीवाद और मार्क्सवाद' पृ० २१५।

जो तत्व को नहीं समझ पाये वे गाँधी जी के उस भयानक कदम का औचित्य आज तक नहीं समझ पाये। इसको कहते हैं 'योग कर्मसु कौशलम्' और, सत्याग्रही के लिये जिस एकादश व्रत का विधान गाँधी जी ने किया है वह जीवन के लिये भारतीय सस्कृति का सारभूत अमृत तत्व कहा जा सकता है —

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह,
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन,
सर्वधर्मसमानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना,
विनम्र व्रतनिष्ठा से ये एकादश सेव्य हैं

(सियारामशरण गुप्त द्वारा किया गया अनुवाद)

यह व्रत कितना असाधारण है इसकी व्याख्या के लिये अगाध तत्व की ओर सकेत मात्र पर्याप्त होगा। गाँधी जी स्वदेशी का अर्थ अपने पड़ोसी के प्रति अपना कर्तव्य समझते थे। स्वदेशी का अर्थ खद्दर या भारतवर्ष मे बने सामान से ही न था। उनका कहना था कि जो तुम्हारा पड़ोसी है उसके प्रति तुम्हारा कर्तव्य यह है कि पहले उसके द्वारा बनाई गई उसकी वस्तु खरीदो और उसका उपभोग करो। असग्रह का महत्व वे यह समझाते थे कि आपका सग्रह किसी को उसके उपभोग से वञ्चित रखता है और परिणामस्वरूप पाप करने को मजबूर करता है। आप सग्रही न हो, कोई विग्रही न रह जायगा। आप इकट्ठा न करें, कोई चोरी न करेगा। इसीलिए कजूस को चोर का बाप कहा गया है। ब्रह्मचर्य केवल यही नहीं है कि आप नारी के सम्पर्क मे दूर रहे, एकांत मे उसके साथ बैठे बोलें, और हँसी-मजाक न करे, दर्पण न देखें शृङ्गार न करें व्यर्थ-चिंतन और काम चिंतन न करें चटपटे और मसालेदार एव उत्तेजक भोज्य का उपभोग न करें, आदि, वास्तविक ब्रह्मचर्य तो यह है कि उससे प्रभावित होकर विपरीत योनि का व्यक्ति योनि भेद का पूर्णरूपेण तिरस्कार कर दे। जैसे माँ अपने पुत्र के साथ और पुत्री अपने पिता के साथ सोते समय योनि-भेदभाव भूल कर 'सेक्सलेसनेस' का अनुभव करती हुई निर्दोष रहती है वैसी ही निर्दोषता पूर्ण ब्रह्मचर्य की कसौटी है। गाँधीजी के जीवन मे होने वाले इस प्रयोग का उल्लेख 'दि लास्ट फेज' में प्यारेलाल जी ने उस समय किया है जब गाँधी जी नोआखाली अभियान मे निरत थे और एक स्थिति ऐसी आई थी जब इसके लिए उन्होंने मनु को माध्यम बनाया था और वे और मनु एक ही बिस्तर पर एक साथ सोते थे। राम-नाम को ही समस्त व्याधियों की एकमात्र औषधि मानने पर गाँधीजी का अखण्ड विश्वास था, और इसीलिये प्राकृतिक चिकित्सा को ही सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा समझना उनकी भारतीय सस्कृति पर होने वाली अखण्ड एव अटूट श्रद्धा एव आस्था

का द्योतक है। सत्याग्रह करने के पूर्व अपने विरोधी को सत्याग्रही का नाम, पता, सत्याग्रह करने का स्थान और सत्याग्रह करने की तिथि, आदि सूचित कर देना राजनीति मे नैतिकता के समावेश की अन्यतम स्थिति है। विरोधियो के धार्मिक त्योहारों, आदि का ध्यान रख कर उन दिनो सत्याग्रह न करने की सूचना देना वह असाधारण भारतीय नैतिक भूमिका है जिसका उदाहरण और कहीं भी नही मिल सकता। भारतीय सस्कृति की पृष्ठभूमि मे ही यह सब सम्भव है। हँसते-हँसते कष्ट सहना, बिना कटुता का अनुभव किये फांसी पर झूल जाना, वर्षों जेल की मरणांतिक यातना भुगतते रहना और फिर भी गौरव का अनुभव करना उसी के लिये सभव है जो अद्वैत की अनुभूति करता हो, सांसारिक दुखों को असाधारण एव अन्यतम महत्व न देता हो। सांसारिक सुखों का सहर्ष परित्याग उच्चतम लक्ष्य के प्रति अनन्य निष्ठा एव उसका तुलना मे इन सुखो की हीनतम स्थिति की अनुभूति का ही परिणाम हो सकता है। एक-एक सत्याग्रही सत्याग्रह आदोलन की विचारधारा एव विचार-दर्शन की एक लघुतम इकाई या-अशरूप मे प्रतिनिधि था। इस आध्यात्मिक विजय से राजनीति के क्षेत्र मे भी लोगो को तृप्ति होती थी। यह तुच्छ पर महान् की विजय थी। इस प्रकार हमारी राजनीति को उच्चतम नैतिक भूमिका प्राप्त थी। भारतीय सस्कृति के मूल तत्वों से वह अनुप्राणित थी। जवाहरलाल नेहरू ने स्वीकार किया है कि गांधी जी की राजनैतिक समस्याओ और दिन प्रतिदिन के जीवन की कठिनाइयो को हल करने के लिए नैतिकता के रास्ते के अवलम्बन पर हमेशा जोर देते थे।'[1] शकर दत्तात्रेय जावडेकर ने लिखा है 'आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि को ही वे स्वातन्त्र्य प्राप्ति का मार्ग बताते थे·· वे मानते थे कि समाज के राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवहारों पर से धर्म का नियन्त्रण हट जाने से यूरोपीय सभ्यता का नाश हो रहा है।'[2] भारतीय सस्कृति रूपी कामधेनु से दुहे हुये दूध की तरह जो नैतिक और धार्मिक मान्यताएँ गाँधी जी को मिलीं उनसे उनका जीवन, उनके विचार, और उनके कार्य अनुयायियो के भी तन-मन-जीवन अनुरजित हो उठे। उनसे प्रेरित भारतीय राजनीति का स्वरूप भी ऐसा ही था। गोपीनाथ धवन ने लिखा है कि उनका राजनीति दर्शन और उनकी राजनीतिक टेकनीक उनके धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तों के सहज परिणाम मात्र हैं उनके अनुसार धर्म विहीन राजनीति एक मृत्यु जाल है क्योकि वह आत्मा की हत्य

---

१ 'डिस्कवरी आफ इण्डिया',

२ 'आधुनिक भारत', पृ० २८४

करती है ·····।'[1] इसीलिए भारतीय राजनीतिक हलचलो को उन्होने ऐसे तत्वो से सम्पन्न किया जो राजनैतिक लक्ष्य की पूर्ति मे सर्वथा समर्थ थे और जिनसे, साथ ही साथ, व्यक्ति की आत्मा का विकास भी होता है। सत्याग्रह की लडाई बाहरी शक्तियो और साधनो मे नही लडी जाती। इस लडाई मे जीत मिलती है प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आन्तरिक चारित्रिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति से। यह शक्ति जिससे प्राप्त होती है वही समुचित साधन है वही अस्त्रशस्त्र है। इसी तत्व पर स्थित-आसीन-व्यक्ति इस युद्ध मे आगे बढ सकता है। इसीलिये इसके वास्ते रथ की उपमा दी जा सकती है। तुलसीदास जी ने राम-रावण युद्ध के बीच राम को इसी रथ से सम्पन्न दिखाया है—

> सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका।
> बल विवेक दम पर हित घारे। छमा कृपा समता रजु जोरे।
> ईस भजन सारथी सुजाना। विरति धर्म सन्तोष कृपाना।
> दान परसु बुधि शक्ति प्रचंडा। वर विज्ञान कठिन को दंडा।
> अमल–अचल मन त्रान समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।
> कवच अभेद विप्र गुरु–पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा।
> सखा धर्म मय अस रथ जाके। जीतन कह न कतहु रिपु ताके।

और गाधी जी की 'आश्रम भजनावली' मे इन पक्तियों को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भारत का गाँधी यानी भारत के राजनीतिक रण का योद्धा सैनिक—सत्याग्रही—इन्ही से सुविभूषित होता था। यही कारण है कि भारतीय राजनीति के रगमच पर गाँधी द्वारा प्रेरित आंदोलनो का स्वरूप और आन्दोलनकारियो का रूप, अधिकाधिक सात्विक था—और सभवत इसीलिये इस पृष्ठभूमि मे लिखे गये एव गाधी से प्रत्यक्षत और परोक्षत प्रभावित समस्त हिन्दी साहित्य का रूप अधिकाधिक सात्विक है—कम से कम, उतनी मात्रा मे सात्विक तो अवश्य ही है जितनी मात्रा म हमारी राजनीतिक गति विधियाँ सात्विक थी। आज यह बात कहने की नहीं रह गई है कि गाँधी जी का स्वराज्य का आदर्श 'राम राज्य' था अर्थात् प्रेम का राज्य था समवितरण का राज्य था, सहयोग का राज्य था, सेवा और सर्वोदय का राज्य था, सयम का राज्य था, न्यूनातिन्यून नियत्रण का राज्य था, सात्विक श्रम का राज्य था,था, छोटे मोटे उद्योग धन्धो का राज्य थाअधिकाधिक स्वतन्त्रता का राज्य था, इकाइयो के स्वातन्त्र और विकास का राज्य था, स्नेह सहानुभूति एव प्रेम का राज्य था, आत्मोन्नति का राज्य था, अहिंसा और सत्य का राज्य था, आत्मोन्नति का राज्य था, अहिसा और सत्य का राज्य था, धर्म और आस्था का राज्य था, सात्विकता का

१. 'दि पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गाधी', पृ० ३८

राज्य था। कन्हैलाल माणिकलाल मुशी ने लिखा है, 'हमारे सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने हमारे साहित्य, कला और शिक्षा को एक नवीन रूप दिया किन्तु एक पीढ़ी से भी अधिक समय तक यह सांस्कृतिक जागरण ' इस पूरे युग में प्राधान्य गांधी जी का था जो नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के समर्थक थे। उन्होंने मनुष्य के संघर्षों को हल करने के लिये अहिंसा का नवीन रूप से उपयोग किया। उनकी अहिंसा की व्याख्या में संसार ने मानव-संघर्षों के समाधान का एक नया ही रूप देखा।[1]

साम्यवादी राजनीति—

गाँधीवाद के अतिरिक्त देश में एक और राजनीतिक विचार धारा का प्रवाह इस अर्धशताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। यह विचारधारा थी साम्यवाद की। वा यह है कि देश के अन्दर सभी लोग एक ही स्वभाव के नहीं हुआ करते। जिन लोगों का विश्वास अहिंसा, आदि भारतीय तत्वों पर था वे गाँधी के अनुयायी बन गये किन्तु जिन नवयुवकों के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला तो धधक रही थी परन्तु अहिंसावाद मान्य नहीं था वे रूस के साम्यवादी क्रान्ति शास्त्र की ओर झुक गये। इस विचारधारा के लोगों का विश्वास है कि समाज धर्म का उदय होना चाहिये। समाज धर्म के अभाव में राजनीतिक क्रान्तियाँ अधूरी रहती हैं क्यों कि ऐसी स्थिति में राजनीतिक शक्ति एक वर्ग के हाथ से निकल कर उसी मनोवृत्ति वाले दूसरे वर्ग के हाथों में चली जाती है। अन्य कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। विपन्न वर्ग पूर्ववत् शोषित होता रहता है, पहले जैसा ही उसका दमन होता रहता है। इस क्रान्ति से वर्ग विहीनता का जन्म नहीं हो सकता। व्यक्तिगत सम्पत्ति और उसे बढ़ाते रहने की कामना करने वाला व्यक्ति भले ही आज पूंजी-विहीन हो किन्तु मनोवृत्ति की दृष्टि से है वह पक्का पूंजीवादी। लेनिन ने लिखा है[1] कि वर्गस्वार्थों का सामञ्जस्य असम्भव होने के कारण ही राज्य की उत्पत्ति होती है। मार्क्स के कथानुसार राज्य की उत्पत्ति वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक सवर्षों की रक्षा के लिये हुई है। वस्तुतः राज्य एक ऐसा हथियार है जिसके किसी विशेष युग में कोई सम्पन्न श्रेणी अन्य सभी वर्गों पर अपनी प्रभुता कायम किये रखती है। और इस प्रकार उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार स्थापित किये रहती है। एक समय प्रोलितारियत या विपन्न वर्ग राजनीतिक शक्ति को अपने हाथों में लेकर उत्पादन के साधनों पर प्रोलितारियत की तानाशाही का अधिकार घोषित कर देता है। यह प्रोलितारियत शासन सत्ता एक दिन स्वयं मुरझा जाती है और श्रेणीहीन समाज की स्थापना हो जाती है यद्यपि इसे

१ आवर ग्रेटस्ट नाट पृ० २८३।

प्रक्रिया मे बहुत लम्बा समय लग जाता है। लेनिन कहता है कि प्रोलितारियत तानाशाही की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति के बिना असंभव है। वे वर्ग-संघर्ष को आवश्यक समझते हैं। व यह भी उचित समझते हैं कि जहाँ वर्ग संघर्ष की चेतना न हो वहाँ उसे पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रोलितारियत तानाशाही की पहली अवस्था म मजदूरो को उचित मेहनत का उचित फल मिलना संभव नहीं है। लेनिन का भी यही कहना है कि साम्यवाद की प्रारम्भिक अवस्था मे न्याय और समता संभव नही है। स्वयं मार्क्स का यह कहना है कि लोगो के अधिकार बराबर होने के बदल कम-ज्यादा होने चाहिये। वह लोगो की अपरिहार्य असमता या 'विषमता पर विश्वास करता था। सरकार की पुरानी मशीनरी को पूरी तरह से नष्ट भ्रष्ट कर देना प्रोलितारियत तानाशाही का धर्म है। चूंकि जन-साधारण की चेतना पर प्राचीन परम्पराओ का असाधारण बोझ लदा रहता है इसलिये वह सुप्त, उदासीन और एकता विहीन होता है। उसको संगठित करके राज्य को नष्ट करने का कार्य सुदृढ, सुसंगठित और लौह अनुशासनवाली पार्टी ही कर सकती है। कम्युनिस्टो को इस बात मे विश्वास नही कि संसदीय चुनावो के शान्तिमय उपायो से, आम शिक्षा-संबधी, आर्थिक तथा सहयोग -भावना के विकास के द्वारा सामाजिक क्रान्ति हो सकती है। वे खुले संघर्ष आम हड़ताल सर्वसाधारण के विद्रोह शक्ति-प्रयोग और बल प्रयोग पर विश्वास करते हैं किंतु यह करना तब चाहिये जब पूरी तैयारी हो अन्यथा क्रान्ति की प्रतिक्रिया हो जायगी। क्रान्तिकारी मनोवृत्ति पैदा करने के लिये, यदि संभावना प्रतीत हो तो, संसदीय निर्वाचनो मे भाग लिया जा सकता है। इसमे कोई संदेह नही कि उपर्युक्त विचारधारा का आविष्कार मानव समाज की वैचारिक प्रगति की एक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी मोड का द्योतक है। मानव के दलित-पीडित वर्ग के प्रति उत्पन्न होने वाली सच्ची एवं आतरिक तथा क्रान्तिकारी सहानुभूति से प्रेरित होकर असाधारण मानव प्रतिभाओ ने अपने अथक परिश्रम, चिंतन और मनन के पश्चात् ये निष्कर्ष उपस्थित किये हैं। निर्मल कुमार बोस ने लेनिन का भाव चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है, 'लेनिन एक असाधारण योद्धा की भाँति है जिसने मानव-जाति की बडी बडी आशाए बॉध रक्खी हैं। इस महान् योद्धा की आत्मा उस आदर्श लोक के सपनो मे डूबी हुई है जहाँ कोई भी व्यक्ति न अत्याचारो व निर्ममताओं से पीडित होगा, और न कोई निठल्ला। प्रत्येक व्यक्ति प्रेम से स्निग्ध होकर अपनी प्रतिभा का सक्रिय सहयोग मानव जाति के कल्याण के कार्यो मे समर्पित करेगा।'[1] आगे चल कर बोस महोदय ने लेनिन की उपमा उस कारीगर से दी है जो अपने सर के ऊपर मॅडराते हुए भयानक अंधकार से बेखबर होकर अपने अन्तर की आकांक्षाओ से स्वयं प्रज्ज्वलित दीपक के आलोक मे

१. 'स्टडीज इन गांधीज्म पृ० ३४८।

रात रात भर अपनी निहाई के सामने बैठ कर लगन और तल्लीनता के साथ अपनी स्वप्न-कल्पना को मूर्त रूप देने में जुटा रहता है।'[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेनिन का कार्य असाधारण रूप से सराहनीय एवं अतुलनीय रूप से महत्वपूर्ण रहा है। राधाकृष्णन ने साम्यवाद का महत्व स्थापन करते हुए लिखा है, 'साम्यवाद केवल इसीलिये आकर्षक नहीं है कि मानव की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का वादा करता है उसका आकर्षण इसमें भी है कि वह मानव को सामाजिक प्रतिष्ठा समानता, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोणों में दूसरों की दासता और उनके अत्याचारों से मुक्ति का आश्वासन भी देता है।[2] असाधारण से भी असाधारण व्यक्ति की भी सीमाएँ हुआ करती हैं। लेनिन का साम्यवाद भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप न सिद्ध हो सका और विडम्बना कुछ ऐसी हुई कि भारत के साम्यवादियों ने उसे सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय सांचे में ढालना चाहा भी नहीं। परिणामतः भारतीय साम्यवाद हर मामले में रूस का मुखापेक्षी होकर भारतीयता से विमुख होकर अराष्ट्रीय, अप्रिय एवं अशिव हो उठा और उसकी हिंसाप्रियता भारतीय प्रकृति के पूर्ण प्रतिकूल पड़ी। सामने भारतीयता का साक्षात् प्रतीक अथवा गांधीवाद का सूर्य भारत में चमक रहा था। अस्तु भारतीय राजनीति के रंग मंच पर साम्यवाद कोई ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका न प्रस्तुत कर सका कि वह जन जन के मन मन में अनुभूत हो उठता। उसने केवल इतना ही किया कि जिस मजदूर आंदोलन में कांग्रेस ने कोई हाथ नहीं लगाना चाहा उसको इसने प्रभावित कर लिया। ऊपर कहा जा चुका है कि हड़ताल को साम्यवाद भी स्वीकार करता है। भारतीय साम्यवादियों ने कई बड़ी-बड़ी मजदूर-हड़ताल करवा दी। इससे अधिक इसका कोई भी राजनीतिक महत्व नहीं रहा। इसी के अनुकूल साम्यवाद की भूमिका में हिंदी साहित्य ने एक नया और महत्वपूर्ण दृष्टिकोण पाया। मजदूरों की हड़ताल, धनिकों अथवा पूंजीवादियों की मनोवृत्तियों का पाशविक नृत्य, दलित-दमित मानवता (नारी और मजदूर) का चित्रण, राजनीतिक दृष्टि से भी निम्न वर्ग का मूल्योत्थान, नारी की मुक्ति और उसकी मजदूर की भी बंधन मुक्ति साहित्य की रसवादी प्रवृत्ति की जगह विशुद्ध मान बतावादी प्रवृत्ति की प्रधानता तथा अलंकार-विहीन भाषा शैली आदि के ऊपर पड़ने वाले साम्यवादी प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन प्रवृत्तियों के उदय के पीछे साम्यवादी पृष्ठभूमि अनिवार्य रूप से प्रतीत होती है।

१— स्टडीज इन गांधी ज़म पृ० ३४८।

२— 'ईस्ट वेस्ट' पृ० १११।

साम्प्रदायिकता—

प्राय यह देखा गया है कि हसो के बीच मे कौआ आ घुसता है। भारतीय राजनीति के रगमच पर राष्ट्रीयता एव राष्ट्रोत्थान के अनुरजित वातावरण मे जब राष्ट्र प्रेम के परिणाम स्वरूप मिल सकने वाला स्वतन्त्रता रूपी अमृत कलश दिखाई पडने लगा—उसकी सभावना की कल्पना मात्र हुई—तभी १६०६ मे भारत के राजनीतिक रगमच पर एक अराजनीतिक, एक अधार्मिक, एव अवाछित राक्षस चुपके से घुसाकर उपस्थित कर दिया गया। "चाहे जो कुछ हो, चाहे जिस ढग से चाहो, इस अमृत को पीकर तुम सबल सशक्त होकर देवताओ को कमजोर करो और फिर अमृत मे सभव परिणाम को वारुणी से प्राप्त पागलपने मे बदल दो।" यह कार्य सौंपा गया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कार्य उसने बडी ही सफलता के साथ पूरा किया। जैसा कि कई बार कहा जा चुका है, चतुर अगरेजो ने इस शताब्दी के प्रारम्भ होते होते भाप लिया था कि भारत मे एक सबल और सशक्त राष्ट्रीयता का उदय हो चुका है और वह उनके लिये सबसे बडा खतरा है। इसका प्रतिकार—राष्ट्रीयता का खण्डन-तभी किया जा सकता है जब यह विश्वास दिला दिया जाय कि भारत मे दो राष्ट्र के लोग बसते हैं। बस, सरकार बात-बात मे हिन्दू और मुस्लिम का पश्न लगाने लगी। हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच की एकता को तो पीछे हटाकर भुला दिया गया ढूढ कर खोजा यह जाने लगा कि दोनो मे मतभेद एव विभिन्नताए कहा-कहा है। तत्पश्चात् हर सभव उपाय से उन्ही पर जोर दिया जाने लगा —उन्ही को सामने लाया जाने लगा—उन्ही को प्रमुखता दी जाने लगी—इतनी कि वे ही सब लोगो के मन मे बस जाय—मनोविज्ञान का अनिवार्य अग हो जाय। रजनी पामदत्त ने इस बात का उल्लेख किया है कि साम्प्रदायिकता अगरेजी साम्राज्यवाद की विशेष देन है।[1] राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के लिये अगरेजो ने इस समस्या की सृष्टि कर दी थी—कभी मुसलमानो को बढावा देकर और कभी हिंदुओ का साथ देकर। साम्प्रदायिक चुनाव क्षेत्र और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व ने इस रोग को खूब उभाडा। वास्तविकता यह थी कि हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज की क्रान्तियो और उसके शुभ परिणाम के कारण प्राप्त होने वाली हिंदुओ की शक्ति और उसकी तेजस्विता तथा उसके व्यावहारिक स्वरूप को देखकर मुसलमानो ने भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान तथा इस्लाम धर्म के पराजय के रूप मे देखा। सदेह, आशका और फूट, आदि का बीजा रोपण हो गया। आर्नल्ड टुवायनबी ने लिखा है

१—"इण्डिया टुडे',

विक और सम्पूर्ण एकता विकसित नहीं हो सकी।[1] टैगोर के विचार में यही कारण है कि विचार में यही कारण है कि राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें एक करने के प्रयत्नों ने आशंका और अविश्वास उत्पन्न कर दिया। हरिवंश राय "बच्चन" ने लिखा है, १८५७ के विद्रोह के बाद भी और उसके तीस वर्ष बाद देश के राजनीतिज्ञों द्वारा इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की जाने के बाद भी—इस देश के दो प्रमुख वर्गों—हिंदुओं और मुसलमानों की सांस्कृतिक और साहित्यिक हलचलें अलग-अलग माध्यम में अलग-अलग दिशाओं में चलती रहीं। कांग्रेस के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सांस्कृतिक एवं साहित्यिक आन्दोलन इस देश में सफल नहीं हो सका... ...क्या कोई ऐसा मुसलमान पैदा किया जा सकता था जो वेदों से लेकर मुसलमानों के आक्रमण तक की भारतीय संस्कृति को अपनी समझ कर उस पर गर्व करे? क्या कोई ऐसा हिंदू पैदा किया जा सकता था जो मुसलमानों द्वारा इस देश की पराजय की स्मृति से क्षुब्ध न हो।"[2] प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है और इसका उत्तर भी साधारण एवं सरल नहीं। प्रश्न यह है कि क्या जब तक इसका समुचित उत्तर एवं समाधान नहीं मिल पाता तब तक हम एक दूसरे को लाल आंखों से घूरते ही रहेंगे। ऐसे स्थलों एवं अवसरों पर उसका दायित्व अधिक हो जाता है जो अधिक बड़ा, अधिक सम्पन्न और अधिक समर्थ हो। उससे अधिक त्याग और उदारता की मांग की जा सकती है। अत्यन्त दूरदर्शी, सूक्ष्मदर्शी और मर्म छू सकने वाले गांधी जी ने इस साम्प्रदायिक समस्या का समाधान बहुमत वाले वर्ग को अन्य मत वालों के प्रति असीमित सद्भावना और उदारता के व्यवहार के द्वारा खोजना चाहा था। तत्कालीन परिस्थितियों में इससे अधिक सुन्दर उपाय कोई था भी नहीं। हमें उन्हें जीतना था, उनका विश्वास प्राप्त करना था, न कि उनके साथ सौदा करना। दुःख है कि हम लोग न इसे समझ पाये और न अपना पाये जिसका परिणाम हुआ कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, गढ़मुक्तेश्वर, अमृतसर, लाहौर, रावलपिंडी, उत्तर पश्चिम-सीमाप्रान्त के, सुनने वालों को भी थर्रा देने वाले, दंगे। इनने लोगों के दिल बांटने शुरू कर दिये, दिमाग बांटने शुरू कर दिये, व्यवहार बांटने शुरू कर दिये। यह बात सही है कि भारत माता को बांटने के पहले लोगों के दिल बांट दिये गये थे। भाषा भी इससे अछूती न बच सकी, साहित्य भी इससे अछूता न बच सका। लोगों ने संस्कृति को हिंदू और फारसी अरबी को इस्लाम मान लिया, देवनागरी लिपि को हिन्दू और फारसी लिपि को मुसलमान मान लिया। आश्चर्य है कि जायसी, रहीम, रसखान, घनानन्द, आलम, शेख, आदि के वंशजों ने

१—"दुवर्डस यूनिवर्सल मैन", पृ० १८५

२—"नये पुराने झरोखे", पृ० ११८।

के जमींदार और "सीधी-सादा रास्ता" के नवाब के रूप में मिलता है—और समस्त विशिष्टताओं के साथ मिलता है। ये जनता पर मनामना अत्याचार कर सकते थे। इन्ह कानूनों को उठाकर ताक पर रख देने की इजाजत थी। इनके क्षेत्र की वास्तविक और निर्णायक राजनीतिक शक्ति अंगरेजों के ही हाथों में थी। ये राजा नवाब बौद्धिक दिवालियेपन के प्रमाण थे। मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ये पिछड़ेपन की सबसे भयानक स्थिति में थे। गुलामी, बेगारी, दमन, कुशासन पतन, अत्याचार और भ्रष्टाचार का इन रियासतों में नंगा नाच होता था। साम्राज्यवादी अंग्रेज सबसे पहले तो इस बात को ही मानने के लिये नहीं तैयार था कि भारत एक राष्ट्र है। उनके अनुसार अंग्रेजी शासन ने ही सबसे पहले भारत में राष्ट्रीय एकता स्थापित की। वास्तविकता तो यह है कि भारत को निर्बल करने के लिये हमारे अंगरेज प्रभु ने भारत को एक छोटा-सा महाद्वीप कहा, विभिन्न धर्मों की उपस्थिति को एक राजनीतिक उलझन का स्वरूप दे दिया, जातियों और वर्गों की विभिन्नता, आदि पर जोर दिया, छूत-अछूत के भेद भाव को बढ़ाकर हमारे सामने रखा, और भाषाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि करने का प्रयत्न किया। एक पीढ़ी पहले अछूतों और दलितों की संख्या लग-भग ३ करोड़ थी। १६१० में वैलेन्टाइन चिरोल ने उसे ५ करोड़ बताया और १६२६ में वीरा ऐन्स्टी महोदया ने ६ करोड़। १६०१ में भारत में १४७ भाषाएं थीं, १६२१ में २२२ भाषाएं हो गईं। काबुई ४ आदमियों की, आद्रो १ आदमी की और नोरा २ आदमियों की भाषाएं थीं। वैसे ये कितनी ही नगण्य हों किन्तु भाषा-वृद्धि के लिये तो महत्वपूर्ण थीं ही!! स्पष्ट है कि ये प्रवृत्तियां अराष्ट्रीय थीं और राष्ट्रीयता-प्रधान आधुनिक हिन्दी साहित्य में इनकी प्रति क्रिया के परिणाम स्वरूप और वास्तविकता के आग्रह के परिणाम स्वरूप इन प्रवृत्तियों को कोई भी महत्व या प्रश्रय नहीं मिला। उसमें भारत एक अखण्ड व्यक्ति वाले सजीव अस्तित्व-माता-के रूप में प्रतिष्ठित है। वहां धर्मों की बाहरी विभिन्नताओं का उल्लेख तक नहीं है। वहां धर्मों के प्राणतत्व को अपनाया गया है। जातियों की विभिन्नता आधुनिक हिन्दी साहित्य का विषय न बन सकी। वर्ग-भेद साम्यवादी साहित्यकारों की कृतियों में अवश्य कुछ मिलता है किन्तु वह साधन है समस्त जन समूह के अन्ततोगत्वा उत्थान के लिये। वहां विभिन्न भाषाओं को कोई भी महत्व नहीं दिया गया। यहां तक कि ब्रजभाषा और खड़ी बोली के स्वतंत्र अस्तित्व को भी कोई महत्व नहीं दिया गया। सबको मिलाकर जैसे एक राष्ट्र कहा गया वैसे ही समस्त बोलियों को एक ही संज्ञा-हिन्दी-से अभिहित किया गया।

हमें किसने जगाया ?

सच तो यह है कि भारत के राष्ट्रीय जागरण का श्रेय अंगरेजों की शासन-नीति को उतना नहीं है जितना विश्वव्यापी विचारधाराओं की क्रान्ति और अनिवार्य परिस्थितियों को। यदि साम्राज्यवाद अपने मन से पराधीन राष्ट्र की राष्ट्रीय चेतना का वैतालिक होता तो संसार का इतिहास कुछ और ही होता। साम्राज्यवादी अंगरेज यह कहते हैं कि हमको बर्क, मेकाले, ग्लैडस्टन, आदि ने जगाया। १६१८ ई० में माटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के लेखकों ने भारतीय जागरूक वर्ग को बौद्धिक रूप से अपनी सन्तान माना है। शायद शोषक वर्ग मा-बाप का पद लेने में बहुत कम शरमाता है। भारत के जमींदार और तालुकदार भी शोषितों से अपने लिये "माई-बाप" का संबोधन सुनने में संतोष का अनुभव करते थे। ध्यान रहे कि अंगरेजी शिक्षा और अंगरेजी साम्राज्यवाद ये दोनों दो चीजें हैं। बर्क, मिल, शेली, इटली और क्लाइव, हेस्टिंग्ज, डलहौजी, चर्चिल और किप्लिंग-ये दोनों दो वर्ग हैं। वेरामिचेरन डीन ने लिखा है[1] कि गांधी यह जानते थे कि अपने देश के अन्दर अंगरेज जाति दो विभिन्न विचारों में विभक्त होगई है-प्रथम, साम्राज्य को बनाये रखने की तीव्रतम इच्छा, और द्वितीय, जिन नृशंस उपायों का उपयोग करने में हिटलर और स्टेलिन को तनिक भी हिचक न होती सम परिस्थितियों में भी उन उपायों को भारतीय राष्ट्रवाद के विरुद्ध प्रयोग करने में अरुचि और घृणा।" जवाहरलाल नेहरू ने भी इसी प्रकार दो इंगलैंडों की कल्पना की है। इनमें से एक का श्रेय दूसरा नहीं ले सकता, एक का दोष दूसरे के सिर पर नहीं लादा जा सकता। हिन्दी जनता और हिन्दी साहित्य पर प्रभाव दूसरे इंगलैंड का पड़ा है। अस्तु, रुपये का लालची इंगलैंड और साम्राज्य का भूखा अंगरेज जिस दिन से भारत में आया उसी दिन से हम उसके विरुद्ध हो गए। हम १७५७ में लड़े, १८५७ में लड़े, और १९४२ में लड़े। जनता की बरबादी, भारतीयता का विभ्रम और जनता का शोषण उनका इतिहास है, असंतोष, बेचैनी तथा राष्ट्रीय जीवन और संस्कृति की रक्षा के लिये संघर्ष और बलिदान हमारी कहानी है। १८३५-३६ में भारत के गवर्नर जनरल मेटकाफ ने लिखा था, "पूरा भारत हर घड़ी यही मनाया करता है कि हमारा तख्ता उलट जाय। हमारे विनाश पर हर जगह लोग खुशियां मनाएंगे . और ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो उस घड़ी को नजदीक लाने में अपनी पूरी ताकत लगा देंगे।" मि० ए० ओ० ह्यूम की जीवनी के लेखक सर

१—"न्यू पैटर्न आफ डिमाक्रेसी", पृ० ७३।

विलियम वेडरबर्न ने लिखा है कि दुर्भाग्य से सरकार ने जिन प्रतिक्रियावादी उपायों से काम लिया और जिन तरीकों से पुलिस के द्वारा दमन किया उन सबका यह नतीजा हुआ कि लार्ड लिटन के जमाने में भारत में चन्द दिनों के अन्दर एक क्रान्तिकारी विस्फोट होने की आशंका पैदा होगई। १८५७ के बाद अंगरेजी साम्राज्यवाद शक्तियों से मित्रता कर ली। अंगरेज उनके अत्याचारों और अनाचारों को वर्णित करने लगे और ये अंगरेजों के भारत-शोषण को चुपचाप सहने लगे। किन्तु तब तक जनता का पक्ष समर्थन करने के लिये और उसकी सहायता करने के लिये एक उदार और प्रगतिशील तथा भारत की राष्ट्रीयता तथा संस्कृति का समर्थक मध्यम वर्ग जन्म लेकर क्रियाशील होने लगा था। उसको स्वामी विवेकानन्द के पाञ्चजन्य के इस उद्घोष ने प्रबुद्ध कर दिया था कि पहले रोटी, पीछे धर्म। .. अपने निर्धन देशवासियों से उसी भांति प्रेम करना सीखो जिस प्रकार तुम्हारे वेद तुम्हें सिखाते हैं।[1] इस मध्य वर्ग का हित और स्वार्थ अंग्रेजी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद से टकराया। इस टकराहट के साथ संघर्ष अनिवार्य होगया। अंगरेजी पूंजीवाद ने भारतीय पूंजीपतियों और व्यापारियों को और अंगरेजों को ही ऊंची और अच्छी नौकरी देने की नीति ने भारतीय बौद्धिक प्रतिभा का अपमान किया। स्वार्थ ने राजभक्ति को ढकेल बाहर किया। भारत का प्रत्येक वर्ग अंगरेजों के विरुद्ध था। उद्योगपति इसलिये विरुद्ध थे कि अंगरेजों के संपूर्ण नियंत्रण और पक्षपात पूर्ण नीति के कारण इनका विकास और इनकी उन्नति नहीं होने पाती थी। पढ़े-लिखे वर्ग वाले अपनी योग्यता के अनुसार नौकरी न पाने के लिये अप्रसन्न थे। किसान लगान और भूमि व्यवस्था के कारण अपनी भयानक गरीबी का कारण अंगरेजों को समझने के कारण उनसे क्षुब्ध था। मजदूर वर्ग उन्हें अपनी स्थिति के सुधार-मार्ग का रोड़ा समझता था। परिस्थितियां ऐसी थीं कि राष्ट्रीयता का उदय अवश्य होता। कौन कह सकता है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू, गांधी, तिलक, पटेल, आदि यदि अंग्रेजी न जानकर केवल संस्कृत ही जानते होते तो भारत में वह न करते जो किया? क्या आत्मा और स्वभाव विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम-भाषा और बाह्य साहित्य के वशीभूत होकर क्रियाशील होता है? भारत की राष्ट्रीय चेतना यहां की राजनीतिक, आर्थिक, और सामाजिक दुर्गति का परिणाम है। इस शोषण और अपमान की तीखी चुभन ने स्वाधीनता की मांग के लिये मजबूर कर दिया था। रजनी पामदत्त ने लिखा है, 'भारत के राष्ट्रीय आंदोलन

---

१ — भक्ति और वेदान्त, पृ० १२६-१३०।

का इतिहास उसकी विकसित होती हुई चेतना का इतिहास है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इस आंदोलन का मूलाधार है यहां का विशाल जन-समूह"[1]। इसी प्रकार शंकर दत्तात्रेय जावडेकर ने अरविंद का यह कथन उद्धृत किया है, "राष्ट्रवाद के संदेश का जन्म निराशा से नहीं हुआ है ......इसका जन्म श्रीकृष्ण की तरह

१—"इण्डिया टु डे", पृ० २६५।

बन्दीगृह में हुआ है। जिन्हें अनियन्त्रित किन्तु उदार सुराज्य वाला हिन्दुस्तान जेल की काल-कोठरी की तरह असह्य मालूम होता था उनके हृदय में इसका जन्म हुआ है। श्री कृष्ण का लालन-पालन जैसे दरिद्र और अज्ञानी जनता के अज्ञात घर में हुआ उसी तरह यह राष्ट्रवाद सन्यासियों की गुहा में, फकीरों के वेष में, युवकों के हृदयों में, (बलिदानियों के)...... अंतःकरण में......और........ (त्यागियों के) जीवनों में धीरे-धीरे बढ़ा और पनपा है .. .. .. । यह राष्ट्र धर्म एक अवतार ही है..... यह परमात्मा-नियुक्त शक्ति है और वह ईश्वर नियोजित कार्य को पूरा किये बगैर विश्व की चित् शक्ति में, जहां से कि उसका उद्गम हुआ है, फिर नहीं मिलने की।"[1] इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विश्वात्मा से उद्भूत एक विश्वशक्ति थी क्योंकि समस्त विश्व में यह व्याप्त हो गई थी। सभी देशों में स्वाधीनता का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं जन-आंदोलन सागर की उमंग भरी उमड़ती हुई तरंगों के समूह की भांति आगे बढ़ा। साम्राज्यवाद के पैर डगमगाए। औपनिवेशिक स्वतन्त्रता की आंधी में ठूंठ साम्राज्यवाद की सूखी-सूखी निष्प्राण जड़ें हिल उठीं। जन-जागरण और राष्ट्रीय असन्तोष की उफनाती हुई लहरें गरज-गरज कर रही थीं—"भारतीय-क्रान्ति सफल हो", "इन्कलाब जिन्दाबाद"। एटली ने कहा था कि "मुझे पूरा विश्वास है कि इस समय भारत में और सारे एशिया में राष्ट्रीयता की धारा पूरी तेजी से बह रही है।" इसी राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्म हुआ है और इसी के साथ-साथ उसका विकास भी हुआ है। दोनों में बहुत कुछ समानताएं हैं। श्यामसुन्दर दास ने लिखा है, "हिन्दी बोलने वाला तो गंवार समझा जाता था। वह बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था"[2]।

जिस प्रकार राष्ट्रीयता का विकास दमन और जेल के वातावरण में हुआ है उसी प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास भी भयानक उपेक्षा और अवज्ञा के प्राणांतक वातावरण में हुआ है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "संसार के इति-

१—"आधुनिक भारत", पृ० १४५—१४६।

२—"मेरी आत्म कहानी", पृ० २०—२१।

ह्रास में ऐसी दूसरी भाषा शायद नहीं है जो सब ओर से उपेक्षित रहते हुए भी इतनी शक्ति अर्जन कर सकी हो.........आधुनिक हिंदी भाषा का साहित्य प्रतिकूल और विषम परिस्थितियों के बीच रचा गया है ....एक ओर साहित्यकारों को उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है, दूसरी ओर अवज्ञा की चोट सहनी पड़ी है। इस दुहरी मार के कारण साहित्यकार को अधिकांश शक्ति परिस्थितियों से जूझने में खर्च करनी पड़ी है ... .लेकिन हिंदी के महाप्राण साहित्यकार विचलित नहीं हुए.. ......यह कहानी जितनी ही खेदजनक है उतनी ही स्फूर्तिदायक".........।[1] इस साहित्य का राष्ट्रीयता से इतना तादात्म्य है कि उपर्युक्त उद्धरण में यदि हिंदी की जगह "भारत" "साहित्य" की जगह "देश", "साहित्यकार" की जगह "देशभक्त" कर दें तो यह कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की हो जायगी। जैसे भारत की राष्ट्रीयता सीमित शक्ति वाली भारतीय जनता के मानस में पनपी वैसे ही आधुनिक हिंदी "साहित्य (के) निर्माण का भार उन लोगों पर पड़ा जिनकी शक्ति परिमित थी"[२]। निम्न मध्यवर्ग के गरीब देशभक्तों की तरह, इन साहित्यकारों में प्रतिभा और बुद्धि उतनी नहीं थी जितनी लगन, ईमानदारी कष्ट सहिष्णुता, परिश्रम, राष्ट्रभाषा भक्ति, आत्मसम्मान और राष्ट्र-प्रेम। इनको सुख, आराम, शान-शौकत और रोबदाब की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी एक उच्चतर नैतिक सन्तोष की। इन्हें इस बात की इतनी चिन्ता नहीं होती कि उनका कार्य या उनकी कृति महत्व और कला की दृष्टि से किस कोटि की है। लिखना एक कर्तव्य है इसलिये लिखा और एक पवित्र कार्य करने का सन्तोष पा लिया। देशभक्तों का कार्य जितना निष्काम था उतना ही इन साहित्यकारों का भी था। वे प्रेम भी करते थे। स्नेह भी करते थे। द्वेष और ईर्ष्या से भी प्रेरित होते थे। उनका दावा महात्मापने का नहीं था। उनका दावा विश्व-साहित्य का नहीं था। फिर भी, उन्होंने जिसका सृजन किया वह राष्ट्रीयता की ही भांति महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि दोनों की पृष्ठभूमि एक ही थी और कुछ हद तक दोनों के कार्यकर्ता भी एक ही थे।

राष्ट्रीयता—

और राष्ट्रीयता है क्या? इस बात को यदि हम ठीक से समझ लें तो आधुनिक हिन्दी साहित्य और राष्ट्रीयता के इस घनिष्टतम संबंध का कारण समझ

१—"हिन्दी साहित्य", पृ० ५०७।

२—"मेरी अ[illegible] ी क[illegible]" प० १ पदम [illegible]

तो। ए० आर० देसाई ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता-सबंधी धारणा इस प्रकार अभिव्यक्त की है कि राष्ट्र मनुष्यों के उस समुदाय का नाम है जिसमें निम्नलिखित विशेषताएं हों —(१) उन पूरे समुदाय की एकमात्र एक ही सरकार हो, (२) उस समुदाय के सभी व्यक्तियों के सम्पर्क को एक निश्चित निश्चलता और उसका एक स्वरूप होना चाहिये, (३) उसकी एक निश्चित सीमारेखा हो, (४) उसकी अपनी कुछ ऐसी विशिष्टताएं हों जो उसे अन्य राष्ट्रों या राष्ट्रीयता-विहीन वर्गों से स्वतन्त्र सिद्ध कर सकें, (५) व्यक्तियों के कुछ सामान्य स्वार्थ या हित हों, और (६) लोगों के मस्तिष्क में उस राष्ट्र का जो चित्र है उस चित्र से सबंधित कुछ अनुभूतियां, भावनाएं या इच्छाएं कुछ हद तक लोगों में सामान्य रूप से पाई जाय। गत युगों के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास, वर्तमान राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक ढांचों, समाज के विभिन्न वर्गों की मनोवैज्ञानिक और आर्थिक प्रवृत्तियों की कुछ खास विशिष्टताओं आदि के आधार पर किसी देश की राष्ट्रीयता का स्वरूप निर्मित होता है और विकसित होता है। आज के मानव-समुदाय में राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति सर्वप्रमुख सर्वप्रधान और सर्वाधिक शक्तिशाली एवं वेगवती मनोभावना हो गई है। विश्व राजनीति के विश्वकोष में 'राष्ट्रीयता को एसी सामुदायिक मनोभावना माना गया है जिसका मूलाधार राष्ट्रीय विशिष्टताएं हों, जैसे, भाषा और संस्कृति, आदि। इसकी प्रवृत्ति है राष्ट्रीय इकाइयों के बीच के अन्तर को अधिक महत्व देना। इस मनोभाव को खूब बढ़ा चढ़ाकर उपस्थित करना भी राष्ट्रीयता माना जाता है।[१] एक दूसरे प्रसिद्ध विश्वकोष में राष्ट्रीयता मस्तिष्क की एक ऐसी स्थिति को कहा गया है जिसमें किसी व्यक्ति की समस्त एवं सर्वोच्च भक्ति अपने राज्य के कारण और उसके लिये ही होती है।[२] यहां राजा या राष्ट्र का जनता के साथ पूर्णरूप से तादात्म्य हो जाता है। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, 'विगत उपलब्धियों, परम्पराओं और अनुभवों का सामूहिक स्मरण ही मूल रूप से राष्ट्रीयता है।"[३] उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीयता का मूलाधार संस्कृति है अर्थात् हम यह कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीयता भारतीय संस्कृति से अनुरंजित एवं अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति का आधार आस्तिकता, उच्चकोटि की नैतिकता, साधना के साधनों की पवित्रता, सात्विकता, आदर्श के प्रति निष्ठा, अद्वैत भाव की प्रतीति आदि,

---

१ "एनसाइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड पालिटिक्स", पृ० ३०१।

२—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृ० १४६।

३ "डिस्कवरी आफ इण्डिया" पृ० ५३८।

है। परिणाम यह हुआ कि हमारी राष्ट्रीयता का आधार हो गया वैयक्तिक नैतिकता। व्यक्तिगत पवित्रता, व्यक्तिगत महानता, व्यक्तिगत साधना, साधन,शुद्धि, हृदय-परिवर्तन, अस्पृश्यता निवारण, हिंदू-मुस्लिम एकता की भावना, चरखा, अहिंसा पाश्चात्य संस्कृति के प्रति आदर रखते हुए उसके केवल सद् अंशों को ही अपनाने की प्रवृत्ति, असहयोग, बहिष्कार, ग्रामोत्थान, व्रत, उपवास, अनशन, आदि हमारी राष्ट्रीयता के अनिवार्य अंग हो गये। किसी भी देश का राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी प्रेरणा-शक्ति, राष्ट्रीयता, इतनी पवित्र, आत्मोत्थान में इतनी सहायक, इतनी रचनात्मक एव सुधारात्मक, तमस् से इतनी मुक्त, समझौता-सहयोग सद्भावना मे इतनी युक्त, एक मात्र जागरण एव उत्थान की भावनाओं से परिपूर्ण तथा विपक्षी के प्रति घृणा एव विनाश की भावनाओं से अकलुषित एव असलीन नहीं जितनी भारत की। इसलिये हमारे देश की राष्ट्रीयता में विश्व की सामान्यत प्रचलित राष्ट्रीयता के दोष नहीं आने पाये। हमारी राष्ट्रीयता आक्रमणशील न होकर, रचनात्मक एव उत्थानात्मक थी। यही कारण है कि इस राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य भी सात्विकताप्रधान है। बहुत अधिक हुआ तो उसमें थोड़ी बहुत रजस् की भावनाएँ आ गई। इसीलिये इस साहित्य में आस्तिकता की प्रधानता है। इसमें किसी जाति के प्रति घृणा नहीं व्यक्त की गई। बहुत हुआ तो विरोधी के अत्याचारों व अनाचारों का चित्रण मात्र कर दिया गया। इसमें भी समाज के उत्थान की भावना की ही प्रधानता है। हमारा यह साहित्य आक्रमणशील नहीं है। हमारे इस साहित्य में विनाश का आह्वान उतना अधिक नहीं है। वह किसी को उत्तेजित नहीं करता। इस सास्कृतिक पृष्ठभूमि मे वंचित हो कोई लिख सकता है कि पूर्व पूर्व है और पश्चिम, पश्चिम, दोनो कभी मिल नहीं सकते। हमने सामूहिक रूप में यह कभी नहीं लिखा कि हे हिटलर "खबर लेने बकिंघम की जो अब की बार तुम जाना, हमारे नाम से भी चार गोले फेंकते आना" या हमने अंगरेजो से यह नहीं कहा, "वक्त निकलेगा फसाना एक नये मजमून की, जिसकी सुर्खी को जरूरत है तुम्हारे खून की।" ये उर्दू साहित्य की पंक्तियाँ हैं।

लोकतन्त्र—

शासक और शासित का एक सम्बन्ध हुआ करता है और इस नाते वे दोनों एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। इस नाते भी हम अंगरेजो की लोकतन्त्रात्मक पद्धति से बहुत प्रभावित हुए। यह लोकतंत्र या डेमोक्रेसी है क्या। "डेमोक्रेसी" शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दों से मिलकर बना है जिनमें से एक का अर्थ है 'जनता' और

दूसरे का, "राज्य करना"। विश्वकोष[1] के अनुसार डेमोक्रेसी सरकार का वह रूप है जो जनता के स्वशासन पर आधारित है और जो आजकल प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों पर आधारित है। यह जीवन की एक पद्धति है जो सभी व्यक्तियों की समानता की मौलिक एवं मूलभूत धारणा पर आधारित है और जिसका आधार है जीवन का, स्वतन्त्रता का (जिसमें विचारों और उसकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी मिली है) और सुख की प्राप्ति के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों को कर सकने का अन्य किसी के भी समान बराबर अधिकार। इस प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से महत्वपूर्ण समझा जाता है। अपनी योग्यता के अनुसार जो भी जो चाह बन सकता है, प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिये और सुखपूर्वक जीवित रह सकने के लिये स्वतन्त्रता होती है। ऐसा नहीं है कि यह प्रणाली असमताओं, विषमताओं और भेदों को न स्वीकार करती हो। वह इनकी अपेक्षा समानताओं, समताओं और स्निग्धताओं को अधिक महत्व देती है। इसमें सहिष्णुता समझौता और मतैक्य एवं अधिकाधिक मतैक्य के अनुसार कार्यों के करने पर बल दिया जाता है। यहां सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और जनता जब चाहे तब सरकार को बदल सकती है। स्पष्ट है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद की उपस्थिति में यह लोकतन्त्र पूरी तरह से यहां नहीं पनप सकता था और इसलिये नहीं पनपा किन्तु उसका नाटक, हो सकता था, सो किया गया। उसे देखकर उसकी एक झांकी हमें अवश्य मिल गई। हां, लोकतन्त्र के स्वरूप को बौद्धिक दृष्टि से समझने, उस पर विचार करने और तत्सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन मनन का हमें अवसर अच्छी तरह से मिल सकता था और हमने इस अवसर का उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्यक्ष रूप से नहीं, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से हमारा आधुनिक साहित्य इस लोकतन्त्र की भावना से प्रभावित अवश्य हुआ है। जो सब में एक भगवान को देखता है और एक भगवान में ही सभी को देखता है वही सच्चा ज्ञानी और सच्चा समझदार है, यह भावना हमें गीता सिखाती है। इस सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हमने लोकतन्त्र को ग्रहण किया। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिंदी साहित्य में किसी रामचन्द्र ने किसी तपस्वी शूद्र को मारने का धार्मिक या कानूनी समर्थन नहीं पाया और न किसी परशुराम ने पृथ्वीतल पर से किसी जाति के उन्मूलन का अनुष्ठान किया क्योंकि लोकतन्त्र की धारणा के अनुरूप आधुनिक भारत में कानूनों का स्वरूप जनतन्त्रात्मक था। एक जाति के रूप में आधुनिक हिन्दी साहित्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, या किसी भी विशेष वर्ग के लिये कोई विशेष रियायत नहीं। सभी के लिये एक से

१—एनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका, पृ० १८२

सिक्के, सभी के लिये एक से कानून, सभी के लिये एक-सी शिक्षा-पद्धति, सभी के लिये प्रशासन की एक सी भाषा-शैली और सभी के लिये एक-सी अर्थ व्यवस्था। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे यदि ब्राह्मण कही विशेष रूप से प्रतिष्ठित है तो इसलिये कि भारतीय सस्कृति के अनुसार ब्राह्मणत्व मनुष्य का श्रेष्ठतम और आदर्शतम स्वरूप है। नहीं तो, डा० राम कुमार वर्मा के "कौमुदी महोत्सव" का क्षत्रिय चन्द्रगुप्त ब्राह्मण चाणक्य के अखड अधिकार पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है।

सुधार आन्दोलनो का प्रभाव —

गाधी जी की राष्ट्रीयता मे समस्त आधुनिक सुधार आन्दोलन की प्रवृत्तिया एकत्र थी और इस राष्ट्रीयता से प्रभावित आधुनिक हिंदी साहित्य ने इन समस्त आन्दोलनों के प्रमुख तत्वो को अपना लिया है। अपने से पहले के सुधारको के द्वारा तैयार की गई पृष्ठभूमि का गाधी ने सदुपयोग किया और उन्होंने राजनैतिक आन्दोलनो की एक शानदार इमारत तैयार कर दी उन्होने राष्ट्रीयता, धार्मिकता, सामाजिकता, नैतिकता, आदि का आश्चर्यजनक, अद्भुत और गौरवपूर्ण समन्वय किया। हिन्दी साहित्य मे सुभद्रा कुमारी चौहान की "झासी वाली रानी", कविता तथा वृन्दावन लाल वर्मा का 'झासी की रानी" नामक उपन्यास इसी राष्ट्रीय भावना की कृतिया हैं। रागेय राघव का 'सीधा सादा रास्ता" और भगवती चरण वर्मा का "टेढ़े मेढ़े रास्ते", आदि अनेक उपन्यासों के पीछे राष्ट्रोत्थान की ही भावना है। 'नये पुराने झरोखे" मे 'बच्चन' ने लिखा है कि 'दिनकर' ने गाधी के दलितोद्धार आंदोलन से प्रभावित हो कर बुद्ध पर कविता लिखी और सियारामशरण गुप्त के "एक फूल की चाह" का भी विषय अछूतोद्धार ही है। प्रेमचन्द आदि के उपन्यास, 'दिनकर', भारतीय आत्मा सोहनलाल द्विवेदी, आदि की कविताओ मे राष्ट्रीय सघर्ष प्रतिध्वनित है। गुप्त जी की कविताएं प्राचीन हिंदुत्व और भारतीय गौरव के सबलतम तथा प्रभावशाली चित्रों से परिपूर्ण हैं। अंगरेजो के दमन की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप होने वाले आतंकवादी आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे "रक्त मडल" आदि जासूसी उपन्यास, "बदीजीवन", आदि आत्मकथाएं, तथा "भारत मे सशस्त्र क्राति का इतिहास", आदि ऐतिहासिक ग्रथो का प्रणयन हुआ। "राम रहीम" की पृष्ठभूमि साम्प्रदायिक आन्दोलन हैं। राजनीति के एक अनुचित पथ के प्रभाव का चित्रण करते हुए सुमित्रानन्दन पत ने लिखा है, 'उस युग का साहित्य, विशेष कर आलोचना-क्षेत्र, किस प्रकार सकीर्ण, एकागी, पक्षधर तथा वादग्रस्त रहा है और उसमे तब की राजनीतिक दलबन्दियों के प्रतिफलस्वरूप किस प्रकार मान्यताओ तथा कला-रुचि सबधी साहित्यिक गुट बदिया

रही है[1]।" राष्ट्रीयता और आधुनिक हिंदी साहित्य का सम्बन्ध दिखाते हुए नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है 'हम तो यहा तक कहना चाहेंगे कि इस व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचल मे ही हमारा यह साहित्य पनपा और फला-फूला है. . नव जागृत राष्ट्रीयता की प्रेरणा से कितने ही नए कवि और लेखक नया साहित्य निर्माण करने लगे थे।'[2] अतुलचन्द्र चटर्जी ने लिखा है कि भारतीय सेना मे 'कमीशन पाये हुए भारतीयों की सख्या वस्तुत शून्य थी और भारतीय सैनिको की तरक्की की और नेतृत्व के पद तक पहुँचने की कोई भी सभावना नही थी।'[3] तात्पर्य यह कि द्वितीय महायुद्ध तक भारतीय सरकार भारतीयों को मिलिटरी के गौरवपूर्ण पदो से प्राय अलग किये रही। १८५७ की भारतीय शूरता वह भूल ही कैसे सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस अर्द्ध शताब्दी के साहित्य पर युद्ध का कोई भी प्रभाव नही पडने पाया। मूलरूप से हिंदी साहित्य युद्ध साहित्य की दृष्टि से विपन्न है। 'उसने कहा था' जैसी एकाध कहानियो की पृष्ठभूमि भले ही कहने के लिये युद्ध की हो किन्तु आत्मा उसकी भी युद्ध की नहीं वह भारतीय प्रेम और शराफत की है। आधुनिक हिंदी गद्य की एक सबसे बडी विशेषता है राजनीतिक पत्र-पत्रिकाओं का से उसका घनिष्ठतम सम्बन्ध। इसने साहित्य के लघु रूपो के विकास और उसकी वृद्धि मे बहुत सहायता पहुँचाई। लेख और निबन्ध बहुत लिखे गये। ज्ञानवती दरबार ने लिखा है 'हिन्दी को राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त हो सका, इसका श्रेय बहुत अश मे हमारे नेताओं को ही है। राष्ट्रीय भावना से पूरित हमारे नेता हिंदी की ओर आकर्षित तो हुए ही किन्तु उन्होने भाषा को भी राष्ट्रीय उन्नति के मूल मे देखने का प्रयास किया। इसीलिये उन्होंने अपने जीवन के आदर्शों, राष्ट्रीय भावनाओ और देशोन्नति की आकाक्षाओ को जन-जीवन तक पहुँचाने के लिये हिंदी को अपनाया हिंदी को राष्ट्रवाणी का पद मिला और साहित्य उससे मुखरित हो उठा।[4] प्रभाकर सोनवलकर ने इस बात का उल्लेख किया है कि लोकमान्य तिलक हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने के योग्य मानते थे और चाहते थे कि देवनागरी लिपि मे मराठी के समान ही गुजराती, बगला, आदि भाषाएं भी लिखी जाय।[5] लेखक ने इस बात का भी उल्लेख किया

१—'विदवरा", पृ० १०।
२—"आधुनिक साहित्य , भूमिका पृ०२१–२२।
३—'न्यू इण्डिया, पृ० ८४।
४— भारतीय नेताओ की हिंदी सेवा ,
५—साप्ताहिक' हिन्दुस्तान , २८ जुलाई, १९६३ वाला अङ्क।

है कि गांधी जी के कहने पर तिलक ने एक बार १५–२० मिनटों तक हिन्दी ही मे भाषण दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य हिन्दी प्रदेश की और पूरे भारत की राजनीतिक परिस्थितियो और प्रवृत्तियो से उतना प्रभावित हुआ है जितना किसी सजीव साहित्य को होना चाहिये। व्यापक सस्कृति के इस अंग न अपना प्रभाव इस युग के साहित्य पर डाला है।

अध्याय—४

आर्थिक पृष्ठभूमि

अर्थ का महत्व—भारत और कृषि—गावों की जड़ता और गतिहीनता का कारण—हिन्दी का साहित्यिक और देहात—कमाई के सभी स्रोतों की असन्तोषजनक अवस्था—उद्योग-धन्धो की श्रेणियां—ग्रामीण शिल्प एव उद्योग—बड़े पैमाने के उद्योग—व्यापार—नौकरी और नौकर—गरीब भारत—गरीब देश या लुटा हुआ देश—भारत की प्रवृत्ति उद्योगी भी या खेती वाली—अंग्रेज और भारत—औद्योगीकरण—बुद्धि और दृष्टि भ्रष्ट कर दी गयी—जड़ मूल पर आघात और उससे उत्पन्न विषमता—आर्थिक परिवर्तन की भी बात सोची गयी—साम्यवाद—गान्धी नीति—आर्थिक जीवन और साहित्य—

आर्थिक पृष्ठभूमि

अर्थ का महत्व—

अर्थ का व्यक्ति और समाज के जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान हुआ करता है। आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्य और समाज के मन तथा मनोविज्ञान को असाधारण और कभी-कभी स्थायी रूप से प्रभावित किया करती है। वे देवता को मनुष्य और मनुष्य को दानव तक बना देने में समर्थ हैं। सम्भवत इस बात को पूरी तरह समझने के पश्चात् ही मार्क्स और एंजिल्स, आदि ने अर्थ को ही समस्त मानव संस्कृति और सभ्यता का आधार मान लिया है। भारतीय संस्कृति ने भी अर्थ का महत्व स्वीकार किया है और तभी मनुष्य के चार पुरुषार्थों में इसे एक प्रमुख स्थान दिया है। अबाधित होकर अर्थ अनर्थ में परिवर्तित हो जाता है। यही सोच कर इन से अधिक प्राथमिकता धर्म को दे दी गई। लोक तो धर्म को भी इसके बाद स्थान देने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करता हुआ कहता है 'भूखे भजन न होय गोपाला, ले लो आपन कण्ठी माला।' अंग्रेज इस बात को समझता था। वह भारत इसलिये आया था कि यहाँ से यूरोप को जाने वाले मसालों, आदि के व्यापार को हथिया सके। उसके इस मार्ग में जो राजनैतिक शक्तियां आईं उन्हें पराजित करने के लिये उसने सामरिक शक्ति को बढाने का प्रयत्न किया। सामरिक शक्ति को निर्बाध गति से बढाने तथा उचित अनुचित, दोनों ढगों से रुपये कमाने के लिए उसने पर्याप्त राजनैतिक अधिकार प्राप्त किये बगाल की दीवानी प्राप्त करते ही अंगरेज ने जिस तरह रुपये निचोड़ना प्रारम्भ किया वह इस तथ्य का प्रमाण है। इस दृष्टिकोण से प्राप्त किये गये राजनैतिक अधिकार एक दिन इसे एक-दो रियासतों और चार-छः राजाओं के ऊपर ही नहीं-सारे भारत पर प्राप्त हो गये। भारत उसका उपनिवेश हो गया। वस्तु भारत का शासन अंग्रेजों का लक्ष्य नहीं था, लक्ष्य था भारत का आर्थिक शोषण। पहला तो बाद वाले का साधन मात्र था। इस दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि अंगरेजी शेर ने भारत रूपी गाय का जिस प्रकार थन चूमा है और जितनी बेरहमी से चूमा है। और जितना अधिक चूमा है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक दया, प्रेम और दुलार से जगली शेर अपने शिकार का खून चूसता और मांस खाता होगा। इस शोषण ने भारत के आर्थिक इतिहास को अत्यन्त मार्मिक और करुण बना दिया है। भारत की अर्थ-व्यवस्था कंकालमात्र होकर रह गई है। भारत का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन अत्यन्त

दयनीय हो उठा है। अस्तु, अंग्रेजो ने जहां हमारे राजनीतिक अधिकारो का शोषण किया वहाँ उससे अधिक भयानक रूप से हमारी आर्थिक सम्पन्नता का भी शोषण किया। राजनीति जीवन के ऊपरी स्तर पर ही प्रभाव डालती है और राजनीतिक क्षत्र के कुप्रभावो का निराकरण शीघ्र भी हो सकता है जैसा कि हमने १९४७ के पश्चात् कर लिया किन्तु आर्थिक कुव्यवस्था का प्रभाव सीधे जाकर मन और मनोविज्ञान को विकृत करने के रूप मे पड़ता है और उसमे सुधार शीघ्रता के साथ नही हो सकता। इसीलिये अंगरेजो के जाने के बाद आज तक भी हम अपने समाज के इस प्रकार विकृत स्वभाव और मन को बदलने मे सफलता नहीं पा रहे हैं।' आइए पहले हम अपनी दयनीयता देखें।

भारत और कृषि—

भारत मे कृषि का बहुत बड़ा महत्व है। भारत की कुल जनसख्या का लगभग तीन चौथाई भाग कृषि कार्य मे व्यस्त रहता है। देश के आर्थिक ढाँचे मे कृषि का विशेष हाथ है। यह हमारी सभ्यता और सस्कृति तथा उन्नति एव समृद्धि की आधारशिला है। भारत को मिटाने के लिये भारत की कृषि को मिटाना अनिवार्य था। भारत के शोषण की प्रथम स्थिति है यहां की कृषि का शोषण। व्यापारी अंगरेज सम्भवत: इसे समझता था और इसलिये उसने सबसे पहले यहां की कृषि—व्यवस्था मे अपना हाथ लगाया और आज क्लाउस्टन के शब्दों मे, 'भारत मे दलित जातियाँ हैं और उन्हीं के समान दलित उद्योग भी हैं, दुर्भाग्य से कृषि—उद्योग भी उन्हीं से एक है।'[१] किसानों के खेत, खेतो की स्थिति, खेती के औजार, खाद, बीज, सिंचाई, पशु—पालन सहायक उद्योग-धन्धे, आदि सभी की दृष्टियों से हमारा कृषि उद्योग अत्यन्त पिछड़ी दशा मे है। उसका पतन चरम-सीमा को पहुच गया है। १८वीं शताब्दी के द्वितीयार्ध से लेकर १९वीं शताब्दी के अन्त तक हमारे कृषि उद्योग का शोषण, दुरुपयोग और बाद मे उपेक्षा के द्वारा इस प्रकार से बर्बाद किया गया कि इन सबका उत्तरदायी स्वय सुधारों का ढोंग रचने के लिये मजबूर हो गया। १९वीं शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में भारत मे भयानक दुर्भिक्ष पड़े। १८९६–१८९७ में पानी न बरसने के कारण ३००,००० वर्गमील भूमि सूखी रह गई। १८–१९ लाख टन गल्ले की हानि हो गई। रमेशदत्त ने लिखा है, 'यह एक ऐसा दुर्भिक्ष था जो अब तक के सभी दुर्भिक्षों मे, जिनका इतिहास में वर्णन मिलता है, क्षेत्र मे अधिक विस्तीर्ण था।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट,

इसने उत्तरी भारत तथा बंगाल, मध्यप्रान्त, मद्रास तथा बम्बई को उजाड़ दिया '[१] प्रतापनारायण मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन, आदि की कविताओं में दुर्भिक्ष की दुरव्यवस्थाओं का मार्मिक चित्रण मिलता है इसमें कुल १० लाख व्यक्ति मारे गये। १८९६ के दुर्भिक्ष में ४७५,००० वर्ग मील भूमि तथा ५८,५००,००० लोगों को भुगतना पड़ा। इन दुर्भिक्षों के पश्चात् बीमारियों और संक्रामक रोगों ने तबाह किया। इन दुर्भिक्षों का एकमात्र कारण है कृषि के सर्वांगीण विकास का अभाव और दुर्भिक्ष के प्रारम्भ होते ही दुर्भिक्ष की बात छिपाने के बदले तत्परतापूर्वक खाद्य सामग्री पहुचाने मे सुस्ती। १९०१ ई० में हमारे भारत की जनसंख्या साढ़े तेईस लाख के लगभग थी, जो १९५१ में बढ कर साढ़े पैंतीस लाख के लगभग हो गई। वृद्धि लगभग साढ़े तेरह प्रतिशत की हुई। इसके विपरीत खाद्य सामग्री के उत्पादन का औसतन ह्रास ही हुआ है जिसका एकमात्र कारण यह है कि इसकी ओर पर्याप्त ईमानदारी, लगन और तत्परता से कोई भी कार्य नहीं किया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों में आर्थिक अवस्था थोड़ी-बहुत सभली। १९०५ के आसपास का समय स्वदेशी आंदोलन का समय था जिसमें लोगों का ध्यान अपने देश में बनने वाली वस्तुओं की ओर गया। १९०७ से १९०९ के प्रारम्भ में अकाल के कारण थोड़ा-बहुत अवसाद का युग रहा। १९०९ ई० से १९१८ ई० तक अवस्था फिर सभली रही। १९१८-१९१९ के आसपास फिर दुर्भाग्य का युग आया। पानी कम बरसा। युद्धोत्तर विश्व में आर्थिक अवसाद रहा। युद्ध के बाद तरह-तरह की चीजों की माग बढ़ी और चीजों के दाम बढ़ गये। १९२० के बाद भयानक रूप से मन्दी आ गई। भारत पर भी उसका प्रभाव पड़ा। आय कम हुई। गरीबी, भुखमरी और बेकारी बढ़ी। १९२९ में सारी दुनिया में चीजों की कीमतें फिर गिरी। १९२९-१९४७ तक कृषि की उन्नति अपेक्षाकृत कम हुई। ऐसे परिवर्तनों का भयानक प्रभाव उच्च वर्ग पर अधिक नहीं पड़ता क्योंकि कुछ भी हो उन्हें दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कभी-भी बिलखना या तरसना नहीं पड़ता। निम्न वर्ग पर भी कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि चाहे यह स्थिति हो, चाहे वह, उसे जितनी मेहनत और मुसीबत उठानी पड़ती थी, बराबर उठानी पड़ती थी। प्रभाव उच्च वर्ग की तिजोरी मात्र पर पड़ता है और निम्न वर्ग को इस तरह से तिजोरी भरने या उसके खाली होने की समस्या पर कभी विचार भी नहीं करना पड़ता। इन परिवर्तनों से भुगतता वह वर्ग अधिक है जिसे हम मध्य वर्ग कहते हैं और इसी मध्यवर्ग ने अधिकांशत हिन्दी साहित्य की रचना की है। इस कारण

१ 'एकनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया', पृ० ४५५

इन परिवर्तनों का हिन्दी साहित्य पर किसी न किसी प्रकार से और किसी न किसी रूप में प्रभाव अवश्य पड़ता रहा। हां, इन प्रभावों की अभिव्यक्ति के स्वरूप अवश्य भिन्न-भिन्न रहे।

गांवों की जड़ता और गतिहीनता का कारण—

तत्कालीन सरकार न प्रोत्साहन और सहायता की जगह जब शोषण और उपेक्षा करनी प्रारम्भ की तब आजीविका के एक-मात्र आधार कृषि (क्योंकि उद्योगों के समाप्त होने के पश्चात् ही लोग इधर आये थे और बड़े पैमाने के उद्योगों की प्रचुरता थी नहीं जिसमें मजदूर के रूप में खपत हो सके) की प्रकृति परम्परा मुखी, जड़ एवं गतिहीन हो उठी थी। साम्राज्यवादी अर्थशास्त्री तथा उनकी बौद्धिक सन्तानें भारतीय कृषि की समस्याओं में इस तत्व का उल्लेख तो अवश्य करती हैं किन्तु मूल कारण का स्पष्ट कथन करने में हिचकिचाती हैं। छोटे मोटे तथा इधर-उधर बिखरे हुए खेतों में भारत का गरीब और मजबूर किसान (जो कभी-कभी खराब जमीन भी जोतने के लिये मजबूर हो जाता है) खेती करता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी के अनुभवों ने उसे सिखा दिया है कि इस खेती से पेट भरने भर की उपज हो जाय तो इसे ही गनीमत समझना चाहिये और फिर भी, खेती नहीं छोड़नी चाहिये, क्योंकि यह अपनी है जिस पर अपना अधिकार तो है और इसलिये जो गाढ़े वक्त भी आधा पेट ही सही, कुछ दे तो देगी। इसके परित्याग पर तो आजीविका का स्थायी रूप से विश्वसनीय अपना साधन कोई भी न रह जायगा। ध्यान रहे कि यह सतोष नहीं, मजबूरी है। मजबूरी की चुभन ही कुछ काल के पश्चात् सन्तोष का रूप धारण करने लगती है, और २०० वर्षों का समय 'कुछ काल' से कहीं अधिक बड़ा होता है। जो लोग भारतीय कृषक को सतोषीमात्र कह कर उसकी दुरवस्था का दायित्व उसी के ऊपर डाल देते हैं उन्हें मैं उस तरह का व्यक्ति समझता हूँ जो यह कहें कि हमारे नौकर को दूध, घी और फल अच्छे नहीं लगते, इन्हें खाना उसका स्वभाव ही नहीं है और इसलिये वह मरता है तो मरने दो, दायित्व उसी का है। मेरे एक मित्र ने एक बार अपने वृद्ध नौकर की शिकायत की कि दिन भर पड़ा रहता है, कोई भी काम हम उससे करवाते नहीं, मगर उससे यह नहीं होता कि अस्पताल चला जाया करे और दवा ले आया करे। अब, आप ही बताइये, मरता है तो हम क्या करें? मैं जानता था कि वह नौकर दवा लाने क्यों नहीं जाता। ६२ वर्ष के इस वृद्ध मरीज का औषधालय या अस्पताल साढ़े तीन मील दूर था और यह ज्वर से पीड़ित था। खेती के साधन घटिया किस्म के और अपर्याप्त होते हैं। जोताई, गोड़ाई और बोवाई उचित ढंग से नहीं होती। बांट-बांट कर खेतों के टुकड़े

टुकडे कर दिये गये हैं क्योंकि ऐसा करने के लिये हमारा किसान विवश है। साम्राज्य-वाद कहता है कि संयुक्त परिवार प्रथा भी कृषक की आर्थिक दुरवस्था का एक कारण है। तात्पर्य यह है कि जैसे ही किसान का लडका बडा और विवाहित हो जाय तैसे ही उसको अपने से अलग कर दिया जाय तो आर्थिक दृष्टि से अच्छा होगा ! प्रश्न यह है कि अलग होकर वह क्या करेगा ? किसान की सम्पति दस-बीघे से पिघल कर बीस बीघे हो न जायगी। उद्योग धन्धो का विकास आप होने नही देते क्योंकि उससे मान-चेस्टर का मजदूर भूखों मरने लगेगा (गाधी जी से मानचेस्टर म यही बात कही गई थी)। परिणामत अलग होकर वह जमीन का भी अपना भाग अलग करना चाहेगा और जब इस प्रकार हमारे खेत बट जायेंगे तब कहा जायगा कि खेतो का छोटा और दूर-दूर होना किसानो की गरीबी का कारण है। साम्राज्यवादी चिन्तन कितना कितना दुष्टतापूर्ण होता है !! अस्तु, हमारा किसान इन छोटे-छोटे खेतो पर पुराने हल और कुदाल का प्रयोग करने को विवश है। दो दो, चार चार बीघे जमीन पर ट्रेक्टर वह चलायेगा कैसे और उसे चलाय भी तो खरीदे कैसे ! हाथ से दँवाई होती है। कभी डन्डे से कूट-कूट कर और कभी बैलो को उस पर घुमवा कर यह काम किया जाता है। ओसाई सूप और हवा के सहारे होती है। बीज के लिये कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। विवशता के परिणामस्वरूप जैसा भी अनाज मिला, बो दिया गया। कभी-कभी तो खराब दाने भी बो दिये जाते हैं। जमीन ठीक से तैयार नही की जाती। निराई न तो काफी होती है, न ठीक से। पशु-पालन के भी वैज्ञानिक ढग से न होने की शिका-यत की जाती है। सबको एक ही बाडे मे, एक ही जगह, रखने से उनमे बीमारियाँ फैलती है। उनकी देख-भाल, दवाई, चरागाह, कोई भी बात ठीक और व्यवस्थित नही। मैं यह सब मानता हूँ। कहना केवल इतना ही है कि जिस देश मे शोषण-प्रधान साम्राज्यवाद की कृपा से मानव के भो भोजन की समुचित और वैज्ञानिक व्यवस्था नहीं हो पाती, एक ही कमरे मे बाप बेटे, सास-बहू-प्रजन-पोषण प्रसूति भोजन, आदि सबकी व्यवस्था होती है वहाँ जानवरो के लिय इससे श्रेष्ठतर व्यवस्था की आशा हो भी कैसे सकती है ! जिस किसान का परिवार दवा के अभाव मे मिट जाता है वह किसान बैल की दवा करे भी तो किस मन से और किन साधनो से !! ऋण लेने की व्यवस्था भी ठीक नहीं है। जिस किसान ने एक बार भी ऋण लिया कभी-कभी उसकी पीढी दर-पीढी उस ऋण से मुक्त नही हो पाती ! पश्चिम के सम्पर्क ने वस्तु-विनिमय की व्यवस्था मिटा दी। धन का, रुपये-पैसे का, महत्व असाधारण रूप से बढ़ा दिया। हर कार्य और हर चीज के लिये धन चाहिए। उसके पहले का भारतीय जीवन धन पर उतना अधिक आधारित नही था जितना अधिक सहयोग, सहायता,

प्रेम और सहानुभूति-जन्य पारस्परिक व्यवहारों पर। अब समस्या यह हुई कि यह धन आए कहाँ से ? किसान अब भी मूलत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही उत्पादन करता है किन्तु अब उसकी आवश्यकताओं का स्वरूप और प्रकार भिन्न हो गया। एक छोटा-सा, सीमित समाज अब उनकी पूर्ति कर नहीं सकता था। क्रय की आवश्यकता पडी। उसके लिये धन चाहिये। इधर कहा गया है कि "व्यापारे वसति लक्ष्मी" और इसीलिये देहात के व्यापारी साहु जी के पास किसानों की अपेक्षा अधिक धन पहुचा। अन्ततोगत्वा कृषक ने उसी से ऋण लेना प्रारम्भ किया। साहु जी का सामाजिक महत्व बढता गया क्योंकि किसान पर ऋण बढता गया। छोटे-मोटे खेत, बैलो की मौतें, समुचित सुरक्षा की व्यवस्था के अभाव मे उपज की अनिश्चितता, जमींदारों की ज्यादतियाँ और उनकी धन लोलुपता सामाजिक अवसरों पर अनावश्यक और हैसियत से अधिक व्यय, आदि अधिकाधिक ऋण लेने के लिये कृषकों को विवश कर देते हैं। एक बार ऋण लेने के पश्चात् किसान उसे प्राय चुका नहीं पाता। कारण यह है कि जिन कारणो से विवश होकर वह ऋण लेता है उनका अभाव नही होता। वे बराबर मौजूद रहते हैं और उपज इतनी अधिक बढती नहीं जितना ऋण बढता है अर्थात् उपज इतनी अधिक नही होती कि खर्चा करने के पश्चात् कुछ बचा कर उसमे ऋण चुकाया जाय। किसान के पास दूसरा कोई व्यवसाय नही। व्याज की दर ससार भर की अपेक्षा सबसे अधिक। किसान की चीज साहु जी ही खरीदेंगे और वे ही बेचेंगे। कम से कम दाम पर लेंगे, अधिक से अधिक दाम पर बेचेंगे। किसान कुछ बचाए कमाए तो कैसे ? साहु जी या जमींदार साहब ही हिसाब किताब रखते हैं। अपढ किसान यह कर ही नहीं सकता। ऋण का धन वे जितना चाहें, कर दें। इसमे कोई भी चीं-चपड कर नहीं सकता। जमींदार साहब लगान ले लेंगे परन्तु रसीद देंगे नहीं। माँगने की धृष्टता का दण्ड देना सक्षम, समर्थ और सशक्त "मालिक" बहुत अच्छी तरह से जानता है। परिणामत किसान कानून की दृष्टि म कभी लगान चुकाता ही नहीं। जमींदार और साहूकार के हाथों म किसान की गर्दन सदैव रहती है। जब चाहे, नाप दें। किसान शाश्वत कर्जदार होता है। "नजर", और 'घूस' और मुकदमे भी किसान के कर्ज को बढाते रहते हैं। किसान कर्ज मे पैदा होता, कर्ज मे जीता और कर्ज मे ही मरता है। बनिया उपयोगी और अनुपयोगी रचनात्मक और आडम्बर प्रधान, उत्पादक और अनुत्पादक, दोनों प्रकार के कार्यों के लिये ऋण देता है। सुझाव के, समझाने के, और मजबूर कर देने, आदि, के द्वारा वह किसान को ऋणी बना लेता है। तत्काल अदायगी के लिये कभी दबाव नहीं डालता। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ गई है कि इस पर उक्तियाँ प्रचलित हो गई हैं, जैसे, "बनिया मारे जान, ठग

मारे अनतात", "न बनिया मीत, न वेश्या सती", "बनियां सुई की तरह भीतर घुसता है और तलवार के रूप में निकलता है", आदि। कर्ज लेने और "नजर" देने का चित्रण प्रेमचन्द के 'गोदान' तथा अन्य उपन्यासों और कहानियों में बड़े ही कलात्मक रूप में मिलता है। अपनी सरकार ही किसानों को इससे बचाने के बारे में सोचने का कष्ट कर सकती है और ईमानदारी से प्रयत्न कर सकती है। किसान की तमाम उपजाऊ जमीन ऊसर पड़ी रहती है। अपर्याप्त, अनिश्चित और अनियमित रूप से पानी मिलता है। पानी कभी कम बरसा, कभी देर-सवेर बरसा, कभी बहुत अधिक बरसा, और कभी बिल्कुल नहीं बरसा। सिंचाई के साधन अपर्याप्त हैं और पुराने तथा अवैज्ञानिक हैं जैसे, कुआं, ताल, नहर, रहट, आदि। नहरों के निर्माण की ओर सरकार ने कुछ ध्यान अवश्य दिया था किन्तु वह बिल्कुल ही अपर्याप्त था। १८३८-३६ तक १५२८ करोड़ रुपये इसमें लगाये थे। १६००-१ में प्रमुख नहरों तथा उनकी शाखाओं और सहायक नहरों की कुल लम्बाई ३६१४२ मील थी। इस वर्ष सिंचाई के कार्यों में लगभग ४२ करोड़ रुपये लगाये गये थे। इतस स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल देश के लिए, जिसके क्षेत्रफल (१५,८१,४१० वर्गमील) का लगभग ५० प्रतिशत से भी अधिक भाग जोता-बोया जाता है, इतना धन कितना अल्प है! १८७८-७६ में सींचा गया क्षेत्र १०५ लाख एकड़ था जो १६४१-४२ तक ३८० लाख एकड़ हो गया। भूमि-व्यवस्था दोषपूर्ण है जिसका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व सरकार पर पड़ता है। पोषक तत्वों की प्राप्ति के अभाव में मिट्टी सत्वहीन हो रही है। स्वस्थ शरीर और अतृप्त मन वाले मनुष्यों का जहाँ सरकार द्वारा सनातन अभाव उपस्थित कर दिया गया हो वहां योग्य और कुशल मजदूर मिलें भी तो कैसे? फसल ठीक नहीं होती और जितनी होती भी है उसमें कीड़े लग जाते हैं। खेती के बारे में कोई एक सहानुभूतिपूर्ण राष्ट्रीय नीति नहीं है। जान-बूझ कर ऐसा वातावरण पैदा किया गया और ऐसी लालच दी गई तथा कभी-कभी ऐसी जबरदस्ती की गई कि अनाज की खेती कम की जाय। इसका निश्चित परिणाम जब यह हुआ कि अनाज की कमी हुई तो विदेशों से उसका आयात किया गया। विदेशी विनिमय कम हुआ। तमाम झंझटें पैदा हुई। अनाज रखने की व्यवस्था भी दोषपूर्ण और अवैज्ञानिक है। बाजार की व्यवस्था भी ठीक नहीं। बेचने की व्यवस्था अवैज्ञानिक, असुविधाओं से पूर्ण और असुन्दर है। शताब्दियों से दलित, दमित और इसलिये साहसहीन, मुर्दादिल, तथा अशिक्षा के प्रसार के कारण अन्धविश्वासी, मजबूर, रूढ़िवादी तथा जाहिल प्राणी भारतीय कृषि-उद्योग का प्रथम पुरुष है। ऐसा महामानव अपने ऐसे अनाज को बैलगाड़ियों में भर कर अपनी ऐसी विक-

मिल बुद्धि के सहारे बेचने निकलता है। विक्रय के मार्ग मे आढतिया, दलाल, तोला, सब उससे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। बेईमानी करते हैं। किसान को कमीशन दलाली, सफाई, चढाई, उतराई, तोलाई, भराई सिलाई, दान, धर्मादा, आदि सबके लिये अनाज देना पडता है। ६० से ८० प्रतिशत तक देहातों को अपनी सारी उपज कुछ सस्ते ही दामो मे बेच देनी पडती है क्योंकि वह गरीब होने के कारण कर्जदार है और अपढ होने के नाते अपने हर एक काम के लिये पराश्रित है। ये किसान साल के काफी दिनों म खाली रहते हैं। गाव की पचायतें केवल सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से हो जाने वाले अपराधो क निराकरण क लिये गतिशील होती हैं। इसलिये आर्थिक दृष्टि से उनका होना न होना बराबर है। यह किसान बेगार भरता है। छोटी, मट्टी, स्वास्थ्य की दृष्टि से निकृष्ट झोपडियो मे ये किसान रहते हैं। इन झोपडियो मे न खिडकी, न रोशनदान। ये बरसात मे प्राय टपकती भी हैं। जाडे मे लोग पयाल या पुआल पर सोते हैं। राधा कमल मुकर्जी ने लिखा है, 'बहुत से किसानो के लिये झोपडी केवल रात मे पैर फैलाने और सो जाने भर के लिये होती है। बाकी उनकी जिन्दगी बाहर या बरामदे मे बीतती है। एकान्त के अभाव के कारण अक्सर लोगों मे से लाज, शर्म और हया का ख्याल ही खतम हो जाता है। मर्द और औरतें, छोटे और बडे सब एक ही जगह लिपटे पडे रहते हैं। ज्यादा से ज्यादा हाथ दो हाथ का अन्तर रहता है। पास ही सोने वालो मे गाय, बैल, और बकरियां भी होती हैं। इस तरह ये लोग जाडे म सोते हैं। वह घर जिससे मन और मस्तिष्क पर सुन्दरतम सामाजिकता, सुरुचिता, व्यावहारिक सौन्दर्य, सुशीलता और कलात्मकता का प्रभाव पडना चाहिये, प्राय बीमारियो और मुसीबतो की याद-जैसा होता है, जहाँ लोग कीडो की तरह पैदा होते और मरा करते हैं।'' ऐसे व्यक्ति से न तो पर्याप्त परिश्रम हो सकता है न कार्य मे एकाग्रता और एक चित्तता। भारत मे एक आदमी औसतन २ ६ एकड भूमि पर खेती करता है जबकि इङ्गलैंड म १७ ३ एकड पर। अमेरिका की एक श्रमिक महिला औसतन १०० पौंड रुई चुनती है और मिश्र की, ६० पौंड तक, मगर एक भारतीय महिला कुल ३० से ४० पौंड तक ही चुन पाती है।

अँगरेजो के आने से पूर्व हमारे ये गाव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और आत्म निर्भर होते थे। अब इनकी यह विशेषता बहुत हद तक समाप्त हो गई है। प्रत्येक गाँव के इर्द-गिर्द मील-दो मील तक ग्राम निवासियों के खेत फैले रहते हैं। सामान्यत किसान गाँव म ही रहता है। जिनके पास बीस-पचीस मील या इससे भी अधिक दूरी पर भी

खेत होते हैं। वे वहाँ भी एक झोपड़ी बना लेते हैं जहाँ कभी-कभी परिवार का मालिक या और कोई तथा वहा की व्यवस्था देखने के लिए कोई एक नौकर प्राय रहा करता है। यद्यपि हमारे इन गाँवों मे सिक्कों और नोटो का प्रवेश हो गया है किन्तु अब भी वस्तु विनिमय की प्रथा देखी जा सकती है। आवश्यकतानुसार लोग अनाज के बदले नमक या तेल या गुड़, आदि ले लिया करते हैं। प्रत्येक गाँव मे एक बढई, एक लोहार, नाई, तेली, कुम्हार आदि भी पाये जाते हैं जो गाव भर की एतत् सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति किया करते हैं। इसके बदले उन्हे कार्य के अनुसार पारिश्रमिक रूप मे तीन महीने या छ महीने पर अनाज मिल जाया करता है। प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग अब भी गाँवों के जीवन का आधार बना है। लोग एक दूसरे का काम करवा दिया करते हैं। किसी कारण यदि कोई खेती नही कर पाता तो अपने खेत खेती करने के लिए दूसरो को दे देता है और उपज का समुचित बंटवारा दोनो के बीच हो जाता है। पटवारी गाँव और खेत से सम्बन्ध रखने वाले जरूरी कागजात तैयार रखता है। यह अपनी इच्छानुसार खेतो के क्षेत्रफल मे अथवा उनके स्वामित्व के बारे मे लिख दिया करता है जो आगे चल कर भयानक मुकदमेबाजी का कारण बनता है। अब जमीन भी लेनदेन और क्रय विक्रय की वस्तु बन गई है। जमीन के मालिक किसान न होकर वे जमींदार हैं जो खेती करते नही करवाते हैं या बहुत करके तो वे अपने खेतो का मुँह भी नही देख पाते क्योंकि यह सारा काम उनके मैनेजर, मुख्तार या कारीन्दे किया करते हैं। खेती से इनका सम्बन्ध केवल इतना ही है कि ये उनसे पैसे पा जाया कर, वर्ना प्राय ये लोग शहर मे रहा करते हैं। इनके चरण बडे ही महत्वपूर्ण होते हैं और बडे ही साफ होते हैं। इसलिये इनको ही खेती की मिट्टी-जैसी तुच्छ और गन्दी वस्तु को उनके स्पर्श तक का सौभाग्य कभी नहीं मिलता! छोटे-छोटे किसान अपने खेतो के लिये किसान होते हैं और दूसरों के खेतों के लिये मजदूर। इस प्रकार वे किसान भी होते हैं और मजदूर भी। हर किसान के पास दो-चार पशु अवश्य होते हैं। उनसे गोबर मिलता है। जब जानवर अधिक होते हैं और उनका गोबर अधिक होता तब उसे घर के पास कही एक जगह बराबर फेंकते रहते हैं और समय पर उसे मजदूरो से उठवा कर खेतों मे डलवा दिया जाता है। अगर गोबर कम निकला तो उसके छोटे-मोटे उपले या कण्डे बना लिये जाते हैं जो जलाने के काम आते हैं। बरसात मे इन सूखे कण्डो के कारण ही गाव के सामान्य जीवन की समस्या हल हो जाती है? इसके लिये हमारे गरीब किसान को बहुत दोष दिया जाता है कि वह इतनी अच्छी खाद को जला डालता है। गुलामी को पूर्णत

अंगीकार कर लेने के कारण चिंतन की स्वतन्त्रता और मौलिकता के अभाव में लकीर पीटना और चापलूसी ही विद्वता हो जाती है और तब, लोग अजीब-अजीब बातें किया करते हैं। ऐसे ही एक महाशय लिखते हैं कि 'भारतीयों की हानिकारक आदतों में से एक गोबर को जलाने की आदत भी है।" हमारी इस "आदत" को रोकना वे परमावश्यक समझते हैं और इसके लिये 'जंगल लगवाने तथा उसके लिये सस्ते रेल-भाड़े की सम्भावना पर पूरी तरह विचार' करने की सिफारिश करते हैं। उनको यह नहीं मालूम कि 'गाँव के आसपास बेकार पड़े हुए मैदानों में' प्रायः पेड़ होते हैं और गाँव के लोग उनकी एवं आसपास के जङ्गलों की सूखी टहनियों को जलाते हैं और उनसे जब पूरा नहीं पड़ता और गीली लकड़ियाँ फूँकते फूँकते आँख फूटने लगती हैं और फिर भी वे नहीं जलतीं तब यह कण्डा ही काम आता है। धुँआ इसमें भी होता है किन्तु उसके बाद आग अच्छी मिलती है। 'कण्डा' जलाने का अर्थ अनाज जलाना होता है यह मानने में कोई आपत्ति नहीं किन्तु फिर भी 'कण्डा' जलाना 'आदत' नहीं, मजबूरी है जो आगे चल कर शताब्दियों के व्यवहार के कारण प्रथा और अंधविश्वास बन गई। कोई बात कठिन नहीं। आप पतलून, टाई, बूट उतारिये। आप अपढ़ किसानों से मिलने और बोलने में अपमानित न अनुभव करें और घिनाएँ नहीं। अपने बदन और कपड़ों को नायिका के मुख की तरह मिट्टी से सदा ही दूर न रखना चाहें। अँग्रेजी दासता छोड़िए। कुछ स्वतन्त्र चिन्तन की आदत डालिए। फिर, देहात की ओर चलिए। किसान आवश्यकतानुसार अपनी सभी खराब आदतें छोड़ देगा। मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि हमारा किसान जड़ नहीं है। वह उतना जड़ नहीं, उतना अंधविश्वासी नहीं, उसमें साहस, उद्यम, सूझ-बूझ और परिश्रम की उतनी कमी नहीं है जितनी मार्शल बन्धम, वीरासेन्स्टी आदि के (हीनता-ग्रन्थि से भुगतने वाले इन) आज्ञाकारी बौद्धिक सन्तानों में है। हमारा किसान मजबूर है। उसके चारों ओर दीवालें खड़ी कर दी गई हैं। आजादी के बाद वह अपने कमजोर हाथों से इन्हीं दीवालों को तोड़ने में लगा है। अपनी असीम शक्ति और अधिकारों से सुसज्जित सरकारें और बहुत-कुछ तो विदेशी सरकार की कुप्रवृत्तियों की विरासतें इन किसानों की उन्नति के रास्ते में आकर अड़ने लगती हैं। सद्भावना और सहानुभूति से पूर्ण, ईमानदार और सच्चे प्रशासन की सहायता चाहिए और चाहिए मौलिक, क्रांतिकारी, भारतीय दृष्टिकोण वाली प्रेरक नीति।

हिन्दी का साहित्यिक और देहात–

हिन्दी के अनेक स्वनामधन्य साहित्यिकों का जन्म देहात में हुआ है, बचपन देहात में बीता है और आगे चल कर भी उनका सम्बन्ध इन देहातों से किसी न किसी

प्रकार बना ही रहा। पन्त और 'निराला' के जन्म और शैशव का सम्बन्ध देहात से है। सियारामशरण गुप्त और मैथिलीशरण गुप्त का आजीवन सम्बन्ध देहात से रहा। महावीर प्रसाद द्विवेदी का सम्बन्ध देहात से बराबर बना रहा। प्रेमचन्द की चेतना देहात-मय थी। रामनरेश त्रिपाठी और 'सनेही' का देहात से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। राम विलास शर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कौशिक', रामचन्द्र शुक्ल, लक्ष्मीनारायण मिश्र, राहुल सांकृत्यायन, 'हरिऔध' ठाकुर गोपालशरण सिंह, गुरुभक्तसिंह 'भक्त', 'अनूप', श्यामनारायण पांडेय, आदि अनेक साहित्यिकों की साहित्यिक चेतना एवं सामान्य जीवन का सम्बन्ध देहात के जीवन से घनिष्ठतम रहा है। देहातों के प्राकृतिक सौंदर्य से कठोर हृदय धनपति भी प्रभावित होते हुए देखे गये हैं। ऐसी स्थिति में इन तरल हृदय भावप्रधान साहित्यिकों का प्रभावित होना अनिवार्य था। इनके द्वारा रचित हिन्दी साहित्य में प्रकृति-सौंदर्य के अनेक सुन्दरतम और कलात्मक चित्र मिलते हैं। इसीलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य की भी एक प्रमुख विशेषता उसका प्रकृति चित्रण है जिसका विशुद्ध रूप देहातों में ही मिलता है। प्रकृति का यह चित्रण अनेक रूपों में और अनेक प्रकार से किया गया है। यह प्रकृति काव्य का भी विषय बनी है और गद्य का भी। प्रकृति-मय देहात का भावात्मक चित्र कविता में मिलता है और विशद विवरण-पूर्ण चित्रण गद्य में-विशेष रूप से कहानियों और उपन्यासों में। ये चित्र आदर्श प्रधान भी हैं और तथ्य प्रधान भी। सम्भवतः देहात के इसी प्राकृतिक वातावरण के कारण भी हिन्दी साहित्य का स्वरूप मूल रूप से भावात्मक रहा है। इन देहातों की आर्थिक दुरवस्था भी कम प्रभाव डालने वाली नहीं है। उनकी गरीबी, उनकी मजबूरी, उनकी सीमाओं, उनकी कठिनाइयों और इस प्रकार इनसे निर्धारित जीवन का चित्रण कथा-साहित्य में-प्रेमचन्द में विशेष रूप से-मिलता है। इस दृष्टि से 'गोदान', 'मैला आँचल' आदि उपन्यास बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। जिस लेखक का देहाती जीवन से जितना ही अधिक सम्पर्क रहा है उसके चित्र उतने ही अधिक सशक्त और प्रभावशाली रहे हैं। इनको देखने का दृष्टिकोण विशेष चित्रों के प्रभाव को विशेष प्रकार का बना देता है। वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों से प्रभावित लेखक के चित्र गांधीवादी लेखकों के चित्रों से कुछ भिन्न प्रभाव वाले होते हैं। प्रसाद के 'तितली' का प्रभाव वैसा नहीं पड़ता जैसा 'गोदान' या 'मैला आँचल' या नागार्जुन के उपन्यासों का। ये चित्र विवरण प्रधान भी होते हैं और व्यंग्य प्रधान भी। प्रेमचन्द ने ग्रामीण ऋणिता और 'नजर-घूस की' बर्बरता का व्यंग्य प्रधान चित्रण 'गोदान' में वहाँ उपस्थित किया गया है जहाँ ऋण लेने वाला कहता है कि हुजूर, ये बाकी रुपये भी ले लिये जाँय क्योंकि छोटी ठकुराइन साहब, बड़ी ठकुराइन साहब, आदि सबको 'नजर' का हिसाब जोड़ने पर ये पूरे के पूरे उसमें ही खप जाते

हैं। कवियों ने भी इस दुर्दशा के चित्र यत्र-तत्र उपस्थित किये हैं। पन्त ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'भारत माता' में भारत को देहातों में ही मान कर कहा—

'भारत माता ग्रामवासिनी'

ध्यान रहे कि गाँधी जी भी वास्तविक भारत देहातों में ही पाते थे। इस प्रकार इस 'भारतमाता' की दीनता का भावचित्र उन्होंने बड़े ही मार्मिक रूप में उपस्थित किया है—

धूल भरा मैला-सा आँचल
गंगा-जमुना में आँसू-जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी
दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन
अधरों में चिर नीरव रोदन
युग युग के तम से विषण्ण मन
वह अपने घर में प्रवासिनी
तीस कोटि सन्तान नग्न तन
अर्द्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन
नत मस्तक तरुवर निवासिनी।[1]

कुछ यथार्थवादी दृष्टिकोण का उनका निम्न चित्रण भी उल्लेखनीय है—

दैन्य दुःख अपमान ग्लानि भर, चिर क्षुधित पिपासा मृत अभिलाषा
बिना आय की क्लान्ति बन रही, उसके जीवन की परिभाषा
जड़ अनाज के ढेर सदृश ही, वह दिन भर बैठा गद्दी पर
बात-बात पर झूठ बोलता, कौड़ी की स्पर्द्धा में मर मर।[2]

दुर्दशा किसान की ही नहीं, सारे समाज की है। भगवतीचरण वर्मा ने लिखा—

जिसमें मानवता की दानवता फैलाये है निज राजपाट
साहूकारों के पर्दे में है जहाँ चोर औ गिरहकाट
है अभिशापों से लदा जहाँ पशुता का कलुषित ठाठ-बाट
उसमें चाँदी के टुकड़ों के बदले में लुटता है अनाज
उन चाँदी के ही टुकड़ों से ही चलता है सब राजकाज।[3]

---

१ 'आधुनिक कवि', भाग २
२ 'ग्राम्या'
३ 'भैंसा गाड़ी', शीर्षक कविता

तात्पर्य यह कि कर्ज लेने वाले विवश-विपन्न किसान के कर्ज की भी पूरी की पूरी सम्पत्ति कर्ज लेने के प्रयत्नों अर्थात् कर्ज दिलाने वालों में ही चुक जाती है ! ग्रामीण जीवन के चित्र उपस्थित करने वाले ये लेखक चूँकि राष्ट्रीय दृष्टिकोण के भी होते हैं और इन्हें ग्रामीण भाइयों की सुख-समृद्धि भी अभीष्ट होती है तथा इनके पास इन ग्रामीण भाइयों के लिये अक्षय सहानुभूति होती है अत अपनी-अपनी धारणा के अनुरूप ये लेखक इनके सुधार और इनके आदर्श रूप का कल्पना प्रधान चित्र भी उपस्थित करते हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का 'मगल प्रभात' प्रेमचन्द के उपन्यासों के आदर्शवादी युवक जमींदार और उनके आश्रम, आदि ऐसे ही चित्रों से परिपूर्ण हैं। इनमे से अधिकांश के पीछे गाँधीवादी दृष्टिकोण प्रधान होता है। हिन्दी साहित्य मे साम्यवादी दृष्टिकोण से कल्पित आदर्श गाव और उसके किसान का कोई चित्र नहीं मिलता।

कमाई के सभी स्रोतों की असतोषजनक अवस्था—

हमारे समाज मे एक उक्ति प्रचलित है "उत्तम खेती, मध्यम बान, अधम चाकरी भीख नदान।" अंग्रेजी सरकार ने ऐसा वातावरण उपस्थित कर दिया था कि हम यह मानने लगे कि "श्रेष्ठ चाकरी", घटिहा बान अधम किसानी, भीख महान्। खेती करवाना चाहे कुछ अच्छा काम भी मान लिया जाय, किन्तु खेती करने से बढ़ कर अधम कार्य और कुछ नही होता। बहुत अधिक मेहनत पडती है, कपडों के उजलेपन में गन्दगी लग जाती है, हाथ-पैर मे मिट्टी लग जाती है, खुले में काम करना पडता है और इन सबके बदले मे कुछ विशेष द्रव्य की प्राप्ति भी नहीं होने पाती जब कि नजाकत-नफासत यानी रिफाइनमेंट से रिश्ता टूट जाता है। अस्तु, कृषि कार्य वही करे जिसके पास कुछ अन्य साधन न हों। कृषि के बाद आर्थिक व्यवस्था मे दूसरा प्रमुख स्थान उद्योग या व्यापार का आता है। इस सम्बन्ध मे हमारा दुर्भाग्य यह रहा है कि हम उन्ही का, उतना ही, और तभी उत्पादन कर सकते थे जो, जितना और जब अंग्रेजी साम्राज्यवाद करने दे और अंग्रेजी साम्राज्य उन्हीं का, उतना ही और तभी उत्पादन करने दे सकता था जब, जितने से, और जिससे उसका अपना लाभ हो। परिणाम यह हुआ कि हम स्वाभाविक और समुचित रूप से न तो उत्पादन करने पाये और न अच्छे ढग से व्यापार करने पाये। हमारे यहाँ उद्योग-धधों का विकास होने ही नहीं दिया गया।

उद्योग-धंधो की श्रेणियां—

ग्रामीण शिल्प एवं उद्योग

भारतीय उद्योग-धधो को तीन भांगो मे बाँटा जा सकता है—(१) ग्रामीण

शिल्प कलाएँ, (२) ग्रामोद्योग, कारीगरों तथा सामान्य जनों के उपयोग और उपभोग में आने वाली चीजों के उद्योग, और उद्योगशालाओं की चीजों, के उद्योग, तथा (३) बड़ी-बड़ी मशीनें। आधुनिक युग की औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप और अँग्रेजी साम्राज्यवाद की स्वार्थपरक नीति के परिणामस्वरूप हमारे कुटीर उद्योग का भयानक विनाश, ह्रास और उपेक्षा हुई है। बीसवीं सदी के आते-आते तक हमारे पास जो उद्योग-धंधे बाकी बचे थे या जिनका विकास होने को रह गया था वे थे—चारपाई, आदि का ढाचा बनाना और उनका बुनना, रस्सी सुतली बँटना, सिल-बट्टा बनाना तथा उन्हें घूम घूम कर छीनना, चौका-बेलन बनाना, हल-कुदाल-खुरपा, आदि बनाना, बैल-गाड़ी बनाना, चटाई डलिया-मौनी-बेंची, आदि बीन लेना, घास छीलना और चारा काट लेना, पहनने के कपड़े सिल लेना, गन्दे कपड़े धोना, गुड़ बनाना, मिट्टी के दिये-सकोरे और देहाती बच्चों के खेलने-योग्य खिलौना बना लेना, आदि। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के लिये जिन कुटीर उद्योगों का इतना अधिक बुनियादी महत्व है वे किसी न किसी भाँति आज तक देश में जीवित अवश्य रखे गये हैं। ये कुटीर उद्योग इस स्थिति में रखे गये हैं कि यहाँ की हर एक वस्तु जीवित रहते हुए भी जीवन के लिये तरसती है। इसलिये इस क्षेत्र की कोई भी वस्तु—कला, कलाकार की भावना, कलात्मक वस्तुएँ, आदि—साहित्य का विषय नहीं बन सकी। वातावरण के चित्रण में कभी-कभी इनका वर्णन मात्र अवश्य हो जाता है, जैसे, किसी भद्र महिला को स्वेटर बुनते हुए दिखाना, आदि। हाँ, साहित्य में चर्खे को थोड़ा बहुत स्थान अवश्य मिल गया है किन्तु इसका कारण उसका हस्तकला वाला रूप अथवा कुटीर उद्योग होना नहीं है। इसका कारण है महात्मा गांधी का पारस जैसा व्यक्तित्व जिसे छूकर मिट्टी भी सोना हो जाती थी। उनकी ही प्रेरणा के परिणामस्वरूप खादी या सूती कपड़ा उद्योग, रेशम उद्योग, ऊनी उद्योग, चर्म उद्योग, काष्ठकला उद्योग, तेल घानी उद्योग, हाथ के बने कागज, मधुमक्खी पालन, हाथ के कुटे चावल; आदि की ओर कार्य्रेसी और कांग्रेसी सरकारों का ध्यान, गया और ये सब अब उन्नति के पथ पर गतिशील हैं।

बड़े पैमाने के उद्योग:—जब हमारा ध्यान बड़े पैमाने के उद्योगों की ओर जाता है तो वहाँ भी कुछ ऐसी ही नीति और स्थिति पाते हैं। हमारे यहाँ १९०० ई० में १९३ सूती मिलें थीं जिनकी संख्या १९४६ में ४२० हो गई। भारत में पहली सूती मिल १८५४ में बम्बई में खोली गई थी। १८६६ में इस देश में कुल तीन जूट मिलें थीं जब कि १९४७ में उनकी संख्या ११३ हो गई। भारत में आधुनिक चीनी उद्योग

की नीव १८६६ में पड़ी और १६०१ में गन्ने व सुधार के लिये एक गवेषणा केन्द्र खोला गया तथा १६२६ ई० से 'भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद" चीनी उद्योग के विकास की बात सोचन लगी। उस समय देश में २७ कारखाने थे जो इस समय तक बढ कर १६६ हो गये हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ ने हमारे यहाँ कागज की ३ मिलें देखी जिनकी सख्या १६५४ के आस पास २१ हो गई। १६०७ ई० में "टाटा आइरन और स्टील कम्पनी" स्थापित हुई। कोयले की खुदाई और अन्य खानों के भी खोदने का काम प्रारम्भ हुआ। जल विद्युत उद्योग भी बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। १६०४ म भारत म सब प्रथम 'पार्टलैंड सीमेंट' का निर्माण प्रारम्भ हुआ। १६५२ तक सीमेन्ट के २३ कारखाने देश में खुल गये। १८६५ मे हमारे यहाँ दियासलाई का एक ही कारखाना था जिसकी संख्या १६४६ म १६२ हो गई। मोटर उद्योग का प्रारम्भ १६४६ में, वायुयान का १६४० मे, साइकिल का १६१८ में, वनस्पति घी का १६३० में, सूखी बैटरी का १६२६ मे, संग्रह बैटरियों का १६३६ मे, केबिल और तारों का १६२१ मे, बिजली के पंखो का १६२४ म हरीकेन लालटेनों का १६२६ म और सिलाई की मशीनों का १६३६ में हुआ। उत्पादन भी इसी हिसाब से बढा है। १६००ʼ से १६०४ व बीच चाय के उत्पादन का औसत २०१ करोड था जो १६५० में ६४३ करोड हो गया। १६२६ मे ३१७८१ टन कागज बनता था जो १६३७ म ७०२७३ टन बनने लगा। १६२६–१० में ३१३००० टन चीनी बनी, और १६४४–४५ म १०३६६०० टन। दोनो महायुद्धो के काल म देश का औद्योगिक विकास अधिक हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारा औद्योगिक विकास अपर्याप्त और अत्यन्त मन्द-गति से हुआ है। जो कुछ विकास हुआ है वह कुछ विशेष क्षेत्रों म हीं। अब भी हमे मशीनों औजारों तथा अन्य बहुत-सी आवश्यक वस्तुओं के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पडता है। विदेशो से कुशल कारीगर मँगाने पडते हैं। इन औद्योगिक क्षेत्रो के सभी पर्यों पर विदेशियों का अत्यन्त गहरा प्रभाव है। १६४८ तक भारत मे विदेशो की विनियोजित पूँजी ५६६ करोड रुपये थी। हुआ यह कि हमको हर तरह से अपग और असमर्थ करने के बाद यह नीति अपनाई गई कि भारत मे भारतवासी तथा भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के लोग भी बिना किसी प्रतिबन्ध के व्यापार कर सकते हैं। परिणामत- विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा ने हमारे अनेक उद्योगो को मिटा दिया। हमारे राजनीतिक स्वामी सस्ते दामो पर हमसे कच्चा माल खरीदते थे और मँहगे दामों पर उससे बनी चीजों को हमारे हाथ बेचते थे। १८६० से लेकर प्रथम विश्व-युद्ध तक अत्यन्त की मन्दगति से हमारा विकास हुआ। प्रथम महायुद्ध के दौरान म आधुनिक वृहद् उद्योगों की नीव पडी। १६२० से १६३२ तक यह विकास फिर अब

रद्द हो गया। उसके बाद से हमारे देश मे सीमित साधनो और शक्तियो के अनुसार फिर विकास प्रारम्भ हुआ। १९२९ ई० से १९४५ तक का काल भारतीय उद्योगों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण काल माना जा सकता है। लगडी कल्पना वाले भले ही इसे स्वर्णयुग मान लें किन्तु वस्तुत स्वर्णयुग यह नहीं हो सकता। वह बहुत बडी चीज है और अभी न मालूम कितने दिनो बाद आएगा। ओमप्रकाश बेला के अनुसार 'अब भारत का ससार के अच्छे औद्योगिक देशो मे दसवाँ नम्बर है",[1] और, यह तब है जब सुप्रसिद्ध लेखिका वीरा ऐन्स्टी ने यह स्वीकार किया है कि ब्रिटिश सरकार ने भारत में औद्योगीकरण के लिये जो कुछ किया वह परिस्थितियों और वातावरण से मजबूर होकर किया, किसी निश्चित सिद्धान्त और उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं।[2] परिणाम यह हुआ कि १९०० से ही अँग्रेजों द्वारा परिचालित रेलवे कम्पनियो ने फायदा उठाना प्रारम्भ कर दिया। वर्ग भेद और नस्ल-भेद की भावना का भी प्रचार इन रेलवे कम्पनियों ने डट कर किया। यात्रा करते समय भी बडे-छोटे, धनी गरीब का भेद बना रहे इसलिये इन कम्पनियो ने प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, अन्तरिम श्रेणी और तृतीय श्रेणी में रेलवे से दी जाने वाली सुविधाओं और उनके अनुसार डब्बों का जो वर्गीकरण किया सो आज तक किसी न किसी रूप मे चला आता है। यद्यपि रेलवे कम्पनियो को सबसे अधिक लाभ तृतीय श्रेणी के यात्रियो से होता रहा है किन्तु सुविधाओं से सबसे अधिक वे ही वंचित रखे गये। और होता भी क्यो न! प्रथम और द्वितीय श्रेणी मे सबसे अधिक अँग्रेज और उनके भारतीय सेवक ही तो चलते थे। लाभ उठाने ही की दृष्टि से १९२५ मे रेलवे को सामान्य बजट से अलग कर दिया गया था। यह भी तो साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र है। पटरियाँ, डिब्बे, इन्जन, पुर्जे, आदि सब कुछ विदेशो से मँगाये जाते थे। कम्पनियाँ विदेशियो की थी। रेलो मे यदि कुछ स्वदेशी था तो कुली, मजदूर, यात्री, छोटे-मोटे स्टेशनो के स्टेशन मास्टर और छोटे दर्जों के यात्री। यह कुछ ऐसा ही हुआ कि खरीदने वाले हम, 'कितने का खरीदा जाय" इसके निर्णायक हम, "कहाँ से खरीदा जाय" इसके निर्णायक हम, केवल धन आपका और आनन्द यह कि आपको इसके बारे में कुछ भी पूछ सकने का कोई भी अधिकार नही। तो फिर रह क्या जाता है? एक सुई हजार रुपयों में भी खरीदी जा सकती है!!!

व्यापार—जब खेती और उद्योगों की यह स्थिति है तो व्यापार की कल्पना

१ 'भारतीय अर्थशास्त्र का विवेचन', २६३

२. 'दि इकनामिक डेवलपमेंट आफ इण्डिया', पृ० ३५६

कर सकना कोई बडी कठिन बात नहीं। ध्यान रहे कि भारत वह देश है जिसका व्यापार ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भी बेबीलोन से था। भारत की बनी हुई वस्तुओं की रोम मे बडी माँग थी। चीन, अरब, फारस, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशो तक हमारा व्यापार था। इङ्गलैंड, हालैंड, फ्रास आदि देशों मे भारतीय लिनेन, छींट, हीरे, जरी के काम किये हुये कपडे, ऊनी वस्तुएं बहुत पसन्द की जाती थीं। इन भारतीय वस्तुओं के बदले में भारत को देने लायक कोई भी चीज इन देशो के पास न थी। परिणामस्वरूप इन्हें भारत को नक्द रुपया देना पडता था। इस प्रकार प्राप्त होने वाले धन के कारण ही भारत 'सोने की चिडिया' हो रहा था। जथार और बेरी ने इस सम्बन्ध मे बडा ही रोचक तथ्य लिखा है।[1] इङ्गलैण्ड ने भारत मे काफी दिनो तक मुक्त व्यापार की नीति चलाई है अर्थात जो चाहे भारतीय बाजारो मे निर्बाध रूप से अपना माल बेचे और उसके माल पर कोई भी विशेष कर या प्रतिबन्ध न लगेगा इसी इङ्गलैण्ड ने अपने देश के वस्त्रोद्योग की उन्नति और अपने देश का धन व्यापार द्वारा भारत मे रोकने के लिये सत्रहवीं सदी के अन्त में भारतीय कपडो का प्रयोग दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया था। इसके लिये या तो भारतीय कपडो पर इतना अधिक आयात कर लगाया गया कि उसका आयात बिल्कुल बन्द हो जाय या उसके प्रयोग की बिल्कुल मनाही कर दी गई। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भारत उन्हीं वस्तुओं, उदाहरणार्थ कपडा और चीनी, का आयात करने लगा जिनका वह अब तक निर्यात करता आया था। १८७४ ई० तक प्राय सभी निर्यात कर उन्मूलित कर दिये गये और १८८२ तक सभी आयात कर। १८९३ ई० के आते-आते भारतीय बाजारों पर से अंग्रेजों का एकाधिकार समाप्त होगया। फिर भी, भारत की रेलो में लगी अंग्रेजी पूंजी, बैंकिंग और जहाजरानी पर इङ्गलैण्ड के नियन्त्रण, विभिन्न अंग-रेज-सगठन जैसे ब्रिटिश वाणिज्य मण्डल, ब्रिटिश निर्यात गृह, आदि, और देश की वित्तीय नीति के सचालन के अधिकार, आदि के कारण भारत पर इङ्गलैण्ड का ही प्रभुत्व रहा। जब हम भारतीय व्यापार की बात करते हैं तो उसका तात्पर्य है भारत की सरकार द्वारा आयोजित व्यापार—न कि भारतवासियों के हित मे आयोजित व्यापार। नवीन शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षों मे, विशेष कर १९०५ के बाद, भारत का विदेशी व्यापार ३७६ करोड का हो गया था। १९१३ से १९१९ के बीच आयात में बहुत ह्रास हुआ। इतना ह्रास निर्यात मे नहीं हुआ। १९१३-१४ मे आयात १८३ करोड रुपये का और

---

१. 'भारतीय अर्थशास्त्र', भाग २, पृ० २००

धीरे-धीरे अपना कार्य करते रहे।"[१] अंगरेजों के आने से देश मे एक नवीन बैंकिंग व्यवस्था का आगमन हुआ और बैंकिंग सम्बन्धी एक नया वातावरण ही बन गया है। आज हमारे देश मे देशी बैंकर, सहकारी बैंकें, भूमिबंधक बैंकें, पोस्ट आफिस सेविंग बैंकें, मिश्रित पूंजी वाली बैंकें, विदेशी विनिमय बैंकें, बीमा कम्पनियां, स्टाक तथा बुलियन एक्स्चेंज, और भारत का रिजर्व बैंक, आदि आठ प्रकार की बैंक हैं। बैंको की विविधता अच्छी बात है। १९४६ तक हमारे देश मे ५८३ सहकारी बैंक, ६२ विनिमय बैंक, ३६७ इम्पीरियल बैंक, २४८४ अन्य प्रामाणिक बैंक और १७८१ अप्रामाणिक बैंक थे। ९४६५ डाकखाने सेविंग बैंक का कार्य करते थे। हमारे यहा के लिये इतने बैंक पर्याप्त हैं या नही इसका अनुमान १९४६ की निम्नलिखित तालिका से किया जा सकता है

देश	बैंकिंग कार्यालय—क्षेत्रफल	जन स०	बैंको की स०
आस्ट्रेलिया	२९७५ हजार वर्गमील	८० लाख	३५६०
कनाडा	३६९० ,, ,,	१३० लाख	३३२३
इंगलैंड	८९ ,, ,,	५ करोड	११४६१
अमरीका	९७४ ,, ,,	१४ करोड ७० लाख	१८९७५
भारत	१२२१ ,, ,,	३४ करोड २० लाख	५२७७

बैंक सम्बन्धी उपर्युक्त आकडे हमारी आर्थिक दुरवस्था और पिछड़ेपन की कहानी बडी सफलतापूर्वक कहते हैं जिसका दायित्व न हमारे ऊपर है, न हमारे भूगोल पर, न जलवायु, आदि पर। देहातों और छोटे-मोटे कस्बो तक अभी ये बैंक नहीं पहुंच पाये।

नौकरी और नौकर—

कृषि और उद्योग, दोनो की दुर्दशा के चित्र हम देख चुके। जब आदमी के पास करने के लिये न खेती हो और न व्यवसाय तब विवश होकर आजीविका के लिये उसे एक ही मार्ग का अवलम्बन शेष रह जाता है और वह मार्ग है नौकरी का। इस क्षेत्र मे भी हमारा पतन अत्यन्त दयनीय स्थिति तक हो चुका है। भारतवर्ष का नौकरी का क्षेत्र अजीबो गरीब प्रवृत्तियों और विचित्रताओं से भरा हुआ है। इस

१—"भारतीय अर्थ शास्त्र का विवेचन" पृ० ५४६।

अर्द्ध शताब्दी मे भारतवर्ष के अन्दर प्राय, नौकर मालिक रहा है, और मालिक, नौकर किसी तानाशाह से भी अधिक शक्ति और अधिकार से सपन्न वायसराय एक तरह से भारतीय जनता का नौकर होतो था मगर किस मालिक से कम था। यहा की जनता के सेवक अर्थात् बडे-छोटे अफसर जनता द्वारा "मालिक" या "सरकार" ही कह कर पुकारे जाते हैं। इस देश मे मालिक गरीब और नौकर धनी हुआ करता है। वायसराय की तनख्वाह ससार मे सबसे अधिक और जनता की प्रति व्यक्ति आय सब से कम अनुमानित की गई है। इस प्रकार हमारे यहा की नौकरी की सबसे ऊँची स्थिति यह है। दूसरी ओर, हमारे यहा नौकरियो की स्थिति इस युग मे यह भी थी कि बेचारे नौकर को माह भर मे जितना वेतन मिलता था उसका कई गुना अधिक धन साहब के कुत्ते पर व्यय हुआ करता था। प्रारम्भिक कक्षाओ के अध्यापको का भी वेतन इतना ही था। अस्तु, हमारे भारत मे सबसे अधिक वेतन ससार भर में सबसे अधिक, और सबसे कम वेतन, ससार भर मे सबसे कम था। सबसे अधिक विदेशी प्रतिनिधि पाता था, सबसे कम वेतन देशी अध्यापक पाता था। के० टी० शाह ने १६१३ ई० मे भारत की विभिन्न नौकरियों के प्रतिशत का इस प्रकार का उल्लेख किया है।

वेतन	अँगरेज	भारतीय	ऐंग्लोइण्डियन
२००—३००	१२%	६४%	२४%
३००—४००	१६%	६२%	१६%
४००—५००	३६%	४६%	१५%
५००—६००	५८%	३१%	११%
६००—७००	५४%	३६%	१०%
७००—८००	७८%	१४%	८%
८००—६००	७३%	२१%	६%
६००—१०००	६२%	४%	४%

अर्थात् वेतन जितना ही कम होता था अगरेज उतने ही कम और भारतीय उतने ही अधिक नियुक्त किये जाते थे और वेतन जितना ही अधिक होता था अँगरेज उतने ही अधिक और भारतीय उतने ही कम नियुक्त किये जाते थे। यहा का एक नौकर अपने से बडे नौकर का पैर अपने सिर पर रखता था और अपना पैर अपने से छोटे नौकर के सिर पर रखता था। यह शृखला सभी जगह और आदि से अन्त तक बराबर मिलती थी। यहा छोटे नौकर और बडे नौकर में

मानवता के आधार पर या सामाजिकता के आधार पर कोई भी संबंध नहीं स्थापित हो सकता था। संबंधो का आधार या मिलने वाला वेतन और प्राप्त अधिकार। यहां कालेज का प्रिंसिपल, थाने का दरोगा, कलेक्टर, आदि कालेज, थाने या कचहरी मे भी प्रिंसिपल, दरोगा या कलेक्टर होता है और क्लब मे, सांस्कृतिक उत्सवो पर शादी व्याह मे आयोजित सहभोजो पर भी वह प्रिंसिपल, दारोगा या कलेक्टर ही होता है। उसके अधीनस्थ कर्मचारी और उसके साथी भी उसे इसी संज्ञा से अभिहित करते हैं। बेचारा प्रिंसिपल इन्सान कहीं भी नहीं हो पाता। इसलिये पुलिस के सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब द्वारा असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट पर सबके सामने डांटो की बौछारें मैंने देखी है। सदैव डर यही लगा रहता है कि कहीं साहब अप्रसन्न न हो जाय। सम्भवत अंगरेज अफसरो द्वारा तिरस्कृत भारतीय अफसर अपने अधीनस्थ को वैसे ही डांट कर अपने भीतर के अंगरेजकृत अपमान का बदला ले कर अपने अन्तर का क्षोभ मिटाता था और फिर उसी अधीनस्थ से अपने को हर तरह से पूजित करवा कर और आदर-सम्मान पाकर अपनी हीनता की भावना का प्रतिकार करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अधीनस्थ का एक मात्र कर्तव्य हो गया साहब को खुश रखना। दफ्तर म खुश रखने की अपेक्षा घर और दफ्तर दोनो जगह खुश रखने स साहब सचमुच खुश होकर इसे 'तरक्की' देते थे। यह साहब कर्तव्य पालन से उतना प्रसन्न नहीं होता था (क्यो कि वह प्रसन्नता बड़ी गंभीर और सात्विक होती है) जितना चापलूसी, खुशामद और 'डाली लगाने' से। अस्तु काम एक ओर पड़ा रह जाता था। यहीं से भारतीय नौकरियों मे कर्तव्य का तत्परतापूर्वक पालन सपने की बात होने लगा। मेज पर फाइलो फाइलें पड़ी हैं, छ-छ महीने तक छात्रो की अभ्यास पुस्तिकाएं बिना जांची हुई पड़ी हैं पुस्तकें पढ़ाई नहीं जा रही हैं ••• •••• किन्तु कोई चिन्ता नही, क्यो कि अपना अफसर खुश है तो कुछ कहेगा नहीं। साहब को मालूम है कि उनके घर की फरमाइशें पूरी करने मे बहुत समय लग जाता है और इसलिये काम पूरा नहीं हो सकता। हम प्रिंसिपल साहब को प्राप्त परीक्षा की उत्तर पुस्तकें जांचकर उन्हे प्रसन्न करें या लडको की कापियां जांचें!! यही कारण है कि भारतीय नौकर उत्तरदायित्व की भावना से शून्य हो जाता है। भारत मे नौकर या चपरासी सिर्फ दफ्तर या विभाग का ही नौकर नहीं होता, दफ्तर या विभाग मे ही नौकर नहीं रहता, दफ्तर या विभाग के ही समय नौकर नहीं होता और दफ्तर या विभाग के ही लिये नौकर नहीं होता बल्कि चार बजे के बाद मेम साहब के हुक्म से साहब के घर के लिये या उनके दोस्त के घर के लिये तरकारी लाने और गेहूं पिसवाने आदि के लिये भी नौकर होता है

और खुल्लम-खुल्ला होता है। साहब खुश रहे–चाहे जो हो जाय। भारत मे नौकरी का पद केवल 'साहब' को ही नही मिलता, साहब के परिवार को भी मिलता है और इसलिये साहब चाहे अपने को प्रिंसिपल साहब कुछ कम ही मानें किन्तु उनसे ज्यादा मेमसाहब प्रिंसिपल पद के अधिकारी का भोग करती हैं। वे 'मास्टर' साहब को भी डाटती हैं, मास्टर की बीवी को अपना मातहत समझती हैं और कभी कभी तो नियुक्तिया भी वे ही करवाती हैं और निकलवा भी वे ही देती हैं। और जब महारानी साहब का यह हाल है तो राजकुमार ही अपने को राजा से कम क्यो समझें! यह थी यहा की नौकरशाही की मनोवृत्ति। भारत मे नौकरशाही का अर्थ हो गया साम्राज्यवादी, सामन्तवादी, पूजीवादी और तानाशाही अनिष्टकारी प्रवृत्तियो की समष्टि। इस प्रणाली का प्रभाव यह हो गया है कि आज तक नौकरी के क्षेत्र मे—चाहे वह सरकारी हो, चाहे किसी की निजी—जनतन्त्रात्मक मनोवृत्ति का समावेश या प्रवेश भी नही होने पाया है। नौकर टालू, उत्तरदायित्व-विहीन, चापलूस, खुशामदी, चुगलखोर, बुद्धि-विवेक-विहीन आज्ञापालक, सम्मान और आत्मसम्मान विहीन हो गया है। नौकरी और इज्जत दोनो दो चीजें हो गई है। बेकार रौब गाठने, धौंस जमाने और झूठी शान दिखाने की प्रवृत्ति बढ गई अनुशासन की एकमात्र कसौटी रह गई आज्ञापालन और उसका एकमात्र उपाय माना गया आतक। चूकि भारत मे नौकरी और नौकरी खोजने वालों की ही सख्या बढ गई और नौकरी का स्वरूप ऊपर कहा ही गया है। इसलिये राष्ट्र मे अधिकाशत चरित्र, दृढता और कर्त्तव्य-पालन और ठोसपने का अभाव हो गया। राष्ट्रीय चरित्र का अभाव हो गया। नौकरियो की इसी प्रवृत्ति को नौकरशाही कहा गया है। ये दोष व्यक्ति के दोष न रहकर व्यवस्था एव प्रणाली अथवा परम्परा बन गये। अब यह बात दूसरी है कि परमात्मा की इच्छा अर्थात् राष्ट्रीयता की भावना एव सास्कृतिक पुनरुत्थान से ये भी अछूते न बच सके और अपनी समस्त सीमाओ के होते हुए भी अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार "नौकरो" ने भी राजनीतिक आन्दोलनो, साहित्य-सर्जना, समाज-सुधार, मातृभाषा की सेवा, आदि पुनीत कार्यो मे भाग लिया और महत्वपूर्ण भाग लिया।

नौकरी का दूसरा क्षेत्र है मिल-मालिको की मजदूरी। इस शताब्दी के अधिकाश भाग मे मजदूरो की मजदूरी उनका जीवन चलाने के लिये काफी नही होती थी और वे बेचारे ऋण के चगुल से बच नही पाते थे। किराया देने, घर का खर्चा चलाने, शादी-ब्याह, उत्सव-त्योहार, आदि के लिये ऋण लेना ही पडता था।

प्राय ये मजदूर अनाज, आदि भी उधार पर ही लिया करते थे। ब्याज की सामान्य दर एक आना प्रति रुपया मासिक होती थी अर्थात् ७५% वार्षिक !! कहीं-कहीं तो यह २०० या ३०० प्रतिशत तक बढ जाती थी। मजदूरी की इस स्थिति को मजदूर तो भलीभांति समझता ही था। इसलिये उसने देहात और खेती से अपना सम्बन्ध विच्छेद नही किया। उसने निर्मूल और पूर्णत निराधार होना पसन्द नही किया। मजदूरी पर-वशता है। पता नही कब धोखा दे जाय। अतएव अपने पेट भरने का अपना सहारा देहात मे बनाए रखता था। इन मिल-मजदूरो के पास इनके गावोमे इनकी खेती रहती है। उसकी देखभाल करने वे कभी-कभी जाते रहते हैं। मजदूरी अपनी आमदनी या सम्पत्ति बढाने के लिये की जाती है। ओद्योगिक क्षेत्र मे जब तक इनकी मजदूरी सन्तोषजनक और स्थायी रूप से सुदृढ़ न कर दी जाय तब तक इनकी इस दोहरी प्रवृत्ति के लिये इनको दोष देना या इसे इनकी कमी बताना उक्ति कुशलता का द्योतक भले ही हो किन्तु है वह सहानुभूति-शून्यता और हृदयहीनता एव अव्यावहारि-कता। ये मजदूर जहा मजदूरी करते हैं वहा इनकी स्थिति बहुत ही दयनीय होती है। इनकी स्त्रियो और इनके बच्चो का रहन-सहन असाधारण रूप से अस्वास्थ्यकर और सामाजिक दृष्टि से अवाछित होता है। भीड-भाड, स्वास्थ्यवर्द्धक वस्तुओं और वाता-वरण का अभाव, खराब मकानों के कारण सभावित नैतिक पतन, विधवाएँ, आदि अमानवीय और असह्य हैं। हमारा जवाहर कानपुर मे मजदूरो की ऐसी वस्ती, ऐसी स्थिति एव ऐसी दुर्दशा देखकर बौखला उठा था। मजदूरो की इसी दुर्दशा ने आगे चलकर देश मे मजदूर आदोलन को जन्म दिया। मजदूरो ने मिलों मे हडतालें कीं। इनके नेता प्राय साम्यवादी विचारधारा के थे। ये हडतालें और मजदूरो तथा मजदूरिनों की परवशता-जन्य पतितावस्था, अधिकारियो के अनाचार और अत्याचार कथा बन गये। इन पर मार्मिक कहानियो और उपन्यासो की रचनाएँ हुई। यह अव-श्य है कि इस स्थिति ने अभी हमे गोर्की और डिकेन्स नही दिया। प्रेमचद एकमात्र अपवाद ठहरते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, खेती अच्छा, सभ्य और लाभदायक काम रह नही गया। व्यवसाय के लिये पहले से ही पूजी चाहिये जो यदि हो भी तो भी *इस क्षेत्र मे भी उन्नति की सभावनाएँ रह नही गई। इधर, नौकरी मे,* अधिक अधिकार और बिना अधिक श्रम किये काफी पैसा मिलने लगा। इसलिये अधिकाधिक जनता सरकारी नौकरी के पीछे पागल होने लगी। ऐसी नौकरी चाहिये जिसमे 'ऊपर की आमदनी' अर्थात् घूस की सभावनाएँ अधिक हों। परिणाम यह हुआ

कि छोटी-सी थानेदारी हजारो रुपयों की आमदनी वाले व्यवसाय से भी अच्छी मानी जाने लगी। यह न मिले तो फिर और कोई नौकरी मिले। हम नौकरी प्रिय हो गये। और, यह एक मानी बात है कि नौकरिया इतनी अधिकता से नही बढती जितनी अधिकता से नौकरी खोजने वालो की सख्या। यही से बेकारी की नीव पड गई। सच्ची बात है कि बेकारी का निराकरण कृषि और व्यवसाय को अधिक आकर्षक बनाने से ही हो सकता है। यह भी इस युग मे सभव नही हो पाया। कृषि-क्षेत्र मे बेकारी बढी, औद्योगिक क्षेत्रो मे बेकारी बढी, और पढ़े-लिखे लोग बेकार होने लगे। दफ्तरो मे 'नो वेकेन्सी' की तख्तियाँ लटकाई जाने लगी। पराजय क्षोभ, निराशा, हतोत्साहिता, पस्ती और आत्महत्याओ की अधिकता हो गई। इसका सबसे अधिक शिकार हुआ मध्यम वर्ग। प्रथम महायुद्ध के बाद १६२८ के आसपास जब व्यापार के क्षेत्र मे विश्वव्यापी मन्दी का युग आया तब भारत मे बेकारी इतनी अधिक बढ़ी थी कि बी० ए० पास लोग २०–२० या २५–२५ रुपये महीने पर भी नौकरियां ढूढते हुए पाये गये थे। बेकारी ने बडा ही भयानक रूप धारण किया था। किसान बेकार, मजदूर बेकार, पढ़े-लिखे बेकार! लगता था जैसे देश का सारा आर्थिक ढाचा चरमराता हुआ टूट जायगा।

गरीब भारत—

परिणाम यह हुआ कि हम गरीब हो गये। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'आर्थिक दृष्टि से अँग्रेजी शासन काल भारत तथा मध्य देश के इतिहास मे *अत्यन्त दुरवस्था का काल कहा जा सकता है*।'[1] देश की जनता की गरीबी के लिये भारत सारे ससार मे एक कहावत बन गया। भारत के लिये अपने हृदय मे सहानुभूति या भावविशपूर्ण अक्षय कोष लिये हुए श्रीमती वीरा ऐंस्टी ने भारत की गरीबी पर बडा आश्चर्य प्रकट करते हुये लिखा है, '*भारतवर्ष मे सहसा ही आया हुआ कोई भी यात्री यह देख कर* आश्चर्यचकित हुये बिना नहीं रह सकता कि इस देश मे भौतिक उन्नति की कितनी अधिक सम्भावनाएँ हैं और इस देश की जनता के अधिकांश भाग ने उनसे कितना कम आर्थिक लाभ उठाया है।'[2] श्रीमती जी को सचमुच इस सहानुभूति के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद है किन्तु यदि दृष्टि को पक्षपात और साम्राज्यवादी धुध से साफ करके एक बार भी वे अपनी जाति के उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकारियों की करतूत देखें तो

१ 'मध्य देश–ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन', पृ० १८६।

२ 'दि एकनामिक डेवलपमेंट आफ इण्डिया', की भूमिका।

उनको न केवल आश्चर्य न हो बल्कि अपनी जाति वालों के कुकृत्यों के कारण उनका सिर भी शर्म से झुक जाय। उन्हें समझना चाहिये कि हम उन्नति की सम्भावनाओं को वास्तविकता में परिवर्तित करना जानते थे और उसके शौकीन भी थे जिनका प्रमाण दक्षिण और उत्तर भारत की इमारतों की आश्चर्योत्पादक कला-कारीगरी, आदि हैं किन्तु हम यह करने नहीं दिया गया। यदि थोड़ी भी ईमानदारी उनमें होती तो उन्हें इस बात पर आश्चर्य न होता कि " " जनता " " ने उनसे कितना कम आर्थिक लाभ उठाया है।' क्षोभ अवश्य होता कि उनकी जाति वालों ने कितना कम आर्थिक लाभ उठाने दिया ""कोई जाति इस हद तक नीचे उतर सकती है! मानवता का तकाजा यह नहीं है कि अपनी जाति के दोषों का आरोपण शोषित जाति की सामाजिक, पारिवारिक, दार्शनिक परम्पराओं, आदि पर डाला जाय, जैसा कि श्रीमती जी ने किया है! यह विषमता सचमुच अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर लेती है। एम० एल० डार्लिङ्ग का कथन है कि भारतवर्ष के विषय में सबसे अधिक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला तथ्य यह है कि उसकी मिट्टी (उपजाऊ है) सपन्न है मगर वहाँ के लोग विपन्न गरीब हैं।[१] विभाजन के पूर्व ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आय का जो अनुमान लगाया गया है उसका विवरण नीचे दिया जा रहा है—

हिसाब लगाने वाला	हिसाब का समय	प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय
दादा भाई नौरोजी	१८६७—७०	२० रु०
क्रोमर तथा बार्बर	१८८२	२७ रु०
डिग्बी	१८९९	१७ रु० ८ आ० ५ पा०
लार्ड कर्जन	१९००	३० रु०
डिग्बी	१९०१	१८ रु० ८ आ० ११ पा०
एटकिन्सन	१८७५	३९ रु० ८ आ०
एटकिन्सन	१८९५	३९ रु० ८ आ०
वाडिया और जोशी	१९१३-१९१४	४४ रु० ५ आ० ६ पा०
शाह और खम्बत	१९००-१९१४	३६ रु०
	युद्ध के बाद	३८ रु०
फिण्डले शिराज	१९२१	१०७ रु०
फिण्डले शिराज	१९२२	११६ रु०
साइमन कमीशन	१९२९	११६ रु०

१ 'पंजाब पीजेंट इन पावर्टी एण्ड डेट'

डा० राव	...	१६२५–२६	७६ रु०
डा० राव	...	१६३१–३२ ग्रामीण	५१ रु०
		शहरों का	११६ रु०
ग्रिग	.. ..	१६३७–३८	५६ रु०
स्टूडेण्ट कामर्स		१६३८–३६	३६ रु०
स्टूडेण्ट कामर्स		१६४२–४३	१४२ रु०
		१६५०	२५५ रु०

भारत की अपेक्षा ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय कम से कम ५ गुना अधिक और अमरीका की, लगभग ७ गुना अधिक समझी जा सकती है। जथार और बेरी ने लिखा है, यदि केवल भारत के प्रान्तों को ही लिया जाय तो यह २०४ रुपये होगी। अन्य देशों की सख्याएँ इस प्रकार थीं। आस्ट्रेलिया १७६६ रुपये, कनाडा २८६८ रु, इङ्गलिस्तान २३५५ रु, सयुक्त राज्य ४८६८ रु।'[1] यह अनुमान १६४५–४६ ई. वाले वर्ष का है। इस अनुमान के अनुसार ब्रिटेन की प्रति व्यक्ति आय भारत की अपेक्षा ११ गुना अधिक और सयुक्त राज्य की, लगभग २३ या २४ गुना अधिक ठहरती है। पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है कि इङ्गलैण्ड मे फी आदमी की औसत आमदनी ४२ पौंड थी और भारतवासियों की एक ही पौंड।[2] भारत को कितना गरीब कर दिया गया है—कितना अधिक!!! विवेकानन्द जी ने ठीक ही कहा है, 'आप लोग (अंग्रेज) एक वर्ष में जितना खर्च कर देते हैं, वह एक भारतीय के लिये जीवन भर की सम्पत्ति के बराबर है।'[3] लाला लाजपतराय ने लिखा है कि इस ससार मे भारतवर्ष के निवासी सबसे अधिक गरीब हैं। यदि ऐसी दरिद्रता योरप और अमेरिका के किसी देश मे होती तो अब तक लोगों ने सरकार का तख्ता उलट दिया होता।[4]

गरीब देश या लुटा हुआ देश—

एक अमरीकी पादरी ने १६०२ ई मे लिखा था कि भारतवासी जी नही रहे हैं, केवल जीवधारियो मे उनकी गिनती भर होती है।[5] पराधीन भारत को गरीब

१. 'भारतीय अर्थशास्त्र', खड २, पृ० १४२
२ कांग्रेस का इतिहास', पृ० ४७
३ 'ज्ञानयोग', पृ० २१२
४ 'दुखी भारत', पृ० ३४५
५ वही, पृ० ३४८

इसका परिणाम शिवनाथ ने इस प्रकार उपस्थित किया है, उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार, व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा और समाज के आर्थिक शोषण में वे दोनो वर्ग एक हो गये……यहाँ पूँजीपतियो ने प्रजातन्त्रात्मक क्रान्ति नही की।[1] उच्च वर्ग ने मध्य वर्ग का भी शोषण किया और उसे निम्न वर्ग की स्थिति में पहुचा दिया। हिन्दी के लेखक प्राय इसी मध्य-निम्नवर्ग से निकले हैं और उनके अन्तर्मानस में ज्ञात या अज्ञात रूप से इस शोषक वर्ग के प्रति असन्तोष और क्षोभ था। इसलिये हिन्दी के साहित्यिकों में शोषक वर्ग अर्थात् सामन्तवादियो और पूजीपतियो के लिये श्रद्धा-भाव अधिकाशत- नहीं रहा। चू कि पुस्तकों के प्रकाशन का उद्योग प्राय इसी वर्ग के हाथ मे था अत इन्हे पुस्तक समर्पित करने का रिवाज मजबूरन चला देना पडा। समाज पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव यह पडा कि धनी बनने के लिये एक व्यक्ति पूजीवादी शोषण और सामन्तवादी अत्याचार करने लग गया। एक धनी बना, लाखो गरीब हो गये। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, "एक व्यक्ति धनी हो जायगा इसलिये लाखो मनुष्यो को पीसा जा रहा है—एक व्यक्ति धनवान बने इसलिये सहस्रो मनुष्य दरिद्र से दरिद्रतर हो रहे हैं।"[2] वैज्ञानिक आविष्कारो का दुरुपयोग, दरिद्रता, शोषण, विनाशकारी आविष्कार, वकालत, वेश्यावृत्ति, आदि कुवृत्तियाँ इसी पूँजीवाद की ही देनें हैं। हिन्दी साहित्य में इन कुवृत्तियो का चित्रण और इनके निराकरण की कामना बराबर मिलती है। इस प्रकार देश गरीब और अमीर दो वर्गों मे विभाजित होने लगा। पिछली एक शताब्दी में भारत का जो आर्थिक विकास हुआ उसकी एक प्रधान प्रवृत्ति रही है विषमता। आर्थिक गतिशीलता बम्बई, कलकत्ता, आदि बडे नगरो मे ही रही। सामान्य नगरो और देहातो तक नही पहुची। भारतीय उद्योगों की गति ऊपर से नीचे की ओर हुई। बडे से छोटे की ओर हुई। उसकी गति ऊर्ध्व नही, अधोमुखी रही। परिणामस्वरूप शहर और देहात के जीवनस्तर और सास्कृतिक स्तर मे आकाश पाताल का अन्तर हो गया। एक बडी खाई खुद गई। दोनो को एक सूत्र मे पिरोना कठिन हो गया। सभवत इसीलिये जब "गोदान" मे "प्रेमचन्द" ने सम्पूर्ण भारतीय जीवन का एक व्यापक चित्र उपस्थित करना चाहा तो वे दोनो मे अविभाज्य सम्बन्ध न स्थापित कर सके। देहात की कहानी स्वतन्त्र लगती है, शहर की स्वतन्त्र। दोनों को कुशलतापूर्वक अलग करके दो स्वतन्त्र और पूर्ण उपन्यासो का स्वरूप दिया जा सकता है।

---

१. "आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका", पृ० ७३।
२ "ज्ञानयोग", पृ० २२।

भारत की प्रवृत्ति उद्योगी थी या खेती वाली—

अस्तु, हमने देखा कि भारत एक गरीब लोगों का देश है। फिर भी, हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि यह गरीब देश नहीं है। सचमुच भारत निर्धन नहीं था। भारत के सिर्फ प्राकृतिक साधन ही इतने अधिक हैं कि यदि खेती और उद्योग धन्धों का मिला-जुला विकास किया जाय तो देश समृद्धि के शिखर तक पहुंच सकता है। अंग्रेजों के आने से पहले आर्थिक विकास की दृष्टि से भारत संसार के सभी देशों में अग्रगण्य था। कलकत्ते के दैनिक "स्टेट्समैन" के सम्पादक सर एलफ्रेड वाटसन ने १६३३ ई० में रायल एम्पायर सोसाइटी की एक बैठक में कहा था, 'यद्यपि भारत में एक महान् औद्योगिक देश बनने के लिये सभी आवश्यक बातें इफरात के साथ मौजूद हैं मगर फिर भी आज यह आर्थिक दृष्टि से दुनियां का एक पिछड़ा हुआ देश है और उद्योग-धन्धों की दृष्टि से तो बहुत ही पीछे है······।" भारत में चावल, गेहूँ, बाजरा, जौ, दाल, तरकारी, गन्ना, रुई, तिल, चाय, तम्बाकू, फल, जङ्गल, आदि सब-कुछ प्रकृति ने दे रखा है। वैज्ञानिक ढङ्ग से यदि इन सब की व्यवस्था की जाय तो भारतवर्ष में आश्चर्यों की सृष्टि की जा सकती है। मगर अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने कुछ न होने दिया। हमारे हाथ-पाँव बाँध दिये और खुद भारत के लिये कुछ किया नहीं। हमारे देश में औद्योगीकरण के लिये भी बहुत सभावनाएं थी। आज-कल प्राचीन भारत की जो कुछ कृतियाँ अवशिष्ट रह गई हैं वे यही कहानी कहती हैं। यदि हम उद्योग प्रधान नहीं थे तो वह मसाला और वह प्रक्रिया कहाँ से सम्भव हुई जिससे कुतुबमीनार के पास खड़े उस लौहस्तम्भ की रचना की गई जिस पर इतने दिनों की शीत-ताप-वर्षा, आदि के बावजूद भी जङ्ग नहीं लगने पाया? यदि हम इञ्जीनियरिंग की कला नहीं जानते थे तो ऐसी इमारतें कैसे बनी जो इतनी चिकनी हैं कि उस पर चींटी भी सीधी न चढ़ सके? वह रंग कैसे बना जो शताब्दियों के बाद आज भी अजन्ता की गुफाओं के चित्रों पर सुरक्षित है? उस स्थान का पता कैसे लगा जहाँ खड़े होकर आप बोलें तो पूरी छत पर खड़े लोगों को सुनाई पड़ जाय और उससे तनिक भी हट कर बोलें तो पास खड़े दो-चार आदमियों के अतिरिक्त और किसी को न सुनाई पड़े? कहाँ तक गिनाएं! भारत में औद्योगीकरण के लिये विपुल साधन हैं। भारत में जितना जल बहता है उसका ६ प्रतिशत ही उपयोग में आता है। इस उपयोग की मात्रा में से लगभग एक प्रतिशत से ही जल विद्युत पैदा की जाती है। इसका विकास औद्योगीकरण में सहायक हो सकता है। असम के शिलांग पठार, उत्तरी (नेफा) के कुछ पठारी भाग, जम्मू, उत्तरी राजस्थान, विन्ध्य की पहाड़ियां, आदि हमें विपुल राशि कोयलो

की दे सकती है। भारत में जल-विद्युत के पश्चात् खनिज तेल की सम्भावनाएं बहुत ही अधिक हैं। भारत के मैदानी भाग के लगभग ४ लाख वर्ग-मील से यह प्राप्त हो सकता है। अणु शक्ति के विकास के लिये भारत में यूरेनियम और थोरियम बहुत अधिक मात्रा में संचित है। भूगर्भ वेत्ताओं ने निरन्तर अनुसंधान करके यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया है कि आधुनिक युग में जिन-जिन खनिजों की आवश्यकता औद्योगिक विकास के लिये होती है वे सब भारत में वर्तमान हैं। भारत में लोहे की संचित मात्रा उसके वर्तमान उत्पादन से कहीं अधिक है। मैंगनीज, अभ्रक, तांबा, क्रोमाइट, टंगस्टन, मैगनेसाइट, फास्फेट, गन्धक, शोरा, सल्फेट, आदि खनिज पदार्थों की सम्भावनायें भी भारत में अधिक हैं। छोटा नागपुर का पठार, अरावली की पहाड़ियां, नीलगिरि, मैसूर, आदि क्षेत्रों से ये प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार भारत में औद्योगीकरण के लिये अनन्त सम्भावनायें हैं। किन्तु हमारे अंगरेज महाप्रभु ने हमें यह रटा दिया है कि भारत एक कृषि प्रधान देश है। हम खेती किये जाय और उन्हें कच्चा माल दिये जाय, इससे अधिक उन्हें चाहिये ही क्या था? माना कि भारत में बहुत खेती होती है किंतु खेती अमरीका में भी कम नहीं होती और न वहां अनाज ही कम होता है किंतु अमरीकी बच्चे यह नहीं रटा करते कि अमरीका कृषि प्रधान देश है। साम्राज्यवाद कितनी निर्भीकता से झूठ बोलता था!!! साम्राज्यवादी नीति के ही कारण हमारे देश के पुराने उद्योगों को नष्ट कर दिया गया और संतुलित आर्थिक विकास होने नहीं दिया गया।

अंगरेज और भारत का औद्योगीकरण—

अंग्रेज भारत का औद्योगीकरण चाहता ही नहीं था। समय, परिस्थितियों और भारतीयों की मांग ने उसे इस ओर कुछ कदम उठाने के लिए मजबूर कर दिया। अस्तु, किसी से जबरदस्ती जितना कुछ कराया जा सकता है, अंगरेजों ने भारत का औद्योगीकरण उतना ही किया। उनका दृष्टिकोण भी ठीक था। उन्होंने भारत को हानि और अपमान सह-सहकर, क्रूरताएं और बेईमानियां कर-करके इसलिये तो नहीं जीता था कि उसकी वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति कराएं!! उनकी आर्थिक नीति का प्रभाव हमारे ऊपर यह पड़ा कि व्यक्ति के अन्दर आगे बढ़ कर काम करने, प्रतिद्वन्द्विता में भाग लेने, साहसपूर्ण और बड़े-बड़े उत्तरदायित्व के कार्य हाथ में लेने का साहस नहीं रह गया। अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने भारत को जितना भी धन देना चाहा वह सब जितनों को दिया अथवा आर्थिक दृष्टि से जितनों को कुछ अच्छा रखना चाहा वे थे सामन्तवादी दृष्टिकोण के लोग। उनकी संख्या बहुत कम थी। धन और अधि-

द्वार ने उनको समाज के शीर्ष बिन्दु पर बैठा दिया। समाज के अधिकांश लोग उनकी राय से चलने और उनके ही ढग पर सोचने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का एक महत्वपूर्ण भाग आज तक मध्ययुगीन प्रवृत्तियों वाला ही रह गया। आधुनिकता, आधुनिक विचार और आधुनिक वस्तुएँ कुछ ही लोगों तक पहुचने पाई। वास्तविक भारत तक ये पहुचने ही नहीं पाई। यही स्थिति आधुनिक हिन्दी साहित्य की भी है। राष्ट्रीयता के अतिरिक्त अन्य आधुनिक क्रांतिकारी दृष्टिकोण उसमे उभरता हुआ दिखाई नही पडता। आधुनिक युग की दृष्टि से जो तत्व बिल्कुल ही निरर्थक सिद्ध हो गये, जैसे, जातिवाद, द्विजो की प्रभुता, राजा को ईश्वर मानना, आदि, उनकी प्रशसा और समर्थन तो नही मिलता, किन्तु आधुनिक युग की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों पर यह साहित्य प्रधानत आधारित नहीं हो सका। उत्पादन के मध्ययुगीन साधनो और मध्ययुगीन आर्थिक प्रवृत्तियो के ही इसके एकमात्र कारण न होने पर भी उनका इस प्रवृत्ति पर बहुत अधिक प्रभाव पडा है, क्योंकि जीवन और मनोविज्ञान पर अर्थ का प्रभाव कुछ कम नही पडा करता। और, इस तरह का साहित्य जितना लिखा भी गया उसमे जीवन की व्यावहारिकता–जनित अनुभूति की सच्चाई कम, सिद्धातों की बौद्धिक स्वीकृति का आग्रह ही अधिक, है।

वुद्धि और दृष्टि भ्रष्ट कर दी गई—

यह है हमारे आर्थिक जीवन की दुर्दशा का चित्र। पिछली एक शताब्दी का समय ससार मे वैज्ञानिक उन्नति की द्रुत गति का समय रहा है और दुर्भाग्य की बात है कि यह समय राजनीतिक दृष्टि से भारत की पराधीनता का और आर्थिक दृष्टि से भारतीयों के पगु किये जाने तथा शोषित किये जाने का समय है। जब सब लोग दौडे चले जा रहे हो तब किसी एक के हाथ-पैर बाध कर डाल देने से जो होता है वही भारत का भी हुआ। हम भयानक रूप से पिछड गए। १८वीं शताब्दी तक कृषि के क्षेत्र में हम ससार के बडे से भी बडे देश की प्रतिस्पर्द्धा मे विजेता के रूप मे खडे हो सकते थे। यह बात श्री मती वीरा ऐन्स्टी ने भी स्वीकार की है। उनसे एक बडा ही विनम्र प्रश्न है कि क्या उस समय भारत ससार को क्षणिक, झूठा और माया नहीं समझता था? क्या यह प्रवृत्ति १६वीं और २०वीं शताब्दी मे पैदा हुई है? क्या उस समय हम मायावादी नहीं थे? क्या उस समय हम प्राकृतिक शक्तियों को देवता समझ कर (सूर्य, वर्षा के देवता वरुण, पृथ्वी को माता, उषा को देवी, पवन को देवता आदि समझ कर) उनकी आराधना नही करते थे? क्या हमारे अन्दर सन्तोष-वृत्ति नहीं थी? क्या उस समय हम अहिंसक नही थे? क्या उस समय जाति–प्रथा हमारे समाज मे नहीं थी? क्या उस समय

के भारत के रीति रिवाज, धर्म-विश्वास, रूढ़ियाँ और प्रथाएँ १६वीं और २०वीं शताब्दी से भिन्न थी? नहीं। और, फिर भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि एकनामिक डेवलपमेंट आफ इन्डिया' में वीरा ऐन्स्टी ने हमारे पिछड़ेपन और आर्थिक दुरवस्था का कारण यही बताया है! क्या ये सब दोष हमारे अन्दर १६वी और २०वी शताब्दी मे पैदा हो गये जो हमारा भारत १६वी शताब्दी के समाप्त होते होते लकड़हारो, कहारो, लोहारो, बैलगाडियो और खोमचे वालों तथा फेरी वालों का—कच्चा माल और कुछ खाद्यान्न पैदा करके उन्हे बाहर भेजने वाला तथा विदेशो से तैयार माल, लोहे और इस्पात से बनी चीजो मशीनो और मशीनों के पुर्जे, आदि खरीदने वाला राष्ट्र हो गया? केवल वे ही कहती या उनके भाई बन्धु ही कहते तो भी कोई बात नही थी। उन लोगों ने तो भारत मे जन्म लेने वाले अपने (अ) भारतीय बेटो को यह सब इस तरह से रटा दिया है कि आज तक भी वे लोग इसे न भूल सके। भारतीय माँ-बाप से उत्पन्न होने वाले ये अभारतीय बेटे तरह-तरह की उलूल-जलूल बातें किया करते हैं। एक पुस्तक मे उल्लिखित कुछ वाक्य उद्धृत कर रहा हूँ—'यह (भारत) अपेक्षाकृत गर्म देश है। प्राचीनकाल में यहाँ लोगों की आर्थिक आवश्यकताएँ कम थीं जो साधारण श्रम से पूर्ण हो जाती थी। यही कारण है कि प्राचीन ऋषियो का जीवन-आदर्श सादा-जीवन की ओर रहा। कालान्तर मे हिन्दू सभ्यता पर सर्द मुल्को से आने वाले अफगानियो और तुर्कों ने आक्रमण किया और अपना राज्य स्थापित किया। किन्तु गर्म प्रदेश मे कुछ शताब्दियो तक रहने के उपरान्त उनकी शक्ति क्षीण हो गई और उनसे भी अधिक शीत-प्रदेश इङ्गलैण्ड में रहने वाली जाति ने उन्हे परास्त कर के अपना राज्य स्थापित कर लिया। लगभग २०० वर्ष गर्म देश मे रहने के उपरान्त अँगरेज जाति भी अपने प्रारम्भिक साहस, श्रम सहिष्णुता तथा कार्य-क्षमता को खो बैठी, परिणामत उनके राज्य का भी अन्त हो गया।'[1] ध्यान रहे कि यह पुस्तक १६५७ मे छपी थी। इससे अधिक विवेकहीन, असत्य और अराष्ट्रीय वक्तव्य और क्या दिया जा सकता है? सही ढग से सोचने की शक्ति का इतना अभाव इन महानुभावो मे हो गया है कि पढ कर आश्चर्य होता है। यह है बौद्धिक दासता का उदाहरण और 'वीरा एण्ड को' की बौद्धिक कूटनीति का प्रभाव! हमारी इस दुरवस्था की ओर पिछले पृष्ठो मे यदा-कदा कुछ सकेत किया जा चुका है। उसकी एक झांकी पा लेना असगत न होगा। इसका मूल कारण है'हमारे आर्थिक जीवन और उसकी व्यवस्था को उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से इस प्रकार उखाड फेंकना जैसे कोई निर्मम माली

१ प्यारेलाल रावत कृत 'भारत का आर्थिक विकास', पृ० २

सुगन्धित पुष्पो वाले किसी पौधे को निर्ममतापूर्वक उसकी अपनी बगिया की क्यारी से उखाड फेंके। व्यवस्था रूपी पौधा जब सास्कृतिक तत्वो रूपी खाद से परिपुष्ट वातावरण रूपी क्यारी मे उगता है तब उसमें हरापन और सुख–आनन्द देने वाले तत्वो रूपी फूलो की सम्भावना होती है। विच्छेद की अवस्था मे जडें गहरी नही हो पातीं। फूल मुरझाये हुए और फल फीके, कडुए और हानिकारक पैदा होते हैं। यही अवस्था हमारी अर्थव्यवस्था की हुई।

जडमूल पर आघात और उससे उत्पन्न विषमता—

सभी देशो के अनुसार ही भारत की भी अर्थव्यवस्था का प्रधान पक्ष खेती है। भारत की ग्राम्य सस्कृति और जीवन का मूलाधार ही खेती और ग्रामोद्योग था। आत्म–निर्भर एव स्वावलम्बी ग्राम्य जीवन पर ही हमारी आर्थिक क्रियाशीलता एव आर्थिक समृद्धि की नीव पडी थी। जड यह थी। यहाँ से विकास प्रारम्भ हुआ था जिसका समुन्नत रूप राजधानियो और बडे–बडे नगरों मे चमकता हुआ दिखाई पडता था। उसको नष्ट करने के लिए इस जड पर आघात करना जरूरी था। १७६५ ई० मे जब मुगल सम्राट शाह आलम ने क्लाइव को बगाल की दीवानी के अधिकार दे दिये तब से बगाल और उडीसा की सम्पूर्ण भूमि पर अंग्रेजो का स्वामित्व स्थापित हो गया। अभी तक भूमि गाँव की थी, अब सरकार की हो गई। अभी तक भूमि माता थी, अब वही माता खरीदी, बेची एव नीलाम किये जाने वाली चीज हो गई। अभी तक अन्न देवता था, अब उसकी तुलना सिक्कों और बाटो से होने लगी। अब वह देवता क्रय-विक्रय की वस्तु हो गया। हम यह प्रार्थना 'समुद्रवसने देवि, पर्वत-स्तनमडले, विष्णुपत्नि, नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे' भूलने लगे। यही से हमारी अर्थ–व्यवस्था की सास्कृतिक जड कट गई। अब जमीन उनके पास चली गई जो सरकार को अधिकाधिक रुपया दे सकते थे। अब महत्व उपज या श्रम का नहीं रह गया रुपयों या सिक्को का हो गया। प्रजापालक जमीदार जमीन से बन्चित हो गया, लुटेरे साहूकार जमीन के मालिक हो गये। जिस सस्कृति मे श्रम, प्रेम, व्यक्ति और व्यवहार प्रधान था वहा जड सिक्के की प्रधानता हो गई। यह दूसरा सांस्कृतिक आघात था। भारतीय उद्योगो को दुष्टतापूर्वक नष्ट करके कारीगरो के अँगूठे काट कर उन्हे निराश्रित करके खेती की ओर जाने को मजबूर करना और इस प्रकार कृषि पर अधिकार मार डालना और कुटीर उद्योगो एव ग्रामोद्योगों को नष्ट करना एक तीसरा सास्कृतिक आघात था। कृषि का स्वामित्व कृषि करने वाले के हाथ से लेकर उन्हें दे देना जो खेती नही करते थे या गाँव से दूर रहते थे, कृषि और कृषि के मालिक

के बीच स्थापित रागात्मक सम्बन्ध को नष्ट करने का कारण बन गया। खेत पराई सम्पत्ति हो गए। उसको उन्नत करने के अपनत्व-प्रेरित प्रयत्न नष्ट कर दिये गये। यह भी एक सांस्कृतिक अपराध था। इस प्रकार गरीबी से मारे हुए मजबूर लोग कृषि-कला के कर्ता और कृषिकार्य से पूर्णत अभिज्ञ धनपति लोग उनके स्वामी हो गये। अवनति अनिवार्य थी। इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रांति के कारण मशीनो से बनाई गई जड एव कलात्मकता विहीन सस्ती वस्तुओ की बाढ ने उच्च कोटि की कलात्मकता-कृतियो की मांग खत्म कर दी। हाथ कट गये, मशीन सबल हो उठी। कारीगर मिट गया। यह भी कलात्मक एव सांस्कृतिक आघात था। उपभोक्ताओं से उत्पादको का प्रत्यक्ष सम्बन्ध टूट गया। प्रेम भाव समाप्त हुआ। यूरोपीय फैशन के अनुकरण ने छिछलापन बढा दिया। ठोस चरित्र का अभाव हो गया। स्वदेशी की उपेक्षा होने लगी। अपनी सस्कृति के प्रति निष्ठा के अभाव का बीजारोपण हो गया। मानसिक और बौद्धिक दासता की प्रवृत्ति बढने लगी। उत्पादन की प्राथमिक इकाई के रूप मे हमें वह नन्हा सा महत्वहीन व्यक्ति दिखाई पडता है जो कभी स्वतन्त्र, कभी नौकर के रूप मे, कभी अपने घर पर और कभी ग्राहक के घर पर, कभी अपने आप और कभी 'आर्डर' पाकर उत्पादन करता है। कभी ठेके पर काम होता है, कभी मजदूरी पर। कभी-कभी इनाम, बख्शीश भेंट, की प्राप्ति होती है और कभी-कभी केवल बेगारी ही रह जाती है। रेलों और मोटरो ने भी भारत की पुरानी अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करने मे कम महत्व-पूर्ण योग नही दिया है। इनके द्वारा विदेशी चीजें और फैशन देहातों और कस्बो तक पहुचे। पुराने उद्योग टूटे। प्राचीन आर्थिक मान्यताएं, विशिष्टताएँ और प्रकृतियाँ समाप्त हो गईं। गाँवों का सम्बन्ध बाहर से हो गया। आर्थिक स्वावलम्बन समाप्त हुआ। देहातो का दृष्टिकोण, वातावरण एव दुनियाँ बदल गई। अपना सांस्कृतिक स्वरूप खो गया। जिस हिसाब से जनसख्या बढी उस हिसाब से उत्पादन बढने नही दिया गया। *ये परिवर्तन यदि हमारे समाज की प्रगति के साथ-साथ हुए होते तो सम्भवत इतना अनर्थ और अनिष्ट न होता। किन्तु घृणा और आतक की पात्र साम्राज्यवादी मनो-वृत्तियो ने ये परिवर्तन इतनी क्रूरतापूर्वक तथा अस्वाभाविकता और परायेपन के साथ हम पर लादे और प्रत्येक परिस्थिति मे हमारे शोषण का ही दृष्टिकोण इतना प्रधान रखा कि भारतीय समाज इस परिवर्तन के धक्के या झटके को सँभाल न सका और आर्थिक जीवन विघटित हो गया।*

आर्थिक परिवर्तन की बात भी सोची गई . साम्यवाद

सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि मे हमारा ध्यान अपनी आर्थिक

दुर्गति की इस चरम सीमा की ओर भी गया। हम इस स्थिति को बदलने अर्थात् आर्थिक दृष्टि से भी अच्छे होने की बात सोचने लगे। राजनीतिक दृष्टि से हम पराधीन थे ही। नीति और नियम बदल सकने का कोई भी अधिकार हमे अब भी नहीं था। व्यवस्था के आमूल परिवर्तन की ओर अब भी कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सकता था। प्रश्न हुआ कि क्या किया जाय जिससे हमारी हालत अच्छी हो जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आंदोलनों के सामने आर्थिक सुधारो के आंदोलनो के सामने आर्थिक सुधारो के आंदोलनों की बात कुछ फीकी पड गई। १६०० ई० के भी पहले से हम आर्थिक दुर्गति की चुभन का अनुभव कर रहे थे। प्रथम महायुद्ध तक यह मनन और चिन्तन एव विचार-विनिमय का ही विषय बना रहा। बगभग के विरोध मे होने वाले आंदोलन के विदेशी-बहिष्कार-पक्ष का एक आर्थिक पक्ष था अवश्य किन्तु वह उतना प्रधान न बन सका। प्रथम महायुद्ध के बाद ही रूस मे मार्क्स-एजिल्स—लेनिन स्टालिन के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप आश्चर्यचकित कर देने वाली विचार-क्रांति और राज्य-क्रांति हुई। यह क्रांति असाधारण रूप मे मौलिक थी। नई थी। सारा ससार चौंक उठा। सारे ससार की विचारधारा पर उसका प्रभाव पडा। संसार मे एक नया दल ही बन गया। ससार के सभी साम्यवादियों को एक सूत्र मे बाधने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन भी बना। इस विचार-क्रांति का प्रभाव भारत पर भी पडा। हमारे भी सोचने के ढग पर इसका प्रभाव पडा। अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे मार्क्सवाद की विशेषता है पूंजीवादी आर्थिक सगठन का बौद्धिक एव वैज्ञानिक विश्लेषण। इस विश्लेषण के अनुसार पूंजीपतियों का ही प्रभुत्व उत्पादन के साधनों—पूंजी और भूमि—पर होता है। उत्पादन के साधनों पर कार्यकर्ताओ का कोई भी अधिकार नही होता। वे इनके अपने नहीं होते। परिणामत कार्यकर्ताओ को अपना श्रम पूंजीपतियो को अपने हाथ बेचना पडता है जिसके बदले म उन्हे मजदूरी मिलती है। इस प्रकार समाज के अन्दर दो महत्वपूर्ण वर्ग बन जाते हैं—पूंजीवाद और कार्यकर्ता, बुर्जुआ और प्रोलेतारियत, हुजूर और मजूर, सम्पन्न और विपन्न, या जो भी कहिये। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की दूसरी विशेषता है बडे पैमाने पर उत्पादन करने वाली बडी बडी मिलें जिनमें अधिकाधिक मजदूर उत्पादनार्थ नियोजित किये जा सकें। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में चीजें इसलिये नहीं बनाई जाती कि वे बडी उपयोगी होती हैं बल्कि इसलिये बनाई जाती हैं कि बाजार मे बेची जाय। रुपया इसलिये लगाया जाता है कि उससे बनी हुई चीजें और अधिक रुपया दे सकें। यहाँ लक्ष्य रुपया होता है वस्तु की उपयोगिता एव अधिकाधिक प्राणियों की सुख-सुविधा नहीं। रुपया इसलिये होता है कि उससे दूसरे के

श्रम का अपहरण अपना रुपया बढाने के लिये किया जा सके। इसी को कहते हैं कि रुपया रुपये को खीचता है। अस्तु, हम उस वस्तु को अधिक बनवाना चाहेगे जो अधिक रुपये ला सके। मान लीजिये 'क' और 'ख' दो वस्तुएं हैं। दोनो की कीमत एक-एक रुपये है। 'क' के बनाने मे एक मजदूर को दो घण्टे लगते हैं किन्तु 'ख' के बनाने मे केवल एक ही घण्टे इस स्थिति मे 'क' और 'ख' का सापेक्षिक मूल्य २ १ हुआ। अब यदि बाजार मे दोनो का दाम एक-एक रुपया ही हुआ तो 'क' को बनवाने मे फायदा नही होगा। फायदा होगा 'ख के ही बनवाने मे। पूंजीपति 'ख' का उत्पादन इतना अधिक करवायेगा कि बाजार उससे भर जाय। 'क' का उत्पादन बहुत कम हो जायगा। 'क' के उत्पादन मे मजदूर अधिक लगाये जायेंगे। अब यदि 'ख' का उत्पादन करने वाला पूंजीपति अ' है तो सभी पूंजीपति 'अ' बनने का प्रयत्न करेगे। सभी 'ख' का उत्पादन करेंगे और अपने 'ख' को अधिक से अधिक लोगो मे और अधिक से अधिक कीमत पर बेचना चाहेगे। यह उद्देश्य प्रतिस्पर्द्धा का पिता बन जाता है। 'ख' के उत्पादक किसी ऐसी वस्तु (मान लीजिये 'ग') का प्रचार और अधिक उत्पादन न होने देना चाहेगे जिससे 'ख' का अवमूल्यन हो जाय। तो 'ख' और 'ग' के उत्पादको मे प्रतिस्पर्द्धा होगी। 'ख' के उत्पादन को अधिक मँहगा भी वे नही होने देना चाहेंगे। इसलिये ये श्रम की खरीददारी को सस्ता बनाना चाहेंगे जबकि श्रमिक अपने श्रम की अधिकाधिक कीमत चाहेगा। तो, मिल मालिक और श्रमिक मे प्रतिस्पर्द्धा हुई। पूंजीपति श्रम को क्रय-विक्रय की वस्तु समझता है। इसके लिये उसके पास कोई भी मानवीय या रागात्मक अनुभूति नहीं होती है। वह पैसा देता है और श्रम खरीदता है। मजदूरी इसलिये होती है कि श्रमिक जीवित रहे और अपनी श्रमशक्ति को बनाये रहे। मान लीजिये कि जीवित रहने के लिये उसे ५ रुपये का सामान प्रतिदिन खरीदना है। तो, उसको ५रुपये प्रतिदिन मिलने चाहिये। इसके लिये उसको इतने घटे काम करना है जितने मे वह ५र लाने भर का सामान पूंजीपति के लिये बनादे। यदि इतना उत्पादन वह ५ घण्टे मे कर सकता है तो ५ ही घटे का श्रम उससे लेना चाहिये। किन्तु पूंजीपति उससे ८ घण्टे काम करवाता है। अब यह ३ घन्टे का श्रम ही अतिरिक्त श्रम हुआ। इस तीन घण्टे मे वह जितनी चीज बना कर देगा उससे मिलने वाला धन अतिरिक्त धन हुआ। कार्य करने के घन्टे बढा कर मजदूरी कम करके अतिरिक्त धन या अतिरिक्त मूल्य बढाया जा सकता है। यही शोषण है। प्रत्येक पूंजीपति इस शोषण का अपराधी है। यह अपराध पूंजीवादी व्यवस्था मे अनिवार्य रूप से निहित है। इस पूंजीवादी व्यवस्था का अन्तिम परिणाम यह होता है कि पूंजी एकत्र हो जाती है, बेकारी बढती है क्योंकि आगे चल कर पूंजीवादी मानव-श्रम की अपेक्षा मशीनों मे अधिक लाभ देखने लगता है, और समाज मे विषमता तीव्रतर हो उठती है।

उत्पादन की अधिकता एक स्थिति के बाद उपभोग की कमी का कारण बन जाती है। लाभ की दर कम हो जाती है। इन असगतियो और विरोधो से पूंजीवादी व्यवस्था स्वत आक्रान्त है। इस तरह बौद्धिक विश्लेषण के पश्चात् मार्क्स ने इसका निराकरण खोजा। उनके निष्कर्षों के अनुसार उत्पादन के साधनो की किसी एक की व्यक्तिगत सम्पत्ति नही होने देना चाहिये ' उन्हे सामूहिक एव सामाजिक रूप से ही कार्यकर्ताओं को देना चाहिये। भूमि और धन पर से व्यक्तिगत अधिकार यहाँ भी समाप्त रहेगे। उपभोग व्यक्तिगत रूप से हो और किन्तु उत्पादन और वितरण पर अधिकार पूरे समूह या समाज का होना चाहिए। वर्ग सघर्ष की भावना के अनुसार यह समाजवाद केवल श्रमिक ही अपने लिये ला सकते हैं। चूंकि सरकार पर पूंजीपतियो का अधिकार होता है अतएव मार्क्सवाद वैधानिक उपायो पर विश्वास न करके राजनीतिक क्रांति पर विश्वास करता है। यह बलपूर्वक हिंसात्मक साधनो द्वारा भी राजनीतिक अधिकार छीन लेने का समर्थन करता है।

यह व्यवस्था अच्छी है किन्तु भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश के अनुरूप नही है। भारतीय सस्कृति व्यक्ति के व्यक्तिगत महत्व को स्वीकार करती है। उत्पादन के साधनों पर से और इसीलिये उत्पादन पर से भी व्यक्ति के व्यक्तिगत अधिकारो को अस्वीकार करके मार्क्सवाद उत्पादन के मामले मे व्यक्ति की अपनी रुचि एव तज्जन्य एव कार्योत्साह की सभावना समाप्त कर देता है। वर्ग-सघर्ष की बात भी भारतीय सस्कृति के प्रतिकूल है। श्रुतियाँ विश्व-मैत्री का सन्देश देती हैं, मार्क्स वर्ग-सघर्ष की बात करता है, और, जहा न हो, वहा उभारने की बात करता है। भारतीय सस्कृति समस्याओं का समाधान सघर्ष और हिंसा मे नही खोजती। वहा दान का विधान है। साम्यवाद की प्रायोगिक सफलता हमारे सामने बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक मे आई थी। उसके बाद उसने पहले हमारे विचारो को प्रभावित करना शुरू किया। विदेशी (रूस-विरोधी-पूंजीवादी-साम्राज्यवादी) सरकार ने और भी इस दिशा मे कुछ करने न दिया। साम्यवादियों का अतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण एव महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व एवं उनकी विचारधारा के कारण भी हमारी आर्थिक क्रियाशीलताओ पर साम्यवाद या समाजवाद का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ने पाया। अधिक से अधिक इतना हुआ कि साम्यवादियों ने मिलों के मजदूरों को सगठित करके कुछ हड़तालें करवा दी। जिस प्रकार साम्यवाद ने हमारी आर्थिक क्रियाशीलताओ की अपेक्षा हमारे दृष्टिकोण एव हमारी विचारधारा को अधिक प्रभावित किया, उसी प्रकार साहित्य मे भी इसने एक नया दृष्टिकोण हो दिया। चूंकि भारतीय आर्थिक जीवन मे उसका कोई भी प्रामाणिक रूप सामने नही आया इसलिये हमारे साहित्य मे

भी साम्यवादी आर्थिक जीवन के कोई भी चित्र नहीं मिलते। कार्यक्रम और आयोजना की जगह साम्यवाद का विश्लेषण-पक्ष अधिक सबल और प्रभावशाली है इसलिये हमारे साहित्य म मजदूर, किसान, नारी, मिल मालिक सामन्तवादी पूंजीपति-पुरुष अर्थात् शोषितो और शोषको के सबल और सशक्त चित्र अवश्य मिलते हैं। यशपाल के कई उपन्यासो और कई कहानियो मे से चित्र भरे पडे हैं। किंतु क्रांतिकारी आर्थिक याजनाओं और कार्यक्रमों के साहित्यिक चित्र हम नही मिलते।

गांधी नीति—

मार्क्सवाद की अपेक्षा गांधीवाद हमारी सभ्यता और संस्कृति के अधिक निकट एव अनुरूप था और इस योग्य था कि तत्कालीन वातावरण म उसके अनुसार कार्य किया जा सके। यही हुआ भी। मुझे ऐसा लगता है कि गांधी म अध्ययन इतना विशाल एव बुद्धि-बल उतना प्रखर मुखर नही था जितना मार्क्स मे और मार्क्स मे आध्यात्मिक शक्ति, मानसिक शक्ति अथवा हृदय बल इतना सक्रिय नही था जितना गांधी मे। एम० एन० अग्रवाल ने लिखा है, यद्यपि विश्व के महानतम पुरुषों मे गांधी जी ने सबसे कम अध्ययन किया था किन्तु अपने देश की नाडी टटोल कर उसकी व्याधि का समुचित ज्ञान करके उसके लिये सचमुच अच्छा प्रभाव डालने वाली औषधि तैयार कर लेने की क्षमता उनम असाधारण और विलक्षण थी।[1] गाधी का जीवन दर्शन समग्र जीवन-दर्शन था। उन्होंने कुछ पढा, उन्हें कुछ जचा, और उसके अनुसार उन्होने प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। बौद्धिक विश्लेषण की जगह गाधी के जीवन मे प्रयोगशीलता की प्रधानता थी—ऐसी प्रयोगशीलता की, जिसमे व्यक्ति प्रधान हो और ऐसा प्रथम व्यक्ति प्राय गाधी स्वय ही हुआ करता था। अपनी धारणा को कार्यान्वित करके व्यावहारिक रूप म उपस्थित करने की विधि ने लोगो को बहुत प्रभावित किया। अस्तु गांधी के आर्थिक कार्यक्रमो को देश ने अपने सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार अपनाया—यहाँ तक अपनाया कि लकाशायर और मानचेस्टर हिल उठा।

गांधी के उदय के पूर्व भारत का आर्थिक जीवन और कार्यक्रम पाश्चात्य दृष्टिकोण से अनुप्रेरित एव अनुप्राणित हो रहा था। इसके अनुसार भोग-विलास की अधिकता होनी चाहिये जीवन-स्तर को उच्चतर करने का तात्पर्य था देखने म विशाल, बारीक, सुन्दर, और चेतना को आनन्दित करने वाली छूने मे चिकनी, मन को आकृष्ट करने वाली, दाम में कीमती, और आँखों के लिये चमकदार वस्तुओं का अधिकाधिक

१ गांधीयन प्लान री अफर्म्ड', पृ० १७

उपभोग होना चाहिये, अपनी आवश्यकताओ को अधिकाधिक बढाते रहना और उनकी पूर्ति के लिये उचित अनुचित सभी उपायो से धन प्राप्त करते रहना चाहिये, आर्थिक दृष्टिकोण को आध्यात्मिकता, नैतिकता एव मानवता की मान्यताओ एव धारणाओ से दूर करते जाना अनिवार्य है, व्यक्तिगत दृष्टिकोण या लाभ की भावना की प्रधानता हो जानी अनिवार्य है, बडी बडी मशीनो का प्रयोग होना चाहिये जिसके परिणाम-स्वरूप शोषण की प्रवृत्ति अनिवार्यत क्रियाशील हो उठती है। जीवन मे भौतिक दृष्टिकोण, निजी स्वार्थ और हित की भावना, फैशन, आडम्बर, हिंसा, सघर्ष, आदि पाश्चात्य अर्थ व्यवस्था के अनिवार्य परिणाम हैं। गाधी का व्यक्तित्व और उसकी चिन्तनधारा एव उसके विश्वास तथा उसकी मान्यताए पूर्णरूपेण भारतीय सस्कृति मे डूबी हुई थीं। इसके परिणामस्वरूप उनकी अर्थनीति पाश्चात्य अर्थनीति से मूलत भिन्न हो जाती है। पाश्चात्य अर्थव्यवस्था मे भारत मे दो वर्गों को बहुत लाभ हो रहा था (१) व्यापारी, और २) जमीदार। राष्ट्रवादियो का यह विचार था कि भारतीय परतन्त्रता का प्रधान कारण है अग्रेजो द्वारा हमारी सैनिक शक्ति का ह्रास और आर्थिक शोषण। इसका परिणाम यह हुआ कि गाधी जी का स्वराज्य आर्थिक स्वराज्य भी हो गया। वे देश के सभी नर-नारियों के भोजन, वस्त्र और आवास की प्राप्ति के साधन जुटाना चाहते थे। सबके लिए काम चाहते थे। सबको समान रूप से सुविधा, सुख और विकास के अवसर प्राप्त कराना चाहते थे। अगरेजो की आर्थिक दासता से मुक्ति चाहते थे। व्याधि के मूल कारण को ही पाश्चात्य आर्थिक मान्यताओं और धारणाओ को ही उन्मूलित कर देना चाहते थे। लक्ष्य की प्राप्ति प्रतियोगिता मे जीत कर नही, पर दृष्टिकोण के परित्याग और अपने दृष्टिकोण के ग्रहण द्वारा कराना चाहते थे। 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह'—यह गीता वाक्य है। इस प्रकार हमारा आर्थिक कार्यक्रम एक ओर हमारे सास्कृतिक दृष्टिकोण के अनुसार होकर धर्म और नैतिकता से सम्बद्ध हो गया और दूसरी ओर भारत की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता के भी अनुकूल हो गया। गाधी जी ने लिखा है कि मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच कोई मौलिक भेद या स्पष्ट विभाजक रेखा नही खीचता हूँ।[1] महादेवप्रसाद के शब्दो मे इसका परिणाम यह हुआ कि ' ' ' गाधी जी एक ऐसी अर्थ व्यवस्था चाहते हैं जिसमे सबको काम करने का बराबर अवसर देकर जनता मे उत्पादन का समान वितरण किया जाय, जिसमे व्यक्तियों और परिवारों को उनकी आजीविकाओं पर पूरा, पर्याप्त एव समान नियत्रण प्राप्त हो और जो व्यक्ति के समुचित विकास के लिये उचित वातावरण निर्मित कर

१. 'यग इण्डिया', १३ अक्तूबर, १६२१ का अक

सके।'[1] बात यह है कि उपभोग और उत्पादन को एक जगह कर देने से अनेक कठिनाइयों का अन्त हो जाता है। युगों से चली जाती हुई भारत की आर्थिक विधि-व्यवस्था के स्वरूप का सांस्कृतिक आधार भी यही है। कर्ता फल के उपभोग का प्रथम और अनिवार्य अधिकारी होता है। भारतीय संस्कृति किसी भी मानव को हीन या उपेक्षणीय नहीं मानती। वहाँ सर्वभूतेषु आत्मवत् दृष्टि डालने का आदेश है। भगवद्गीता के १३वें अध्याय के २७वें श्लोक में लिखा है कि जो नष्ट होते हुए सब चराचर में नाश रहित परमेश्वर को समभाव से देखता है, वही देखता है। उपनिषद् का भी कथन है कि इस संसार में जो कुछ है उस सब में ईश्वर का वास है। शंकराचार्य तो ईश्वर या ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ मानते ही नहीं। इसी भारतीय संस्कृति की धारणा के अनुसार गरीब, अमीर, विद्वान, मूर्ख, पढ़े-लिखे, अनपढ़ आदि सभी मनुष्यों के विकास के लिये गाँधी जी सोचते थे। उनके हृदय में सबके लिये दर्द था। इसीलिये वे गरीब को भी नहीं मरने देना चाहते थे और अमीर को भी नहीं नष्ट होते देख सकते थे। इसीलिये गाँधी जी के आर्थिक कार्यक्रमों में वर्ग-संघर्ष के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ सर्वोदय है—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।' गाँधी जी के अर्थशास्त्र में मानव-श्रम की असाधारण प्रतिष्ठा है। उसे वे सबके लिये अनिवार्य समझते थे। मशीनों का सर्वग्राही प्राधान्य स्वीकार करके वे मनुष्य की श्रम-शक्ति को व्यर्थ एवं निरादृत नहीं करना चाहते थे। उत्पादन का यन्त्रीकरण उन्हें अमान्य था। जैसे भारतीय संस्कृति के ऋषि-मुनि जीवन और जगत की प्रधान समस्याओं पर अद्वितीय रूप से विचार करते हुये भी आवश्यक श्रम करते रहते थे वैसे ही गाँधी जी रवीन्द्र और रमन के लिये भी शरीर-श्रम अनिवार्य समझते थे। गाँधी जी चर्खे एवं सूत की कताई को इसीलिये प्रधानता देते थे। जैसे राम के साथ धनुष-बाण का, इन्द्र के साथ वज्र का, अर्जुन के साथ गाँडीव का, सरस्वती के साथ वीणा का, कृष्ण के साथ मुरली का एवं विष्णु के साथ सुदर्शन चक्र का अभिन्न सम्बन्ध है एवं एक का नाम दूसरे का स्मरण बन जाता ' वैसे ही स्थिति गाँधी और चर्खे की है। उन्होंने लिखा है, *'चरखा तो सूरज है और* सरे जो उद्योग हैं वे ग्रह हैं, जो सूरज के इर्द-गिर्द घूमते हैं।'[2] उत्पादन को निर्जीव, ारात्म एवं अकलात्मक न होने देने के लिये ही गाँधी जी ने उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नुष्य के हाथों से बनाए रखा। यही कारण है कि गाँधी जी ने ग्रामोद्योग व कुटीर उद्योग का असाधारण रूप से समर्थन किया है। संघर्ष को शांत करने

१ 'सोशल फिलासफी आफ महात्मा गाँधी', पृ० २८०
२ प्रार्थना प्रवचन', भाग २, पृ० २२७

के बजाय उसे और अधिक उग्रतर करने वाले रूसी वर्ग सघर्ष की भावना भी गाधी को अग्राह्य थी। सब मे परमात्मा का निवास है और परमात्मा मूलत बुरा नहीं हो सकता। इसलिये कोई भी मनुष्य चाहे वह धनी हो, चाहे गरीब मूल रूप से बुरा नही हो सकता। यदि माया वश वे बुरे हो गये और मौलिक रूप से बुरे नहीं हैं तो उनका हृदय परिवर्तन हो सकता है। इसलिये गाँधी जी की अर्थनीति मे धनी लोगो को अपनी सम्पत्ति धरोहर रूप मे समझनी चाहिये। अपने को उसका ट्रस्टी मात्र समझना है। तेन त्यक्तेन भुंजी था मा गृध, कस्यस्विद्धनम्' वाला भारतीय आदर्श गाँधी जी के सामने रहा है। जमनालाल बजाज, आदि अनेक धनिको ने यथाशक्ति इस नीति को माना। इस प्रकार गाँधी जी के अथशास्त्र मे रुपये का स्थान गौण रखा गया है। यहाँ मानव-श्रम पशु प्रयोग एव प्रेम तथा सहयोग की नीति को आधार बनाया गया है। भारत के देहातो मे सहयोग एव सहानुभूति की इस भावना की अभिव्यक्ति आर्थिक काय-व्यापार मे बराबर होती रहती है। भारतीय दर्शन का आदर्श है 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य । ईशोपनिषत् समझाता है, 'कस्यस्विद्धनम्। सारी भारतीय सस्कृति 'सन्दे जीवन' के आदर्श से अनुप्राणित है। हमारी सांस्कृतिक अर्थ-नीति है—

साई इतना दीजिये जामे कुटुम समाय
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।

इसी धन की चटक मटक से दूर, सादे, गाँधी जी थे, गाँधीवादी थे और उसी के अनुरूप आधुनिक हिन्दी-साहित्य भी है। न कागज आकर्षक, न छपाई आकर्षक, न जिल्द आकर्षक और न दाम आकर्षक, और न उसमे अभिव्यक्त भाव या विचार उत्तेजक। अपवाद सभी जगह होते हैं किन्तु प्रधानरूप मे यह अपने भारतीय सास्कृतिक स्वरूप को प्राप्त करने की दिशा ही है।

भारतीय सस्कृति का विश्वास है कि वासनाओ को पूर्ति से प्रशान्त नहीं किया जा सकता। आवश्यकता का जन्म वासना और इच्छा के प्रबुद्ध होने से होता है। दूसरे को जितना ही बढ़ने दिया जायगा पहला उतना ही बढता जायगा। 'जस जस सुरसा बदन बढावा, तासु दुगुन कपि रूप देखावा।' इसलिये न वासनाओ अर्थात् आवश्यकताओं की कोई सीमा है और इसीलिए न उनकी पूर्ति की सम्भावना। ऐसी स्थिति म उचित यही है कि उनको सयमित, अनुशासित एव दमित रक्खा जाय। उनको बढते देखकर हाय' हाय' करते रहना कोई बुद्धिमानी नही है। गाँधी जी का भी यही कहना कि हमे केवल उन्हीं आवश्यकताओ की पूर्ति करने का प्रयत्न करना चाहिये जो हमारे जीवित रहने के लिये अनिवाय हैं। इसी बात को बडे ही विद्वता-पूर्ण ढग से जे० के० मेहता ने इस प्रकार कहा है, 'अन उपयोगिता को चरम सीमा

तक बढा देना वही चीज है जो पीडा को कम से कम कर देना है''''' 'इसलिये पीडा से मुक्ति पाने का तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि विशेष समय या अवस्था मे प्रतीत होने वाली आवश्यकताओ को मिटा या हटा दिया जाय या शान्त कर दिया जाय बल्कि यह भी है कि यह देखते रहा जाय कि भविष्य मे उस प्रकार की नई आवश्यकताओ का फिर उदय न हो। आवश्यकताएँ जितनी भी कम हो दुःख उतना हो कम होगा'' '''अस्तु, अच्छी सूझबूझ वाले मानव के लिये अर्थशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो अन्ततोगत्वा मनुष्य के दुःख को कम करने के लिये किये जाने वाले मानवीय व्यवहारो का अध्ययन करता है।'[1] गांधी जी की अर्थ-व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति का अपने पडोसी के प्रति भी कर्तव्य होता है। इसी कर्तव्य-भावना से एक ओर दान की बात पैदा होती है और दूसरी ओर स्वदेशी की। हमारे *पडोसी ने जो वस्तु उत्पादित की है उसका उपभोग करना हमारा प्रधान धर्म है।* इसलिये अपने गाँव, जिले, प्रदेश प्रान्त एव देश के कुम्हार, ठठेरे सोनार, दर्जी, बढई, वैद्य, जुलाहे, आदि के उत्पादन का उपभोग ही स्वदेशी है जिस पर गाँधी जी इतना जोर देते थे। यह दृष्टिकोण भी भारत का अपना सांस्कृतिक दृष्टिकोण है। गाँधी जी की अर्थनीति के अनुसार हमारा प्राथमिक क्षेत्र है गाँव, लक्ष्य है गरीब मानव, और साधन हैं हाथ और हमारे सहयोगी घरेलू पशु। गाँधी जी का अर्थशास्त्र विभिन्नताओ मे एकता की अनुभूति करके ही चलता है और यह भारत की सांस्कृतिक विशेषता है। गाँधी जी की अर्थनीति मे शोषण के लिये कोई भी स्थान नही। गाँधी जी देहात को आर्थिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं। गाँधी जी ऐसी आर्थिक हलचलों मे विश्वास करते हैं जो उत्पादक एव रचनात्मक हो। इसीलिये वकालत, ब्याज एव *वेश्यावृत्ति, सट्टा, आदि उन्हें अमान्य थे। प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।* गाँधी जी के आर्थिक प्रोग्राम ने देश के आर्थिक जीवन और हलचलो पर अपना स्थायी प्रभाव डाला है। इसका नवीनतम प्रमाण है भूदान आन्दोलन जिसने सेठ गोविंददास से नाटक लिखवा लिया और 'दिनकर' तथा मैथिलीशरण गुप्त आदि से कविताएँ। भारत के वातावरण मे खद्दर की सात्विकता फैल गई, गाँव-गाँव और शहर-शहर मे चर्खे चलने लगे, गो-सेवा-केन्द्र खुल गये, ग्रामोद्योगो और कुटीर उद्योगो को असाधारण रूप से प्रोत्साहन मिला, शरीर श्रम को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा, आदि। *मैथिलीशरण गुप्त ने वस्त्रहीनो को लक्ष्य करके लिखा—*

---

१ 'स्टडीज इन एडवान्स थियरी आफ एकनामिक्स',

तुम अर्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में
आओ हम कातें बुने गान की लय में'[१]

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है, 'जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की समिधि बना कर उसने (गांधी जी ने) एक आध्यात्मिक महायज्ञ की रचना की। कट्टर अपरिवर्तनवादियों को छोड़ कर जो लोग साहित्य, समाज और राजनीति में विविध रूपण कुछ भी गतिशील थे वे सभी इस आध्यात्मिक महायज्ञ (गांधीवाद) मे मिल कर एकाकार हो गये।'[२]

आर्थिक जीवन और साहित्य—

समाज की आर्थिक व्यवस्था का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ते हुए हमारे साहित्य पर भी पड़ता है। हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य पर भी हमारी आधुनिक आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ा है। हमारे देश के आर्थिक ढांचे का सामन्तवादी स्थिति से औद्योगिक अवस्था तक का विकास स्वाभाविक रूप से नहीं हुआ। इस अस्वाभाविक परिवर्तन (न कि विकास) के कारण देश में जिन मध्यवर्ग का उदय हुआ वह अस्वाभाविकताओं से भर गया। वह आस्थाओं और विश्वासों से भारतीय और रहन-सहन, आदि से अ-भारतीय हो गया। वह न पूर्वी रह गया, न पश्चिमी हो सका। उसका मन एवं उसकी चेतना विभक्त हो गई। इस विभक्त चेतना वर्ग द्वारा रचित हमारा साहित्य, मध्यवर्ग की ही स्थिति के अनुसार, न बहुत ऊँचा ही हो सका और न बहुत हीन कोटि का ही। अंग्रेजों से अपनी आर्थिक स्थिति की तुलना करने पर इस वर्ग को जिस हीनता का अनुभव होता था उसी हीन ग्रन्थि ने इनकी कल्पना की उड़ान को सीमित कर दिया। इसका अनुभव हमें तब होता है जब हम अपने साहित्य की तुलना एच० जी० वेल्स, कार्लाइल, बर्नार्ड शा, लेगुई और कजामिया, रूसो, वाल्टेयर, पर्लबक, आदि के साहित्य से करते हैं। भारत के जड़ क्लर्कों एवं नौकरों का साहित्य आखिर पहुँचेगा भी तो कितनी ऊँचाई तक! यह एक विचित्र तथ्य है कि हिन्दी साहित्य को जिन पर नाज है वे पन्त, वे प्रसाद, वे निराला, वह महादेवी, वह भगवतीचरण वर्मा, वह प्रेमचन्द, आदि आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी साम्राज्यवाद के दास (नौकर) नहीं थे। इसलिये आर्थिक दृष्टिकोण वाली हीन ग्रन्थि से बचे थे। परन्तु दुःख की अनुभूति से वे भी न बचे। इनमें से कुछ गरीबी भुगत चुके थे और कुछ गरीबी से पूरी तरह परिचित थे मगर इनमें से कोई भी गरीबी से पराजित नहीं हुआ। टूट

---

१ 'साकेत', आठवा सर्ग

२ 'युग और साहित्य', पृ० १५७

गया, क्षय रोग मे ग्रस्त होकर मर गया, पागल हो गया, मगर उससे हार न मानी। इसलिये ये लेखक गरीब समाज और गरीबो की मनोवृत्ति का सफलतापूर्वक चित्रण कर सके। उच्चतम कोटि की अमीरी से इनका परिचय नही था इसलिये अमीरी अमीरो के मनोविज्ञान के चित्रण मे अनुभूति की प्रधानता उतनी नहीं हो सकी जितनी उनके सैद्धांतिक पक्ष की। इनमें से अधिकाश लेखक शोषित हुये हैं। इसलिये निम्न मध्यवर्ग या निम्नवर्ग की प्रतिभाओं ने शोषित किये जाने के मार्मिक चित्र हमारे साहित्य मे मिलते हैं। मध्यवर्ग के मनोविज्ञान और जीवन के भी मार्मिक चित्र मिलते हैं 'गिरती दीवारें', आदि सैकडो उपन्यास इसके उदाहरण के रूप मे उपस्थित किये जा सकते हैं। असाधारण गरीबी के कारण इनका साहित्य समाज मे उतना नही बिकने पाया जितना होना चाहिये। परिणामस्वरूप लेखक प्रशंसा और यश से भी गया और आर्थिक 'पुरस्कार' से भी। लेखक गरीब का गरीब रह गया। उसका आदर कम हो गया। मामूली डिप्टी कलक्टर भी अपने को हिन्दी के कवि और लेखक से अधिक योग्य समझता था और आदर पाता था। न मालूम कितने लोगो ने लिखना छोड दिया! न मालूम कितनी कृतियाँ समय पर छप न पाई और उनमे से बहुत काल के गाल मे समा गईं! मध्य वर्ग की ढोंग भरी आर्थिक सम्पन्नता ने साहित्य के क्षेत्र मे भी ढोंग फैला दिया। ऐसे चित्रण हुए जो समाज मे कही भी नहीं पाये जाते। जीवन का झूठ और ढोंग और अनुकरण साहित्य मे भी आ गया। अधिकांश साहित्य वास्तविकता प्रधान एव तथ्यप्रधान और सच्ची मनोवैज्ञानिकता से दूर होने लगा कुछ ने अपने साहित्य को सिद्धान्तो के आधार पर ही ढाल दिया। सिद्धान्तों को उभारने के लिये ही साहित्य रचा। यशपाल का अधिकांश साहित्य इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है। सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था के टूटने के कारण साहित्य राजदरबारो से बाहर निकल आया। ऐसे भी साहित्यिक हुए जिन्होंने अर्थ सकट तो सहा किन्तु किसी राज-दरबार मे जाने को तैयार न हुये। 'बच्चन' ने 'नये पुराने झरोखे' मे अपने जीवन की उस घटना का उल्लेख किया है जब उन्होंने गिरिधर शर्मा के कहने पर भी महाराज झालरापाटन का दरबारी कवि बनना नही पसन्द किया। इसका अच्छा ही परिणाम हुआ। इसका एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि साहित्य वहाँ से निकल कर पूँजी-पतियों और नेताओ के चंगुल मे फँस गया। समाचार-पत्र, पत्रिकाएं और प्रकाशन-संस्थाएं-सब पूँजीपतियो के थे और वे थे साम्राज्य-शाही के चगुल मे। इस प्रकार पूँजीपतियों के और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लिखे हुए साहित्य का प्रकाश मे आ सकना असम्भव था। इसी आर्थिक मजबूरी के कारण इस युग मे क्रांतिकारी, साम्राज्य-विरोधी और पूँजीवाद विरोधी साहित्य की अधिक रचना न हो सकी। भारतीय

समाज के दोष निकालने और उनके लिये सीमित क्षेत्र तक के सुझाव चित्रित होने देने मे दोनो मे से किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसलिये हमारा कथा साहित्य समाजसुधार प्रधान एवं व्यग्य प्रधान हो गया। प्रथम महायुद्ध के बाद आर्थिक सकट उपस्थित हुआ था। बेकारी बढी थी। पूँजीवादी शोषण प्रारम्भ हो गया था। कोई भी एक व्यक्ति पूरी व्यवस्था से नही लड सकता। सकटग्रस्त की विवशता उसे पलायनवादी बना देती है–'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे धीरे'। निराशा, सस्ती भावुकता, हल्का आदर्शवादी रोमास, सस्ती उत्तेजना, कल्पना की अतिशयता, ऐसे विवश व्यक्ति की विशिष्टता बन जाते हैं। बीसवी शदी के द्वितीय और तृतीय दशक के हिन्दी साहित्य मे इन्हीं प्रवृत्तियो की प्रधानता थी। पूंजीवादी समाज की सस्कृति और उसका साहित्य भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुसार ही व्यक्तिवादी होता है। सामन्तवादो समाजव्यवस्था मे साहित्यिक को जो स्वतन्त्रता नही मिलती उसको पाने के लिये भावुक साहित्यिक पूंजीवादी युग मे प्रयत्नशील होता है। बडे ऊँचे-ऊँचे सपने देखते हुये आता है। उसके साहित्य मे एक नये समाज की रचना की कल्पना-रगीन कल्पना–होती है। पन्त, प्रसाद, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', आदि मे ऐसी कल्पनाओ की प्रचुरता है। पुराने बन्धन टूटते हैं। नये की चाह होती है। 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' पन्त गाता है। छद–बन्ध टूटते हैं। नए स्वर, नया ताल, नयी लय, नए गीत–यह छायावाद की प्रमुख विशेषता है—

नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव, नवल कण्ठ, नव जलद मन्द्र रव
नव नभ के नव विहगवृन्द को नव पर नव स्वर दे-वर दे, वीणावादिनी वर दे।

सब कुछ पुराना खलने लगता है। कवि इतना नया हो जाता है कि उसे समझना समझ पाना कठिन हो जाता है। साहित्यिक फिर अपने को अकेला पाता है। समाज के लिये भी यह नवीनता सदैव आकर्षक नही रह पाती। इधर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कवि के मधुर सपनों को झकझोर देती है। वह देखता है कि रुपये के पीछे मनुष्य मनुष्यता खो बैठता है। अपनों की आत्मीयता नष्ट हो जाती है। कोई किसी का नहीं। सब पैसे के गुलाम हैं। मानव की रागात्मकता, ऊँची-ऊँची मान्यताओं की हत्या हो जाती है। पत[1] ने इस तरह सपनों के टूटने की बात कही है। अब कवि को दूसरा रास्ता अपनाना पडता है। पत, 'निराला', महादेवी, भगवती चरण वर्मा, प्रेमचन्द, आदि सब की दिशाएँ बदल जाती हैं। दृष्टिकोण व्यग्यप्रधान, जागरण प्रधान, अथवा समाजवादी हो जाता है। साहित्य के क्षेत्र मे अर्थव्यवस्था एक बार फिर परि-

१—'आधुनिक कवि', की भूमिका।

वर्तन उपस्थित करती है। छायावाद के बाद प्रगतिवाद का युग आता है। आदर्शवाद का स्थान यथार्थवाद ले लेता है। आर्थिक जगत में विषमता से पीड़ित, एकाकी और अन्तर्मुखी कलाकार कभी प्रकृति सुन्दरी का आँचल ओढ़ना चाहता है और कभी हाला प्याला की बात करता है। 'बच्चन' ने 'मधुशाला' जिन दिनों लिखी थी वे दिन आर्थिक पीड़न के थे। शोषक वर्ग के पास साहित्य को समझने के लिये न समय है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है। कविता की प्रशंसा करने या प्रयत्न करके समझ लेने से उसकी मिल का उत्पादन कभी नहीं बढ़ सकता। उसकी साहित्य-प्रशंसा, उसका साहित्य-प्रेम झूठा होता है, ढोंग होता है। काव्य प्रेम या साहित्यानुराग पूँजीपति के वक्ष को सुशोभित करने वाला एक तमगा मात्र होता है। इससे अधिक बढ़ने पर उपेक्षा और तिरस्कार मिलता है। सबके सामने जो सरस्वती अथवा वृहस्पति अथवा वीणापाणिनी की वीणा का अवतार लगता है अकेले में वह स्वय अपनी कलई खोल देता है, क्योंकि जानता है कि यह निरीह, भुक्खड़, असमर्थ, कवि या लेखक उसका कुछ बिगाड़ ही नहीं सकता। साहित्य की आत्मा तड़प उठती है। साहित्यकार टूट जाता है। वह असामाजिक हो जाता है। सबके सामने जिसकी रचना की खुल कर प्रशंसा की जाती है अपनी बेटी की दवा वह इसलिये न करा सके कि उसके पास पैसा नहीं, यह घाव कम गहरा नहीं होता। 'निराला' पागल हो जाता है। 'हितैषी' लोहा बेचने लगता है। रामेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव कहानी लिखना छोड़कर टामसन इन्टर कालेज, गोंडा, का प्रिंसीपल मात्र रह जाता है। यह एक तथ्य है कि अभी हिन्दी का समाज ऐसा नहीं है कि उसका साहित्यकार साहित्य रचना के सहारे रह कर आराम से कुटुम्ब चला सके और इज्जत के साथ जीवन बिता सके। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है, 'साहित्य को जिन लोगों ने अपने जीवन-निर्वाह का साधन बनाया है उनको सब प्रकार से कष्टमय जीवन ही व्यतीत करना पड़ता है।'[१] 'निराला' की आर्थिक स्थिति के बारे में महादेवी ने लिखा है, 'जिसकी निधियों से साहित्य का कोष समृद्ध है उसने मधुकरी माँग कर जीवन-निर्वाह किया है इस कटु सत्य पर आने वाले युग विश्वास कर सकेंगे, यह कहना कठिन है।'[२] सुभद्राकुमारी चौहान के बारे में उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखी हैं, 'सुभद्रा जी की आर्थिक परिस्थितियों में जेल जीवन का ए और सी क्लास समान ही था। एक बार जब भूख से रोती बालिका को बहलाने के लिए कुछ नहीं मिल सका तब उन्होंने अरहर दलने वाली महिला कैदियों से थोड़ी सी

१. 'मेरी अपनी कथा', पृ० ३७
२. 'पथ के साथी', पृ० ५८

अरहर की दाल ली और उसे तवे पर भून कर बालिका को खिलाया......घर से बाहर बैठ कर वे कोमल और ओज भरे छन्द लिखने वाले हाथों से गोबर के कण्डे पाथती थीं।'[१] वे लिखती हैं, अर्थ संकट के इस बवण्डर ने इस युग के अधिकांश साहित्यकारों को कभी खाई मे गिरा कर और कभी पर्वतों पर पटक कर चूर कर दिया है।'[२] देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' ने भी यही बात लिखी है, 'और प्रतिकूल परिस्थितियों की विषम तथा ऊबड़-खाबड़ भूमि पर चलते-चलते हिन्दी साहित्यकार को जब प्रकाशकों की अनुदारता और उदासीनता की कठोर चट्टानो से बराबर टकराना पड़ता है तब उसका मन गहन विषाद की जिस काली छाया से आवृत हो जाता है, जो कुहासा उसके अन्तराल मे छा जाता है, उससे उसका अपना असीम अहित तो होता ही है, हिन्दी का भी कम अकल्याण नहीं होता।'[३] कौन कह सकता है कि निराला जो दूसरी 'जुही की कली' 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', आदि न लिख सके और 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते,' आदि मे उनकी काव्यकला ने जो विद्रूप धारण किया है उसके पीछे भारत मे प्रचलित पूँजीवादी अर्थतन्त्र एव मनोविज्ञान का बहुत अधिक हाथ नहीं था? मनसुखलाल झवेरी ने लिखा है 'अब साहित्य एक व्यवसाय बन गया है। अब वह केवल स्वान्त सुख की वस्तु नहीं रहा ' जो पैसा देंगे, वे अपना नाच नचायेंगे। साहित्य की समस्या इस प्रकार अर्थशास्त्र के प्रश्न से अप्रतिबिम्बित नहीं रहती। अब यदि कवि अपने आश्रयदाता की मर्जी के बिना तनिक भी इधर-उधर नहीं चल पाता तो वह जनसाधारण और पाठक की रुचि की उपेक्षा भी नहीं कर सकता।'[४] हम इतना और कहना चाहेंगे कि यह व्यवसाय बड़े घाटे का व्यवसाय है। यह व्यवसाय करने वाला टूट जाता है। अस्तु, पूँजीवादी युग मे साहित्य व्यवसाय न हो तो क्या हो? यदि हमारे पीछे सात्विकता और धर्म की इतनी बड़ी परम्परा न होती तो हमारे हिन्दी साहित्य का अन्तरंग और बहिरंग दोनो ही व्यावसायिक हो जाता। फिर भी, व्यवसाय वृत्ति की प्रधानता के नाते इस साहित्य के आकार-प्रकार, स्वरूप व्यंजना, भाव और विषय पर ग्राहक-पाठक की रुचि का प्रभाव काफी पड़ा है। लेख या कविता इतनी छोटी न हो कि पुरस्कार ही न मिले, इतनी बड़ी न हो कि छपने को जगह ही न मिले। इतनी गम्भीर न हो कि उसे पाठक पढ़ना ही न चाहे। इसीलिये गम्भीर, स्वच्छन्द, विशुद्ध,

---

१ 'पथ के साथी', पृ० ४१-४२

२ वही, पृ० ३०

३. आजकल' जनवरी, १९६०, ई० पृ० ३३

४ 'आज का भारतीय साहित्य', पृ० १६३-१६४

साहित्यिक रचना उतनी नही छपती जितनी पाठ्य पुस्तकें। पूँजीपतियों के द्वारा हमारे साहित्यिकों की आत्मसम्मान की भावना को बडी ही गहरी चोट पहुचायी जाती थी। उनका अहमाव जागृत हो उठता था। इस प्रकार आर्थिक विषमता साहित्य के अन्दर वैयक्तिकता की सृष्टि करती थी जिससे विद्रोह की भावना उत्पन्न होती थी। अर्थ के अभाव मे यह साहित्यिक मजबूर भी तो होता है। इसलिये साहित्य मे हुंकार या विद्रोह का आन्तरिक या सैद्धान्तिक रूप ही प्रकट हो पाता है। गर्म खून वाले ऐसे ही नकली विद्रोह का आवेश लिये साम्यवादी या समाजवादी बन जाते हैं। जो यह भी नही कर पाते वे कुन्ठा के शिकार हो जाते हैं। यह अर्थजन्य कुण्ठा बडी ही तीव्र होती है। इस कुन्ठा के द्वारा साहित्य पर पड़ने वाले प्रभाव का विवेचन करते हुए नगेन्द्र लिखते हैं, 'कुन्ठा और काव्य का सीधा सम्बन्ध है ···· कुण्ठाओ की तीव्र प्रेरणाओ से जो गीत फूट उठते हैं वे मानव मन को सहज ही प्रिय होते हैं।'[१] भाव-दृष्टि से 'बच्चन' की लोकप्रियता का एक रहस्य यह भी है। उमङ्ग और उत्साह, साहस और स्फूर्ति-रहित भारत की आर्थिक हलचलो का साहित्य पर यह प्रभाव पडा है कि हमारा जासूसी और रोमांचकारी साहित्य पश्चिम का अनुकरण मात्र हो कर रह गया है। उसमे बुद्धि के चमत्कार और कल्पना के कौशल का चमत्कृत कर देने वाला रूप नही मिलता। सुस्त आर्थिक जीवन ने हमारी साहित्यिक कल्पना को भी सुस्त और अरुन्तुद कर दिया है। समस्त प्रेम-साहित्य का ढांचा एक ही सा और इसी-लिये प्राय अरुन्तुद होता है। उसमे कोई भी बात नई या सजीव नही दिखाई पडती। अर्थनीति का साहित्य पर दो प्रकार से प्रभाव पडा करता है। हमारा आर्थिक जीवन जिस प्रकार का है वह पृष्ठभूमि और विषय बन कर साहित्य मे चित्रित हो जाय। गाँधीवादी आर्थिक जीवन इस रूप से हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य मे पर्याप्त रूप से चित्रित हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' मे चर्खा कातने का उल्लेख हुआ है। सोहनलाल द्विवेदी ने 'भैरवी' नामक काव्य सग्रह मे 'खादी के धागे धागे मे अपनेपन का अभिमान भरा' जैसा साहित्य लिखा है। आदर्शवादी जीवन के चित्रण मे गाँधी-वादी आर्थिक जीवन ही मूर्त हो उठता है। प्रेमचन्द की कहानियो और उपन्यासो मे भी यह मिलता है। विशेष रूप से 'रङ्गभूमि' के सूरदास का उल्लेख किया जा सकता है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो पर तो कोई कवि कविता लिखने बैठता नही। मार्क्स की 'सर प्लस वैल्यू'तो कविता का विषय नहीं बन सकती। उसके पीछे का दृष्टिकोण अवश्य काव्य का विषय बन सकता है। साहित्य का विषय बन सकता है। उसका भावपक्ष

---

१ 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृ० ६५

एव उसके पीछे की रागात्मकता अवश्य साहित्य को जन्म दिला सकती है। गाँधी के आर्थिक सिद्धान्तो मे इतनी भावात्मकता है, इतनी तरलता है, इतनी रागात्मकता है कि कभी–कभी वे स्वय काव्य बन जाते हैं। गाँधी का आर्थिक विचार शरीर–श्रम स्वीकार करके श्रमिक और कृषक की महत्ता प्रतिपादित करता है और सोहनलाल द्विवेदी 'भैरवी' मे मानव–जाति के सभी श्रेष्ठ निर्माणो या उत्पादनो को श्रम-सम्भव बताता हुआ कहते हैं—'वह तेरी हिम्मत पर किसान, वह तेरी मिहनत पर किसान', आदि। युग की विचारधारा के प्रभाव को अस्वीकार न करते हुये भी यह कहा जा सकता है कि गांधी की अर्थनीति एव उसके भी मूल स्रोत गांधी–दर्शन का प्रभाव है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य मे विशेष मानव की जगह सामान्य मानव की प्रतिष्ठा हो गई है उसका स्वरूप भी गांधीवादी ही है। इस प्रवृत्ति के प्रतीक के रूप मे प्रेमचन्द का होरी और सूरदास है। प्रसाद की 'गुण्डा' कहानी का नायक हृदय परिवर्तन के सिद्धात की सच्चाई सिद्ध करता है। गाधी जी के आर्थिक सिद्धान्तो के परिणाम-स्वरूप हमको नये–नये आदर्श वाक्य एव सूक्तियाँ मिल रही हैं, जैसे मेहनत सेवा राम की, मेहनत वशी श्याम की।' सिद्धान्त–प्रधान ऐसा साहित्य अधिक नहीं हैं क्योकि गाधी जी के ढग पर जीवन बिताने वाले एक तो शुद्ध साहित्यिक न रह कर प्राय राजनैतिक कार्यकर्ता बन जाते थे, गाधी की बू–बास आने मात्र से लेखक सरकार का कोप-भाजन बन जाता था, और भाव क्षेत्र मे पहुच कर गाधी के आर्थिक सिद्धान्त नीति धर्म, और दर्शन बन जाते हैं जिनका विवेचन आगे होना है।

अध्याय ५

शैक्षणिक पृष्ठभूमि

भारत की समृद्धतम शिक्षा—परम्परा—प्राचीन-काल मे शिक्षा का महत्व—काल-विभाजन—ब्राह्मण-शिक्षा-व्यवस्था—बौद्ध शिक्षा-व्यवस्था—मुसलमानी शिक्षा-व्यवस्था—अँग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ—शिक्षा—अनावश्यक पढाई और देहात—शिक्षा के लिए देहात शहर का मुखापेक्षी—*शिक्षा की प्रगति*—राष्ट्रीयता और शिक्षा—भारत मे शिक्षा—दूषित शिक्षा का परिणाम—सच्ची शिक्षा के प्रयत्न भी असफल—दूषित शिक्षा, दूषित दृष्टिकोण, महाअनर्थ—हिन्दी और हिन्दी वालों का अद्वितीय महत्व—गान्धी और शिक्षा—अंगरेजी अथवा सस्कृत-हिन्दी—क्या हिन्दी अंगरेजी की मुखापेक्षी है—आधुनिक शिक्षा—व्यवस्था और हिन्दी साहित्य ।

शैक्षणिक पृष्ठभूमि

भारत की समृद्धतम शिक्षा परम्परा—

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि किसी देश का भविष्य उस देश की शिक्षा के स्वरूप और उसकी प्रगति पर आधारित होता है। हमारी आशाओ और आकांक्षाओं, स्वप्नो और कल्पनाओ को मूर्त रूप तभी दिया जा सकता है जब हमारी नई पीढी के लिये अनुरूप अनुकूल, सच्ची वास्तविक तथा उपयोगी और उचित शिक्षा की व्यवस्था सम्भव हो जाय। इस प्रकार की शिक्षा की कल्पना और आयोजना करने मे भारत कभी भी अक्षम एव असमर्थ नही रहा। शताब्दियो की निर्मम पराधीनता ने कल्पना के पख तोड दिये हैं, भावनाओ को अशक्त कर दिया है, उद्भावना—शक्ति को अपगु कर दिया है और मौलिकता विमूर्छित है। आज हम सोच भी नहीं पाते कि यदि अग्रेजो के द्वारा प्रचारित शिक्षा व्यवस्था को छोड दें तो कैसे छोड दें। हम सोचते हैं कि यदि ऐसा हुआ तो हम असभ्य, पतित, मूर्ख-गँवार और पिछड हुए रह जायेंगे। आज के भारत के किसी 'बडे आदमी' को यह विश्वास दिला सकना एक टेढी खीर है, यद्यपि है यह सत्य, कि इस तथाकथित समर्थ शिक्षा-पद्धति को पाकर हम जितने सभ्य, महान् और उन्नत हो सके हैं उससे कही अधिक श्रेष्ठ, उन्नत एव महान् हम तब थे जब इस शिक्षा पद्धति का जन्म ही नही हुआ था। जिस देश ने बाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे कवि पुगव, गीता, उपनिषद् वेद जैसे ग्रन्थो के महानतम प्रणेता, पाणिनि जैसा ससार का सवश्रेष्ठ वैयाकरण, राम कृष्ण जैसे महामानव, आदि पैदा किये हैं उस देश मे कोई असाधारण रूप से श्रेष्ठ शिक्षा व्यवस्था न रही हो, यह कैसे सम्भव है! अरकाट लक्षण स्वामी मुदालियर ने बिलकुल सही कहा है, "भारतवर्ष शैक्षणिक प्रगति की समृद्धतम परम्पराओ वाला देश है। यहाँ की शिक्षा का इतिहास उन युगों से प्रारम्भ होता है जब आज के तथा-कथित अनेक आधुनिक एव उन्नत देश अभी मूढताओ और अज्ञानताओ से पूर्ण अन्ध युगो की आदिम स्थितियो को ही पार कर रहे थे और जब इन देशो मे से कुछ के सभ्य नागरिक अभी वृक्षों की डालियो से तनों तक कूद फाँद ही मचाया करते थे।[1]

प्राचीनकाल मे शिक्षा का महत्व—

शिक्षा मनुष्य को ज्ञान और सामर्थ्य देती है। शिक्षा न मिले तो हम न तो विद्या प्राप्त कर सकते हैं, न ज्ञान ही। भारतीय सस्कृति मे इन दोनों को बहुत ही

---

१ 'एजूकेशन इन इण्डिया' पृ० ४

महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विद्या हमको मुक्ति प्रदान कराने वाली होती है। कहा गया है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मी तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्ति
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥[1]

विद्या विहीन को तो हमारे यहाँ पशु माना गया है। हमारे देश की परम्परा ज्ञान के समान श्रेष्ठ आँख और कोई मानती ही नही और कहती है—

ज्ञान तृतीय मनुजस्य नेत्र
समस्ततत्त्वार्थ विलोकदक्षम्।
तेजोऽनपेक्ष विगतान्तराय
प्रवृत्तिमत्सर्व जगत्त्रयेपि॥[2]

ससार के विभिन्न कार्यों को सही ढङ्ग से समझने और उचित ढङ्ग से सपादित करने के लिये समुचित और यथायोग्य अन्तर्दृष्टि हमे ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती है। सच्ची शिक्षा से भ्रम का निवारण हो जाता है, अज्ञानता का अन्धकार हट जाता है, कठिनाइयाँ रास्ते से हट जाती हैं, मनुष्य जीवन का वास्तविक महत्त्व समझने लगता है और इस प्रकार वह एक आदरणीय तथा आत्मनिर्भर नागरिक बन जाता है। ए. एस. अल्तेकर के शब्दों मे कहे तो "एक शब्द मे यह कहा जा सकता है कि शिक्षा हमारी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियो और सामर्थ्यों के सतुलित और उत्तरोत्तर विकास का प्रवर्तन करते हुए हमारी प्रकृति की कायापलट करके उसे उदात्त एव प्रोज्ज्वल कर देती है।"[3]

काल-विभाजन—

आजकल बौद्धिक क्षमताओ और सभावनाओ के विकास मात्र को ही शिक्षा समझा जाने लगा है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय शिक्षा के तीन युग सामने आते हैं—प्राचीन, मध्ययुगीन, और आधुनिक। ए एस अल्तेकर ने भारत की प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था का अध्ययन उसे चार भागो मे विभाजित करके किया है[4]:—

१ "सुभाषित रत्नभण्डार" पृ० ३०, भाग २
२ "सुभाषित रत्नसन्दोह" पृ० १६४
३ "एजूकेशन इन ऐंशियेन्ट इण्डिया" पृ० २६८
४. वही, पृ० २५६–२६०

(१) वैदिक युग प्रारम्भ से लेकर १००० ई० पू० तक
(२) उपनिषत-सूत्र-महाकाव्य काल १००० ई० पू० से २००० ई० पू० तक
(३) धर्मशास्त्र काल या
शुङ्ग सातवाहन वाकाटक-गुप्त काल २०० ई० पू० से ५०० ई० तक
(४) पुराण और निबन्ध काल —५०० ई० से १२०० ई० तक

इसी अन्तिम युग मे बौद्ध शिक्षा व्यवस्था भी आती है। मध्ययुग मे मुसलमानी शिक्षा व्यवस्था प्रचलित हुई और आधुनिक युग मे अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था। कोई भी शिक्षा-व्यवस्था एक युग में प्रचलित होकर बाद में दूसरा युग आने पर पूर्णत नष्ट नहीं हुई। उसका स्वरूप और महत्व अवश्य परिवर्तित हो गया।

ब्राह्मण शिक्षा-व्यवस्था—

व्यक्ति और समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप ही प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था का विकास हुआ था। ए एस अल्तेकर के कथनानुसार ईश्वर भक्ति तथा धार्मिकता की भावना चरित्र निर्माण व्यक्तित्व का विकास नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन सामाजिक कुशलता (सोशल एफीशियेन्सी) की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार प्राचीन भारत में शिक्षा के मुख्य उद्देश्य एवं आदर्श थे।[१] यह ठीक है कि शिक्षा आजीविका की समस्या को हल करने में भी समर्थ है किन्तु प्राचीन भारत मे शिक्षा को जीविका का साधन नहीं माना गया और जिन्होंने ऐसा मत व्यक्त किया उनकी घोर निन्दा की गई।[२] अस्तु महान् लक्ष्य को सामने रख कर भारतीय मनीषियों ने भारत मे शिक्षा का प्रारम्भ किया था। हमारे यहाँ शिक्षा की भूमिका यो तो गर्भाधान की रात्रि के पूर्व से ही बनती प्रारम्भ हो जाती थी किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय शिक्षा-सत्र को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है —माता के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार, पिता के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार तथा आचार्य के प्रभाव से होने वाली शिक्षा और संस्कार। आजकल इस अन्तिम को ही शिक्षा की संज्ञा दी गई है। आगे इसी प्रकार की शिक्षा के स्वरूप पर दृष्टिपात किया जायगा।

एफ ई की ने लिखा है भाषा का शास्त्रीय ज्ञान और स्तोत्र पिता के द्वारा पुत्र को प्रदान किया जाता था और इसमे कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मण युग की शिक्षा का प्रारम्भ इसी से होता है।'[३] शुरू शुरू मे शिक्षा केवल ब्राह्मण-पुरोहित वर्गों के

१ एजूकेशन इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया पृ० ८–६
२ 'भारत मे शिक्षा' लेखक-बी पी जौहरी और पी डी पाठक, पृ० १०
३ 'ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान' पृ० २–३

हो लिये थी। इसीलिये उस आदि युग की पाठशाला को "पुरोहित शाला" की संज्ञा दी जा सकती है। पुरोहित का कार्य करने के लिये ब्राह्मणों के छोटे-छोटे बच्चों को शिक्षा दी जाती थी। बाद में अर्थात् ५०० ई० के आस-पास से क्षत्रिय और वैश्य भी पढ़ने लगे। उपनयन संस्कार के बाद बालक की शिक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। ब्राह्मण बालक की शिक्षा पाँचवें वर्ष से, क्षत्रिय बालक की शिक्षा छठवें वर्ष से, और वैश्य-बालक की शिक्षा आठवें वर्ष से प्रारम्भ होती थी। नये छात्र का जीवन कठोर संयम, अनुशासन और अथक परिश्रम का जीवन होता था। छात्र गुरु के आश्रम में रहता था और गुरु के घर और खेत का काम किया करता था। वह गुरु के अग्निहोत्र का सारा प्रबन्ध किया करता था। पशु-चारण और भिक्षाटन भी इसी का दायित्व था। गुरु का देवता और धर्म-पिता की तरह आदर किया जाता था। छात्र गुरु की आज्ञाओं की सदा प्रतीक्षा किया करता था। योग्य और प्रख्यात गुरु की खोज में शिष्य बहुत दूर दूर तक जाया करते थे और मिल जाने पर हर प्रकार उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। गुरु की सेवा से जब अवकाश मिलता था तब वेदाध्ययन होता था। शिष्य केवल दो बार भोजन करता था। उसका भोजन पूर्णरूपेण सात्विक होता था। अति भोजन उसके लिये वर्जित था। हाथ में दण्ड होता था और कमर में मूँज की मेखला। वस्त्र साधारण होते थे और वे सिले हुए नहीं होते थे। अलंकार और प्रसाधन उनके लिये पूर्णतः वर्जित थे। उन्हें सादी आदतों की शिक्षा दी जाती थी। कहा गया है— 'विद्यार्थी भवेत् वा सुखार्थी भवेत्' अथवा 'सुखार्थिन कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्'। इसीलिये दैनिक स्नान, तपस्वियों-जैसा जीवन, दिन में न सोना, अपने स्वभाव पर नियन्त्रण, आचरण मर्यादा पर अनुशासन का संयम, संध्या-वन्दन और हवन तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन उनके जीवन का स्वरूप था। शिक्षा की अवधि एक वर्ष में साढ़े चार या पाँच महीनों तक की होती थी, अर्थात् वर्षा ऋतु और जाड़े की ऋतु में अध्ययन-अध्यापन होता था। एक वेद में पारंगत होने के लिये लगभग बारह वर्षों का समय लगता था और इस प्रकार चारों वेदों के अध्ययन में अड़तालीस वर्ष लग जाते थे। सभी छात्र चारों वेद नहीं पढ़ते थे। साहित्य तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन दस वर्षों में समाप्त हो जाता था। गुरु ब्रह्मनिष्ठ हुआ करते थे। अपराधी छात्रों को कठोरतम दण्ड मिलता था। शिक्षा निःशुल्क होती थी। शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था और इस समय शिष्य को गुरु की इच्छा के अनुरूप गुरु-दक्षिणा चुकानी होती थी। ए० एस० अल्तेकर ने लिखा है कि भारतीय शिक्षा प्रणाली में किसी भी प्रकार की वार्षिक या नियत कालिक परीक्षा का कार्यक्रम नहीं था। नया पाठ तब

दिया जाता था जब आचार्य सन्तुष्ट हो जाता था कि शिष्य ने पुराने पाठ को पूर्णरूपेण हृदयगम कर लिया है। शिक्षावधि की समाप्ति किसी बडी, लम्बी या विस्तृत परीक्षाओं के परिणामस्वरूप नही होती थी। छात्र को केवल अन्तिम पाठ सुना देना होता था और उसकी व्याख्या भी करनी होती थी। न किसी प्रकार की डिगरी दी जाती थी न डिप्लोमा।'[1] शिक्षा प्रणाली व्यक्ति-प्रधान थी। पहले गुरु प्रत्येक शिष्य को अलग-अलग पढाता था। कभी-कभी सामूहिक रूप से भी पढा दिया जाता था। कुछ आर्य-ग्रन्थों को रटना भी पडता था। शिक्षा वाह्य नियन्त्रणों से पूर्णत मुक्त थी। स्त्री शिक्षा का भी विधान था। व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। दीक्षा और प्राय शिक्षा भी कार्यशाला (वर्कशाप) मे ही होती थी। इस क्षेत्र मे अध्ययन के विषय का निर्णय प्राय पितृ परम्परा के अनुसार होता था। यह सब समाज विशेष की देख-रेख मे होता था। अध्ययन का मुख्य स्थान था गुरुकुल। कभी-कभी परिषदो, सम्मेलनो और राजदरबारो मे भी जाकर लोग शिक्षा ग्रहण किया करते थे। अध्ययन के विषय थे —रेखा-गणित, बीज-गणित, सामान्य-गणित, फलित ज्योतिष, खगोल विद्या, शरीर विज्ञान, औषधि विज्ञान, व्याकरण, दर्शन, धर्म शास्त्र, विधि शास्त्र अर्थात् कानून, भूगोल, व्यापार, भाषा, युद्ध कला, अस्त्र-शस्त्र विज्ञान, राजनीति, वेद, इतिहास, पुराण, पौराणिक कथाएँ, उपनिषद्, नीतिशास्त्र, सर्प विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या, शास्त्र विद्या। इस शिक्षा व्यवस्था मे कुछ ऐसे ठोस एव शाश्वत महत्व के तत्व थे कि सहस्राब्दियो के बीत जाने के बाद आज भी वे किसी न किसी रूप मे भारत के अन्दर मिल ही जाते हैं। एफ ई की ने ठीक ही लिखा है, "प्रारम्भ से लेकर आज तक ब्राह्म शिक्षा पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ लगभग वे ही की वे ही रह गई।"[2]

बौद्ध-शिक्षा-व्यवस्था—

बौद्ध युग की शिक्षा-पद्धति आर्यों की शिक्षा-पद्धति से कुछ भिन्न थी। इस युग की शिक्षा का आधार वेदाध्ययन मात्र ही नहीं था। अध्यापक-गण प्राय ब्राह्मण या पुरोहित मात्र ही नही हुआ करते थे। यहाँ शिक्षा केवल तीन उच्च वर्णों के ही लिये न होकर सबके लिये थी। छात्रों का यह कर्तव्य था कि वह आचार्य अर्थात् शिक्षक की सेवा सभी प्रकार से करे। गुरु-सेवा, शिक्षा की प्रमुख विशेषता थी जिसके बदले मे आचार्य शिष्य को सभी प्रकार की बौद्धिक एव आध्यात्मिक शिक्षा देता था। गुरु मे ऐसा कर सकने की क्षमता होती थी क्योंकि गुरु या आचार्य वही हो सकता था, जिसके

---

1 १ "एजूकेशन इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया", पृ० २७३-२७४।

२ "ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान", पृ० १४।

अन्दर उच्चकोटि की नैतिकता, आत्मनिग्रह, बुद्धिमत्ता, योग्यता, निर्भीकता,-विनम्रता, धर्म भीरुता के साथ-साथ पाप से डर, अनाचारिता का अभाव, सुशिक्षण-सामर्थ्य, आदि विशेषताएँ हो। बुद्धसंघ मे दीक्षित होने पर प्रत्येक नवागतुक को एक आचार्य की देख-रेख और उसके नेतृत्व मे दस वर्षो तक रहना पडता था। प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् नवागन्तुक "श्रमण" हो जाता था। बीस वर्षो के पश्चात् उसे "उपसम्पदा" मिलती थी और तब वह "भिक्खु" कहलाता था। श्रमण को "सिद्धिविहारिका" भी कहा जाता था। इस युग की शिक्षा अधिकांशत बौद्ध भिक्खुओ और आचार्यों के ही हाथो मे थी। इस पर उनका एकाधिकार-सा था। एक आचार्य अनेक नवान्तुको को पढा सकता था। छात्र की प्रगति एव उसके कल्याण का दायित्व आचार्य के ऊपर होता था। इस युग की शिक्षा दो भागो मे विभक्त थी—सामान्य, और विशेष या उच्चतर। स्त्री शिक्षा का भी विधान था क्योंकि नारियो को भी प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति गौतम बुद्ध को देनी पडी थी। इन भिक्षुणियों के लिये पहले अलग पाठ-शालाएँ थी। बाद मे इनका स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया। इतने पर भी नारी-शिक्षा समाप्त नही होने पाई और बुद्ध युग मे अनेक सुशिक्षिता भिक्षुणियो के नाम मिलते है, जैसे—संघमित्रा, शुभा, अनुपमा, सुमेधा, प्रभुदेवी, सिलाभट्टारिका, विजय-नका, नयनिका, प्रभावती गुप्त, आदि। ये महिलाएँ बडे घरो की थी। सामान्यत नारी शिक्षा को बहुत अधिक प्रोत्साहन नही मिल सका। व्यावसायिक शिक्षा इस युग मे भी दी जाती रही। मेगास्थनीज को भारत के समाज मे दर्शन और विज्ञान के प्रति आदर और रुचि मिली थी।[1] तर्कशास्त्र और औषधि विज्ञान भी अध्ययन के महत्त्वपूर्ण विषय थे। बौद्ध धर्म और दर्शन का अध्ययन अध्यापन विशेष रूप से होता था। कताई, बुनाई, कपडे की छपाई, सिलाई, गणना चित्रकला, आयुर्वेद, शल्य, लिखाई, आदि का भी अध्यापन होता था। गुरुकुल प्रणाली की जगह इस युग मे शिक्षा की विहार-प्रणाली प्रचलित हुई। तक्षशिला, नालंदा, वलभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, नादिया, मिथिला, जगद्दाल, आदि इस युग मे शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थ।

मुसलमानी शिक्षा-व्यवस्था—

भारतीय शिक्षा के इन महत्त्वपूर्ण केन्द्रो को मुसलमान आक्रमणकारियो ने बुरी तरह से नष्ट किया। पुस्तकालयो मे लगाई गई आग महीनो तक नही बुझी। ११९२ ई० मे मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया और अजमेर के मन्दिरों को तोड कर उनकी जगह मस्जिदो और स्कूलो को बनवाकर भारत मे मुसलमानी

---

१. "एजूकेशन इन इण्डिया", लेखक अरकाट लक्ष्मणस्वामी मुदालियर पृ १०

शिक्षा-पद्धति का सूत्रपात किया। की ने भी मुहम्मद गोरी को ही भारत मे मुसलमानी शिक्षा प्रणाली का सस्थापक माना है।[1] भारतवष के मुसलमान शासको ने सामान्यत शिक्षा की ओर बहुत अधिक दिलचस्पी दिखलाई है। उनम से बहुतो ने अपने-अपने साम्राज्य के विभिन्न स्थानो मे शिक्षा-सस्थाओ और पुस्तकालयो की स्थापना कराई है। फरिश्ता के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के समय मे कला और विज्ञान के पैंतालीस विशेषज्ञ आचार्य (डाक्टर आफ आर्ट्स एण्ड साइसेज) थे जो उच्चकोटि के शिक्षा केन्द्रो मे अध्यापन का काय करते थे। सिकन्दर लोदी के राज्यकाल मे हिन्दू भी मुसलमानी शिक्षा पद्धति मे शिक्षित होने लगे।

ज्ञान का प्रकाश देना, इस्लाम धर्म का प्रचार, इस्लामी नैतिकता का प्रचार, इस्लामी सिद्धान्तो, कानूनो तथा सामाजिक प्रथाओ का प्रचार मुसलमानों को धर्मपरायण बनाना, सांसारिक ऐश्वर्य की प्राप्ति और मुसलमानी शासन को सुदृढ बनाना मुसलमानी शिक्षा का उद्देश्य था।

इस युग मे शिक्षा और साहित्य की गतिशीलता मस्जिदो और राजभवनो मे केन्द्रित थी। मुसलमानो की शिक्षा-सस्थाएँ 'मकतब" और 'मदरसा" सज्ञाओ से अभिहित थीं। "मकतब' एक प्रकार की प्रारम्भिक पाठशाला थी। 'मकतब" प्राय मस्जिदों से सम्बद्ध होते थे। इनका लक्ष्य था कुरान के उन भागों की शिक्षा देना जिन्हे सदैव याद रखना एक मुसलमान के लिये अनिवार्य माना गया है। इनकी आवश्यकता पूजा-पाठ या अन्य धार्मिक अनुष्ठानो के समय पडा करती हैं। धनी लोगो के बच्चा के लिये उनके अपने 'मकतब' हुआ करते थे मगर उस क्षेत्र विशेष के सामान्य लोगो के बच्चे सार्वजनिक 'मकतबो म ही पढने जाया करते थे। कभी-कभी खानकाहों और दरगाहो मे भी यह प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। इनमे मौलवी पढ़ाता था और दरगाह बनवाने वाले उसे नियुक्त किया करते थे। उसका पालन-पोषण प्राय चढावे से होता था। चार वर्ष, चार माह और चार दिन की आयु के बालक इनमे प्रवेश पाते थे। 'बिस्मिल्लाह" से शिक्षा का प्रारम्भ किया जाता था। लिखना, पढना, प्रारम्भिक गणित कुरान की कुछ आयतो को रट लेना, फारसी भाषा और व्याकरण, फारसी की कुछ कविताएँ, लिपि का ज्ञान, फातिहा, शुद्धतम उच्चारण, खालिकबारी, करीमा, मामकिमाह, गुलिस्तां, बोसतां, पैगम्बरो की कथाएँ, मुसलमानी फकीरों की कहानियाँ, यूसुफ जुलखा लैला मजनू, सिकन्दरनामा, बात चीत का ढग, पत्र-लेखन, अर्जीनबीसी, आदि पाठयक्रम था। शिक्षा नि शुल्क होती थी। अध्यापन का समय

१ "ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान', पृ० १०६

प्रात और अपराह्न था। सरकंडे की कलम और तख्ती से लिखने का काम होता था।

'मदरसा" मे उच्चतर और उच्चतम कक्षाओं की शिक्षा दी जाती थी। फीरोजशाह तुगलक के बनवाये हुए "मदरसो' मे शिक्षक और शिष्य साथ-साथ रहते थे। ऐसे "मदरसे" दिल्ली, लखनऊ, रामपुर और इलाहाबाद, आदि नगरों में थे। इनका शिक्षा-काल बारह वर्ष का होता था। इनमें लौकिक और धार्मिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। लौकिक शिक्षा में अरबी साहित्य, व्याकरण तथा गद्य, गणित, इतिहास, भूगोल, दर्शन, नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र अर्थशास्त्र, यूनानी चिकित्सा, ज्योतिष, कानून कृषि, आदि विषय थे। धार्मिक शिक्षा के लिये कुरान, मुहम्मद साहब की परम्परा, इस्लामी कानून, इस्लामी इतिहास पढ़ाया जाता था और कुरान का कण्ठस्थ कराया जाता था। व्यावसायिक शिक्षा काम शालाओं मे और राज्य शासन तथा युद्ध सम्बन्धी शिक्षा राजमहलो मे आयोजित होती थी। सैद्धान्तिक शिक्षा प्राय मौखिक होती थी। विद्वान लोग छात्रों के सामने भाषण दिया करते थे। स्वाध्याय वृत्ति को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया जाता था। चिकित्सा, हस्त-कला, शिल्प-कला, सङ्गीत-कला, आदि की शिक्षा प्रयोग प्रधान थी और धर्म, दर्शन, तर्कशास्त्र, राजनीति, आदि की तर्कप्रधान। शिक्षा का माध्यम प्राय अरबी था। उच्च कक्षाओं के योग्य छात्र निम्नकक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ा दिया करते थे। परीक्षाएँ नही होती थी। शिक्षकों के मतानुसार विद्यार्थी ऊँची कक्षा म पहुँचा दिया जाता था। अध्यापकों की नियुक्ति मे राज्य सरकारो का भी हाथ होता था। इनकी प्रबन्ध-समिति प्राय गैर-सरकारी होती थी। राज्य-सरकारें इन "मदरसो' को धन और जमीन दिया करती थीं। अपराधियों को कठोरतम दण्ड दिये जाते थे। गुरु शिष्य का सम्बन्ध बड़ा ही सुन्दर होता था। गुरु का बहुत आदर किया जाता था। पिछले युगों की तुलना मे इस युग के छात्रों के जीवन म सुख और सुविधाएँ अधिक थी। अद्वितीय प्रतिभा और गहनतम अध्ययन वालो को तमगे, सनदें, छात्र-वृत्तियाँ और बाद मे नौकरियाँ भी मिल जाती थी। दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के पारगत विद्वान् को 'फाजिल", धर्मशास्त्र के असाधारण विद्वान् को "आलिम , और साहित्य के अधिकारी विद्वान् को 'काबिल' की उपाधियाँ दी जाती थीं। कुछ विद्वान् अपने अपने घरो पर भी पढ़ाया करते थे। स्त्री शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था नही थी। राजकुमारियों और कुछ सामन्त गणों की कन्याओं के लिये व्यक्तिगत रूप से शिक्षा का प्रबन्ध कर दिया जाता था। शिक्षा की व्यापकता का अभाव था और प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा हो गई थी।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ—

यह सब चल ही रहा था कि अंग्रेज आ गये और वह देशी शिक्षा व्यवस्था जो युग के अनुकूल अपने में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके भारत की कल्याणकारिणी शिक्षा-पद्धति बन सकती थी, उपेक्षित हो गई। एडम, मुनरो, एलफिन्स्टन और लेटनर, आदि देशी शिक्षा के पुनरुत्थान के समर्थक थे परन्तु उनके प्रस्तावों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। पाश्चात्य मिशनरियों ने ईसाई-धर्म प्रचार के लिये आधुनिक शिक्षा का सूत्रपात कर दिया। १७९२ में विलबर फोर्स ने यह विचार प्रकट किया कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया जाना चाहिये। बाद मे राजाराम मोहन राय ने भी इसी मत का समर्थन किया। मैकाले तो इसके बड़े ही प्रबल समर्थक थे। १८०० मे 'फोर्ट विलियम कालेज" का शिलान्यास हुआ ताकि कम्पनी के तरुण कर्मचारियों को उचित शिक्षा दी जा सके। कूटनीति और फूटनीति के निष्पाद् साम्राज्यवादी शासकों ने एक ओर जगह-जगह अंग्रेजी स्कूल खोलना प्रारम्भ किया और दूसरी ओर हिन्दुओं और मुसलमानों को प्रसन्न रखने तथा उन्हें मिलने न देने के लिये "बनारस संस्कृत कालेज" के साथ साथ "कलकत्ता मदरसा" भी खोल दिया। १८५४ मे "सर चार्ल्स" वुड ने "भारत मे अंग्रेजी राज्य का मंगलावार्ता" उपस्थित किया क्योंकि १८१३ से १८३३ तक की अनिश्चयात्मक नीति को १८३५ मे आक्लैंड ने समाप्त कर दिया था और भारत मे वर्तमान अंग्रेजी शिक्षा की नीव डाल दी थी। यह एक रोचक संयोग की बात है कि १८५७ मे भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम विद्रोह हुआ था और उसी वर्ष भारतीय बुद्धि और चेतना को विकृत, अस्वस्थ, और निष्क्रिय करने वाली विश्व-विद्यालयीन शिक्षा का सूत्रपात हुआ अर्थात् कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्व-विद्यालय बने। १८८२ मे एक "एजूकेशन कमीशन" बैठा और १९०२ मे एक "यूनि-वर्सिटीज कमीशन"। लार्ड कर्जन ने अपने शासन-काल मे विश्वविद्यालयीन शिक्षा को एक सुव्यवस्थित रूप दे दिया था।

शिक्षा—

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे होते होते भारतवर्ष की न तो कोई अपनी राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति रह गई थी और न राष्ट्रीय शिक्षा का कोई स्वरूप ही सामने था। पुराने ढग के मुसलमान अपने बच्चों को मकतबो मे कुरान रटवाते थे और पुराने ढग के ब्राह्मण संस्कृत पाठशालाओं मे अपने बच्चों को 'सिद्धांत कौमुदी" रटवाते थे। इनका लक्ष्य था बच्चों को इस योग्य बना लेना कि वे श्रीमद्भागवद् अथवा सत्यनारा-यण जी की कथा बाँच सकें, संस्कार सम्पन्न करवा सकें और "पत्तरा" देख सकें। संस्कृत साहित्य के विधिवत एव व्यवस्थित अध्ययन का कोई भी प्रबन्ध नहीं था।

इधर-उधर बिखरे हुए विद्वान् दस-दस बारह-बारह विद्यार्थी लेकर अपने-अपने घरो पर उन्हे पढाते थे। यह कार्य कभी-कभी सन्यासी भी किया करते थे। सस्कृत पढने की इच्छा रखने वाले छात्रो अथवा उनके अभिभावको को ऐसे विद्वानो की प्राय खोज करनी पडती थी और व्यक्तिगत रूप से उनके घर पर जाकर पढना पडता था। किसी निश्चित व्यवस्था के अभाव मे ये विद्वान अपनी-अपनी रुचि, अपनी-अपनी सनक के अनुसार पढाया करते थे। ये नितान्त निराकांक्षी हुआ करते थे। प्रदर्शन से दूर भागते थे। इनकी ख्याति भी प्राय नही होती थी। बनारस, आदि धर्मस्थानों मे सस्कृत के अध्ययन की थोडी-बहुत व्यवस्था थी। कभी-कभी उदार प्रवृत्ति के लोग यहा के अध्यापको और इन पाठशालाओ को दान-दक्षिणा भी दे दिया करते थे। बनारस सस्कृत अध्ययन का केन्द्र था। इन अमन्य तपस्वी दधीचियो की हड्डियो पर तथा धार्मिक सास्कृतिक अनुष्ठानो के कारण ही सस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन लुप्त होने से बच गया और आज फिर उसके गौरव की अनुभूति हम करने लगे हैं।

अनावश्यक पढाई और देहात—

इसके अतिरिक्त देहात के निवासी को विशेष पढने-लिखने की आवश्यकता का अनुभव ही नही होने पाता था। पढाई नौकरी के लिए थी और देहात के आदमी को करवानी थी खेती। अधिकाशत तो लोगो ने अक्षरज्ञान भी नही प्राप्त किया। सदा अँगूठा लगाने को तैयार रहते थे। किसी-किसी गाव मे प्राइमरी स्कूल अवश्य थे जिनमे दो-दो तीन-तीन मील दूर से लडके पढने के लिए आया करते थे। ये लडके झुण्ड बनाकर आया करते थे। इन्ही लोअर प्राइमरी स्कूलो मे से अनेक के साथ-साथ अपर प्राइमरी स्कूल भी होते थे। कस्बो के प्राइमरी स्कूलो के छात्रो के लिए कहीं-कही छात्रावास भी होते थे। जो छात्र उनमे नही रह पाते थे वे धर्मशाले, ठाकुरद्वारे अथवा सम्बन्धियो के घर ठहर आया करते थे। नगे सिर स्कूल अर्थात् मदरसे जाना कायदे के खिलाफ था। जूता भी पहनना अनुचित था। बरसात मे बद्धीदार खडाऊँ चलती थी। साल मे दो-तीन महीने की पढाई होती थी। शेष समय गुरु-सेवा अथवा खेल-कूद मे जाता था। अथवा लोग उर्दू पढते थे। उन्हे पट्टी पर स्याही से लिखना पडता था। हिन्दी वाले अपनी पट्टी को कजली से पोतकर घुटने (बोतलो के नीचे का भाग) से रगड कर उसे चमकाकर घुली हुई खडिया मिट्टी से लिखते थे। कभी-कभी पडित जी चारपाई पर बैठ कर भी पढाते थे। पढाते-पढाते सो भी जाते थे। मुशी जी के जगने के पहले लडके हुक्का भरे तैयार रखते थे। पाठ न याद रहने पर या अशुद्धियो और भूलो पर विद्यार्थी के ऊपर छडिया बरसती थी। यह सामान्य प्रवृत्ति

थी। इसे न मास्टर बुरा मानता था, न संरक्षक, और न, आगे चल कर स्वयं छात्र ही। मिडिल स्कूलों के हेडमास्टर सातवें दर्जे के छात्रों को रात में भी पढ़ने के लिए स्कूल में बुलाते थे जहां उनकी देखभाल में छात्र रात-रात भर रहते थे। पढ़ाई का स्वरूप रटनात्मक था। मनोवैज्ञानिकता के लिए कोई भी गुंजाइश नहीं थी। इस कक्षा के विद्यार्थियों के लिए खेल-कूद एवं मनोरंजन सभी वर्जित थे। प्राइमरी स्कूलों, आदि की कुछ वार्षिक परीक्षाओं के लिए विद्यालय निरीक्षक, उपनिरीक्षक अथवा उनके भी अधीनस्थ निरीक्षक पहुँच जाया करते थे। पास (उत्तीर्ण) होने पर विद्यार्थियों को "हक्क" (अधिकार) देना होता था। हेडमास्टर का "हक्क" दो रुपये, देवता का "हक्क" पांच आने का "परसाद", और परिचितों तथा साथियों, आदि का "हक्क" पेडे या बतासे या लड्डू, आदि होता था। अपर प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मेधावी छात्र वजीफा पाने के लिए एक अतिरिक्त परीक्षा देते थे। अध्यापक गण बड़े ही निष्ठावान एवं "पंडित जी बड़े ही कर्मकाण्डी हुआ करते थे। प्रतिदिन स्नान, किसी का छुआ न खाना, पूजापाठ, आदि में किसी भी प्रकार का व्याघात असह्य था। इनका वेतन इतना कम होता था कि बिना "हक्क" अर्थात् भेंट लिये या खेती किये इनका जीवन-यापन हो भी नहीं सकता था। प्रायः गांव वाले मास्टर साहब, मुंशी जी, या पंडित जी के पास कुछ न कुछ भेजवाया ही करते थे। संभवतः यह प्रवृत्ति उन्हें उस प्राचीन हिन्दू-परम्परा से प्राप्त थी जिसके अनुसार गुरु के जीवन व्यापन की सुविधाएँ देते रहने का दायित्व पूर्णतः गृहस्थों पर ही था। लिखना, पढ़ना, गिनती, पहाड़ा, अंकगणित, हिन्दी, उर्दू, इतिहास, भूगोल, आदि सामान्य विषय थे। प्राइमरी स्तर पार करते-करते छात्र लिखना पढ़ना और हिसाब लगाना जानने लगता था। शेष विषयों की सामान्यतः जानकारी वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों में कराई जाती थी। देहात के तेज लड़के पढ़ने के लिए कस्बों में भेजे जाते थे। स्कूल और उसके आस-पास के क्षेत्र में हेडमास्टर का रौब बहुत रहता था। लड़के और मास्टर उनसे कांपते रहते थे और लड़कों के अभिभावक उनका अपार आदर किया करते थे। अंग्रेजी सरकार ने हमारे देहातों के लिए ऐसी अमनोवैज्ञानिक, अव्यवस्थित, उपेक्षापूर्ण, बुद्धि और शरीर के लिए हानिप्रद और जीवन के लिए अनुपयोगी शिक्षा की व्यवस्था की थी और वह भी पूर्णतः अपर्याप्त। १८२१ में हमारे देश के अन्दर १५५०१७ प्राइमरी स्कूल थे और ६१०६७५२ छात्र। १९३७ ई० में स्कूलों की संख्या १९२२२४ हो गई और छात्रों की १०२२४२८८। भारत के प्रायः ७० लाख गावों के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए, जिन पर इस देश की सुख-समृद्धि आधारित है, इस देश की सरकार के पास ऐसी शिक्षा-योजना थी ? कोई आश्चर्य नहीं कि १९३१ की जनगणना के अनुसार भारत के ८६ नगरों को छोड़ कर शेष भारत में केवल ७.५ प्रतिशत जनता पढ़ी-लिखी थी।

शिक्षा के लिये देहात और शहर का मुखापेक्षी—

देहात की शिक्षा यहीं तक पहुँचती थी। इसके आगे या इसके अतिरिक्त हमारी शिक्षापद्धति में देहात के लिये महामूल्य था। बहुत हुआ तो बालक किसी नार्मल स्कूल में भर्ती होकर इन्हीं प्राइमरी स्कूलों में फिर पढ़ाने आ जाता था। इसके आगे शहर का मुँह देखना पड़ता था। देहात की शिक्षा व्यवस्था रूपी जमुना, स्पेशल क्लास रूपी प्रयाग में आकर शहर की शिक्षा व्यवस्था रूपी मेकाले की जाह्नवी में समा जाती थी। लिखना, पढ़ना, और गणित की प्रारम्भिक जानकारी के पश्चात् बालक तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छटी, सातवीं, आठवीं, नवीं कक्षाएँ पास करता हुआ हाई स्कूल की परीक्षा पास करता था। तदुपरान्त इण्टर, बी० ए०, और एम० ए० की परीक्षाएँ होती थी। यह अन्तिम कक्षा थी। इसके पश्चात-प्राय बी० ए० के पश्चात् ही छात्र या तो एल-एल० बी० पास करके वकील-एडवोकेट- बनते थे, या सी०टी० अथवा एल० टी० करके अध्यापक। अधिकाधिक अंक प्राप्त करने वाले छात्र विश्वविद्यालयों के विभागीय अध्यक्ष की सेवा करके उन्हें प्रसन्न करने के पश्चात् विश्वविद्यालयों में पढ़ाने के लिये नौकरी पा जाते थे। कुछ खानदानी लोग या कुछ ऐसे लोग जो सिफारिशें करवा कर 'साहब' को खुश करवा सकते थे, प्रतियोगिताओं में बैठ कर कानूनगो, नायब-तहसीलदार, डिप्टी कलेक्टर, पुलिस अफसर, रेलवे अफसर, जराल के अफसर, या ऐसे ही कुछ बन जाते थे। समाज के अधिकतर प्रतिभावान् सदस्य अपना जीवन "किलरकी" (क्लर्क-कार्य) में बिताते थे। प्रतिभा पाने का फल अथवा "तरक्की" करने का तात्पर्य यही था कि अँगरेजी पढ़ कर सरकारी नौकरी पा ली जाय। डिप्टी कलक्टरी से बड़े ओहदे की सामान्यत कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। देहाती समाज के जो प्रतिभाशाली छात्र अपने खानदान को रौशन करना या धन्य बनाना चाहते थे उन्हें अँगरेजी पढ़ कर सरकारी नौकरी पा लेने वाली बहादुरी अवश्य दिखानी चाहिए थी। लोग बड़े गर्व से कहते थे कि हमारे लडके को जेल भेज देने तक का अख्तियार मिला हुआ है। वैसे, देहात वालों के लिये ब्रह्मा-विष्णु-महेश, तीनों, की शक्तियां एकमात्र "दरोगा" में ही निहित थी। वे इससे बड़े पद की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसके लिये यह आवश्यक था कि देहात का तेज लड़का प्रथम श्रेणी में वर्नाक्यूलर परीक्षा पास करके शहर जाय। वहा गैर सरकारी स्कूलों में प्रायः एक "स्पेशल क्लास" होता था जिसमे एक साल तक देहात से आए हुए ऐसे लड़कों को मात्र अँगरेजी रटाई जाती थी और रटा-रटा कर उन्हें इतना ज्ञान करा. दिया जाता था कि अगले साल वे सातवीं कक्षा में उन लडकों के बराबर बैठ सकें

भाग के ४६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि विश्वविद्यालयो की डिगरी। लोगो की आकांक्षाओं का केन्द्र थी, सरकारी नौकरियो की विशेष योग्यता का पासपोर्ट थी और विद्वत्ता-सम्बन्धी व्यवसायों की योग्यता का प्रमाणपत्र थी। १६०२ ई० मे इण्डियन यूनीवर्सिटीज कमीशन ने लिखा था कि भारत मे विश्वविद्यालयीन शिक्षा का सबसे बडा दोष यह है कि यहा अध्यापन एव प्रशिक्षण परीक्षाओ का दास है, न कि परीक्षा अध्यापन एव प्रशिक्षण की दासी। विद्यार्थी "रट्टू मशीन" हो रहे हैं और शिक्षा की कसौटी हो रही है मात्र स्मरणशक्ति। महादेव गोविन्द रानाडे के प्रयत्नो के परिणामस्वरूप १६०१ ई० मे पहली बार बम्बई विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा मे आधुनिक भारतीय भाषाएँ भी सम्मिलित की गई। एस० एन० मुकर्जी ने लिखा है कि १६०१ ई० की जनगणना के अनुसार प्रत्येक १००००० नारियों मे १० हिन्दूनारिया और ४ मुसलमान नारिया अंग्रेजी जानती थी। उस वर्ष पूरे भारतवर्ष मे प्रति १००० पर ४६ व्यक्ति पढना-लिखना जानते थे।[1] इस बीसवी शती मे शिक्षा के विकास की प्रगति का कुछ अनुमान इन आकडो को देखकर किया जा सकता है कि प्रति एक हजार व्यक्ति पर १६०१ मे ४६, १६२१ मे ७१, १६३१ मे ८०, १६४१ मे १२१ और १६५१ मे १६६ व्यक्ति पढना-लिखना सीख सके थे। ५० वर्षों मे सरकार के अकथनीय सद्प्रयासो के परिणामस्वरूप प्रति सहस्त्र कुल १२० लोग अधिक पढ़े। सरकार की कितनी गौरवपूर्ण उपलब्धि है! वास्तविकता से अनभिज्ञ व्यक्ति यह कहे बिना रह ही कैसे सकता है कि भारतीय बडा ही मूर्ख और काहिल होता है!! हटर कमीशन ने ईसाई धर्म और अंग्रेजी शिक्षा दोनो को दो अलग-अलग तत्व घोषित करके बडा अच्छा काम किया था। कुछ भी हो, किन्तु १६०४ के भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम ने अपनी सीमाओ के बावजूद भी भारतीय शिक्षा के हर क्षेत्र मे सुधार किये। व्यापक दृष्टि से देखने पर यह प्रयास, एस० एन० मुकर्जी के शब्दो मे, "अनमना प्रयास" था। इसने एक व्यवस्था स्थापित कर दी। इसी बीच लार्ड कर्जन ने "एंशिएन्ट मान्यूमेन्ट प्रीजरवेशन" अधिनियम पारित करवाया और इस कार्य के लिए एक विभाग खोला। इस विभाग के कार्यों ने आगे चलकर प्राचीन भारतीय गौरव की भावना को सजीव एव सबल बनाने मे सहायता दी। इससे आधुनिक हिन्दी साहित्य के सांस्कृतिक स्वरूप को निर्धारित करने मे बडी मदद मिली। लार्ड कर्जन के काम तो अच्छे थे किन्तु उसका उद्देश्य अच्छा नही था। वह शिक्षा को सरकारी अफसरो के आधीन, राष्ट्रीयता की विनाशक, प्रगति-विरोधिनी और जनता की आजादी की भावना को खतम करने वाली बनाना चाहता था।

१—वही, पृ० १७७–१७८

नात्मक शत्रुता-प्रधान एवं आक्रोशात्मक दृष्टिकोण ने शिक्षा के क्षेत्र मे क्रांति का आह्वान किया। दूरदर्शी आर्य समाज ने पहले से ही इस आवश्यकता का अनुमान कर लिया था और डी० ए० वी० कालेजो तथा गुरुकुलो की स्थापना प्रारम्भ हो गई थी। गुरुकुल कागडी की स्थापना १६०० ई० मे ही हो गई थी। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने लिखा है कि इन सबकी मूल भावना तो यह थी कि शिक्षा-क्रम को अधिक भारतीय बनाया जाय।[1] आर्य समाज, टैगोर, गाधी, ईसाईयत, इस्लाम तथा इगलैण्ड, आदि का हमारी शिक्षा से घनिष्ठतम सबन्ध था। हम थोडे-बहुत सबसे प्रभावित हुए। राष्ट्रीय शिक्षा सस्थाओं मे पाठयक्रम प्रायः अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था का ही रहता था। शिक्षा का माध्यम अंगरेजी की जगह हिन्दी या उर्दू कर दिया जाता था। बेसिक शिक्षा का भी गाधी जी ने प्रयोग किया ओर उसे अखिल भारतीय स्तर पर चलाया गया। १६२१ मे १६३७ के बीच शिक्षा के क्षेत्र मे अनेक प्रयोग हुए। आर्य समाज के गुरुकुल, टैगोर की "विश्व भारती," कर्वे का महिला विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, जामिया मिल्लिया; आदि इसके प्रमाण हैं।

भारत मे शिक्षा—

भारतवर्ष मे जनता की निजी सस्थाओ ने आरम्भिक तथा उच्चकोटि की ओर कला कौशल-सबन्धी शिक्षाओं के लिये बडा उद्योग किया है और कर रही है। १६५०–५१ मे भारत मे कुल २८०, २१७ शिक्षा सस्थाएं थी जिनमे पढने वालो की सख्या २५, २५६, ३३६ अर्थात् समस्त जन-सख्या का ५ प्रतिशत थी। १६४८–४६ मे इगलैण्ड मे प्रति व्यक्ति शिक्षा-व्यय ७४ ५ रुपये, अमेरिका मे १६४५–४६ मे, ६७.३ रुपये, और भारत मे १६४८–४६ मे कुल २.३ रुपये था। लाला लाजपत राय ने लिखा है, "समस्त भारत म बंटी योरोपियन जनसख्या पर जो २ लाख से भी कम है, यह प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति २५ रुपया से भी अधिक पडता है। अब इसकी तुलना प्रति भारतीय की शिक्षा के लिये व्यय की गई तुच्छ चवन्नी से कीजिए। कोई राष्ट्रीय शासन कभी शिक्षा को इतनी तुच्छ वस्तु समझ सकता है जितना कि वर्तमान सरकार भारत के लिये समझ रही है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।"[2] १६०१ मे १० वर्षों से ऊपर की आयु के ११.५ प्रतिशत पुरुष, ०.७ प्रतिशत महिलाएं, १६११ मे १२.६ प्रतिशत पुरुष और १.१ प्रतिशत

---

१ "भारतीय संस्कृति का प्रवाह", पृ० १६५।

१. "दुखी भारत", पृ० ६३।

महिलाएं, १९२१ में १४.२ प्रतिशत पुरुष और १.६ प्रतिशत महिलाएं, १९३१ में १५.४ प्रतिशत पुरुष और २.४ प्रतिशत महिलाएं, १९४१ में २७.४ प्रतिशत पुरुष और ६.६ महिलाएं और १९५१ में २४.६ प्रतिशत पुरुष और ७.६ प्रतिशत महिलाएं साक्षर थीं। भारत में कुल मिलाकर १९२१ में २२, ६२३, ६५१, १९३१ में २३४.४२००, १९४१ में ४७३२२७०० और १९५१ में ६०, ०००, ००० व्यक्ति साक्षर थे। १९२१–२२ से लेकर १९३६–३७ के बीच हमारे देश में विश्वविद्यालय १० से १५, आर्ट्स कालेज १६५ से २७१, व्यावसायिक प्रशिक्षण विद्यालय ६४ से ७५ और माध्यमिक विद्यालय ७५३० से १३ ०५६ हो गये। १९३६–३७ में विश्वविद्यालयों में ९६६७ आर्ट्स कालेजों में ८६ २७३, व्यावसायिक दीक्षा विद्यालयों में २०६४५ और माध्यमिक स्कूलों में २२८७.०७२ छात्र थे। भारत में शिक्षा की इस दुर्व्यवस्था को देखकर दुख अवश्य होता है किन्तु आश्चर्य बिल्कुल नहीं होता। परिस्थितियों की चक्की के दो भयानक पाटों के बीच हम विवश होकर पिसे जा रहे थे। अंगरेजी द्वारा चलाई गई शिक्षा भयानक दोषों से भरी हुई थी और राष्ट्रीय व्यक्तियों द्वारा चलाई गई शिक्षा ग्रहण करके न हम अच्छी नौकरी पा सकते थे और न अच्छी कमाई कर सकते थे। अंगरेजी कम से कम इतनी आशा तो दिलाती ही थी कि 'पढ़ोगे लिखोगे तो होगे नवाब, खेलोगे कूदोगे तो होगे खराब।'[1]

दूषित शिक्षा का परिणाम—

इस अंग्रेजी शिक्षा में अनेक दोष हैं। सीमित विकास, अराष्ट्रीय दृष्टिकोण, भारत की जनता के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थता, खर्चीलापन, *अंग्रेजों और अंगरेजियत की गुलामी*, स्वभाव में आडंबर प्रियता और रोब डालने की इच्छा पैदा कर देना इसकी प्रकृति है। नैतिकता और धार्मिकता से इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं। प्रारम्भ में इस शिक्षापद्धति का लक्ष्य था हिन्दुओं को ईसाइयत की ओर ले जाना, अंगरेजों को प्रशासनिक कार्यों में सहायता देने वाले हिन्दुस्तानी 'जी हुजूरों' को पैदा करना आर्थिक क्षेत्र में अंगरेजी जानने वाले क्लर्क, मैनेजर और एजेन्ट पैदा करना, भारतीयों को अपने ढंग से 'सभ्य' बनाना भारतीयों के अन्दर अंगरेजों से सम्बन्धित होने की भावना उत्पन्न करना, और अंगरेज राज्य के अनुकूल भावना वाले वर्ग की उत्पत्ति और वृद्धि। इस शिक्षा का सब प्रथम परिणाम यह हुआ था कि कुछ भारतीय अपनी संस्कृति और सभ्यता, आदि से घृणा करने लगे थे। ये लोग स्वयं हिन्दी संस्कृत लिखने-पढ़ने को गँवारपन–भयानक भूल एवं अक्षम्य अपराध तो समझते ही थे, हिन्दी लिखने-पढ़ने वालों को तीन चार पीढ़ियों तक इनकी क्रूरतम उपेक्षा भुगतनी पड़ी है। पुजारी को मारने–मार डालने–का जो पाप होता है उससे

१—एक प्रचलित उक्ति।

भी भयानक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पाप के ये भागी हैं। दुख बात है कि इनकी अपनी सन्तानों का सफाया आज भी पूर्णत नहीं हो पाया है। अस्तु, एक प्रकार से मानसिक और सांस्कृतिक अराजकता पैदा हो गई। नये और पुराने लोगों के बीच एक खाई खुद गई। शिक्षित भारतीय और सामान्य जनता के बीच भेद भाव की एक बहुत बडी दुर्लंघ्य दीवाल खडी हो गई। अंगरेजी इतिहास और शास्त्र की प्रशंसा करने वाली तथा भारत को गलत ढंग से पेश करने वाली थी यह शिक्षा। किसी भी डिगरी कालेज, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, या विश्वविद्यालय म इस शिक्षा में विभूषित ऐसे विद्वान् मिल जायगे जो कहेंगे "जीवन का अनिवार्य तत्व संघर्ष है," विकास प्रतियोगिता से ही सभव है," "अंगरेजी न होती तो भारत में राष्ट्रीयता का प्रचार न होता, "भारतीय सुस्त और आलसी होता है" 'प्राचीन भारत ने केवल ईश्वर-धर्म, आदि पर ही विचार किया है", 'भारतीय रूढ़िवादी होता है, आदि। एक बार एक प्रोफेसर साहब कह रहे थे कि भारतीय समाज मेहनत करना नहीं चाहता, सुस्त और आलसी होता है तथा जो हिन्दुस्तानी इंगलैण्ड गये वे असाधारण रूप से राष्ट्रीय होकर लौटे।' इस अंगरेजी शिक्षा ने हमारा मस्तिष्क इतना विकृत कर दिया है कि हम सही ढंग से सोच भी नहीं पाते। गनीमत यही थी कि अंगरेजी भाषा और साहित्य तथा यौरोप के नवीनतम विचारों का अध्ययन मुट्ठी भर लोगों तक ही सीमित रह गया, अन्यथा यह शिक्षा हमें कहीं का न रखती। इसी के परिणामस्वरूप शताधिक वर्षों तक हमारी शिक्षा अंगरेजी योजनाओं की नकल मात्र होकर रही। इस दासतापूर्ण अनुकरण का ही यह परिणाम है कि हम अपने ज्ञान का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिये नहीं कर पाते। हम बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व हैं। जितनी परिपक्वता है भी वह इस शिक्षा की देन नहीं है। टी०एन० सिक्वेरा ने कहा है कि पढे लिखे भारतीयों का मस्तिष्क "सैकेण्ड हैंड विचारों से भरा रहता है। यह शिक्षा हमारे तरुणों को दास मनोवृत्ति का बना देती है। व अफसरों को खुश रखो" (प्लीज दि बास मेन्टैलिटी") वाली नीति के अनुयायी हो जाते हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "हमारी यूनिवर्सिटी में ही ताकत की यह भावना फैली हुई है और व्यवस्था रखने के बहाने वह उन सबको कुचल डालती है जो चुपचाप उसके हुक्म नहीं मान लेते। वे ताकतें उन गुणों को पसन्द नहीं करती जिन्हें आजाद मुल्कों में प्रोत्साहन दिया जाता है।"[1] आज की शिक्षा के वास्तविक वातावरण से दूर, सिनेमा, चाट और पान-सिगरेट वाली दूकानों के पास, शहर के बीच, गंदे वातावरण से घिरी हुई जगह में,

१. 'हिन्दुस्तान की कहानी', पृ० ८३।

दी जाती है। "रटो" आज की शिक्षा का स्वरूप है, "यदि रखो" लक्ष्य; और "अच्छी श्रेणी प्राप्त करो" उसका अन्तिम उद्देश्य है। टैगोर ने लिखा है, "आज का शिक्षक एक व्यापारी है, शिक्षा बेचता है, ग्राहक की खोज में है' और बेचने वाले के पास जो सामान है उसकी सूची में स्नेह, आदर, निष्ठा, अनुराग या प्रेमी किसी अन्य भावना का उल्लेख भी न मिलेगा। अपनी चीजों को बेच चुकने और वेतन के रूप में दाम पा जाने के बाद उसे अपने छात्रों के साथ और कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता।"[१] अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि इस शिक्षा के परिणामस्वरूप हमारा किसी भी चीज पर समुचित अधिकार नहीं हो पाता, हम किसी भी चीज को ठीक से निर्मित करके खड़ा नहीं कर सकते, हम किसी भी चीज को नीचे से ऊपर तक बना भी नहीं सकते''''''' "इसका हमारे जीवन से कोई भी सबंध नहीं ''''''" (यह) आनन्द विहीन शिक्षा (है)–।[२] पण्ढरी नाथ प्रभु ने लिखा है[३] कि समानता की भावना की दृष्टि से आज की शिक्षा-पद्धति की बड़ी विचित्र स्थिति है। जहां इसकी सबसे अधिक आवश्यकता है वहां इसका पूर्ण अभाव है, और जहां यह बिल्कुल ही नहीं होनी चाहिए वहां आश्चर्यजनक रूप से पाई जाती है। भौतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से छात्रों को समानता के वातावरण में रखना चाहिए। इससे छात्र मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों से पीड़ित होने से बच जायगे। इस क्षेत्र में समानता का पूर्ण अभाव है। कोई रेशम पहनता है तो कोई फटा गमछा, कोई मक्खन-सा मुलायम जूता पहनता है तो कोई नगे पाव, कोई पतलून टाई पहनता है तो कोई धोती कमीज, कोई पार्कर से घसीटता है तो कोई एम०ए०के लेक्चर नोट्स भी पेंसिल से लिखता है, कोई चिकने कागज पर भी कार्टून बनाता है तो कोई आफिस से फेंके गये रद्दी कागजों पर नोट लिखता है, कोई धूल उड़ाता हुआ आता है तो कोई धूल फांकता हुआ। यहां समानता नहीं है। समानता वहां है जहां एक ही कमरे में भंगी, चमार, धोबी, सुनार, वकील, प्रोफेसर, मिल-मालिक, मजदूर, और राजा-तालुकदार, सब के लड़कों को एक साथ बिठाकर (शायद यह सोच कर कि सबके पास एक सी धारणा है, एक सी ग्राहिकाशक्ति, एक सी रुचि, एक सी आवश्यकता) एक ही पाठ्यक्रम पर ही अध्यापक से व्याख्यान दिलवाया जाता है। यह अवश्य है। यहां कारीगरी और व्यापार में रुचि रखने वाले छात्रों को भी शेक्सपियर की "कामेडी आफ् एरर" पढ़ाई जाती है। यहां भावी माता

१. "टूवड्स यूनिवर्सल मैन" पृ० ७८।

२ वही, पृ० ४०।

३ "हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन", पृ० ४०।

और भावी पिता को भी और वर्तमान माता और वर्तमान पिता को भी एक ही चीज पढ़ाई जा सकती है। परीक्षा–पद्धति भी अत्यन्त दोषपूर्ण है। सारी योग्यता रखता हुआ भी छात्र यदि उन प्रश्नों का उत्तर परीक्षक के दृष्टिकोण से ठीक नहीं लिखता तो अयोग्य है। वर्ष भर के अध्ययन पर पानी फिर जाय यदि परीक्षा के दिनों में कोई बीमार हो जाय। परीक्षण का कार्य नितान्त अवैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिकता से शून्य और आर्थिक व्यापार जैसा हो गया है। इसकी व्यावहारिक एवं प्रचलित बेईमानी से सभी परिचित हैं पर कोई बोलता नहीं। उसे और स्वीकृति मिल गई है। अच्छे से भी अच्छे अध्यापक का भी यह एक उद्देश्य रहता है कि वह विद्यार्थी को परीक्षा पास करा दे न कि यह कि वह विद्यार्थी को विषय की सच्ची और सही जानकारी दे और ठीक से समझाए। आधुनिक युग में बौद्धिक विकास एवं नैतिक उत्थान के पारस्परिक पृथक्करण के कारण शिक्षालयों का सामाजिक संस्थान वाला रूप नष्ट-भ्रष्ट हो गया है। जीवन का व्यावहारिक क्षेत्र नैतिकता के आचरण से वंचित हो गया है। खेल के क्षेत्र की ईमानदारी व्यापार में कहीं नहीं दिखाई पड़ती। स्कूल जीवन का समाज की व्यावहारिक व्यवस्था से कोई भी संबंध नहीं रह गया है। भारतीय छात्र का मन और दृष्टिकोण विषाक्त है। उच्चतम धारणाओं के लिये कोई भी संभावना नहीं। जीवन आडंबरपूर्ण है। उनमें झूठ भर गया है। जीवन के सभी क्षेत्रों में कूटनीति की प्रधानता हो गई है।

सच्ची शिक्षा के प्रयत्न भी असफल—

सच्ची शिक्षा को व्यवहार में उतारने के लिये जो प्रयत्न हुए भी वे परिस्थितियों के कारण सफल नहीं होने पाये। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "शासन के संरक्षण के अभाव में आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुल तथा काग्रेस आंदोलन की प्रेरणा द्वारा स्थापित विद्यापीठ अधिक सफल नहीं हो सके। महामना मालवीय जी द्वारा स्थापित हिन्दू विश्व-विद्यालय भी ऐंग्लो इंडियन संस्था हो बनकर रह गई।...... महात्मा गांधी की प्रेरणा से बेसिक शिक्षा संबंधी प्रयोग हुए.. ...।[1] अधिक सफल न होने पर भी इन शिक्षा-संस्थाओं ने राष्ट्र-हित का वातावरण पैदा करने और भारत को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योग दिया है। उदाहरणार्थ, गुरुकुल कांगड़ी के विषय में लिखते हुए आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है, "यह एक ऐसा विद्या मंदिर था जहां यूनिवर्सिटियों तथा पाश्चात्य शैली का सर्वथा त्याग किया गया था। वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का भारत में प्रचार करना इस विद्या मंदिर का मूल मंत्र था। यहां के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल-प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पढ़ता था। उनके लिए धार्मिक शिक्षा और अनुष्ठान भी अनिवार्य थे। यद्यपि उन्हें संस्कृत की शिक्षा दी

१. मध्यदेश-ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन", पृ १८६।

जाती थी पर उनकी शिक्षा का माध्यम हिन्दी था। ......जिज्ञासु मुंशी राम के इस सदुद्योग से लोगो के मन मे अपनी भाषा, अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए। यहा के स्नातक आगे चलकर प्रथम श्रेणी के मेधावी, निर्भीक लेखक सिद्ध हुए और उन्होंने हिन्दी साहित्य को विचार विज्ञान तथा प्रगति से ओत प्रोत कर दिया। जिज्ञासु मुंशीराम स्वय एक आचार्य लेखक, वक्ता और सम्पादक की हैसियत से हिन्दी के एक स्तम्भ रहे और उन्होंने आधुनिक हिन्दी को प्राण दान देने वाले मेधावी तरुणों का एक अटूट झरना ही खोल दिया।"[१] इसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी भाषा और साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी भाषा और साहित्य के जीवन मे रीढ की हड्डी का काम किया है।

दूषित शिक्षा, दूषित दृष्टिकोण महा अनर्थ—

चूँकि शिक्षा-पद्धति और उसकी पृष्ठभूमि मे व्याप्त जीवन दर्शन का स्वरूप भारत का सांस्कृतिक एवं जातीय नहीं था, इसलिये उसका परिणाम प्राचीन भारत से विपरीत होना ही था। इस दृष्टिकोण से सबसे पहली बात यह हुई कि ब्राह्मणो का बौद्धिक एवं शैक्षणिक एकाधिकार समाप्त हो गया जातिवाद पर आधारित सामाजिक छोटाई-बडाई की भावना पर भी इस शिक्षा पद्धति ने आघात किया। इस शिक्षा ने जीवन मे धन और नौकरी का महत्व बढा दिया और ज्ञानार्जन का महत्व बिलकुल समाप्त ही कर दिया है। सम्पूर्णानन्द जी कहते हैं "यह हमारी शिक्षा पद्धति का बडा दोष है कि वह ज्ञान पिपासा नही जगाती। लोग किसी प्रकार परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाते हैं, फिर पुस्तक मे हाथ नही लगाते। जगत के ज्ञान-भडार मे नित्य वृद्धि हो रही है परन्तु पढाई समाप्त करने के बाद हमारा स्नातक उसकी ओर आख उठाकर नही देखता।"[२] एक सीमित क्षेत्र मे उदार विचार वाले और उदार धारणाओ वाले बी० ए० पास भारतीयो का एक नया ही वर्ग भारतीय समाज मे पैदा हो गया जिसकी कुछ अपनी विशिष्टताएँ थी। एक नये ढग की व्यावसायिक गतिशीलता दिखाई पडी भले ही वह कितने ही सीमित वर्ग के अन्दर क्यो न हो। इसने हमारे दृष्टिकोण को बहुत कुछ उपयोगितावादी कर दिया। हम लोग यह अच्छी तरह समझ गये कि जिस काम से अपना कुछ फायदा न हो वह काम कभी भी न करना चाहिये। धन, पद और मान कमाने के साधन के रूप मे ही शिक्षा की उपयोगिता है। नौकरी के अतिरिक्त भी अध्ययन का और कोई उद्देश्य हो सकता है यह इस बीसवी सदी के पूर्वार्द्ध में हमारी समझ मे नही आता था और इसमे कोई सदेह नही कि प्रचलित

१ "हिन्दी साहित्य का परिचय", पृ १०८।

२ "कुछ स्मृतियां और कुछ विचार" पृ १८६।

शिक्षा व्यवस्था के प्रसग म यह धारणा नितान्त निर्मूल भी नही थी। कुछ विचारको का मत है कि इस शिक्षा से कुछ 'विशेष लाभ' हुए है!!! सबसे बडा लाभ तो यह हुआ कि हमने ढीला-ढाला और भद्दा कपडा पहनना छोड कर कोट-पतलून टाई पहनने का महत्व सीख लिया! दूसरा लाभ यह हुआ कि चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य जैसे उच्च कोटि के देशभक्त और विचारक व्यक्तियो की समझ म यह बात आ गई कि यदि भारत म अ गरेजी को राजभाषा के रूप म स्वीकार नही किया गया तो जिस हिन्दी न देश के दो टुकडे करवा दिये वह देश का टुकडो-टुकडो मे बाट देगी! इसी शिक्षा पद्धति के कारण और केवल इसी अ ँगरेजी के कारण ही रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक गाधी, नेहरू, सुभाष, आदि भारत के सपूतो के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना पैदा हुई!! हम यह भी समझ गये कि अ गरेजी शिक्षा न होती तो हम यह कभी न समझ पाते कि स्वतत्र इकाइयो वाले प्रदेशो से विनिर्मित होकर भी भारत मूलत, एक राष्ट्र है!! अ गरेजी शिक्षा न होती तो हम सारे भारत के लिये एक राज्य शासन, एक सविधान, एक-से कानून, एक-सी शिक्षा की कल्पना भी न कर पाते!! अ ँगरेजी के अभाव म हम सारे भारत को शिक्षित न कर पाते! पश्चिम के ज्ञान विज्ञान का अनत कोष अ गरेजी द्वारा प्रचलित शिक्षा-पद्धति के बिना हम सुलभ न हो सकता!! इसके बिना हम रेल, तार, डाकखाने, बैंक, मोटर, कपडे की मिलें, आदि न मिल सकती!! इसके बिना हम पश्चिम के युक्तवादी और जनतत्रात्मक विचारो से कैसे परिचित हो पाते!! जिस तरह से अ गरेजो ने हम पढाया लिखाया है उस तरह से यदि हम न पढते लिखते तो विश्व साहित्य के समृद्धतम अग अ ँगरेजी साहित्य-तक हम पहुँच ही न सकते, उससे लाभ उठाना तो दूर की बात है!! इसके बिना तो हम विश्व साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे!! भाग्य और परिस्थितियो की क्रूरताओ के विषय म जो कुछ भी कहा जाय, कम है। पराधीनता के वातावरण म पल हुए बुद्धिवादियो की चिंतन पद्धति भी कैसी विचित्र और उसके निष्कर्ष भी कैसे दयनीय होते है!

धूर्जटी प्रसाद मुकर्जी ने अ ँगरेजो द्वारा प्रचारित शिक्षा-पद्धति का उल्लेख करते हुए उसके बारे म मेहिनू का यह विचार उद्धृत किया है कि जिस सरकार ने यह सिद्धान्त निकाला और उसे व्यवहार म उतारा है उसकी जम कर और कस कर पिटाई होनी चाहिये क्योकि एसा करके उसने सामान्य जनता और वर्गविशेष, गाव और शहर, पूर्वी और पश्चिमी विचार पद्धतियों और जीवन-पद्धतियो क बीच एक बडी खाई खोद दी। ससार की दो महान जातियो अ ँगरेज और भारतीय के बीच प्रजातीय वैमनस्य पैदा कर दिया। इस शिक्षा को देखकर मन मे यह भावना दृढ

[1] माडन इडियन कल्चर, पृ, ८६।

होती है कि शिक्षा एक ऐशोआराम की चीज है भोग विलास का साधन है। यह एक ऐसा व्यापार है कि जिसमे पढ़े-लिखे लोग अपना धन इसलिए लगाते हैं कि बाद मे उन्हे मुनाफा होगा। इस शिक्षा पद्धति ने सौ-सवासौ रुपये महीने की कीमत का जो नकलची खोखला बबुआ ("बाबू") वर्ग पैदा कर दिया है वह रंग और खून से भारतीय किन्तु रुचि, विचार, नैतिकता और बौद्धिकता की दृष्टि से ऐसा अधकचरा अंगरेज है जिसे भारत की सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान मूल्य और उपलब्धि, क्षमताओं और संभावनाओं का न कोई ज्ञान है और न उन पर किसी प्रकार की आस्था। प्रख्यात उर्दू कवि और कुख्यात बुद्धिवादी श्री रघुपति सहाय "फिराक" से जब मैंने इस डी० लिट० के विषय मे कुछ विचार-विनिमय करना चाहा तो वे बोले, "पहले यह बताओ कि क्या तुम भारत की हर चीज को-सभ्यता और संस्कृति को-कूड़ा, घूर, विष्टा समझते हो या नहीं। अगर नहीं समझते तो डी० लिट० तो बहुत बड़ी बात है, तुम कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकते। शिष्टता उनके द्वारा उच्चरित शब्दों को वैसे का वैसा ही लिखने से मना करती है। परिपक्व 'फिराक" को मैं अंगरेजी शिक्षा-पद्धति की देन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक समझता हूँ। लार्ड हार्डिंज के इस निश्चय ने, कि सरकारी नौकरियो मे अंगरेजी स्कूलो से पढ कर निकले हुए लोगों को प्राथमिकता दी जायगी, अंगरेजी पढने वालो की संख्या बढा दी। फिर विश्वविद्यालय खुले और भारत की शिक्षा का भविष्य उनके हाथो मे कैद हो गया।

हिन्दी और हिन्दी वालो का अद्वितीय महत्व—

इस शिक्षा-पद्धति रूपी राक्षस के विद्रूपो से विनिर्मित वातावरण के फौलादी, शैतानी एवं क्रूर चंगुल मे जकडे जाकर भी हमारे साहित्यिकों ने हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य की सृष्टि की है। आज लोग बडी शान एवं बडे रौब से कहते हैं कि हिन्दी का साहित्य उतना समृद्ध नहीं है जितना अंगरेजी का। विधि की विडंबना ही तो है कि १९ वीं और २० वीं शताब्दी के जिस साहित्य पर अंगरेजी के मानस पुत्रों को इतना गर्व है उसकी नींव जिन दिनो पड रही थी उन दिनों भारत की आत्मा, उसका हृदय और उसका शरीर कुछ अपनी ही कमजोरियो के परिणामस्वरूप अंगरेजी साम्राज्यवाद के चरमराते और ठुमकते हुए बूटों के नीचे छटपटा रहा था। धन का लोभी अधिकारी हमारे श्रम और हमारी प्रतिभा को गीले कपड़े की तरह निचोड-निचोड कर निःशेष कर रहा था। साथ ही, यह भी कह रहा था कि पूर्वी जगत का समस्त साहित्य अंगरेजी साहित्य के पुस्तकालय की किसी एक अल्मारी के एक खाने के साहित्य के भी बराबर नहीं है! शायद, किसी भी बद-

दिमाग अधिकारी ने इससे अधिक जोरदार शब्दों में किसी भी समृद्ध और सत्साहित्य का इससे अधिक अपमान न किया होगा! हमारे शरीर को घावों से छलनी करके आप कहते हैं कि इसका शरीर कमजोर और बदसूरत है! हमने उपेक्षापूर्ण वातावरण में लड़खड़ाते हुए पैरों से चक्कर खा-खाकर, बेहोशी के झोंकों में झूम-झूम कर, पस्त मन और जहरीली शिक्षा से भरे मस्तिष्क से सोच-सोच कर हाफते, गिरते पड़ते, मिटते-मिटते अपने आधुनिक साहित्य की रचना की है। हमने स्याही से नहीं, अपने परिश्रम की उज्ज्वल और रक्त की लाल बूंदों से लिखा है। कागज पर नहीं, परिवार वालों की सुख-सुविधा की लाशों पर लिखा है। प्रशंसा से प्रोत्साहित होकर नहीं, व्यग्य-भरी मुस्कानों, कटूक्तियों और छटपटवा देने लहजों से पीडित होकर लिखा है। हिन्दी वालों के इस त्याग और बलिदान का मूल्य कौन आकेगा! उन्होंने हारी हुई बाजी जीती है। उनसे भूलें हुई और वे इस कुशिक्षा एवं कु-व्यवस्था के परिणाम स्वरूप चरित्र में अनिवार्य रूप से उत्पन्न होने वाले दोषों और कमजोरियों से ग्रस्त भी रहे। और, हम यह भी स्वीकार करते हैं कि पिछली दो शताब्दियों का अँगरेजी साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। हम यह सब स्वीकार करने में हिचकते नहीं क्यों कि हमें अपने सामर्थ्य और अपने भविष्य के ऊपर अखड विश्वास है। हम मानते हैं कि "कार्यसिद्धि सत्वे भवति महता नोपकरणे"। हम देख रहे हैं कि तुलसी और सूर जागरण की करवटें ले रहे हैं और मिल्टन और शेक्सपियर की बेचैन आखें एक दूसरे को अर्थपूर्ण दृष्टि से देख रही हैं। इस अँगरेजी शिक्षा का हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा है और निश्चित रूप से पड़ा है! तभी तो 'प्रसाद' कालिदास जैसे महान न हो पाये, तभी तो 'निराला' "राम की शक्तिपूजा" और "तुलसीदास" तक ही पहुँच पाए, "रामचरितमानस" की नवीन अवतारणा न कर सके, तभी तो महादेवी मीरा न हो पाई, तभी तो पंत की कला और बिहारी की कला में इतना अन्तर रह गया, तभी तो भारवि, माघ, वाणभट्ट, की अवतारणा की प्रतीक्षा की अवधि समाप्त न हो पाई! सांस्कृतिक विघटन रामायण और महाभारत-जैसे महाकाव्यों की पुनर्सृष्टि में बाधक हो रहा है। प्रबल सही दिशा की ओर अब अभिमुख हुए हैं। कदम मंजिल की ओर अब उठने लगे हैं। उपलब्धि में समय तो लगेगा ही। जिस अँगरेजी का हमारा साथ एक शताब्दी से भी अधिक समय तक रहा उससे हम पूर्णत अप्रभावित रहते यह असभव था। इसलिये वर्तमान हिन्दी साहित्य मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य से भिन्न हो गया है। इसलिये भारतेंदु और द्विवेदी से लेकर गुप्त और अज्ञेय तक सब पर इसका थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा है।

गांधी और शिक्षा—

भारत में अँगरेजी शिक्षा के प्रचार के साथ ही साथ राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार भी प्रारम्भ हो गया था। इसलिये अँगरेजी शिक्षा व्यापक रूप से देश का सम्पूर्ण सत्यानाश करने पाई। इसके विष को देश की महान प्रतिभाओं ने पहचान लिया था और इसलिये इसके विरुद्ध प्रचार भी होने लगा था और उसके स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप की खोज और इस क्षेत्र में प्रयोग भी प्रारम्भ हुए थे। अँगरेजों ने देश में जो आर्थिक क्रान्ति कर दी थी उसके कारण जीवन जिस दिशा में चल पड़ा था उसमें और भारत के अपने सांस्कृतिक मूल्यों और धारणाओं में समुचित सन्तुलन और समन्वय चूँकि अभी तक स्थापित नहीं हो पाया और जीवन का नवीन सांस्कृतिक स्वरूप विनिर्मित नहीं हो पाया इसलिये ये खोजें और प्रयोग सफल होकर नई शिक्षा व्यवस्था की सृष्टि भी नहीं कर पाये। शायद, एक शिक्षा शास्त्री का जन्म अभी होना है जो नवीन भारत के लिये सर्वथा उपयुक्त, उपयोगी और उचित शिक्षा व्यवस्था की आयोजना करे। तब तक प्रचलित शिक्षा व्यवस्था के कुप्रभावों से यथासम्भव बचने का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। यही इनका महत्व है। इस दृष्टि से आर्य समाज की गुरुकुल प्रणाली और गांधी जी की बुनियादी तालीम के प्रयत्न स्तुत्य रहे। एक भारतीय संस्कृति के अधिक निकट रहा और दूसरा भारतीय संस्कृति की अनुरूपता की दिशा में चलता हुआ देहात के अधिकाधिक निकट रहा। गांधी जी ने कहा था कि शिक्षा से मेरा मतलब है अन्दर की समस्त श्रेष्ठतम प्रवृत्तियों का पूर्णतः प्रस्फुटन अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की क्षमताओं का विकास[1]। एम०एस० पटेल ने लिखा है कि यह याद रखना चाहिये कि गांधी के शिक्षा दर्शन की जड़ें भारतीय जीवन और संस्कृति के अन्दर हैं[2]। इसका मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण है अर्थात् 'सा विद्या या विमुक्तये'। शिक्षा मानव को बाहरी बन्धनों से मुक्ति दिलाती है। इसी सन्दर्भ में पटेल महोदय ने आगे लिखा है, 'गांधी जी के शिक्षा दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आत्मानुभूति है।[3] कम से कम पैसे का खर्च, सीखने और कमाने की प्रक्रियाओं को अधिकाधिक समीप लाना, रचनात्मक क्षमताओं का विकास, श्रम की प्रतिष्ठा, आर्थिक स्वावलम्बन, मानव-महत्ता की स्वीकृति, जीवन-यापन को सादगी और आडम्बर-शून्यता की दिशा की ओर ले जाना, एक मात्र वाछितता, निस्त-

---

१ 'हरिजन', ३१ अगस्त, १९३७।

२. "दि एजूकेशनल फिलासफी आफ् महात्मा गांधी", पृ० ३७।

३ "वही, पृष्ठ ४५।

पद्यात्मकता एवं सिद्धान्तवादिता की अपेक्षा उसमें रागात्मकता, नैतिकता, धार्मिकता रचनात्मकता एवं व्यावहारिकता का भी समावेश गांधी जी की शिक्षानीति का स्वरूप था। इसके लिये उन्होंने मातृभाषा के अध्ययन पर जोर दिया था। मातृभाषा को केवल शिक्षा का माध्यम ही नहीं बनाना चाहिये बल्कि भाषाओं में इसको प्रमुख स्थान मिलना चाहिये। गांधी जी का विचार था कि हिंदी-उर्दू दोनों का ज्ञान प्रत्येक भारतीय बच्चे को और संस्कृत का ज्ञान प्रत्येक हिन्दू बच्चे को अवश्य होना चाहिये। गांधी जी ने हिंदी भाषा इसलिये अपनाई थी कि उससे सभी काम और सभी का काम चल सकता है। धर्मनिरपेक्षिता, धार्मिकता, दार्शनिकता, व्यापार, विज्ञान और उत्पादन आदि सभी क्षेत्रों के कार्य हिंदी में हो सकते हैं। हिंदी राष्ट्र की एकता का साधन और वाहन है-यह गांधी जी जानते थे। इसीलिये उन्होंने हिंदी अपनाई थी। बाकी, उन्हें हिंदी साहित्य से न कोई विशेष प्रेम था, न द्वेष और न शायद इसके लिये कोई कारण ही था। 'निराला' ने लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर उनसे जो भेंट की थी (जिसका उल्लेख उन्होंने "प्रबन्ध" प्रतिभा" में किया है) उससे यही निष्कर्ष निकलता है। अंगरेजी शिक्षा और उसके परिणाम के बारे में गांधी जी के जो विचार थे उसका उल्लेख राजेन्द्र बाबू ने इस प्रकार किया है, "सभा में किसी ने महात्मा जी से प्रश्न किया कि आप अंगरेजी शिक्षा के विरुद्ध क्यों हैं-अंगरेजी शिक्षा ने ही तो राजा राम मोहनराय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है। महात्मा जी ने उत्तर में कहा-मैं तो कुछ नहीं हूँ, पर लोकमान्य तिलक जो हैं उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अंगरेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता! राजा राममोहन राय और लोकमान्य तिलक श्री शंकराचार्य, गुरु नानक, गुरु गोविन्द सिंह और कबीरदास के मुकाबले में क्या हैं! आज तो सफर के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था तो भी उन्होंने विचार की दुनिया में कितनी बड़ी क्रान्ति मचादी थी।"[1] प्रायः लोग कहते हैं, कि अंगरेजी बुरी नहीं है, बुरा है साम्राज्यवादी अंगरेज और इसलिये हमें अंगरेजी साहित्य अवश्य पढ़ना चाहिए। हम कहते हैं कि अंगरेजी साहित्य ही क्यों, दुनियामें बुरा तो कुछ भी नहीं है परन्तु क्या हम सबको पढ़ा करेंगे। रूसी साहित्य भी तो बुरा नहीं है, फ्रांसीसी साहित्य भी तो बुरा नहीं है, यूनानी साहित्य भी तो बुरा नहीं है, फिर अंगरेजी ही पढ़ने का आग्रह क्यों! इसीलिये न कि उसे कभी हमें मजबूरन पढ़ना पड़ा था और अब हमें अपनी ही बेड़ियों हथकड़ियों से-जेल की चहारदीवारियों से-मोह हो गया है। हर भाषा और साहित्य की अपनी-अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

१. "आत्मकथा", पृ. १७१-१७२।

होती है। उसमे पूर्ण-स्नात हुए बिना हम उसकी सास्कृतिक बारीकियो से अपरिचित रह कर उस साहित्य की वास्तविक सौन्दर्यानुभूतियो से वचित रह जायगे। इसीलिये कई जनम भारत मे पैदा होकर भी और हर जनम मे केवल अगरेजी पढ कर भी हम अगरेजी साहित्य के अमर साहित्यकार नही बन सकते। टैगोर मे कम प्रतिभा नही थी! विचित्र बात है कि लोग अगरेजी के प्रोफेसर की कल्पना धोती-कुरते मे और हिंदी और सस्कृत के एम० ए० की कल्पना पतलून-टाई-कोट मे नही कर सकते। मेरे एक मित्र सस्कृत म एम० ए० हैं और उनके पास कई गोल्ड मेडल हैं। वे सदैव मैकाले द्वारा निश्चित की गई वेश-भूषा ही धारण करते हैं। वे सबके लिये आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा एव व्यग्य के विषय बने हैं। छात्राए उन्हें 'पडित इन सूट" की उपाधि देती हैं! इसका कारण है नियत निश्चित सास्कृतिक भाव चित्रो का वैषम्य एव वैपरीत्य। वह दूसरी सस्कृति की चीज है, यह दूसरी सस्कृति की। हम हिंदी सस्कृत इसलिये अपनानी चाहिये कि वह हमारी सास्कृतिक विभूति है, हमे अगरेजी इसलिये छोडनी है क्योकि वह हमारी आत्मीय नही, हमारी सस्कृति से उसका कोई मेल-कोई अनुरूपता नही। अंग्रेजो अगरेजियत लाती है, अतएव त्याज्य है। हमे अग्रेजो की दासता से असतोष है, दोस्ती से नही, और हुआ कुछ ऐसा कि हमे अगरेजी की दासता एव उसके आतक मे ही रहना पडा है। और तब, आत्मा के सत्सकेतो की भाति यदि रामकृष्ण, दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक, गाधी, टैगोर, महामना मदन मोहन मालवीय आदि न होते तो हम क्या हो जाते-यह सोचकर मन काप उठता है। वारागना अगरेजी हमारे घर मे घुसी, दुलहिन या कुलवधू बन कर नहीं-'मेम साहब' बनकर! बडी बूढी सास (सस्कृत) को अवमानना एव तिरस्कार के तमावृत्त कोने म ढकेल दिया! कुल-वधू हिन्दी को असभ्य सेविका की गई गुजरी स्थिति मे ला पटका! हमसे कहती रही कि तुम जगली, तुम असभ्य, तुम्हारा खानदान मूर्खो का, तुम्हारा रहन-सहन, खानपान, तौर-तरीका, सब कुछ मूर्खतापूर्ण! हमने मा से नाता तोडा। जीवन सगिनी को हीन समझना प्रारम्भ कर दिया। बलात् लादी गई प्रेमिका की भाति उसने हमारे घर के वातावरण को अपनी रुचि और अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप परिवर्तित कर लिया। ससुराल को "सैकेण्ड हैंड मायका" बना लिया! हम न अपने रह गये, न विराने हो पाये! हम यह सोचने लगे कि जैसे अगरेज बोलता है यदि वैसे ही हम न बोल पाये तो असभ्य और पिछडे हुए रह जायेंगे राजेन्द्र बाबू न लिखा है, "अभी तक लोगो के मन मे अगरेजी भाषा के लिये यह मोह था कि बचपन से ही अगर यह नहीं पढाई जायगी तो इसका पूरा ज्ञान नही हो सकेगा और हमारे युवक ससार की होड मे पीछे रह जायेंगे।"[1] ऐसी प्रवृत्ति वाले लोगो का

१. "आत्मकथा, पृ १५१।

अभाव सन् १९६२ में भी नही है। अंगरेजी बोल कर रोब का और हिन्दी बोलने में आत्म हीनता का अनुभव करने वालो का बहुमत अब भी है। 'देखिए, मेरी इस फाउन्टेन पेन से हिन्दी न लिखिएगा, खराब हो जायगी" कहने-वाले बहुत दिखे हैं किन्तु स्पष्ट रूप से और शान के साथ यह कहने वाला, 'देखिये, मेरी इस कलम से अंगरेजी न लिखिएगा, यह इसकी पवित्रता का अपमान होगा", मैंने अपने इस अल्प जीवन और अल्प अनुभव के सीमित क्षेत्र मे केवल गुरुवर आचार्य रामकुमार वर्मा को ही पाया। मस्तिष्क में अंगरेजी इतनी भर गई कि अध्ययन और चिंतन की रूपरेखा पर पाश्चात्य प्रभावों की अधिकता हो गई। अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ गई। स्वतंत्र दृष्टिकोण, स्वतंत्र चिन्तन एवं मौलिकता का प्रायः अभाव हो गया। जैसे शिक्षा जनता के जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति मे असमर्थ थी, वैसे ही साहित्य जन जीवन एवं जन मानस की आवश्यकताओ को पूर्ण करने मे असमर्थ रहा। वास्तविक जीवन से वह बहुत दूर पड़ गया। साहित्य में सैद्धान्तिकता, अध्ययन और चिन्तनात्मकता की प्रधानता हो गई, क्योंकि जीवन से विच्छिन्न शुष्क, शिक्षा का भी स्वरूप यही था। उन्मूलित मध्यवर्ग द्वारा सृजित साहित्य में वास्तविक जीवन के सजीव चित्रों की आशा दुराशा ही है। इस साहित्य में मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग की प्रवृत्तियां, मनोवृत्तियो और दृष्टिकोणो की प्रधानता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है, "हमारे काव्य मे छायावाद के उत्थान तक जो सुख-दुःख चला आया है वह जनता का सुख दुःख न होकर कुछ सीमित व्यक्तियो का राजसी अभ्यास रहा है, राजा के मुकुट की तरह उसमे भी एक कला है, किंतु उसमें उस बहुसंख्य मानव जगत का यथार्थ नही है ... .उसमे राजा और राज कवि न्हो हैं किंतु उसमें जो कवि हैं वे उसी मध्यकालीन व्यवस्था से उत्पन्न सुख दुःख के परिणाम हैं . .... ।"[1] पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्तियो का कुछ ने अनुकरण करना चाहा किन्तु वे भूल गये कि साहित्यिक प्रवृत्तियां सामाजिक वातावरण मे उद्भूत होती हैं। इसके प्रतिकूल यदि मानसिक और बौद्धिक विलास के लिये हम उन्हें कही दूसरी जगह लेकर उनके अनुसार लिखना प्रारम्भ कर दें तो लिख तो कुछ न कुछ जायगा ही, किंतु वह शाश्वत और सत्साहित्य न हो सकेगा। इसीलिये आधुनिक पाश्चात्य साहित्य की अपेक्षा आधुनिक हिंदी साहित्य कला और मूल्य की दृष्टि से कुछ कम उत्कृष्ट है। इसी युग मे उच्च कक्षाओ में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ हुआ था। अतएव विद्यार्थियो के लिये गये साहित्य की भरमार हो गई। आलोचनात्मक साहित्य तो अधिकतर इसीलिए ही लिखा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह आलोचनात्मक साहित्य-अपवादो को छोड़ कर-उस कोटि तक नही उठ पाया है कि पाश्चात्य आलोचना

१. 'युग और साहित्य', पृ ४३, ४४, ४५।

साहित्य से टक्कर ले सके । उसमें बौद्धिक दृष्टि से पूर्ण परिपक्वता नहीं मिलती ।

क्या हिन्दी अँगरेजी की मुखापेक्षी है ?

यदि हिन्दी साहित्य केवल इसी शिक्षा पद्धति का परिणाम होता तो उसकी स्थिति कितनी नगण्य होती, इसकी कल्पना करने को मन नहीं करता । कहते हैं कि विष मिला हुआ भोजन खिला देने के पश्चात् दुर्योधन ने बेसुध भीम को नदी में फेंक दिया । डूब कर वे पाताल पहुँचे जहाँ नागों ने उन्हें डसना प्रारम्भ कर दिया । आश्चर्य कि नागों के विष की प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप भीम दुर्योधन के विष से मुक्त हो गये । तो, क्या यह माना जा सकता है कि विष अच्छी चीज है ? विष ने भीम को भीम नहीं बनाया ? उनकी आन्तरिक शक्ति और क्षमता उनके अन्दर पहले ही से थी । विष ने ही विष को नष्ट किया । भीम को अब विष से कोई भी सबंध नहीं रखना चाहिए दासता को कदापि नहीं । यदि भीम को हिन्दी, दुर्योधन को अँगरेजी साम्राज्यवाद, शोषण और उपनिवेशवाद को पाताल मान लें, तो अँगरेजी को नागों का विष मानना पड़ेगा । हम यह नहीं मान सकते कि भीम रूपी हिन्दी का इस विष से कल्याण हुआ है । हम कहना चाहते हैं कि यदि अंगरेजी न आई होती और हिन्दी ने स्वतंत्र रूप से स्वस्थ ढंग से विकास किया होता, तो हिन्दी आज की हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध, समर्थ और सम्पन्न होती । 'पृथ्वीराज रासो'' से जो "रामचरितमानस'' और 'सूर सागर'' तक की गौरवपूर्ण ढंग से यात्रा कर सकती है वह उसके बाद "कामायनी'' अथवा "राम की शक्तिपूजा तक ही रह जाय, यह आश्चर्य है ! वह, ऊर्ध्वगति, यह अधोगति !! हिन्दी वही की वही है अंतर केवल यह हुआ कि तब अकबर महान का राष्ट्रीय शासन था और इस काल में अँगरेजी राजा सम्राट का मुकुट का अराष्ट्रीय शासन था ! कहानी केवल इतनी है कि हमारी तन्द्रावस्था में डाकुओं ने हमारे घर पर अधिकार जमा लिया । जब हमारे पास कोई और चारा नहीं रह गया तब हमने उनका स्वरूप, उनका मुखौटा, उनकी विद्या अपना ली जो उनके द्वारा प्रचारित जीवन विधा के अनुकूल भी थी । हमारी आत्मशक्ति थी, उनका मुखौटा था । हिन्दी इस नये रास्ते पर भी सफलतापूर्वक चली । अँगरेजी शिक्षा के प्रसार के साथ ही साथ राष्ट्रीयता का भी प्रसार हुआ था । पृष्ठभूमि में था १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का महान् सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अमृततत्व-पूर्ण फल । अँगरेजी का विष उसके कारण अधिक प्रभावशाली न हो पाया । हिन्दी में असाधारण आत्मशक्ति थी, आत्मोत्थान की इच्छा एवं तत्सबंधी प्रयास प्रारम्भ हो गये । हिन्दी का अधिकांश भाग उसी का परिणाम है ।

ज्ञान का शिक्षा से अभिन्न सबंध होता है। अशिक्षित जनसमूह के लिये ज्ञान का अर्जन प्राय असम्भव हो जाता है। अपने देश की स्थिति यह थी कि अँगरेजी शिक्षा पद्धति के कारण नब्बे प्रतिशत से भी अधिक जनता अशिक्षित रह गई। इधर, रामकृष्ण, परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, आदि के उपदेश हम तक अँगरेजी भाषा के माध्यम से ही पहुँचते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि नब्बे प्रतिशत से भी अधिक जनता तक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का फल नहीं पहुँचने पाया। बहुत लोग तो आज तक भी उससे वंचित रह गये हैं। यही कारण है कि आत्मोत्थान की इच्छा एवं तत्संबंधी प्रयास थोडे ही लोगों द्वारा संभव हो सके। पर आर्य समाज ने, जिसने हिन्दी को सम्पूर्ण मान्यता दी थी जनता तक पहुँच कर ऐसी क्रान्ति कर दी थी कि लोग चकित हो उठे, एवं कांग्रेस ने हिन्दी को अपना कर सारे देश की काया पलट करके संसार को विस्मय विमुग्ध कर दिया। यदि परिस्थितियां अनुकूल होतीं और उचित समय पर समस्त जनता के अन्दर सांस्कृतिक पुनरुत्थान का फल पहुँच सका होता तो भारतवर्ष की रूप रेखा अब तक कुछ और ही होती तथा हिन्दी का भी स्वरूप कुछ और ही होता। कारण यह है कि इस समय हिन्दी मे जो कुछ है वह कुछ मुट्ठी भर लोगो के त्याग, बलिदान, तपस्या चेतना और अनुभूति का फल है। हुआ यह कि दस प्रतिशत से भी अधिक कम लोग शिक्षित हो पाये। उनमे से भी बहुत कम लोग अच्छे ढंग से और ऊँची कक्षाओं तक पढ पाये। सुशिक्षितो मे से अधिक लोग हिन्दी का तिरस्कार करने और अँगरेजी के भक्त अनुयायी बनने मे अपने को गौरवान्वित समझने लगे। अल्प शिक्षितो मे से अधिकांश अँगरेजी के लिये तरसने और जितनी तथा जैसी भी हो सके अँगरेजी बोलने लिखने मे अपने को बडा और गर्वान्वित समझने लगे। बहुतो को यह कहते हुए सुना गया है कि अमुक सज्जन ने पढा लिखा तो कुछ खास नही मगर जब अमुक साहब यहा आया था तो उसके सामने ये ऐसे 'फर' 'फर' 'फर' 'फर' अँगरेजी बोले कि वह भी दंग रह गया और बहुत बढिया 'सार्टिफिकेट' दे गया। बडे गर्व से ये वह सर्टीफिकेट दिखलाया करते हैं !! तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष के जितने लोग पढ लिख भी सके उनमे से भी बहुत कम — बहुत ही कम लोग ऐसे निकले जो सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ज्योति से अनुरंजित हो सकते और हिन्दी के लिये पागल हो सकते। ये थोडे से लोग थोडी बहुत अँगरेजी जानते अवश्य थे किन्तु इनमे से किसी की भी चेतना या आत्मा अँगरेजियत के विष मे डूबकर मिट नही चुकी थी। ये अशक्त, असमर्थ, अयोग्य, एवं अभावों से पूरा भले ही रहे हो परन्तु इनमे से कोई निरात्म मायरात्म नही था। कुछ है ही ऐसा कि

हिन्दी, भारत की राष्ट्रीयता आकांक्षा अथवा अपनी सांस्कृतिक गुरुता की पुनर्प्राप्ति की महात्वाकांक्षा की भाषा है। अंगरेजियत या उसकी गुलामी से भरी हुई हतात्मा से इसका कोई संबंध नहीं स्थापित हो पाता । इन थोड़े से लोगों के द्वारा ही आधुनिक हिन्दी साहित्य की नींव पड़ी और उनका कार्य प्रारम्भ हुआ। इन स्वनाम धन्य व्यक्तियों के अन्दर यह इच्छा पैदा हुई कि जिस उच्चकोटि का और जैसा समृद्ध अंगरेजी का साहित्य है वैसा ही अपना हिन्दी साहित्य भी होना चाहिये जिसके लिये उन्होंने अपना प्राचीन साहित्य भी देखा और नवीन जीवन भी।

अस्तु, इस शिक्षा के परिणामस्वरूप सबसे बड़ी बात यह हुई कि हिन्दी प्रदेश के अधिकांश लोग अशिक्षित रह गये। एक तो स्वयं उनके अन्दर पुस्तकें पढ़ने खरीदने की क्षमता नहीं थी और दूसरे, मध्यवर्ग के लिये लिखे गये साहित्य को खरीद–पढ़कर वे करते भी क्या, क्यों कि उस साहित्य का उनके प्रत्यक्ष जीवन से कोई संबंध ही नहीं था। अंगरेजीप्रिय व्यक्तियों को हिन्दी की पुस्तकें पसन्द नहीं आ सकती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी वालों की पुस्तकें अधिक नहीं बिकीं। लेखक आर्थिक दृष्टि से दरिद्र हो गया। प्रकाशकों को हिन्दी की पुस्तकों के छापने में घाटा होने लगा। हिन्दी के समाचार पत्र और मासिक पत्र पत्रिकाओं की भी खपत अधिक नहीं थी। हिन्दी का प्रकाशक, सम्पादक और लेखक सभी दरिद्र हो गये। समाचार पत्रों के और पत्रिकाओं के लेखकों को पारिश्रमिक अवसर तो दिया ही नहीं जाता था और यदि कभी दिया भी गया तो अल्पतम। लेखक की रायल्टी की भी यही स्थिति थी। हिन्दी की पुस्तक या हिन्दी का लेख छप गया, यही क्या कम ! प्रकाशन कृपा का परिणाम और इसलिये धन्यवाद का अधिकारी था। लेखकों का शोषण होने लगा और हमारा साहित्य शोषितों का साहित्य परकटों का साहित्य हो चला। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य अशक्त पक्ष जटायु हो गया।

अंगरेजी शिक्षा पद्धति के कारण हम अंगरेजी की साहित्यिक विधाओं से परिचित हो गये। वहां ये विधाएँ पाश्चात्य समाज के भीतरी जीवन का परिणाम थीं और हमारे यहां वे विदेशी संसर्ग एवं अन्य कारणों के परिणामस्वरूप थीं। पाश्चात्य जीवन पद्धति, जीवन दर्शन एवं मान्यताएँ और इनके साथ–साथ पाश्चात्य साहित्यिक विधाएँ आज भी हमारी अपनी नहीं हो पाई हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से उच्चकोटि के होने पर भी आधुनिक गीत, आधुनिक कहानियां, आधुनिक उपन्यास, आधुनिक एकांकी और

विपरीत रहा। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, उसके चित्त मे रोमांटिक अंगरेजी साहित्य के व्यक्तिवाद की छाप थी परन्तु बाह्य जगत मे उसका सामजस्य नहीं था। वह नवीन मूल्यो को अपनी भाषा म व्यक्त भी नही कर पाया था। सवेदनशील युवक के मन मे यह बडे ही अतर्द्वन्द्व का काल था। ······· चित्तगत उन्मुक्तता इस कविता का प्रधान उद्गम थी और बदलते हुए मानो के प्रति दृढ आस्था इसका प्रधान सबल। इस श्रेणी के कवि ग्राहिकाशक्ति से बहुत अधिक सपन्न थे और सामाजिक विषमता और असामजस्यो के प्रति अत्यधिक सजग थे।"[१] परिणाम यह हुआ कि उन्होने प्रयत्न करके भाषा को अपने भावो के योग्य बनाया गया। इस प्रयत्न में सफलता भी मिली और रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "अंगरेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओ की उच्च विचारधारा स परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखने वाले कुछ लेखकों की कृपा से हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यजना प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ।'[२] पी-एच०डी० और डी० लिट् के लिये लिखे गये अनुबन्धो के रूप मे हिन्दी साहित्य सबधी जो शोधें और आलोचनएं प्राप्त हुई हैं उनका भी श्रेय अंगरेजी शिक्षा पद्धति को है। इतना अवश्य है कि उनम से अधिकाश रामचन्द्र शुक्ल के "हिन्दी साहित्य का इतिहास" या "त्रिवेणी" अथवा हजारी प्रसाद द्विवेदी के "हिन्दी साहित्य की भूमिका" अथवा कबीर" के महत्व के नहीं हैं? ध्यान रखना चाहिये कि शुक्ल और द्विवेदी दोनों म स एक भी मूलत' अंगरेजी शिक्षा पद्धति की देनें नही हैं। फिर भी, रामकुमार वर्मा द्वारा उद्धृत स्व अमरनाथ झा के शब्दों मे कहा जा सकता है, ' ··· ··· आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण और हिन्दी के प्रसार मे विश्वविद्यालयो से प्रशसनीय सहायता मिली है।"[३] इसी के परिणामस्वरूप अंगरेजी राज्य मे हिन्दी साहित्य के अध्ययन की पाश्चात्य पद्धति के अनुसार वैज्ञानिक और विधिवत् व्यवस्था हो सकी। पाठ्यक्रमों मे रखने के लिये प्राचीन और मध्ययुगीन कवियो और लेखकों के ग्रन्थों की खोजें हुई, उनके शुद्धतम

---

१ 'हिन्दी साहित्य', पृ० ४५१-४५२-४५३।

२. "हिन्दी साहित्य का इतिहास", ११ वा सस्करण, पृ० ४५०।

३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अधिवेशन के साहित्य-परिषद के सभापति पद से दिया गया भाषण।

पाठ का निर्धारण किया गया और वैज्ञानिक ढंग से उनका साम्प्रदायिक विधि व्यवस्था समाप्त हो गई और पाश्चात्य युक्तिवादी दृष्टि और वैज्ञानिक ढंग से आलोचनाएँ की गईं। उनका साहित्यिक मूल्यांकन और मनोवैज्ञानिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक महत्व निर्णय किया गया। तुलनात्मक अध्ययन भी इसी व्यवस्था की देन है। अध्ययन का दृष्टिकोण व्यापक और विस्तृत हो गया। भाषा विज्ञान जैसे अनेक नवीन विषयों का भी अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने हमारी हिन्दी को प्रभावित किया।

❋

अध्याय—६

सामाजिक पृष्ठभूमि

हमारे समाज की पिछली पृष्ठभूमि अँगरेजों का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण, परिणाम और जनता की प्रतिक्रिया · परम्परा-प्रियता और उसका कारण ··· वर्णभेद एवं वर्ग-भेद · · कट्टरता क्यों · कट्टरता वाला दृष्टिकोण बदला ··· हरिजन नारी दयनीय स्थिति · नारी-जागरण · · पर्दा उठा ··· · नारी और राष्ट्रीयता ·· · नारी-शिक्षा · जागृत नारी ·· नारी स्वतन्त्रता की उपयुक्त दिशा ·· यह नारी और हिन्दी साहित्य · काम (सेक्स) और हमारी जीवन-दृष्टि · सुनियोजित काम-भावना विवाह साथी का चुनाव कैसे हो ·· ··बाल-विवाह दहेज · विवाह का स्थायित्व वृद्ध विवाह और बहु विवाह ····परिवर्तन की प्रक्रिया · प्रेम विवाह क्यों नहीं ···· एक ही गोत्र में और एक ही गाँव में विवाह वर्जित · सम्मिलित परिवार · भारतीय पत्नी ·· बच्चे ·· · विधवा · त्योहार और ऋतु आदि ·· वेश्या··· ···मादक द्रव्य ···· भिखारी · बेकारी · ··फैशन · खान मनोरंजन ······प्रेम····अन्धविश्वास ·· · धार्मिक सहिष्णुता ····समाज-सुधार—परिवर्तन · क्रान्ति ··मार्क्स · ··ग्रामोत्थान ·····लौकिक दृष्टिकोण और भाग्यवाद परम्परा ·· ·प्राकृतिक विघटन · ··सुधार के प्रयत्न।

सामाजिक पृष्ठभूमि

हमारे समाज की पिछली पृष्ठभूमि—

१९वीं सदी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतवर्ष अथवा हिन्दी प्रदेश की जो सामाजिक स्थिति थी उसे पूरी तरह से हृदयगम करने के लिये उन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखना होगा जो अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर अब तक हमारे प्रदेश में थीं। औरंगजेब के कट्टर इस्लामवाद अथवा उसकी कट्टर साम्प्रदायिकता ने देश के अन्दर व्याप्त ऐवं संभावित सामाजिक एकता को नष्ट करके देश के विभिन्न सम्प्रदायों एवं समाजों को अपनी विशिष्टता बनाए रखने के लिये प्रतिरक्षात्मक उपायों का अवलम्बन लेने अथवा उस दिशा में सोचने के लिये बाध्य कर दिया था। जब शिया सम्प्रदाय के मुसलमानों तक को अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सुरक्षा की चिन्ता पैदा हो गई थी तब हिन्दुओं की तो बात ही क्या? राजनीतिक पराधीनता एवं विपन्नता की स्थिति में अपने को विघटित होने से बचाये रखने के लिये हिन्दुओं को किलेबन्दी करनी पड़ी। सुरक्षा के लिये जब राजनीतिक अधिकार नहीं रह जाते और यह देखा जाता है कि शक्ति और अधिकारों से सपन्न एक आपदा हमारे सर्वनाश के लिये समुपस्थित है तब उस संकटकालीन परिस्थिति में सुरक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन होता है एक सुव्यवस्थित, सुगठित एवं सुदृढ संगठन और वज्र-अनुशासन। इस काल में अनुशासन भंजक को स्वप्न में भी क्षमादान नहीं किया जा सकता। नियमों — कायदों का फौलादी कठोरता के साथ पालन होना चाहिये। यदि समाज को बचाना है, यदि संस्कृति की रक्षा करनी है, तो सामाजिक प्रथाओं और रीतियों का तथा सांस्कृतिक विधि निषेधों का और हिन्दू संस्कृति के क्षेत्र को यदि ध्यान में रखें तो "नानापुराणनिगमागम सम्मत यद्" जो कुछ है उस सब का पालन कठोरता के साथ आख मूँद कर होना चाहिये। विचार-विनिमय, तर्क-वितर्क, बुद्धि और ज्ञान, वर्तमान की अनुकूलता, परिस्थितियों की अनुरूपता, सुख-सुविधा, आदि की दृष्टि से सोचकर काम करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। धर्म और शास्त्र का अनुशासन तथा महान पुरुषों का अनुगमन ही एक मात्र रास्ता है। राजनीतिक अधिकारों की एवं विधि विधान की प्रतिकूलता में हम किसी को मार तो नहीं सकते किन्तु समाज को विघटित होने से रोकने के लिये हम स्वेच्छाचारी का सामाजिक बहि-

प्कार तो कर ही सकते हैं ! यदि यह कठोरता और सफलता के साथ नहीं होता तो व्यक्ति मनमानी करने लगता है जैसा कि १८५० के बाद हिन्दू समाज मे हो रहा है। ऐसा यदि होने दिया जाता तो समाज को अपनी संस्कृति विशेष मिटने मे कोई देरी नहीं लगती। अठारहवी शताब्दी तक मुसलमानो से बचने के लिये और १६ वी शताब्दी से लेकर महात्मा गाधी के उदय तक मुसलमानो और ईसाइयों – दोनो से बचने के लिये हिन्दू समाज को प्रतिरक्षात्मक स्थिति मे रहना पडा। यदि वह इसम ढिलाई करता इसके पालन मे शिथिलता बरतता तो मिटा दिया गया होता। बीसवी शती के पहले और स्वयं इस शती म भी अपनाये गये प्रतिरक्षात्मक विधि–विधानों ने और इनके पालन की कठोरता ने हिन्दू समाज मे रूढि परम्परा का रीति–रिवाज का, प्रथा–अनुष्ठान का, धर्मानुशासन का रूप धारण कर लिया था। गुण दोष के रूप मे दिखाई पडने लगा। स्वतन्त्र–चिन्तन, सामाजिक उदारता, क्रान्तिकारी, कार्य सांस्कृतिक तत्वो के आदान–प्रदान, आदि को अनुचित माना जाने लगा। कुछ भी हो, किन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि इन्ही प्राचीरों के कारण हमारा समाज प्रलय–परिस्थिति मे भी सही सलामत निकल तो आया कि अब सुधार मार्ग पर चल सके ? इन उपायो को न अपनाया गया होता तो चलना तो एक ओर, चलने वाला ही न रह जाता। अन्ध–विश्वासी होकर हम बचे, लेकिन बचे तो ! यही क्या कम है कि हम अनेक प्राचीन जातियो की तरह नष्ट नही हो गये ! जो लोग इस तथ्य को नही समझते वे प्राय कह दिया करते हैं कि हिन्दू बडा अध विश्वासी होता है, हिन्दू समाज बडा ही रूढिवादी समाज है। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अथवा ऐतिहासिक आवश्यकताओ को न समझने वाले लोग हमारे रूढिवाद के सही रूप को समझ नहीं पाते और इसके कारण हमारी उपेक्षा एव हमारा तिरस्कार करते हैं।

अंगरेजो का उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण, परिणाम, और जनता की प्रतिक्रिया—

१८५७ ई० की सशस्त्र भारतीय-स्वातन्त्र्य-क्रांति के पश्चात् अंगरेजो का भारत सबंधी दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा कुछ बदल गया था, यह हम पीछे देख चुके हैं। हमारे साम्राज्यवादी प्रशासक अगरेज को हमसे किसी प्रकार की सच्ची सहानुभूति नहीं रह गई थी। अंगरेजी साम्राज्य के एक अनिवार्य अग एव शाही मुकुट के सर्वोत्तम रत्न भारत पर उन्हें शासन अवश्य ही करना था, अपने देश एव अपनी प्रजाति की रक्षा, उन्नति और समृद्धि के लिये भारत का आर्थिक शोषण और भारतीय बाजारों पर एकच्छत्र अधिकार बनाये रखना ही था, राज्य करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिये कुछ खोखले सुधारो की घोषणा और भारतीयो की

प्रशासनिक अयोग्यता एवं अनुभवहीनता का ढिंढोरा उन्हे अवश्यमेव पीटना था। ऐसे दृष्टिकोण एव उद्देश्य वालो के लिये उपनिवेशवादियो के लिये यह हितकर नही होता कि वे उपनिवेशो के अन्दर निवसित समाज की समृद्धि एव विकास के लिये आयोजनाएँ बनाएँ और उन्हे कार्यान्वित करें। यही कारण है कि इस युग मे अँगरेजों की सरकार की ओर से हमे सामाजिक उत्थान के लिये कोई भी प्रेरणा नही मिली। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कल्याणकारी सरकार को इस बात की प्रतीक्षा नही करनी चाहिये कि जनता किसी हितकारी कार्य के लिये आंदोलन करे। आंदोलन से विवश होकर अधूरे हितकारी अधिनियम पारित करने वाली सरकार राष्ट्रहितकारी सरकार नही कही जा सकती। सरकार ने समाज सुधार के लिये यदि एकाध कार्य किये भी थे तो आंदोलन के परिणामस्वरूप। राष्ट्रहित के कार्यों के प्रति सरकार की उपेक्षा ने समाज को आगे बढने की प्रेरणा नही दी। जीवन के लिये सर्वथा अनुपयोगी और अत्यन्त मँहगी शिक्षा ने जनता को शिक्षित होने से वंचित रक्खा। किसान को पेट भरना और तन ढाकना था। कूटनीतिपूर्ण आर्थिक शोषण मे उसकी स्थिति ऐसी करदी थी कि अथक परिश्रम करने के पश्चात् भी उसकी ये आवश्यकताएँ पूरी नही होने पाती थी। अपने बच्चो को वह पढाने की स्थिति मे नही था। एक तो उसके पास पढ़ाने के लिये पैसा भी नही था, और दूसरे, वह पढाए भी तो क्यो? पढाने का तात्पर्य था लडके से हाथ धो बैठना। पढ कर लडका न किसानी करने के योग्य रह जाता था और न मा-बाप-परिवार के प्रति आदर और अनुराग का भाव रखने वाला। अस्तु जनता अशिक्षित रह गई जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक सुधारो की आवश्यकता को अनुभव करने की बौद्धिक पृष्ठभूमि उसके पास रह नही गई। एक बात और भी थी।

परम्परा-प्रियता और उसका कारण—

जिन प्रथाओं, रीतियों, रिवाजो और परम्पराओं ने इतने आंधीतूफान के बीच उसके समाज के अस्तित्व और रूप को बनाए रखा उनका परित्याग वह करे भी तो क्यो? अँगरेजी पढ़े लिखो द्वारा प्रस्तावित और प्रचारित सुधार उसके जीवन को वह स्वरूप दे देते थे जो न तो उसके लिये उपयोगी था और न सांस्कृतिक दृष्टि से स्वीकार्य। परिणामत जनता इन पढ़े लिखे लोगो के द्वारा उपस्थित सुधार के कार्यक्रमो के प्रति शंकालु हो उठी। सुधार विचार स्थगित हो गए। सामाजिक एव पारिवारिक बहिष्कार का भय इतना आक्रांत करने लगा कि आर्य समाज तक के क्रान्तिकारी सुधार उसे स्वीकार्य न हुए। स्थिति की विषमता इतनी तीव्र हो गई और जीवन के प्रचलित कार्यक्रमो पर होने वाला विश्वास और उन्हे

बने ही बनाए रखने का आग्रह इतना बलवान हो गया कि विचार विनिमय का तिरस्कार प्रारम्भ हो गया। वह आपसे बहस नहीं करेगा आपके सामने चुप भी रहेगा जबानी आपकी बात मान भी लेगा किन्तु करेगा वही जिसका उसे परम्परा से समर्थन प्राप्त है। सुधारक स्वामियों और महात्माओं पर से भी उसकी शंका तब तक समाप्त नहीं हुई जब तक उनके कार्यक्रमों ने जीवन के भीतर घुस कर अपनी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध रूप में उपस्थित नहीं कर दी।

क्रांति या सुधार के किसी भी कार्यक्रम को जन-समूह ने सर्वप्रथम कभी भी स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार ब्राह्म वेला की सद्य जात अरुणाभा से पर्वतराज का उन्नत शिर और ललाट सर्वप्रथम वक्ष और कटि तत्पश्चात् चरणतल सबसे अन्त में अभिस्नात अथवा अनुरंजित होता है उसी प्रकार क्रांति की अग्नि शिखा-सी प्राज्ज्वल क्रांति से समाज के बुद्ध गाम्भीर्य-सम्पन्न व्यक्ति सर्वप्रथम मध्यवर्ग का उष्ण रक्त तरुण वर्ग तदुपरान्त और शेष समाज सबसे अन्त में उद्भासित होता है। राजा राममोहनराय द्वारा वर्णित सुधार सामान्य जनता में पहुँच कर अब स्वीकृत हो रहे हैं। स्वामी दयानन्द के द्वारा प्रचारित समाज-सुधार एवं धर्म-सुधार सामान्य जनता द्वारा पूर्णतः एवं सर्वथा अभी तक स्वीकृत न हो पाये, यद्यपि उनके प्रभावों से उसका जीवन पूरी तरह से दब गया है। प्रचलित व्यवस्था की तात्कालिक अवस्था के दोषों से जीवन तो सभी को आक्रान्त रखता है किन्तु उसकी चुभन की अनुभूति से आक्रान्त हो उठने वाले प्राणी या तो उत्तेजक होते हैं जिनको उस अनुभूति की धार को प्रखरतर कर देने वाले और चेतना को अनुभूतिशील बनाने वाले साधन और माध्यम सुलभ हैं और या फिर उनके भाग हैं जिनके अन्दर के शोणित कणों की ऊष्मा दुर्दमनीय होती है। एक बात और है। क्रान्ति या सुधार के कार्यक्रम को अपनाने पर जो तूफान खड़ा होजाता है या उसकी प्रतिकूल जो प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है उन्हें प्रभाव विहीन एवं निष्फल कर देने की शक्ति स्थिति एवं परिस्थिति भी तो होनी चाहिये। परम्परा के विरुद्ध *कोई कार्य यदि जवाहरलाल नेहरू करें तो कोई उनका क्या बिगाड़ लेगा!* इसी प्रकार यदि किसी प्रतिभाशाली नवयुवक ने अन्तर्जातीय या अन्तर्राष्ट्रीय विवाह सम्पन्न किया तो उसके विरुद्ध कोई क्या करेगा! हुक्का-पानी बन्द करो, वह सिगरेट पीने लगेगा? धन-सम्पन्न व्यक्ति अथवा पदाधिकारी के विरुद्ध कोई कार्य करते समय लोग आप ही लोग डरते हैं! फिर, आप उनके साथ न खाएं पिएं तो खाने-पीने में उनका साथ देने वाले एवं उनके लिए लालायित लोगों की कमी नहीं रहेगी! उनके बच्चों के शादी-ब्याह रुकेंगे नहीं! जाति बिरादरी में ब्याह करने की उन्हें वैसे ही चिन्ता नहीं रहती जाति से बाहर के प्रतिभाशाली तरुण-तरुणियों की भी कमी नहीं। जिस परम्परा को आज हम तोड़ रहे हैं उसे तोड़ने के लिए आज से बीस बाईस वर्षों के बाद कोई भी न

मिलेगा-यह माना भी नही जा सकता। बौद्धिकता एव युक्तिवाद की तरगों के प्रसार के साथ परलोक का भय आक्रांत करता नहीं। क्रांति निष्पन्न हो जाती है। धीरे-धीरे इसका अनुकरण होता है और छोटी स्थिति के लोग भी ऐसा ही करने लगते हैं। धीरे-धीरे यही प्रवृत्ति एक सामाजिक प्रवृत्ति बन जाती है। जनता के सामने इस कार्य-क्रम का व्यावहारिक रूप और परिणाम दोनो आ जाता है। इस प्रकार समाज बड़ी ही सतर्कता के साथ और अनुभव के बाद क्रांति के मार्ग पर चलने को तैयार होता है। नारी-शिक्षा की बात ले लीजिए। "स्त्री शूद्रो नाधीयाताम्" के आदर्श मे आपाद मस्तक डूबे हुए समाज के सामने एक सामाजिक क्रांति-स्त्री शिक्षा-का कार्यक्रम आय। पहले समाज के उन व्यक्तियो ने, जिनको इसकी सार्थकता बुद्धिग्राह्य थी, अपनी लड़कियों को पढ़ाना प्रारम्भ किया क्योकि उनके अन्दर इसका सामर्थ्य भी था कि वे इस कार्य की प्रतिक्रिया द्वारा उत्पन्न तूफान से अछूते रह सकें। दम्पति के बौद्धिक-स्तर की समानता की आवश्यकता ने भी इस कार्यक्रम के प्रचार मे सहायता दी। विधवाओं के आर्थिक स्वावलबन और तदुपरान्त परिवार की आर्थिक स्थिति के बेहतर होने के विचार ने भी स्त्री-शिक्षा के कार्यक्रम को और अधिक गतिशील किया। अनुभवों ने यह भी सिद्ध कर दिया कि पढ लिख कर लड़कियां न तो ईसाई हो हो जाती हैं और न भ्रष्टा ही। प्रत्यक्ष उपयोगिता सभावित आशका की अपेक्षा अधिक स्वीकार्य हुई। कार्यालयों म नौकरी करने वाली महिलाएं उपयोगी अधिक सिद्ध हुईं, असुविधा-जनक अपेक्षा-कृत कम। समाज को यह विश्वास हो गया कि इनसे उनका विघटन नही होगा और स्त्री-शिक्षा अनुकूल परिस्थिति पाकर बढने लगी। आज यह याद करके कौतूहल, मनोरजन और उसकी सावधानी के ऊपर सतोष होता है कि हमारे समाज ने किस ढग से धीरे धीरे लड़कियों को घर से बाहर निकाला है। रामायण पढ सकने भर को घर पर पढ़ने ....एक चिट्ठी मे हालचाल लिखकर मायके भेज सकने भर को पढ ले... ..बालिका-विद्यालय मे नौकरी करके वैधव्य का जीवन काट सकने भर को पढ ले......अच्छा और योग्य वर प्राप्त करने भर को पढ ले .....घर पर "पडित" रख कर पढ़वा लिया जाय......घर पर "मास्टर" लगाकर पढ़वा लिया जाय......सूर्य की किरण और वायु की लहर भी जिसके भीतर न जा सके, ऐसे ठेले में भर कर स्कूल भेज दिया जाय .....पर्दे से घिरी सवारी मे बैठा कर भाइयों या विश्वसनीय नौकरो से सुरक्षित करके भेज दिया जाय.. .. मुहल्ले की लड़कियो के साथ भेज दिया जाय... ..कोई भेज आया करे और ले आया करे . ...घड़ी देखकर जाया और आया करे ......बुर्का अथवा चद्दर ओढ कर जाया करें और उसको ओढ़े हुए ही कक्षा में बैठा करे ... ओढ कर जाया करे और मात्र कक्षा म ही मुंह खोल लिया करें......विद्यालय मे मुंह खोले रहें मगर उसकी चहारदीवारी के बाहर

बराबर ओढ़े-ढंके रहे..... मुँह खोल कर जाया करें !! सुनते हैं कि किसी विश्व विद्यालय में स्त्री-शिक्षा के लिये प्रत्येक कक्षा को दो वर्गों में विभाजित किया गया था, जिनमें से एक वर्ग के दोनों तरफ काले-मोटे पर्दे पड़े रहते थे ! ! ! कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे समाज ने क्रांतिकारी कार्यक्रमों को इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी उपयोगिता और हानि-शून्यता का प्रत्यक्ष अनुभव कर करके अपनाया है। इस रहस्य को न समझने वाले नासमझ लोग प्राय यह कह बैठते हैं कि भारतीय समाज की गतिशीलता और आधुनिक युग में "भैंसागाड़ी" की गतिशीलता एक-सी है। "चरमर चरमर चूँ चरर मरर *जा रही चली भैंसागाड़ी !*"[१] *जिनका विचार है कि भारतीय* समाज भयानक रूप से रूढ़िवादी है उनसे नम्र निवेदन है कि वे अपनी आँखों पर चढ़ा हुआ भ्रष्ट विदेशी दृष्टिकोण का चश्मा उतार दें। भारतीय समाज के मन में आशंका के कीटाणु भर जाने से, तथाकथित समाज-सुधारकों के दूषित एवं विषाक्त दृष्टिकोण के साक्षात् अनुभवों और इनकी तुलना में अपने ऋषियों-मुनियों-वेद शास्त्र पर अखंड विश्वास होने के कारण वह जल्दी उकता नहीं जाता। वह सोच समझ कर कदम उठाता है। सुधारकों के प्रति विश्वास, समुचित वातावरण उचित प्रेरणा, और सुयोग्य प्रोत्साहन पाकर भारतीय समाज कितना गतिशील हो उठता है इसका एक उदाहरण गांधी जी द्वारा संचालित आन्दोलनों की सफलता में मिल सकता है। गांधी *के आन्दोलनों ने भारतीय समाज को कितना और कितनी तेजी से बदल दिया है* यह पुरानी आंखें ही बता सकती हैं, पुराने हृदय ही अनुभव कर सकते हैं ! बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ऐसे सामाजिक क्रांति के कार्य सपन्न करके आपत्तियों और कठिनाइयों को सहन करने का साहस प्राय सभी वर्गों के थोड़े-बहुत व्यक्तियों में आ गया था। त्याग और बलिदान करने तथा कष्ट उठाने और साहस करने की शक्ति से सम्पन्न तथा बौद्धिक उदारता से युक्त जिन महामनाओं के अन्दर सामाजिक क्रांति करने की इच्छा पैदा हुई थी उन्हीं में से अधिकांश ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना भी की है। शेष लोग अँगरेजी लिख-पढ़कर अँगरेजी सोच-बोल कर और अँगरेजी रह-सहकर रुपया और अधिकार भोगते हुए परम्परित मार्ग पर अपने श्वासों प्रश्वासों और उच्छ्वासों से शरीर की गाड़ी ढकेलते रहे ! इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे आधुनिक साहित्य में हमारे तत्कालीन समाज और उसकी समस्याओं का प्रशस्त चित्रण प्राप्त है।

जाँति पाँति—

शिक्षा-व्यवस्था, नवीन आर्थिक जीवन और उसके परिणामस्वरूप निर्मित

१. भगवती प्रसाद वर्मा की 'भैंसागाड़ी' कविता की प्रथम पंक्ति।

मनोवृत्ति ने एक सबसे बड़ा कार्य यह किया कि जिन लोगों को इन्होंने प्रभावित कर रक्खा था उनके मन में से जातिवाद के विधि-निषेधों का भय समाप्त कर दिया। न मालूम कितने हजार वर्ष बीते जब (महाभारत के शब्दों में) श्रीकृष्ण ने गुण और कर्म के आधार पर चार वर्णों की रचना की थी। अलग-अलग जातियों और वर्गों को एक सामाजिक संगठन के अन्दर लाने का यह सफल प्रयास था तब से आज तक किसी न किसी रूप में हिन्दू समाज के अन्दर जाति-व्यवस्था प्रचलित है। अनन्त जीवनी शक्ति लेकर यह प्रथा जनमी थी कि हजारों वर्षों के बाद आज भी जीवित है। आज तक इसके सजीव एवं सक्रिय तथा समाज के लिये किसी न किसी रूप में उपयोगी बने रहने का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि एक तो यह मानव की कुछ मौलिक शाश्वत प्रवृत्तियों एवं प्रकृतियों के आधार पर विनिर्मित हुई थी और दूसरे यह कि समाज के विकास के साथ ज्यों-ज्यों वे प्रवृत्तियां और प्रकृतियां बदलती रहीं त्यों-त्यों इसने भी परिवर्तन स्वीकार किये। सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्तियां तथा सेवा कार्य मानव की शाश्वत प्रकृतियां हैं।

प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में ब्राह्मणत्व की जो व्याख्या की है यह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। ये प्राचीन काल के मानव समाज में थीं और आज के मानव समाज में भी हैं। इनके द्योतक कार्य मनुष्य पिछले युग में भी करता था और आज के युग में भी करता है, और एक तरह के कार्य करने वालों का एक वर्ग-एक समाज-पहले भी बनता था और आज भी बनता है। यह धंधों का विभिष्टीकरण था जो उस युग में भी था और आज भी है। एक तरह, एक स्वभाव और एक रुझान के लोगों में पारस्परिक खान-पान, विचार विनिमय, शादी-ब्याह का चल पड़ना न तब अस्वाभाविक था और न आज है। राजनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञों को और व्यापारी व्यापारियों को ही दावतें देगा। लिखन पढ़न वाले स्वभाव की लड़की को व्यापारी लड़के की गृहिणी बना देने में कोई भी समझदारी न तब थी, न आज है। अन्तर केवल इतना है कि हिन्दू समाज शास्त्रियों ने इसे एक व्यवस्था का रूप दे दिया था, आज इसे अवसर और परिस्थितियों की लहरों पर छोड़ दिया गया है।

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, 'यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें समतोल पैदा करना था लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिये और मानवीय मस्तिष्क के लिये बन्दी घर बन गई।'[1] अस्तु, बुराई केवल तब आई जब इस जाति-व्यवस्था में कट्टरता आ गई। कहना यह है कि यह कट्टरता इस जाति-व्यवस्था अनि-

१ 'हिन्दुस्तान की कहानी' पृ० ३८

उद्भूत एवं विकसित भी नहीं हुआ है। वह बाहर से लाकर लादा गया है। हमारी नब्बे प्रतिशत जनता आज भी उसी मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों वाली है। दो सौ वर्षों तक उसके विकास को रोके रखा गया और इधर कुछ दशाब्दियों की अवधि में उसके अन्दर आधुनिक युग का वातावरण लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इसलिये यदि अपने आलोच्यकाल के भारतीय समाज को हम देखते हैं तो वह उन प्रवृत्तियों और दोषों से भरा हुआ दीखता है जो मध्ययुगीन हैं और जिसकी जड़ में कट्टर जातिवाद है। हमारा समाज जाति एवं उपजाति के टुकड़ों में बँटा हुआ है। ऊँच-नीच का भेद गाव बहुत है। इसके अनुसार जन्म से ही व्यक्ति का सामाजिक स्थान निश्चित हो जाता है। प्रतिभा और सम्पत्ति के बल पर उसे बदला नहीं जा सकता। इसके अनुसार अपनी जाति से बाहर शादी नहीं की जा सकती। अस्पृश्यता की भावना को इसी समस्या ने जन्म दिया है। इसके कारण सामाजिकता की व्यापक भावना विकसित नहीं होने पायी। व्यक्ति का दृष्टिकोण जाति बिरादरी तक ही सीमित रह जाता है। जाति भावना जीवनके हरक्षेत्रमें प्रमुखता पायेगी। अतएव व्यक्ति कीव्यक्तिगत स्वतन्त्रताका कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया। हमारे आलोच्य काल में खान-पान, शादी-ब्याह, ऊँच नीच और व्यवसाय की सीमाबन्दी को प्रमुखता रही। इस शताब्दी के प्रारम्भ में जब गजेन्द्र बाबू कलकत्ता पढ़ने गये तब 'जाति-पाँति का झगड़ा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू होस्टल में हमने अपने लिए अलग चौका रखा था जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था। यद्यपि मैं डाक्टर गणेश प्रसाद के साथ भोज में शरीक हुआ था, तथापि जाति का बन्धन बहुत मानता था। वह तो मेरी अपनी जाति के आदमी (कायस्थ) थे, किसी भी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ कोई अन्न, जो अपने देश (बिहार) में नहीं खाया जाता है, वहाँ नहीं खाया। इतने दिनों तक वहाँ रहा, मगर बंगाली 'मेस में पक्का रसोई एक दिन भी नहीं खायी।'[1] यह एक आदमी या एक परिवार की बात नहीं थी। "…. न बिहार के गाँव का रहने वाला कोई आदमी होटल में रहकर वहाँ खाना पसन्द करता था .. "।[2] 'मेरी जीवन यात्रा' में राहुल सांकृत्यायन ने समुद्र-यात्रा के वर्जित होने की बात लिखी है। समुद्र-यात्रा करने ही के कारण बलिया के विश्व विख्यात गणितज्ञ डाक्टर गणेश प्रसाद और गुजरात के महात्मा गांधी जाति से निकाल दिये गये थे। गांधी जी के लिए उनकी जाति की पंचायत ने यह दण्ड घोषित किया था, यह लड़का आज से जाति च्युत माना जायगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे विदा करने जायगा, पंच उससे

---

१. "आत्मकथा", पृ ७८।

२. "बापू के कदमों में", पृ ३।

जवाब तलब करेंगे और उनसे सवा रुपया दंड का लिया जायगा।"[1] जातिवाद ने खोखले अहंकार की भावना पैदा कर दी है और इसका सबसे बड़ा शिकार लालची और खुशामदी 'बाभन' वर्ग हुआ है। छोटे वर्ग के नौकर "सलाम" करते हैं और अहंकारी 'बाभन' चपरासी "सलाम" को अपमान समझकर पहले ही 'आसिरवाद हुजूर' कह कर उसकी पूर्ति करता है। जो किसी का परिणाम था वह वास्तविक परिणाम का कारण बन जाता है। सलाम करके साहब की जो अनुकूलता अहीर चपरासी प्राप्त करता है वही 'आसिरवाद' कहकर "बाभन-देवता" प्राप्त करते हैं यह जातिवाद अब शादी ब्याह पर अथवा सकुल में खान-पान, और कुछ संस्कारों के अवसरों तक ही सीमित रह गया है।

कट्टरता वाला दृष्टिकोण बदला—

आपत्ति युग के अन्त और नवीन युग के आगमन ने युग-विशेष द्वारा जनित और मान्यता प्राप्त कट्टरता को समाप्त कर दिया है, क्योंकि उस युग की प्रवृत्तियां नये युग के जीवन, नई विचारधाराओं, और नई प्रवृत्तियों के प्रतिकूल हैं। के० एम० पणिक्कर का विचार है कि जातिवाद और प्रजातन्त्र ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं, क्योंकि एक का आधार समानता है और दूसरे का, जन्म के आधार पर नियत छोटाई-बड़ाई।[2] सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप हिंदू जाति में जो विचार-मंथन हुआ उससे यह नवनीत या अमृत निकला कि हिंदू धर्म सम्प्रदाय नहीं है। उसका बहुत बड़ा गुण, उसका सबसे बड़ा गौरव और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अनेक सम्प्रदायों की समष्टि होने पर भी स्वतः सम्प्रदाय नहीं है। अन्य जाति की पवित्रता एवं विशुद्धता के नाम पर अन्य लोगों से दूर रहना और मनुष्य से परहेज करना वास्तविक पवित्रता एवं विशुद्धता नहीं है। छुआछूत, खान पान शादी-ब्याह आदि सामाजिक बातें हैं जो समय और परिस्थिति के साथ बदलती रहती हैं। ये हमारे धर्म के शाश्वत एवं मौलिक तत्व नहीं। इस प्रकार धर्म जातिवाद से अलग हो गया। समाज के महत्वपूर्ण लोगों की समझ में यह बात आ गई जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर कट्टरता समाप्त हो गई और दूसरी ओर जातियों की उत्पत्ति उनके विकास और उनके महत्व को सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से देखा जाने लगा। भगवानदास ने लिखा है, आश्चर्य नहीं कि जब दो सहस्त्र वर्ष पहले ब्राह्मण जाति बाहर से आई तब एक शाखा तलवार-बहादुर होने के कारण क्षत्रियों में मिल गई और दूसरी शाखा कलम की हथियारी होने के कारण, किन्तु सर्वथा ब्राह्मण वृत्ति की अभिलाषा न करके, एक अनिश्चित रूप से नये नाम से विख्यात हो गई जिसके व्यक्ति अपनी-अपनी विशेष प्रकृति, प्रवृत्ति और आचार-विचार के अनुसार कभी क्षत्रियों की ओर (शायद), कभी वैश्यों की ओर, कभी शूद्रों की ओर झुकते रहे तथा

१ गांधी जी की आत्मकथा का पन्द्रहवां प्रसंग।
२ 'कास्ट", नामक पुस्तक।

इस जाति की एक तीसरी शाखा, जिसने सर्वथा ब्राह्मण वृत्ति अंगीकार की वह प्राय 'शाकद्वीपी' ब्राह्मण हो गई।"[1] इसी जाति की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उपर्युक्त विद्वान ने लिखा है, 'मनुष्य की स्मृति, मनुष्य का हृदय, चित्त ही तात्विक वास्तविक आध्यात्मिक 'महाफिज दफ्तर' "रेकर्ड कीपर" मूल चित्रगुप्त है।'[2] इस प्रकार जातियां एक नई ही शक्ल में हमारे सामने आई। उनकी मध्ययुगीन कट्टरता समाप्त हो गई। इस युग में आर्यसमाज के आंदोलन ने भी इस कट्टरता को मिटाने में बड़ा योग दिया। इसके लिए त्याग बलिदान न करने पड़े हो, आजीवन कष्ट न सहना पड़ा हो ऐसी बात नहीं किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति हो चली। नई जीवन-पद्धति, नवीन आवश्यकताओं और नई मजबूरियों ने धीरे-धीरे इन बंधनों को काट फेंका। पहले छिप कर उन्हें तोड़ा गया, फिर खुल्लमखुल्ला सबके सामने। जीवन बदला। रहन-सहन के ढंग बदले। मानव के महत्व-मूल्यांकन की कसौटी बनी उसकी योग्यता, उसके व्यक्तिगत गुण, और उसकी विशेषताएं। जातिवाद न तो धार्मिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति में सहायक रह गया और न उसकी सामाजिक आवश्यकता ही रह गई। आज के जीवन के राजनीतिक प्रजातंत्र, आर्थिक प्रजातंत्र, और सामाजिक प्रजातन्त्र ने इसकी कट्टरता को निर्मूल कर दिया। गावों की कूपमंडूकता की समाप्ति, भूमि में व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था, औद्योगीकरण और नये-नये व्यवसाय, शहरों के पेचीदा जीवन सबके लिए बसों और रेलों में यात्रा करने के एक समान अधिकार इच्छा या अनिच्छापूर्वक विस्तृत जनसमूह के साथ संपर्क, आदि के कारण जातिप्रथा का व्यावसायिक महत्व समाप्त हो गया। दूर देश में जाकर कमाने की प्रवृत्ति ने स्थानीय समाज या बिरादरी के बहिष्कार को निरर्थक कर दिया दण्ड अब सरकार देती है। गांव का बड़ा-बूढ़ा या पंडित जी अब दण्ड-व्यवस्था नहीं दे सकते। अधिक बढ़े तो सरकारी कानून की पकड़ में आ जायेंगे। पंडित जी इसे खूब समझते हैं! हुक्का न पियोगे, खाना न खाओगे तो क्या हो जायगा? पैसा ही बचेगा! और फिर, जीवन के लिये उपयोगी व्यवहार तो दूसरे ही समाज के लोगों से करना होता है! ये लोग हमारे काम न आएंगे! सुभद्राकुमारी चौहान की लड़की के ब्याह में उनके कुटुम्ब और जाति वाले नहीं गये तो न तो शादी रुकी न शादी का गौरव और न उसका नवदम्पति के जीवन पर कोई अनिष्टकारी प्रभाव ही पड़ा। रुपये की लालच और 'बड़े आदमियों' के रोब में आकर वृद्ध पंडित जी लोग अनुकूल

१ "समन्वय", पृ० २०८-२०६।
२. वही, पृ० २३०।

भी काम नही कर सकते, (३) ये सवर्ण हिन्दुओ को पानी नही पिला सकते, (४) ये हिन्दू-मदिरो के भीतर नही जा सकते, (५) जन साधारण के लिये निर्मित सड़को पुलो, कुओ, स्कूलो, आदि का इनके लिये उपयोग वर्जित है, और (६) गन्दे एव घृणित काम करने से इनकार नही कर सकते। ये छहो प्रतिबन्ध सभी अछूत वर्गों पर एक साथ ही लागू हो ऐसी बात नही है। जाति एव प्रदेश के साथ इन मे कमी-बेशी हो सकती है। आजकल अधिकतर ऐसा हो गया है कि गन्दगी उठाते समय लोग इनको न छूते है, न सामान्यत इनके हाथ का छुआ खाते है और न इनके हाथ का पानी पीते है। इन अछूतो म कुछ वर्ग ऐसे है जो औरो के द्वारा अस्पृश्य माने जाते हुए भी अपने से तथाकथित निम्नवर्ग वालो को अछूत समझते है। इनकी भयानकता नगरो मे उतनी अधिक नही दिखलाई पडती जितनी देहातो मे क्योकि एक तो शहरो मे आवश्यकता, परिस्थिति, बौद्धिकता एव विशेषता-जन्य, प्रजातन्त्रात्मकता एव नागरिक स्वतत्रता के पीछे इनकी दुर्गति की भयानकता छिप जाती है, और दूसरे, ये लोग शहरो मे जहा ५१ लाख के लगभग है वहा देहात मे ५ करोड से भी अधिक है। भगी चमार, पासी, कोरी, खटिक, धोबी, डोम, दुसाध, मोची, आदि इन अछूत वर्गों मे माने जाते है। १९२१ म इनकी संख्या ५ करोड २७ लाख थी जो १९३१ म ५ करोड २ लाख रह गई। १९४१ मे इनकी सख्या और भी घटी और कुल ४ करोड ८ लाख रह गई किन्तु १९५१ मे य फिर बढ कर ५ करोड ५३ लाख हो गये। मनुष्य जाति के इतने बडे वग को मनुष्य के सामान्य अथवा नागरिकता के मूलभूत अधिकारो से वचित रखना सचमुच मानवता का अपमान था। सास्कृतिक पुनर्जागरण अथवा बौद्धिक नवोत्थान की ज्योति से इनकी दुर्दशा का नया अर्थ हमारी समक्ष मे आने लगा। जाति के एक भाग को पशुवत् जीवन बिताने के लिये विवश करके हम समस्त भारत को प्रगति और आत्मगौरव की प्राप्ति के पथ पर स्वच्छ गति से गतिशील कैसे कर सकते है यह सोचा जाने लगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के अध्याय २६ के के दूसरे श्लोक का उद्धरण देते हुए अछूतो के अध्ययन के अधिकार का समर्थन किया[१] और फिर लिखा "और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शका है वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ाने से है ...... आर्यों के घर मे शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री पुरुष पाकादि सेवा करें परन्तु वे शरीर-वस्त्र आदि से पवित्र रहे ' ' '।[२] गाधी जी इसको हिन्दू जाति का ऐसा अक्षम्य और भयानक पाप समझते थे जिसके परिणामस्वरूप उसे न मालूम कितने कष्ट उठाने पड रहे है। जवाहरलाल नेहरु ने लिखा, यह कि हम मे

१ "सत्यार्थ प्रकाश , तृतीय समुल्लास।
२ प्रकाश", प्रकाश दशम समुल्लास।

ऊँचता-नीचता नहीं होनी चाहिए। हमारे हरिजन भाई हैं जिनको हम जाने कितने युगों से दबाए हुए हैं। यह बात खत्म हो जानी चाहिये।"[१] इसका सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ कि अपनी स्थिति से असतुष्ट होकर और उससे श्रेष्ठतर स्थिति में रखे जाने का आश्वासन पाकर ये लोग हिन्दूधर्म छोड़ने लगे। इनके नेता डा० अम्बेदकर ने यह कहा था कि अस्पृश्य लोग मुसलमान और ईसाई हो जायेंगे। मरने से कुछ वर्ष पूर्व व काफी लोगों को साथ लेकर बौद्ध हो ही गये थे। वैसे भी, इनके नेताओं ने अपने को हिंदू कहना छोड़ दिया और अपने हितों के लिये हिंदुओं से पृथक होने का प्रयत्न करने लगे। अंगरेजी सरकार ने इस स्थिति का लाभ उठाया और दलित या अछूत जातियों की मनोवैज्ञानिक स्थिति का लाभ उठाकर इनके हितों के प्रश्न को उकसा कर, स्वराज्य आंदोलन के विरुद्ध एक अमोघ अस्त्र के रूप में इसका उपयोग किया। इनकी स्थिति में सुधार के प्रयत्न किये गये स्वयं इन लोगों ने 'अखिल भारतीय दलित संघ', "अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन", आदि संस्थाएँ बनाकर, पढ़ लिखा कर, व्यापार, आदि के द्वारा अपनी आर्थिक स्थिति अच्छी करके, हड़ताल, आदि द्वारा अपना श्रमिक बढ़वा कर और स्वतः अपने सामाजिक महत्व की थोड़ी-बहुत अनुभूति करके अपने को अच्छा समझे जाने योग्य बनाया। १९३१ में जब अंगरेजी सरकार ने अपना "साम्प्रदायिक परिनिर्णय" घोषित किया था तब उसके विरुद्ध गांधी ने जो अनशन किया था उसने देश भर। अछूतोद्धार की एक सबल लहर फैला दी और एक सप्ताह के अन्दर ही जैसे देश की कायापलट हो गई। राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, "नतीजा यह हुआ कि आज अस्पृश्यता आहिस्ता-आहिस्ता अपने दुर्ग के एक एक कोने से निकलती जा रही है।"[२] आर्यसमाज पहले ही से इस प्रश्न को उठाये था। सम्मेलनों में भंगियों के हाथ से बनारसी बंटवाना, उनसे भोजन बनवा कर परोसवाना, उनको अपने पास बिठलाना, आदि आये दिन का कार्यक्रम हो गया था।

गांधी जी द्वारा स्थापित 'हरिजन सेवक संघ' ने भी इनकी स्थिति सँभालने में असाधारण योग दिया। हरिजनों के लिये स्कूल खुले, छात्रावास स्थापित हुए, छात्रवृत्तियाँ और पुस्तक-सहायताएँ दी गई, हरिजन बस्तियों की सफाइयाँ हुई, स्वयं गांधी जी हरिजन बस्तियों में ठहरने लगे, और अनेक मन्दिर इनके लिये खुल गए। ब्रह्म समाज, आर्यसमाज, सामाजिक क्रान्ति एवं समाज सुधार की भावना ने अस्पृश्यता के उन्मूलन के प्रयत्नों को वेगवान बना दिया। हिंदू पुनरुत्थान की दृष्टि से यह कार्य

१. "हिन्दुस्तान की समस्याएँ", पृ. १५।

२. "बापू के कदमों में", पृ. ७६।

अनिवार्य था। व्यापक मानवता भी इसी की माग कर रही थी। राष्ट्रीयता एकता, शक्ति और सगठन के नाम पर भी इस कुप्रथा का अ त हो जाना चाहिये था। आर्यसमाज के शुद्धि-आदोलन और शुद्धि और हरिजनोद्धार के लिये महामना मालवीय के समर्थन ने भी हिन्दुओ को इस कार्य के लिये प्रोत्साहित किया अंगरेजी सरकार ने इस सबध मे कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया। जन आदोलनो से प्रभावित होकर १६३५ ई० के सविधान म अछूत जातियो की एक अनुसूची तैयार की थी जिसका उद्देश्य इनकी दशा सुधारना था। १६३७ के काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने हरिजनो के उत्थान के लिये विभिन्न प्रकार की योजनाए बनाई। इस समय इनकी दशा और मनोवृत्ति में आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तन उपस्थित हो गया है, यद्यपि न तो वह पर्याप्त है और न व्यापक। जो कुछ है वह शहर तक सीमित है। हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य मे इन अस्पृश्यो की जागृति और विद्रोह के बडे ही सशक्त और प्रभावशाली चित्र मिलते हैं। इसके पूर्व साहित्य मे विशेषत गद्य मे सुधारवादी मनोवृत्ति अर्थात् हरिजनो के प्रति सहानुभूति-सूचक दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। सम्भ्रान्त कुल के लडके खूबसूरत हरिजन लडकी से शादी करने की क्रान्ति करते हुए दिखाई पडते थे। कविता मे इस सुधारवादी दृष्टिकोण की भावात्मक अभिव्यक्ति हुई है।

नारी दयनीय स्थिति—

सास्कृतिक पुनरुत्थान के वातावरण ने हमे देखने की जो दृष्टि दी अथवा गत आत्मगौरव की पुनर्प्राप्ति के अभिलाषियो ने जब अपने समाज को देखना प्रारम्भ किया, तात्पर्य यह कि जब हमने यह सोचना प्रारम्भ किया कि यदि हम पहले-जैसा महान बनना है तो अपनी किन-किन कमियो को मिटाना होगा तब हमने पाया कि हमारे समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्ग हमारे अस्तित्व का एक अनिवार्य अ ग सभी दृष्टियों से अत्यन्त दयनीय स्थिति मे है। उसको अनिवार्य रूप मे दूसरे के घर जाकर रहना है-इस विचार और इस मनोविज्ञान ने परिवार मे उसकी स्थिति गौण कर रखी है। सामान्यत लोग ऐसी लडकी से अपने लडके का ब्याह करना पसद करते हैं जो असूर्यम्पश्या हो, जिसे किसी पर-पुरुष ने छुआ तक न हो, जो सर झुकाकर चलती हो, जो आख उठाकर, आख भर, आख मिलाकर देखती न हो जोर से बोलती न हो, मुंह खोलकर चलती न हो, मन की बातों को मन मे दबा कर रखना जानती हो, नय घर मे आकर अधिकार जमाने की इच्छा न रखती हो, बहस न करती हो जो दिया जाय वही खाय, जो कहा जाय वही सुने, जितना कहा जाय उतना ही करे, उल्टा-सीधा जो भी आदेश हो उसे बिना मीन मेख निकाले मान ले जिसके पास न अपना कोई मन हो, न अपनी कोई रुचि, न अपना कोई अधिकार, जो अपने कमरे

उनके लिये दो ही मार्ग थे – या तो वे परिवार की दासता स्वीकार करके आजीवन करुणतम स्थिति में रहकर सबके व्यंग्य और अत्याचार सहती रहें या वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लें। पुरुष कुछ भी करके क्षम्य था, स्त्रियां स्वाभाविक भूल चूक से भी कुछ भी करने पर अक्षम्य थीं। बाल विवाह की चरम सीमा भ्रूण विवाहों के रूप में दिखाई पड़ने लगी थी। नासमझ बच्चों को ससुराल की इच्छानुसार रहने के लिये बाध्य करना सरल भी तो होता है। सम्पत्ति पर उनका कभी भी कोई भी अधिकार नहीं था – न पुत्री की हैसियत से न पत्नी की हैसियत से, न विधवा की हैसियत से। हमारे पास दो मापदण्ड थे पुरुष के लिये दूसरा और नारी के लिये दूसरा। पुरुषनिष्ठ पत्नी पतिव्रता है, शोभा है, पूज्या है, पत्नी-निष्ठ पुरुष 'जोरू का गुलाम' है, स्त्रैण, अशोभनीय। स्त्री के लिये ब्रह्मचर्य निषिद्ध है अकल्पनीय, पुरुष के लिये वह महत्ता का माध्यम है, करणीय। लाला लाजपतराय ने लिखा है 'जिस देश में पुरुषों की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति गुलामों की सी हो वहां स्त्रियों की स्थिति किसी दशा में अच्छी नहीं हो सकती। भारतीय स्त्रियों की वर्तमान दशा पश्चिमीय स्त्रियों की अपेक्षा उतनी ही बुरी है जितनी कि भारतीय पुरुषों की दशा पश्चिमीय पुरुषों की दशा से बुरी है।'[1]

नारी-जागरण—

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के आंदोलनों ने इस स्थिति की अवांछनीयता प्रत्यक्ष कर दी। हमने विचार विनिमय प्रारम्भ किया। पिछले इतिहास पर दृष्टि डाली और पाया कि वैदिक युग में शिक्षा और सामाजिकता की दृष्टि से नारी की स्थिति पुरुष के समान थी। हिन्दू नारी का आदर्श स्वरूप हमें सीता में मिला। महाभारत में नारी की स्थिति इतनी अच्छी थी कि वे पुरुषों को धर्म और समाज की समस्याओं पर राय दे सकती थी। द्रौपदी को पंडिता कहा गया है। भीष्म ने नारी को 'लालयितवा' रखने की राय दी है और पूज्या माना गया है। प्रियदर्शना सौभाग्ययुक्ता एवं 'गुणान्विता' कहा है। शान्ति पर्व में उन्होंने पुत्र रहित राजा की मृत्यु पर उसकी कन्या को रानी पद देने का विधान दिया है (जो आज के भी सभी सभ्य राजतंत्रों में प्रचलित है)। स्मृतियों में लिखा है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'। मनु ने 'पूज्या भूषयितव्या' कहा है। शास्त्रों में यह भी विधान है कि यदि पुत्री ऐसे वर को दी जाती है जो गुणहीन या चरित्रहीन है तो पुत्री को ऐसा वर कभी भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। वह चाहे तो मृत्युपर्यन्त पिता के घर में कुमारी बनी रह सकती है। ऋतुमती होने के तीन वर्षों में भी यदि

1. 'दुखी भारत', पृ० १६६।

वह पिता के प्रयत्नों के द्वारा विवाहिता न हो पाये तो उसे अपना वर स्वयं चुन लेने का अधिकार दिया गया था जिसका उपयोग अपने पिता की तथा धर्मप्राण नारद की राय से सावित्री ने किया था। पहले नारी को मन्त्रपूत किया जा सकता था, वह पढ़ाया जा सकता था, सावित्री मन्त्र के उच्चारण का अधिकार दिया गया था। मनु ने कहा है कि गृहस्थ को अपनी कन्या के साथ बड़ी ही सावधानी से एवं स्नेह-प्रेम से व्यवहार करना चाहिये। उन्हीं के अनुसार अपनी बहन, पिता की बहन और माता की बहन को मा-सी समझना चाहिये। गुरु से पिता सौ गुना और पिता से माता हजार गुनी अधिक आदरणीय होती है। वराहमिहिर कहते हैं कि सच बताइये, नारी में कौन ऐसे दोष हैं जो पुरुष मे नहीं पाये जाते ! मनु कहते हैं —सोमास्तासाम् अदाच्छौचम् गन्धर्वा शिक्षिताम् गिराम, अग्निश्च सर्व-भक्षित्वम् तस्मात् निष्कसमा स्त्रियश्च. वे सोने जैसी हैं ! वे सभी प्रकार से बुद्धिशीला और पवित्र होती हैं। निर्दोष होती हैं। उनको पतित करने का उत्तरदायी पुरुष होता है। हमारे सभी आश्रम नारी के लिये सुलभ थे। जहां हमने देव-योनि में पुरुषों की कल्पना की है, वहां नारियों का भी की है। उनको सर्वप्रमुख स्थान दिया है। सबसे अधिक पवित्र मन्त्र की कल्पना (*गायत्री*), मानव *की सर्वोत्कृष्ट वृत्ति-धी की कल्पना* (*सरस्वती*), लौकिक एवं सामाजिक जीवन के श्रेष्ठतम साधन-धन-की कल्पना (लक्ष्मी), एवं सब-कुछ सुरक्षित रखने के श्रेष्ठतम साधन ताकत-की पूर्णतम कल्पना (महाशक्ति, दुर्गा) भारत मे नारी स्वरूप है ? हम "राम" बाद मे कहते हैं, "सीता" पहले कहते है, "कृष्ण" बाद में कहते हैं, "राधा" पहले कहते हैं। हमारा आदर सूचक विशेषण "श्री" है जो स्त्रीलिंग है।

एक ओर यह स्थिति और दूसरी ओर वह। हम सोचना पड़ा कि इसका कारण क्या है। हमें लगा कि हमारी वर्तमान स्थिति युग एवं परिस्थितिजन्य है, वह हमारी शाश्वत प्रकृति नहीं है। हमें अपने जीवन को सांस्कृतिक दृष्टि से जिस ओर ले जाना था उसका जो चित्र हमें मिला वह उपर्युक्त वैदिक युग की स्थिति के अनुरूप था-बल्कि तात्विक दृष्टि से लगभग वही था। हम कारणों के पीछे अधिक न उलझ कर वर्तमान स्थिति की भर्त्सना और वांछित स्थिति की ओर बढने का उद्बोधन देने लगे। संवत् १९३९ में स्वामी दयानन्द ने लिखा कि "स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः" कपोल कल्पना है, किसी प्रामाणिक ग्रंथ की बात नहीं है।[1] स्त्री सुधार की दृष्टि से स्वामी दयानन्द के "सत्यार्थप्रकाश" का चतुर्थ समुल्लास असाधारण रूप से क्रान्तिकारी अनुबंध है। उद्धरण सभी आर्षग्रंथों के हैं और दृष्टिकोण इतना क्रांतिकारी है कि उसको पूर्णरूप से हिन्दू-समाज आज तक भी नहीं अपना पाया है। तब

१. "सत्यार्थप्रकाश", चतुर्थसमुल्लास।

परदे में रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी अधिक विश्वास है कि इस बर्बर रिवाज का पूरी तरह अन्त होना हमारे समाजी जीवन की उन्नति के लिये अनिवार्य है"[१], और दूसरी ओर स्वामी शिवानन्द के इसी प्रकार के निर्णय में कि पर्दा प्रथा का जन्म यूनान में हुआ जहां से यह ईरान में आकर वहां के प्रारंभिक मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा भारत में लाई गई।[२] इस रिवाज के पूर्णतया उन्मूलन में शताब्दियों से चलती आती हुई समूह की एक भ्रमपूर्ण धारणा, मनोवृत्ति, मात्र बाधा के रूप में रह गई है। कोई भी समझदार व्यक्ति अब इसका समर्थन नहीं करता। नारी को पिंजड़े में बन्द रखने की जितनी भी धार्मिक युक्तियां या फतवे थे उन सबका तिरस्कार हो गया। भारत की प्राचीन नारी की स्थिति स्वागतार्ह हुई।

नारी और राष्ट्रीयता—

पश्चिम की आधुनिक नारी की स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन से भी नारी-स्वतन्त्रता की भावना को प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय आंदोलन और गांधी जी का महत्व इस दृष्टि से असाधारण था। जिस नारी का समाज ने गौण स्थान दे रखा था उसे गांधी जी ने हिन्दू संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्व "अहिंसा" और युग के सर्वश्रेष्ठ हथियार, सत्याग्रह, का प्रतीक साक्षात् अवतार-साकार स्वरूप-घोषित किया। युगों-युगों के बाद पहली बार भारतीय नारी ने (गांधी जी द्वारा सचालित) राष्ट्रव्यापी आंदोलन में मर्दों के समान खुल कर उत्साहपूर्वक भाग लिया और इस प्रकार आधुनिक युग में पहली बार नारियों में निहित शक्ति और क्षमता की सामूहिक एवं प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हुई। तारा जिनकिन ने लिखा है कि सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से आज की भारतीय नारी महात्मा गांधी की सृष्टि है।[३] उदार दृष्टिकोण और युक्तिवादी विचारों की तलवार ने नारी के समस्त बन्धन छिन्न भिन्न कर दिये। पर्दा अब लाज-लिहाज और आकर्षण-वृद्धि के लिये किया-कराया जाता है। समझदारी आने के साथ साथ बाल विवाह खत्म होने लगा। यथार्थवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण ने विधवा-विवाह को मान्यता दिला दी।

नारी-शिक्षा

ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज रामकृष्ण मिशन एवं उदारचेता व्यक्तियों, आदि ने नारी शिक्षा का कार्यक्रम उठाया। १९१६ ई० में डी० के० कर्वे जी की 'दि इंडियन वीमेंस यूनिवर्सिटी' स्थापित हुई। १९१७ में छात्राओं की सख्या ११६०००० थी

१. 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ २०४-२०५।

२ हिंदुस्तान की कहानी', पृ. २०४-२०५।

३ "वर्ल्ड पार्लियामेंट आफ रिलीजन" का कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ ४५३।

और १९३७ ई० म २८९०००० हो गई। यह अवश्य है कि लड़कियो के जीवन के लिये उपयोगी पाठ्यक्रमो का अभाव था। इन्हे सहशिक्षा की नहीं, सद्शिक्षा की आवश्यकता थी। प्रयाग महिला विद्यापीठ, प्रयाग, न इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया था पर उसका व्यापक न पड सका। योग्य अध्यापिकाओ का भी अभाव था क्यो कि धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार, 'कुछ दिन पहल अपने देश मे स्त्रियो के बीच मे पढना लिखना विधवाओ का कार्य समझा जाता था और प्रारम्भ मे प्राय या भी ऐसा ही • अध्यापिकाएँ प्राय विधवाएँ या कुमारी वर्ग की हैं • • यदि सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उसे ऐसी कुमारी अध्यापिका अथवा विधवा अध्यापिका बनकर गृहस्थिन-मा बनना पडे तो उस का सारा जन्म दुख मे कटे"[१] भारत की नारी की शिक्षा की प्रगति मे बडी-बडी बाधाएँ थी, जैसे पर्दा, बाल-विवाह, लडकियो के पढवाने मे सामाजिक असुविधाओ और अनर्थ की आशकाओ क कारण मा-बाप की हिचकिचाहट, नारी शिक्षा के पाश्चात्य स्वरूप पर अविश्वास, मध्य वर्ग की आर्थिक दुरवस्था, आदि। "फिर भी, पिछले ५० वर्षो के अन्दर उपहास और उपेक्षा की स्थिति से आगे बढकर उत्साह प्रेरित क्रियाशीलताओं और उत्सुकताओ तक की स्थिति आ गई है।[२] सन् १९५१ ई० के जनगणना के अनुसार भारत में शिक्षित नारियो की कुल सख्या १३६६०६८३ थी जिसमे २९२०६० हाई स्कूल पास थी, ५९२७९ इन्टर, और १८३०९४ डिग्री या डिप्लोमा पाये थी। ३६९४४ बी० ए० और बी०एस-सी० थी, ६८३७ एम०ए०-एम० एस-सी०, ६३२ इजीनियरिंग की डिग्री या डिप्लोमा पाये थी, ८५३ औषधि विज्ञान की, १०३५ वाणिज्य विज्ञान की, ८३३१ औषधि कला मे दीक्षित थी, और ३७७७७ प्रशिक्षण मे।

जागृत-नारी—

अब नारियो ने खुल कर अधिकारो की माग की। शिक्षा, महान् विभूतियो के सद्भावना सूचक दृष्टिकोण, उद्गारों, एव क्रियात्मक सहयोग ने नारी को साहस प्रदान किया। उसे अपनी बुद्धि और नैतिक दृढता पर आत्मविश्वास हुआ। पर्दा हटा। वह बाहर निकली। 'चाद" मे प्रकाशित लेखो और महादेवी वर्मा की 'शृखला की कडिया" नामक पुस्तक के लेखों ने क्राति मचा दी। रूढ़िवादियो ने अपनी बालिकाओं को ऐसे साहित्य के पढने से रोकना चाहा। शरतचन्द्र चटर्जी की कहानियों और उपन्यासों के अनुवादो ने उसके नैतिक आत्म-बलिदान की सराहना का प्रचार किया। गाधी ने कहा कि जिस दिन भारत की नारियां डरना छोड

---

१ "विचारधारा', पृ० १३०।

दगी उस दिन कोई इस देश की ओर आख उठा कर देख भी न सकेगा। नारी का मत्त्व प्रतिष्ठापित हो गया। उनका व्यक्तित्व सबल, स्वतन्त्र, और महत्वपूर्ण हो गया। ए०आर० देसाई ने लिखा है "हजारो महिलाएँ राजनीतिक क्षेत्र के जन आन्दोलन मे भाग ले रही हैं—शराब की भट्टियो और विदेशी वस्त्रो की दुकानो पर पिकेटिंग कर रही हैं जुलूस म आगे आगे चल रही हैं, लाठियो की मारें और गालियो की बौछार झेल रही हैं, जेल जा रही हैं। ये दृश्य महिला समाज के ये कार्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में अद्वितीय थे—अनोखे थे।"[1] हजारो श्वेताम्बर धारण किये कमल कोमल किन्तु वज्रादपि कठोर करो से तिरंगे झंडे फहराती हुई तथा 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाकर वायुमंडल को प्रकम्पित करती हुई ब्रिटिश साम्राज्यवाद के वक्ष को अपने पाचजन्यी घोष एवं गाडीव निनाद मे आलोडित विलोडित करती हुई निकल पड़ी। और जो बाहर नहीं निकली उन्होंने मूक भाव मे विज्ञापित न करते हुए भी जिन असाधारण कष्ट सह सहकर भी अपने घर के पुरुषो को घर की जिम्मेदारी से मुक्त करके राष्ट्र-सेवा के लिये जीवन अर्पित करने का जो सुअवसर प्रदान किया उससे भारतमाता की छाती गौरव से फूल उठी होगी, हृदय आवेग से प्रकम्पित हो उठा होगा, आख भावावेश मे गीली हो उठी होगी। 'यशोधरा' ने पूछा था—सखि, वे मुझसे कह कर जाते, कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते?[2] इसका उत्तर भारत की इन्ही बेटियो ने अपने बलिदानो मे दिया। मुझे तो ऐसा लगता है कि यशोधरा के निम्नलिखित शब्दो मे यह भारतीय नारी ही बोलती हैं—

जाओ नाथ! अमृत तुम लाओ मुझमे मेरा पानी
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक देखूँ बस हे दानी
कहा तुम्हारी गुण गाथा मे मेरी करुण कहानी
तुम्हे अप्सरा विघ्न न व्यापे यशोधरा कर-धारी
अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।[3]

भारतीय महिला समाज के इतिहास के नवीनतम एवं गौरवपूर्ण आलोकमय अध्याय का आलेख आरम्भ हुआ। मस्तिष्क मे सात्विक विवेक शरीर पर खद्दर, अन्तर

---

१ 'दि सोशल बैकग्राउण्ड आफ इंडियन नेशनलिज्म", पृ० २५७।

१ मैथिलीशरण गुप्त लिखित 'यशोधरा'।

२ वही।

मे देशभक्ति की भावना एव स्वतन्त्रता की प्रज्वलित वह्नि, एक हाथ मे कलम, दूसरे मे तिरगा, आगे उठे हुए चरण यह भारत की नवीनतम रणचडी का चित्र है दुर्गा का स्वरूप है। इसकी एक आख मे प्राचीन शील और मर्यादा सुरक्षित है और दूसरी मे नवीनतम जागृत की आभा है। इसके पास प्रेम-ममत्व की पयस्विनी भी है और सुधार की दीपशिखा भी। सीता - सावित्री - गार्गी - दमयन्ती - द्रोपदी लक्ष्मीबाई, आदि ने कमला, विजयलक्ष्मी, सरोजिनी, अरुणा, इन्दिरा, कैप्टेन लक्ष्मी, आदि का रूप धारण कर लिया। कौशिल्या, सुमित्रा, आदि कस्तूरबा, स्वरूप रानी, आदि का रूप धारण करके निकल पडी। एक ही झटके मे भारतीय नारी ने युगो-युगो की अनावश्यक शृखलाओ को तोड फैका। जागृत भारतीय नारी के साहस उसकी शक्ति, उसकी क्रियाशीलता का उल्लेख करते हुए ताया जिनकिन ने जो कुछ लिखा है[1] उससे पता चलता है कि आज नारी सारी कठिनाइया उठा-उठा कर, पैदल दौड-दौड कर, धूप-सर्दी गर्मी बरसात सह-सह कर, जमीन पर और मोटरो पर झाकिया ले-ले कर, भूखे रह रह कर, देहात की धूल फाक-फाक कर, हर तरह के खतरे उठा-उठा कर और हर तरह मे उन्हे भुगत भुगत कर नये भारत का निर्माण इस तरह कर रही है कि उसे देख कर एक बार पुरुष भी *काप उठा है*। इस नारी ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे *नौकरिया कर कर के* अपने और अपने परिवार के आर्थिक बोझ को कम किया है। वह अध्यापिका बनी, नर्स बनी, समाज सेविका बनी, टाइपिस्ट बनी, मिलो मे काम किया, और क्षमक डक्टर बनी। आज यह धारणा निर्मूल हो चुकी है कि औरतो की दुनिया चहार-दीवारी के भीतर है और मर्दो की उसके बाहर। के०एम० कपाडिया ने लिखा है, "आधुनिक वैज्ञानिक विचारो ने स्पष्ट यह दिखला दिया है कि नारी योनि पाने ही के कारण कोई ऐसी बात नही हो जाती जिसके कारण नारी को कोइ विशेष *अधिकार न दिये जा सकें। नारी की हीन स्थिति उस पर समाज के द्वारा* लादी गई है। मनोवैज्ञानिक या युक्तिवादी आधारो पर इसकी कोई विशेष सन्तोष जनक व्याख्या नही की जा सकती। परिणामत नारी ने समानता की माग की है और वह अपने व्यक्तित्व को मान्यता दिलाने के लिए आग्रहशील है[2] " औद्योगिक क्रान्ति ने उत्पादन का स्वरूप इस प्रकार बदला कि शारीरिक श्रम पहले जैसा अनिवार्य नही रह गया और औरतें काम करने निकल पडी। १९५० की सख्याओ के आधार पर विभिन्न पेशो मे स्त्रियो की सख्या इस प्रकार है[3] :- लगभग ५, १०, ००० प्राथमिक तथा बुनियादी स्कूलो की अध्यापिका, ३१००० माध्यमिक स्कूलों

१ "इडिया चजज , पृ ४४।

२ "मैरिज ऐंड फेमिली इन इडिया", पृ० १८२।

१ कैलाशनाथ शर्मा भाकृत "भारतीय समाज और सस्कृत", पृ० २२४-२२५।

में अध्यापिकाएँ, ६६०२ रजिस्टर्ड डाक्टर, २३६४ अन्य महिला डाक्टर, १७,६८७ नर्स, ३४२१४८ फैक्टरियों में श्रम करने वाली, ५३२४०६ चाय बगानों में काम करने वाली, ८६५०६ खानों में काम करने वाली, ३२८६०४ घरेलू उद्योगों में काम करने वाली। ऐसा करने में उसका उत्तरदायित्व दूना हो गया। वह घर भी संभा-लेती हैं और नौकरी भी करती हैं। चाय-खाना तो उन्हें अवश्य ही तैयार करना होता है क्योंकि मां और पत्नी के हाथ की रोटी बड़ी मीठी होती है न ! मर्द दफ्तर कालेज से लौटने पर आराम करता है पत्नी परिवार की सेवा किया करती है बाद में लोगों को इस "मिठाई" का मोह कुछ छोड़ना पड़ा। अब यह कर्तव्य-निष्ठ नारी कामिनी, मोहिनी, रमणीमात्र नहीं रह गई ' उसने जहरीली आखों को फोड़ना और गुण्डों के सिरों पर चप्पलें बरसाना भी सीख लिया। वह गुड़िया मात्र नहीं रह गई। अतुल चन्द्र चटर्जी ने लिखा है, "सभी धाराओं एवं राजनीतिक विचारधाराओं वाली महिलाएँ चाहे वे राजघरानों की हों चाहे सामान्य स्थिति वालों के घरों की सारी जनता की और विशेष रूप से नारियों की अवस्थाएँ सुधारने के उद्देश्य से अखिल भारतीय संगठनों एवं संस्थाओं में अपूर्व उत्साह, स्फूर्ति तेज और सक्रियतापूर्वक भाग लेने लगी हैं [२] के० नटराजन ने बिलकुल ठीक लिखा है कि यदि ऐसा कोई व्यक्ति जिसकी मृत्यु आज से सौ वर्ष पहले हुई हो आज सहसा जीवित हो उठे तो उसके मस्तिष्क को झकझोर देने वाली सबसे पहली और सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात लगेगी नारी की स्थिति में क्रांतिकारी परि-वर्तन।[३] भारतीय नारी ने उन सभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पदों को प्राप्त किया है और संसार में पहली बार प्राप्त किया है, जिसे पाकर कोई भी पुरुष धन्य हो उठता ! वह विश्वविद्यालय की उपकुलपति रह चुकी है वह राष्ट्रीय कांग्रेस की सभापति रह चुकी है, वह प्रान्त की गवर्नर रह चुकी है। इस दृष्टि से हंसा मेहता, सरोजिनी नायडू तथा एनी बेसेंट, राजकुमारी अमृतकौर, विजयलक्ष्मी पंडित, सुचेता कृपलानी, कमला देवी चट्टोपाध्याय, इन्दिरा गांधी, रामे-श्वरी नेहरू, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नारी स्वतन्त्रता की उपयुक्त दिशा ?

प्रश्न एक ही है नारी स्वतन्त्रता की यह दिशा या उसका स्वरूप क्या होगा ! महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियां' में स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि भारतीय नारी को पश्चिम की नारी की तरह फैशन की पुतली नहीं बनना है।

२. 'न्यू इंडिया', पृ० ४८।

३ "इंडियन सोशल रिफार्मर", के २५ सितम्बर, १९३७ वाला अंक।

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है —"हम पश्चिम में नारी पूजा की बात बहुत सुनते हैं पर यहां नारी केवल उसके यौवन और सुन्दरता के लिये ही पूजी जाती है। हमारे गुरु प्रत्येक नारी को अभयदायिनी माता ही मानकर पूजते, अन्य किसी कारण से नहीं"।[1] भारतीय नारी को अपने उसी गौरवमय पद की रक्षा करनी है। उसे साक्षात् देवी बनना है। यह काम होगा इसको अभी निश्चित होना है। नये युग की पृष्ठभूमि में भारतीय समाज और परिवार के अन्दर स्त्रियों का स्थान क्या हो तथा पति-पत्नी के संबंध का रूप क्या होना चाहिए इस विषय में अभी भी विचारों में स्थिरता नहीं आ सकी है। यह एक गहन सांस्कृतिक प्रश्न है।[2] इसका उत्तर समय देगा। वैसे भारतीय नारी अपना स्थान जानती है। उसके लिए उसे झगड़ना नहीं। पुरुष उसकी उन्नति का विरोधी नहीं, सहायक है।

यह नारी और हिन्दी साहित्य—

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी के सभी रूप और उसके विकासशील भावों की सभी स्थितियां मिलती हैं। उसके उस रूप का भी चित्रण है जो सरदार भगतसिंह की 'दीदी' का है, और उसके देहातों के उस रूप का भी जहां उपर्युक्त विकास के आलोक की एक भी किरण नहीं पहुँचने पाई है। प्रेमचन्द के "गोदान" की मालती, धुनिया और धनिया नारी के विकास की तीन स्थितियां एवं रूपों का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'प्रसाद', चन्द्र किरण सौनरिक्सा, पन्त, गुप्त, पहाड़ी, यशपाल, आदि लगभग सभी कलाकारों की कृतियों में ये चित्र भरे हैं। प्रसाद की श्रद्धा, गुप्त की यशोधरा और उर्मिला, और 'मुक्त करो नारी को मानव' का आह्वान करने वाले पंत की 'कल्याणि', यशपाल की दिव्या, आदि नारी जागरण की इसी पृष्ठ भूमि पर कल्पित एवं चित्रित हुई हैं। भगवती चरण वर्मा की चित्रलेखा के रूप में जो आधुनिक नारी ने ही कुमारगिरि से पुरुष को चुनौती दी है और वह हार कर भी जीती है। प्रेमचन्द, महादेवी, आदि अगाध कथाकारों को छोड़ कर शेष कलाकारों की कृतियों में नगरों के मध्य वर्ग की ही नारी के चित्र अधिक मिलते हैं। शेष चित्रणों में कल्पना और आदर्श के रंगों की अधिकता हो जाती है जो कदाचित इन साहित्यिकों की अपनी सीमाओं के परिणामस्वरूप हैं। नारी जागरण का एक शुभ प्रभाव हमारे साहित्य पर यह भी पड़ा है कि शिक्षित नारियों की एक बड़ी संख्या साहित्य सेवा में लग गई और इस क्षेत्र में उनका योग बहुत ही महत्वपूर्ण है। महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, विद्यावती 'कोकिल', चन्द्रमुखी ओझा

२. भक्ति और वेदान्त, पृ० ३०।

१. 'मध्यदेश ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन', पृ० १८८।

'सुधा', हीरादेवी चतुर्वेदी, रामेश्वरी देवी 'चकोरी', होमवती देवी, रूपा मित्रा, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, आदि के अभाव मे हमारा आधुनिक साहित्य निश्चित रूप से बहुत कुछ खो बैठता।

काम (सेक्स) और हमारी जीवन दृष्टि–

इस सृष्टि के चेतन प्राणी प्राय जिन दो मूल वर्गों मे विभाजित है उनमे से एक है नर और दूसरा मादा। एक को दूसरे से असपृक्त रहकर सर्वथा पृथक रूप धारण न करने देने के लिये प्रकृति ने उनके अन्दर एक दूसरे के प्रति अनन्त आकर्षण पैदा कर दिया है। सभी अगो के पूर्णत विकसित हो जाने पर और अपने वास्तविक अस्तित्व के प्रति यथार्थ रूप से जागरूक हो जाने पर जब ये एक दूसरे को छूते है तो इनके मन को एक विशेष प्रकार की तृप्ति मिलती है। दोनों के अन्दर अपने-अपने अस्तित्व के मूल तत्व को एक-दूसरे मे समाहित कर देने की एक दूसरे मे समा जाने की वेगवती कामना पैदा होती है। अपने मानस मे अज्ञात रूप से ही विनिर्मित अपने सखा या सखी के भावचित्र के अनुरूप व्यक्तित्व को देख लेने पर उत्पन्न हो जाने वाली इस वेगवती कामना, लालसा या आधी को रोक सकना दुर्निवार होता है। यही आधी "काम" कहलाती है। अगरेजी मे यही 'सेक्स' अनुभूति कहलाती है। स्थिर हो जाने पर यह आधी प्राणदायिनी शीतल मद-सुगन्ध समीर का रूप धारण कर लेती है। स्थायित्व पा जाने पर यही भावना जीवनव्यापी एक ऐसे अनुराग–रागात्मिका प्रवृत्ति मे परिवर्तित हो जाती है जो जीवन यात्रा को स्निग्धता से मुकर, मधुर एव सुदर बना देता है। यह जीवन-यात्रा प्यारी और अच्छी लगने लगती है। बंध कर–मर्यादित होकर एकोन्मुखी–एकनिष्ठ होकर यह भावना मगलमय वातावरण की सृष्टि कर सकती है। असस्कृत एव अमर्यादित होने पर यह मानव को पशु बना देती है। भारतीय सस्कृति ने इसके अस्तित्व और इसके वेग को अस्वीकार नही किया किन्तु यह भी नही किया कि ज्ञानविज्ञान-धर्म और साहित्य-सभी क्षेत्रो मे सिद्धान्तत इसी का ढिढोरा पीटा हो, एकमात्र इसी की ही प्रमुखता मानी हो, इसी का उपदेश दिया हो, इसी पर गीत लिखे हो, इसी पर कहानिया लिखी हो और इसी को उभार-उभार कर आखो मे इसी का रग उतारने और चित्र खीचने वाली तस्वीरो की भरमार कर दी हो। हमारे यहा इसकी व्यापकता, इसकी शक्ति, इसकी प्रभुता यदि दिखाई गई है तो इसलिये कि इस हाथी पर का अकुश कभी ढीला न किया जाय वर्ना यह अनर्थ कर देगा—इसलिये नही कि एक तो यह स्वय हमारे अदर मौके की ताक लगाये बैठा है, और दूसरे, हमारा साहित्य भी इसको हमारे चारो ओर नाचता हुआ दिखाए। हम

कविता पढ़ें तो काम-मयी, कहानी पढ़ें तो काम पूर्ण, उपन्यास पढ़ें तो काम पूरित, नाटक देखें तो कामलीला का, सिद्धान्त पढ़े तो काम की व्यापकता का[1] कौन नहीं जानता कि तरुण या तरुणी से एकान्त मे काम-भावना से भरी चार कलापूर्ण बातें कर लेना उसको कामोत्तेजित तथा काम-शिथिल कर देना है किन्तु ये कलाकार काम के सबल, आकर्षक, प्रभावशाली चित्रों से परिपूर्ण साहित्य हमारे नवजीवन को एकान्त मे पढने के लिये प्रचुर मात्रा मे देने को तत्पर हैं। यथार्थ के नाम पर ये लोग बडे भारी मनोवैज्ञानिक अनर्थ की सृष्टि कर रहे हैं। लेनिन भी सयम का महत्व एव उसकी उपादेयता स्वीकार करता था[1] किन्तु शायद ये महानुभाव समाज में सयम विहीन, कामोत्तेजक तत्त्वों से पूर्ण, वातावरण की सृष्टि करना चाहते हैं, शायद ये कार्तिक के कुत्तो और कुतियो के दृश्य कालेजो, सडको, दूकानो, रेलों, सिनेमाघरो, स्टेशनो, आदि पर देखने के शौकीन हैं (ये दृश्य किसी न किसी रूप म अब दिखाई भी पडने लगे हैं ।) भारतीय सस्कृति ने कहा है, "कामातुराणा न भय न लज्जा", अब ये कहते हैं-यही तो स्वाभाविक है, तुलसीदास ने कहा - "सियाराममय सब जग जानी—करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी", अब ये कहते है—यह तो कोरा, अस्वाभाविक और अव्यावहारिक आदर्श है-वास्तविकता एव यथार्थ है एक काममय सब जग जानी, अरपउ सब तन मन-धन दानी ! भारतीय सस्कृति ने "काम" की भावना को इतना सुसस्कृत एव मर्यादित कर रक्खा है जितना इस सृष्टि में किसी के भी लिये सभव हो सकता है। यहा से अधिक शायद और कहीं भी यह इतना सुसस्कृत, मर्यादित एव सुनियोजित नहीं है । दिल्ली म स्थित अनेक देशो के राजदूतो का यह अनुभव है कि उनके परिवारो की तरुणिया जितनी निश्चिन्तता के साथ भारतीय वातावरण में घूम फिर लती हैं उतनी और कहीं नहीं । यहा मिथुन-रत पशुओ को भी देखना वर्जित है । हम नारी शरीर को पवित्र मानते हैं । उसे दिगम्बरा देखना उस पवित्रता का सास्कृतिक अपमान करना माना गया है । तायाजिनकिन ने लिखा है कि उनको वस्त्र रहित स्नान करते देखकर दूसरे घर के कोठे पर काम करने वाले मजदूर भी काम करना छोड कर नीचे उतर जाते थे ।[2] "काम की दृष्टि मे हिंदू बडा ही विनम्र, सयमित एव मर्यादित होता है । ब्रह्मचर्य की महिमा, शादी के बाद भी ब्रह्मचर्य के कार्यक्रम, आदि हमारी काम-वासना को सयमित एव मर्यादित रखते हैं । सयमित वासना हमारी सास्कृतिक मनोवृत्ति है । इसका प्रभाव आधुनिक हिंदी साहित्य पर ही नहीं, सम्पूर्ण साहित्य पर पडा है । आधुनिक भारतीय साहित्य काम-

१—"महादेवी का विवेचनात्मक गद्य" पृ० २४५–२४८ ।

२—"इडिया चेंजेज",

वासना की दृष्टि से उतना ही शुद्ध एवं सुसंस्कृत है जितना भारतीय जनता का दृष्टिकोण, उतना ही मनोहर है जितनी नवपरिणीता कुलवधू ! हिन्दी साहित्य इसका अपवाद नहीं, सबसे अच्छा उदाहरण है। काम-अपराधों एवं कामी-उच्छृंखलताओं का साहित्य हिंदी में नगण्य है। उसके नग्न चित्रण को शिष्ट समुदाय ने न सिर्फ मान्यता ही नहीं दी है बल्कि उसको हतोत्साहित भी किया है। वह चोरी और बहानेबाजी की चीज है। जैनेन्द्र (सुनीता), यशपाल (दादा कामरेड), बलवन्तसिंह (रात चोर और चांदनी), पहाड़ी (यथार्थवादी रोमांस), धर्मवीर भारती (सूरज का सातवां घोड़ा) आदि समाज को ग्राह्य नहीं हुए।

सुनियोजित काम-भावना-विवाह—

कमजोरी यदि मानव-अस्तित्व के साथ अनिवार्य रूप से लगी हुई है, गलती किये बिना यदि वह नहीं रह सकता, नग्नता यदि उसकी विवशता है, और काम-वासना की यदि उसके अन्दर प्रबलता है तो भारतीय संस्कृति की सिफारिश है कि उसे किसी एक तक ही सीमित कर दिया जाय और उसे मानव की किसी महत् प्रवृत्ति के साथ नियोजित कर दिया जाय, उसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति का साधन बना लिया जाय, एवं उसको बाधित, मर्यादित व सुसंस्कृत कर दिया जाय। हमारी संस्कृति अन्धकार, अपूर्णता और कम-जोरियों का सैद्धान्तिक समर्थन करके उनकी शाश्वतता घोषित करने के प्रतिकूल है। इनके निरर्थक- बाजार, एवं मानव समाज के चौराहे पर किये जाने वाले प्रदर्शन को हमारी संस्कृति ने घृणित एवं गर्हित माना है। उसने इनको निवारणीय, दमनीय, अतात्विक तथा अशाश्वत माना है। इनके कारण सामाजिक जीवन में उपद्रव न मचने पाएँ, मनुष्य की दुर्बलताओं और आवेगों की क्षणिक तृप्ति उनके शमन का कारण बन कर व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं आत्मिक विकास एवं माधुर्य का साधन बन जाए, जीवन-यात्रा मधुर हो, मानव लघुता और सीमा से महानता और असीम की ओर बढ़ने का वातावरण और मनोवृत्ति पा सके, इसलिये भारतीय संस्कृति ने कामवासनाओं तथा अन्य मनोविकारों से पूर्ण दो विभिन्न मानवीय व्यक्तियों को विवाह के द्वारा अटूट बन्धन में बांधकर सदा सदा के लिये एक दूसरे का बनाकर, दोनों के बीच के अन्तर को मनोवैज्ञानिक ढंग से मिटाकर दोनों को एक दूसरे का सभी परिस्थितियों में स्थायी साथी घोषित करके निर्वाह का अत्यन्त कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित किया है। भारतीय संस्कृति में विवाह का तात्विक स्वरूप और उद्देश्य यही है। हिन्दी साहित्य में विवाह का यही स्वरूप और यही उद्देश्य मान्य है। गोंडा जिले के बल रामपुर जैसी छोटी जगह के बहुत ही छोटे कवि स्वामी दयाल "शान्त" ने निम्नलिखित पंक्तियों में ये ही उदात्त भाव व्यक्त किये हैं

यह बन्धन प्रेम का बन्धा है यहा दो दिलो के अरमान मिले।
यहा दो पथिको को सुमार्ग मिला यहा दो विधिना के विधान मिले।
यहा दो गुण, कर्म, स्वभाव मिले, उर से उर प्राण से प्राण मिले।
वर को भी यहा वरदान मिला, है वधू को स्वय भगवान मिले।
इति प्रेम कहानी न हो इसने यहा दो इतिहासो का है मिलना।
न सजीवता की क्षति हो इससे यहा स्वासो से स्वासो का है मिलना।
पतझाड न आये कभी इससे यहा दो मधुमासो का है मिलना।
इस विश्व अतृप्त मे तृप्ति की खोज म दो चिर प्यासों का है मिलना।
यह ग्रथि नही, यह ग्रथि नही, यहा धार्मिक साधना जोडी गई।
शुभ भाव परार्थ के लाये गये और स्वार्थ की भावना तोडी गई।
अनुराग की वाटिका सीचने को गति यौवन धारा की मोडी गई।
यहा प्रेम की चचलता नव स्नेह के सूत्र मे बाध के छोडी गई।

भारतीय विवाह का लक्ष्य अलक्ष मैथुन नही, भावी सुयोग्य नागरिक की सृष्टि है। यह 'काम" के ऊपर धर्म और अर्थ का बन्धन है। यहा मैथुन निरुद्देश्य राग-रग सुख नही, वह सन्तान-सुख का साधन है जो स्वत अपने मे महान् उद्देश्य है। इसीलिये यह सन्तान आकस्मिक घटना या भूल गलती नही, सुनियोजित धर्म है। अपवाद रूप, अद्वितीय महात्माओ के अतिरिक्त सब के लिये विवाह अनिवार्य है क्योंकि सामान्य जनो के इस लोक और उस लोक के सुख के लिये सन्तान अनिवार्य है। मनु ने साधारण नर नारी का उद्देश्य सन्तान-प्राप्ति बताकर इसके साधन विवाह को सामान्य धर्म की सज्ञा दे दी है— "प्रजननाथ स्त्रिय सृष्ट सन्तानार्थं च मानव. तस्मात् साधारणो धर्म,, श्रुतौपत्न्या सहोदित ।

साथी का चुनाव कैसे हो—

और, जब ब्याह करना है तो प्रश्न उठता है कि ब्याह किससे किया जाय, कब किया जाय, कब तक के लिये किया जाय, कैसे किया जाय, आदि। क्या राह चलते जो भी मिल जाय और इस चिर चचलमन और क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई, नवीनता की चिरप्यासी, मनोवृत्ति को जिस घडी जो भी जंच जाय उसी से ब्याह करले और जब उससे न पटे तब उसको छोड दे ? पशु भी तो सामान्यत. यही करते हैं। जब जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों मे बडो के अनुभव और विवेक द्वारा किया गया निर्णय अधिक व्यवहार्य, अधिक उपयोगी, अधिक लाभप्रद और अधिक

अच्छा होता है तब जीवन-साथी के चुनाव-जैसे महत्वपूर्ण कार्य मे वासना के अन्धे, आयु मे कच्चे और अनुभव की दृष्टि से नितान्त बच्चे की राय या निर्णय को प्राथमिकता न देने वाली हिंदू व्यवस्था कैसे दोषपूर्ण है—यह सोचने की बात है ! एक बार चुने हुए साथी को छोड़ना उचित नही है, क्योकि बहुतो को अपनी लाज का अधिकारी बनाना स्वत एक निर्लज्जता है—पशुता है। ऐसी स्थिति मे चुनते समय ही एक बार खूब ठोक बजा कर चुन लेना चाहिये। चू कि नारी एव पुरुष का शरीर बाजार की वस्तु नही है, इसलिये साथी की उपयुक्तता की कसौटी के कुछ सामान्य लक्षण ही बताये जा सकते हैं और इन लक्षणो का निर्धारण शताब्दियो के अनुभव ही कर सकते हैं। वात्स्यायन से लेकर कुटुम्ब के वर्तमान वृद्ध जनो तक का भी निर्णय यदि गलत हो सकता है तो बीस-बाइस के छोकरो और छोकरियो का अहकार कितना दयनीय है—इसे हम क्या बताए ! और फिर, क्या ससार में किन्ही भी दो ऐसे पृथक व्यक्तियो का स्वतत्र अस्तित्व सभव है जिनमे विभिन्नता न हो—पूर्णत अनुरूपता एव एकरूपता ही हो ? जब यह स्थिति इतिहास और समाज—दोनो ही क्षेत्रो मे एक मात्र कल्पना का खेल है तब नये लोगो की ऐसी खोज विडबना ही तो है ! इन बच्चो की समझ में यह नही आता कि दोष वैषम्य एव विभिन्नतामे नही है, दोष है निबाह न करने का निश्चय करने वाली उद्दण्डता मे। जो नवयुवक पति-पत्नी के बीच के सम्बन्धों के टूटने की बात पर जोर देता है उससे मेरी यह पूछने की इच्छा होती है कि क्या आप अपने अफसरो, अपने सहकारियों और अपने मित्रो से भी विभिन्नता एव विषमता के अवसरो पर इसी प्रकार सम्बन्ध विच्छेद करते रहेंगे; और यदि हा, तो क्या एक दिन आपको कुआ—ताल न देखना पड़ेगा, क्योकि ये लोग आपकी पत्नी से अधिक आपके हितैषी न सिद्ध हो सकेंगे ? किसी भी स्थिति में समस्या का अत तलाक नहीं—निबाह है ! जीवन के क्षितिज पर सुख और माधुर्य के इन्द्रधनुष के सौन्दर्योदय का आकलन निबाह की तूलिका से ही सभव है। अस्तु, साथी खोजने के सम्बन्ध मे अनुभवो के आधार पर एक व्यापक कसौटी बना लेने की व्यवस्था और सामान्यत उसके पालन का आदेश भारतीय सस्कृति मे है। हमारी व्यवस्था कहती है कि विवाह अपनी ही जाति के लोगों मे होना चाहिये, क्योकि प्रत्यक समाज का नियम है कि ब्याह—सम्बन्ध लोग उन्ही लोगो से करते हैं जो समान स्वभाव तथा आचार रखत हैं। चू कि एक ही व्यवसाय के लोगो मे सामान्य सास्कृतिक परम्परा का विकास अधिक सभव है अत समान व्यवसाय के लोगो मे ब्याह—सम्बन्ध एक नियम सा हो जाता है। दो विभिन्न "मूड" और प्रकृति वाले लोगो का व्यावहारिक सामजस्य दो विभिन्न सस्कारो वाले—सास्कृतिक परम्पराओं वाले लोगो

की अपेक्षा अधिक सम्भव है। इसीलिये एक जाति वालो मे विवाह का—सवर्ण विवाह का—अनुमोदन किया गया है। जाति का अर्थ है कोटि, श्रेणी, एक-सी विशिष्टताओ वाला वर्ग आदि। इसमे पैतृक परम्परा तथा पर्यावरण जनित गुण, कर्म, स्वभाव एव सस्कारो की बात सन्निहित है। मुझे गलत न समझा जाय। मेरा अनुभव है कि हिन्दू व्यवस्था ने जिन जातियो का निर्माण किया है उनकी अपनी विशिष्ट जातिगत विशेषताएं ऐसी हैं जो औरो में नहीं मिलतीं। हर खेत की एक-सी विशेषता नहीं होती, हर बीज हर तरह की मिट्टी मे ठीक से फूल फल नही सकता। एक से अगो अवयवों, प्रकृति और मनोविज्ञान वाली होकर भी हर नारी समान नही है और किसी वश-विशेष की परम्पराओ और विशेषताओं को अक्षत रख कर उसकी शोभा-वृद्धि करने वाला पुत्र उत्पन्न करने मे समर्थ नही हो सकती। हर नारी पुरुष का भोग पाकर जीव पैदा कर देगी किन्तु कुल को रोशन करने वाला पितरो को "नरक" से "स्वर्ग" भेज सकने वाला, पितरो को 'पानी' दे सकने वाला पुत्र केवल कुल-ललना—कुलीन ललना ही पैदा कर सकती है। मैं अपवादो की बात नहीं करता, किन्तु "राम" को जन्म कौशिल्या ही दे सकती है। "लिप्य रक्षिताए" चाहे जितनी खूबसूरत हो, उनसे ब्याह करने पर "कुणालो' की आखो की रोशनी गुल हो ही जायगी—खानदान डूब ही जायगा—नाक कट ही जायगी। जन्म से लेकर सोलह अठारह की आयु तक जिसने कुर्सी पर बैठ कर किताबें पढ़ी है, उसे कृषि प्रधान वातावरण मे—कुटाई-पिसाई होने वाले घर मे रख देने पर किस माधुर्य की सृष्टि हो सकती है। खूबसूरत से भी खूब सूरत होने पर भी कोई मलमूत्र उठाने वाली भगिन ठाकुर साहब की पटरानी बनने पर भी "ठकुराइन साहिबा" को—क्षत्राणियो की स्वभाविक विशेषताए नही पा सकती चमड़े का रग तथा मास की प्रवृत्तियां और वश परम्परा से प्राप्त होने वाल जातीय धर्म गुण, कर्म; स्वभाव अलग अलग बात है। ठाकुर आज भी ठाकुर है—भले ही वह तलवार न चलाता हो, ब्राह्मण आज भी ब्राह्मण है भले ही वह वेद पाठ न करता हो। आज पहले की मान्यताएं बदल चली हैं। दफ्तर में सब के बदन पर आप एक सी ही पोशाक पाएंगे वाणी भी एक सी पा सकते हैं किन्तु ब्राह्मण डिप्टी कमिश्नर और शूद्र कमिश्नर के घर के वातावरण और रहन सहन मे एक मौलिक अन्तर आज भी मिलता है। ठाकुर आज भी जल्दी गर्म हो जाता है, पटवारी पुत्र का पटवारीपन डिप्टी कलक्टर, आई० सी० एस या मिनिस्टर बनने पर भी नही जाता। प्रवृत्तियां वे ही रहती हैं उनकी अभिव्यक्ति का रूप रग बदल जाता हैं। अतएव एक जाति मे विवाह करने की व्यवस्था देकर हिन्दू शास्त्रकारों ने कोई भी अनर्थ नहीं किया है। इन्होंने सामाजिक विघटन ही रोका है।

असवर्ण विवाह की मान्यता तब भी थी किन्तु अपवाद रूप मे । उसको मना भी नही किया गया था, उसे सामाजिक प्रोत्साहन भी नही दिया गया था । यही कारण है कि हमारा समाज कुलीन विवाह का समर्थक रहा है । यद्यपि हिन्दू जाति मे अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह और अन्तर्जातीय विवाह-सभी थोडे-बहुत होते ही रहते हैं किन्तु फिर भी, न इसे अच्छा माना गया है और न यह सामाजिक मान्यता ही प्राप्त कर सकी है । इस शताब्दी के प्रारम्भ होने के काफी पहले से विवाह के सम्बन्ध मे जो हमारी सास्कृतिक परम्पराएँ एव मान्यताएँ थीं सैद्धान्तिक रूप से एव कर्मकाण्डी व्यवस्था की दृष्टि से सामान्यत उन्ही का पालन होता आया है ।

बाल-विवाह—

किसी विशेष युग म किसी विशेष आपत्तिकालीन वातावरण मे हिन्दू शास्त्रकारो ने बालविवाह की व्यवस्था दे दी थी । रूढियो ने उसे शाश्वत विधान मान लिया और हमारे हिन्दू समाज मे कहा जाने लगा—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी
दशवर्षा भवेत् कन्या तत् ऊर्ध्वं रजस्वला
माता चैव पिता तस्या ज्येष्टो भ्राता तथैव च
त्रयस्ते नरक यान्ति दृष्ट्वा कन्या रजस्वलाम् ।

कुछ भी हो किन्तु वास्तविकता यह है कि बाल-विवाह स्वस्थ सन्तान की उत्पत्ति एव विकास की दृष्टि से श्रेयस्कर नही है । स्वामी दयानन्द जी ने इस विषय मे धन्वन्तरि का श्लोक उद्धृत किया है ।[1] ठीक है किन्तु हमारे समाज की कुछ अपनी मजबूरिया और उसकी आवश्यकताएँ थी और इसीलिये हमारे समाज मे मध्य युग के विदेशी आक्रमणो और अपहरणके आपत्तिपूर्ण समय से बहुत छोटी उम्र से लडके-लडकियों का ब्याह कर दिया जाने लगा था ताकि प्रत्येक प्रकार के खतरे की सभावनाओं से गर्भित उस युग के वातावरण मे लडकी अपने घर पहुँच कर मा-बाप के सिर पर से बोझा उतार दे । उसकी रक्षा का दायित्व अब एक की बजाय दो परिवारोंपर आजाता था । के० एम० कपाडिया ने लिखा है, "इसी प्रकार धार्मिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियो और प्रवृत्तियो ने शिशु विवाह को एक नियम या कर्तव्य का रूप देने का कुचक्र रच लिया ।[2] यही श्रेष्ठतर भी था । यह खतरे का युग बीता तो

१. "सत्यार्थ प्रकाश", पृ ४६ ।
२ "मॅरिज ऐंड फैमिली इन इन्डिया", पृ १४६ ।

"अष्टवर्षा भवेद्गौरी" वाला सिद्धान्त भी शिथिल हो गया। वैसे, इसकी सभावना अधिक होती नही थी क्योंकि जहा-जहा ये बाल विवाह रचाये जाते हैं वहा विवाह की विधिया और व्यवस्थाएं पूरी हो जाने के बाद भी प्रयात्मक रूप से वधू तत्काल ही पति गृह नही भेजी जाती। तीन तीन या चार चार वर्षों या कभी कभी इससे भी अधिक वर्षो के बाद अर्थात् तारुण्य प्राप्ति के पश्चात् ही वहा जाती है। १६२६ के बालविवाह अधिनियम ने विवाह की उम्र लड़के के लिये १८ और लडकी के लिये १४ कर दी। सामाजिक परम्पराएं कानून बना देने से नही बदला करतीं उनके लिए सामाजिक आवश्यकता, सामाजिक वातावरण एव सामाजिक अनुकूलता की सृष्टि करनी पड़ती है। कानून बन जाने के बाद भी हमारे समाज से और विशेष रूप से देहाती समाज से बाल विवाह गया नही। रजस्वला होते होते लड़की का ब्याह कर देना धर्म हो गया-सामाजिक मजबूरी हो गई। यह केवल लडकी या उसके मा बाप का ही कर्तव्य नहीं-यह पूरी की पूरी जाति की बात है-कभी-कभी तो उस समस्त क्षेत्र के समस्त जनसमूह की बात! यह बदनामी का कारण बन जाता है जिसे न लड़की रोक पाती है और न लडकी के मा-बाप।

शादी होनी चाहिए और मानदान की परम्परा और शान के अनुरूप होनी चाहिये। इस दृष्टि से व्यक्ति, परिवार और गाव परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। माग-माग कर अच्छी चीजें जुटाने और शान शौकत के प्रदर्शन की प्रथा चल पड़ी। सब लोग जानते हैं कि चीजें मागी हुई हैं फिर भी उनके न होने को लोग बुरा मानते हैं। कम से कम इससे यह तो पता चल ही जाता है कि जिसके यहा हम ब्याह करने जा रहे हैं उसकी पहुंच की सीमा कितने बडे - बडे लोगों तक है।

शादी तै करने प्राय नाई, पंडित जाते हैं। जिनका विवाह होना है वे अबोध बच्चे न कुछ जानते हैं, न कुछ समझते हैं और न उन्हें शादी के मामले में कुछ करने या बोलने का अधिकार है। शादी के बीच शादी के पहले अथवा शादी के बाद उसके बड़े-बूढ़े उससे कुछ कहे, उसे वही करना है क्या कि विवाह एक धार्मिक और सामाजिक कर्तव्य है। उसमे व्यक्ति की अपनी मनमानी नहीं चलती। कोई भी समाज मनमानी नहीं होने देता और यदि होने देता है तो वह विघटित हो जाता है। जिस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी सस्कारों के अवसर पर वैसे ही 'विवाह' सस्कार के अवसर पर भी, व्यक्ति के ऊपर समाज का अक्षत अखण्ड, एव व्यापक अधिकार है। नवदम्पति खुलकर स्वच्छदतापूर्वक एक दूसरे से मिलने भी नही पाते थे। लिहाज और

पर्दे का इतना ध्यान था कि बहुत रात गये जब सब लोग सो जायें तब लडका अपनी पत्नी के कमरे मे जाता था और सबेरे लोगो के जग पड़ने की सभावना के पहले ही चुपचाप बाहर आकर अपनी चारपाई पर सो जाता था । वहा कमरे मे जोर से बातचीत भी नही हो सकती थी। यहा व्यक्ति की स्वतत्रता परिवार और समाज के अकुश से मर्यादित रहती है। इस सम्पूर्ण अर्द्ध शताब्दी मे शहर के कुछ लोगो के अलावा शेष समस्त हिन्दू समाज के लिये लडकी का ब्याह एक बहुत बडा हगामा हो गया है। समय के परिवर्तन, अंगरेजी राज्य-व्यवस्था से उत्पन्न सकुचित एव लोभी मनोवृत्ति, और अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था के कारण फैली हुई मूढता, आदि के कारण उचित वर की खोज एक बहुत बडी बात हो गई है।

दहेज—

ब्याह के योग्य लडके का पता यदि मिल भी जाता है तो दहेज की समस्या आ खडी होती है। बहुत अधिक दहेज मागा जाता है इतने टेढे मेढे ढग से मागा और लिया जाता है कि उसके तै होने म महीनो लग जात हैं। लडके का पिता अधिक से अधिक लने का यत्न करता है लडकी का पिता च हता है कि वह औरो से तो अधिक द, क्यो कि ऐसा न करने पर लडका हाथ से निकल जायगा, मगर इस सीमा के अन्दर जितना कम सभव हो सकता हो, उतना ही कम वह दे। ऐसा लगता है कि किसी खरीदी जाने वाली चीज का मोल भाव हो रहा है। कभी-कभी लडकी के पिता को कर्ज लेना पडता है, जमीन गिरवी रखनी पडती है, सम्पत्ति बेचनी पडती है, तबाह और बरबाद हो जाना पडता है। अनमेल ब्याह होते हैं। योग्य को अयोग्य के मत्थे मढ़ दिया जाता है। पिता को अपनी पुत्री के लिये कुलीन वर चाहिये और कुलीन वर लडकी का उद्धार तभी कर सकता है जबकि लडकी का पिता पर्याप्त धन दे । कुलीन घर कम, पुत्री वाले पिता बहुत। माग अधिक, माल कम। परिणाम यह होता है कि १४ वर्ष की लडकी ६४ वर्ष के वर को सौंप दी जाती है। दम्पति का जीवन विषमय हो जाता है। आत्महत्याएं होती हैं। वेदनारायण द्विवेदी का "कर्तव्या घात", प्रेमचन्द का "निर्मला", आदि हजारो से भी अधिक उपन्यास और कहानिया विशेष रूप से हिन्दी और बगला की इस प्रथा पर आघात करके भी इसका अभी भी उन्मूलन नही कर पाई। अब भी ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि साहब, हमे देने का भी शौक है, लेने का भी लेते हैं इसलिये कि देना पडेगा, देते हैं इसलिये लगी हो। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है,

' यह प्रथा हजार कोशिश करने पर भी अभी तक जारी है। सभी जातीय सभाओं मे प्र-ताव पास होते हैं कि इसे उठा देना चाहिये पर घटने की जगह यह प्रथा बढ ही रही है।'[1]

वृद्ध विवाह और बहु-विवाह—

दहेज के प्रसग मे वृद्ध विवाह का थोडा सा उल्लेख किया गया है। कुलीन वर की कमी और दहेज के अतिरिक्त इसका एक कारण पुत्र प्राप्ति की लालसा भी है। यदि पहली पत्नियो से कोई पुत्र न प्राप्त हो सका तो अपनी आयु का ध्यान न करके भी विवाह इसलिये कर लिया जायगा कि खानदान को रोशन करने वाला और पितरो को पानी देने वाला मिल सके। बात यह है कि हमारे यहा सामान्यत पुत्र या सन्तान के अभाव का दोष पति को नही, पत्नियो को ही दिया जाता है। कोई दोष, कोई खराबी, कोई कमी दुलहिन मे ही हो सकती है, दूल्हे मे नही हो सकती। इसलिये एक के बाद एक कई ब्याह किये जा सकते हैं। वृद्धावस्था तक और स्वत सन्तानोत्पत्ति की असमता की अवस्था प्राप्त करने के बाद भी ब्याह होते रहते हैं। कभी-कभी तो पहली पत्नी के देहान्त के पश्चात् इसलिये भी ब्याह कर लिया जाता है कि बच्चो की देखभाल करने वाला और रोटी खिलाने वाला कोई आ जाय। प्राय इन विवाहो का परिणाम अच्छा नही होता। सौत के बच्चो को आवश्यक प्यार दुलार प्राय नहीं ही मिल पाता। अनेक पत्निया घर के जीवन और वातावरण को नरक कर देती हैं। प्रेमचन्द का "निर्मला" नामक उपन्यास अधेड उम्र पर किये जाने वाले विवाह का परिणाम प्रस्तुत करता है। "कायाकल्प' मे बहुपत्नियों का परिणाम चित्रित है। 'मृगनयनी' मे मानसिह के राजमहल के अन्दर बहु-विवाह का परिणाम और सौत की मनोवृत्ति का चित्रण है। प्रेमचन्द की 'सौत' शीर्षक कहानी भी सौत का मनोविज्ञान उपस्थित करती है। श्री नाथ सिंह के 'क्षमा' और भगवती प्रसाद वाजपेयी के 'मीठी चुटकी' और 'अनाथ पत्नी' नामक उपन्यास अनमेल विवाह का दृश्य उपस्थित करते हैं।

विवाह का स्थायित्व—

इस प्रकार हमारे यहा शादिया तै करके की जाती हैं। कुलीनता के अहकार के कारण हमारे समाज के भीतर वर की उपयुक्तता की शर्तें और सीमाए इतनी अधिक और जटिल हो गई हैं कि चुनाव क्षेत्र अत्यन्त सकरा हो गया है। प्राय. सब कुछ एक बँधे बँधाये, सुनिश्चित ढग पर होता है। सच तो यह है कि विवाह

---

[1] "आत्मकथा", पृ० ६०।

की पूरी की पूरी प्रक्रिया निश्चित है। वहा किसी व्यक्तिगत एव मौलिक परिवर्तन के लिये कोई भी गु जाइस नही। इस प्रकार एक स्थिर मनोवृत्ति, जिसमे साहस दु साहस के लिये कोई सभावना नही, बन जाती है। इस मनोवृत्ति का साहित्य पर यह प्रभाव पडा है कि हमारे साहित्य मे भी महत्वपूर्ण एव व्यापक रूप से प्रभाव-शाली, मौलिक एवं सैद्धान्तिक परिवर्तन इस परिवर्तनशील एव क्राति गत युग मे अधिक नही हो पाये। परिवर्तन शैली, माध्यम एव स्वरूप मात्र मे ही हुआ है। उसकी आत्मा अधिकतर पुरानी की पुरानी है।

परिवर्तन की प्रक्रिया—

व्यवस्था मे भी यह परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे हुआ है। पहले लडके-लडकिया अपनी शादी की बात आकस्मिक रूप से जानने लगी, फिर छिप कर सुनने लगी, फिर खुल कर सुनने लगी, फिर अपनी राय अपरोक्ष रूप से देने लगी, फिर भाभियो से कहने लगी, फिर मा से शरमा शरमा कर कहने लगी, फिर पिता से भी खुल कर कहने लगीं। पहले स्वीकृति ही प्रकट की जाती थी, फिर विरोध मालूम हो जाने दिया जाने लगा, फिर प्रकट किया जाने लगा और अब मा बाप की इच्छा के प्रतिकूल मनमानी भी की जाने लगी है। पहले शादी के अवसर पर तीनो चारो दिन बराबर जामा जोडा पहनाया जाता था, फिर रस्मों के समय ही पहना जाने लगा, अब उसका बिल्कुल हीतिरस्कार किया जाने लगा है। बाजार मे मिलने वाले श्रेष्ठतम कपडो के चमचमाते सूट के ऊपर यज्ञोपवीत के तीन धागो की आज भी अनिवार्यता प्रतीक सी प्रतीत होती है। सामान्यत फैशन पर सस्कार अब भी विजयी है ठीक जैसे ही जैसे वर्तमान साहित्यिक विधाओ, रूपो और शैलियो पर साहित्य की भारतीय आत्मा अब भी विजयी है।

प्रेम विवाह क्यो नही ?—

ताया जिनकिन ने लिखा है कि भारत मे प्रेम विवाह का तो कभी भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता।[1] यही कारण है कि यहा विवाह मे चुनाव एव प्रतिद्वंद्विता नहीं, और जब चुनाव एव प्रतिद्वंद्विता नही तब कामोत्पादक पारस्परिक आकर्षणशक्ति न केवल अनावश्यक एव अनर्थकारी है बल्कि कभी-कभी अनाकर्षक भी हो जाती है। भारतीय बाला ससार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है फीते की नाप और तराजू की तौल एव अटक-मटक वाली कसौटी से नहीं, बल्कि मोहकता और प्रभावोत्पादकता की कसौटी से। वह मोहक होती है, कामोत्पादक नहीं। वहा

१. "इडिया चेंजेज", पृ० ५३।

पवित्र एव विशुद्ध हृदयग्राही सौंदर्य है। तभी तो कुंजों मे त्रिभुवन मोहन भी 'पलोग्त राधिका पायन'। किन्तु भारतीय सस्कृति और उसका शाश्वत प्रभाव इतना अधिक और आश्चर्यजनक है कि इस त्रिभुवन सुन्दरी मे कामाकर्षण एव कामोन्मादकता अल्पतम होती है। हा, उस पर मोहित होकर हम उसके सौदर्य मे अपने को भुला अवश्य बैठते हैं। उसका सौंदर्य सदैव एक अतीन्द्रिय एव कौमार्य-आकर्षण स मान्न होता है। ध्यान रहे कि यह नहीं कहा जा रहा है कि वह अनाज नही खाती या उसके हाड मास नही है। प्रभाव की बात की जा रही है। भारतीय नारी केवल एक पुरुष को रिझाने क लिये सजती है। उसकी यह सजावट, यह आकर्षण, यह मोहकता केवल उसके अपने पुरुष को छोड कर और किसी की न सम्पत्ति है और न दूसरा उसके सौंदर्य का उपभोक्ता हो ही सकता है। यह बाजारु प्रदर्शन की चीज भी नुमाइशी चीज भी नही है। इसका प्रभाव यह पडा है कि हिंदी का नारी साहित्य वासनात्मक आकर्षण से प्राय रहित है उससे परे है। यह एक सास्कृतिक मनोवृत्ति है जो आधुनिक हिन्दी में भी पूर्णत प्रतिबिम्बित है।

एक ही गोत्र मे और एक ही गाँव मे विवाह वर्जित—

हिन्दी प्रदेश म शादिया गाव से बाहर के लडके के साथ की जाती हैं। परिणामत दूर दूर के बहुतेरे गावो से सपर्क स्थापित होता है। विचारो का आदान प्रदान होता है। एक दूसरे की समस्याएँ एक दूसरे के सामने आती हैं। दूसरे को समझने और निबाहने की प्रवृत्ति बढती है। अपरिचित गावो, व्यक्तियो, और परिवारो मे प्रेम भाव बढता है। एक दूसरे से सर्वथा अपरिचित वर-वधू एक क्षण के बाद एक दूसरे के जनम-जनम के सगी हो जाते हैं। दो विभिन्न व्यक्तियो, दो विभिन्न रुचियो, दो विभिन्न मनोवृत्तियो, दो विभिन्न स्वभावो मे अभिन्नता स्थापित होती है। यह हर घर म होता है। अस्तु भारत का हर परिवार, सह-अस्तित्व का क्रिया क्षेत्र होता है। भारतीय निबाह करना जानता है। विरोधों मे सामजस्य स्थापित कर लेना निबाहना भी हमारी एक सास्कृतिक प्रवृत्ति ही हो गई है। लडका अपनी जाति का हो तो वह कहीं भी हो, उससे अपनी कन्या का विवाह-सबध स्थापित किया जा सकता है। शादियो के ताने-बाने ने भारत को बुन कर एक कर दिया है। अन्तर्प्रान्तीय सद्भाव बढा है। सास्कृतिक एकता पुष्ट हुई है। आधुनिक हिन्दी साहित्य म भी विचारो के आदान प्रदान की स्वतत्रता, प्रेम की स्निग्धता, विभिन्नताओं मे एकता, विरोधो मे सामजस्य एव सास्कृतिक एकता का जो स्वरूप मिलता है उसके पीछे यह पृष्ठभूमि, यह वातावरण भी है। इसीलिये आधुनिक हिन्दी साहित्य म राष्ट्रीय साहित्य मे भी किसी के प्रति तीव्रतम विरोध,

है। विदेशियों की समझ में यह बात नहीं आती। विकास विद्यालय, रांची का जर्मन प्रिंसिपल डा० ओटो वुल्फ समझाने पर भी यह बात न समझ सका कि बहन की शादी करवाने के लिये भाई अपनी शादी और अपने सुख भोग को क्यों स्थगित रखें, भाई की मृत्यु हो जाय तो उसके क्रिया कर्म में सम्मिलित होने के लिये पंडित जी सैंकड़ों रुपयों का खर्च क्यों करें! वह समझ ही नहीं पाता था कि परिवार में अपनी पत्नी और अपने बच्चों के अतिरिक्त और किसी को भी गणना कैसे हो सकती है!! शिक्षित हिन्दुओं का आधे से भी अधिक भाग अब भी संयुक्त परिवारों में रहता है। जो किसी कारण संयुक्त परिवार में नहीं भी हैं वे भी उसके अनुकूल हैं। इससे हिन्दू समाज की सामाजिक सुरक्षा हुई है। सामाजिक एवं वैयक्तिक विघटन नहीं होने पाया। दो पीढ़ियों का पारस्परिक अन्तर, रुचि-स्वभाव विचार-रहन सहन वेश भूषा, आदि का अन्तर भी उनको तोड़ नहीं पाया। ऐसी व्यवस्था में पले हुए साहित्यिक ने, प्रगतिशील विचार धारा और साहित्य के बावजूद भी आधुनिक हिंदी साहित्य में मर्यादा भंजन का साहस नहीं किया। यशपाल, पहाड़ी, अज्ञेय, इलाचन्द, आदि अपवाद हैं और इनका समाज पर अथवा साहित्यिक प्रवृत्तियों पर इतना प्रभाव कभी नहीं पड़ा कि वे एक परम्परा चला सकें। ऐसा समाज तलाक को कभी भी मान्यता नहीं दे सकता। यह हमारी सांस्कृतिक परम्परा के प्रतिकूल है। इसलिये आधुनिक हिंदी साहित्य में तलाक और उससे उत्पन्न वाली स्थितियों का चित्रण प्रायः नहीं मिलता।

वेश्या—

हमारे इस आलोच्य काल के भी सामाजिक जीवन में अपने लिये एक अनिवार्य किन्तु अवांछित स्थान बनाये रखने वाला तत्व है वेश्या वृत्ति। मानव समाज की यह एक अत्यन्त प्राचीन बुराई है। प्रागैतिहासिक काल में भी इसका अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग तो इसे अत्यन्त अनिवार्य एवं आवश्यक समझते हैं। उनका कहना है कि यदि घर में शौचालय, मूत्रालय एवं गन्दी नाली के अस्तित्व का औचित्य है तो समाज में वेश्यावर्ग के अस्तित्व का भी औचित्य है। यह अत्यधिक कामी व्यक्तियों के लिये वासना-पूर्ति का वैधानिक अथवा सामाजिक माध्यम प्रस्तुत करके समाज और परिवार को अनेक अवांछित एवं अशोभनीय दुर्घटनाओं से बचाये रखता है। युक्ति संगत होते हुए भी यह एक कुतर्क है, बौद्धिक क्षमताओं का दुरुपयोग है तथा मानवता की दृष्टि से शर्म की बात है। हमारे समाज में वेश्या वर्ग की दो प्रमुख प्रवृत्तियां हैं — (१) संगीत और नृत्यकला को व्यावसायिक रूप से अपना

कर उन्हें नष्ट न होने से बचाये रखना, और (२) शरीर बेच कर धन-सम्पत्ति कमाना। वस्तुतः वेश्यावृत्ति की वास्तविक परिभाषा ही यह है कि धन-सम्पत्ति के लिये उस नारी का, जो किसी कि पत्नी नहीं है, पर-पुरुष की काम-वासना को अपने शरीर के अंगों से खुराक देना। इसका सबसे बड़ा परिणाम होता है नारीत्व का अपमान। ऐसी नारी शर्म हया को सदा सर्वदा के लिये तिलांजलि दे बैठती है। वृद्धा होने पर ये अपने ही जैसे किसी अन्य नारी शरीर को खोज कर अपनी ही तरह का करके उसकी अभिभाविका बन बैठती हैं। परम्परा चल पड़ती है। इनके आदमी देहातों में असंतुष्ट लड़कियों सम्पघरों की लालची एवं चटोरी बहू-बेटियों, और मेलों में भूली-भटकी बालाओं की खोज में घूमा करते हैं और पा जाने पर उन्हें इनके अधिकार-क्षेत्र में डाल देते हैं, पतनोन्मुखी जमींदारी और जागीरदारी प्रथा के 'ठीकों के यहां इनको कभी-कभी विलासपूर्ण प्रश्रय मिल जाता है। गृहस्वामिनियां व्यावहारिक रूप से परित्यक्ताएँ हो जाती हैं, शरीर-व्यवसायिकाएँ राज करने लगती हैं। इनका सामाजिक उपयोग केवल इतना ही है कि ये खुशी के मौकों पर आकर संगीतकला और नृत्यकला की अपेक्षा यौवन के प्रदर्शन, नाज-नखरों एवं रुचिपूर्ण हास-परिहास से दैनिक जीवन की नीरसता समाप्त कर देती हैं। हीन और तुच्छ मनोवृत्ति एवं कलाकृतिक तथा अर्थ-प्रवृत्त रसिकों का इनसे रात-रात भर मनोरंजन हुआ करता है और ये खूब कमाई का प्रबन्ध करती हैं। इनसे मजाक कर सकना हर पुरुष अपना अधिकार समझता है और तब तक ये इसके अधिकार की रक्षा अपने तन और अपनी कलाओं से करती रहती हैं जब तक इन्हें उचित फीस मिलती रहती है। इस युग में संगीत नृत्य तथा वेश्यावृत्ति को एक दूसरे का इतना पर्याय या एक दूसरे से इतना अभिन्न समझ लिया गया था कि जब समाज में संगीत और नृत्यकला के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया जाने लगा तो बहुत बार यह सुनने को मिला-'नचा-गवाकर हमें अपनी लड़कियों से 'पैशा'' नहीं करवाना है।'' समय और, समझदारी ने अब इस धारणा को बदल दिया है। कई आर्यसमाजी सुधारकों ने शादी ब्याह के अवसरों पर नक्कू बनने का खतरा उठाकर भी, रंग में भंग करने का दोषारोपण सह कर भी वेश्या के नृत्य के बीच इसका विरोध किया है। जब तक समाज में कुछ के पास इतनी सम्पत्ति, इतना अधिकार, और इतनी फुरसत है कि अपने खाली समय के मनोरंजन के लिए वे पर्याप्त धन उड़ा सकें, और कुछ के पास इतनी विपन्नता है कि ठीक से जीवन बिताने के लिए उन्हें अपने नारीत्व की स्वाभाविक वृत्तियों को बेचने के लिए मजबूर हो जाना पड़े-जब तक समर्थ ग्राहक है

की कल्पना गतिशील नहीं होती। अब यह बात दूसरी है कि कोई पीकर भी चुप रहता है-देवता बना है-और कोई बिना पिये ही सारे प्रदेश में पीने-वालों का सा रंग मचा देता है। 'मैं छिपाना जानता तो जग मुझे साधु समझता गाने वाले बच्चन ने लिखा है, 'मेरी "मधुशाला" निकल गई थी और उसने मेरे विषय में एक विचित्र प्रकार का कौतूहल उत्पन्न कर दिया था। कौन है यह आदमी? क्या इसके पास बड़ी दौलत है! क्या यह दिन-रात नशे में पड़ा रहता है? क्या यह जो लिखता है वह सब उसका अनुभूत सच है! क्या यह मधुशाला में रहता है, मधुशालाओं से घिरा, एक आधुनिक उमरखैयाम की तरह! शायद कुछ इसी प्रकार की जिज्ञासा थी, जिसने "नव ह१" जी को लाकर मेरे मकान के सामने खड़ा कर दिया......"¹। उस समय रामवृक्ष बेनीपुरी ने यह कहा था कि 'बच्चन' बिहार में आएगा तो मैं उसे गोली मार दूंगा! मगर कोई क्या करे? 'बच्चन' की पूजा-कृत भी तो पीने वालों की सी ही थी! और, उस समय यह 'आधुनिक उमर खैयाम" दस-पन्द्रह रुपये महीने की तनख्वाह का ट्यूशन पढ़ाता था और सम्पादकों द्वारा दिये गये धोखे खाता था!!! मोहनलाल महतो 'वियोगी,' बालकृष्ण शर्मा "नवीन" भगवती चरण वर्मा आदि में यह हालावाद किसी न किसी रूप में उपस्थित अवश्य है। यह प्रतीक रूप में भी है और अभिधात्मक रूप में भी। अन्योक्ति के रूप में 'बच्चन' की "मिट्टी का तन मस्ती का मन क्षण भर जीवन मेरा परिचय" बड़ी ही प्यारी कविता है शराबी के ही मनोविज्ञान को साहित्यिक रूप देते हुए अमर कलाकार प्रेमचन्द ने 'कफन" प्रसाद' ने "मधुआ', और भगवती चरण वर्मा ने "चित्रलेखा" की सृष्टि की है!

भिखारी—

रेलवे स्टेशनों के बाहर, प्लेटफार्मों पर, रेल के डिब्बों में, बस स्टेशनों के पास, मन्दिरों और मस्जिदों के पास, धर्मशालाओं के पास, मुसाफिरखानों में, मेलों और उत्सवों के समय पवित्र नदियों, आदि के किनारे भूखे से भी भूखा साधारण स्थिति का मनुष्य रोटी खाने बैठ जाय तो उसे आधुनिक रन्तिदेव बनने पर विवश कर देने वालों, या यदि वह ऐसा होने को तैयार न हो तो, उसे कंजूस राक्षस की उपाधि देकर उसे नरक में जाने का आशीर्वाद देने वालों की एक बड़ी संख्या ने *भारतवर्ष को आधुनिक सभ्य संसार में एक अनोखा देश बना दिया है।* गरीब और मजबूर प्राणी प्रत्येक देश में होते हैं किन्तु ऐसा देश संसार भर में संभवतः अकेला भारतवर्ष ही है जहां लगभग पांच लाख प्राणी पूरी आजादी के साथ सड़कों पर

१. 'नये पुराने झरोखे", पृष्ठ ८०

घूमते हैं और दूसरों की कमाई का कुछ भाग माग माग कर ही अपना जीवन बिताते हैं। एक मात्र भारतवर्ष की ही उन सस्था विशेष में भिक्षावृत्ति को व्यवसाय की कोटि में सम्मिलित किया गया है। भारत में ही सभ्य जनता अपने को तनिक भी अपमानित अनुभव किये बिना इस वृत्ति को खुले आम चलन रहने दे सकती है। भारत के भिखारी भीख मागने में अपमानित तो अनुभव नहीं ही करते, प्राय वे कहते हैं 'हम भीख मागते हैं तो क्या बुरा करते हैं ? किसी की जेब नहीं काटते सभ्य या असभ्य ढंग से किसी को लूटते नहीं चोरी नहीं करते, डाका नहीं डालते। मागते हैं जो दे देता है ले लेते हैं नहीं देता तो अपनी राह जाता है। हम दस बाल का भी। और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि आजाद हैं, किसी की नौकरी नहीं करते–किसी के गुलाम नहीं। इस विचार दर्शन की अभिव्यक्ति आधुनिक हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य में भी हुई है। बच्चे भी भीख मागते हैं, औरतें भी, पागल भी भीख मागते हैं सफेदपोश साधु-सन्यासी भी, अंधे भी भीख मागते हैं। लूले-लगड़े भी, परिवार वाले भिखारी भी हैं एकाकी भी सगठित भिखारी भी होते हैं, स्वतंत्र छिट पुट भी बीमार भिखारी भी हैं, हट्टे-कट्टे भी, बदमाश भिखारी भी हैं, शरीफ भी। कोई हाथ फैलाकर भीख मागता है कोई घाव दिखाकर कोई भगवान की मूर्तियाँ दिखाकर भीख मागता है कोई कालो कांटों पर लेट कर, कोई गा-बजाकर मागता है, कोई पेट पर हाथ मारकर अथवा नटों जैसी कलाबाजी दिखाकर, कोई नवजात शिशु को दिखा कर भीख मागता है कोई विवाह योग्य कन्या आ करके ! खेती अथवा व्यवसाय–विहीन आजीविका–रहित प्राणी काम करने में असमर्थ तथा सहायक विहीन प्राणी, पागल तथा समाज-बहिष्कृत प्राणी भूखों मरने वाली परित्यक्ताएं, भूले भटके शिशु जान बूझकर जिनका अंग भग कर दिया गया है और जिन्हें मालिक भिखारियों द्वारा अमानुषिक वेदनाएं दी जाती हैं सुस्त, आलसी, काम चोर और परम्परा से भीख मांगने के अभ्यासी जीव भिक्षावृत्ति अपना लिया करते हैं। इधर दान देने के अभ्यासी भारतीयों को भीख देने से पुण्य प्राप्त करने का, भगवान की दया-कृपा प्राप्त करने का, लौकिक उन्नति-सुख सम्पत्ति तथा स्वर्ग प्राप्त करने का विश्वास है ! देने वाले देना चाहते हैं लेने वाले मौजूद हैं - और भिक्षावृत्ति शान से चल रही है ! १९३१ की जनगणना के अनुसार इस देश में ४,८७ ६०७ भिखारी थे, जिनमें ३४४२६६ मर्द थे और १, ४३,६४१ औरतें। ये भिखारी साहित्य का विषय बने हैं और इन भिखारियों को धन्य कर दिया है प्रेमचन्द के "रंगभूमि के सूरदास ने ! काश, कि सभी भिखारी "सूरदास, हो सकते !

स्थापित हो ही गया था। चापलूसी में उनकी अनुकूलता प्राप्ति के लिये और अपनों पर रौब गाँठने के लिये हमने उनका अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। उनके यहाँ के पतले, सस्ते और भड़कीले वस्त्र और वस्तुएँ हमें आकृष्ट करने लगीं। उन्हें स्वीकार करने के पहले हमने यह अवश्य देख लिया कि वेद शास्त्र इसके विरुद्ध तो कुछ नहीं कहते! जब मालूम हो गया कि नहीं कहते, तो हमने निःसंकोच भाव से खुल कर उन्हें अपनाना शुरू कर दिया। हम भूल गये कि धर्म ही सब कुछ नहीं, सब कुछ संस्कृति है हम यह सोचना भूल गये कि यह हमारी संस्कृति और आवश्यकता की बात है या नहीं! पतलून पहनना, टाई लगाना, हैट पहनना, सिगरेट पीना, मेज पर खाना, छुरी काटे से खाना, अँगरेजी लिखना, अँगरेजी बोलना, सोफासेट सजाना, आदि इन सबके बारे में वेद शास्त्र ने मना नहीं किया है और भारतवासियों ने इन्हें डटकर अपना लिया। परिणामतः हमारे धर्म के कर्मकाण्ड तो रह गये परन्तु सांस्कृतिक जीवन—व्यापन की दृष्टि से हमारा सांस्कृतिक मूलोच्छेद हो गया। मूल से विच्छिन्न होकर हम हल्के पड़ गये ठोस नहीं रह गये। हम भूल गये कि विद्या की प्रवृत्ति सतोगुणी है और उसका रंग श्वेत है। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्या मन्दिरों में कामोत्तेजक प्रकार की रंग बिरंगी भड़कीली पोशाकें दिखाई देती हैं—विद्या लेने वालों की भी और देने वालों की भी! हमारी संस्कृति ने मुँह खोलने की आज्ञा दी है, तन खोलने की नहीं, किन्तु सांस्कृतिक ठोसपन के अभाव की स्थिति में कान ही नहीं खुले हैं, अंग प्रत्यंग इस रूप से सज संवर भर उभर कर सिर उठाता हुआ दिखाई पड़ता है कि 'स्कन्दगुप्त' के भटार्क का कथन याद आ जाता है, कि लगता है कि इसलिये नारद, शंकर विश्वामित्र, आदि आज के विद्यालयों में नहीं दिखाई पड़ते कि कहीं उन्हें फिर से न 'बन्दर' बनना पड़ जाय, कहीं फिर से किसी सती की लाश न ढोनी पड़ जाय। बेचारों को यह नहीं मालूम कि अब समय बदल गया है! आज वह बन्दरपन' ही नव यौवन है, 'सती की लाश' ही सजीव प्रगतिशीलता बड़प्पन और समृद्धि की सूचना देती हैं, तथा नये विश्वामित्रों और मेनकाओं अबाधित अस्तित्व एवं आगमन को रोकने के बहुत से उपाय निकाल लिये हैं!!! 'शकुन्तलाओं की भरमार न हो जाय!! आज की पार्टियों, आज के सिविल लाइनों आज के सिनेमा हाउसों, आदि को देखकर सचमुच यह सोचना पड़ जाता है कि भारत की गरीबी की बात झूठी तो नहीं है। वास्तविकता यह है कि पाउडर, लेवेंडर क्रीम की बोतलें, साड़िया, ब्लाउजें, पतलूनें और कोट, या फाउन्टेनपेन तथा घड़िया के 'शकुन्तलाओं'के अधवाचीनी कोल्हिटें और नायरी प्यालियाचाहे जितनीहो किन्तुनेर-डेढ

सेर की फूल की थालिया, भारी परात, भारी घडे, भारी लोटे, कामनी गिलास चाँदी सोने के भारी गहने कहीं न मिलगे ! दूध मँहगा है और चाय यानी दूध प्याला तस्तरी नाश्ता सस्ता है ! कितना खोखलापन हमारे अन्दर भर गया है कि मोजे, चप्पल और जूते तो कीमती हैं, मगर पैर निकृष्ट हो चले हैं ! जब सोचने को बडी बातें और करने को अधिक और बडा काम नहीं रहता तब कुछ बडे अफसरों की गृह देवियां यह बताने मे अपने समय का सदुपयोग करती है कि उनके जेठ क्या हैं, ससुर क्या थ, चचिया ससुर क्या हैं, उनके पास कितने ट्रक साडिया हैं, और एक बार मोटा कपडा पहनने पर बोझ के मारे कितने दिन उन्हें बुखार आ गया, और उधर, उनके साहब क्लबो म चिडिया उडाने, पत्ते फेंटने बाटने, शराब पीने और सिगरेटें फूकने म चौरासी लाख योनियों के बाद पाया जा सकने वाला मानव जीवन सार्थक किया करते हैं ! इस तरह के लोग विशेषत देवियां अपने हाथ से अपना भी काम करना अपने पद और अपनी प्रतिष्ठा अपमान समझती हैं ! प्रोफेसर की बीबी अपने हाथ से काम करें और मोटे सादे कपडे पहने ! गजब !! दो सौ चार सौ को मासिक आय वालों की यह मनोवृत्ति नैतिकता, गम्भीरता और ठोसपन के अभाव के अतिरिक्त और क्या है !!! लोग आज तत्वहीन दिखावटी चीजों को इतना महत्वपूर्ण या आवश्यक समझने लगे हैं कि उनका विचार है कि लोग उसे देखते और उस पर विचार करते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि आज किसे फुरसत है कि देखे और विचारे कि आपने क्या और क्यों पहना है ! एक निगाह देखते हैं, एक दो वाक्य मे बात करते हैं, फिर बात आई गई हो जाती है। लोग कदर आपके पद और आपकी प्रतिभा को करते हैं, आपके कपडों की नहीं ! कुछ बददिमागों की बात दूसरी है। फैशन और नयेपन की यह घातक प्रवृत्ति साहित्य मे चित्रण का विषय तो बनती ही है, इस वातावरण मे पले हुए तरुण कलाकारों के अन्दर से ठोस साधना, गम्भीरतम चिन्तन, व्यापक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक अभिरुचि, आदि का अभाव करके उनमे सस्ती छिछली लोकप्रियता के पीछे दौडने और दूसरों पर रौब लेने की इच्छा की वृद्धि कर देती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथलीशरण गुप्त, 'हरिऔध', श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'निराला', धीरेन्द्र वर्मा, आदि की गहराई और ठोसपन नई पीढ़ी में नहीं दिखाई पडती क्यों कि तब परतंत्र होकर भी हम विवेकानन्द, दयानन्द, तिलक, गांधी, आदि की बात यथाशक्ति समझते और मानते थे और अपनी संस्कृति का आदर करते थे और आज आजाद होकर भी हम न उन महापुरुषों की बातें मानते हैं और

न हमे अपनी सस्कृति की ही परवाह रह गई है । आज का फैशनेबुल अभिनव साहित्यकार फैशनेबुल 'कुण्ठा', फैशनेबुल 'घुटन', फैशनेबुल 'जलन', और फैशनेबुल बुद्धिवाद के सहारे एक फैशनेबुल स्वर्ग—काल्पनिक सुख समृद्धि वाले समाज की सृष्टि मे लगा है । भगवान ही रक्षा करे !! और, जब रहन सहन, खान पान, वेश भूषा, अर्थ-व्यवस्था और राजकाज मे अनुकरण फैशन दिखावे की वृत्ति आ गई तथा मौलिकता अथवा विशुद्ध भारतीयता का अभाव हो गया तो किसी एक क्षेत्र मे मौलिकता की कल्पना की ही कैसे जा सकती है ! यही कारण है कि यद्यपि आधुनिक युग मे दो दो नितान्त मौलिक विश्व महायुद्ध हुए हैं और आज के समाज की समानरूपेण शक्तिशाली नवीन और प्राचीन प्रवृत्तिया और मान्यताओ की टकराहटें त्रेता अथवा द्वापर युग के अन्त की टकराहटो से किसी भी प्रकार कम नही, फिर भी आज किसी नितान्त मौलिक महाकाव्य की रचना नही हो सकी । रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य तो दूर की बात रहे तुलसी का 'मानस' भी हम अभी नही मिल पाया !! मौलिकता के इसी अभाव के सभी प्रकार की इसी फैशनपरस्ती के कारण आधुनिक हिन्दी काव्य पूर्णत मौलिक और तत्व प्रभावशाली नही हो पाया । मेरा विचार है कि आधुनिक युग मे जन्म लेकर भी आधुनिक भारत के व्यास और वाल्मीकि कोट पतलून टाई बूट न पहनते, सिगरेट पाइप न पियेंगे, बटन होल मे फूल की कली न लगायेंगे, सोफासेट पर आराम न करेंगे, मेज कुर्सी पर छुरी काटे से चीनी की प्लेटें न खनखनायेंगे ! काश काश कि गाधी और विनोबा कवि हुए होते ! !

मनोरजन—

जिस प्रकार जीवन एव रहन सहन सम्बन्धी हमारी अन्य धारणाए अपने सास्कृतिक परिवेश से विच्छिन्न होकर सागर मे फेंकी गई पेड की टहनी की तरह पूर्वी और पश्चिमी लहरो के घात प्रतिघात के कारण निर्मूल सी होकर इधर उधर बहती उतराती हैं उसी प्रकार जीवन की मनोरजन सबधी हमारी धारणाएँ और उसके स्वरूप भी हैं। अधिक परिश्रम के कारण शरीर के विभिन्न अणुपरमाणु, रक्त के कण एव मस्तिष्क के विभिन्न अवयव एव तन्तु क्रियात्मक शक्ति के व्यय के कारण शिथिल होने या बोझिल होने का तनाव एव खिचाव का अनुभव करने लगते हैं। उन्हे स्वाभाविक एव स्वस्थ स्थिति मे लाने के लिये पहले के कार्यों को स्थगित करना कुछ नैतिक तत्वो से उन्हे मुक्त करने, रुचिकर गभीर उद्देश्य एव लक्ष्य से रहने वाले हल्के फुल्के कार्यों को दबाव विहीन ढग से स्वतन्त्रतापूर्वक

करने की आवश्यकता होती है। बहुत देर तक निष्क्रिय बैठे रहने से भी शरीर अपनी क्रियाशीलता एवं स्वास्थ्य खो बैठता है। इसके लिये भी कुछ होना चाहिए। ऐसे अवसरों के लिये भारतीय संस्कृति की जो व्यवस्थाएँ थी उनमें जिस बात का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता था वह थी शारीरिक, नैतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक किसी भी प्रकार की कुछ भी हानि न होने देने की। एक की हानि पर दूसरे का लाभ हमारी संस्कृति ने कभी भी प्रतिपादित नहीं किया। आगे बढ़ कर इस बात का भी ध्यान रक्खा जानेलगा कि वह परिस्थितियों के अनुकूल हो, सात्विक प्रवृति की हो और मनुष्य की व्यापक उन्नति में सहायक हो। कलान्तर में इस दृष्टिकोण में शिथिलता आने लगी। विभिन्न संस्कृतियों के संपर्क ने मनोरंजन, आदि की विभिन्न धाराएँ और उसके अनेक स्वरूप एवं प्रकार दिये। स्वास्थ्य के लिये देशी और विदेशी व्यायाम भी होते रहे और उनकी जगह पर देशी विदेशी औषधियों पर भी भरोसा किया जाने लगा। हमारे नाच-गान--नाटक, आदि का संबंध भगवान से भी हो गया था और हमारे मनोविकारों से भी। धन की अधिकता के लिए खाली बैठे रह कर हम अपने मन और मस्तिष्क, रुचि और पसन्द को शैतानियत के रंग में रंगने भी लगे। हम स्वास्थ्य के लिए नहीं स्वाद के लिए खाने लगे। संतुलित भोजन का कोई भी ध्यान नहीं रह गया। मनोरंजन संबंधी हमारी धारणा भी विचित्र हो गई। उसमें दान और प्रतियोगिता की भावनाएँ सम्मिलित हो गईं और उसने व्यवसाय का रूप धारण कर लिया। कुछ का रूप बेहद खर्चवाला हो गया। कुछ को हम मनोरंजन का सभ्य साधन समझने लगे और कुछ को ग्राम्य देहाती। कुछ मनोरंजन घर के भीतर आराम से गद्दे तकिये या कुर्सी मेज पर बैठ कर होने लगा और कुछ बाहर मैदानों में। वे हृदय के विषय कम रह गये। नियम कायदों से जकड़ गये। कुछ तो कमाई करने के साधन भी बन गये हैं।

कुछ से चरित्र और स्वास्थ्य बनता या बन सकता है। और कुछ केवल फालतू समय (जो हमारे पास कम नहीं है!) को व्यतीत करवा देने के साधन मात्र रह गये। मनोरंजन के कुछ साधनों को क्रियात्मक रूप देने के लिये लाखों-करोड़ों का व्यय, अखिल भारतवर्षीय आयोजनाओं, और राजकीय संगठनों की आवश्यकताएं पड़ती हैं। इनमें से कुछ साहित्यिक हैं और कुछ व्यावसायिक। कुछ निर्माण करते हैं कुछ विनाश। योगासन, कबड्डी, गुल्ली डंडा, नाटक कम्पनियां, भजन मंडलियां

अखाड़े, नृत्य, रासलीला, रामलीला, हुक्के फुक्के मारे, शास्त्रीय संगीत, बटरा, ताश, शतरज, ब्रिज, फ्लास, चौपड़, कौडी जुआ टेनिस, बेडमिन्टन, क्रिकेट, हाकी, फुटबाल, वालीबाल, टेबुल टेनिस, सिनेमा, रेडियो, आदि हमारे व्यायाम और मनोरंजन के प्रकार हैं। इनमें से कुछ खेल तो राष्ट्रीय सम्मान एवं विश्व-सम्मान दिलाने वाले हो गए है। प्रसाद जी कुश्ती लड़ते थे और उनका शरीर कसरती था। रामकुमार वर्मा जी ने बचपन मे कई कुश्तियां मारी थी। उनका सुगठित शरीर उनके व्यायाम प्रेम का साक्षी है। वे आज भी प्रात काल व्यायाम और आसन करते हैं। रम्भे प्रदेश, व्यायाम-केसरी शान्तिप्रकाश आत्रेय का कहना है कि निराला कुश्ती के मान्य दाव पेच जानते थे। प्रेमचन्द की एक कहानी का विषय है उनके बचपन के एक साथी के साथ गुल्ली डडे का खेल। 'प्रसाद', निराला', रामकुमार वर्मा, महादेवी, आदि अनेक गीतकार शास्त्रीय सगीत से परिचित हैं। वैसे भी सगीत भारतीय जीवन का एक अनिवार्य तत्व है—सास्कृतिक तत्व है। "बच्चन' ने लिखा है, सुप्रसिद्ध सगीतकार बडे गुलाम अली ने एक बार कहा था कि गाने की तबियत बनाना ही गाना है...... हमारे देश का तो सारा जीवन ही गीतमय है। कभी कभी सोचता हूँ कि हमारे ऋषि मुनियो, विचारको, दार्शनिकों, विद्वानो, सतो ने जीवन की कौन ऐसी व्याख्या जन-जन के हृदय मे बिठा दी कि समस्त जाति गीतमय हो गई। पर्वो त्योहारो, मेलो, उत्सवो की बात नही करता, ऐसे समय गान स्वाभाविक है पर कठिन मेहनत का काम करते हुए भी लोगो को गाते देखकर मैं भाव-विभोर हो गया हूँ। पति या पुत्र की मृत्यु पर देहातो मे औरतें जिस ढग मे रोती हैं उसमे भी एक लय-एक प्रकार की सगीतात्मकता होती है। इसलिये हमारा काव्य गीत सगीतमय है—गद्य मे भी सगीत है। 'प्रसाद' ने देवसेना से सगीत के इसी व्यापक रूप की प्रतिष्ठा कराई है। इस शाश्वत प्रवृत्ति के प्रतिकूल कुछ यथार्थवादी, बौद्धिकतावादी, तथा नई कविता के कलापूर्ण गौरव स्तम्भ कविता से सगीत को निकालने की पिपिहरी बजाये हैं यद्यपि तुक-लय, आदि से उनकी कृतियां भी पूर्णत: रहित नही हैं।"[1] भारतेन्दु जी शतरज के निष्णात खिलाड़ी थे और प्रेमचन्द की एक सुप्रसिद्ध कहानी है "शतरज के खिलाड़ी"। 'प्रसाद' के नाटक पारसी रगमच पर अभिनीत होने वाले असास्कृतिक नाटकों की प्रतिक्रिया-स्वरूप थे और उनकी नाट्यकला का रूप उन से अप्रत्यक्ष रूप से थोड़ा-बहुत प्रभावित भी है। भारतेन्दु अभिनय कला के मर्मज्ञ, और रगमच की कला के ज्ञाता थे। वे स्वयं अभिनेता भी थे। यही स्थिति रामकुमार वर्मा की भी है। पाश्चात्य खेल, जैसे क्रिकेट

१. "नये पुराने झरोखे", पृ १२५।

हाकी, आदि अभी हमारी संस्कृति के अंग नहीं हो पाये हैं और इसलिए अभी हमारे साहित्य का उनसे कोई प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं हो पाया है। चलचित्र हमारी रुचि, हमारे जीवन और हमारे मनोविज्ञान को बुरी तरह से आक्रांत करता हुआ भी अभी हमारे जीवन का शुभ सांस्कृतिक तत्व नहीं हो पाया है और इसीलिए साहित्य का विषय नहीं हो सका। फिर भी, 'सुबह के भूले' और "आखिरी दाव" नामक दो सशक्त उपन्यासों और अनेक कहानियों का संबंध चलचित्र जगत से है। मनोरंजन के साधनों में से जिस तत्व ने हिन्दी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है वह है रेडियो। एकांकी नाटकों की भरमार का एक प्रमुख कारण रेडियो है। इसी कारण अनेक प्रकार के रेडियो नाटक लिखे जाने लगे हैं जिनका वर्गीकरण रेडियो नाटक, ध्वनिनाट्य, ध्वनिरूपक, आदि-हिंदी में पहली बार रामकुमार वर्मा ने किया है रंगमंच के अभाव तथा सुयोग्य दर्शकों की कमी ने नाटकों को दृश्य काव्य से पाठ्यकाव्य बना दिया और अब रेडियो ने उन्हें श्रव्यकाव्य बना दिया है। हिन्दी साहित्य को रेडियो की यह सबसे बड़ी देन है।

प्रेस—

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली सामाजिक वस्तु है प्रेस। समाचार पत्रों ने हिन्दी कविता को राज दरबारों से निकाल कर जनता के बीच खड़ा कर दिया। प्रेस की सबसे बड़ी देन यही है कि उसने हिन्दी का दरबारीपन समाप्त कर दिया। प्रजातन्त्रवाद और मानवतावादी दृष्टिकोण ने इसके लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की और प्रेस ने साधन उपस्थित कर दिया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "वस्तुतः साहित्य में आधुनिकता का वाहन प्रेस है और उसके प्रचार के सहायक हैं यातायात के समुन्नत साधन। ......वस्तुतः प्रेस ने साहित्य को प्रजातांत्रिक रूप दिया।" [१] बम्बई में प्रकाशित साहित्य चौबीस घंटे के अन्दर सारे भारत में पहुँच सकता है। इस सुविधा ने हिन्दी साहित्य को स्थानीयता एवं प्रादेशिकता की सीमाओं से मुक्त करके अन्तर्प्रान्तीयता का स्वरूप प्रदान कर दिया है। इससे भाषा की एकरूपता में थोड़ी-बहुत शिथिलता अवश्य आ गई है किन्तु यह कोई बड़ी बात नहीं है। उचित समय पर भारतीय प्रतिभा उसके अवांछित तत्वों के लिए निदान ढूँढ लेगी। प्रेस ने अधिकाधिक संख्या में पुस्तकों का प्रकाशन संभावित करके लेखकों के पाठक-वर्ग का विस्तार करके उनकी यशोवृद्धि का साधन उपस्थित कर दिया है। मासिक तथा साप्ताहिक पत्रिकाओं के प्रकाशन ने

१. "हिन्दी साहित्य", पृ ३६१।

साहित्य के लघु रूप को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया है। पाठक की रुचि का ध्यान पत्रिका के अधिकाधिक विक्रय का साधन है। अतएव सम्पादक वह छापेगा जिसे पाठक अधिकाधिक खरीदे और इसीलिये साहित्यिक वही लिखेगा सम्पादक जिसे निःशंक रूप से छाप सके। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य पाठकों का-लोकमत का-अनुगामी हो गया। उसे पाठकों की रुचि और साहित्य के सांस्कृतिक महदुद्देश्य के बीच समन्वय बिन्दु निकालना पड़ा। जो ऐसा नहीं कर सका उसे क्षेत्र से हट जाना पड़ा। स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कवि-सम्मेलनों की। विविधता की माग ने साहित्य की अनेक विधाओं के अपनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया और नवीनता की माग ने विविध प्रान्तों और देशों के साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता प्रतीत कराई। हिन्दी साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय विधा, "कहानी" के वास्तविक अर्थों मे प्रारम्भ का श्रेय प्रेस की कृपा-"सरस्वती" के प्रकाशन-को ही है।

अन्ध विश्वास –

दर्शन मे बुद्धि एक जड तत्व है। चेतन–जगत मे, अध्यात्मिक क्षेत्र मे उसकी कोई विशेष उपयोगिता नही मानी गई है। इसका एक मात्र उपयोग है सार्थकता है–अपनी निःसारता, निरुपयोगिता या निरर्थकता की अनुभूति करा देना। इतना करने के पश्चात् उसे साधक से इसी प्रकार वियुक्त हो उठना होता हैं जैसे सर्पराज की पुरानी केंचुल। इसका तात्पर्य यह न समझ लेना चाहिये कि वह लौकिक क्षेत्र व्यवहारिक जगत मे भी निरुपयोगी है। उसकी निरर्थकता की अनुभूति किये बिना ही—लौकिक क्षेत्र एव व्यावहारिक जगत मे भी उसको छोड देने वाले मूर्ख हो जाते हैं। बुद्धि को प्रयत्नपूर्वक छोड देना या छोडने का ढोंग रचना जाहिलियत है, बुद्धि से अपरिचित होना मूर्खता है और बुद्धि का स्वतः अपने को निरुपयोगी सिद्ध करके ऋतुओं की भांति, इन्द्र धनुष की भाति स्वत सहज स्वाभाविक रूप से साधक के मार्ग से लुप्त हो जाना आध्यात्मिक क्षेत्र की एक सुन्दर परिस्थिति है। शिक्षा के अव्यावहारिक खर्चीले, प्राय नगरो मे ही सीमित, और असांस्कृतिक होने के कारण भारतीय जनता के अधिकाधिक भाग ने उससे अपना सबध तोड लिया। इस प्रकार लिखना, पढना, और हिसाब लगाना उनके लिये नहीं रह गया। व्यवहार कुशल होने पर भी वे अशिक्षित रह गये। मस्तिष्क को जागरुक और सक्रिय रखने के लिये आवश्यक तत्वो को भीतर आने देने वाली खिडकिया बन्द हो गई। नौकरी दिलाने वाली तथा पाश्चात्य रूप धारण करके चलने वाली शिक्षा मे इतनी क्षमता नही रह गई कि वह शिक्षितो को अपने आध्यात्मिक एव

धार्मिक जीवन के प्रति जागरूक कर सकती या उस विषय में कुछ बना सकती। अपने धार्मिक कर्तव्यों एवं अनुष्ठानों को जानने के लिये जिस भाषा को जानने की आवश्यकता होती है उसे जानने वाला मूर्ख और सरकारी नौकरी के अनुपयुक्त समझा जाता था। अस्तु, उसे पढ़ने का खतरा मोल लेने को हम तैयार न हुए। हम अशिक्षित भारतीयों ने बुद्धि का साथ छोड़ दिया तो मूर्ख रह गये। शिक्षा की धार्मिक-शून्यता ने हमें धर्म के मामलों में एक विशेष वर्ग पर ही अवलंबित हो जाने को विवश कर दिया। मुहावरा चल पड़ा कि पढ़-लिख कर कोट पतलून पहनने लग जाना और अँगरेजी बोल लेना और बात है, और अपना धरम-करम जानना और बात। इस मजबूरी ने हमें बिना सोचे-समझे विश्वास करना सिखा दिया। धर्म के अन्दर बुद्धि को सक्रिय होने देना नास्तिकता है। 'महाजनो येन गत स पन्थ'। हम अनुकरणवादी हो गये। उस पर हम शंका संशय संदेह कर नहीं सकते क्योंकि 'संशयात्मा विनश्यति'। और फिर, विश्व-ब्रह्माण्ड इतना अपरिचित हम इतनी अल्प और सीमित शक्ति वाले! किस-किस को जानेंगे? किस-किस पर विचार करेंगे? किस-किस से लड़ेंगे? बीसवीं सदी के भी हिन्दू ने "मान लेना" सीख लिया। विश्वास कर लेना सीख लिया। नगा नगई करेगा तो उसका क्या जायगा? कुछ नहीं! शरीफ आदमी जरूर उलझन में पड़ जायगा। इसलिये हिन्दू ने सबसे प्रार्थना करके सबको शान्त करना अच्छा समझा "ओ३म् द्यौ" शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिरोषधय शान्ति वनस्पतय शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिर्ब्रह्म शान्ति सर्व शान्ति शान्तिरेव शान्ति सा मा शान्तिरेधि। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति!" जब सब कुछ शान्त, तब जो कुछ करना है वह 'पंडित जी" के कथनानुसार ही तो करना है! लोगों ने इस क्षेत्र की बात पर सोचना-विचारना बेकार का काम समझा। "विश्वासो फलदायक" यह पढ़े बेपढ़े सब कहने लगे। बुद्धि जिसके विषय में कुछ भी न कह सके उसे मानना विश्वास है और बुद्धि जिसके विरुद्ध निर्णय दे दे उसे भी मानना अंध-विश्वास कहलाता है पढ़े-बेपढ़े सब अन्धविश्वासी हो गये! भारतीय जिसे समझ पाता उस अमानवीय, अति मानवीय, और देवकोटि में पहुँचाने में उसे कोई भी देरी नहीं लगती। भारतीय जिसके ऐश्वर्य और प्रताप की प्रशंसा करता है उसस अलौकिक कोटि और योनि के लोगों को भी प्रभावित और पराजित होते हुए दिखाने में कोई हिचक नहीं होती। चेचक हैजा तऊन आदि कीटाणु-प्रधान नामक बीमारियों को देवी मानना, देवियों पर कढ़ाई (पूड़ी-हलवा) चढ़ाना,

जादू-टोना ओझा जी की झाड-फूक, जीवो की वलि, "अभुआना" (देवी या देवता की छाया से गृहीत व्यक्ति का सिर या हाथ हिलाते हुए अज्ञात बातो को बकना), "मानता" मानना, लडकी की ससुराल का एक दाना, अन्न भी न खाना अथवा एक बूँद पानी भी न पीना, आदि अनेक बातें हमारी उपर्युक्त प्रवृत्तियो की द्योतक है। प्राय ऐसा होता है कि उत्तर प्रदेश, बिहार, आदि प्रान्तो के गर्म-दिल नवयुवक जब उत्तर-पूर्व बगाल, असम, और उवसीअ क्षेत्रो की रूपवती और स्वस्थ तरुणियों के असाधारण आकर्षण और निर्बाध एव निर्बंध प्रेम के वशीभूत हो जाने के परिणाम-स्वरूप अपने जन्मस्थान एव अपने जन्म-प्रात नही लौटते तब बडे विश्वास पूर्वक लोग यहा करते है कि कमच्छा की जादूगरिनियो ने उन्हे मेढा बना लिया है। वे रात मे पुरुष और दिन मे मेडा बनाकर रखे जाते हैं। लोग इसका अर्थ रूपकात्मक नहीं अभिधात्मक ही लेते हैं। राहुल साकृत्यायन ने इस शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रचलित भूत-प्रेत-सबधी और अंगरेजो के देवी-प्रताप-सबधी अन्धविश्वास का मनोरजक उल्लेख किया हैं।[1] उनके एक सम्बन्धी रात म अकेले आ रहे थे। एक भूत ने उनका पीछा किया। "मील भर चला गया और अब भी वह व्यक्ति साथ ही चल रहा था। मैंने पूछा तो जवाब मिला-"जाओ, इधर से न चलो"........जानते हो, पक्की सडक सरकार बहादुर की सडक है। सरकार का बडा अकबाल है। उस पर आकर किसी भूत-प्रेत को घात करने की हिम्मत नही हो सकती........ मील, आध मील और पीछा करके वह यह कहता हुआ चला गया-"अच्छा, जा, बच के निकल गया।[2] विश्वास है कि भूतो का उच्चारण सानुनासिक होता है और उनकी एडी आगे की ओर और पजा पीछे की ओर होता है!! टीका लगवाने और पढने से लडको की मृत्यु हो जाने का भी अन्ध-विश्वास कहीं-कहीं था। उपर्युक्त पुस्तक मे राहुल जी ने एक और मनोरजक अधविश्वास का उल्लेख किया है। "एलोरा और अजन्ता की गुहा मूर्तियो के बारे मे उनका कहना था—रामजी बनवास को जायगे-यह ख्याल कर विश्वकर्मा ने पहाड काट कर ये महल बनाये कि इनमे देवता लोग वास करेंगे और राम जी को वनवास मे कष्ट न होगा किन्तु महल बना कर जब तक विश्वकर्मा ब्रह्मा को खबर देने गये तब तक राक्षसो ने आकर उन महलो मे डेरा डाल दिया। लौटकर विश्वकर्मा ने देखा। उन्हे बहुत क्रोध आया और शाप दिया ....जाओ, तुम सब पत्थर हो जाओ।" नानी की परम्परा के अनुसार अजता-एलोरा की गुहा- मूर्तिया वही पथराए राक्षस हैं.........नाचने वाले वैसे ही नाचते रहे......सोने वाले वैसे ही सोये-बैठे रहे। आज भी देखने से मालूम होता है-अभी उठ कर बोल देंगे।"[3]

१ "मेरी जीवन यात्रा, पृ. १६।
२. वही, पृ. १६।
३. वही पृ. २४-२५।

अन्धविश्वास किसी स्वस्थ प्रकृति का सूचक नही होता—बुरा होता है किन्तु हमारे देश की जनता के पास-जिसके पढ़े-बेपढ़े दोनो वर्ग धर्म-संस्कृति की जानकारी के विचार से एक-समान मूर्ख और बच्चे हैं जिसकी परिस्थितियो ने उसे बुद्धि-विकास का कोई भी अवसर नहीं प्राप्त होने दिया अपने धर्म और अपने सांस्कृतिक तत्वों, विभूतियों एव परम्पराओ को पूर्णत नष्ट न होने देने के लिये अन्धविश्वास के अतिरिक्त और कोई भी चारा रह नहीं गया था। मैं नहीं जानता कि अन्य देशों की बेपढ़ी-लिखी जनता की भी बुद्धि कितनी सक्रिय रहती है, और मैं यह भी नहीं जानता कि अन्य देशों मे अवाछित प्रवृत्तियो ने कभी कोई शुभ काम किया है या नहीं किन्तु जिनकी जड़े सांस्कृतिक गहराइयो में नहीं हैं उन पढ़े लिखे बुद्धिवादी नवयुवको के बौद्धिक उत्पात की अपेक्षा बेपढ़े-लिखे लोगों के ऐसे अन्धविश्वास को मैं अच्छा समझता हूँ जिसने हमारी संस्कृति को लुप्त होने से बचा लिया। बचा उन्होंने लिया, परिष्कार, पुनरुद्धार और उपयोग अब हम कर रहे हैं। अन्धविश्वास आपत्ति-कालीन परिस्थितियों की कारुणमयी प्रवृत्ति का रूप धारण कर ले गया-वह एक अनोखा सांस्कृतिक वैचित्र्य है। आधुनिक हिंदी-साहित्य मे अन्धविश्वासों का कंकाल नहीं मिलता किंतु विश्वासों का सद्-स्वरूप अवश्य मिलता है। हमारे नाटककारों ('कर्त्तव्य, आदि के रचयिता सेठ गोविन्द दास, आदि) कवियो (हरिऔध, आदि) ने हमारी कुछ सांस्कृतिक कथाओ के पीछे की घटनाओं की जो बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत की है उसक और राहुल जी की नानी की उपर्युक्त व्याख्या के पीछे ज्ञात या अज्ञात रूप से एक प्रवृत्ति-साम्य है। वह, जो ऐतिहासिक नहीं है, नई व्याख्याओं के लिये ही या उसी के कारण या उसी के आधार पर हमारे साहित्य का विषय बन जाता है और तब हमें डा० रामकुमार वर्मा लिखित "पृथ्वीराज की आखे', शिवाजी आदि सशक्त कृतियां मिलती हैं। बुद्धहीनों का अन्धविश्वास भी परिवर्तित होकर हमारे समझदार साहित्यिकों का सद्विश्वास बन गया है। विश्वास की इसी प्रवृत्ति ने मैथिलीशरण गुप्त के राम और बुद्ध की ऐतिहासिकता एव मानवीयता से उनके ईश्वरत्व को बाधित न होने दिया। हमने अन्धविश्वासो की आत्मा ले ली है, कंकाल छोड दिया है। इसके लिये हम आर्यसमाज और कांग्रेस के आन्दोलनो, दयानन्द और गाधी की चेतनाओ तथा अपने प्राचीन गौरवमय स्वरूप को प्राप्त करने के लिये चलाये गये सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के ऋणि हैं। यह उसी के परिणामस्वरूप हुआ है।

धार्मिक सहिष्णुता—

सांस्कृतिक परम्पराओं ने धर्म, जाति एव सम्प्रदाय के वैमनस्य को, वैभिन्य को, भी स्वस्थ सामाजिक सबधों के विकसित होने मे बहुत अधिक बाधक नहीं सिद्ध

होने दिया। ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के कुचक्र के कारण सबसे अधिक विरोध हिन्दू और मुसलमान में हो सकता था और कुछ सीमा तक हुआ भी क्योंकि स्वार्थी बुद्धिवादियों ने विरोध को स्वयं ही भड़का कर अपना उल्लू सीधा किया है किन्तु प्रभावशाली होते हुए भी इनकी संख्या कम और प्रवृत्ति एवं प्रभाव सामयिक है। वस्तुत शिक्षित अथवा सुधरे हुए विचार वाले भलेमानुस भाइयों ने विरोधी तत्वों के डंक को निकालकर फेंका है और स्वस्थ सामाजिक सबंधो का विकास कर लिया है जिसका बडा ही प्यारा रूप अविपाक्त क्षेत्रों मे दिखाई पडता है। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे की जातिगत भावनाओं का आदर करते हुए भी एक दूसरे को मिलाते-मिलाते रहे हैं। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है, "ऐसे असख्य ग्राम हैं जहा हिन्दू और मुसलमान साथ-साथ रहते हैं.........(उनमे) सच्ची मैत्री और पडोसीपन का भाव रहता है और सब लोग आपस में गाव के रिश्ते के अनुसार एक दूसरे को भाई, चाचा, बाबा आदि कहकर पुकारते है। .. ...अनेक नाम ऐसे होते हैं जो दोनो के यहा सम भाव से रखे जाते हैं.. ..... गावो, नगरो और तालाबों आदि के नामों मे भी यही बात है. ....छोटे लोग बडे लोगो के यहा विशेष अवसरो पर विशेष कार्य करते हैं और अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार लोग उन्हे विशेष पुरस्कार भी दिया करते है .... इसमे हिन्दू-मुसलमान-भेद नही किया जाता है .... .मुसलमान नाई हिन्दुओ के बाल बनाते हैं ....हिन्दू पत्नियो के सुहाग-भूषण, चूडियों का व्यवसाय शत-प्रतिशत रूप से मुसलमान चूडिहारो के ही हाथो मे है .. ... नेहरू और जिना की शेरवानी और चूडीदार पायजामे तथा "बुधइया" और सकुरवा" की वेशभूषा में कोई विशेष अन्तर नही होता ...... धोती, साडी, कुरता, सलवार, हिन्दू और मुसलमान महिलाएं एक समान शौक से पहनती हैं ... .. इस सुन्दर ताने-बाने के अन्दर हिन्दू और मुसलमान नर-नारियों ने जाने-अनजाने हमारे सामाजिक जीवन को जिस भव्य और स्निग्ध पट से बुना है वह सराहनीय है।"[1] यह धार्मिक विद्वेष पर सामाजिक शक्तियों की विजय है, यह सास्कृतिक अखडता की विघटन कारी तत्वो पर जीत है, घृणा और अविवेक पर प्रेम और विवेक का प्रभुत्व है। इन प्रवृत्तियो का भाषा और साहित्य पर असाधारण रूप से प्रभाव पड़ा है। इसी ने दोनो की सामान्य भाषा-हिन्दी-को जन्म दिया है जिसका एक रूप उर्दू है। सामान्य रूप से प्रयुक्त व्यापक शब्द-समूह को "फिराक" उर्दू की और हम हिन्दी की चीज मानते है जबकि उनकी उर्दू मे हिन्दी के लिये कोई–

१. "खडित भारत", पृ. ७८।

भी स्थान नहीं और हमारी हिन्दी में उर्दू का रूप भी सम्मलित है। उर्दू साहित्य में हिन्दू समाज भी चित्रित है और हिन्दी साहित्य में मुसलमान समाज भी। उर्दू की सेवा हिन्दुओं ने भी की है और हिन्दी की, मुसलमानों ने भी। साम्प्रदायिक द्वेष से भरे आधुनिक-युग के वातावरण में भी ऐसा हुआ है। हमारे वैष्णव महाकवि गुप्त ने भी "काबा-कर्बला" की रचना की है।

समाज सुधार परिवर्तन —

अस्तु इस आलोच्य काल के अपने समाज में हम जो सबसे बड़ी चीज देखते हैं वह है अपने समाज को ग्रस्त करने के लिये तत्पर विदेशी प्रभाव, और अपने समाज को नष्ट होने से—व्यक्तित्व-विहीन होने से बचाने के लिये हमारे अपने सांस्कृतिक प्रयत्न जिनका एक अंग था समाज-सुधार और अपनी प्राचीन मान्यताओं का महत्व-मूल्यांकन एवं यथासम्भव उनकी पुनर्प्रतिष्ठा। हमारे आधुनिक युग के साहित्य में ये प्रवृत्तियां स्पष्ट हैं। भारतेन्दु का युग इस समाज-सुधार के प्रयत्नों का युग अपनी दुर्गति को अनुभव करने वाला युग था। "भारत दुर्दशा," आदि ग्रन्थों की रचना इसी पृष्ठभूमि में हुई थी। आगे चल कर द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने भी घोषित किया-"हम, कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी-आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएं सभी।"[1] ये दोनों प्रवृत्तियां आज तक हमारे समाज में चली आ रही हैं अर्थात् हमारे ऊपर विदेशी प्रभाव भी पड़ रहा है और हम अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये प्रयत्नशील भी हैं। इसीलिये हमारे यहां 'अज्ञेय" भी हैं और रामकुमार वर्मा भी। महादेवी वर्मा ने लिखा है, अंग्रेजों की पराधीनता के विरोध में जागृत राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक रूढ़िग्रस्तता के विद्रोह में उत्पन्न सुधार-आंदोलनों ने हिंदी और मराठी दोनों के गद्य को प्रगतिशील विकास दिया है"[2] हुआ यह है कि ईसाइयों ने जब हमारी सामाजिक दुर्बलताओं पर आक्रमण-प्रहार प्रारम्भ किया तब उनके मुकाबले के लिये शक्ति-सञ्चय करने की दृष्टि से हमारा ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर गया जिसने हमारे मूल-उद्देश्य अर्थात् अपने समाज को गौरव के प्राचीन शिखर तक पहुँचाने के प्रयत्नों में सहायता दी। स्वामी दयानन्द के "सत्यार्थप्रकाश" का पूर्वार्द्ध हमें अपने धर्म, अपनी शिक्षा-व्यवस्था, अपने जीवन, अपनी आश्रम-व्यवस्था, और विभिन्न आश्रमों के हमारे अपने कर्तव्य, अपनी राज्य-व्यवस्था, आदि का बोध कराता है। हमारा अहित करने वाले विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की अनर्गल बातों का विरोध एवं उनका खंडन तो "सत्यार्थप्रकाश" के

---

१ "भारत भारती",।

२. 'क्षणदा", पृ ६३।

उत्तरार्द्ध में हुआ है। यह हमारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक गति का प्रतीक है। हमने विरोध के लिये विरोध नहीं किया, हमने उसका विरोध इसलिये किया कि वे हमारे सत्य-अर्थ की प्राप्ति में बाधक थे। इसीलिये हमने अपने समाज की कुरीतियों एवं दोषों से भी शत्रुता ठानी। कांग्रेस के भीतर के नेताओं में राजनीतिक संघर्ष चला तो जनता में सामाजिक संघर्ष। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय जो सामाजिक जागृति दे गये थे वह जनता के भीतर पहुँचने लगी थी। जनता इन महापुरुषों के सामाजिक विचारों को समझने में लगी हुई थी। जो वर्ग शिक्षित हो चला था वह इसे अपेक्षाकृत अधिक समझने लगा और इसीलिये यह युग मध्यवर्ग की सामाजिक शान्ति का उठना हुआ काल हो गया। १९१७ ई० के महायुद्ध तक ये सामाजिक आंदोलन प्रत्यक्ष बड़े ही जोरों पर थे इस समाज सुधार के मुख्य अंग थे दहेज, विदेश-गमन छूतछात, आदि। पाठशालाओं, धर्मशालाओं, अखाड़ों, अन्नसत्रों, देवालयों, आदि का निर्माण भी सामाजिक दृष्टि से होने लगा। न जाने कितने धार्मिक विवाद हुए, न जाने कितनी सामाजिक संस्थाएँ बनीं आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के बौद्धिक दृष्टिकोणों ने पुराने समाज को हिला दिया। आर्यसमाज की हुंकार ने सारे हिन्दू समाज को चौंका दिया। पुराने और पौराणिक लोग भी सोचने और समझने लगे कि कहीं कुछ न-कुछ खराबी जरूर है। धार्मिक कट्टरताएँ उपहासास्पद लगने लगीं। बुद्धिवादी दृष्टिकोण और धार्मिक सहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी। जो बातें पहले अनर्गल लगती थी उनकी बुद्धिवादी व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई। द्विवेदी युग के अन्त तक समाज-सुधार की यह प्रवृत्ति गहराई तक पहुँच गई थी। प्रेमचन्द में आर्यसमाजी प्रवृत्ति थी, मैथिलीशरण गुप्त और "हरिऔध" में सुधारोन्मुखी परम्पराप्रियता। क्रांति का युग अभी नहीं आया था। वह १९३५ के बाद आने वाला था। इस युग में समाज की एक एक दोषमयी प्रवृत्ति के सुधार का इस प्रकार प्रयत्न किया गया जैसे कोई बिगड़े बच्चे को सम्भालने की चेष्टा कर रहा हो, और आज यह बात अब कहने की नहीं रह गई है कि परिष्कार और सुधार की हलचलों से तरंगित होने वाले उत्थानोन्मुखी सामाजिक वातावरण की पृष्ठभूमि में ही आचार्य द्विवेदी ने अपने युग में साहित्यकों की रचनाओं की अशुद्धियां ऐसे ठीक की थीं मानो वे हाईस्कूल के कमजोर विद्यार्थी की कापी की गल्तियां ठीक कर रहे हों। इसी कार्य ने समय से पहले उनकी आंखों की ज्योति को क्षीण कर दिया था। उस समय की पत्रिकाओं के लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों को देखने से यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है। उत्थान नवीनता के प्रति उन्मुख रहने और नवीन परिस्थिति के अनुकूल अपने को बदलने-सुधारने से भी। होता है और अपनी प्राचीन महानता को याद करने से भी। इसीलिये इस युग का कवि इतिहास, पुराण, और वर्तमान समाज से ऐसे विषयों को लेकर प्रबंधों, लेखों और मुक्तकों में

रचनाए करता था जिनसे समाज पुनरुज्जीवित हो , इस कार्य के लिये साहित्यकार को स्वभावत ही उपदेशक-वृत्ति ग्रहण करनी पडी । इसी से इस युग के काव्य मे नव्य काव्य का "कान्त" भाव नही प्रकट हुआ । इसके विपरीत काव्य में रूखापन, उपदेश, सुधार, शिक्षा, आदि ही अधिक रही, काव्य-तत्व कम । इन दिनो आर्यसमाज रूपी सूर्य का मध्यान्ह काल था और वह भारत के अतीत गौरव को खोद खोद कर लोगो के सम्मुख ला रहा था । ध्यान रहे कि हिन्दू समाज मे परिवर्तन मध्य वर्ग में ही हो पाया । निम्नतम और उच्चतम वर्ग इससे बहुत कम प्रभावित हुआ । बडे लोग अँगरेजियत के गुलाम होने के नाते इसकी हँसी उडाते थे (जैसा कि आजभी उडाते हैं) और समाज सुधार जब तक जीवन का अनिवार्य अग न हो जाय और विश्लेषण का रूप छोड न दे तब तक छोटे लोगो की समझ के बाहर की बात रहता है । निम्नवर्ग और उच्च निम्नवर्ग अपनी क्रियाशीलताएँ और रुचिया परम्पराओ से ही मर्यादित रखना है ताकि उसकी अपनी संस्कृति से उनका संबंध विच्छेद न हो जाय, उसके "राम" और "कृष्ण" खो न जाय । अस्तु, हमारा आधुनिक साहित्य भी साहित्य की प्राचीन और नवीन परम्पराओ का अद्भुत सम्मिश्रण हो गया है । उच्च निम्नवर्ग तो कवित्त सवैयों और रीतिकालीन प्रवृत्तियो एव काव्य के आलबनो को ही क्रमश "कवित्त" और उसका विषय मानता है । "रत्नाकर , ' रसाल", रामप्रसाद त्रिपाठी, 'द्विजश्याम ', आदि की तो बात ही छोडिए, 'प्रसाद और गुप्त भी उसको बिल्कुल छोड नही पाये । राहुल, पन्त, 'निराला', भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन' दिनकर', यशपाल 'अचल', आदि ने परिवर्तन पूर्णत, स्वीकार कर लिया ।

क्रांति—

इसके पश्चात युग बदल गया । गाधी ने सुधारो को जीवन मे क्रियात्मक एव व्यापक रूप से ढाल दिया और मार्क्स ने नवीन क्राति का बिगुल बजा दिया । समाज सुधारो पर अब अधिक जोर नही दिया जा सकता था क्योंकि एक ओर तो कांग्रेस एव गाँधी के कार्यक्रमो मे समाविष्ट हो गए थे और दूसरी ओर गाधी के सत्याग्रह आदोलनो की आधिया ने उन्हे बवडर के पीछे छिपा भी दिया था । इस युग मे समाज के मन पर जो नये प्रभाव पडने प्रारम्भ हो गये थे द्विवेदीयुगीन भाषा शैली उनकी अभिव्यक्ति करने मे अक्षम रही । एक-एक व्यापक सामाजिक क्राति का-सुधारो का नही-युग आ गया था । सामान्य स्थिति, परिस्थिति, और वातावरण वे लोग भी सामाजिक क्राति करने का साहस दिखाने लगे । जो बातें पहले अकल्पित थी तथा समाज म जमीन-आसमान एक कर देने वाली प्रतिक्रिया उत्पन्न करने की क्षमता रखती थीं इस युग में उन्हे मामूली आदमी भी बे-हिचक और बे-डर होकर

सकता था। लोगो मे यह प्रेरणा और साहस आश्चर्यजनक रूप से भर गया था। 'बच्चन' कहते हैं, 'एक साधारण पर कट्टर सनातन धर्मी घर मे पल कर यह बगावत मुझ मे कहा से आई, यह आज भी मेरे रिश्तेदारो मे अचरज की बात समझी जाती है। शुरू जवानी मे आर्यसमाजी बन कर मैंने कुल मे पूजे जाने वाले देवी-देवता, माता-भवानी से छुट्टी ली। एक जाति से निकले हुए सज्जन के घर कच्चा खाना खा कर स्वय पगत मे बैठ कर खाने का अधिकार खोया और अन्त मे जात-पात-धर्म से बाहर विवाह करके शायद सदा के लिये मैंने अपने परम्परागत समाज से अपना सम्बन्ध तोड लिया।'[1] मुझे इसमे कोई अचरज की बात नही दिखाई देती। मुझे तो ऐसा लगता है कि यही भगवान का आदेश था। स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द, गाधी तिलक, नेहरू के रूप मे जो सनातन शक्ति, जो ऐश्वर्यवान् (भग-वान) भारत मे अवतीर्ण हुआ यह उसी का सकेत था। समस्त जाति की जाति ही इस युग मे ऐसी रही। दयानन्द और आर्यसमाज ने पहले सुधारवादी मनोवृत्ति पैदा की और बौद्धिक चिन्तन ने लोगो के अन्दर क्राति का मन्त्र फूंक दिया। सस्कृति की भागीरथी के वेग को रोक ही कौन सकता है? क्राति के इसी आलोक ने जीवन के प्रत्येक पल को, विषय को, एक नये रूप मे उपस्थित किया। जो पहले सामान्य था वह अब साहित्य का विषय बन गया। और, क्या विचित्र साम्य है कि जैसा आश्चर्य पुराने लोगो को नये सामाजिक क्रान्तिकारियो की प्रवृत्ति पर होता था उसम किसी भी भाति कम आश्चर्य पुराने कवियो को पत-'प्रसाद'-निराला'-महादेवी-वर्मा-रामकुमार वर्मा जैसे कवियो पर नही होता था। दोनो को असाधारण विरोध-बहिष्कार का सामना करना पडा और दोनो ही अन्त मे शीर्षस्थ हुए। एक को प्रेरणा पुनरुत्थान की भावना ने दी दूसरे को क्रांतिमय जीवन के स्वरूप ने, और दोनों को प्रेरणा दी व्यापक सास्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति ने। द्विवेदीयुगीन कविता दैनिक जीवन म अपने आने वाले विषयो को लेकर लिखी गई थी जिनमे अति परिचय के कारण आकर्षण का अभाव होता है। अब कविता एक ओर तो अतिशय भावुकता, कल्पना की रगीनियो, आदि की ओर, बढगई और दूसरी ओर पूजीवादी समाज मे गरीब और एकाकी के अ सर के हाहाकारो की ओर छायावादी रचनाएं हुई। गरीब किसान और मजदूर की स्थिति का भी साहित्य पर प्रभाव पडा और प्रोग्रेसिवादी या हालावादी कविताएं भी लिखी गई। युग क्राति का आगया और 'नवीन' गान लगा-कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए', पन्त कोकिल से पावक कण बरसने का प्रार्थना करने लगे। निम्नवर्ग एव शोषित वर्ग के व्यक्तियो

१—'नये पुराने झरोखे', पृ० १६६।

के प्रति सहानुभूति पैदा हुई और निराला का 'कुकुरमुत्ता'' की रचना हुई जो प्रतीक काव्य था और 'बच्चन' के शब्दों में .. ..प्रगतिवाद की सबसे बडी उपलब्धि और अबतक हिंदी का सबसे प्रखर व्यंग्य काव्य है'' [१]।

मार्क्स—

विदेशी प्रभावों में सबसे बडा प्रभाव मार्क्स की वर्ग-चेतना का पडा। मजदूरवर्ग सक्रिय हो उठा। उसके प्रति हम उसी प्रकार सहानुभूतिशील हो उठे जैसे कभी भगवान के प्रति निष्ठावान थे। इस वर्ग ने मानव की कलासम्बन्धी पुरानी दृष्टि बदल दी। साहित्य में व्यापक मानव की प्रतिष्ठा हो गई। सूक्ष्मता की प्रकृति घट गई। साहित्यकार विराट जन-जीवन का आराधक हो गया। दृष्टि अधिक उदार एवं संवेदनशील हुई। काम-लता पर मर मिटने का युग गया। मजदूर के बहते हुए पसीने की बूँदों में भी सौंदर्य दिखाई प । विरह के तापाधिक्य का चित्रण कम हुआ, दूध के लिये तरसने वाले बच्चे और मा-बहनों की उघरती हुई लज्जा, आदि साहित्य का विषय बनी। कवि यथार्थवादी भी हो गया। साहित्य में प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का युग आया। कथा-साहित्य की प्रधानता हुई। मन के शरीरोमाम की जगह स्वस्थ प्रेम की कामना बढी। सीता भी शरीर-श्रम और गृह-काय-रत दिखाई जाने लगी। साहित्य से ''बडो'' का एकाधिपत्य समाप्त हो गया। काव्य को नये प्रतीक एवं नये उपमान मिले। साहित्य की पुरानी कसौटी खत्म हो गई। कवि-सम्मेलनों का भी शुद्ध साहित्यक रूप समाप्त हो गया। प्राय जनता ताली पीट कर अपना हर्ष प्रकट करती है। कवि-सम्मेलनों में अब गभीर साहित्यिक रचनाओं को सुनाने की कोई भी सभावनाएं नहीं रह गई। हल्की-फुल्की और मनोरंजन कर सकने वाली रचनाओं की प्रतीक्षा की जाती है,उन्हें बार-बारसुना जाता है, और हास्य रस के बिना तो कवि-सम्मेलन की कल्पना की ही नहीं जा सकती। रामकुमार वर्मा ने लिखा है, ''कवि-सम्मेलन आज मनोरंजन और विनोद के ऐसे साधन हो गए हैं कि साधारण जनता के मन में भी उनके लिये श्रद्धा का भाव नहीं रह गया है.. .. इन कवि-सम्मेलनों में ऐसे ही व्यक्तियों का जमाव होता है जो कविता के नाम से परिहास, विनोद और अश्लीलता की सीमा तक पहुँची बातें कह सकते हैं।''[२]

ग्रामोत्थान—

आज हमारा देश मुख्यत दो वर्गों में बँटा है—देहाती और नगर-निवासी

१—''नये पुराने झरोखे'' पृ० ५२

२— विचार-दर्शन'', पृ० १६८।

नौकरशाही शिक्षा एवं पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने इन दोनों वर्गों में पर्याप्त भेद पैदा कर दिया है। दोनों की विचारधारा, रहन-सहन, वेश-भूषा, बोलचाल, रंग-ढंग, रीति-रिवाज, खान-पान, आदि में आश्चर्यजनक विभिन्नता है। एक पर विदेशी रंग जरा ज्यादा गहरा हो गया है और दूसरे पर स्वदेशी एवं सांस्कृतिक रंग कुछ अधिक पक्का प्रेमचन्द के "गोदान" में इन दोनों वर्गों के इस अंतर को खूब स्पष्ट कर दिया गया है—इतना कि यह चित्रण प्रतीक बन गया है। एक ओर भौतिक सम्पन्नता है और नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था, और, दूसरी ओर आर्थिक विपन्नता है किन्तु मानव और नैतिकता के प्रति अधिकाधिक चिपके रहने की प्रवृत्ति अपने सांस्कृतिक उत्थान के कार्यक्रमों में हमारा एक प्रमुख कार्य रहा है। इन गांवों का उत्थान और इस दृष्टि से किया गया इनका अध्ययन। साहित्य में भी यह प्रवृत्ति परिलक्षित है। अपनी प्राचीन संस्कृति के उत्थान एवं गांवों के प्रति सहानुभूति की भावनाओं के कारण हमने लोकगीत और लोककथाओं का संग्रह और अध्ययन भी प्रारम्भ कर दिया है। प्रगतिशील आंदोलन ने भी इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया है। यह अध्ययन हमें अपने देश की व्यापक संस्कृति को समझने में सहायक होता है। इसने आधुनिक हिन्दी को कई विचार, कई भाव और कई लय दिये हैं। इस क्षेत्र में बड़ा स्तुत्य कार्य रामनरेश त्रिपाठी ने किया है। बाद में देवेन्द्र सत्यार्थी ने तो अपना सारा जीवन ही इसी कार्य में लगा दिया। अब तो इस पर खोजें भी प्रारम्भ हो गई हैं। विभिन्न अवसरों पर्वों, त्यौहारों, ऋतुओं तथा रीति-रिवाजों के संबंध में हजारों-लाखों पद एवं कहानियां हमारे देश के देहातों में भरी पड़ी हैं।

इस प्रकार हमारे समाज की सांस्कृतिक वृत्तियों ने साहित्य को असाधारणरूप से प्रभावित किया है। भेद ज्यों-ज्यों मिटता जायगा, दृष्टिकोण ज्यों-ज्यों प्रशस्त होता जायगा, स्वरूप ज्यों-ज्यों मंजुलतर होता जायगा, साहित्य त्यों-त्यों महत्तर होता जायगा।

लौकिक दृष्टिकोण और भारतीय परम्परा—

उपर्युक्त विवेचन पर यदि हम व्यापक रूप से विचार करें तो हमको प्रतीत होगा कि इस युग में हमारे समाज का सागर-मंथन प्रारंभ हो गया था। हमारे समाज की कुछ अपनी वृत्तियां थीं जिनका सम्पर्क कुछ विदेशी-समाज की वृत्तियों से हुआ जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन परिस्थिति पैदा हो गई जिसके दोषों का निराकरण हमारे लिये इस कारण अनिवार्य था कि हमारे अन्दर सांस्कृतिक पुनरुत्थान और उसके द्वारा अपने और अपने समाज की उन्नति की बलवती इच्छा पैदा हो गई थी।

स्वार्थपरक दृष्टिकोण से प्रेरित आर्थिक क्रांति एवं शिक्षा-व्यवस्था ने न केवल हमें इसी योग्य नहीं रखा कि हम अपने को ठीक से समझ हो न सकें बल्कि हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को गलत ढंग से उपस्थित भी किया। पंढरी नाथ प्रभु ने लिखा है, "सामान्यतः यह धारणा बना ली गई है, और प्रायः जोर देकर यह बात कही जाती है, कि प्राचीन काल के हिंदुओं ने सांसारिक वृत्तियों की शाश्वत प्रकृति संबंधी अमूर्त्त आध्यात्मिक समस्याओं के चिन्तन-मनन में अपने को इतना खो दिया था कि सामाजिक संगठन जैसी अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक और सामाजिक समस्याओं के संबंध में उन्होंने कोई भी गंभीर चिन्तन करने का कष्ट नहीं उठाया। फिर भी आधुनिक युगों में विगत युगों की हिन्दू विद्याओं के संबंध में होने वाली विद्वत्तापूर्ण योरोपीय, अमरीकी और भारतीय खोजों और अध्ययनों के प्रकाश में अब यह प्रायः स्वीकार किया जाने लगा है कि हिन्दुओं ने विशुद्ध आध्यात्मिक-चिन्तन के साथ-साथ गणित, ज्योतिष, खगोल, इंजीनियरिंग, रसायन, औषधि, व्याकरण, राजनीति, तर्क, काव्यशास्त्र और छन्द विज्ञान, आदि के क्षेत्रों में भी पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक चिंतन किया है।"[१] महर्षि वात्स्यायन ने कामशास्त्र संबंधी जो व्यापक एवं पूर्ण चिंतन-विवेचन प्रस्तुत किया है वह प्रचलित धारणा की भ्रामकता पूर्णतः स्पष्ट कर देती है। हमारे समाज का स्वरूप सामाजिकता-प्रधान था। हमारा समाज ग्रुपभावना पर आधारित था। यहां व्यक्ति के कर्मों पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक बन्धन थे। उसकी स्वतन्त्रता मर्यादित थी और उसकी स्वच्छन्दता बाधित। यहां सोचने की पूर्ण स्वतंत्रता थी किंतु करने पर अनिवार्य सामाजिक बंधन क्योंकि हमारे समाज के निर्माता यह जानते थे कि कर्मों के घोड़े को यदि उसकी मनमौजी स्वच्छन्दता दे दी जायगी तो वह जीवन और समाज के रथ को विघटन के गर्त्त में ले जा पटकेगा। फिर भी यहां के नियमों में लचीलापन था। हिंदुओं ने वर्तमान जीवन को एक सुव्यवस्थित शृंखला की एक कड़ी, माला, का एक मनका, मानकर इसे एक उदात्त स्वरूप प्रदान किया है और एक उच्चतर उद्देश्य से अनुप्राणित करके अर्थगर्भित कर दिया है। इसीलिये सांस्कृतिक दृष्टि से हमारा जीवन भोग मात्र नहीं रह गया। यह बात दूसरी संस्कृति वालों को समझ आसानी से नहीं आ पाती और इसीलिये उनके जीवन की प्रकृति हमारे जीवन की प्रकृति से भिन्न है। अमेरिका और भारत ही नहीं, हिन्दू और मुसलमान के जीवन में भी यह अन्तर थोड़ा-बहुत दिखाई पड़ जाता है। जीवन को एक अलौकिक महत्व देने के लिये ही हिन्दुओं ने आत्मा को अमरत्व का और शरीर

१—हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ० १५।

को परिवर्तनशील साधन का स्वरूप दे दिया है। इसीलिये यह अनत कर्म-चक्र निरुद्देश्य मात्र नहीं रहने पाया। कर्मक्षेत्र के द्वारा पडने वाले स्थायी प्रभावो और सस्कारो का भी इसीलिये असाधारण महत्व होगया है। कर्म को धर्म-प्रेरित और सस्कृति से मर्यादित करके उसकी उच्छृखलता का डक काट कर उसे शाश्वत मुक्ति का साधन बना दिया गया है। हमारी सामाजिकता का कार्यक्रम इसी महदुद्देश्य से प्रेरित होता है। यह बात प्राचीन काल मे थी और यही बात आज भी भारत के व्यापक जनसमूह मे अज्ञात भाव से विद्यमान है। आधुनिक युग की क्रांतियो के भयानक उत्थान-पतन आज के पढ़े-लिखे, बुद्धिवादी, शकालु और द्विविधाग्रस्त वर्ग के भी सामाजिक जीवन् से इसे पूर्णत बहिष्कृत नही कर पाये। ऐसा लगता है कि जैसे इसी का नाम भारतीयता है और वह इस देश की मिट्टी और जलवायु के अणु-अणु मे व्याप्त है। यही कारण है कि आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक क्रान्तियो ने भी भारत के समाज के ऊपरी धरातल को ही गोडा-जोता है-मिट्टी की प्रकृति वे पूर्णत नही बदल सकी। अधिकाशत सामाजिक धारणाएं और उनका उद्देश्य वैसे का वैसा ही है। इस तत्व को ध्यान मे रख कर जब हम आधुनिक हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें यह दिखाई पडता है कि नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, आदि सभी प्यालो के अन्दर जो दूध भरा हुआ है उसके कण-कण मे व्यापक रूप से इसी नवनीत के कण निहित हैं। प्यालो की शक्ल-स्वरूप-बदल जाने से कोई फरक नही पड़ा है, रग-विशेष मिला देने से तात्विक रूप से कोई अन्तर नही उपस्थित होने पाया है, दो-चार कवड, सास्कृतिक अमृत को विष मे नही परिवर्तित कर सकते। इस दृष्टि को पूरी तरह समझ लेने पर ही हम समाज-सुधारों की प्रकृति और उसके परिणाम का वास्तविक मूल्याकन कर सकते हैं।

सांस्कृतिक विघटन—

हुआ यह कि पाश्चात्य राजनीति, अर्थनीति और शिक्षानीति ने हमारे सास्कृतिक सन्तुलन को बिगाड दिया। विश्व की मानवीय प्रगति ने जीवन को मध्य युग से आधुनिक युग मे ला दिया था। भारत मे यह परिवर्तन यदि स्वाभाविक ढग से होता तो अपनी सास्कृतिक विशिष्टताओ को अक्षत एव अक्षुण्ण रखते हुए भी हम मध्ययुगीन से नवीन हो जाते। हमारा विकास होता। अनुपयोगी एव पिछडी प्रवृत्तिया वैसे ही स्वाभाविक ढग से झड जाती जैसे बसन्त की भूमिका मे शुष्क पत्तिया, और हमारा कुछ बिगडता न। परन्तु ऐसा हुआ नही। आधुनिकता हम पर लादी गई, वह हमारा स्वाभाविकता विकास नही बन सकी। आधुनिकता का वही स्वरूप हम तक आने दिया गया जो

हमारे अँगरेज प्रभुओं की दृष्टि में उनके लिये लाभदायक था। हम आधे तीतर-आधे बटेर हो गये। हमारे पंडित जी जब एक ओर अँगरेजी भाषा में साम्यवाद का बौद्धिक समर्थन करते हुए उसे भारत का उद्धारक बताते हैं और दूसरी ओर आचार्य-पद पाने के लिये हनुमान जी को वीस आने का लड्डू चढ़ाते हैं तब मुझे यही याद हो आता है। आधुनिक युग में हमारे समाज के दोषयुक्त हो जाने का मूल कारण यह था। इसका परिणाम यह हुआ कि न हम अपने रह गये और न विराने हो पाये। कुछ लोगों ने अँगरेज बनने और हमें अँगरेज बनाने की बड़ी कोशिशें कीं किन्तु यह संभव नहीं था। अब भी कुछ लोग ऐसा कर रहे हैं। संभवतः वे यह नहीं समझना चाहते कि पाश्चात्य संस्कृति और विचारधारा के संबंध में उनकी जानकारी केवल बौद्धिक स्तर पर ही है। पाश्चात्य समाज के जिन विशिष्ट वर्ग वालों की संस्कृति के सम्पर्क में वे आ सके हैं उन्हीं के आधार पर उनकी धारणा बनी है। उनकी धारणा न तो सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सूक्ष्म और गहन अध्ययन से परिपुष्ट हो पाई है और न उसका कोई गंभीर मनोवैज्ञानिक आधार है। उनकी धारणा हल्की, छिछली, और सतही दृष्टि का परिणाम है। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि हमारा सामाजिक जीवन कुछ अस्वस्थ हो गया। उसमें विषमताएँ, ग्रंथियाँ और उलझनें पैदा हो गईं। हमारा सनातनी समाज नये युग, उसके नये दृष्टिकोण, नई आवश्यकताओं नई समस्याओं तथा कुछ प्राचीन बातों की असामयिकता के पक्ष को नहीं समझ पाया। ये लोग मानते कुछ हैं और करते कुछ हैं। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' और उनके जैसे अनेक लोगों के जीवन की इस विषमता की यही व्याख्या हो सकती है। उसी विशेष सामयिक परिस्थिति के कारण एक वर्ग असमर्थताओं और बन्धनों में जकड़ गया और दूसरी ओर भोग-विलास, अनाचार अत्याचार और भ्रष्टाचार बढ़ गया। रजनी पामदत्त ने लिखा है, 'भारत में एक ओर शोषक हैं, दूसरी ओर शोषित। एक ओर सम्पन्नता है, दूसरी ओर भयानक विपन्नता इन्हीं के अस्तित्व से हमारी समस्या का स्वरूप बनता है। दोनों कार्य-कारण की तरह एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।'' [१] इस प्रकार हमारी (यह) मूल समस्या भी सामाजिक है। 'दिनकर' ने अपनी एक कविता में लिखा है कि आज महल के लिये झोपड़ी का बलिदान होता है तथा विद्युत-प्रकाश दीपक की लौ को आठ-आठ आँसू रुला रहा है। राजेन्द्रप्रसाद ने लिखा है ''जो प्रतिदिन लाखों का कागजी नोट बनाता है वह शायद एक रुपया रोजाना पाता होगा कैसी विचित्र लीला है? कैसा आज का संसार है।'' [२]

१—''इंडिया टुडे'', पृ० ७।
२—'आत्म-कथा', पृ० ५८३।

सुधार के प्रयत्न—

इन अशोभनीय परिस्थितियों के निराकरण के लिये भारत में सामाजिक सुधारों की आवश्यकता पड़ी जिसे व्यापक सांस्कृतिक पुनरुत्थान रूपी भागीरथी की एक सहायक नदी माना जा सकता है। समस्त सामाजिक सुधार आन्दोलनों की प्रकृति का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् भी मैं यह बात नहीं समझ पाया कि अँगरेजों की दी हुई आधुनिक चेतना और बौद्धिक दृष्टिकोण ने हिन्दी प्रदेश के अन्दर किस प्रकार हमारे अपने सुधार की इच्छा जगा दी। हिन्दी प्रदेश का सर्व प्रथम सुधार आन्दोलन आर्य समाज ने चलाया और यह सभी जानते हैं कि उसका लक्ष्य था वैदिक जीवन की पुनरवतारणा। भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों के आदर्शों के अनुसार ही आर्यसमाज ने अपना सामाजिक आदर्श बनाया था जो हमारे आलोच्यकाल में व्यापक रूप से क्रियान्वित होने लगा। परमपिता परमेश्वर के संबंध के नाते समस्त मानव-जगत को अपना भाई मानना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समस्त मानव समाज से मैत्री, नारी और पुरुष के अधिकारों की समानता, न्यायोचित और ईमानदारी का व्यवहार, आगे बढ़ने के लिये सबको समान अवसर की प्राप्ति कराना, प्रेम उदारता जाति पाँति, छूआ छूत, रूढ़ि अन्धविश्वास, अनमेल विवाह, आदि आर्यसमाज के सामाजिक कार्यक्रम थे। रेवरेण्ड सी एफ ऐन्ड्रूज ने लिखा है कि समस्त सुधारवादी स्वदेशी आंदोलनों में आज आर्यसमाज सब से अधिक सशक्त है।[1] उसका ही कार्यक्रम है और उसके ही प्रयत्न हैं कि आज समस्त हिन्दी प्रदेश परिवर्तित-सा हो गया है। द्विवेदी युग के हिन्दी साहित्य पर आर्यसमाज की इस प्रवृत्ति का विशेष प्रभाव पड़ा है। नाथूराम शर्मा 'शङ्कर' आदि अनेक कवि तथा 'आर्यमित्र', आदि अनेक साप्ताहिकों आदि ने हिन्दी का भंडार पर्याप्त रूप से भरा है। तिलक इन सामाजिक सुधारों के विरुद्ध थे। भारतीय संस्कृति और प्रत्येक भारतीय परम्परा में उनका विश्वास तर्क और युक्ति की सीमा को पार कर गया था। गाँधी जी ने इन सुधारों को राजनीति से जोड़ दिया। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है, 'गाँधी जी ने इसमें धर्म के माध्यम को ऐसे कौशल से संयुक्त किया कि धर्म, समाज और राजनीति का एकीकरण हो गया। यह विश्व के मानव-जीवन के लिये इस युग में बड़ी ही नूतनतम वस्तु थी। उसका सबसे भारी प्रभाव किसानों, अछूतों, मजदूरों और स्त्रियों पर पड़ा। इन चारों ने ही भारतीय जीवन में समान अधिकार प्राप्त किया।[2] इन सामाजिक सुधारों के परिणामस्वरूप सामाजिक क्षेत्र से बड़ों और द्विजों के विशेषाधिकार समाप्त हो गये, समाज में व्यक्तिगत स्वाधीनता की प्रवृत्ति बढ़ी,

---

१. 'दि इंडियन रेनेसां'' पृ. १०२।

२. ''हिन्दी साहित्य का परिचय'', पृ १०५-१३६।

और मानवीय समानता का सिद्धान्त पूर्णरूप से स्वीकृत हो गया। जी एम गुरिए का कथन है कि धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से जीवन के अनेक पक्षों म एक क बाद एक दबके मानवतावाद का महत्व स्वीकार किया गया है।[१] इसके प्रभाव को चित्रित करते हुए नद दुलारे वाजपेयी ने लिखा है, " 'साकेत' मे प्रथम बार मानव का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर–ईश्वर के समक्ष ला कर रखा गया है जो मध्ययग म किसी प्रकार सभव न था। 'साकेत" इसी कारण हिन्दी की प्रथम मानवआदर्शवादी रचना कही जा सकती है। ..... राम और सीता के स्थान पर भरत और उर्मिला के जीवन - सूत्रों से कथा – तन्तु का निर्माण साहित्यिक इतिहास म एक प्रवर्तन है और विचारो की दुनिया मे एक अभिनव क्रान्ति।'[२] कहना न होगा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की इस "क्रान्ति" और इस 'प्रवर्तन" का एक प्रधान कारण आधुनिक भारतीय समाज की सास्कृतिकता - प्रधान सुधारोन्मुखी प्रवृत्तिया हैं।

---

१. "कल्चर ऐंड सोसायटी", पृ ४६।
२ "आधुनिक साहित्य", पृ ४३,४४।

अध्याय—७

कलात्मक पृष्ठभूमि

अभिव्यक्ति की इच्छा—अन्त प्रकृति और बाह्य जगत मे मौलिक साम्य—सौंदर्य—कला और साहित्य—काव्य—कला—भाषा, रस, गुण, रीति, वृत्ति, अलकार, छन्द—साहित्य पर प्रभाव—सगीत कला—सक्षिप्त इतिहास—भारतीय सगीत की विशेषताएं और विभिन्न तत्व, साहित्य और सगीत—नाट्य गीत तथा सगीत, छन्द—चयन और सगीत, सगीत की आत्मा या आन्तरिक सगीत—साहित्य पर प्रभाव—चित्रकला—सक्षिप्त इतिहास— आदि युग, बौद्ध युग, मध्य युग (मुगल कला और राजपूत कला)—आधुनिक युग, आधुनिक चित्रकला—साहित्य और चित्रकला—आधुनिक साहित्य और चित्र—साहित्य मे चित्रात्मकता (प्रकृति—चित्रण, रूप-चित्रण, भाव—चित्रण,—दृश्य—चित्रण, क्रिया—कलाप—चित्रण)—भवन—निर्माण और मूर्तिकला सक्षिप्त इतिहास—आधुनिक साहित्य पर इनका प्रभाव—निष्कर्ष ।

कलात्मक पृष्ठभूमि

अभिव्यक्ति की इच्छा

साहित्यकार को प्रबलतम इच्छा यह होती है कि किसी व्यक्ति, वस्तु दृश्य या भाव के परिप्रेक्ष्य में उसके अन्तर में जो अनुभूति हुई या उसके अन्तर की जो असाधारण अवस्था हुई वह उसे दूसरों को बता कर एक ओर तो अपनी अनुभूति या अवस्था को व्यक्त भी कर दे और वह अपनी अभिव्यक्ति को अपने अन्तर की अनुभूति के अधिकाधिक अनुरूप भी कर ले। अभिव्यक्ति को अनुभूति-तादात्म्य इतनी सफल और इसलिये इतनी मुखर होनी चाहिये कि जो भी उसके सम्पर्क में कलाकार-जैसी ही अनुभूति उत्पन्न हो जाय। अनुभूति की तीव्रता के क्षणों में कलाकार का जो व्यक्तित्व रहता है वह उस तीव्रता के निकल जाने के उपरान्त छायामात्र रह जाता है। ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। दूसरा रूप जब पहले वाले रूप की अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप देखता है तो उसे कभी-कभी आश्चर्य होने लगता है-"अरे वाह! क्या सचमुच इसे मैंने ही बनाया है!" कारण यह है कि दोनों का दो स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि शेक्सपियर 'मर्चेण्ट आफ वेनिस" वाली पोर्शिया पर आसक्त हो जाय, यदि कालिदास 'शकुन्तला" पर न्यौछावर हो जाय यदि "प्रसाद" देवसेना के प्रेमी बन जाय, यदि ब्रह्मा को अपनी ही पुत्री, सरस्वती, उसकी पत्नी के रूप में प्रतिष्ठित हों! तात्पर्य यह है कि कलाकार भी अपनी कृति के सम्पर्क में आता है और उसकी सम्प्रेषणीयता से अभिभूत होता है। एक प्रश्न यह उठता है कि कलाकार अभिव्यक्ति क्यों करना चाहता है और उसे दूसरों तक क्यों पहुंचाना चाहता है। बात यह है कि अभिव्यक्ति की इच्छा आत्मा की ही नहीं, परमात्मा की भी प्रकृति है, स्वभाव है यदि ऐसी बात न होती तो परम ब्रह्म या केवल ब्रह्म में सारी सृष्टि उसी प्रकार बीज रूप में पड़ी रहती जैसी सृष्टि के पूर्व पड़ी रहती है। यह समस्त बाह्य दृश्य जगत उसी अव्यक्त की अभिव्यक्ति ही तो है! जो प्रकृति है, जो स्वभाव है, उसका कोई कारण नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि इस अभिव्यक्ति को उस पुरुष की प्रकृति मात्र कहकर, मायामय की लीला मात्र कह कर यह बता दिया गया कि लीला का प्रयोजन केवल लीला ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। उस अद्भुत कलाकार के अन्दर की अभिव्यक्ति की इच्छा के सम्बन्ध में जो कुछ सही है वही मानव कलाकारों की भी अभिव्यक्ति की इच्छा के विषय में सही है। अभि-

व्यक्ति के लिये ये भी विकल हो उठते हैं। इनके बिना ये भी नहीं रह पाते। यह उनकी प्रकृति है। अब प्रश्न उठता है सम्प्रेषणीयता का। यह भी कलाकार को अभिप्रेत होती है। कलाकार अपनी अनुभूति दूसरों तक इसलिये नहीं पहुंचाना चाहता कि लोग उसको महान् समझें, बड़ा समझें या असाधारण समझे। इसका वास्तविक कारण यह प्रतीत होता है कि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुंचाने के रूप में वह स्वयं दूसरों तक पहुंच जाता है। भौतिकता से ऊपर उठकर चेतना के रूप में आत्मा के रूप में, अनुभूतियों की समष्टि के रूप में, भावों के अनन्त कोष के रूप में उनका जो अस्तित्व है (और जो वास्तविक दृष्टि से देखने पर एकमात्र सही रूप है) उसका विस्तार हो जाता है। सीमित को असीम, लघु को विशाल, एवं सान्त को अनन्त रूप प्राप्त होने पर जैसी-कुछ अनुभूति, जैसी तृप्ति प्राप्त हो सकती है सम्प्रेषणीयता से कलाकार को वही मिल जाती है। व्यापक हो जाने का सतोष मिलता है। यह आत्मस्वरूप की प्राप्ति का भी एक रूप है।

वाह्यजगत और अन्त प्रकृति—

बाह्य का दर्शन अन्तर को अभिभूत करता है। प्रश्न उठता है कि क्यों अभिभूत करता है। वास्तविकता यह है कि अन्तर्जगत और बाह्यजगत मूलत भिन्न नहीं हैं। दोनो एक ही मूल स्रोत से निकले हैं, एक ही उद्गम से निःसृत दो प्रवाह हैं, दो धाराएँ हैं। मौलिक दृष्टि से इनमे कोई तात्विक अन्तर नहीं है।
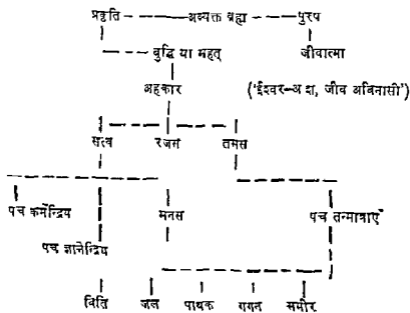
इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति से निर्मित शरीर मे न केवल जीवात्मा ही रहती है बल्कि हमारी बुद्धि, हमारा अहं, हमारी ज्ञानेन्द्रियां, हमारी कर्मेन्द्रियां और हमारा मनस् आदि भी रहता है। जीवात्मा के अतिरिक्त शेष सब प्रकृति के विषय हैं। इन्हीं से जगत बनता है जिसके एक अंग के रूप मे हमारी अपनी अंतर को सृष्टि भी है। तात्पर्य यह है कि हमारी अनुभूति के माध्यम–उपकरणों-का सम्बन्ध भी उसी से है जिससे बाह्य प्रकृति का सम्बन्ध है। साथ ही, हमारी आत्मा उसी का एक अंश है जिसका व्यक्त रूप बाह्य जगत है। बाह्य प्रकृति के विभिन्न रूप, उसकी विभिन्न छवियाँ, उसी एक परम ब्रह्म या परम सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। सब–कुछ परम कृष्ण का रास है, परम ब्रह्म की लीला है, उसकी शक्तिरूपा महामाया का नर्तन है। एक पूर्ण ही के दो अंश एक दूसरे के प्रति अपने पन का अनुभव कर सकते हैं। अस्तु, इस रास, इस लीला, इस नर्तन में मन को मोहने वाली अनेक भंगिमाएँ हैं। आनन्द रूप परम सत्य की कोई भी कला कोई भी छवि, आकर्षण से रहित नहीं है और इसीलिये अद्वितीय सौंदर्य से युक्त है। यही सौंदर्य का रहस्य है। इसीलिये सौन्दर्य के अंश रूप में जो तत्व कलाकार के अन्दर है वह सौन्दर्य के पूर्ण रूप ब्रह्म के अंश रूप प्रकृति–सौंदर्य से अभिभूत होकर तादात्म्य अनुभव कर सकता है। बाह्य का दर्शन अन्तर को इस कारण अभिभूत करता है।

सौंदर्य--

यहीं संक्षेप मे सौंदर्य पर भी विचार कर लेना चाहिये। यद्यपि सुन्दर और असुन्दर की अनुभूति सब को होती है किन्तु सौंदर्य की *सर्वमान्य परिभाषा* अभी तक कोई न दे सका। जेफ्रे, एलीसन और बेन, आदि *साहचर्यवाद* पर विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि प्रथा, उपयोगिता, हानि की सम्भावना का अभाव, तथा मनुष्य के अपने स्वभाव और संस्कार, आदि की कसौटियों पर जो निर्दोष प्रमाणित होकर खरा उतरे वही सौंदर्य है। प्लेटो, प्लाटिनस, टालस्टाय, रस्किन, बर्क, कांट, हलेगेल' आदि सौंदर्य का सम्बन्ध ईश्वर से मानते हैं। जो मंगलमय है, वही सुन्दर है। बोसांके, आदि अन्त और बाह्य के सामंजस्य में सौन्दर्य की सम्भावना स्वीकार करते हैं। क्रोचे सौन्दर्य को मानस तत्व मानता है। उसका विचार है कि हमारी कल्पना से निर्मित तथा हमारी आवश्यकतानुसार परिवर्तित, संशोधित एवं परिवर्द्धित होने पर हमारे मन मे जो रूप अंकित होता है वही सौन्दर्य का आलम्बन है। मार्क्स के अनुयायी जन सौन्दर्य को व्यक्ति के मन में मानते हुए उसे सामाजिक तत्वों के परिणामस्वरूप उद्‌भूत मानते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य हमारे आर्थिक

जीवन का ही प्रतिबिम्ब है। फ्रायड के अनुसार सौन्दर्य की उत्पत्ति का आधार यौन-व्यापार या यौन-भावना है। इस प्रकार अनेक विचारकों और चिंतकों ने सौन्दर्य की परिभाषा में बांधने का प्रयत्न किया है किन्तु गेटे ने ठीक कहा है कि सौंदर्य व्याख्या का विषय नहीं, वह एक ऐसी छाया है जो व्यक्ति की चेतना के ऊपर उमड़ती-घुमड़ती मँडराती और तिरती रहती तथा जगमग करती रहती है, उस छाया को कोई पकड़ नहीं पाया है ज्योति या सुन्दर आभा बँध कर नहीं रह सकती, सौन्दर्य की रूपरेखा परिभाषा की पकड़ के बाहर है। भारतवर्ष में सौन्दर्य सम्बन्धी विचार वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। वे सौंदर्य को विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित करते थे। उपनिषद् रूप, रस, प्रकाश और आनन्द के मिल कर एकाकार होने पर सौन्दर्य देखते हैं। मधुसूदन सरस्वती के अनुसार परमात्मा ही सौन्दर्य का सार-सर्वस्व है। भारवि रम्यता को निरपेक्ष मानते है। माघ सौन्दर्य को नितनवीन मानते हैं रूप गोस्वामी आचित्र, सुश्लिष्टता, आदि को सौंदर्य मानते हैं। क्षेमेन्द्र के अनुसार चमत्कार का सम्बन्ध लावण्य से और लावण्य का सम्बंध सुन्दर से है। पंडितराज जगन्नाथ सौन्दर्य का सम्बन्ध भावों से मानते हैं। आलंकारिक लोग 'चारुता' में सौन्दर्य देखते हैं।' वैचित्र्य' भी सौन्दर्य के क्षेत्र में स्वीकार किया गया है। कुन्तक सौन्दर्य को विच्छित्ति मानते हैं "कमनीयता" "लालित्य", और "अलंकार" भी सौन्दर्य का वाचक है। कालिदास नित्य उपकरणों से निर्मित सौन्दर्य को पवित्र, नित्य और अपरिवर्तनीय मानते हैं। वे सौन्दर्य की सिद्धि के लिये वस्तु तथा व्यक्ति के सामंजस्य को आवश्यक मानते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अन्त सत्ता की तदाकार परिणति को ही सौन्दर्य की अनुभूति मानते हैं। तुलसीदास जी सौन्दर्य के सम्बन्ध में कहते हैं —

जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विरच कहूँ प्रकट देखाई। अर्थात् सौन्दर्य 'निपुणता" में है। सुन्दरता की उत्पत्ति वे इस प्रकार मानते हैं —

जो छवि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
यहि विधि उपजै लच्छि, जब सुन्दरता सुख मूल।

बिहारी नित नवीनता में सौन्दर्य मानते हैं और मतिराम कहते है —

ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई। रीतिकाल की सौन्दर्य-सम्बन्धी-धारणा निम्नलिखित पंक्तियों से पूर्णरूपेण स्पष्ट है —

समै समै सुन्दर सबै, रूप-कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै तिततेती रुचि होय॥

या

रूप रिझावनहार वे, ये नयना रिझवार

प्रसाद 'समरसता में सौन्दर्य देखते हैं और पन्त ने उसी सत्य एवं शिव' को ही लोचनों के अनुपम लावण्य के रूप में स्वीकार किया है। जो लोग वस्तु में सौंदर्य मानते हैं वे 'सम्मानता (सिमट्री), सुव्यवस्था (आडर) विविधता (वराइटी), एकरूपता (यूनीफार्मिटी) औचित्य (प्रोपाइटी) जटिलता (इट्रीकसी) संगति (हारमनी) प्रमाणबद्धता या आनुगुण्य (प्रापोरशन) संयम (माडरेशन), व्यंजना सेजेशन) स्पष्टता (सिम्प्लिसिटी) मसृणता (स्मूथनेस) तथा वर्णप्रीति (कलरिंग), आदि को प्रमुख स्थान देते हैं। [1] सौन्दर्य को सदैव रमणीयता से भी माना गया है और इस दृष्टि से देखने पर यत्र यत्र यन्नवतामुपैति वही सुन्दर है।

वास्तविकता तो यह है कि सौन्दर्य न केवल द्रष्टा में है और न केवल दृश्य में। वह वस्तु में भी है और वस्तु को देखने वाले व्यक्ति में भी। दर्शक के मन में सौन्दर्य भाव या संस्कार के रूप में है और वस्तु के अन्दर उसकी निर्मिति-कुशलता या प्रत्यक्ष निर्माण किये गये स्वरूप के रूप में है। सौन्दर्य सम्बन्धी संस्कारों का उदय किसी भी व्यक्ति के अन्दर धीरे धीरे होता है। अपने समाज विशेष की धारणाओं और परम्पराओं से परिचित होने पर और चेतन के प्रखर एवं प्रबुद्ध होने के साथ-साथ अनुभवों के प्राप्त होने पर सौन्दर्य सम्बन्धी एक धारणा बनती है। ऐसी प्रबुद्ध चेतना और संस्कारों वाले हम जब सौन्दर्य के भिन्न भिन्न उपादान रूप रस गंध स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष करते हैं तो हमारा हृदय चंचल हो उठता है और रचनाशील चित्त भी क्रियाशील हो जाता है। वह उपचेतन के विभिन्न सक्रिय अनुभवों को एकत्र करता है। इन विभिन्न रूपात्मक अनुभवों को जब उद्दीपन हमारे उपचेतन से व्यक्त करने लगते हैं तो यह शनैः शनैः और अधिक तीव्र होकर हममें एक प्रकार की पीड़ा या अनुभूति जगाते हैं। [2] यह अनुभव प्रत्येक को होता है क्योंकि प्रत्येक के उपचेतन में सौन्दर्य की यह अस्फुट मूर्ति अन्तःस्थ रहती है। यही उसका सौन्दर्य-सम्बन्धी आदर्श है।

यह अचेतन सौन्दर्य-धारणा बड़ी ही महत्वपूर्ण होती है। दर्शक जब किसी कलाकृति को देखता है तब यही धारणा काम करती है। जब सामने की कलाकृति

१– सौन्दर्य तत्व पृ० ६ मूल लेखक सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त अनुवादित– आनन्द प्रकाश दीक्षित।

२–वही पृ० ७६।

उनके अन्तर की उपर्युक्त धारणा के अनुरूप होती है तब वह कहता है कि यह सुन्दर है। कलाकार जब किसी कृति का निर्माण करता है तब भी यही धारणा या उसके अन्तर का यही चित्र महत्वपूर्ण कार्य करता है। कलाकार के अन्तर के चित्र से उसकी निर्मित होने वाली कृति की अनुरूपता ज्यों-ज्यों मुखरित होती है, उभरती है, त्यों-त्यों वह उसे सुन्दर समझता चलता है। एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में-एक ही समाज में-रहने वाले कलाकार और दर्शक-दोनों के अन्तश्चित्रों में समानता का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं और इसीलिये कलाकार द्वारा निर्मित सुन्दर कृति दर्शकों को भी सुन्दर लगती है। मनुष्य मात्र की चेतना में मौलिक दृष्टि से एकता पाई जाती है और इसलिये उनकी रुचियों एवं सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाओं में कुछ न कुछ साम्य पाया जा सकता है। यही कारण है कि अमेरिका, रूस, और इंगलैंड की कलाकृतियां भारत में और भारत की उन देशों में पसंद की जाती हैं-सुन्दर मानी जाती हैं। अस्तु, अन्तर के चित्र से बाह्य की पूर्ण अनुरूपता ही सौन्दर्य है। यही आत्मरूप की प्राप्ति है। निष्कर्ष निकला कि कलाकार अभिव्यक्ति चाहता है। किसकी ? अपने अन्तर में स्थित सौन्दर्यानुभूति या अस्फुट सौन्दर्य-मूर्ति की।

कला—

कलाकार अभिव्यक्ति का कार्य कला के माध्यम से करता है। सुरेन्द्र बारलिंगे का यह कथन, "कला सौन्दर्य की भाषा है, पूर्णतः सत्य है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी कला को साधन मानते हुए कहा है, "कला श्री या सौन्दर्य को प्रत्यक्ष करने का साधन है।" अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तो और किसी रूप में कला का अस्तित्व ही स्वीकार करने को तैयार नहीं क्योंकि उनके विचार में "शिवत्व की उपलब्धि के लिये सत्य की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति-परंपरा के बिना कला असम्भव है। अस्तु कला के दो कार्य हुए। पहला और सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है निर्माण। इस दृष्टि से हम कला को वह रचना-प्रक्रिया कह सकते हैं जिसका समापन एक ऐसी अद्भुत कृति के रूप में होता है जो कलाकार के अन्तर में स्थित सौन्दर्य मूर्ति के अनुरूप होती है और पूर्णता की सभी कसौटियों पर कसी जाने से निर्दोष ठहरती है।"

• यह कलाकृति अपनी पूर्णता एवं निर्दोषिता से सहृदय के मनोभावों को छू कर सौन्दर्य-सम्बन्धी उसके सोये हुए संस्कारों को जगा कर उसकी सूक्ष्म-सौंदर्य-पिपासा को शान्त एवं तृप्त करती है। उसकी चेतना की जड़ता या मूर्च्छा को हटाती है। यह कला का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इस रूप में कलाकृतियां या कलाकार समाज की रुचि को परिष्कृत करते हैं। कला सामाजिक के लिये सौंदर्य-

सकता। राग के स्पन्दन मे ही कला सक्रिय होती है। अस्तु, इन सबमे अन्तर्निहित सौन्दर्य कलाकार के रागात्मक दृष्टिकोण को पाकर ही अभिव्यक्त होता है। यहा कलाकार अपने को उनसे अभिन्न कर लेता है। तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है तब पत्थर कहानिया सुनाने लगते हैं सूने महलो के अन्दर बीती हुई घटनाओ से प्रभावित हृदय का स्पन्दन जागरुक एव सक्रिय हो उठता है, निर्जन कोठरियों मे हास-रदन, मान-मनौती, नृत्य-गान की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, भयावनी-अँधेरी कोठरिया रत्नजटित कला-कलित, वर्णांकित-ध्वनित, सुरभित-मुखरित क्रीडा-कक्षों मे परिवर्तित होकर नूर और ताज की शैया का सलोनापन आभासित कराने लगती हैं, दृश्यावलि-या काल की सीमाओ एव बन्धनो का अतिक्रमण करके पुन दृष्टिगत होने लगती हैं। कलाकार तो उनके सौंदर्य-बोध से सजीव हो ही उठता है, पाठक भी उस सौन्दर्य-बोध का भागी हो उठता है। पाठक का भी राग ध्वनित हो उठता है। कलाकार के अमृत-राग से बिछुड कर सब फिर के फिर पत्थर हो जाते हैं।

इस प्रकार समस्त कलाएँ सौंदर्य-बोध की दृष्टि से उत्पन्न होती हैं। नादात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये संगीत, रेखात्मक सौदर्य-बोध के लिये चित्र, आकारात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये स्थापत्य, गत्यात्मक सौंदर्य-बोध के लिये नृत्य, रूपात्मक सौन्दर्य-बोध के लिये मूर्ति और वाणी के सौन्दर्य-बोध के लिये काव्य कला का आविर्भाव हुआ है। इन सब कलाओ का लक्ष्य एक है, सौन्दर्य-बोध, उद्देश्य एक है, रसानुभूति या आनन्दानुभूति। लक्ष्य एव उद्देश्य की इसी एकता के परिणाम-स्वरूप ये सभी कलाए परस्पर एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सबधित हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। यद्यपि कोई भी कला साहित्य का विषय बन सकती है किन्तु साहित्य का सबध विशेष रूप से केवल तीन कलाओं से है -काव्य-कला, संगीत कला और चित्रकला।

काव्य-कला—

बीसवी शताब्दी के आते-आते भारतीय मानस मे नई कल्पनाएँ नई छवियां, नई आशाएँ, नई महत्वाकांक्षाएँ एव नई उमगें उद्दाम रूप से तरंगित होने लगी थी। जीवन आमूलत परिवर्तित हो गया था और इस परिवर्तन से उत्पन्न नवीनतम परिस्थितियो की जो आवश्यकताए थी, मागें थी, एव उनके जो स्वाभाविक परिणाम थे उन्होंने काव्यकला के रूप मे भी असाधारण परिवर्तन कर दिये। स्वरूप-निर्माण लक्ष्य का मुखापेक्षी होता ही है?

भारतेन्दु से पूर्व की परम्पराओ का अर्थात् रीतिकालीन परम्पराओ का कवि

इसलिये कविता लिखना था कि उसका आश्रयदाता प्रसन्न रहे जिससे कवि की प्राप्त सुविधा, सुख और सम्मान पर कभी भी आंच न आने पाये। वह भक्ति और नीति को भी विस्मृत नहीं करता था क्योंकि भक्तिपरक कविता के अभाव में भगवान की कृपा की प्राप्ति पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग सकता था और नीतिपरक कविता के अभाव में "सामान्य" जन उससे विमुख हो सकता था। इन दोनों प्रकार की कविताओं से कवि को लोकप्रियता मिलती थी। काव्य की शिक्षा देने के लिये और प्रायः पांडित्य-प्रदर्शन के लिये (दंगल में अन्य कवियों को पछाड़ने के लिये) ये आचार्य कवि प्रायः काव्य-शास्त्र का ग्रंथ लिखते थे जिसके भीतर के उदाहरण प्रायः इनके अपने होते थे। दरबार का वातावरण और रीतिशास्त्र का अनुकरण-इन दो प्रमुख तत्वों से उक्त परम्परा की कविताएं लिखी जाती थी। जमींदारों, तालुकदारों एवं रियासतों वाले "महाराजाओं" के यहां इस तरह की काव्य-रचना करने वाले कवि १६५० ई० तक तथा उसके बाद भी बराबर बने रहे। इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'रत्नाकर" हैं।

बीसवीं शताब्दी में कवियों का लक्ष्य दूसरा हो गया था। राज्य बदला। राजाओं, महाराजाओं, और सम्राटों की महानता मिट गई। सभी लोग जान गये कि उनकी शक्ति और क्षमता की सीमाएं कहां हैं और वस्तुतः इस समय उनकी वास्तविक स्थिति क्या है। तात्पर्य यह है कि वे हजार-पांच सौ व्यक्तियों को नौकरी दे सकते हैं या उन्हें नौकरी से निकाल सकते हैं अथवा हजार पांच सौ या दस-बीस हजार रुपये या सौ-दो सौ बीघा जमीन दे सकते हैं या चाहें तो न दें। यह सब-कुछ वैसे ही है जैसे हम घर की महरी, दूकान के नौकर, या विभाग के चपरासी रख सकते हैं या निकाल सकते हैं, कुछ दे सकते हैं या वंचित रख सकते हैं। अन्तर केवल संख्या का है, बस, बाकी उनका "तेज" मिट गया। अंगरेजों के द्वारा उनका "साधारणीकरण" हो गया। अब राजाओं के अति-शयोक्ति पूर्ण स्तुतिगान, भगवान के रीतिकालीन लीला-वर्णन अथवा नायक-नायिका-वर्णन की जगह राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति, धर्म का नवीन एवं समाजोपयोगी रूप, समाज के दोषों का निराकरण, राष्ट्रीयता, सर्वतोमुखी क्रांति और सुधार, तथा उन्नति, आदि कवियों की कामना हो गई। इनमें से अधिकांश बातें तो विचार क्षेत्र से ऊपर उठकर भाव-क्षेत्र से संबंधित हो गई थीं। कवियों का इनसे तादात्म्य हो गया था। इनकी प्राप्ति की कामना ने दीवानगी का रूप धारण कर लिया था। दरबारी संस्कृति और कला तथा पूंजीवादी एवं जनवादी संस्कृति और कला में बहुत अन्तर होता है। जागरण की ही बात ले लीजिए। दरबारी कवि बिहारी मिर्जा राजा जयसिंह को जगाना चाहेगा तो उसकी कला का रूप इस प्रकार होगा—

"नहिं पराग नहिं मधुररस नहिं विकास यहि काल,
अली कली ही तें बँध्यो आगे कौन हवाल।"

इस रूप का कारण यह है कि :-(१) राजा साहब काव्यशास्त्र की परम्पराओं और काव्यकला को भलीभांति जानते थे, (२) वे काव्य के मर्म एवं उसके व्यंग्यार्थ से भलीभांति परिचित थे, (३) वे भोग-विलास में मग्न थे, (४) उनकी समस्या व्यक्तिगत थी, (५) उन्हें अपनी ही निद्रा से जागना था अर्थात् उनकी आंखों को किसी ने बलपूर्वक नहीं बन्द कर दिया था, (६) उनका शत्रु उनके ही अन्दर था, और(७)क्योंकि कवि दरबारी था इसलिये इससे अधिक खुले रूप में वह कुछ कह भी नहीं सकता था। इसका ध्यान न रखने पर कदाचित मर्यादा भंग हो जाती !

इसके विपरीत, जब कवि "दिनकर" ने देश भारत के सभी निवासियों को जगाना चाहा तो उसकी काव्य-कला का रूप यह हो गया –

गरजते शेर आये, सामने फिर भेड़िये आये
नखों को तेज, दांतों को बहुत तीखा किये आये
मगर, परवाह क्या ? हो आ खड़ा तू तान कर उसको
छिपी जो हड्डियों में आग-सी तलवार है साथी[१]

या

आंसू भरे दृगों में चिनगारियां सजा दे
मेरे श्मशान में आ शृंगी जरा बजा दे
फिर एक तीर सीनों के आर-पार कर दे
हिम-शीत प्राण में फिर अंगार स्वच्छ भर दे
आमर्ष को जगाने वाली शिखा नई दे
अनुभूतियां हृदय में दाता अनलमयी दे
विष का सदा लहू में संचार मांगता हूँ
बेचैन जिन्दगी का मैं प्यार मांगता हूँ

अथवा

अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान,
बाहुओं में बहता है

१–"सामधेनी" पृ० ६२।
२–वही, पृ० ५७।

क्षत्रियों का खून यदि
हृदय में जागता है वीर, यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्ति,
स्फूर्ति यदि अंग-अंग को है उभरा रही,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,
... .
आओ वीर, स्वागत है
.. . .
धन-जन-देवालय
देव-देश-द्विज-दार-बन्धु
इन्धन हैं हो रहे तृष्णा की भट्टी में
हद है अब हो चुकी।[1]

कला के रूप के इस परिवर्तन के कारण ये है -(१) ये पंक्तियां जन साधारण के लिये हैं जो काव्यशास्त्र की बारीकियों से परिचित नहीं (२) जन-साधारण साफ और सीधे ढंग से कही गई बात समझता है (३) जन-साधारण भावावेग से प्रभावित होता है (४) जन-साधारण ओज से तरंगित होता है, हुंकार से ऊर्जस्वित होता है (५) यहाँ न व्यक्तिगत स्वार्थ है न व्यक्तिगत समस्या। सारे राष्ट्र के कल्याण की समस्या है। सारे राष्ट्र का मानस बदलना है, (६) यहां शत्रु भीतर नहीं, बाहर है (७) यहां शत्रु ने शक्ति और साधन से वंचित कर रक्खा है (८) यहां शक्ति भीतर है जिसे प्रबुद्ध करना है और (९) यहां लक्ष्य है नये युग की अवतारणा। राष्ट्रोत्थान। परिणाम यह हुआ कि इस युग की काव्य-कला अद्यावधि प्राप्त काव्य-कला से भिन्न हो गई। जिस प्रकार संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में जो-कुछ हुआ उसका आधार कुछ पुरातन था, कुछ नवीन-प्राचीन में से कुछ लिया गया, कुछ को बदला गया, कुछ को छोड़ा गया, और नवीन से भी कुछ को छोड़ा गया, कुछ बदला गया, कुछ लिया गया-उसी प्रकार काव्यकला के क्षेत्र में भी जो-कुछ हुआ उसका आधार कुछ पुरातन था तथा कुछ नवीन।

भाषा—

काव्य-कला के क्षेत्र में सबसे बड़ा परिवर्तन भाषा के क्षेत्र में हुआ। काव्य भाषा की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध खड़ी बोली हिन्दी का युग है। कविता में खड़ी बोली के शब्दों कारक चिन्हों एवं क्रियापदों का अमीर खुसरों एवं कबीर

[1]— निराला" 'महाराज शिवाजी का पत्र' परिमल

के समय से लेकर आज तक बराबर होता चला आया है। इस दृष्टि से कृष्णदेव प्रसाद गौड द्वारा लिखित "साहित्य प्रवाह" नामक पुस्तक के कुछ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। भारतेन्दु-युग म तो खडी बोली मे बहुत कविताएँ लिखी गई। अब यह बात दूसरी है कि उनकी गणना सत् साहित्य के अन्दर नहीं हुई क्योंकि ऐसी रचनाएँ प्रायः लावनी, ख्याल, आदि के रूप मे हैं, "कवित्त-सवैयो-पदावलियो, आदि के रूप मे नही। १८८८-८७ ई० से खडी बोली बनाम ब्रजभाषा वाला आंदोलन चला जिसके अन्तिम निर्णय को कुछ लोग आज तक भी गले के नीचे नही उतार पाये है। भारतेन्दु युग मे खडी बोली मे कविताएँ लिखी अवश्य गई किन्तु उन कविताओ मे काव्य-कला की छवियां और छटाएँ नही मूर्त हो सकी। इस पूरे काल मे खडी बोली को साहित्यिक कविताओ के उपयुक्त नहीं समझा गया। इन कवियो के सामने-काव्य-सौन्दर्य की कसौटी मध्ययुगीन एव रीतिकालीन आलकारिकता ही रही। मन मे काव्य-सौदर्य की यही मूर्ति रमी रही। "रत्नाकर" ने 'बिहारी सतसई" का सफल सम्पादन किया था। उन्होने बिहारी के दोहो का भाषा-गत, अर्थ गत एव रीति-रुढ सौन्दर्य का गभीरतम अध्ययन किया था और उसे आत्मसात् कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके अपने काव्य मे वे ही सारी विशेषताएँ-कुछ वैसा ही सौन्दर्य-आगया। अनुभावो के मनोवैज्ञानिक चित्र रीतिकालीन शैली एव ब्रजभाषा का सौन्दर्य पाकर कलात्मक दृष्टि से आज के काव्य-जगत की शोभा और निधि हो गये —

> भेजे मन-भावन के उघव के आवन की
> सुधि ब्रजगावनि मैं पावन जब लगी
> कहैं "रत्नाकर" गुवालिन की झौरि-झौरि
> दौरि-दौरि नद-पौरि आवन तबे लगी
> उझकि-उझकि पद कजनि के पजनि पै
> पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबे लगी।
> हमको लिख्यो है कहा, हमको लिख्यो है कहा
> हमको लिख्यो है कहा कहन सबे लगी" [१]

इस युग के कवियो को ब्रजभाषा का अभ्यास इतना था कि खडी बोली की रचना करते समय ब्रजभाषा के शब्द अनायास ही आ जाते थे। श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद "पूर्ण", आदि कवियो की कविताएँ ऐसी ही होती थी। इन कवियो की खडी बोली की कविताओं की अपेक्षा ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक-सरस एव हृदयग्राहिणी होती थीं। खडी बोली की काव्योपयुक्तता के विकास की दृष्टि से

१. "उद्धव-शतक", पृ. २६।

श्रीधर पाठक की अनुदित कृति "एकान्तवासी योगी" का महत्व बहुत अधिक है। सबसे बडी बात यह हुई कि अब खडी बोली मे मधुर भावो की अभिव्यक्ति की क्षमता और सभावना पर विश्वास किया जाने लगा। खडी बोली के एक स्थिर रूप का भी निश्चय इस काव्य से हो गया –

साधारण अति रहन-सहन, मृदु बोल हृदय हरने वाला
मधुर-मधुर मुस्कयान मनोहर, मनुज वश का उजियाला
सभ्य सुजन सत्कर्म-परायण सौम्य सुशील सुजान
शुद्ध चरित्र, उदार-प्रकृति शुभ विद्या-बुद्धि निदान [1]

विकास की दूसरी स्थिति मे इस बात का प्रयत्न किया गया कि खडी बोली म ब्रजभाषा के प्रयोग न रहें क्योंकि इससे खडी बोली हिन्दी की भाषा विशुद्धता पर आघात पहुँचता है। इस दृष्टिकोण से लिखी गई कविताओं की भाषा के उदाहरण के रूप म रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति वर्णन वाल कवित्तो की भाषा उपस्थित की जा सकती है –

भूरी हरी घास आस पास फूली सरसो है,
पीली-पीली बिन्दियों का चारो ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे एक
रग मिला चला गया पीत पारावार।
. ...

धु धले दिगन्त मे विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश का–सी झलक दिखाती है।
जहा स्वर्ग–भूतल का अन्तर मिलन है,
चिर पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
. ...

सूखती तलया के चारा ओर चिकी हुई
लाल–लाल काइयों की भूमि पार करत।
गहरे पडे गोपद के चिन्हो से अ कित जो,
श्वेत वक जहा हरी दूब मे विचरते। [2]

रूप नारायण पाडेय, बद्रीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, आदि अनेक कवियों की भाषा इसी प्रकार की खडी बोली है। महावीर प्रसाद द्विवेदी

१. "आधुनिक हिन्दी कविता सिद्धान्त और समीक्षा" पृ ११३।
२ रामचन्द्र शुक्ल 'हृदय का मधुर भार"

ने जिस व्याकरण-सम्मत, शुद्ध व संस्कृत एवं परिमार्जित हिन्दी का समर्थन किया था उसके उदाहरण उपर्युक्त कवियों की रचनाओं में भरे पड़े हैं।

अनेक कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने ब्रजभाषा काव्य का अनुकरण करते हुए उसकी आलंकारिकता को खड़ी बोली में लाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी में उस प्रकार का माधुर्य एवं लालित्य लाना चाहा जो ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों में है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' के खड़ी बोली के कवित्त इसी प्रकार के हैं –

काजल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है
यामिनी के अंचल में कलाधर की कोर है कि राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है
"शंकर" कसौटी पर कंचन की लीक है कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है

इस प्रकार मैथिली शरण गुप्त राम नरेश त्रिपाठी, गया प्रसाद शुक्ल "सनेही", अयोध्या सिंह उपाध्याय, बाल मुकुन्द गुप्त, राम चरित उपाध्याय, लोचन प्रसाद पांडेय, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आदि के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप खड़ी बोली शुद्ध, व्याकरण-सम्मत, परिष्कृत एवं परिमार्जित भी हो गई और उसमें शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की सुयोजना के परिणामस्वरूप लालित्य एवं कलात्मकता के दर्शन भी होने लगे।

इसके पश्चात् अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ओर ध्यान गया। कवित्त सवैये में अलंकारों को छटा छिटका लेना एक बात है, और जो-कुछ कहा जाय वह अत्यन्त सुन्दर ढंग से कहा जाय-यह दूसरी बात है। "वह बहुत अधिक रो रही थी' कहने की अपेक्षा "उसकी आंखों से सावन-भादों बरस रहे थे" यह कहना अधिक कुशल, कलापूर्ण और मार्मिक अभिव्यक्ति है। द्विवेदी युग के समाप्त होते-होते खड़ी बोली में इतनी क्षमता आ गई थी कि उसमें कुशलतम और ललित एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति की जा सके। रीतिकालीन अभिव्यक्तियों का संबंध बाह्य वर्णन से अधिक था। नये युग में नए विषयों और नवीन भावों की व्यंजना करनी थी। कुशलता प्रयत्न-साध्य होती है। इसीलिये अभिव्यक्तियों के स्वरूप में विभिन्नता अनिवार्य थी। द्विवेदी-युगीन कवि खड़ी बोली को वर्णन-कुशल बना चुके थे। अब आवश्यकता अभिव्यजन-सामर्थ्य और कथन-सौन्दर्य की क्षमता की थी। 'बच्चन' का निम्नलिखित कथन।

'शून्य मुखरित हो गया, जय हो प्रणय की
पर नहीं परितृप्त है तृष्णा हृदय की

पा चुका स्वर किन्तु गायन खोजता हूँ
मैं प्रतिध्वनि सुन चुका, ध्वनि खोजता हूँ [1]

द्विवेदी युग के बाद की खड़ी बोली की आवश्यकता पर भी प्रकाश डालता है। खड़ी बोली के प्रति हमारा जो लगाव था उसके कारण खड़ी बोली का सूनापन समाप्त हो गया किन्तु कवि इससे तृप्त न हुए। अब खड़ी बोली के स्वर को गीत म बदलना था। व्रजभाषा के भाषा–सौदर्य की प्रतिध्वनि खड़ी बोली में बहुत हो चुकी अब उसकी अपनी ध्वनि और व्यजना उसमे आनी थी। यह प्रयत्न छायावादी कवियो न अत्यत सफलतापूर्वक किया। 'प्रसाद' जी ने "ध्व न्यात्मकता, लाक्षणिकता सौ दयमय प्रतीक–विधान तथा उपचार–वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति" [2] को छायावाद की विशेषता माना और इन विशे षताओ से खड़ी बोली मे कमनीयता का समावेश किया। इस युग के प्राय सभी श्रेष्ठ–श्रेष्ठ कवियों ने अपनी काव्य–पुस्तकों की भूमिकाओं एव स्वतन्त्र रूप से लिखे गये निबधो मे अपनी इन मान्यताओ एव विचारो का उल्लेख किया है जिनके कारण उनकी काव्याभिव्यक्तिया इतनी कलापूर्ण हो सकी। 'पल्लव" की भूमिका, काव्य और कला तथा अन्य निबध' महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' 'प्रबध–प्रतिमा 'प्रबध पद्म आदि इसी प्रकार की कृतिया हैं। इन कवियों की ललित अभिव्यक्तियो मे वक्रता, ध्वनि, लाक्षणिकता तथा उपमा रूपक, आदि अलकारो का योग विशेष रूप से रहा है —

विस्तृत नभ का कोई कोना, मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल थी, मिट आज चली
मैं नीर–भरी दुख की बदली [3]

....

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे
जब सावन–घन सघन बरसते, इन नयनो की छाया भर थे [4]

अभिव्यक्ति की यह कुशलता अन्ततोगत्वा कथ्य की कमनीयता की ओर अग्रसर हुई। अभिव्यक्ति की सुदरता काव्य–कला का बाह्य–पक्ष है। इसके

१- 'मिलन यामिनी' का एक गीत।
२–'काव्य और कला तथा अन्य निबध' का छायावाद–सम्बधी लेख।
३–महादेवी, "यामा"
४–"प्रसाद"—"लहर'

अनुरूप सुन्दर विषय-वस्तु भी होनी चाहिये। विषय-वस्तु की सुन्दरता या लालित्य सदैव मुखरित या व्यक्ति नही हो पाती। गीत काव्य या मधकाव्य मे यह बात विशेष रूप मे पाई जाती है। जिस काव्य मे अभिव्यक्ति और अभिव्यक्तव्य-कथन और कथ्य--दोनो की कमनीयता सतुलित रूप से बराबर रहती है वही काव्य श्रेष्ठतम होता है। चाहिये यह कि कवि की अपनी अनुभूति, उसके अपने भाव और विचार, असाधारण रूप से सुन्दर हो। उद्भावनाए और कल्पनाए उन्हे एक व्यवस्थित रूप या आकार प्रदान करें। तत्पश्चात् ललित भाषा मे कला-पूर्ण ढग से उनकी सुन्दर अभिव्यक्ति हो। 'निराला'' का ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया। कथन की कुशलता की ओर से वे उदासीन रहे हो, ऐसी बात नही है किन्तु उनका ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया कि जो बात वह कहने जा रहे हैं वह भी कमनीय हो। "राम की शक्ति--पूजा" "महाराज शिवाजी का पत्र", "बादल राग", "विधवा", "सरोज स्मृति", आदि अनेक कविताओ में जो कुछ कहा गया है वह भी सुन्दर है, जिस ढग से कहा गया है वह भी सुन्दर है, और जिस भाषा में कहा गया है वह भी सुन्दर है। प्रतीक और रूपक के सहारे अनुभूतियो एव भावो के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की जाती है। रहस्यवाद स्वत एक सुन्दरतम कथ्य है अनुभूति है। छायावादी शैली मे उसकी अभिव्यञ्जना काव्य को उत्कृष्टतम श्रेणी प्रदान करती है। इसीलिये पन्त, 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा, आदि कवियों की रचनाएँ कथ्य का सौन्दर्य भी व्यजित करती हैं

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
रुदन मे सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है,
शलभ जल कर दीप बन जाता निशा के शेष मे
आसुओ में देश मे ?[1]

"साधना" ही सिद्धि सुन्दर' मे अनुप्रास अलकार है। व्याकरण-सम्मत, शुद्ध, एव अलकृत भाषा है। लाक्षणिकता है, व्यजना है। अभिव्यक्ति का स्वरूप इतना सुन्दर है कि अभिव्यञ्जना नीति-सबधी सूक्ति का रूप धारण कर सकती है। जो बात कही गई है वह यह कि परिणाम या फल को सुन्दर मानना अच्छी बात नही है क्योकि इससे फल में आसक्ति पैदा हो जायगी। फल-प्राप्ति अपने वश की बात

१--महादेवी वर्मा, "दीपशिखा"

नहीं। इसलिये यदि मनोवांछित फल न मिला तो दुःख होगा। दूसरी बात यह कि ऐसी स्थिति में साधना की एकनिष्ठता भग हो जायगी। ध्यान रहे कि यही निष्काम कर्मयोग है जिसकी महिमा का प्रतिपादन "गीताकार" का भी लक्ष्य है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि यह एक सुन्दर कथ्य है। एक दूसरी कविता देखिये —

> प्रिय तुम्हारा स्वर बनूँ मैं
>
> दो उरों के मिलन में मिट जाय वह अन्तर बनूँ मैं
>
> करुण जीवन जबकि हिम की विकल घुलती धार-सा हो
>
> या कि सिसकी से उठे दो आँसुओं के भार सा हो
>
> सिक्त उनसे हो उठे उस धूलि का कण भर बनूँ मैं[१]

खड़ी बोली को सूक्ष्म सौन्दर्य, सुकुमारता और संगीतात्मकता से परिपूर्ण करने वाले कवि की यह अभिव्यक्ति उपमाओं, प्रतीकों और भाषा की कलात्मकता का संस्पर्श पाकर जितनी मार्मिक एवं ललित हो गई है उससे कम सुन्दरता कवि की कामना में नहीं है। साधक का साध्य रूप से इतना अभिन्नत्व प्राप्त कर लेना तथा अपने अस्तित्व को इतना करुणापूर्ण बना लेना सभी दृष्टियों से एक सुन्दर कामना है। अस्तु, इन स्थितियों को पार करते-करते खड़ी बोली काव्य की मंजुल कलाओं से कलित भाषा हो गई।

रस—

शास्त्रों ने रस को बहुत ही महत्वपूर्ण माना है। रस काव्य का प्राण और सर्वोत्कृष्ट फल माना गया है। आनन्द का ही दूसरा नाम रस है। अलौकिक चमत्कार है अर्थात् इस लोक में जो अप्राप्य है वह चमत्कार। कलाकार द्वारा सप्रेषित अनुभूति उपलब्ध करके हमारी जो भाव दशा हो जाती है उससे हमें जो-कुछ प्राप्त होता है वही रस है। भाव-दशा लोक की चीज नहीं है और इसलिये भाव-दशा से प्राप्त रस लोक से परे की चीज हुई-अलौकिक। यह अवस्था प्राप्त करके हमारे चित्त का विस्तार हो जाता है। अस्तु, रस की प्रतीति मानस में ही संभव है। हमारे मानस में "वासना" अचेतन रूप में विद्यमान रहती है। आलंबन और उद्दीपन तथा उनकी पारस्परिक चेष्टाओं एवं संचारी भावों, आदि के वर्णन से हमारे मानस की वे सुप्त वासनाएँ उद्बुद्ध हो उठती हैं। जग कर वे सहृदयों के मानस को अनुभूति की जिस तन्मयी अवस्था में पहुँचा देती हैं उसमें मग्न होकर वह अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। यही रसानुभूति है। इस प्रकार "विभावानुभावव्यभीचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति" होती है। आधुनिक शैली में कहें तो रस एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। रस का मूल है भाव और भावों का संबंध मन से है। किसी

१ रामकुमार वर्मा "आकाश गंगा"।

बाहरी चीज को हम देखते हैं (आलबन)। उसका हमारे मन पर प्रभाव पड़ता है (भाव)। मूल प्रभाव के साथ साथ कुछ अन्य ऐसे भाव भी उठते हैं जिनका अस्तित्व मूल भाव की तरह बहुत देर तक का न होकर कुछ काल तक के लिये होता है। ये मूल भाव को पुष्ट ही करते हैं (व्यभिचारी या सचारी)। इन सबका शरीर के अगों पर भी प्रभाव पड़ता है (शारीरिक अनुभाव)। इन सबके सफल चित्रण से कलाकार स्वय पुन तो मगन हो ही उठता है, उस चित्रण को पढने वाले के मन की भी भाव मग्न दशा हो जाती है। शास्त्रकारो ने मनके मूल भावो को प्रधानत नो भागों मे विभाजित किया हैं —शृङ्गार, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, करुण, हास्य, वीभत्स, शान्त। कुछ आचार्य भक्ति और वात्सल्य को भी मूल भाव मानते हैं। विचारको ने इनके अपने अपने आलबन उद्दीपन, अनुभाव, सचारी भाव, आदि का भी उल्लेख किया है। इसमे कोई सन्देह नही कि रस की अनुभूति एक अन्तर्दशा किन्तु आलबन, उद्दीपन, और अनुभाव का सबध प्राय बाह्य तत्वों से है। रस की कविताएँ दो ढग से लिखी जा सकती हैं। पहला ढग है अनुभव के आधार पर लिखना। ऐसी कविता लिखते समय रस-सबधी शास्त्रीय मान्यताओ को याद नही रखना पड़ता। ध्यान केवल अनुभूति की सच्चाई का रखना पड़ता है रस उसी से ध्वनित हो उठता है। दूसरा ढग यह है कि अमुक रस के लिये शास्त्र-ग्रथ मे जिस-जिस का होना आवश्यक बतलाया गया है, कविता मे उन सब को अवश्य लिखा जाय। शास्त्र और परम्परा के इस अनुकरण पर चल कर कविता रीत्योन्मुखी हो उठती है और इसलिय उसका सब-कुछ प्राय स्थूल और फीका हो जाता है। अनुकरण करते हुए भी सजीवता केवल कुशल एव सिद्ध कवि ही ला पाते हैं। रीतिकालीन कविताओ की रसानुभूति अधिकतर ऐसी ही होती थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य को रस सबधी कविताओ की ऐसी ही पृष्ठभूमि मिली थी किन्तु क्रांति एव परिवर्तन के इस युग म आधुनिक हिन्दी काव्य-क्षेत्र मे रसात्मकता की उपर्युक्त शास्त्रीय अर्थात् रीतिकालीन धारणा बिल्कुल बदल गई। पहले लिखते ही समय ज्ञात या अज्ञात चेतन या अचेतन रूप से यह देख लिया जाता था कि लिखित कविता मे रस के सभी अवयव ठीक से उपस्थित हैं या नहीं। अब प्राचीन के समर्थक आचार्य महोदय रस शास्त्र की व्यापकता सिद्ध करने के लिये किसी आधुनिक कविता मे इन अवयवों को ढूँढ निकालते हैं—यह बात और है—किन्तु लिखने वाला लिखते समय इनकी उपस्थिति के प्रति सावधान नहीं रहता। यह अन्तर दृष्टिकोण का है और बहुत बड़ा अन्तर है। इसने रस-साहित्य म क्रांति उपस्थित करदी है।

रसमयी कविता पर सबसे बड़ा आघात बौद्धिक दृष्टिकोण ने किया। इस युग मे कविता विशुद्ध रसानुभूति एवं आनन्द की अनुभूति के लिये बहुत कम लिखी

गई। जब किसी विचार की अभिव्यक्ति की जाती है तब रसानुभूति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। अस्तु,

.... हा मानव!
देह तुम्हारे हीं है, रे शव!
तन की चिन्ता में, घुल निशदिन
देह मात्र रह गये,—दबा तिन!
प्राण प्रवर,
हो गये निछावर,
अचिर धूलि पर!
निद्रा, भय, मैथुनाहार
— य पशु लिप्साएँ चार—
हुई तुम्हें सर्वस्व सार?
धिक् मैथुन आहार - यन्त्र[1]

जैसा विचार-प्रधान कविताओं मे रस की सम्भावना भी नहीं हो सकती। सच्ची बात तो यह है कि यह युग ही रसानुभूति का नहीं था। क्रान्ति और रस तत्त्व-दोनों दो पृथक् दृष्टिकोण हैं। कवियों पर आर्यसमाज का जो प्रभाव पड़ा था वह भी रस का सहयोगी नहीं था। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता ने भी रसपरिपाक में बाधा उपस्थित की। उपदेश में भी रसात्मकता नहीं हो सकती। निर्मम साम्राज्यवाद के क्रूर-तम बूटों के नीचे भारतीयता की दुर्गति हो रही थी। आवश्यकता थी कुछ ऐसा करने की जिससे हम स्वतंत्र हो सकते। सोये हुए देशवासिओं को जगाना था। समाज-सुधार, धर्म सुधार, आदि की आवश्यकता थी। संस्कृति का पुनरुत्थान चाहिये था। ऐसे में रीतिकाल की रस परम्परा निरर्थक थी। जिनकी कविताओं के विषय रीतिकालीन ही रहे उनकी बात और है, जैसे —

जा दिन सों निरखी छवि राबरी, बावरी बीथिन में विहर्‌यौ करैं।
पीर लिये, हिय धीर किये, मुस्क्यानि, पै नैननि नीर झर्‌यौ करैं।
प्रान मोह न मोहन हेतु जियावति जीव उसास भर्‌यौ करैं।
नेहवती लौं सनेहमयी, लौं उजास करै तऊ आपु जर्‌यौ करैं[2]।

द्विवेदी युग में रस की दृष्टि से दो कवियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जिनमें से प्रथम हैं मैथिलीशरण गुप्त। खण्डकाव्यों और महाकाव्यों में जहां उन्हें

१ पन्त "चोटी" शीर्षक कविता।
२ 'मैथिलीशरण गुप्त "साकेत"।

अवसर मिल सका है, उन्होंने रस-निष्पत्ति का सफल प्रयत्न किया है। 'भारतभारती" "साकेत", "यशोधरा", आदि मे ऐसे स्थल मिलते हैं जो काव्यशास्त्र की दृष्टि से रस-मग्न कर सकने का सामर्थ्य रखते हे :—

> मैं निज अलिन्द मे खडी थी सखि एक रात,
> रिमझिम बूंदें पडती थीं घटा छाई थी।
> गमक रही थी केतकी की गंध चारो ओर,
> झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
> करने लागी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
> चचला थी चमकी, घनाली घहराई थी।
> चौंक देखा मैंने चुप कोने मे खडे थे प्रिय,
> माई मुख लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी[१]

यहा रस के सभी अवयव हैं। आलंबन (उर्मिला), उद्दीपन (ऋतु-चित्र), अनुभाव (छाती में मुख छिपाना, आदि), सचारी (लाज, स्मृति), आदि से पुष्ट होकर शृङ्गार ध्वनित होता है। इस क्षेत्र मे दूसरा उल्लेखनीय नाम अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" का है। खडी बोली मे रस-व्यजना की कुशलता उनमे आश्चर्यजनक रूप से मिलती है। रस-निष्पत्ति की दृष्टि से "साकेत" की अपेक्षा "प्रिय प्रवास' अधिक सफल है। "रस कलश" वाला हृदय कही भी रस-शून्य हो भी तो कैसे।

> पट हटा सुत के मुख कज की, विकलता जब थीं अवलोकती
> विवश सी जब थी फिर देखती सरसता मृदुता, सुकुमारता
> तदुपरान्त नृपाधम भीति की अति भयकरता जब सोचतीं
> निपतिता तब होकर भूमि मे करुण क्रन्दन थे करती रहीं[२]

जहा तक छायावादी कविता और रस-निष्पत्ति का प्रश्न है, कुछ विचार करना आवश्यक हो जाता है। इस सबंध मे विशेष रूप से याद रखने वाली बात यह है कि छायावादी कवि अपने अन्तर की अनुभूतियो और छवियो का वर्णन करते समय रस-सिद्धान्त को बिल्कुल ही ध्यान मे नही रख सकता था। उसका काव्याभ्यास भी रीतिकालीन पद्धति पर नही होता था। उसकी कविता मे आश्रय, आलबन, उद्दीपन, अनुभाव, व्यभिचारी, आदि आ गये तो ठीक, नही

१. रामप्रसाद त्रिपाठी. "नूतन ब्रजभाषा काव्य मंजरी", पृ. १३३।
२–'हरिऔध': 'प्रिय प्रवास'

आये तो वह अपनी रचना को असफल या अपूर्ण मानने के लिये तैयार नही। इसलिये छायावादी कविता मे रस के सभी अवयव सयोगवश भले ही मिल जायँ किंतु वे छायावादी रसानुभूति के लिये अनिवार्यत उल्लिखित तत्व नही। छायावाद को परम्परामूलक 'रसवादी दृष्टि से देखना ही एक भ्रम है।

छायावादी कविताओं मे ऐसे स्थल बहुत अधिक हैं जो पाठक को रसमग्न कर देते हैं। इन कवियो के अलकार रसवादियो के अलकारो की अपेक्षा भावो को कही अधिक सुन्दर और बोधगम्य बनाने के लिये हैं। प्रतीकों और अलकारो के बिना रहस्यवादी अनुभूति सप्रेषणीय हो ही नही सकती। छायावादी कवि सूक्ष्म सौन्दर्य एव रहस्यानुभूतियो की व्यजना करते थे। इसलिये इनकी रसानुभूति और रस-व्यजना रीतिकालीन रसानुभूति और रस-व्यजना से अनिवार्यत विभिन्न होती थी। अस्तु यदि रस को असलक्ष्यक्रमध्वनि तभी मानते है जब विभाव, अनुभाव, आदि शब्दो मे कह दिये जाय तो छायावादी कवियो मे रस-परिपक्वता की स्थिति अत्यन्त नगण्य ठहरेगी। किन्तु यदि दृष्टिकोण को बदल कर थोडा-सा उदार बना लिया जाय और यह भी मान लिया जाय कि सुन्दर वस्तु की उपस्थिति मात्र या सुन्दर अलकार मात्र भी मन को रसमय कर देते हैं तो छायावादी काव्य मे रस लहराता हुआ मिलेगा। यह रस लौकिक भी होगा, अलौकिक भी, वर्णित भी होगा, ध्वनित भी, लक्ष्य भी होगा, असलक्ष्य भी, तथा परम्परा के ढग पर भी होगा और परम्परा से मुक्त भी।

मनु निरखने ल। ज्यो-ज्यो यामिनी का रूप
वह अनन्त प्रगाढ छाया फैलती अपरूप
बरसता था मदिर कण-कण स्वच्छ सतत अनत
मिलन का सगीत होने लगा था श्री मन्त
छूटतीं चिनगारिया उत्तेजना उद्भ्रान्त
धधकती ज्वाला मधुर था वक्ष विकल अशात
वातचक्र समान कुछ था बाधना आवेश
धैर्य का कुछ भी न मनु के हृदय में था शेष'

यह मनु के अन्तर की उद्दीप्त शृगार-भावना का वर्णन है जो रस ध्वनित करने मे समर्थ है। इसी प्रकार —

तडित-सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर

गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान ।[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में उद्दीपन प्राणों को अधीर करके विप्रलंभ ध्वनित करता है। "पुलक-पुलक उर, सिहर-सिहर तन आज नयन आते क्यों भर-भर"[२] में अनुभाव से भाव ध्वनित होता है।

शशि के दर्पण में देख-देख, मैंने सुलझाये तिमिर-केश
गूँथे चुन तारक-"पारिजात अवगुंठन कर किरणें अशेष
क्यों आज रिझा पाया उसको मेरा अभिनव शृंगार नहीं ।[३]

आध्यात्मिक शृंगार-सबन्धी उपर्युक्त पंक्तियों में व्यथा की कसक है। "निराला की "जुही की कली" का संयोग-शृंगार केवल यही कहने से निष्प्रभ नहीं हो सकता कि उनके आलंबन और आश्रय मानव-यौनि के नहीं। हां, शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखने पर यह रस दोष का कारण है। शास्त्रीय दृष्टि से अपरिपक्व होते हुए भी यह रस अनेक परिष्कृत रुचि एवं परिपक्व भावनाओं वाले सहृदयों को रस-सिक्त करता आ रहा है।

कल कैसी थी शरद चांदनी प्राणों में शशि भूल रहा था
मेरा मिलन लता-कुंजों के फूल-फूल में फूल रहा था
आज सांझ के पहले पल में रात सिमट आई है काली
ऐसे ही तो मेरे प्रिय हैं जो मेरे हो सके न आली ![४]

उपर्युक्त पंक्तियों में स्मृति के क्षण मूर्त हो उठे हैं और उन्हें देखकर अन्तर में जो भावना जगती है वह वियोग शृंगार की है। यह आध्यात्मिक अनुभूति है अर्थात् यह विशुद्ध वियोग-भावना-केवल वियोग-भावना-है। यह समस्त ऐन्द्रियता से परे होकर केवल अनुभूति मात्र हो गई है इससे किसी वियोगिनी के रोने-पीटने का भावचित्र तो नहीं उभरता और इसलिये उस दृश्य की कल्पना करके मन की जो अवस्था हो सकती है वह तो नहीं होगी किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे

१-पन्त : "आंसू में"
२-महादेवी वर्मा · 'नीरजा"
३-"महादेवी वर्मा : "यामा"
४-रामकुमार वर्मा : 'आकाश गंगा"

वियोग- यथा ध्वनित होती है और हृदय उससे प्रभावित होकर तज्जन्य अनुभूति म निमग्न होता है।

गुण-रीति-वृत्ति

जसे शरीर म अगो का सगठन होता है वैसे ही काव्य म शब्दो और अर्थो का सगठन होता है। जिस प्रकार शरीर के अगो को देख कर हम शरीर क गुण (सुकुमारता, आदि) का पता पा लेते हैं वैसे ही पदों की रचना-विशिष्टता क द्वारा हम काव्य की विशेषता जान सकते हैं। अमुक भाव की व्यजना के लिये हमे किस प्रकार के शब्दो का उपयोग करना चाहिये इस विचार क द्वारा ही रीति का रूप विशेष बनता है। ऐसा भी हो सकता है कि कोई एक शब्द किसी विशेष विषय या भाव की मर्यादा के अनुकूल न हो तो उसका प्रयोग वाछित प्रभाव न पडने देगा। 'मलकये आलम कौशल्या' मे "मलकये आलम' विशेषण कौशल्या की मर्यादा और सस्कार के अनुरूप नही है--भल ही 'वृत्ति' की दृष्टि से इसका एक--एक अक्षर ठीक है। इसके विपरीत, यदि एकाध अक्षर 'वृत्ति की प्रकृति क प्रतिकूल भी हो किन्तु यदि पूरी कविता म वृत्ति का ध्यान रखा गया है तो काव्य की विशेषता की अनुभूति म कोई विशेष अन्तर नही पडेगा। माझी साहस है? खे लोगे? जजरतरी भरो पथिको से झड मे क्या खोलोगे?[१] मे झड का 'झ और ड वृत्ति की प्रकृत्ति के प्रतिकूल है किन्तु चू कि पूरी कविता म इतना खटकने वाला शब्द यही एक है इसलिये कुछ ही वर्णो क पश्चात् इसका प्रतिकूल प्रभाव नष्ट हो जाता है। भावो के अनुरूप हा भाषा का प्रयोग होना चाहिये। यह बात ध्यान म रखने पर मधुर भावो की अभिव्यक्ति के लिये मधुर वर्णो वाल शब्दो की आवश्यक्ता होती है और कठोर भावा की अभिव्यक्ति के लिये परुष वर्णो वाले शब्दो की। यही विचार रीति है। आचार्य मम्मट इसी को वृत्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि उपयुक्त शब्दो का चुनाव और उसकी योजना ही वृत्ति है। रस-व्यजना के लिये इसकी विशेष उपयोगिता है। वृत्तिया तीन हैं। उपनागरिका वृत्ति म ट ठ ड ढ को छोड कर माधुर्य गुणव्याजक तथा सानुस्वार वर्णो की योजना होती है। वैदर्भी रीति इसी को कहते हैं। शृगार, हास्य तथा करुण मे इसका प्रयोग होता है —

.... धम से
फिर भी जहा हैं आप इच्छा रहते हुए,

१—जय शकर प्रसाद स्कन्दगुप्त'

जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहीं
बैठ रहती मैं ! ध्यान डालती धरित्री को ।
सिंहनी-सी काननों में, योगिनी-सी शैलों में,
शफरी-सी जल में, विहगिनी-सी व्योम में
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं !
मेरा सुधा-सिन्धु मेरे सामने ही आज तो
लहरा रहा है, किन्तु पार पर मैं पड़ी
प्यासी मरती हूँ हाय ! इतना अभाग्य भी
भव में किसी का हुआ ?[1]

जिन वर्णों में ओज गुण की व्यंजना होती है उनसे निर्मित रचना परुष वृत्ति की होती है। इसमें ट, ठ, ड, ढ, द्वित्व, तथा संयुक्त वर्ण अधिक होते हैं। यह वीर रौद्र, और भयानक रसों की व्यंजना में अधिक सहायक होती है ऐसी रचना गौडी रीति की होती है --

आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत क्षिप्र कर वेग-प्रखर
शतशेल सम्वरणशील, नील नभ-गर्जित स्वर
राघव लाघव-रावण-वारण-गत युग्म प्रहर,
उद्धत-लंकापति -मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष राम-विश्वजित् दिव्य शर-भंग भाव—
विद्धांग-बद्ध-को दण्ड-मुष्टि खर-रुधिर स्राव,
रावण प्रहार दुर्वार विकल-वानर-दल-बल—
मूर्च्छित सुग्रीवांगद—भीषण-गवाक्ष-गय-नल—
वारित-सौमित्रि मल्लपति-अगणित-मल्ल रोध
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध
उद्गीरित-वह्नि भीम पर्वत-कपि-चतु प्रहर,—[2]

चीन ने जब स्वतंत्र भारत पर सन् १९६२ ई० में आक्रमण किया था तब रामकुमार वर्मा ने अमृतध्वनि छंद में "भारत की ललकार" शीर्षक जो उद्बोधनात्मक गीत लिखा था वह वीर रस, ओज गुण, परुषावृत्ति एवं गौडी रीति की आश्चर्यजनक रूप से सफल रचना है —

अमृतध्वनि के घोष से गूँजा हिमालय शृंग

१ मैथिलीशरण गुप्त : "यशोधरा"
२. "निराला" "राम की शक्तिपूजा"

भारत के सैनिक बढ़े, क्रुद्ध ध्वनित उमङ्ग ॥
क्रुद्ध ध्वनित उमङ्ग-ग्रसित, विलसग लक्षण,
युद्ध-धरणि समृद्ध भरणि वृहद ध्वर प्रण।
पददलित अहङ्ग्गलित, खलच्चीनी हनि
जगम्गरजि, उलगम्मनि, ध्वनित अमृतध्वनि ।१

चीनी चकित देखकर भारत ऐक्य अखंड । उन्मीलित हरनेत्र त्रय भैंगगरव प्रचंड । अगगगरव प्रचंडडमरु निनादध्वनिस क्रुद्धदरिवरि, युद्धदरि घन मंडित तांडव । लक्ललक्खन रिपु, रक्तवक्खन भरि धुम्मत चकित । मु ड्ड्डरि बरि, खड्ड्डरि चित चीनी चकित ॥

केहरि जगा अग सा, भगा कगा चिन्न ।
पंचशील को लीलकर जगगगति कर भिन्न ॥
जगगगति कर भिन्नर नर पशु मिस्रक कथयति ।
मडडड्ति रण, खड्ड्ति खल दड्ड्हति गति ॥
पक्ष प्रबल बल प्रतिक्षण लक्ष प्रण लगा।
युद्धघघरिक्र क्रुद्धधर नर केहरि जगा ॥ ३ ॥
विक्रम की तलवार फिर उठ सीमा पर्यन्त ।
शक्रशक्कित चीनचित चिन्तितुत्तित लख अ त ।
चिन्तितुक्तित लख अन्ततम कटु कष्ठक्कपित
शक्क्कुल हो अ खक्खुलि भक्षा भकक्रित ॥
चकक्रित हो रक्तक्कणमय पंकक्कित क्रम ।
पु अजजित गुरु गुंजिज्जित हो भारत विक्रम[1] ॥ ४ ॥

कोमला वृत्ति वहा होती है जहा वे वर्णन हों जो ओज और माधुर्य गुण के व्यंजक होते हैं। शब्द ऐसे सरल और सुबोध होते हैं कि सुनते ही तात्पर्य का बोध हो जाता है। यह पांचाली रीति कहलाती है। इसमे श्रृंगार, शान्त और अद्भुत रस की व्यंजना बड़े ही प्रभावपूर्ण ढङ्ग से होती है। अनूप शर्मा का प्रेम-पान-सम्बन्धी रस का निम्नलिखित कवित्त इस "वृत्ति" का सुन्दर उदाहरण है—

इन मदमाते, अलसाते, झुक जाते हुए मस्त लोचनों की सौंह खाके पी गया हूँ मैं।
होश के भी होश उड़ जायेंगे, न थोड़ी पी है, सारा खुम का खुम उठा के पी गया हूँ मैं।
देख कल-कुन्तलों की कुंचित सँपोलियों को आई जो लहर लहरा के पी गया हूँ मैं।

---

१ डा० रामकुमार वर्मा की विशेष कृपा के कारण प्राप्त उनकी हस्तलिखित प्रति से उद्धृत कविता।

तेरे ही वियोग मे विदग्ध अति आतुर हो अब अकुला के घबरा के पी गया हूँ मैं[1]

"बच्चन" का निम्नलिखित पद भी इस दृष्टि से द्रष्टव्य है –

सुन्दर और असुन्दर जग मे मैंने क्या न सराहा
इतनी ममतामय दुनियाँ मे मैं केवल अनचाहा
देखूँ अब किसकी रुकती है आ मुझ पर अभिलाषा
तुम रस लो मेरा मान अमर हो जाये
तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाये।[2]

अलकार—

द्विवेदी युग मे खड़ी बोली की शुद्धता एव व्याकरण,सम्मतता पर अधिक जोर दिया गया था। साथ ही, रीतिकालीन आलकारिकता की प्रतिक्रिया भी इस युग मे थी। फिर भी, चूँकि द्विवेदी जी के मतानुसार, "जो बात असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दो द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुनने वाले पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसी का नाम कविता है"[3] इसलिये इस "असाधारण" और "निराले ढङ्ग" से बात कहने के प्रयत्न मे द्विवेदी युग के कवियो मे भी अलकार मेअप्रत्यक्ष रूप से आ ही गये। ये अलकार कभी शब्दालकार होते थे और कभी अर्थालकार। मैथिलीशरण गुप्त और "हरिऔध", आदि के काव्य इसके प्रमाण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी अलकार के विरोधी नही थे। उनका विचार था, "अलकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु-योजना क रूप मे हो "चाहे वाक्य वक्रता के रूप मे"'चाहे वर्ण-विन्यास के रूप म, लाये जाते हैं वे प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष-साधन के लिये ही।"[4] जय शकर 'प्रसाद' ने भी अलकारो का महत्व भाव सौन्दर्य की वृद्धि म स्वीकार किया है।[5] सुमित्रानन्दन पन्त न भी उनको "भाव का अभिव्यक्ति के विशेष द्वार[6] माना है छायावाद का प्रत्येक कवि अलकारो का सम्बन्ध सौन्दर्य-बोध से ही मानता था। बहुत पहले केशव ने लिखा था –

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त
भूषण बिनु न बिराजई कविता, बनिता, मित्त[7]

लगभग ३३६ वर्षो के बाद सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा —

तुम वहन कर सको जन-जन मे मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हे क्या अलकार[8]

१. "रसवन्ती", 'अनूप शर्मा विशेषाक, पृ० ८१–८२
२. "सतरंगिनी"
३. महावीर प्रसाद द्विवेदी "रसज्ञ रजन"। ४. रामचन्द्र शुक्ल. 'चिन्तामणि", भाग१
५. "प्रसाद" "काव्य और कला तथा अन्य निबध"। ६. पन्त "पल्लव", "प्रवेश"
७. केशवदास "कवि प्रिया" ८. पन्त "ग्राम्या"

स्पष्ट है कि दोनो दृष्टिकोणो मे असाधारण अन्तर है। इसका कारण यही है कि रुचिया बदल गई हैं। बहुत दिन नही हुए—और देहातो में तो यथासम्भव आज भी—छागल, बिछुए, महावर, कडे—छडे पायल, झाझन, पैंजनी, करधनी, अँगूठी, सोने की चूडिया, रगीन शीशे की वैविध्यपूर्ण चूडिया, लाख की लाल सुनहरी नक्काशदार चूडिया, छदी, पछेला, सोने के कडे, टँडिया, बाजूबन्द, हार, कण्ठा, गुलूबन्द, ठुल्ली नथ, नथुनी, नाक की कील, बुनाक, स्वर्ण-फूल या झुमका झुमकी, बाली, बंदी, बेणीफूल, टीका, आदि मोटे-मोटे और भारी-भारी वजन के आभूषण नारी की अभिलाषा और शृङ्गार माने जाते थे। रेशम के पाच-पाच सौ और पाच-पाच हजार रुपयो के लहँगे-ओढनिया, गोदना, मेहदी मिस्सी, आदि सौभाग्यवती की शोभा थे। पुरुष तक अलकृत होते थे। अब वह सब बदल गया। १६५० ई० के बाद की बात छोड दी जाय तो हाथ मे एक एक दो दो चूडिया कान मे टाप्स या इयररिंग, माथे पर एक बिन्दी, हाथ मे एक अँगूठी, सफेद या शालीनता व्यजक रग की साडी, पैर मे चप्पल यह सामान्य वेश-भूषा है। शादी ब्याह के अवसरो पर दो-चार गहनो की और वृद्धि हो जाती है तथा रङ्ग मे कुछ और अधिक शोखी बढ जाती है। बस! अब वाणी में गरिमा है, व्यक्तित्व मे ज्ञान का गाम्भीर्य है वेश-भूषा मे सादगी की महिमा है और निरलकारिता की सुभव्यता है। प्रभाव व्यक्तित्व का पडता है, आकर्षण रूप का होता है। अगज और स्वभावज अलकार तथा हाव-भाव-हेला एव व्यजनाएँ तथा भगिमाएँ मोहती हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के साहित्य मे सजावट की यही स्थिति रही है। वह,इसलिये महत्वपूर्ण नही कि रीति-पुष्ट है, रीति की दृष्टि से बिल्कुल निर्दोष है, एव एक कविता मे पाच पाच भाव श्लेष के सहारे भर दिये गये हैं, पूरे पद मे एक ही वर्ण का अनुप्रास भरा है, और उपमाओ और रूपकों की झडी लगी है। आधुनिक कविता इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसमे सुन्दर भावों की व्यजना है, वह कुछ अच्छे विचारो की अभिव्यक्ति करती है तथा वह मन और आत्मा को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर ले जाने वाले तत्वों से स्वत भव्य और महिमामयी हो गयी है। उसने अलकारो से दुश्मनी नही साधी है किन्तु उनको अपने सर पर इतना लाद भी नही लिया है कि पद बोझिल होकर सीधे पडने न पाये और आनन की स्वाभाविक शोभा घटाटोप मे तिरोहित हो जाय। आज के कवि ने अलकारो को उनके वास्तविक स्थान और महत्व पर समासीन कर दिया है। इस युग का कोई भी कवि ऐसा नहीं है जिसकी कविता मे अलकार न मिलें। छायावाद ने पुराने अलकारों के अतिरिक्त विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यर्थ-व्यजन, मानवीकरण, आदि अँगरेजी अलंकारों को भी अपनाया है। इनके प्रयोग बाहुल्य ने भी कविता का बाह्य रूप बदला है। "कामायनी" में शब्दालकारों की अपेक्षा गुण-भाव-सादृश्यमूलक अलकारों की

प्रधानता है। उपमा और रूपक आधुनिक काव्य मे इस तरह पाये जाते हैं, जैसे आधुनिक समाज में मध्यवर्ग के साफ-सुथरे लोग। महादेवी वर्मा में रूपक और समासोक्ति की प्रधानता है। इस अलकार मे "समान कार्य, समान लिंग, एवं समान विशेषण, आदि के द्वारा किसी प्रस्तुत वर्णन मे अप्रस्तुत का ज्ञान होता है"।[1] महादेवी की एक समासोक्ति देखिए —

जन्म से मृदु कज-उर मे नित्य पाकर प्यार-लालन
अनिल से चल पख पर फिर उड गया जब गध-उन्मन
बन गया तब सर अपरिचित
हो गई कलिका विरानी
निठुर वह मेरी कहानी[2]

यह सभी जानते हैं कि ब्याह हो जाने पर भारतीय बाला का सम्बन्ध उसके मायके से छूट जाता है किंतु समासोक्ति ने इसी भाव को और अधिक मार्मिक बना दिया है। 'प्रसाद' की रूपक-माला देखिए —

परिरभ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके
मुख चन्द्र चादनी जल से, मैं उठता था मुंह धो के[3]

इसी प्रकार "निराला" की एक मालोपमा देखिए —

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीपशिखा-सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल ताडव की स्मृति रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन[4]

उदाहरणो की अधिक आवश्यकता नही। छायावादी कविता मे उपर्युक्त दृष्टिकोण से अलकारो का प्रयोग किया गया है और बहुत अधिक किया गया है।

छन्द—

प्राचीन की आधार शिला पर नवीन का निर्माण, परम्परा से प्राप्त तत्वो की नवीन सयोजना से नवीन की सर्जना, बहुत-कुछ पुरानी सम्पत्ति और थोडी-बहुत नवीन उद्भावना से मनोरम-विलक्षण-अभिनव की सृष्टि यदि बीसवीं शताब्दी के

१—नवल जी 'नालन्दा विशाल शब्द सागर'।
२-महादेवी वर्मा "यामा"
३—प्रसाद : "आसू"
४—निराला : "परिमल"

पूर्वार्द्ध के भारत की एकमात्र सास्कृतिक आकाक्षा, ऐतिहासिक प्रवृत्ति एव प्रभाव-शाली प्रेरणा रही है तो यह अत्यन्त सजग और सफल रूप से आधुनिक हिंदी साहित्य के छद-क्षेत्र मे क्रियाशील दिखलाई पडती है। नव-निर्माण की प्रक्रिया इस क्षेत्र मे इस विलक्षण रूप से गतिशील हुई कि लोग चमत्कृत होकर छद और छद-शास्त्र को भूलने से लगे। छदशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता तिरस्कृत होने लगी। सफलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि अभिव्यजना के सफल प्रभाव ने अभिव्यजना के उपकरणो के महत्व को विस्मृत-सा कर दिया। वस्तुत: स्थिति यह थी कि विचारक और कलाकार, दोनों उपकरणों की उपयुक्तता के विषय मे असाधारण रूप से सतर्क रहे और युगानुकूल परिवर्तन प्रेरित एव सक्रिय करते रहे।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस युग मे छद-सबधी धारणाओ और मान्यताओं मे परिवर्तन हो गया। भावो के परिवर्तन के साथ-साथ छदो मे परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। काव्य के उद्देश्य और विषय के बदलने के साथ-साथ छदों का बदल जाना आवश्यक इसलिये हो जाता है कि वस्तुत छद विशेष की भावाभिव्यजन-सम्बन्धी शक्ति एव सामर्थ्य की सीमा निश्चित होती है। एक छन्द या कुछेक छन्द सभी प्रकार के भावो, अनुभूतियो एव भाव-चित्रो की अभिव्यक्ति नही कर सकते। बलात् यदि हम ऐसा करना भी चाहे तो अभिव्यक्ति के सौन्दर्य और प्रभाव मे हानि हो जायगी। उदाहरणार्थ —

> नृत्य करो, नृत्य करो
> शिशिर-समीर
> मत्त, अधीर
> प्रलय कर नृत्य करे
> मृत्यु से न व्यर्थ डरो
> जीर्ण-शीर्ण विश्व-पर्ण
> हे विदीर्ण, हे विवर्ण
> काल-भीत, रक्त-पीत
> अभयकर नृत्य करो
> प्रगति-क्षिप्र चरण धरो।[1]

इस पद की छोटी-छोटी पक्तिया मानो नृत्य के "परन" हैं, छोटे-छोटे शब्द मानो लघु-लघु ताल हैं, और "ण" की ध्वनि की पुनरावृत्ति मानो नूपुर की रणन

१-पन्त की एक कविता ("ज्योति-विहग" ले, शान्तिप्रिय द्विवेदी, से उद्धृत)

है। कुछ छोटे एव कुछ बडे पदो को नृत्य की गति एव चक्कर कहा जा सकता है। विभिन्न वर्ण और शब्द भाव-भगिमा-जैसे लगने हैं। निश्चित है कि यह व्यजना कवित्त या सवैये से नही हो सकती। इन छदो की गति एव उसका प्रवाह नृत्य की गति एव प्रवाह जैसा नही। भावो का निर्झर-प्रवाह दोहो और चौपाइयो मे कैसे अभिव्यजित हो सकता है! नई भाव-छवियां नये छद की माग करने लगी। कवि के सम्मुख एक नया काम आ गया।

नये युग ने छद की परिभाषा ही बदल दी। पहले यह माना जाता था कि "जिस पद-रचना मे मात्रा या वर्ण, यति-गति के नियमो का अनुसरण होता है और अन्त मे अन्त्यानुप्रास होता है वह छन्द है।" [1] नये युग के क्रांतिकारी विचारक महावीर प्रसाद "द्विवेदी जी का विश्वास है कि छन्द कविता के लिये आवश्यक तत्व नही है, बिना छन्द के कविता हो सकती है"[2] यह नया दृष्टिकोण था। इसने छन्दो की परम्परागत, रूढिवादी, मान्यताओ की कारा को तोडने का साहस दिया, प्रेरणा दी। यह इसलिये आवश्यक था क्योकि उस परिभाषा ने कवि और कविता को पराधीन बनाकर उसकी आत्मा के सौदर्य को नष्ट कर दिया था। कारा तोड़ने का अर्थ स्थान-परित्याग ही नही हुआ करता। कारागृह के ही स्थान पर प्रेक्षा गृह बनाया जा सकता है। इसलिये आगे चल कर द्विवेदी जी ने कविता मे छन्द रहे तो अच्छा है क्योकि "छन्द की लय भाव के उपयुक्त एक वायु मडल बना देती है।[3] कारा से मुक्ति और लय की पकड ही नये युग मे छन्दक्रान्ति की विचार-भूमि बनी। द्विवेदी युग के सभी कवियो ने परम्परा से प्राप्त छन्दो में अपनी कविताएँ लिखीं। इतना अवश्य है कि उनमे से किसी ने दोहा-चौपाई-कवित्त-सवैया की चहारदीवारी मे ही अपने को बन्द नहीं कर लिया। पुनरुत्थान का युग था जो प्राचीन सम्पत्ति का विरोधी नही, उसकी गुलामी का विरोधी था। इसीलिये इस युग मे मैथिलीशरण गुप्त, "हरिऔध', गोपालशरण सिंह, 'शकर', आदि ने पिंगल का ध्यान बराबर रखा। आजादी की भावना आई तो छन्दो के वास्तविक महत्व पर विचार किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "छन्द के बन्धन के परित्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखाई पडता है। हा, नये छन्दो के विधान को हम अच्छा समझते हैं।"[4] शुक्ल जी भावानुसार छन्दो के चयन और

१--जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' 'छन्द प्रभाकर'।

२. महावीर प्रसाद द्विवेदी "रसज्ञ रजन"

३. वही, वही,

४ रामचन्द्र शुक्ल, "काव्य मे रहस्यवाद"

प्रयोग को अच्छा मानते हैं। इसी प्रकार लक्ष्मी नारायण "सुधांशु" ने लिखा है, "लय और छन्द के सारे तारतम्य पर विचार कर यदि उनका प्रयोग किया जाय तो उससे काव्य की आयु और शक्ति बढ़ती है।"[१]

इसके पश्चात् छन्द के विषय में क्रान्तिकारी रूप से चिन्तन करने वाले और निष्कर्षों के अनुसार क्रान्तिकारी प्रयोग करने वाले कवियों का युग आता है। ये क्रान्तिद्रष्टा हैं "प्रसाद", "पन्त" और "निराला"। 'प्रसाद' ने कविता का छन्द से आवश्यक सम्बन्ध स्वीकार किया है। जिस "लय" को कविता के लिये अत्यन्त आवश्यक माना गया है उसी को ध्यान में रखते हुए जैसे "प्रसाद" की देवसेना कहती है, विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है ...... प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी पत्ती के हिलने में एक लय है ....।[२] तात्पर्य यह है कि विश्व-व्यापक राग के साथ व्यक्ति का राग-सन्तुलन ही छन्द है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है, "अर्थमयी भाषा और संगीत के मिलने से छन्द की सृष्टि होती है।"[३] अब यह माना जाने लगा कि प्राण, कान और कण्ठ के संस्कार छन्द के लिये आवश्यक हैं। अन्तर के संगीत को ये नवीन कवि अपने मानस में किसी लय विशेष में गुनगुनाते हैं। अन्तर के संगीत और लय का तादात्म्य ही छन्द की निर्माण-भूमि है। दोनों की अनुरूपता ही छन्द की जननी बन जाती है। परम्परा का अनुगमन करने वालों का ढङ्ग यह था कि पहले पिंगल खोलो, फिर भाव के अनुरूप छन्द खोजो, तत्पश्चात् गणों या मात्राओं का नियम जानकर उनके अनुसार रचना करो। छन्द तैयार है। पन्त ने सोचा कि अनुभूति की लय देखी जाय। यदि भाव की माँग हो तो एक पंक्ति बड़ी कर दी जाय और दूसरी छोटी। एक दो मात्रा या एक-दो शब्द कम या अधिक कर देने से यदि भाव-भंगिमा अभिव्यंजित हो सकती हो तो कर दी जाय। छन्दशास्त्र इस विषय में क्या कहता है, इस सोचने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण यह है कि छन्द उसी का नाम है जो भाव वहन कर सके। यदि भावों को प्रेषणीय बनाना है तो उसके अनुरूप छन्द की संयोजना हम तभी कर सकेंगे जब हमें यह ज्ञात हो कि किस तरह के उच्चारण या कैसे कथन से क्या प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक अक्षर, वर्ण, तथा शब्द का अपना-अपना विशेष भाव चित्र या ध्वनि चित्र होता है। यह अनुभूति को व्यक्त अथवा प्रबुद्ध करने में सहायक होता है। इसलिये जहां इस बात को ध्यान में रखकर वर्ण-योजना या शब्द-योजना की जायगी वहां छन्द आप से आप बन जायगा

१. लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" "जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त'
२. 'प्रसाद" "स्कन्दगुप्त" पृ० ४६।
३ हजारीप्रसाद द्विवेदी, "साहित्य का मर्म"।

रचना चाहे गद्य में हो, चाहे पद्य में। तात्पर्य यह है कि अनुभूति को बांधने के लिए छन्द की सृष्टि होती है। छन्दों के सोपान पर ही चरण रखकर अनुभूति अवतरित होती है "कविता, मूर्ति, चित्र, नृत्य, गान-सभी सर्जन के मूल आनन्द के छन्द को अपने-अपने छंदों में पकड़ना चाहते हैं।"[1] यही कारण है कि छन्द को प्रधानता देना पद्य मात्र में उसकी विभुता को नष्ट कर देना है। उसके क्षेत्र को संकुचित कर देना है। वैसे छन्द का कविता में बड़ा ही घनिष्ट संबंध है, "कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कंपन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है ······छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं ·· हमारे साधारण वार्तालाप में भाषा-संगीत को जो यथेष्ठ क्षेत्र नहीं प्राप्त होता उसी की पूर्ति के लिये काव्य में छन्दों का प्रादुर्भाव है।[2] छन्दों के क्षेत्र के महानतम क्रान्तिकारी "निराला" ने भी वृत्तों को अपनाया है, "मैंने पढ़ने और गाने-दोनों के मुक्त रूप निर्मित किये हैं पहला वर्ण वृत्त में है और दूसरा मात्रा वृत्त में"।"[3] "निराला" वृत्तों या छन्दों के शत्रु नहीं। हां इनको छन्दों की गुलामी से चिढ़ है और जब वे कहते हैं, "मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना"[4] तब उनके सामने छंद का व्यापक, सूक्ष्म या वास्तविक रूप न हो छन्दों की मध्ययुगीन दासता का ही रूप था क्योंकि वे मुक्त छन्द की "विषम गति में भी एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य" पाते हैं। वैसे इन सभी कवियों को छन्दशास्त्र का पूरा ज्ञान था। पन्त ने लिखा है कि पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी, प्लवंगम और हरिगीतिका में करुण रस की अभिव्यंजना सफलतापूर्वक हो सकती है। वे उत्साह और वेग के लिये रोला और अरिल्ल, क्लान्ति के लिये रूपमाला माधुर्य और हृदय के लिये राधिका तथा बाल भाव और वात्सल्य के लिये चौपाई को उपयुक्त मानते हैं।[5] शास्त्रीय दृश्य इससे थोड़ी-सी भिन्न है। जगन्नाथ प्रसाद "भानु" मालिनी, द्रुतविलंबित, मन्दाक्रान्ता, और पुष्पिताग्रा को करुण के उपयुक्त मानते हैं।[6] कुछ भी हो, किन्तु इसमें यह तो स्पष्ट ही

---

१. नन्दलाल वसु : 'सम्मेलन पत्रिका' का कला अंक
२ पन्त "पल्लव" का "प्रवेश"
३. निराला : "प्रबन्ध प्रतिमा"
४. वही "परिमल"
५ "पल्लव" "प्रवेश"
६. "छन्द प्रभाकर"

है कि आधुनिक कवि भाव और छन्द की प्रकृति पर बड़ी गम्भीरता पूर्वक विचार कर चुके हैं। पन्त लिखते हैं, 'राधिका छन्द म ऐसा ज्ञात पड़ता है, जैसे इसकी क्रीडा प्रियता अपने ही परदों मे गत बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चचल नूपुर नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अग-भगियो मे उठती-झुकती, कोमल कठस्वरो म गा रही हो। इस छंद मे जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेगी इसके चरणों मे उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा"।[1] इस कथन से स्पष्ट है कि कवि ने छन्दों की सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्रकृति पर कितना गम्भीर चिन्तन, मनन और विचार किया है। नियम और परपरा पर इतना अधिकार कर लेने के बाद ही यह सामर्थ्य मिल पाता है कि कोई उनकी शृखला से मुक्त होकर अपने लिये नया विधान निश्चित कर सके। "लीक छोड़ तीनै चलै सायर सिंह सपूत' के पीछे शक्ति और सामर्थ्य की यही भावना है। यही कारण है कि 'निराला और पन्त न छदो के क्षेत्र मे इतनी स्वच्छन्दता ग्रहण की और फिर भी उनके प्रयोग प्रिय हुए। पन्त की इसी साधना क परिणाम स्वरूप—

खुल गये छन्द के बन्ध, प्रास के रजत पाश
अब गीत मुक्त, औ' युगवाणी बहती अयास[2]

निष्कर्ष यह निकला कि छंदो का विरोध इसलिये किया गया कि (अ) उनके कारण रचना मे अनावश्यक कृत्रिमता आ जाती थी, (आ) बन्ध को तोडना-मरोडना पडता था, (इ) नया युग मुक्ति की माग कर रहा था, (ई) कविता का लक्ष्य बदल गया था, (उ) वर्ण या मात्रा की जगह एकमात्र लय की ओर ध्यान जाने लगा था, और (ऊ) रचना प्रक्रिया मे सरलता की माग थी। फिर भी छन्दो को जिस रूप म स्वीकार किया गया वह इसलिये स्वीकार किया गया कि (अ) छद सबधी धारणाएँ और मान्यताएँ बदल गई थीं, (आ) छन्द की नवीन व्याख्या प्रस्तुत हो गई थी, (इ) स्वाधीनता के साथ प्रयुक्त छन्द अभिव्यक्ति म एक असाधारण सौन्दर्य भर देते थे, (ई) इस सौन्दर्य मे नाद और गति का समावेश होता था, (उ) पद्य प्रियता मानव की सहजात प्रकृति है, और (ऊ) छन्द के रूप में सक्षिप्ततम अभिव्यक्ति हो सकती है जो कला का प्राण है।

आधुनिक युग म छद-सबधी तीन विशेष प्रयोग हुए हैं। पहला, पिंगल शास्त्र द्वारा अनुमोदित छदों मे नवीनता-भावनाओं की अभिव्यक्ति। रामचन्द्र शुक्ल ने कवित्त मे "प्रकृति चित्रण" प्रस्तुत किया। गोपाल शरण सिंह, मैथिली शरण गुप्त, "शकर" 'पूर्ण", रूपनारायण पांडेय, जगदम्बा प्रसाद "द्विवेदी', अनूपशर्मा तथा "हरिऔध"

---

१ "पल्लव' "प्रवेश"

२ पन्त 'युगवाणी"

आदि के नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। "दिनकर' ने कवित्त में युद्ध की समस्याओं की अभिव्यजना की। खडी बोली की प्रकृति वर्ण वृत्तो के अनुकूल नही है। यही कारण है कि "हरिऔध" के "प्रियप्रवास" के संस्कृत वृत्त अधिक न चल सके। ये प्रयोग भी सफल हुए और पुराने छन्द नये-जैसे लगने लगे।

प्रयोग का दूसरा रूप यह था कि मात्रिक छन्दो के अन्दर विभिन्न चरणों मे विभिन्न मात्राएँ रखी गई और चरणो की सख्या भी आवश्यकतानुसार घटा या बढा दी गई। भावो की अभिव्यक्ति को ध्यान मे रख कर पंक्तियां छोटी-बड़ी और मात्राएँ कम या अधिक की जाने लगी। लय का ध्यान विशेष रूप से रखखा जाने लगा। चरणो की सख्या अनिश्चित हो गई। भावो की लय या विचारो की इकाई को ध्यान मे रख कर मति-गति की कल्पना की जाने लगी। अतुकान्त का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ होने लगा। पन्त की रचनाएँ प्रयोग की इस दूसरी अवस्था की विभिन्न प्रवृत्तियो की सफल उदाहरण है।

तीसरा प्रयोग मुक्त छन्द का हुआ। "निराला" इस क्षेत्र के लिए ब्रह्मा विष्णु और शकर की तरह रहे। उन्होंने लिखा, "नियम कोई नही। केवल प्रवाह कवित्त छन्द का-सा ज्ञात पड़ता है"—"मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है।"[1] पन्त ने लिखा" "—"यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप सकुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ, गति बदलता रहता है।"[2] कवित्त छन्द की लय और मुक्त छन्द का पारस्परिक-सबन्ध स्पष्ट करते हुए पुत्तूलाल शुक्ल ने लिखा है कि मुक्त छन्द की लय प्राय कवित्त की होती है और भाव की आवश्यकतानुसार किसी-किसी चरण म वर्णों की सख्या कम या अधिक कर दी जाती है। कही-कही घनाक्षरी पर शुद्ध रूप से आधारित मुक्त छन्द है। इनमे से कोई अन्त्यानुप्रासयुक्त है और कोई अन्त्यानुप्रासमुक्त। कुछ मुक्त छन्द घनाक्षरी के आधार पर लिखे तो गये हैं परन्तु उनके अक्षर मात्रिक रूप धारण कर लेते हैं। इस सम्बन्ध मे व्यापक विवेचन पुत्तूलाल शुक्ल की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द योजना" के पृष्ठ ४०३ से पृष्ठ ४७० के बीच देखा जा सकता है।

निष्कर्ष उपस्थित करते हुए उपर्युक्त विद्वान ने लिखा है, "हिन्दी साहित्य के लिये यह गर्व और गौरव का विषय है कि आधुनिक छन्द-प्रयोग अत्यन्त सम्पन्न एव विविधतापूर्ण है। इस युग मे ही आकर हिन्दी ने अपने को सचमुच वैदिक साहित्य की उत्तराधिकारिणी सिद्ध किया गया है क्योंकि वैदिक युग के बाद और वर्तमान

१. "निराला" : 'परिमल"

२ पन्त : "पल्लव" "प्रवेश"

इस प्रकार काव्यकला-सम्बन्धी क्रान्तिकारी धारणाओं और उनके सफल प्रयोगों ने न केवल काव्य-साहित्य को ही समृद्ध किया है अपितु समस्त हिन्दी साहित्य को सौन्दर्य, लालित्य, रमणीयता एवं कलात्मकता प्रदान की है।

संगीत–कला

संक्षिप्त इतिहास—

महत्व की दृष्टि से ललित कलाओं में काव्य के बाद संगीतकला का ही स्थान माना गया है क्योंकि काव्य-कला के पश्चात् संगीत कला ही सबसे अधिक अमूर्त या सूक्ष्म रूप वाली है और इसलिये अपने अस्तित्व के लिये मूर्त एवं भौतिक वस्तुओं पर अन्य कलाओं की अपेक्षा कम आधारित है जिसके कारण इसमें स्थायित्व और व्यापकता औरों की अपेक्षा अधिक है। भारतवर्ष में संगीत की परम्परा बहुत ही पुरानी और अत्यन्त गौरवमयी रही है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसके आदि की खोज एक ऐसी समस्या है जिसका हल कर सकना संभव नहीं प्रतीत होता। "ऐसा माना जाता है कि संगीत कला के आविष्कार शंकर महादेव हैं........"।[१] इन्हीं शंकर जी को राग रागिनियों का भी पिता माना जाता है। वीणा-वादन के अद्वितीय आश्चर्य महामुनि नारद ने मनुष्य जाति को संगीत की शिक्षा दी। आचार्य भरत ने संगीत कला पहले-पहल अप्सराओं को सिखाई थी। प्राचीन भारत की गंधर्व जाति का प्रत्येक व्यक्ति संगीत कला में निपुण होता था। किन्नर जाति के लोग वादन कला में और अप्सराएँ नृत्य-कला में निष्णात् होती थीं। इस प्रकार भारतीय संगीत कला का इतिहास प्राक् वैदिक युग से प्रारंभ होता है। सामवेद का आधार ही संगीत है। उपनिषदों और पुराणों तथा रामायण और महाभारत के अध्ययन से भी उनके कालों की संगीत-प्रियता पर प्रकाश पड़ता है। संगीतप्रिय भरत ने अपने आराध्य देवों को भी संगीत का अनुरागी एवं संगीतज्ञ बना रक्खा है। हमारे शंकर भगवान के हाथ में यदि त्रिशूल है तो दूसरे में डमरू भी है। शंकर का ताण्डव सृष्टि का प्रथम नृत्य है। लास्य का संबंध जगन्माता पार्वती से है। भगवती सरस्वती का तो पर्यायवाची ही वीणापाणि है। हमारे भगवान कृष्ण के हाथ की शोभा मुरली ही तो है। उनकी मुरली से यदि सृष्टि का कण-कण क्वणित-रणित हो उठता था तो उनके अन्दर नृत्य की इतनी कुशलता भी थी कि वे कालिय नाग के फण पर नृत्य करके उसे अपने वश में कर लें। इन्द्र के दरबार में संगीत-नृत्य, आदि का वातावरण सबको अनुरंजित-मोहित करता रहता था। आचार्य भरत ने अपने "नाट्यशास्त्र" के २८ वें २९ वें और ३० वें

१. "इण्डियन इनहेरिटेन्स", भाग २, पृ. ३।

अध्यायों मे संगीत की समुचित चर्चा की है। राजाओ मे उदयन का वीणावादन विलक्षण रूप से पशु-पक्षी-मानव एवं देवी-देवताओं तक को मुग्ध कर लेने का सामर्थ्य रखता था। दिग्विजयी सम्राट समुद्रगुप्त पराक्रमांक वीणा-वादन मे इतने कुशल थे कि वे उसके बल से अपराधी को विमोहित करके उससे सत्य भाषण तक करवा सकते थे।[1] दत्तिल, मतंग और नारद के ग्रंथ हिन्दू युग की संगीत कला की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हैं। बारहवी शताब्दी तक हमारे यहा विभिन्न राग-रागिनियां प्रचलित हो चुकी थी उस युग के सुप्रसिद्ध साहित्यकार जयदेव का *"गीतगोविन्द" साहित्य-संगीत का आश्चर्यजनक समन्वय उपस्थित करता है।* इसमें लिखे गये पदों को निर्देशित राग रागिनियों मे गान का विधान स्वयं गीतकार ने ही किया है। तेरहवी शताब्दी मे शार्ङ्गदेव एवं उनकी पुस्तक "संगीत रत्नाकर का नाम आदर का विषय रहा है। चौदहवी शताब्दी मे उत्तर और दक्षिण भारत में संगीत-कुशल कलाकार अपनी प्रतिभा से सबको चकित करते रहे। अमीर खुसरो का नाम संगीत कला से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। दक्षिण का गोपाल नायक भी अपनी कला में असाधारण था। भक्तजनों के हाथों का भूषण है "करताल"। कबीर, सूर, तुलसी, मीरा तथा अष्टछाप के कवियों के पद संगीत का सहारा पाकर ही मनोवांछित प्रभाव डालने में समर्थ हो सकते हैं। भक्त का संगीत असाधारण होता है क्योंकि भक्ति स्वयं एक राग है। "स्व० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का कथन है कि मैंने अनेक भाषाओं के रागों की परीक्षा की पर मुझे रागों की सब आवश्यकताओं के अनुकूल केवल सूरदास के पद मिले।"[2] तुलसीदास की रचनाओं की संगीत-क्षमता का अनुमान इस घटना से भलीभांति किया जा सकता है, "मैंने उनका पाठ एक बार सुना। प्रसंग था उत्तर कांड आरंभ। वैसे तो उन्होंने इसी प्रसंग का पहिला दोहा "रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग, जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तनु राम वियोग" व्याख्यान के समय भिन्न भिन्न रागों पर आधा घण्टे तक गाया था।"[3] मानसिंह तोमर ने सयानक संघर्षों से भरे युग में भी अपनी गूजरी रानी मृगनयनी की सहायता से संगीत कला को विशेष समृद्ध किया। गूजरी टोडी मंगल गूजरी, आदि राग इसी युग मे आविष्कृत हुए वर्तमान ध्रुपद शैली के जन्मदाता ये ही मानसिंह थे। वृन्दावन के प्रख्यात भक्त संगीताचार्य स्वामी हरिदास, बैजू बावरा, और अकबरी दरबार के अमर गायक तानसेन इसी

१. रामकुमार वर्मा के समुद्रगुप्त पराक्रमांक-संबंधी एकांकी नाटक के आधार पर।

२. "कला साहित्य-शास्त्र", पृ १५४।

३ वही, पृ १६५।

युग की विभूतियां हैं। जहांगीर के काल में पंडित सामनाथ कृत राग विबोध" और दामोदर मिश्र द्वारा लिखी गई "सगीत दर्पण" नामक पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके बाद सगीत-कला से मौलिकता प्राय निकल गई। शाहनहां का युग कलाओं की मौलिकता का युग नहीं था और औरगजेब तो इन्हें इतन गहरे गड्वा देने का इच्छुक था कि फिर ये उभर और उबर ही न सके। तत्पश्चात् दीर्घ के अभाव और वासनाप्रधान उत्तेजनाओं की पूर्ति का युग आया। दरबारों में "रंगीले-शाहों को रिझाने के लिए सारंगिया, सितार, तबल, आदि खूब गमके, कोकिल-कंठ खूब आलापे और नूपुरों की ध्वनियों ने खूब नर्त्तन किया किन्तु उनमें मौलिकता एवं नवीनता का कोई आकर्षण नहीं रह गया। सगीत ने दरबारी ठाठ स्वीकार कर लिया, वाद्य आश्रयदाताओं के मानस विलास की गत पर बज, नृत्य धन और अधिकार के परत में चक्कर खान लगा। गति अधोमुखी हो गई। आकर्षण गान में नहीं, गान वालों मे समा कर उभरा। सगीत एक पेशा हो गया, सगीतज्ञाएं अपना पृत-व्यक्तित्व छोड़ कर पमों के मालिक का हर तरह से मनोरंजन करने का 'पेशा' करने लगीं। बावरे भक्तों का युग गया। अब समझदार भक्त जन मूर्तियों के सामने नाचने, गाने और बजाने के साथ-साथ मूर्तियों के पीछे भी नाचने और बजाने लगे। दरबार यहां भी था, मगर भगवान के नाम पर उनकी मूर्तियों का था। यहां भक्तराज (भक्त और राज) की सम्मिलित परम्परा चली। सामान्य जन समूह सरल लय का सहारा लेकर भजन, प्रार्थना, और लोकगीतों के जीवन-रस में मस्त हो गया। सत जोगी चिकारा या एकतारा टुन टुनाने लगे। गंगापुत्रियों के करतालों की धुनि गृहस्थों के द्वार पर "हरगंगा' लहराने लगी। जोगी बाबा एक तार रेत-रेत कर भरथरी की गाथा गाने लगे। सगीत भीख मांगने का सहायक तत्व हो गया। शास्त्रीय सगीत 'घरानों' में बंध गया। वेश्याओं ने शास्त्रीयता का सामान्य ज्ञान 'उस्तादों' से सीखना बिल्कुल बन्द नहीं किया। तभी .. . तभी यूरोपीय संस्कृति की आंधी आ गई जिसकी प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप भारत भर में सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना फैली। इस पुनरुद्धार के एक अंग के रूप में सगीत का भी पुनरुद्धार का प्रयत्न हुआ। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने अपने गीतों के लिए एक नये ढंग का सगीत आविष्कृत किया जिसमें लय की ही प्रधानता है। इसे 'रवीन्द्र सगीत' कहते हैं। १९१८ ई० में "अखिल भारतीय सगीत परिषद्" की स्थापना हुई। बंगाल और महाराष्ट्र सगीत के पुनरुद्धार के विशेष क्षेत्र रहे। देश भर में अनेक सगीत विद्यालय खुले। इस पुनरुद्धार कार्य में विष्णु नारायण भातखंडे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त विष्णु दिगम्बर पलुस्कर नारायण राव व्यास, विनायक नारायण पटवर्धन, ओंकारनाथ ठाकुर, अलाउद्दीन

विशेष की आवश्यकता पडती है, स्वर इस बन्धन से मुक्त है और इसलिए सार्वभौम है। यही कारण है कि भारतीय सगीत की अपील सार्वकालिक और सार्वभौम मानी गई है। भारतीय सगीतकार इसीलिये रागो को स्वरो से बाधता है इसका परिणाम यह हुआ है कि सगीत-कला का न आदि है, न अन्त। भारतीय मनीषा ने नाद का महत्व इतना अधिक कल्पित किया है कि नाद के आधीन सारे जगत को माना है (नादाधीन मत जगत)। सुन्दरतम नाद-विधान ही सगीत है। नाद वर्णों का अव्यक्त मूल रूप है। आत्मा से प्रेरित-अग्नि के द्वारा प्रेरित-प्राण ऊपर चढ कर नाभि मे अति सूक्ष्म, गल देश मे पुष्ट, शीर्ष मे अपुष्ट तथा मुख मे कृत्रिम नाद उत्पन्न करता है। नाद तीन प्रकार के हैं — प्राणि भव, अप्राणि-भव, उभयसभव। इनके उदाहरण क्रमश मुख की ध्वनि, वीणा की ध्वनि, और बासुरी की ध्वनि है। नाद से ही स्वर गीत, राग, आदि सम्भव हुए हैं। नाद ब्रह्म रूप है सारा जगत नादात्मक है। नाद दो प्रकार का होता है, आहत और अनाहत। हम लोग आहत नाद ही सुन पाते हैं। अनाहत नाद केवल योगियों के लिये है। नाद से ही सभव लय भारतीय सगीत का मूलाधार है। देशी सगीत या लोक गीत को छोड कर शेष समस्त भारतीय सगीत मार्गशास्त्रीय है! मार्ग नाद के विज्ञान को कहते है। इस विज्ञान के अनुसार स्वर और उच्चारण की विशुद्धता पर विशेष बल दिया जाता है। स्वरो के विशेष प्रकार, क्रम तथा निश्चित योजना मे बना हुआ गीत का ढाचा ही राग है। भरत के अनुसार मूल राग ६ हैं -भैरव, कौशिक, हिंडोल, मेघ, दीपक, सुराग। कुछ आचार्य कौशिक के स्थान पर श्री और सुराग के स्थान पर मालकोश को मानते हैं। प्रत्येक राग की पाच पाच या छ छ रागिनिया मानी गई हैं। इन राग-रागनियो के अनेक पुत्र और उसी हिसाब से पुत्र-बधुएँ मानी गई हैं। दिन और रात आठ भागो मे बँटे हुए हैं। प्रत्येक भाग मे गाने के उपयुक्त राग रागिनिया नियत कर दी गई हैं। भारत मे सगीत के सात अङ्ग मान गये हैं -राग, स्वर ताल, वाद्य, नृत्य भाव और अर्थ। स्वर सात माने गये हैं —षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, पचम धैवत और निषाद। प्रत्येक स्वर की ध्वनि किसी पशु या पक्षी की ध्वनि, के समान कल्पित की गई है, और इस प्रकार ये स्वर क्रमश मयूर, पपीहा, बकरा सारस कोकिल, अश्व और गज के स्वरों के समान माने गय गये हैं भारतीय सगीत स्वर-मैत्री पर विशेष बल देता है। वह भाव या विचार की अभिव्यक्ति मात्र से अनुरागित नहीं होता। सङ्गीतज्ञ तो भाव चित्र या भाव दशा या मनोस्थिति विशेष अभिव्यजित करता है। उदाहरण के लिए यदि "कन्हैया" का उच्चारण आर्त्तता लाकर काफी जोर से (पचम या उससे भी आगे वाले स्वर के अनुसार) करें तो यह व्यजित होगा कि "कन्हैया" कहीं दूर है और भक्त मिलने को व्याकुल है, अनुरोधपूर्ण स्वर के साथ धीरे से करें तो यह व्यजित होगा कि "कन्हैया" कहीं निकट ही है। भारत के प्राचीन विचारकों

ने राग, स्वर लय, ताल, सभी कुछ प्राय निश्चित कर दिये हैं। गमक (एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाने का प्रकार) श्रुति (सप्तक के बाइस भागो में से एक), और मूर्च्छना (सातों स्वरो के आरोह अवरोह का क्रम) भारतीय संगीत में अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय संगीत मे तान स्वरो का समूह 'ग्राम' कहलाता है। नृत्य और संगीत-दोनो म उसकी क्रिया और काल का परिमाण, जिसकी सूचना किसी भी वस्तु पर हाथ मार मार कर दी जाती है 'ताल' है। 'मींड' वह कला है जिसके द्वारा गायन म एक स्वर से दूसरे स्वर पर जाते समय बीच का अश इतनी सुन्दरता से गाय कहा जाता है। कि दोनो के मध्य का सम्बन्ध टूटने नहीं पाता और यह नहीं जान पडता कि गाने वाला एक स्वर से कूद कर दूसरे स्वर पर चला गया है। 'सम' उसे कहते हैं जहा विभिन्न 'परनो' म घूम फिर कर राग विश्राम ग्रहण करता है और गायक का सिर स्पष्ट रूप से हिल उठता है। भिन्न भिन्न बोलों या खण्डों का अश 'परन' कहलाता है। वह जिसमे अन्त की मात्रा खाली छूट जाती है 'खाली' कहलाता है। 'भरी' म मात्रा सम पर ही पूरी होती है। इसी प्रकार भारतीय सङ्गीत शास्त्र मे असख्य उल्लेखनीय बातें हैं परन्तु उन्हें लिखने के लिये यहा उपयुक्त अवसर नहीं है।

'संगीत दर्पण' म कहा गया है 'गीत वाद्य नर्तनं च त्रय सगीतमुच्यते"। संगीत रत्नाकर ने भी लगभग इसी शब्दावली म कहा है, 'गीत वाद्य तथा नृत्य त्रय सगीतमुच्यते'। इस दृष्टि से देखने पर नृत्य कला भी इसी के अन्दर आती है। इन सब का एक दूसरे से इतना अधिक घनिष्ट सबध है कि एक का निष्णात दूसरे का मर्म बहुत अच्छी तरह जान सकता है। आवश्यकता विशेष को छोड कर इन सबका शास्त्र या मूलभूत सिद्धान्त सामान्यत एक ही है। जैसे सगीत म मात्राएँ होती हैं वैसे ही नृत्य म भी, दोनो म ताल विद्यमान हैं। अन्तर इतना है कि एक म उसके अनुसार कठ सक्रिय होता है दूसरे म हाथ, और तीसरे म पैर। एक से कठ ध्वनि निकलती है, दूसरे से वाद्य-यत्र ध्वनि और तीसरे से नूपुर ध्वनि। नृत्य मे मुद्राओ का स्थान विशेषरूप स महत्वपूर्ण माना गया है। भारत मे नृत्य धार्मिक अभिव्यक्ति के लिए अधिक माना हुए हैं। कमर आख, बदन या नितम्ब मटका कर उछलना-कूदना नाच भर ही हो नृत्य नहीं है। गायन की ही तरह नर्तन और वादन की भी शोचनीय दुर्दशा औरङ्गजेब के बाद के युगों म हो चली थी और उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दियों के सास्कृतिक पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि म इनके भी दिन फिरे।

साहित्य और सङ्गीत

साहित्य और सङ्गीत का बडा सम्बन्ध है। दोनो एक दूसरे से कई प्रकार से

सम्बन्धित हैं। अनुभूति से प्रेरित भावों की अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषणीयता दोनों का लक्ष्य है। साहित्य और सङ्गीत दोनों कलाकार के अन्तःकरण के प्रतिबिम्ब हैं। यदि सङ्गीत से जङ्गली पशु तक प्रभावित होते देखे गये हैं तो अकबर के दरबार के कवि की वाणी राणा प्रताप में वह ओज भर सकती है कि उनको पुनः आत्मरूप की उपलब्धि हो जाय। भारतीय युद्ध क्षेत्र में शङ्खध्वनि, मारूबाजों का सङ्गीत और चारणों की कविताएँ सैनिकों को बराबर उत्तेजित करती रहती थीं। नृत्य का सम्बन्ध भी भावाभिव्यक्ति से है। सङ्गीत साहित्य को नाद-सौन्दर्य देता है और साहित्य सङ्गीत को अर्थगर्भित करके वाणी का रूप प्रदान करता है। साहित्य में नृत्य और सङ्गीत का शब्दचित्र भी मिलता है और उसका आन्तरिक रूप भी। भारतीय सङ्गीत के पिता शंकर माने गये हैं और नवीन राग की सृष्टि के लिए बैजू बावरा कहता है, "भगवान शंकर की दया से मैं करूँगा"।[1] इसी पुस्तक के ४२ वें प्रसङ्ग में बैजू बावरा के अद्भुत गायन और उसके प्रभाव का शब्दचित्र उपस्थित किया गया है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी गायन और वादन एवं उनके प्रभाव के सुन्दर शब्दचित्र "बाण भट्ट की आत्मकथा" में प्रस्तुत किये हैं।[2] १६६४ ई० में प्रकाशित अपने दूसरे उपन्यास "चारुचन्द्र लेख" में नाटी के नृत्य और गायन के जितने सुन्दर शब्दचित्र मिलते हैं उतने सुन्दर अन्यत्र दुर्लभ हैं। "पन्त" की "युगवाणी" में "नृत्य करो, नृत्य करो", "झंझा में नीम", और "ग्राम्या" में "ग्रामयुवती" तथा धोबियों, चमारों और कहारों के नृत्य-सम्बन्धी कविताएँ सुन्दर और सजीव नृत्य-चित्र उपस्थित करती हैं। रामकुमार वर्मा द्वारा व्यंजित नृत्य-चित्र देखिये —

"चन्द्र गिरता, सूर्य उठता, नृत्य-मुद्राएँ करों की
विनय मैंने की, कि सिखला दो मुझे ध्वनि अवसरों की
सुख विहँसता किंकिणी में
दुख सिसकता नूपुरों में
दृष्टि में है सृष्टि गति में नियति है मन्वन्तरों की

सङ्गीत और नृत्य की शब्दावली से सुअलंकृत आपका प्रकार है —

"कविता के नूपुर तुम्हारे "पद" में सजे,
"ध्वनि" सुन-सुनके दिशाएँ धन्य हो गई...

१. वृन्दावनलाल वर्मा . "मृगनयनी", पृ० ३२७।
२. "बाण भट्ट की आत्मकथा, पृ० १८७ और १८८,
३. "आकाश गंगा", पृ० १८

'रसमयी 'ध्वनि' कंठ में थी "समलङ्कृता"
काव्य-परिभाषा धन्य होके अन्य हो गई।
सासों का "प्रवाह" था, हृदय मंजु "ताल" था,
प्रेम-मूर्च्छा "मूर्च्छना" थी, "मीड" कष्ट-काल था,
वेदना के "ताल"-"स्वर' गूंजते अभङ्ग थे
बन के त्रिभंग रूप, नाचा नन्दलाल था।[१]

काव्यशास्त्र और सङ्गीतशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावलियों ने उपर्युक्त छन्दों को मोहक लालित्य प्रदान कर रक्खा है। "यशोधरा" का निम्नलिखित पद्य सङ्गीत-शास्त्र की शास्त्रीय पदावली का अर्थ जाने बिना ठीक से नहीं समझा जा सकता और न उसके चमत्कार का अनुभव किया जा सकता है —

"मैंने उसके अर्थ यह रूपक रचा विशाल
किन्तु भरी खाली गई, उलट गया वह थाल

"यशोधरा" का निम्नलिखित गीत भी ऐसा ही है—

रुदन का हँसना ही तो गान
गा गा कर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान
मीड़ मसक है, कसक हमारी, और गमक है हूक
चातक की हत-हृदय-हूति जो सो कोइल की कूक
राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान

जो "विहाग" का अर्थ और उसके गाये जाने का समय नहीं जानता वह निम्नलिखित पद का अर्थ और उसका सौन्दर्य कैसे समझ सकेगा—

तू अब भी सोई है आली आंखों में भरे विहाग री।[२]

नाट्य-गीत तथा सङ्गीत

काव्य-साहित्य पर सङ्गीत का महत्वपूर्ण प्रभाव नाट्य गीतों की रचना के रूप में पड़ा है। बुद्धिवादी बनने वाले कुछ नाटक कारों को छोड़ कर शेष सभी-एकाकी,नाटककार तक अपने नाटकों में गीतों का समावेश करते हैं। सामान्य गीत-काव्य-कला इनमें भी मिलती है। इनमें संगीतात्मकता होती है। कलाकार के मानस में जो सुन्दर छवि, जो भंगिमा अङ्कित है, वही इन गीतों में भी चित्रित या ध्वनित की जाती है। कवि के अन्तर का राग ही यहां भी मूर्त रूप पाता है। उसकी व्यक्ति गत अनुभूतियां ही यहां भी अभिव्यक्त होती हैं और रस-सिक्त करने में समर्थ होती

१. आकाश गंगा, पृ० ६०।
२ "प्रसाद" "बीती विभावरी जाग री" का एक चरण

हैं। महादेवी वर्मा ने कहा है, "संगीत के पंखों पर चलने वाले हृदयवाद की छाया में गीत विविध रूपों हो उठे। स्वानुभूत सुख-दुःखों के भाव-गीत, लौकिक मिलन-विरह, आशा-निराशा पर आश्रित जीवन गीत, सौन्दर्य को सजीवता देने वाले चित्र-गीत सबकी उपस्थिति" इन गीतों में होती है[१]। संगीत की लय, नीरद, स्वर, आदि यहां मिलते हैं। "प्रसाद" के नाटकों के गीत इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। "प्रसाद" के "चन्द्रगुप्त" नाटक के गीतों की संगीत-स्वरलिपि संगीताचार्य लक्ष्मणदास ने उपस्थित करके उनकी संगीतोपयुक्तता सिद्ध कर दी है। "तुम कनक किरण के अन्तराल में लुक छिप कर चलते हो क्यों" वाले गीत की स्वरलिपि खम्माच तीन ताल में है। आधुनिक युग के कवियों के अनेक गीत संगीताचार्यों द्वारा आकाश-वाणी से प्रसारित किये जाते हैं। इनमें महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, "प्रसाद", "बच्चन", आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संगीत मार्तण्ड ओंकारनाथ ठाकुर ने ५ जुलाई, १६६१ ई० को १०॥बजे दिन में महादेवी वर्मा के सुप्रसिद्ध गीत "मैं नीर भरी दुख की बदली" का एक पद प्रधान-गीत के टुकड़े के रूप में १०-१५ मिनटों तक मंगल गूजरी में विलंबित ख्याल में गाया था। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी के अनेक गीत संगीत की दृष्टि से सूर-तुलसी की ही पद-परम्परा में हैं। युग के अनुकूल हो जाने वाला अन्तर अवश्य है।

छन्द-चयन और संगीत—

छन्द और संगीत का भी संबंध बहुत ही घनिष्ट है। बात यह है कि छन्दों में भी मात्रा की गणना होती है और संगीत में भी। संगीत की लय, मात्रा और ताल का विधान छन्दों में भी पाया जाता है। मात्रिक छन्दों में मात्राओं की गणना होती है और वर्णिक छंदों में लघु-गुरु की गणना। ये दोनों ही छन्दों को वह शक्ति या सामर्थ्य देते हैं जिससे उन्हें संगीतात्मक लय-प्रवाह प्राप्त हो जाता है। मुक्त छन्द में भी संगीत की लय होती है। पन्त ने लिखा है कि जो स्थान "ताल" में सम का है वही छन्द में तुक का।[१] इस दृष्टि से तुकान्त छन्द और अधिक संगीतात्मक हो जाते हैं। वस्तुतः छन्दात्मक निबंधना का आधार संगीतशास्त्र ही है। हिन्दी का मात्रिक क्रम इस प्रकार है कि वह संगीत के विभिन्न तालों और रागों में बैठ जाता है। पुत्तूलाल शुक्ल ने लिखा है, "यहां पर यह स्पष्ट करना अभीष्ट है कि छन्द की और संगीत की ताल का सीधा सबंध है......छन्द शास्त्र और ताल का गणित भाग एक-सा ही है"[२]। अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि के लिये उन्होंने राधिका छन्द

---

१. "पल्लव" का "प्रवेश"

२. आधुनिक हिंदीकाव्य में छन्द-योजना" पृ. ४६१

का भैरव ताल से, चौपाई छन्द का गजझंपा ताल से सबंध तालिलिपि देकर स्पष्ट किया है।[१] "फल फूलो से हैं लदी डालियां मेरी"[२] राधिका छंद में है और 'हम मारुत के मधुर झकोर'[३] चौपाई में। तात्पर्य यह है कि पहला भैरव ताल में गाया जा सकता है और दूसरा गजझंपा में। इसी प्रकार पुत्तूलाल शुक्ल ने "आसुओं के देश में"[४] "सृष्टि के आरंभ में मैंने उषा के गाल चूमे"[५], आदि अनेक आधुनिक कवियों के गीतों को संगीत की स्वरलिपि प्रदान की है।

संगीत की आत्मा या आंतरिक संगीत—

संगीत को जिसने सर्व का साहित्य के ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है उसे पूर्णतः हृदयंगम करने के पूर्व इसी स्थान पर हम संगीत की आत्मा की कुछ और गहराई में जाना पड़ेगा। सृष्टि के पूर्व की प्रकृति की साम्यावस्था जब पुरुष की इच्छा के कारण क्षुब्ध होती है तब उसमें एक गति उत्पन्न होती है। सृष्टि के मूल में यह गति बराबर रहती है। सर्जना के क्षणों में इसकी अनुभूति की जा सकती है। प्रकृति के अणु अणु और परमाणु परमाणु में यह गति, यह स्पन्दन, यह लय अब भी वर्तमान है। यही शक्ति देता है। यही जीवन देती है। यही चेतना देती है। यही इन सबको आदि श्वास है। यही अचेतन का स्फोट है। यही नाद है। यह आहत भी है, और अनाहत भी। यही नाद या स्वर या लय जो बाह्य प्रकृति के अणु पर माणु में निहित है—व्यक्ति के अंतर में भी है। यह नाद अपने मूल स्वरूप में सर्जना का स्रोत होने के कारण अनिर्वचनीय आनन्द रूप है। अपनी सीमाओं एवं अक्षमताओं के कारण हम उसके अखंड आनन्द में भले ही वंचित रहते हैं—उसे विस्मृत किये रहते हैं—किन्तु तन्मयता अवस्था में—अचेतन में सूक्ष्म या अव्यक्त रूप में उसका स्वाद मौजूद तो रहता ही है। यह व्यक्ति के अन्तर की लय, बाह्य प्रकृति की लय से मौलिक रूप से भिन्न नहीं। लय के मूल रूप की अनुभूति कराने में दोनों एक दूसरे की सहायक हैं। समस्त कलाएं इसी लय की, इसी गति की, बाह्य और अन्तर की, इसी एकरूपता की अनुभूति कराने के लिये हैं। संगीत और काव्य के विभिन्न बाह्य उपकरण व्यक्त नाद, व्यक्त लय, व्यक्त स्वर को अव्यक्त से संगति बिठाने के लिये हैं। समस्त बाह्य विधान इसी लय को अनुष्ठान साधन के लिये हैं क्योंकि

१ आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ० ५००।

२ मैथिली शरण गुप्त "साकेत"

३ पन्त "पल्लविनी", १।

४ महादेवी वर्मा, "दीपशिखा"

५ "बच्चन" "सोपान"।

वस्तुतः व्यक्त नाद, व्यक्त स्वर, व्यक्त ध्वनि उसी अव्यक्त की बाहरी झलक मात्र हैं। तात्पर्य यह कि अनुभूतियों के अन्तर की लय के-अनुरूप अनुभूति उत्पन्न कर सकने की-रूप निर्मित कर सकने की- लय की सन्तुलनपूर्ण विस्तार-सबंधी, स्वरों की आरोह-अवरोह-सम्बंधी कला का नाम ही संगीत है। अनुभूति या आंतरिक लय के अनुरूप अनुभूति उत्पन्न करने की शब्द-अर्थ संबंधी कला काव्यकला है। काव्य-कला के विभिन्न उपकरण इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये हैं। साहित्य का माध्यम है अक्षर या वर्ण। अक्षरों की एक अपनी अपनी ध्वनि होती है। शब्दों का एक अपना-अपना भावचित्र होता है। इन्हीं अक्षरों से निर्मित शब्दों से साहित्य की रचना होती है। अक्षरों के अन्तर मे स्वर निहित है। और, इन्हीं स्वरों से संगीत बनता है। काव्य शब्दों और अर्थों का सहारा लेकर चलता है। संगीत स्वर का मुखापेक्षी तो है किन्तु शब्द और अर्थ की उसे कोई चिन्ता नहीं होती।
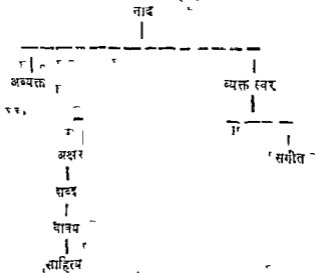
अब यदि अक्षरों की ध्वनि-योजना संगीत के स्वरों की ध्वनि-योजना के अनुरूप हो जाय तब यह माना जायगा कि इन अक्षरों से निर्मित शब्दों वाली पदावली संगीतमयी है। अस्तु, आंतरिक संगीत है व्यक्त स्वर-ध्वनि की अन्तर्ध्वनि से अनुरूपता संगीत के शेषतत्व बाहरी तत्व हुए। काव्य मे संगीत की यही आत्मा मिलती है। काव्य मे जब संगीतात्मकता आती है तो उसमें अक्षरों की ऐसी-योजना होती है कि उनसे उत्पन्न ध्वनि-समष्टि वही अनुभूति पैदा करे जो संगीत की स्वर-योजना से उत्पन्न हो सकती है।

इस प्रकार काव्य के अन्दर ध्वनि और नाद के प्रयोग मे संगीत की आत्मा मिलती है। काव्यशास्त्र की शब्दावली मे इसे "वृत्ति" कहते हैं। इसके ध्यान रखने

से ओज, माधुर्य अथवा प्रसाद गुण-व्यंजक रीति की सृष्टि होती है। गीतकाव्य में यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। "निराला" के "बादल राग", "राम की शक्ति पूजा", "सन्ध्या सुन्दरी", "तुम और मैं", आदि कविताओ मे इसका बराबर ध्यान रक्खा गया है जिसने उनके काव्य मे सगीत का सूक्ष्म तत्व भर दिया है।[1]

"झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर!
झर झर झर निर्झर गिरि-सर मे,
घर मरु तरु-मर्मर, सागर मे
सरित तड़ित गति चकित पवन मे"

इसी प्रकार 'निराला" के 'सखि बसन्त आया" गीत में बसन्त सगीत के रूप के कारण ध्वनित होता है। पन्त की शत-सहस्र कविताओं मे अनुभूतियां वर्णों की ध्वनि-अनुरूपता से ही ध्वनित होती हैं—

"अहे! वासुकि सहस्र फन!
लक्ष-अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर
छोड रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर!

"प्रसाद" ने तो सगीत के इस सूक्ष्म स्वरूप की अनुभूति ही कर ली है। उनकी सगीत प्रिय देवसेना[2] मानो उसी अनुभूति की साक्षात् प्रतिमूर्ति है —

"रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव सगीत की सृष्टि होती है। ध्वसमयी महामाया प्रकृति का वह निरतर सगीत है"[3]......"सर्वदिशा के स्वर में, आत्म समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर सगीत है"[4]....—। "प्रसाद" जी के गीतो और कविताओ को ध्वनि-समष्टि अनुभूतियों की अनुरूपता लिए हुए होती है। सभी सफल कवियो में और साहित्य की सभी विधाओं में आतरिक सगीत विद्यमान है।

वस्तुस्थिति के चित्रण मे भी इस तत्व का बराबर ध्यान रक्खा गया है।

---

१. "निराला" "परिमल"।

२. "स्कन्दगुप्त" नाटक की एक पात्री।

३. वही, पृ० ४२.

४ वही, पृ० ६६

वस्तु-चित्रण में भाव, मनोदशाएँ, बाह्य परिस्थितियाँ, बाह्य दृश्य एवं भौतिक वस्तुएँ, आदि सभी आती हैं। "प्रसाद" ने शरीर और उसके गुण का एक ध्वनि चित्र यों दिया है —

अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार[1]

सबल व्यक्ति की बाहें कहीं-कहीं पत्थर-सी कड़ी होती हैं। उनमें कहीं-कहीं कोमलता भी होती है। "अ", "द", "य" 'व", "मां" की ध्वनियां कोमलता और "ट्ट", "ढ", आदि कठोरता की अभिव्यक्ति करती हैं। "स्फीत" शब्द में पाई जाने वाली ध्वनि फूली-फूली, उभरी-उभरी नसों को व्यंजित करती है। इसके विपरीत, "मुस्कान" शब्द का प्रयोग करके कोमल-मधुर-मर्मस्पर्शिनी छवि कोमल-मधुर वर्णों द्वारा इस प्रकार व्यंजित की गई है.—

और उस मुख पर वह मुस्कान !
रक्त-किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम[2]

सुन्दरी, सती-साध्वी, तेज-प्रदीप्त किन्तु असहाय पत्नी का स्पर्श पाकर एक कायर, क्लीव, विलासी राजा किस प्रकार घबड़ा उठता है —

"ओह ! तुम्हारा यह घातक स्पर्श बहुत ही उत्तेजनापूर्ण है ! मैं,—नहीं ! तुम, मेरी रानी ? नहीं, नहीं ! जाओ, तुमको जाना पड़ेगा ! तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो ?[3]

उपर्युक्त उद्धरण में विलासी राजा की कामुकता, कायर की कायरता, नपुंसक की नपुंसकता, एवं निर्वीर्यता, राजपद का दम्भ, और दुर्बल हृदय तथा कमजोर इच्छा-शक्ति वाले की युक्तियुक्तता की प्रवचना, आदि सभी व्यंजित हैं। ध्यान रहे कि निर्वीर्य राजा के द्वारा कहे गये इतने शब्दों में तेज-ओज व्यंजक ध्वनि वाला एक शब्द भी नहीं है। युद्ध के अनुरूप पदावली का संगीत देखिए —

हर एकलिंग, हर एकलिंग, बोला हर हर अम्बर अनन्त
हिल गया अचल, भर गया तुरत हर हर निनाद से दिग्दिगंत
घनघोर घटा के बीच चमक, तड़-तड़, नभ पर तड़िता तड़की

१. "प्रसाद" · "कामायनी"
२. "ध्रुवस्वामिनी", पृ० २६।
३ "ध्रुवस्वामिनी", पृ० २६

झन-झन असि की झनकार इधर कायर दल की छाती धड़की
गज गिरा, मरा पिलवान गिरा, हय कट कर गिरा, निशान गिरा
कोई लड़ता उत्तान गिरा, कोई लड़ कर बलवान गिरा[1]

वात्सल्य भाव से तरल-गद्गद् नारी की मनोस्थिति व्यक्त करते समय शब्दावली कितनी मंजुल हो उठती है कि उसमे न कोई कर्णकटु वर्ण, न कठोर वर्ण न सन्धि, न समास, न आलंकारिकता, और फिर भी एक मनोरम संगीत।

"स्त्री की कई स्थितिया हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परन्तु जो प्रेम उसमे मा बन कर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नश्वर संसार में न मिलेगी। मुझे माता-पिता से प्रेम था, पति पर श्रद्धा। उनको देखने के लिये मैं कभी-कभी अधीर हो उठती थी। परन्तु उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी जो अपने बच्चे का मुख चूमते समय, उसकी आंखो पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय, मेरे नारी-हृदय मे उत्पन्न हो जाती थी"।[2]

मानसिक अव्यवस्था के अनुभाव के चित्रण मे प्रयुक्त वर्ण-संगीत का रूप कुछ इस प्रकार का ही होता है—

"सीटी फिर बजी।"

"सत्य के हाथ-पैर कांपने लगे, टांगें लड़खड़ा-सी गई, उसे जान पड़ा मानो अभी संसार अंधेरा हो जायगा, पृथ्वी स्थानाच्युत हो जायगी। उसने सहारे के लिये हाथ आगे बढाया। हाथ कुछ थाम नही सका। मुट्ठी भर उड़ती हुई हवा को अंगुलियों मे से फिसल जाने देकर खाली ही रह गया, तब सत्य ने समझ लिया कि यह गिरेगा, गिर कर ही रहेगा। उसने आंखे बन्द कर ली।"[3]

अस्तु, हिन्दी साहित्य मे सर्वत्र हम भाषा के आन्तरिक संगीत या वर्णों की ध्वनि-संगीत का चमत्कार पाते हैं। संगीत का अर्थ कंठ और वाद्य संगीत या राग रागिनियो तक ही सीमित रखना संगीत के स्थूल रूप तक ही रह जाना है। इस दृष्टि से न आधुनिक गीत ही लिखे गये हैं और न गद्य मे उस के किसी प्रकार संभावना कल्पित ही की जा सकती है किन्तु यदि संगीत की आत्मा लय है और उसका व्यक्त रूप ध्वनि की सुन्दर योजना मे प्रतिबिम्बित है तो वह आधुनिक साहित्य मे चारों ओर गूंज रहा है।

---

१. श्यामनारायण पांडेय "हल्दीघाटी"
२. सुदर्शन "अंधेरी दुनिया" कहानी।
३. "अज्ञेय". 'पुलिस की सीटी" कहानी।

चित्र-कला

संक्षिप्त इतिहास आदियुग

सभी कलाओं की मौलिक और शानदार परम्पराओं की भांति चित्र-कला की भी एक मौलिक और बड़ी शानदार परम्परा भारत में रही है क्योंकि जब चेतना ही कलामयी है तब उससे उद्भूत सभी क्रियाएं और उससे प्रभावित जीवन के सभी पक्ष कलापूर्ण होंगे। कला के जन्म के विषय में असित कुमार हालदार का कहना है, "कला का जन्म कब हुआ, उत्तर में कह सकते हैं कि इतिहास काल के पूर्व गुफा-निवासी आदि मानव ने अपने एकान्त कन्दरा में प्रथम बार जब रेखा खींची उसी समय कला का जन्म हुआ। प्राचीन अथवा प्रस्तर युग के मानव की ही चित्रकारी क्रमशः प्रतिलेख, संकेत, प्रतीक, आदि के रूप में विकसित हुई और धीरे-धीरे उसने चित्रलिपि का रूप ग्रहण कर लिया।"[1] उनके इस कथन की पुष्टि भारत में प्राप्त प्रागैतिहासिक युग के कन्दरा-चित्रों से हो जाती है। यह तथ्य की बात है, किन्तु भाव-जगत के सत्य की बात यह है कि भारतीय कल्पना चित्र-कला का आदि गुरु और पिता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को या स्वर्गलोक के असाधारण शिल्पी विश्वकर्मा को मानती है। बाणासुर के युग तक आते-आते यह कला इतनी परिपक्व, प्रौढ़ और उच्चकोटि की हो गई थी कि जब उसकी पुत्री उषा ने स्वप्न में देखे हुए-तब तक के अपरिचित किन्तु स्वप्न-काल से ही अपने हृदय के प्रियतम का वर्णन अपनी सखी चित्रलेखा को सुनाया तब चित्रलेखा ने उस राजकुमार का, जिसे तब तक उसने भी कभी नही देखा या सुना था ऐसा चित्र खींच दिया कि राजकुमारी को अपने स्वप्न-लोक के प्रियतम के दर्शन हो गये। भारत में आदि युग या प्रागैतिहासिक युग की चित्रकला के नमूने निम्नलिखित स्थानों में पाये जाते हैं —

स्थान	
सिंहनपुर (राजगढ़ रियासत)	)
होशंगाबाद के पास	) मनुष्य, पशु, अस्त्र
लिखुनिया, कोहबूर तथा बलदरिया गाव (मिर्जापुर)	) तथा शिकार के
विजयगढ़ की गुफाएं	) चित्र
हड़प्पा-मोहिन जोदड़ो	)
घटशिला तथा विन्ध्यपर्वत श्रेणी के भिन्न-भिन्न भाग	)

ये चित्र रामरज, गेरू या हिरोजी, आदि से बनाये जाते थे। मोहिनजोदड़ो के एक चित्र के विषय में असित कुमार हालदार का कथन है, "वह आकार जो बारह-सिंघे की पंक्ति अथवा अन्य भिन्न प्रकार के पुरुषों की ओर संकेत करते हैं यह दर्शाते

[1] असितकुमार हालदार : "ललित कला की धारा", पृ० ११।

हैं कि उस दूरवर्ती युग मे भी ऐसे चतुर कलाकार विद्यमान थे जिन्हें लय, ताल तथा तुल्यता-संगीत का यथार्थ ज्ञान था। यह आकार देखने मे ऐसे सुश्लिष्ट हैं कि वे आधुनिक समय के कला-आलोचक की कठोर से कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं।"[1]

बौद्ध युग—

इसके पश्चात् बौद्ध चित्रकला का युग आता है। बौद्ध भिक्षुओं के साथ यह भारतीय चित्रकला जापान चीन, लंका, तिब्बत, गांधार आदि देशों तक पहुँच गई थी। बौद्ध चित्रकला वस्तुतः भित्ति चित्रकला है। ये चित्र गुफाओं में बनाये गये थे। ये गुफाएँ बौद्ध श्रमणों के वर्षा निवास, उपासना, उपदेश-सभा, आदि के लिये खुदवाई जाती थी। इनमे से निम्नलिखित बहुत प्रसिद्ध हैं —

नाम	निकटवर्ती प्रदेश	निर्माण काल
अजन्ता	हैदराबाद (दक्षिण)	ई० पू० प्रथम शताब्दी से ९ वीं शताब्दी तक निर्मित
बाग	ग्वालियर	६ वी शताब्दी
सिगरिया	लंका	४७९-४९७ ई०
गोलानवा, दमोले, कन्हेरी	कोलम्बो	१ से ११ वी शताब्दी
सितन्नवासल	पदुकोटा	७ वीं शताब्दी
बादामी	बम्बई	६ वीं शताब्दी

सित्तनवासल के चित्र जैन कला मे सबंधित हैं। शेष का संबंध गौतम बुद्ध से है। इन चित्रों का संबंध राजदरबार, धर्म, सांसारिकता, स्त्री, पुरुष, चर अचर, गंधर्व, और अप्सरा आदि से है। इनमे से अजन्ता के चित्रों ने विदेशों में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। संक्षेप में कहे तो उनकी विशेषताएँ हैं संयोजन अर्थात् समुचित महत्व, काल्पनिक दृश्य, रेखांकन, संतुलन, रंगचित्र और विभिन्न मुद्राएँ। इन चित्रों की रेखाएँ अटूट, प्रवाहमयी, शक्ति और सौंदर्य से पूर्ण हैं। उनमे लचक है, कोमलता है, और भावगम्यता है। इनमे अलंकारपूर्ण डिजाइनों की भरमार है। इन चित्रों के अन्दर सौन्दर्य-भावना पूर्णत विकसित है। इन चित्रों के रूप में कलाकारों ने पृथ्वी पर स्वर्ग उतार दिया है। इन चित्रों मे गोलाई, घनत्व उभार आदि सब-कुछ है। सुन्दर से असुन्दर तक और कोमल से भयंकर तक प्राय सभी-कुछ यहां हैं। इनमे मुद्राओं से विनय, याचना, आशा, निराशा, भय, आदि की

[1] "भारतीय चित्रकला", पृ० ९-१०

अभिव्यंजना हुई है। यह भारतीय चित्रकला का स्वर्णयुग था।

मध्ययुग और मुगल–राजपूत कला—

इसके पश्चात् मध्ययुग (७००—१६०० ई०) आता है। इन युगों में एलोरा की गुफाओं के, बौद्ध और जैन धर्मों की पुस्तकों के, और कोचीन के भित्ति-चित्र आते हैं। *यहां भी कला अजन्ता की कला से हीन है। रेखाएं सजीवता, गति, और* सामर्थ्य से रहित हैं। चित्रों में जड़ता है मुद्राएँ गति-हीन और भाव-शून्य हैं। उनमें रुढिबद्धता हैं। ये शृंगार की दृष्टि से अच्छे हैं।

इसके पश्चात् मुगल-कला और राजपूत-कला का युग आता है। मुगल-कला प्रधानतः मुस्लिम कला है। अकबर के युग में यह जनमी और औरङ्गजेब के युग में इसका पतन हो गया। यह कला दरबारी थी। इस्लाम में अन्य कलाओं के साथ-साथ चित्रकला का भी निषेध है, किन्तु यह धर्मादेश पर मानवीय प्रकृति की स्वाभाविक माग की विजय है कि इस्लामी देशों में भी कला का उदय हुआ और वह वहां पर्याप्त रूप से विकसित भी हुई। कलाओं का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जिसमें मुसलमान कलाकारों का भी पर्याप्त योग-दान न हुआ हो। *मुगल कला भारतीय और* ईरानी चित्रकला के सुन्दरतम मिश्रण का परिणाम थी। फारस के शीराजी और बिहजाद के शिष्य मीर सैयद अली ने 'मीर हमजा' का जो चित्रांकन किया वह मुगल-कला की प्रथम महत्वपूर्ण कृति है। "आईने अकबरी" में सम्राट अकबर की चित्रशाला का उल्लेख है। उसके दरबार में हिन्दू और मुसलमान कलाकारों की कुल संख्या ४० थी। इस कला में धार्मिक, आध्यात्मिक एवं अनुभूति-प्रधान चित्रों का अभाव था। डिजाइन और पैटर्न की प्रधानता के आगे मूल चित्र प्रायः उपेक्षित रह जाते थे। दरबार, आखेट, युद्ध, ऐतिहासिक घटनाएँ, वृक्ष, फल, फूल, पशु, पक्षी, पत्तियों, आदि की प्रधानता थी। इस शैली में व्यक्ति के स्वाभाविक चित्रण असाधारण कुशलता के साथ हुए थे। चित्रण में गति का अभाव है। मानव-चित्र प्रायः अनुपात की दृष्टि से बहुत अधिक छोटे होते थे। एक आंख वाली आकृतियां अधिक बनाई जाती थी। छाया-प्रकाश के भी सिद्धान्तों का पालन होता था। वाटर कलर (जल-चित्रों) का भी प्रचलन था।

राजपूत-कला तीन भागों में विभाजित की गई है :—

(१) राजस्थानी—जयपुर, बूंदी, मारवाड़, बुंदेलखंड और काठियावाड़

(२) पहाड़ी—जम्मू, काश्मीर, कांगड़ा, गढ़वाल

(३) सिख—पंजाब

इन कलाओं की प्रेरणा धार्मिक होती थी। राग और ऋतु से संबंध रखने वाले चित्र

विशेष महत्व के हैं। लीलाओ, महात्माओं और महापुरुषों के भी चित्र मिलते हैं।

आधुनिक युग—

इसके पश्चात् भारतीय चित्रकला का आधुनिक युग आता है। १८ वी शताब्दी तक भारत की चित्रकला की भिन्न पद्धतियां प्रचलित रही। जब ह्रासोन्मुखी मुगल साम्राज्यवादी भारत का सम्पर्क नवीन तेज, शक्ति और स्फूर्ति से सपन्न यूरोप से हुआ तो जैसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे हुआ, वैसे कला के क्षेत्र मे भी हुआ। भारत के कलाकारो ने यूरोप के तैल, चित्र का अनुकरण प्रारम्भ कर दिया। पटना और अवध मे इस "वर्णशंकर शैली" [१] के सूक्ष्म आकार वाले चित्र, जिनके विषय होते थे राजा, नवाब, उनके दरबारी और अनुचर आदि बनाये जाने लगे। इन चित्रो मे प्रकाश और छाया का प्रयोग किया जाता था। १८६८ ई० तक एक ओर यूरोप का अन्धानुकरण होता रहा और दूसरी ओर भारत की अपनी चित्र-परम्पराएं उपेक्षित होकर भी किसी न किसी रूप मे जीवित रही। इस युग के आसपास— बल्कि बीसवी शताब्दी के प्रारंभ तक-स्थिति यही रही। वह पराधीनता का काला युग था। यूरोप के कलाकार और भारत के यूरोपीय अधिकारी भारत की (साहित्य, धर्म, दर्शन, आदि की भांति) चित्रकला की उपेक्षा करते रहे और उसकी तीखी समालोचनाएं करते रहे। "उस समय के यूरोपीय समालोचकों ने, जिनको भारतीय कला से थोड़ी भी सहानुभूति थी, उसकी उन्नति का कारण सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् यूनानी प्रभाव बताया। उनका विचार था कि यूनानी प्रभाव के कारण ही भारत मे कलाकारो को नव प्रेरणा मिली और इस देश मे सिकन्दर के आने से पहले भारत मे किसी स्वतन्त्र कला-परम्परा के अस्तित्व मे उनका विश्वास नही था"। [२] तत्पश्चात् सांस्कृतिक पुनरुद्धार का युग आया। आधुनिक भारतीय चित्रकला वस्तुतः सांस्कृतिक पुनर्जागरण की देन है। इन दिनो देश मे ट्रावनकोर (त्रिवाकुर) के राजा रविवर्मा के चित्र असाधारण रूप से लोकप्रिय थे। लौकिक रुचि के अनुसार पौराणिक विषय, जिनका सबध धार्मिक चेतना से भी था, तैल-चित्रों मे अंकित किये जाते थे। मुखाकृतियां अच्छी होती थीं। आकृतियो पर कुछ महाराष्ट्रीय छाप होती थी। रग-योजना बहुत आकर्षक होती थी किन्तु उनकी कला मे समुचित सामजस्य का अभाव था। उस समय कलकत्ता के गवर्नमेट स्कूल आफ आर्ट्स में तथा ऐसे ही एकाध और विद्यालयो मे विद्यार्थीकला की तथाकथित शिक्षा

१. असित कुमार हालदार 'भारतीय चित्रकला', पृ. २४।

१ असित कुमार हालदार "भारतीय चित्रकला", पृ २४।

२. वही, वही पृ २५

प्राप्त करते थे। उन्हीं दिनों कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट्स के अध्यक्ष ई० बी० हैवेल और उनके सहयोगी अवनीन्द्र नाथ ठाकुर तथा आनन्दकुमार स्वामी ने राष्ट्रीय शैली की स्थापना की! पाश्चात्य चित्रकला के अधभक्तों को यह अच्छा नहीं लगा जनता को रुचि इधर से हटाने के लिये प्रचार भी किया गया किन्तु आस्था से उद्भूत प्रयत्न शिथिल नहीं पड़े। अवनीन्द्र नाथ ठाकुर ने कलकत्ता के गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट्स के कुछ छात्रों को लेकर अपना काम आगे बढ़ाया। १९०७ ई० में लार्ड किचनर की अध्यक्षता में "इन्डियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्टस" की स्थापना गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने की। इस सोसायटी ने प्रति वर्ष प्रदर्शनियों की आयोजन कर-कर के विद्यालय के चित्रों को लोकप्रिय बनाया। इसी प्रकार लदन में 'इन्डिया सोसायटी" नामक सस्था स्थापित की गई। बंगाल के गवर्नर लार्ड जेटलैंड ने भी इन पुनरुद्धार कार्यों में सहायता दी विदेशों में भी भारतीय चित्रों की प्रदर्शिनियां की गई। भारतीय कला पर अनेक लेख लिखे गये। पटना के एक खानदानी चित्रकार लाला ईश्वरी प्रसाद ने प्राचीन कला का मर्म समझाया। प्राचीन भित्ति-चित्रों की प्रतिलिपियां तैयार कराके प्रदर्शित की गईं। इन प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप भारतीय चित्रकला का महत्व फिर से स्वीकार किया जाने लगा। उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त नन्दलाल वसु, सुरेन्द्रनाथ गांगुली, असित कुमार हालदार, वेंकटप्पा, वुडरफ पर्सी ब्राउन, ब्लाउन्ट स्काट, ओकोनर, थार्नटन, मुलर आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं इस प्रकार बंगाल शैली की स्थापना हुई बम्बई शैली में यूरोपीय और भारतीय कला के समन्वय का प्रयास है। सामयिक दृश्यों के अंकन में कनु रामकुमार, आदि प्रसिद्ध हैं। अवनी सेन और कंवल कृष्ण दृश्यांकन में विशेष रूप से सफल हैं। सुधीर खास्तगीर में लय का स्वच्छन्द विचरण है। ७० वर्ष की आयु में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी तूलिका उठाई और एक नई शैली का आविष्कार किया। आज की चित्रकला पर अजन्ता, पश्चिम, और कुछ राजनीतिक परिस्थितियों एवं नवीन चेतना का प्रभाव है।

आधुनिक चित्रकला

आधुनिक चित्रकला में मनोस्थितियों एवं मनोभावों का चित्रण होता है, रूप या घटना का नहीं। रंगों का मौलिक प्रभाव धोकर नष्ट कर दिया जाता है। यही टेम्परा शैली है। घनवाद के अनुसार प्रकृति के रूप और अलंकरण से इन्कार किया जाता है। घनवादी चित्रकार वास्तविकता से बाहर की कुछ ऐसी चीज लाना चाहता है जो अब तक न लाई गई हो। रंग भाव उभारने के लिये होते हैं। सिद्धान्त यह है कि रंगों का मन पर प्रभाव पड़ता है। लाल रंग शक्ति और मन की तरङ्ग का, सुर्ख

लाल तेजी और जोश का, पीला रंग ज्योति और ज्ञान का, हरा रंग शीतलता और स्फूर्ति का, नारंगी रंग जीवन तथा शक्ति के संचार का, और बैंगनी रंग रहस्यमयता, आदि का भाव अपने प्रभाव डाल कर उत्पन्न करता है। हरे नीले और बैंगनी रङ्ग ठन्डे और लाल नारंगी तथा पीले रंग गर्म माने गये हैं। रेखाओं का भी आधुनिक चित्रकला में बड़ा महत्व है। हल्की और अस्पष्ट रेखा दूरी, गहरी और स्पष्ट रेखा निकटता, गहरी रेखा शक्ति और दृढ़ता, अधिक गहरी आत्मविश्वास- क्षीण रेखा सन्देह और दुर्बलता, पड़ी रेखाएँ सांसारिकता, ऊपर की ओर उठती हुई सीधी और खड़ी रेखा एकाग्रता, आदि भाव पैदा करती हैं। तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रकार की रेखाओं और रंगों को देख कर सामान्यतः जो प्रभाव मन पर पड़ सकता है वह उपरिलिखित है। इनको ध्यान में रखकर भी चित्र बनाये जाते हैं। नवीन चित्र कला का धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद-सा हो गया है। यहा सौन्दर्य की परख यथार्थवादी भूमिका पर की जाती है। अब चित्रकला का विषय, धर्म, पुराण, इतिहास या आभिजात्य वर्ग के व्यक्तियों और उनकी जीवन घटनाओं तक ही नहीं सीमित है। अब हर एक व्यक्ति या वस्तु चित्रकला का विषय है। आज चित्रकला व्यापक और उदात्त हो गई है। प्रजातन्त्र के युग का प्रभाव इस प्रवृत्ति पर स्पष्ट है। आज का कलाकार पूर्ण स्वच्छन्दता चाहता है। शृंखलाएँ, माला या हार, सुन्दरता, स्पष्टता, भाव, रूप रंग, आदि सारी मान्यताओं को वह अब बड़ी आकुलता से छोड़ता जा रहा है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के युग का प्रभाव है। यूरोप की नवीनतम प्रवृत्तियों (घनवाद, अति यथार्थवाद, भविष्यवाद, आदि) का प्रयोग नवीनतम चित्रकला में होता है। कलाकार का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी हो गया है। नवीनतम प्रणाली के चित्रों में चित्रित व्यक्ति या वस्तु का भाव या रूप नहीं देखा जाता देखा यह जाता है कि चित्र बनाते समय कलाकार की अपनी मनोस्थिति क्या थी। इस प्रकार आधुनिक चित्रकला में कला के माध्यम से विषय-वस्तु का नहीं, विषय-वस्तु के द्वारा कलाकार का अध्ययन किया जाता है। बीसवीं शताब्दी के भारत में प्राचीन साहित्य द्वारा वर्णित देवी-देवताओं के भी चित्र बने जो वस्तुतः प्रतीकों से भरे थे, जैसे, लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती, आदि। ऐसे चित्र भी बने जिनकी प्रवृत्ति वर्णनात्मक थी अर्थात् जिसमें एक-एक वस्तु चित्रित कर दी जाती है। आदर्शवादी चित्रों में कल्पना की अधिकता होती है एवं निश्चित रूप, रंग, आकार, रेखा, भाव, आदि ही पाये जाते हैं। यथार्थवादी चित्रों में जो वस्तु जैसी होती है वैसी ही चित्रित कर दी जाती है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित चित्रों में दीन, दुखी, दलित पीड़ित, मानव का चित्रण होता है। प्रभाववादी या इम्प्रैशनिस्ट चित्र प्रकृति की विशुद्धतम अनुकृति होते हैं। फोटोग्राफी की तरह ये चित्र एकमात्र अनुकरण हैं। इनमें प्रकाश और छाया

का वैज्ञानिक ढग से प्रयोग होता है। घनवादी या क्यूबिज्म वाली प्रवृत्ति के अनुसार अगों को सिलेंडर या बेलन के आकार का बनाया जाता है। इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि वस्तु-विषय के आगे और पीछे का भाग एक साथ दिखाई पडे। दूरी और निकटता का भाव भी लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार कोण-पद्धति के भी चित्र बने और चित्रों मे त्रि-परिमाण सम्बन्धित आकार (थ्री डाइमेन्शनल) दिखाये जाने का प्रयत्न हुआ। सुररियलिज्म या अतियथार्थवाद के अनुसार आकृति अवचेतन-चित्त की कल्पनाओं पर आधारित होती है। स्वप्नचित्रो की पृष्ठ भूमि मे फ्रायड की स्वप्न-व्याख्याएँ हैं। ऐब्स्ट्रैक्ट आर्ट या सूक्ष्मकला तो एकमात्र जटिलताओं से ही भरी है। इसमे कुछ भी स्पष्ट नही होता। डाडाइज्म ने रूढियो का सभी तरह से बहिष्कार कर दिया। फाविज्म इसके बिल्कुल उल्टे हैं। इसने एकमात्र रूढि को ही आधार बनाया है। यह वास्तविक चित्रण को कला मानता ही नहीं महायुद्ध-जनित दुर्दशा ने तो कलाकारो के अह और उनकी कलाचेतना को विशृंखल एव लक्ष्यहीन कर दिया है। सहनशक्ति का अभाव है। सयम को तिलाजलि दे दी गई है। आस्था एवं विश्वास मुमूर्ष हैं। मौलिकता और साधना के अभाव मे नवीनता अनुकरण की बैसाखी ले कर चल रही है। सास्कृतिक दृष्टिकोण के अभाव के कारण लक्ष्य अस्पष्ट हो गया है। कुछ को छोडकर कोई भी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। "अब हम देखते हैं कि हमारे कुछ आधुनिक कलाकार, आदि विक्टोरियन युग के कलाकारों के समान अब फिर भारत की पुरातन कला को ठुकराने लगे हैं और एक नई शैली के निर्माण का यश प्राप्त करने के चक्कर मे उन्होंने जान बूझ कर वर्तमान यूरोप के सुररियलिस्ट और डाडा-शैली का अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया है।"[१] फिर भी, चिन्ता की कोई बात नही। यह जल्दी ही समाप्त हो जाने वाली स्थिति है क्योकि "जिस देश की अपनी गौरवमय परम्पराएँ हैं वह कही भटक जाय, यह सभव नही। हेर फेर कर वह फिर अपने सही रास्ते पर आ जाता है। जो लोग परम्पराओं मे विश्वास रखते हैं वे इन पर विश्वास न रखने वालो के लिये, जो उस सीमा को लाघना चाहते हैं, सदा ब्रेक का काम करते हैं।"[२] उपर्युक्त प्रवृत्तियो मे और हिन्दी का प्रयोगवादी एव "नई कवितावादी" प्रवृत्तियों मे इतना साम्य है कि एक के लिए कही गई बात दूसरे के लिये लग सकती है क्योंकि दोनों की सास्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही है।

---

१. असित कुमार हालदार : "भारतीय चित्रकला", पृ० ५२-५३।

२. वही "ललित कला की धारा", पृ० ५६।

साहित्य और चित्रकला

चित्रकला और साहित्य का सम्बन्ध भी बहुत निकट का है। चित्रकला के माध्यम से साहित्य को और साहित्य के माध्यम से चित्रकला को समझने में बड़ी आसानी होती है। इन सहायताओं से वा तविक उद्देश्य बड़ी सरलतापूर्वक पकड़ में आ जाता है। कारण यह है कि लक्ष्य एक ही होता है—द्रष्टा—स्रष्टा के अन्तर में उठे हुए भावों को दर्शक, श्रोता या पाठक के भी मन में उठा देना। यह इसलिये होता है कि अनुभूति के भोग का आस्वाद अभिव्यंजना का उत्कृष्टतम अभिलाषी भी होता है और उसके बिना भोक्ता स्वयं बेचैन रहता है। अपनी अनुभूति बाट कर व्यक्ति जैसे आत्मदान करके आत्मविस्तार का सतोष पाता है। अस्तु, चित्रकार चित्र खींच कर चित्र के "रूप" में अपने भाव और अनुभूति उभार कर जिस प्रकार भाव-सम्प्रेषण की सफल आशा से प्रसन्न हो उठता है उसी प्रकार साहित्यकार अपने द्वारा रचित साहित्य से प्रसन्न होता है। समर्थ एवं सुयोग्य दर्शक एवं श्रोता दोनों प्रकार की रचनाओं से एक समान प्रभावित होते हैं। इस प्रकार दोनों कलाओं का लक्ष्य, अभिप्राय, प्रेरणा-स्रोत, परिणाम तथा उनसे प्राप्ति लगभग एक-सी होती है। इसका एक कारण यह भी है कि दोनों कलाओं के कलाकारों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक ही होती है और इसलिए उनकी अभिरुचि तथा माग में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ने पाता। उनकी सौन्दर्य-चेतना की कसौटी लगभग एक सी होती है। उदाहरणार्थ, "प्रसाद" "पन्त"—'निराला' तथा नन्दलाल—असितकुमार—सुधीर खास्तगीर, दोनों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि एक है। दोनों के अन्दर नवीन युग की भारतीय चेतना है। परिणामत दोनों की कलाकृतियों में मौलिक एकता पाई जा सकती है। अन्तर केवल यह होता है कि पहले—कलाकार अक्षरों में लिखेंगे और दूसरे—कलाकार रेखाओं से उभारेंगे। हृदय में दोनों के एक ही प्रकार की प्रकृति के मूल भाव उठेंगे। इस प्रकार दोनों कलाओं की अन्तरात्मा में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। साहित्य में जिसका वर्णन होता है, चित्र में उसी की आकृति बनाई जाती है। एक सुन्दर चित्र और एक सुन्दर कविता—दोनों मन पर समान प्रभाव डालती है। अन्तर केवल प्रक्रिया में है। एक सोचता है कि कौन—कौन से शब्द लायें कि हम जो चाहते हैं वह अभिव्यक्ति हो जाय, और दूसरा सोचता है कि किस-किस प्रकार से रेखाएँ घुमाई जायें कि हम जैसी चाहते हैं वैसी आकृति खिंच जाय और उससे अभिप्रेत व्यंजित हो जाय। कविता बोलती है और कथन के द्वारा स्वरूप कल्पित या निर्मित किया जाता है चित्र स्वरूप उपस्थित करता है और रेखाओं की गतिविधि के अध्ययन से कथन कल्पित या अनुमानित किया जाता है। कहा भी जाता है कि 'ऐसी सुन्दर शब्द-योजना थी कि आँखों के सामने तस्वीर नाच उठी' या "ऐसी सुन्दर तस्वीर थी कि

लगता था कि अभी कुछ कह उठेगी।" बात यह है कि रेखाओं के घुमाव-फिराव में अभिव्यक्ति की क्षमता होती है और शब्दों में रेखांकन की प्रवृत्ति तथा शक्ति रहती है। प्रत्येक शब्द अपनी ध्वनि-विचित्रता के द्वारा एक प्रकार का अज्ञात चित्र बनाता रहता है। शब्दों की इसी प्रकृति के द्वारा शब्दचित्र और रेखाचित्र खींचे जाते हैं। पन्त ने लिखा है, "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है... जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झन्कार में चित्र, चित्र में झन्कार हों, जिनका भाव-सङ्गीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके... ।"[1] "प्रसाद" ने भी कहा है, "कवित्व वर्णमय चित्र है......।"[2] इस प्रकार चित्रकला और साहित्य परस्पर सम्बन्धित है। साहित्यिक पुस्तकों में चित्र रहते हैं और शब्द अपनी समस्त शक्तियों के बावजूद भी जो पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाते, अनुभूति का विषय नहीं बना पाते, वह उन चित्रों से हो जाता है। आंखों से देख लेने का जो आनन्द होता है वह पढ़ने मात्र से नहीं मिल सकता। श्रवण दर्शन का स्थान कभी भी नहीं ले सकता।

आधुनिक हिन्दी साहित्य और चित्र

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में राजा रविवर्मा के चित्रों की धूम सारे भारतवर्ष में थी। १६०६ ई० में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "कविता-कलाप" नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित कराया था। इसमें स्वयं उनकी तथा "पूर्ण", "शङ्कर", मैथिलीशरण गुप्त, आदि छः कवियों की बड़ी-बड़ी कविताएँ थीं। ये कविताएँ राजा रविवर्मा के चित्रों की कथावस्तु पर ही आधारित थीं। "गङ्गावतरण" नामक चित्र में, जो "रत्नाकर" की "गङ्गावतरण" कविता पुस्तक के बीच में है, एक ओर त्रिशूल है, दूसरी ओर नन्दी, बाघम्बर धारण किये हुए, कमर पर दोनों हाथ रखे, दोनों पैर धरती पर दृढ़तापूर्वक जमाए-गर्दन ऊपर उठाये, जटा-जूट पूरी तरह चारों ओर फैलाये, अमर्ष भाव से ऊपर देखते हुए शङ्कर-महादेव खड़े हैं तथा ऊपर आकाश से गङ्गा उतर रही है। इस चित्र के अनुरूप "रत्नाकर" की कविता इस प्रकार है.—

सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन माखे
बाढ़ी गग-उमग-भग पर उर अभिलाखे।
भये सँभरि सन्नद्ध भग के रग रगाये,
अति दृढ दीरघ शृ ग देखि तापर चलि आये
बाघम्बर को कलित कच्छ कटि-तट सौं नाध्यो,

---

१ पन्त : "पल्लव", "प्रवेश"

२. "स्कन्दगुप्त" : पृ० २०

सेसनाग को नागबंध तापर कसि बाध्यो,
ब्याल-माल सौं भाल-बाल-चन्दहि दृढ कीन्हौं,
जटा-जाल को झाल-व्यूह गहवरि करि लीन्हो
मुण्डमाल जग्योपबीत कटि-तट अटकाए
गाडि मूल, शृंगी डमरू तापरें लटकाए
बर बाहनि, करि फेरि चापि चटकाइ आगुरिनि,
वच्छस्थल उमगाइ, ग्रीव उचकाइ चापभिनि।
तमकि ताकि भुजदन्ड चन्ड फरकत चित्त चोपे
महि दबाइ दुहु पाइ कछुक अन्तर सौं रोपे।
जुगल कन्ध बल-सन्ध हुमकि हुमसाइ उचाए
-दोउ भुजदन्ड उदन्ड तोलि ताने तमकाए
कर जमाइ करिहाइ, नैन नभ ओर लगाए,
गङ्गागम की बाट लगे जोहन हर ठाए।[1]

उपर्युक्त कविता निश्चित रूप से उक्त चित्र का सजीव चित्र उपस्थित करती है। भाव-व्यंजना के साथ अनुभावो का चित्रण मूल चित्र की कमी को पूरा करने मे समर्थ है। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक "उद्धव शतक" मे भी तीन-चार चित्र हैं। यद्यपि ये चित्र बहुत उच्चकोटि के और कलात्मक तो नही हैं, फिर भी सम्बन्धित कवित्तो का भाव इनसे कुछ-कुछ नेत्रों के सम्मुख मूर्त रूप मे आ ही जाता है। मुख पृष्ठ का चित्र काफी अच्छा है और निम्नलिखित भाव को मूर्त रूप प्रदान करता है:—

धारत धरा पै न उदार अति आदर सौं, सारत बँहोलिनि जो आमु अधिकाई है

एक कर राजे नवनीत जसुदा को दियो, एक कर बंसी वर राधिका पठाई है[2]

इसके विपरीत रामकुमार वर्मा की "आकाश गङ्गा" के १२ चित्र अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक और उच्चकोटि के हैं। उनमे भावाभिव्यंजन का विपुल सामर्थ्य है। इसका कारण यह है कि कवि-चित्रकार जगदीश गुप्त कवि रामकुमार वर्मा के भावो का मर्म स्पर्श करके इन चित्रो का निर्माण किया है।

कलाकारो की कल्पना देश, काल और अभिव्यक्ति के माध्यमो की सीमाओं को पार कर जाती है और यही कारण है कि दो विभिन्न युगों और देशो के कलाकारों मे भी भाव-साम्य की प्रतीति होने लगती है। पक्षपाती समालोचना एक को

१ "रत्नाकर" - "गङ्गावतरण"
२. "रत्नाकर" "उद्धव शतक"

दूसरे के अनुकरणस्वरूप सिद्ध करने लगती है। यह बात वास्तविकता के विपरीत है। अस्तु, रोदा की प्रतिमाओ और "निराला" जी के कुछ गीतों मे इसी प्रकार का भाव-साम्य मिलता है। इस सम्बन्ध मे कहा गया है, "विराट अपार्थिव को रूपमय पार्थिवता द्वारा अभिव्यक्त करने मे उसने वही दिशा अपनाई थी जो "निराला" जी की चिन्ताधारा मे है। इसीलिये उनके शिल्प और "निराला" जी के गीतो मे आश्चर्यजनक समता पाई जाती है।"[1] इसी अंक मे "बादल राग", "जुही की कली", 'स्मृति चुम्बन", "राम की शक्तिपूजा", "वृत्ति", "शेफाली', "तुम जायगे चले", "सन्तप्त", "तोडती पत्थर", आदि कविताओ के कुछ अन्श और उनसे भाव-साम्य प्रदर्शित करने वाले बारह चित्रो का अध्ययन उपस्थित किया गया है।

इस दिशा मे सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रयत्न श्रीमती महादेवी वर्मा का रहा है। हिन्दी को महादेवी जी के रूप मे एक ऐसा व्यक्तित्व मिला है जिस मे कवि और चित्रकार दोनों ही का समावेश है। अपने चित्रो के सम्बन्ध मे महादेवी जी का कथन है, "इसी से मेरा चित्र गीत को एक मूर्त्त पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बाध लेने की क्षमता नही रखता।"[2] ऐसा कदाचित् इसलिये है कि महादेवी जी का कवि-रूप ही अपेक्षाकृत अधिक सफल है। उनके चित्र उनके काव्य की भावभूमि को व्यक्त करने में निश्चित रूप से सफल हैं। कोई-कोई चित्र कविता की किसी एक पक्ति के भाव के ही आधार पर बना लिये गये-से लगते हैं। "दीपशिखा" मे चित्रो के ऊपर के झीने कागज पर छापी गई पंक्तियो का उन चित्रो से विशेष सम्बन्ध है।

साहित्य मे चित्रात्मकता : प्रकृति-चित्रण

चित्रकला जब साहित्य के रूप के अन्दर प्रवेश करती है तब वह चित्रात्मकता का रूप धारण कर लेती है। यह ठीक वैसे काव्य या साहित्य के अन्दर आकर संगीत सगीतात्मकता का रूप धारण कर लेता है। यह चित्रात्मकता उस समय विशेष रूप से सक्रिय एव मुखर हो उठती है तब साहित्यकार प्रकृति का चित्रण करने बैठता है। साहित्यकार प्रकृति का चित्र कई रूपों मे उभारता है। कभी-कभी तो ऐसे शब्दो का प्रयोग होता है कि लगता है, हम प्रत्यक्ष-दर्शन कर रहे हैं:—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा
विपिन-बीच विहगम वृन्द का
कल-निनाद विवर्धित था हुआ
ध्वनिमयी विविधा विहगावली
उड रही नभ-मडल-मध्य थी।[3]

---

१. "सङ्गम" साप्ताहिक : पृ० २१, २३ जनवरी, १९५० ई०
२. महादेवी वर्मा "दीपशिखा" पृ० २२
३ "हरिऔध" : "प्रिय प्रवास"

इस प्रकार, एक-एक वस्तु के भावपूर्ण वर्णनों के सम्मिलित प्रभाव के परिणामस्वरूप सायंकाल का चित्र उभरता है।

दूसरे प्रकार का प्रकृति-चित्र इस प्रकार से खींचा जाता है कि वह दृश्य विशेष का चित्र तो उभार ही दे, साथ ही, व्यक्ति के मन में उस प्रकार के भाव उद्दीप्त भी कर दे जिनका वैसे दृश्य की उपस्थिति में उठना नितान्त स्वाभाविक हो। वस्तु, कवि देखता है —

> "अम्बर-अन्तर गल धरती का अंचल आज भिगोता
> प्यार पपीहे का पुलकित स्वर दिशि-दिशि मुखरित होता
> और प्रकृति-पल्लव-अवगुंठन फिर-फिर पवन उठाता[1]

ऐसा देखकर कवि के मन में इस दृश्य के अनुकूल भाव उठते हैं और वह अपनी प्रियतमा से कह उठता है:—

> यह मदमाती सी रात नहीं सोने की
> सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की

प्रकृति का एक प्रकार का चित्र ऐसा भी होता है जो आने वाले किसी भाव विशेष के अनुरूप होकर उसकी पृष्ठभूमि स्वरूप होता है।

> है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार,
> खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार,
> अप्रतिहत गरज रहा—पीछे अम्बुधि विशाल,
> भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।

ऐसे भयानक वातावरण में किसी का भी दिल दहल सकता है। राम आज दिन के युद्ध में हतश्री हो चुके हैं। सामने इस तरह का डराने वाला दृश्य है। ऐसे में जो होना चाहिये वही होता है—

> स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय
> रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय[2]

अलंकारों के रूप में किया गया प्रकृति का वर्णन भी सुन्दर और आह्लादपूर्ण चित्र उभारता है—

> "तारकमय नव वेणी बन्धन, शीश फूल कर शशि का नूतन
> रश्मि वलय, सित घन अवगुंठन

---

१ "बच्चन" : "सोपान", पृ. २८७।

२. "निराला" : "राम की शक्तिपूजा" कविता

मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी [1]

भावुक कलाकार को प्रकृति कभी-कभी ठीक मानव जैसी भी लग सकती है। उसका दृश्य विशेष मानव या मानवी की एक मुद्रा विशेष लग सकता है '—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि
मृदु कर-तल पर शशि-मुख धर, नीरव, अनिमिष, एकाकिनि। [2]

इसी प्रकार प्रकृति कभी चेतन बन कर, कभी प्रतीक बन कर और कभी उपदेश देती हुई-सी प्रतीत होती है। तात्पर्य यह कि प्रकृति के सभी रूपों के प्रभूत चित्र आधुनिक हिन्दी साहित्य मे मिलते हैं।

रूप-चित्रण—

चित्रात्मकला का दूसरा रूप साहित्य मे तब दिखाई पडता है जब साहित्यकार रूप का चित्र खींचने बैठता है। एक सुन्दरी का वर्णनात्मक रूप चित्र देखिये.—

"नैनसी अपनी उँगलियां तोडते हुए बोली। उसकी लम्बी पतली गोरी उँगलियों की ओर देखकर हरीश ने उनके शेष शरीर की ओर देखा। उसका बहुत महीन और मुलायम बालो से भरा सिर जिसमे तेल की चिकनाई नही, केशो की स्वाभाविक कोमलता स्वयं प्रकट हो रही थी। जूडे पर मटर के लाल फूलो का लगा हुआ पत्ता, पतला-पतला मुख, लम्बी गर्दन, महीन साडी मे से झलकती उसके शरीर की आकृति, उसका तनिक उभरा हुआ वक्ष, पतली कमर और फिर कुछ दूर बह कर नीचे गिरती जल की धारा की तरह घुटनो से नीचे गिरती पिंडलियां, अन्त मे सैंडिल मे मढे उसके कोमल श्वेत पांव। पांवो के चारो ओर साड़ी का घेरा पराग को घेरे रहने वाली फूल की पंखुरियो की तरह फैला हुआ था। पीले हाथी के दांतो की तरह चिकनी और कोमल बाहें उसकी गोद मे आ कर टिकी हुई थी......एक अस्पष्ट-सी सुगंध उसके शरीर से आ रही थी। नैनसी फूल की कली की भांति थी, पूरी खिल कर फैल नही गई थी। [3],,

उपर्युक्त चित्र विवरणात्मक है। भावात्मक रूप-चित्र देखिए —

"चचला स्नान कर आवे चन्द्रिका—पर्व मे जैसी
उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।" [4]

---

१. "महादेवी वर्मा : 'यामा"
२. पन्त : "पल्लविनी"
३. यशपाल. "दादा कामरेड" पृ. १३६।
४. "प्रसाद" "आंसू"।

भाव-चित्रण —

गुणो के उल्लेख-द्वारा निर्मित अन्तर की एक अवस्था-भूख का चित्र देखिए—

"भूख नहीं दुर्बल, निर्बल है,
भूख सबल है,
भूख प्रबल है,
भूख अटल है,
भूख कालिका है, काली है
या काली सर्वभूतेषु
क्षुधारूपेण सस्थिता,
नमस्तस्यं, नमस्तस्यं,
नमस्तस्यं, नमो नम
....
भूख भवानी, भयावनी है
अगणित पद, मुख, कर, वाली है
बड़े विशाल उदर वाली है
भूख धरा पर जब चलती है
वह डगमग डगमग हिलती है
वह अन्याय चबा जाती है[1]

इसी प्रकार आशा-निराशा, आह्लाद आदि के भी चित्र खीचे

दृश्य-चित्रण —

कलाकार के बाह्य दृश्यो के चित्र भी सफलतापूर्वक खीचते हैं। निम्नलिखित वर्णन को देख कर ऐसा लगता है कि जैसे ठीक हमारे सामने यह दृश्य उपस्थित हो और हम उसे देख रहे हो—

शाखामृग शाखियों पै शाखामृगियों के सग
युद्ध सुनते-से कान ऊँचे किये बैठे हैं,
अमित अमीनि से अमग ग्रीव धावकों को
समुद्र विहग कोटरों मे लिये बैठे हैं
हरिणी हरिण के विलोचनों मे राजती है
देखिए हरिण हरिणी के हिये बैठे हैं
कुमुद गणों के कोष मध्य चचरीक चारु
मधु पिये बैठे हैं, कपाट दिये बैठे है ॥ [2]

---

१. बच्चन "सोपान", पृ २११—२१२।
२. "रसवन्ती" (अनूपशर्मा विशेषाक), पृ. १६०—१६१।

इसी प्रकार युद्ध के दृश्य, प्रेम के दृश्य, कलह के दृश्य, लड़ाई के दृश्य, तथा जीवन के ऐसे ही अनेक दृश्य चित्रित किये जाते हैं। विलास का एक चित्र देखिए—

"उस स्वर्गगा मे, उस नहर-ए-बहिश्त मे, खेल करती थी उस स्वर्ग लोक की अनुपम सुन्दरिया। उन श्वेत पत्थरो पर अपनी सुगधि फैलाता हुआ वह जल अठखेलियाँ करता, कल-कल ध्वनि मे चिर सगीत सुनाता चला जाता था, और वे अप्सराएँ अपने श्वेतागो पर रग-बिरगे वस्त्र लपेटे, नूपुर पहने अपने ही ध्यानमे मस्त झुन-झुन की आवाज करती हुई जलक्रीड़ा करती थी……अनेकानेक प्रकार के स्नेहपूर्ण चिराग……रग बिरंगे सुगन्धित जलो के फव्वारे—……उस मस्ताने सुगन्धिपूर्ण वातावरण मे मुमधुर सङ्गीत की ताल पर……उस हम्माम मे जलक्रीड़ा…… सौन्दर्य बिखरा पड़ता था, सुख छलकता था, उल्लास की बाढ़ आ जाती थी, मस्ती का एकच्छत्र शासन होता था और मादकता का उलगनर्तन……निर्जीव पत्थर भी सजीव होकर स्वर्ग के देवताओ के साथ होली खेलने का साहस कर बैठते थे…… मदिरा ढलती थी…… सुरा, सुन्दरी और सगीत के साथ ही साथ जब सौरभ, सौंदर्य और स्वर्गीय सुख भी बिखर-बिखर कर बढ़ते जाते थे……।"[१]

क्रिया-कलाप-चित्रण

इसी प्रकार मार्मिक ढङ्ग से क्रिया-कलाप का भी चित्राकन किया जाता है। एक अत्यन्त मार्मिक क्रिया-कलाप-चित्र या गति-चित्र यहा कुछ ही शब्दो मे उपस्थित है—

"कुमुद शात गति मे ढालू चट्टान के छोर तक पहुँच गई। अपने विशाल नेत्रो की पलको को उसने ऊपर उठाया। उँगली मे पहनी हुई अँगूठी पर किरणें फिसल पड़ी। दोनो हाथ जोड कर उसने धीमे स्वर मे गाया—

मलिनिया, फुलवा ल्याओ नन्दन वन के।
बिन-बिन फुलवा लगाई बडी आस
उड गए फुलवा रह गई बास

उधर तान समाप्त हुई, उधर उस अथाह जल-राशि मे पैंजनी का छम्म से शब्द हुआ धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान-समेत उस कोमल कन्ठ को सावधानी से अपने कोष मे ले लिया।

ठीक इसी समय अली मर्दान भी आ गया। घुटना नवा कर उसने कुमुद के वस्त्र को पकडना चाहा, परन्तु बेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया। मुट्ठी बाधे खडा रह गया।"[२]

---

१. रघुवीर सिंह: "शेष स्मृतियां", पृ ११५—११६
२ वृन्दावन लाल वर्मा · "बिराटा की पद्मिनी"

भवन-निर्माण-कला और मूर्तिकला

इन कलाओं में भी भारतवर्ष संसार को चकित करने में समर्थ और परायों के मन में ईर्ष्या और द्वेष उत्पन्न करने की योग्यता से पूर्ण विपुल सामग्री और इतिहास रखता है। इस्लाम और उसके अनुयायी मूर्तियों के विरोधी रहे गये हैं किन्तु यह भारत की मूर्तिकला का जादू था कि युद्धप्रिय तथा रुण्ड-मुण्ड-रक्त-दर्शन का अनन्य लोलुप महमूद बघर्रा भी कह उठता है, "उन मन्दिरों को मैंने भी देखा था, बुतों को भी। कुछ भी हो, मन्दिर थे खूबसूरत......पत्थर को जान देने के फन में हिन्दुओं ने जिस कमाल को हासिल किया है, ताज्जुब होता है......पहाड़ों, पेड़ों, फूल-पत्तियों, कोयल की कूकों और परियों की लोच-लचकों को......मचल-मचल कर उतार दिया हो......अरे! यह तो कुफ है। लेकिन कुफ अगर दिल को चैन दे तो क्या बुरा?"[1]

हमारे देश में प्रागैतिहासिक काल में हाथी के दांत, अस्थि, ताम्र, कांस्य और मिट्टी, आदि की मूर्तियां बनती थीं। पहले-पहले हाथी, घोड़े, और टट्टू बनाये गये थे। हड़प्पा और मोहिनजोदड़ो की खुदाइयों में साधना-सम्बन्धी मूर्तियां भी मिलती हैं। वैदिक काल में देवमूर्तियां बनती थीं। शिशुनाग और नन्दकाल में आदमी के कद जितनी ऊंची मूर्तियां बनने लगी थीं। राजाओं के साथ-साथ सामान्य नर-नारियों की भी मूर्तियां बनीं। इसी समय की यक्ष-मूर्तियां भी मिलती हैं। मौर्य-काल में जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियां, शिला-स्तम्भ और लाटों के ऊपर के 'परगट्टे' भी बनते थे। चार सिंह वाला सारनाथ का 'परगट्टा' बहुत प्रसिद्ध है। शुंगकाल में सांची और भरहुत के जग-प्रसिद्ध स्तूप बने। इनके तोरणों पर बुद्ध की जीवनी से सम्बन्धित चित्र और विविध प्राणियों एवं वस्तुओं के आश्चर्य-जनक रूप से सुन्दर चित्र खुदे हैं। उड़ीसा के उदयगिरि और खण्डगिरि की मूर्तियां भी इसी युग की हैं। कुषाण और शालिवाहन काल में गांधार शैली और मथुरा शैली की मूर्तियों की बहुलता थी। गुप्त काल मूर्तिकला का भी स्वर्णयुग है। सारनाथ की बुद्धमूर्ति, मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति सुल्तानगंज (भागलपुर) की तांबे की खड़ी हुई बुद्धमूर्ति, भेलसा की भगवान वाराह की मूर्ति काशी की गोवर्धनधारी कृष्ण की मूर्ति, सूर्य-कार्तिकेय-आदि की मूर्तियां इस युग के गौरव की आधारशिलाएं हैं। पूर्व मध्यकाल में घटनाओं के बड़े-बड़े दृश्य भी मूर्तिमान किये जाते थे। वेरूर (एलोरा) में पहाड़ काट कर मन्दिर और मूर्तियों का निर्माण किया गया। इनमें ब्राह्मण, बौद्ध और जैनधर्मों के मन्दिर थे। एलीफेन्टा की गुफाओं में भी मन्दिर और मूर्तियां हैं। मामल्लापुरम् (कांची) के 'रथ'

---

१. वृन्दावन लाल वर्मा "मृगनयनी", पृ. ७८-७९।

अर्थात् मन्दिर भी प्रसिद्ध हैं। उत्तर मध्यकाल म अलकृत शैली के अनुगमन की प्रधानता हो गई। भुवनेश्वर, कोणार्क, पुरी, खजुराहो और परमारो के बनवाये हुए मन्दिर (उदाहरणार्थ, ग्वालियर का सास-बहू मदिर, जिसमे शिखरशैली और छाजनशैली की कला स्पष्ट है) इसी युग की विभूतिया हैं। कला की दृष्टि से गुजरात के सोमनाथ मन्दिर का महत्व असाधारण हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्तियो में मौलिकता विशेष रूप से दृष्टव्य है। प्राय: नग्न मूर्तिया भी बनाई जाती थी। ऐसी मूर्तिया भी हैं जो ऐहिकतापरक हैं। १५ वी शताब्दी के चित्तौड के "विजय स्तम्भ" मे असाधारण सजावट है। नक्षत्र मास, और ऋतुओ की भी मूर्तिया बनाई गई हैं। १६ वी शताब्दी का गोविन्ददेव का मन्दिर अपनी सजावट के लिये ही प्रसिद्ध है। पूरे का पूरा मन्दिर ज्यामितिक आकार का है। गति और सस्कृति के निर्देशन की दृष्टि से दक्षिण की नटराज की मूर्ति असाधारण महत्व की है। वैभव, विलास, अलकरण और इस्लाम की विचारधारा वाले मुगल काल मे भी भारत की स्थापत्यकला शान के साथ गतिशील रही। इस युग के बने भवनों मे वैभव और विलास बरसता है। ईरानी और भारतीय या राजपूत या हिन्दू कला का मिश्रण इन भवनो की निर्माण-योजना मे दृष्टव्य है। आगरे के किले का जहागीरी महल इसका उदाहरण है। फतेहपुर सीकरी की इमारतो म भव्यता विशालता, दृढता, कल्पना, और कला-कारीगरी भरी हुई है। आगरे का एतमादुद्दौला अलकरण का और ताजमहल भव्यता, कला की बारीकियो, निर्माण-कुशलता सयोजना और सगति, भाव-विभोरता के साथ साथ नारीत्व-कला (फेमिनिन आर्ट) का अद्वितीय उदाहरण है। आधुनिक युग के भवनों मे सादगी विशेष रूप से पाई जाती है। सबसे बडी उल्लेखनीय बात है कि असली राजाओ-महाराजाओ तथा उनके अपने युग के साथ-साथ दुर्ग और राजमहल के निर्माण की बात स्वप्न हो गई है। राजस्थान के राजपूत रियासतों के अन्दर बनवाये गये भवनो मे अब भी राजपूत कला का अवशेष देखा जा सकता है। अब महल नहीं, घरौंदे बनते हैं। उनमे न अलकरण है, न विशालता, न सुदृढता (मानो महाकाव्य के स्थान पर मुक्तक और गीत आ गये हो)। राजधानियो मे जो भवन बने वे इगलैंड म बने हुए भवनो की नकल है। कुछ इमारतें बाहर और भीतर एक समान भव्य लगती हैं। नई दिल्ली के दफ्तर या कौंसिल भवन अधिकतर इटेलियन शैली पर हैं और ऊंची ऊंची दीवारो वाली जेलो की तरह लगते हैं। इनमे लालित्य और कल्पना का अभाव है। अंगरेज इन्जीनियर, उसके राजभक्त कर्मचारी और अंगरेजियत, अंगरेजी राज, तथा अंगरेजो की भक्ति का सुन्दर नमूना जिस पी० डब्लू० डी० मे जगह-जगह मिलता है उसके द्वारा निर्मित भवनो की कला पर ग्रेट ब्रिटेन की भवन-निर्माण-कला

की छाप अनिवार्य और आवश्यक है। सुदृढता के स्थान पर प्रत्येक तीन-चार वर्षो के बाद की पुनर्निर्माण-जनित नवीनता अधिक रुचिकर हुई है। दिल्ली का बिड़ला मन्दिर भारतीय कला के अनुकरण पर है। आगरे का निर्माणशील राधास्वामी मंदिर जब बन जायगा (यद्यपि वह लगभग ५० वर्षों से बन रहा है) तब भव्यता और कलात्मकता के सुन्दरतम उदाहरण-स्वरूप होगा-ऐसा अनुमान है। स्थापत्य कला की दृष्टि से आगरा सचमुच बड़ा-ही भाग्यशाली है। आधुनिक काल की मूर्तिकला मे भी एकनिष्ठ आत्मोद्धारोन्मुखी धार्मिक दृष्टिकोण का बिलकुल अभाव है। अब तो धार्मिक मूर्तियां व्यवसायार्थ ही बनाई जाती हैं। मूर्तियां चित्र-जैसी लगती हैं। शास्त्रीय मान्यताओं की कोई भी परवाह नहीं की जाती। राजकीय कला स्कूल आज की मूर्ति कला के केन्द्र हैं। "इधर कुछ सालो से सजावट की मूर्तियां बनने लगी हैं। पत्थर मे प्रतिकृतियां पर्याप्त सख्या मे इधर बनी हैं। प्रतिकृतियो का निर्माण धातु मे भी हुआ है ·····यूरोपीय मूर्तिकला के नए प्रयोगो ने इस देश के कलाकारो को भी आकृष्ट किया है।"[१] आधुनिक स्थापत्य कला उपयोगी चाहे जितनी हो, अधिकतर न तो विशेष आकर्षक है, न दर्शनीय, और न कलापूर्ण। अब भी लोग पुरानी इमारतो और मूर्तियो को ही देखने दूर-दूर से आते हैं और दूर-दूर तक जाते हैं।

आधुनिक साहित्य पर इनका प्रभाव—

आधुनिक हिन्दी साहित्य पर इन दोनो कलाओ का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। तात्पर्य यह है कि ये साहित्य का विषय बनी हैं। इन्होंने कलाकारो की कल्पना को प्रबुद्ध और सक्रिय किया है तथा उन्हें प्रेरणा दी है। जगदीश चन्द्र माथुर ने "कोणार्क" शीर्षक एक उच्चकोटि के कलापूर्ण नाटक की रचना की जिसमे कोणार्क के सूर्य-मन्दिर को कला-विशेषताओ का उल्लेख भी है और स्तुति भी: —

"यह मन्दिर नहीं, मारे जीवन की गति का रूपक है। हमने जो मूर्तियां इसके स्तम्भो, इसकी उपपीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो। देखते हो, उनमे मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनाएं, मनोरंजन और मुद्राएं चित्रित हैं।"[२]

·· ·· ··· ·············· ··· · ·· ···· · ···· · ·

'पत्थर' यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है, मानो तुमने किसी

---

१. "हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास", प्रथम भाग, पृ ६३४।

२. 'कोणार्क', पृ० २६

जौहरी के गढ़े अलंकारो को पाषाण-बना दिया हो। और, दूर से इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमाचल की चोटियो की स्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं।" [१]

....

'हमने पत्थर मे जान डाल दी है, उसे गति दे दी है। (
भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है उसके पैर धरती पर नहीं टिकते। पत्थर का यह मन्दिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगन्ध की तरह सर्वव्यापी होरहा है। लेकिन... ......लेकिन धरती उसे जकड़े हुए हैं ईर्ष्या से।" [२]

"मृगनयनी'' उपन्यास के ४४ वें और ४५ वें प्रसग तो मानो स्थापत्य कला के मर्म को समझाने के लिये ही लिखे गये हैं। इसी उपन्यास के ६० वें प्रसग मे "नटराज" की मूर्ति की चित्रणपूर्ण व्याख्या है।

निष्कर्ष -

सास्कृतिक पुनरुद्धार और यूरोपीय सस्कृति के सम्पर्क ने भारतीय चेतना को जो नवीन दृष्टि एव नई प्यास दी उसके अनुरूप कलापूर्ण हिन्दी साहित्य बीसवी शताब्दी के प्रथमार्द्ध मे निर्मित हुआ। नवीन-चेतना से उद्भूत सौदर्य बोध के लिए साहित्य के प्राचीन कला-रूपो मे नवीन परिवर्तन किया गया और नये-नये कलापूर्ण माध्यमों एव नई-नई कला-कलित साहित्यिक विधाओ को स्वीकार किया गया। नये और पुराने को मिला कर नये ललित रूप भी खड़े किये गये। काव्य और नाटको में चित्रात्मक एव सगीतात्मक परिवेश उपस्थित कर तथ्य को हृदयगम कराने का प्रयास दृष्टिगत हुआ। काव्य-कला ने गद्य मे भी रसात्मकता का सृजन किया और गद्य के माध्यम से भावात्मक सौंदर्य भी अभिव्यजित किया गया। इस प्रकार बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे सभी कलाओ ने मिलकर हिन्दी साहित्य को कलापूर्ण दृष्टि एव विषय स सम्पन्न किया और विशेष लालित्य प्रदान किया है।

---

१. कोणार्क, पृष्ठ ४४।
२. 'वही', पृष्ठ २१।

अध्याय ८

धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारत और धर्म - अनुकरण और आस्था—स्थायी आस्था और विश्वास पर जोर—आपद्धर्म—मठ-मन्दिर—साधु-वैरागी—शक्तिपूजा और वध—पूजापाठ एवं स्थूल दृष्टि—'धरम-करम-भाव भगती'—इस्लाम और भारत—दर्शन—ईश्वर—जीव—कल्याणमार्ग—प्रायश्चित और 'परसाद'—कर्म—आवागमन और स्वर्ग-नर्क—भगवद्दर्शन और उसका फल। वरदान—धर्म का वास्तविक रूप—धर्म के दो रूप—हिन्दू धर्म—दो संस्कृतियों का गलत दृष्टिकोण लेकर मिलना—हिन्दू धर्म और ईसाई—हिन्दुत्व का पुनर्जागरण—नवशिक्षित व्यक्ति तथा पुनर्जागरण की प्रतिक्रियाएँ—समन्वय वृत्ति तथा अपने तत्वों की नयी व्याख्याएँ—हिन्दुत्व का नया रूप—धर्म सुधार—बुद्धि पर शास्त्र का अंकुश—नैतिक जीवन की आधार भूमि—हिन्दुत्व का वास्तविक मूल्यांकन और उससे प्रति गौरव का भाव—तत्वों की युगानुकूल व्याख्या—आर्यसमाज का प्रभाव—ब्रह्मविद्या समाज—ईसाई धर्म का योग—बौद्ध धर्म-दर्शन की देन—इस्लाम का योग—अरविन्द का योग—वेदान्त—प्राचीन पर आस्था—वैदिक धर्म - उपनिषद्—गीता—जैन धर्म—बौद्ध धर्म-दर्शन—हिन्दुत्व की रूपरेखा पूर्ण—न्यायदर्शन—वैशेषिक दर्शन साङ्ख्यदर्शन—योग दर्शन—पूर्व मीमांसा दर्शन—उत्तर मीमांसा दर्शन—अद्वैतवाद—विशिष्टद्वैतवाद—शैव-दर्शन—वैष्णव दर्शन अर्थात् भागवत धर्म—रहस्यानुभूति—पाश्चात्य दर्शन ज्ञान-मीमांसा—बुद्धिवाद - समन्वयवाद—प्रतीतिवाद—रोमांटिक भावना या मानवतावाद—ज्ञान का स्वरूप—बुद्धिवाद—प्रकृतिवाद—भौतिकवाद—सृष्टि सृष्टि-वाद—विकासवाद (सृजनात्मक)—यान्त्रिक विकासवाद—जीव विकास - द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—उपयोगितावाद—अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद—अस्तित्ववाद—हमने सबका अध्ययन किया—वर्तमान हिन्दू धर्म—समस्त भारत का योग—सह-अस्तित्व—जनता की कमजोरी और उसका दुरुपयोग—पीछे देखा गया—हिन्दुत्व की कायापलट—सुधारवाद और रूढ़िवाद—तीन प्रकार के धार्मिक व्यक्ति—हम पर गलत प्रभाव—प्रगतिशील हिन्दुत्व और उसका प्रभाव—आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में।

धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारत और धर्म

जहां विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताएं और संस्कृतियां अपना अस्तित्व एवं व्यक्तित्व खो बैठी हैं वहां विश्व की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति वाला भारत सृष्टि के आदि-तत्व के सगुण रूप की तरह आज भी चिर किशोर-सा संसार के रङ्ग मंच पर सृष्टि की नवल स्फूर्ति, नवल प्राण, नवल प्रेरणा, नवल शक्ति एवं नवल विचारों के नवीन आलोक-सा अपनी भूमिका कुशलता और सफलता के साथ अभिनीत कर रहा है। यह एक स्फूर्ति और प्रेरणाप्रद तत्व है और है विदेशियों तथा कुछ भारतीयों की भी उत्सुकता-प्रेरित खोज का लक्ष्य। सचमुच प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा तत्व है जो भारत को आज भी तेजोमय किये है! और, सम्भवतः इसी जिज्ञासा के समाधानार्थ सजग, सक्रिय, प्रोज्ज्वल एवं चेतन कल्पना में भारतीय मनीषा का एक अमर एवं गम्भीर कथन उभरता है—"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित.।" तात्पर्य यह कि नष्ट किये जाने पर अथवा यों कहिए कि परित्याग किये जाने पर धर्म नाश कर देता है किन्तु यदि धर्म की रक्षा की जाय अर्थात् उसका पालन किया जाय तो वह रक्षा करता है। जब यह एक सत्य है कि युगों की चट्टानों पर अपने पद-चिन्ह छोड़ता हुआ भारत अजय शक्ति और अप्रतिहत गति से काल के अनन्त पथ पर बढ़ता चला आ रहा है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें कोई ऐसा विशेष तत्व अवश्य है जो उसे धारण किये हुए है और जिसे वह धारण किये हुए है, जिससे वह सुरक्षित किये हुए हैं और जो उसे सुरक्षित किये हुए है। जो रक्षित करता है जो धारण करता है, उसी को हमारा शास्त्र, हमारा वाङ्मय, धर्म कहता है—"धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा., यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय.।"[1]

अनुकरण और आस्था

सचमुच धर्म और दर्शन में स्थित हमारा भारतीय समाज ऊंची स्थिति से गिराये जाने पर भी, कष्टों की अग्नि में तपाये जाने पर भी, साम्राज्यवाद एवं धर्मान्धता के अहङ्कार के सामने बन्धनग्रस्त स्थिति में डाल दिये जाने पर भी और अधिकारों की रस्सी से परतन्त्रता की स्थिति में जकड़े जाकर भी उसी प्रकार रक्षित ही नहीं, सुरक्षित भी है जैसे भगवान में स्थित प्रह्लाद पर्वत से गिराये जाने पर भी, हाथी के सामने डाल दिये जाने पर भी, और खम्भे में बांध दिये जाने पर भी सुरक्षित रहा। वास्तविकता यह है कि भारतीय समाज ने यथाशक्ति और यथा समय अच्छे से अच्छे

---

१. 'महाभारत', कर्ण, ६६।५८।

ढङ्ग से धर्म को धारण करने का प्रयत्न किया है। राजपूतों ने असि-धर्म निबाहा है, कायस्थों ने लेखनी-धर्म निबाहा है, वैश्यों ने तुला-धर्म निबाहा है, वीरों ने लड़ कर-असि-बल से-धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न किया है, सन्यासियों ने घूम-घूम कर उपदेश दे-दे कर धर्म की रक्षा की है, पण्डितों ने और पुरोहितों ने कर्मकाण्ड के द्वारा धर्म को अधिकाधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है, विचारकों ने सोच-विचार करके, चिन्तन-मनन करके, धर्मपालन करने का प्रयत्न किया है, महात्माओं ने अन्तः-प्रेरित मार्ग पर चल कर धर्म का रूप स्पष्ट किया है, मूर्खों ने अनुकरण करके रूढ़ियों का पालन करके, और अन्धविश्वासों के द्वारा धर्म को नष्ट होने से रोक लिया है, समर्थ व्यक्तियों ने चमत्कारी रूप में धर्म को साथ रक्खा और कमजोरों ने अपनी समस्त कमजोरियों के बावजूद भी धर्म के क्रियात्मक रूप को निबाहा। चोर, व्यभिचारी, लालची, अहङ्कारी, आदि सब को समाज में प्रचलित परम्परा के अनुसार धर्म का अपनी पूरी ईमानदारी के साथ पालन करते हुए देख कर यह सोचा जा सकता है कि आस्था अभी गई नहीं है। आत्मबल और असाधारण आत्मशक्ति से सम्पन्न महात्मा सभी देशों में एक ढङ्ग से धर्म निबाहते होंगे, इसी प्रकार सभी देशों के विचारकों और क्रान्तिकारियों की भी धर्म-गति मूलतः एक-सी होती होगी, किंतु बुद्धि की सक्रियता एवं चिन्तन की गतिशीलता तथा विचारों की मौलिकता से वंचित मूढ़ भारतीय जनसमूह ने अपनी असंख्य कमजोरियों के बावजूद भी रूढ़ि-पालन और अन्धविश्वास के द्वारा जिस प्रकार अपने धर्म और दर्शन की परम्पराओं को अपने कर्म-सकुल जीवन में सक्रिय रक्खा है और जिस प्रकार अपने सांस्कृतिक वातावरण को अपनी कट्टरता के द्वारा अक्षुण्ण एवं सुरक्षित रक्खा है, वैसे ही अन्य देशों की मूर्ख जनता ने भी किया होगा इसमें सन्देह है। धर्मभीरुता, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, ईश्वर, संसार की क्षणभंगुरता, संसार में माया की प्रधानता, दान, पूजा-पाठ, परलोक के अस्तित्व, आदि अपने व्यवहारिक रूप में अन्धविश्वास या विश्वास संवलित होकर भारतीय जीवन को आज भी प्रेरणा दे रहे हैं। नवीनता का झूठा आवरण डाल कर अपने को भुठलाने वाले कुछ नकलची, और भारतीयता की दृष्टि से असांस्कृतिक और मूढ़, मिथ्यावादियों की बात दूसरी है। यह विशाल भारतीय जनसमूह धर्म और संस्कृति से ही प्रेरणा प्राप्त कर रहा है। यह विशाल भारत अपनी संस्कृति और परम्परा का नवीन, कठोर, एवं वास्तविक प्रवृत्तियों में समन्वय करने का जिस ढङ्ग से प्रयत्न करता आ रहा है वह सचमुच स्तुत्य है। चारों तरफ बिजली के बल्ब चमका कर लक्ष्मी जी के सामने घी का दीपक जलाना, पाश्चात्य शिक्षालयों का भी श्री-गणेश हवन-पूजा, आदि के द्वारा करवाना, धूप न जला कर अगरबत्तियां जलाना, सात भाँवरों से पड़ जाने के बाद ही विवाह को पूर्ण मानना, मिल या

फैक्टरी के उद्घाटन पर "हनुमान जी का "परसाद" बाटना" आदि असख्य बातें सिद्ध करती हैं कि यद्यपि बाह्य रूप बदला जा रहा है किन्तु भारतीय जनता का अन्तर और विश्वास अब भी भारतीयता मे रँगा है।

स्थायी आस्था और विश्वास पर जोर—

और फिर, भारतीय सस्कृति ने बाह्य के परिवर्तन पर प्रतिबन्ध लगाया ही कब है! पतलून पहना जाय या धोती, अँगरखा पहने या कमीज चद्दर ओढ़े या शाल, साफा बाधें या फेल्ट हैट लगाएँ, चप्पल पहनें या पोला, साडी पहनें या सलवार, एक चोटी कीजिए या दो—इनसे तो हमको कभी कोई परेशानी होनी ही नहीं। यह चिर परिवर्तनशील है, रुचि की बात है। आज एक चीज अच्छी लगती है, उमर ढलने पर कल वही बेकार लगने लग सकती है। भारतीय धर्म और दर्शन आपकी रुचि पर उतना बल नही देना चाहता जितना आपके विश्वास और धारणा पर। और, जिस पर भारतीय धर्म और दर्शन जोर देता है, वह बीसवी सदी के इस पूर्वार्द्ध मे भी सन्तोषजनक रूप से वही, भारतीय, रहा है। यह अच्छी बात थी। इसीलिये हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य ने भी आवरण भले ही पश्चात्य स्वीकार कर लिया हो, क्योंकि हमारे जीवन का बाह्य रूप बहुत कुछ पाश्चात्य रंग ढग का हो गया है, किन्तु उसकी आत्मा, उसका विश्वास, उसकी धारणाएँ निश्चित रूप से अधिकाशत भारतीय ही रही हैं। उस दिन दर्शन शास्त्र के एक पद्मभूषण से मैंने कहा—"मैं बीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना चाहता हूँ। और इसलिये कान्ट, हीगेल, आदि के दर्शन का भी अध्ययन करना चाहता हूँ। आप ....।" मेरी बात पूरी होने के पहले ही वह अँगरेजी मे बड़ी ऐंठ और शान तथा उच्चतर स्वर से बोले—"नानसेन्स, दि एन्फ्लुएन्स आफ कान्ट ऐंड हीगेल आन हिन्दी लिटरेचर ..... . ह्वाट इन्फ्लुएन्स .... यू पीपुल डोन्ट नो ईवन द स्पेलिंग आफ दीज ग्रेट फिलासफर्स।" 'फिराक' साहब ने मुझसे कहा—'इ ... ? .... लिश का हिन्दी पर इन्फ्लुएन्स .... तुम जानते हो कितना पड़ा है .....कुल्ल इतना जितना कि कोई किसी बच्चे से शेक्सपियर की बातें करे और बच्चा महज इतना समझ सके कि शेक्सपियर अँगरेजी का एक बड़ा पोएट था। दैट्स आल!" बड़े लोग डाट देते हैं, मैं चुप हो जाता हूँ, किन्तु इस तरह की डांट खाने पर मैं हिन्दी के प्रति और भी विनत एव श्रद्धामय हो उठता हूँ। हिन्दी जनता और हिन्दी-साहित्य ने इस तरह अपने को अ-भारतीयता से बचा रखा है, यह कम गौरव और अभिमान की बात नही है। सास्कृतिक दृष्टि से इसका असाधारण महत्व होना चाहिए। पाश्चात्य धर्म और दर्शन भारत के लिये अभी कुछ ही लोगों की बुद्धि और विवेचन मात्र विषय बना है। वह हमारा जीवन नही बन सका।

हमारा सरकार नहीं बन सका। वह भारतीय जीवन का अन्तरङ्ग नहीं बन सका है और इसीलिए वह हिंदी का भी अन्तरङ्ग नहीं बन सका।

आपद्धर्म

पिछली दो-तीन शताब्दियों में भारत की जो धार्मिक अवस्था थी उसे मैं शोभनीय, और तात्विक दृष्टि से वाछिन, नहीं सिद्ध कर रहा हूँ। मैं केवल यह कह रहा हूँ कि भारतीय इतिहास और संस्कृति के इस आपत्ति काल में, अन्धकार युग में- जबकि साधारण जीवन इस दुरवस्था में डाल दिया गया था कि "भूखे भजन न होय गोपाला-ले लेव आपन कन्ठी माला" की उक्ति चरितार्थ हो चली थी और पढ़े-लिखों की मनोवृत्ति ऐसी कर दी गई थी कि वे शरीर से भारतवासी मगर मन और बुद्धि से अंगरेज बन जाय-भारतीय जन-मानस ने जिस ढङ्ग और जिस उपाय से अपनी आत्मा, विश्वास, और धारणा को अ-भारतीय होने से बचाए रखा वह निश्चित रूप से सराहनीय है। यह हमारा आपद्धर्म था और निश्चित है कि आपद्धर्म तात्विक दृष्टि से वास्तविक एवं वांछित धर्म नहीं हुआ करता। उसमें सुधार की आवश्यकता एवं अपेक्षा होती है। यह हमारी ही जीवनी-शक्ति की उदात्तता थी और उसका दुर्दमनीय आवेग था कि एक ओर आपत्ति-काल में नष्ट-मिट-खप जाने से अपने को बचाये रखने के लिये, अपने धर्म और दर्शन को अपने व्यवहारिक जीवन में सुरक्षित रखने के लिए, हमने एक विधि अपनाई और वह आपत्तिकालीन विधि जब हमारे धर्म और दर्शन को उसकी संजीवनी शक्ति-प्राणशक्ति-से वञ्चित करके कंकाल मात्र करने लगी तब हमारे कुछ धर्मसुधारकों ने अपने गम्भीर चिन्तन और मनन के बाद उसको समझने की नई-पुरानी दृष्टि देकर उसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर दी, उसे पुनर्जीवन प्रदान किया एवं उसका पुनरुत्थान किया। बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध वस्तुतः इन दोनों प्रवृत्तियों से समन्वित था।

मठ-मन्दिर

सबसे अधिक दुरवस्था इस युग में हमारे मठों और मन्दिरों की हो गई थी। मठों के महन्त और मन्दिरों के बड़े पुजारी जी किसी विलासी और पतित जमींदार अथवा सेठ का-सा जीवन बिताते थे। इनसे लगी हुई सारी जमीन अथवा इनकी सारी सम्पत्ति प्रायः व्यक्तिगत सम्पत्ति का रूप धारण कर लेती थी। पूजा के रुपयों में महन्त का भाग बहुत अधिक होता था। इन मठों की शाखाएं भी होती थीं। उत्तराधिकारी बनाने के लिए लोग अपने भाई-भतीजों को ही प्रायः चेला बना लिया करते थे। शाखा-मठ के महन्त के मरने पर उसके उत्तराधिकारी का चुनाव करना, उसे महन्ती की चादर देना, तथा उससे धन की वसूली करना प्रधान मठ के ही महन्त

का विशेषाधिकार था। दीक्षा का ढग अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार इनका अपना-अपना होता था। एक बात अवश्य सबमे पाई जाती थी। उत्तराधिकारी मे धार्मिक एव आध्यात्मिक योग्यता कुछ हो या न हो, किन्तु व्यावहारिक और कानूनी दाव-पेंच खेल सकने की क्षमता अवश्य होनी चाहिये। कर्मकाड वह जानता अवश्य हो—छिपे-छिपे मानता भले ही न हो। इन लोगो को अच्छे से अच्छा खाना, कपडा, सवारी, नौकर, भोग-विलास की समस्त सामग्रियां सुलभ थी। नारी के प्रति इनका आकर्षण-मोह असाधारण होता था, ये नीच से नीच उपाय से नारी की प्राप्ति करने को उद्यत रहते थे। इनकी रखेलिनें जमीदारों की रखेलिनो की तरह समाज कुख्यात हुआ करती थीं। इनके यहा वेश्याओ के नृत्य सर्वथा उचित माने जाते थे। साधुओं मे पढने-लिखने का अभाव था और उसके लिये प्रोत्साहन भी नही दिया जाता था। "जो बर्तन मल सके, झाडू दे सके, खाना बना सके, हजारो छोटे-मोटे शालीग्रामो को "नहला" कर उन पर थोडा चदन और एक-एक तुलसी का पत्ता डाल सके,...... मूर्तियो के समय समय पर नये कपडे बदल सके, आरती दिखला सके तथा सबेरे झाल-ढोलक लेकर दे-सुरताल के भजन गा सके-बनिया भगतो के साथ रामायण के संगायन के नाम पर खूब गला फाड सके ....हजूरिया (साधु-खिदमतगार) भंडारी (भडार के सामान को लेने-देने वाला).........शरीर से कुछ काम कर देना, दोनो शाम खा लेना, और समय बचे तो कुछ गला फाड लेना या गप्पें उडाना........ बस यही साधुओ की दिन चर्या........"[1]। राहुल जी ने साधु-निवास को "बौद्धिक अनशन"[2] कहा है। इनमे एक उक्ति प्रचलित है "पढब लिखब बामन कें काम, भज बैरागी सीताराम"। किसी सम्प्रदाय मे विधिवत् दीक्षित हुए बिना भी लोग साधू-बैरागी बन जाते हैं। इनकी साम्प्रदायिक सज्ञा है "खडिया पल्टन"। एक सम्प्रदाय अपने को दूसरे सम्प्रदाय से श्रेष्ठतर समझता है। इसका प्रदर्शन किसी पर्व पर पहले स्नान करने के अधिकार के रूप मे होता है। इसके लिये कभी-कभी इन्हे लडाई भी करनी पडती थी—सशस्त्र साधारण युद्ध। इनके अखाडे बने। दल संगठित हुए। इनका दल बडी धूमधाम से घूमने के लिए निकला करता था। हजारो की जमात चलती थी। बरसात के दिनो मे ये एक जगह रहते थे। उसके बाद फिर चलना प्रारम्भ हो जाता था। जहा ठहरना होता था वहा एकाध दिन पहले सूचना पहुँच जाती थी। सारे गृहस्थ इनके ठहरने का खर्च उठाते थे। चाहे जितनी कठिनाई क्यो न हो, उन्हे यह करना पडता था। बचने का कोई चारा भी नही था। ये नामके तो साधू होते थे किन्तु इनके दल को देखकर लगता था कि समुद्रगुप्त पराक्रमाक

१ राहुल सांकृत्यायन-कृत "मेरी जीवन यात्रा", पृ. १६१।
२. वही, पृ. १६२।

की दिग्विजय वाहिनी जा रही है। पुजारी मठाधीश के लिये रुपये-पैसे के मामले में विश्वासघात करना वैसी ही साधारण बात है जैसी सामान्य व्यवसाय में। किसी भूले-भटके लड़के को पकड़ कर, किसी बड़े घर के लड़के को बहका कर, या कभी-कभी महाराज के आशीर्वाद से 'उत्पन्न' लड़के को माग कर उसे उत्तराधिकारी बनाने की प्रवृत्ति या फिर सामान्य "साधू" बनाने की प्रवृत्ति आज तक प्रचलित है सभी मठ और मन्दिर धनी और धन के आश्रित रह कर उनके आदर और उनकी प्रशसा के केन्द्र हो गये। इन मठों और मन्दिरों के पुजारी जी या बाबा जी के साथ प्राय. रानी या सेठानी की प्रेम-कथाएँ जुड़ी हुई मिलती हैं। सबल का कोई कुछ बिगाड नही पाता, यह सब खुल आम होता है। जब खाने को तर माल मिले तो उससे कुछ न कुछ अनुचित हाल तो होगा ही। ये स्थान स्वाभाविक-अस्वाभाविक-दोनो प्रकार के व्यभिचार के अड्डे हो गये। किसी बडे मठ या मन्दिर के साथ अवैध साधु-सन्तानों तथा साधु-सेविकाओं की एक बडी सख्या का होना प्राय. अनिवार्य हो गया है। तीर्थ, मठ और मन्दिर ढोंग, व्यभिचार, लूट, पाप और अनाचार के अड्डे हो गए हैं। सबसे बडी बात यह है कि साधू हो जाने पर भोजन और वस्त्र की चिन्ता नहीं रह जाती ये पूर्णरूपेण परोपजीवी होते हैं और मानो अधिकारपूर्वक मागते हैं। ये साधू-सन्यासी बिना टिकट यात्रा करना अपना अधिकार समझते हैं। तीर्थ स्थान—जैसे-अयोध्या, काशी, मथुरा, आदि-ऐसे मठो-मन्दिरो से भरे हैं। मथुरा और अयोध्या के मन्दिरो मे सावन के महीने मे जो झूला सजता है, जिस ढग से देवता सजाये जाते हैं, रोशनी-सुगधि-सजावट की जिस ढग से प्रतिस्पर्द्धा होती है और उसका जो परिणाम होता है तथा जिस प्रचुरता से नाच-गाना होता है उसके फलस्वरूप जनता की आखें और कान खूब तृप्त हो उठते हैं! दर्शकों मे सजावट की चर्चा विशेष रूप से होती है। वहा यह कभी याद नही आने पाता कि राम ने रावण को मारा है, या कृष्ण ने कस और उनके अनुचर राक्षसों का बचपन मे ही वध किया है, वहा राम और कृष्ण का भोगी-विलासी रूप ही अधिक उभरता है। सामन्तवाद और ईश्वरवाद का यह विचित्र समन्वय है। सखी मत का प्रभाव इतने व्यापक रूप से इन पर पड़ा है कि तुलसी के राम-चरित-मानस का समझदारी से अध्ययन करने वाले व्यक्ति के मानस के राम और उनके भक्त तथा राम के जन्म-स्थान अयोध्या के मदिरो के राम और उनके भक्त जनो के वास्तविक भावचित्रो म कोई सगति ही नही बैठने पाती। बडा अटपटा-सा लगता है। राम या कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं। सभी भक्त नारियां हैं। सदा मिलन की भावना है। वियोग की कल्पना मात्र भी नही हो सकती। वेश मर्दाना-नकल नारी की—भीतर सखी भाव बोलचाल, परिवेश, देखने-सुनने मे जनानापन—पूजा—अर्चा मे राजा—रानियों के

भोम की सारी आयोजना का विधान-भक्तों का स्त्रीलिंगी रहस्य नाम–राम के साथ एक सेज पर सोने तक का नाट्य होता है। राहुल सांकृत्यायन ने "मेरी जीवन यात्रा" में इन्हें "दाढी वाली महिला" की संज्ञा दी है।

साधु-वैरागी

वैरागियो का एक दूसरा ही रूप है। बीच मे बड़े-बड़े लक्कड़ों की धूनी–किनारे-किनारे आसन पर बाबा लोग–सिर पर लम्बी-लम्बी जटाएँ–देह मे अखण्ड भभूत-माला-चिमटा-लँगोटी, नही तो पूर्णतः दिगम्बर-गाजे की चिलम-साफी-मस्त बेफिकर-कल की चिन्ता से मुक्त-ब्रह्मज्ञान, वेदान्त, आदि की भी चर्चा का अभाव! मनोरंजक बात तो यह है कि इन्हे जनता की अशेष श्रद्धा प्राप्त है। लक्ष्मी के स्वनाम-धन्य वाहन–उल्लू–बनिया-महाजन नासमझ भोली-भाली जनता, सीधे-सादे श्रद्धा-प्राण गाव के लोग, अन्धविश्वास की प्रधान आश्रयदाता मूर्खमतिया, और उनके सुयोग्य जड-बुद्धि पति देवता, रियासतो के राजा-रानी और उनके अधमगति कर्मचारी तथा उनके प्रभाव क्षेत्र मे पडने वाली जनता के अन्दर की साधु-वैरागी, मन्दिर-पुजारी, आदि के प्रति होने वाली श्रद्धा को देख कर बरबस यह उक्ति निकल पडती है "राम ते अधिक राम कर दासा"। पढ़े-लिखे साहित्यिको के द्वारा भी सरल-चित्त ईमानदार-भले मानुस-सज्जन-नीति और निष्ठा के आग्रही-आडंबरशून्य किन्तु अधिकार-रहित व्यक्तियो की उपेक्षा और धन तथा अधिकार-सम्पन्न पाखडियो, धार्मिक ढोंगियों और आडम्बरप्रिय किन्तु अन्य सभी प्रकार से अधम व्यक्तियो का आदर देख कर मन तडप उठता है। लेकिन हो क्या, वह दृष्टिकोण बनाने का प्रयत्न ही नही संभव हो पाता जिसके द्वारा नैतिकता और सात्विकता का आदर संभव हो सके और ढोगी को ढोगी कह सकने का सामर्थ्य आ सके। इसी मूढता और मूर्खता ने साधुओ वैरागियो के प्रति असीम श्रद्धा को सभव कर दिया। मनोविकारो से प्रेरित होकर इन लोगों का गृहस्थों की अपेक्षा कही अधिक अधम एव गर्हित गति से नाचते रहना इनके तिलक, रामनामी अँचले, जटा-जूट, भभूत, एव कर्मकाण्ड की चमक-दमक मे छिप जाता है। जनता "धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह, धीर्विद्या सत्यमक्रोधो" के प्रति श्रद्धावती न रह कर वेश-भूषा और चमत्कारो से प्रभावित होने लगी। वह आडम्बरो और पाखडो को भगवद्विभूति समझ कर सिर झुकाने लगी। तान्त्रिक पद्धति से सभव चमत्कारो मे उसे भगवत् रूप का साक्षात्कार होने लगा। एक नीति-कथा है कि एक की नाक कट गई और वह चिल्लाने लगा कि उसे ईश्वर दिखाई देने लगा है, और कहने लगा कि जिसे ईश्वर देखना हो वह अपनी नाक कटा ले। नकटों के इसी प्रकार के सम्प्रदाय मे रमे हुए किन्तु विचारशीलता

का प्रदर्शन करने वाले कुछ व्यक्ति इन ढोंगियों के चमत्कारों की कहानियों को इस ढङ्ग से बार-बार दुहराते रहते हैं कि सामान्य चेतना वाला व्यक्ति प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकता। कभी-कभी तो अक्खड़ साधुओं की मार और उनकी गाली, आदि को आशीर्वाद और सौभाग्य के रूप तक में माना जाता है। खाने-पीने में उनका संयम, विधि-निषेध, किसी एक के ही यहां "परसाद" पाना, अपने सेवकों को भी अपने से दूर रखना, देहातवास पसन्द करना, आदि इनकी कुछ अन्य विशिष्टताएँ हैं।

शक्ति-पूजा और बध

जनता में शक्ति-पूजा का भी प्रचार है। कार्य-सिद्धि या प्राप्ति के बदले 'बकरा' चढाने की "मानता" लोग मानते हैं। ऐसे लोगों को बकरा न कटवा पाने पर बड़ी बेचैनी होती है। ऐसी "बलि" उचित है या नहीं-इस बात पर समाज में "द्वन्द्व" बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक से प्रारम्भ हो गया था। सामान्य गृहस्थ जनता मांस-मछली खाने को बहुत बुरा या अनैतिक कार्य नहीं मानती। हां, कण्ठी बांध कर "भगत" बन जाने वाले का मांस खाना किसी भी दशा में उचित नहीं माना जाता। स्वतः ब्राह्मण-वर्ग की मांस-भक्षण सम्बन्धी धारणाओं में स्थान-स्थान के अनुसार अन्तर है। उदाहरणार्थ, गोंडा जिले के ब्राह्मण के लिये मांस खाने की कल्पना मात्र असंभव है और देवरिया जिले में ब्राह्मण-भगत को मांस और मछली खाते हुए देखा गया है। ऐसी स्थिति में मांस भक्षण का विरोध धार्मिकता के स्तर पर संभव है भी नहीं। उसका विरोध एकमात्र नैतिकता या मानवीय करुणा की दृष्टि से किया जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन ने अयोध्या के अन्दर रानोपाली नामक स्थान में होने वाले ऐसे संघर्ष-मारपीट का उल्लेख किया है।[1] कलकत्ता के काली देवी के मन्दिर में होने वाले भैंसे की बलि के विरुद्ध रामचन्द्र 'वीर' ने बहुत बड़ा अनशन किया था। बलि के नाम पर होने वाले इस रक्तपात से अहिंसा-प्राण महात्मा गांधी भी छटपटा उठे थे और उन्होंने लिखा है, 'हमारा खयाल यह है कि वहां जो नगाड़े वगैरा बजते रहते हैं उनके कोलाहल में बकरों को चाहे जैसे भी मारो उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती।'[2] गांधी जी ने वहां के भक्तों का इस सम्बन्ध में यह कथन उद्धृत किया है "जीव हत्या को रोकना हमारा काम नहीं है। हम तो यहां बैठ कर भगवद भक्ति करते हैं।"[3] मनोविकारों के बादलों में अहिंसा की धारणा का भास्कर अस्त हो गया। पूजा से विवेक निकल गया। हिंसा का अर्थ तलवार या ऐसे ही किसी हथियार से शरीर को काट-डालना मात्र समझा जाने लगा। अहिंसा के नैतिक पक्ष

---

१. "मेरी जीवन यात्रा"

२. गांधी जी की "आत्मकथा", पृ. २०४।

३. वही, पृ. २०४।

के पहू बन गये। गाधी जी ने लिखा है, "मैं तो यह कहूँगा कि गाय की पूजा करने वाले भी हम हैं और उसका वध करने वाले भी हमीं हैं। गायो को हम इतना कम चराते हैं और बैलो पर इतना अधिक वजन लादते हैं कि उनकी हड्डी ही हड्डी देखने मे आती है। लकडी मे भी चोभनी लगा लेते हैं और जब बैल नही चलता तब उसके बदन मे चुभो देते हैं।"[1] इस प्रकार गोवध-आन्दोलन विवेकमयी अहिंसा के नैतिक स्तर से नही, धर्मान्धता के मूढता एव विवेकाधता के स्तर से होता है।

पूजा-पाठ एव स्थूल दृष्टि

हमारे सभी पर्व और त्यौहार आस्तिकता और धार्मिकता के रग मे रग गये, विवेक और नैतिकता की उनकी खाल तुच गई। दीवाली मे शाम को लक्ष्मी जी की पूजा होगी अर्थात् उनके सामने आरती घुमाई जायगी, उन पर फूल फेंका जायगा और पानी छिडका जायगा, लक्ष्मी की मिट्टी की मूर्ति के अधर-स्थल पर चीनी की मिठाई चिपका दी जायगी और घण्टी टुनटुना दी जायगी और रात मे जुआ खेल कर घाम की वास्तविक लक्ष्मी को भी घर से निकाल दिया जायगा। कारण यह है कि हम यह समझते हैं कि लक्ष्मी का एक शरीर है जो यद्यपि हमे दिखाई नही देता किन्तु वह उसी शरीर से आती है और घर का दरवाजा बन्द देख कर लौट जाती है। धन तेरस को हम धन का त्यौहार मनाते हैं और अन्य दिनो की अपेक्षा अधिक दाम पर बर्तन खरीद कर धन को लुटाते हैं। यम द्वितीया को कायस्थ कलम की पूजा करता है अर्थात् उस पर चन्दन आदि छिडकता है किन्तु क्या अविवेक है कि उस दिन कलम से कुछ लिखा नही जा सकता! मूर्खतापूर्ण पूजा का इससे अच्छा उदाहरण और कहाँ मिलेगा! हम राम-नवमी और कृष्ण-जन्माष्टमी को प्रतीक नही मानते, उसका स्वरूप उपलक्षणात्मक नही है बल्कि अभिधात्मक है। हम मानते हैं कि उस दिन की १२ बजे रात को कृष्ण जी फिर पैदा हो गये! इन सब की अन्यथा व्याख्या तो सुधारवादी मस्तिष्क की बात है!! अन्धविश्वास की बडी विचित्र स्थिति है। हमने धन्वन्तरि त्रयोदशी को "धन-तेरस" बना लिया और "वर-तन" लाभ को बर्तन-खरीदने मे बदल लिया। पुराणो मे लिखा है कि समुद्र से लक्ष्मी निकली थी। हमने उसका अभिधात्मक अर्थ लिया। जैसे दही मथा जाता है वैसे मेरु-मथानी से समुद्र मथा गया और उसमे से पालथी मारे एक सजीव सप्राण नारी बाहर निकली! भाग्य वाद का सहारा लेकर यह अन्धविश्वास यहाँ तक बढा कि एक सज्जन समुद्र के किनारे जा बैठते हैं और पूछने पर कहते हैं, "......महा समुद्र के किनारे पडा हूँ—न जाने किस वक्त लक्ष्मी की लहर चली आवे।"[2] अभी कल तक पाव रोटी को

१. प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ. २६१—२६२।

२. राहुल साकृत्यायन कृत, "मेरी जीवन यात्रा", पृ. ५५।

लोग विलासी भोजन समझते थे और बीसवीं शताब्दी के इस द्वितीयार्द्ध में भी ऐसे लोगों के सुदर्शन सहज सुलभ हैं जो किसी के घर की तामचीनी की कटोरियों और तश्तरियों को देख कर यह अमृतोपदेश अवश्य दें कि इतने विचारशील होकर भी तुम मुसलमानी बर्तन में खाना खाते हो। "हिन्दू पानी", "मुस्लिम पानी" का साइन बोर्ड भले ही हट गया हो, व्यवहार में वह अब भी है। खान-पान में छूत-छात की भावना का धार्मिक रूप ननद को भाभी के हाथ का भी भोजन एक विशेष लेगचार के बिना नहीं करने देता। चमार की गिरवी रखी हुई चीज में भी छूत माना जाता था। धार्मिकता का एक बड़ा मनोरंजक रूप अयोध्या में सरयू के किनारे या तीर्थों में दिखाई पड़ता है जहां एक धोती मात्र पहने, नंगे बदन, थोड़ी-सी जमीन गीली करके, उस पर पण्डित जी दाल-बाटी बनाते हुए दिखाई पड़ जाया करते हैं। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास रहा कि चूंकि नल में चमड़ा लगा होता है इसलिये उसका पानी पीने से धर्म चला जाता है ? बन्दरों को हनुमान जी की सेना समझ कर उन्हें चना खिलाने और उन्हें मारने वालों को घृणा की दृष्टि से देखने वाला, चींटियों के झुन्ड पर चीनी-आटा छिड़कने वालों और धरम-करम करके "पुन्न" कमाने वालों की आज भी कमी नहीं है। आस्तिक अन्धविश्वास ने पीपल के पेड़ को 'बरम बाबा" और हर टीले को 'मुड़िया बाबा' में बदल दिया है। राहुल सांकृत्यायन ने अपने यज्ञोपवीत संस्कार की विधि का उल्लेख इस प्रकार किया है, "भगवनी के नावदान में नया जनेऊ डुबाया गया और मेरे गले में डाल दिया गया। बस जनेऊ की विधि समाप्त।"[१] ब्राह्मण घरों में आज भी यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर मण्डप बनाया जाता है, कलश सजाया जाता है आम की लकड़ी के नये पीढ़े और लिखने के लिये तख्ती तैयार कराई जाती है, पण्डित आते हैं देर तक देवताओं की पूजा होती है, मन्त्रोच्चारण होता है, लड़के को धोती-लँगोटी पहनाई जाती है, कन्धे पर मृग-चर्म और हाथ में पलाश का दण्ड देकर उसे पढ़ने के लिए 'काशी" भेजा जाता है अर्थात् मण्डप के अन्दर चारों तरफ घुमा दिया जाता है, पात्र लेकर वह भिक्षा मांगता है तो एक तरफ बैठी हुई औरतों का हुजूम और दूसरी ओर मर्दों का झुण्ड पात्र में पैसे, आदि डालता है, चन्द ही मिनटों में उसी मण्डप के एक कोने से उसे यह कह कर लौटा लिया अर्थात् खड़ा कर लिया जाता है कि लौट चलो, तुम्हारा ब्याह कर देंगे। इस प्रकार 'ब्रह्मचारी जी" घण्टे-आधे घण्टे-के अन्दर "काशी" से सब कुछ पढ़ कर लौट आते हैं ! चूंकि द्विज हैं-यह उनका दूसरा जन्म हुआ है अतः खूब शान और ठाठ से इस अवसर पर दावतें चलती हैं। "ब्रह्मचारी जी" रेशमी कोट-पतलून-टाई-बूट पहनकर ताश खेलते हुए नजर आते हैं !!!

१. 'मेरी जीवन यात्रा", पृ २७।

"धरम- करम- भाव- भक्ती—

साधारण धर्म-प्राण व्यक्ति – ब्राह्मण —'हनुमान-चालीसा", "हनुमान बाहुक" और "रामायण' का भक्त होता है। यही उसकी प्रस्थानत्रयी है। हिन्दी-प्रदेश की सामान्य जनता शक्ति, शैव, और वैष्णव पूजा का जीवन में समन्वय कर लेती है। इसकी भी पूजा, उसकी भी पूजा-सब की पूजा! यहा शिवरात्रि पर "शंकर" की पूजा, "नवरात्र' के अवसर पर शक्ति की पूजा, और राम-नवमी और कृष्ण-जन्माष्टमी पर विष्णु के इन अवतारो की पूजा हिन्दुओ के घर मे घर होती है। सब देवता हैं, सभी पूज्य हैं। सन्ध्या-उपासना ब्राह्मणो की चीज समझी जाती है। "विश्वास फलदायक" तथा "मानो तो देव नही तो पत्थर" मानने वाली जाति ने पितरो के प्रति व्यावहारिक रूप में प्रदर्शित की जाने वाली श्रद्धा को "सराध" में बदल दिया और मान लिया कि "आकाशात् पतित तोय यथा गच्छति सागर, सूर्य-देवनमस्कार' केशवम् प्रति गच्छति।" उसने बिना तर्क के यह भी मान लिया कि जैसे हाड-मास के मानव-शरीर को प्यास लगती है वैसे ही भस्मीभूत शरीर वाले पितरों को भी प्यास लगती है और जैसे एक गिलास पानी पी लेने से हमारी प्यास बुझ सकती है वैसे ही क्वार के पितृपक्ष मे एक जगह बैठकर मन्त्राहूत जल-दान करने से न जाने कहा-कहा और न जाने किस-किस योनि में होने वाले पितर गण तृप्ततृपा हो जाते हैं। हमने मान लिया और हमने यह भी मान लिया कि पैसा जिसका लगेगा, आयोजन जिसकी ओर से की जायगी, कथा का पुण्य उसी को मिलेगा--भले ही वह कथा उसके निवास-स्थान से कितनी ही दूर क्यो न हो रही हो और सुनने वाले का कान किसी दूसरे ही व्यक्ति का क्यो न हो। कालेजो और विश्व-विद्यालयो मे "अटेन्डेन्स बाई प्राक्सी" प्रचलित है यद्यपि "अनरिकग्नाइज्ड" है किन्तु धर्म-विधान ने हमारी जनता ने "पुण्यार्जन बाई प्राक्सी" भी सभव कर दिया है। राहुल साकृत्यायन ने ऐसे धार्मिक अधविश्वास का एक बड़ा मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है —'मेरी चचेरी मौसी जब पानी-बर्तन के कामो मे बहुत व्यस्त रहती तो वह अपनी मुँदरी रख जाती। मा औरो के साथ उसे भी कहानी सुनाती। उपस्थित सखिया कान से उसे सुनतीं और मौसी की अनुपस्थिति मे उनकी मुँदरी सारी कहानी सुन लेती जिसे मौसी अँगुली मे पहन कर सुनने की भागिनी बन जाती।"[1] साधारणत. हिन्दू-समाज पुण्य के अवसरों पर, इच्छापूर्ति के अवसरो पर पूर्णिमा अथवा अमावस्या के अवसरो पर सत्यनारायण जी की कथा सुना करता है। पडित जी बडे प्रेम से यह कथा सुनाते हैं। रोचक बात तो यह है कि सत्य-नारायण व्रत की इस कथा में कथा सुनने के सुफल से सबध रखने वाली और न

१. मेरी जीवन यात्रा", पृ ४।

सुनने के परिणामस्वरूप आने वाली विपत्तियों से सम्बन्ध रखने वाली कहानियां-कथाएं तो कई हैं किन्तु वह मूलकथा—सत्यनारायण बाबा की अपनी कथा—कौन सी है जिसके सुनने या न सुनने के परिणामस्वरूप ये कहानियां बनीं—कहीं नहीं है। सत्य नारायण जी की पूजा की विधि तो है किन्तु उनकी कथा कहीं नहीं है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि इतनी सामान्य-सी बात—इतनी बड़ी प्रवंचना—पूरी की पूरी जाति की समझ में नहीं आ सकी, और यदि आई भी, तो उसकी प्रतिक्रिया न दिखाई पड़ी और बैरिस्टर तथा प्रोफेसर से लेकर मूढ़ किसान-मजदूर तक के घरों में यह कथा चलती है। गङ्गा-स्नान से पाप कटता है, दान-पात्र-कुपात्र का विचार किये बिना—दान से पुण्य-प्राप्ति होती है, तीर्थ यात्राएं (भले ही वे नार्य स्वरूप पाजी भिखमंगों और व्यभिचारी पण्डों के अत्याचार के गढ़ हों) और परिक्रमाएं तथा मन्दिरों में मूर्तियों के दर्शन हमारे पापों का निवारण करके पुण्य-लाभ कराते हैं, मृतक की श्राद्ध-क्रिया, आदि और जीवन की विभिन्न स्थितियों पर शास्त्र विहित संस्कार हम धर्मनिष्ठ सिद्ध करते हैं (भले ही हम उच्चरित मन्त्रों का एक अक्षर भी न समझते हों और हमारे लिये उनका उच्चारण भी वह करता हो जिसका उच्चारण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बिल्कुल अशुद्ध हो), न खाना ही हमारा उत्सव है और प्रति दिन खाया भोजन न करके उससे अधिक पौष्टिक तत्त्वों से परिपूर्ण भोजन डट कर करते रहना ही हमारा व्रत है, ब्राह्मणों द्वारा निर्देशित कर्मकांड हमारा धरम-करम है और इन कर्मकांडों का उल्लंघन करने वाला बेधरम समझा जाता है। छुआछूत और ढोंग—ढकोसला तथा पाखण्ड और आडम्बर में तथा धर्म-कर्म में अभिन्नता स्थापित हो गई। इनके सम्बन्ध में बस एक ही बात और कहनी है और वह यह है कि विभिन्न धार्मिक व्यक्ति जो नहीं कर पाते वह अपनी सीमाओं और विवशताओं के कारण, किन्तु वे जो-कुछ करते थे उन सब की उनकी धार्मिक ईमानदारी पर कोई भी सन्देह नहीं किया जा सकता। वे सचमुच मानते थे कि ऐसा करने से ऐसा होता है। ऐसा नहीं कि वे दिखावे मात्र के लिये वैसा करते रहे हों। उनका पक्का विश्वास था कि सरजू जी में डुबकी लगाने से पाप कट जाता है, मूर्ति का भोग लगाने से भगवान प्रसन्न होते हैं। सत्यनारायण बाबा की कथा सुनने से पुण्य मिलता है। आस्था का अभाव कुछ एम० ए० बी० ए० नौजवानों में द्वितीय महायुद्ध के बाद अवश्य-बढ़ता हुआ है परन्तु उस अभाव में कोई बल नहीं। वह अभाव ऐसा सघर्ष नहीं जैसा दयानन्द-विवेकानन्द का था। वह महज फैशन की चीज है। उपर्युक्त बातों में से अनेक ऐसी हैं जिनका वर्णन उल्लेख आधुनिकतम हिन्दी-कथा-साहित्य में मिलता है। प्रसाद का "कंकाल" उदाहरण रूप में उपस्थित किया जा सकता है साहित्य के लिये इससे अधिक उपयोगी यह हो भी नहीं सकता था।

इस्लाम-ईसाइयत और भारत

उपर्युक्त हिन्दू धर्म के साथ-साथ हिन्दी-प्रदेश में इस्लाम भी इधर पाँच-छः शताब्दियों से पर्याप्त फैल गया था किन्तु इतने शताब्दियों तक साथ-साथ रहने पर भी और अनेक हिन्दुओं के इस्लाम स्वीकार कर लेने पर भी हिन्दू और मुसलमान धार्मिक दृष्टि से एक दूसरे से प्रायः अपरिचित ही रह गये। इसके ऐतिहासिक कारण हैं। महमूद गजनवी का मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ना और उनका अपमान करना, औरङ्गजेब का इतनी कट्टरता के साथ हिन्दुओं से व्यवहार करना, आदि इतना भयानक हो गया कि हिंदुओं का हृदय मुसलमानों और इस्लाम की ओर से सामान्यतः फट गया। हिन्दुत्व की जड़ बहुत गहराई में थी और उसकी महानता तथा प्रभावशीलता असाधारण थी। इस्लाम का नवीन तेजोमय रूप विकराल था। उसकी तूती स्पेन से अफगानिस्तान तक बोल चुकी थी। राजपूतों की तलवारों के पानी ने जौहर ने अफगानों और अफगाना वालों की तलवारों के पानी से डट कर मुकाबला किया। नयेपन और कूटनीति ने उन्हें जिता दिया, अपनी ही कमजोरियों के कारण हम हारते गये किन्तु न तो जीतने वालों ने जीत पर निश्चिन्तता की सांस ली और न हारने वालों ने अन्तस्तल से पराजय स्वीकार किया। राजपूत इसलिये कभी नहीं हारा कि वह वीरता में किसी से कम था? उसकी हार का कारण युद्ध में भी सहज विश्वास एवं दयाभाव का होना तथा कूटनीति और सामूहिक दृष्टि का अभाव था। इसलिये राजपूतों का आत्मसम्मान नहीं मरने पाई। राणा सांगा, राणाप्रताप, हेमू, शिवाजी, शिवाजी मरहठे आदि इसके प्रमाण हैं। केवल कूटनीति और राजाधिकार से या बल-प्रयोग से हिन्दू-जाति कभी भी नहीं मिटाई जा सकती अस्तु जीत का गर्व उधर से न गया, अपराजेयता पर से विश्वास इधर का न हटा। भारत में इस्लाम की धाक उस आसानी से नहीं जमी जैसे यूरोप में जमी थी। कोई किसी को पचा नहीं पाया। दोनों एक दूसरे के ऐतिहासिक सिर-दर्द बनकर रह गये। दोनों अपने-वास्तविक स्वरूप को भूल गये और इसलिये ये दोनों एक दूसरे से मिल नहीं पाये। कितने भयानक आश्चर्य की बात है कि तेरह शताब्दियों तक के परिचय के बावजूद भी इस्लाम का अनुयायी आज "ब्राह्मण" को "बरहमन" ही कहता है। वह अंगरेजी के कठिनतम शब्दों के उच्चारण कर लेता है किन्तु 'हिमालय" को "हिमाला" ही कहता है। यह स्वाभाविकता पर कट्टरता की विजय थी। बीसवीं शती के आगमन के समय हिन्दू-मुसलमान उस तराजू के दो पलड़े हो गये थे जिसके सम-बिन्दु पर अंगरेज का हाथ था, जिसका समतोल-सूत्र अंगरेजों की मुट्ठी में था। अंगरेजी साम्राज्यवाद ने इस्लाम और उसके अनुयायियों को हिन्दुत्व और उसके अनुयायियों के बराबर की स्थिति में उतार कर बैठा दिया। मुसलमान यह नहीं भूला कि कल ही उसने हिन्दुओं

पर शासन किया था और अगर मौका मिलेगा तो आने वाले कल वह फिर उन पर शासन करेगा। इधर हिन्दू उनके अत्याचारों को नहीं भूला था। एक नये विद्वेष ने जन्म लिया लेकिन यह विद्वेष नेताओं और उनके स्वार्थी अनुयायियों तक ही सीमित रह गया। धार्मिकता के व्यावहारिक दृष्टिकोण से सामान्य जनता की प्रवृत्तियां एक सी हो गई थीं। प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का स्वरूप विभिन्न था। कर्मकाण्डों पर धर्म के मूल तत्व से अधिक विश्वास मुसलमान जनता की भी प्रवृत्ति थी। इसी प्रकार, अन्धविश्वास उनमें भी था। मरे टाइटस ने लिखा है, "सामान्य जनता सन्तों में, प्रार्थना स्वीकार करने की—इच्छा—पूर्ति करने की और चमत्कार उपस्थित करने की उनकी शक्ति और क्षमता में विश्वास करती है और अपने इस विश्वास को सही, उपयोगी, और व्यावहारिक मानती है।"[1] शायद यह हिन्दुओं की मूर्ति-पूजा का ही प्रभाव है कि मुसलमान भाई भी पीरों, दरगाहों और कब्रों की पूजा अपने हिन्दू भाइयों की ही तरह करते हैं। चूंकि साहित्य की रचना पढ़े-लिखे लोग करते हैं और पढ़े-लिखे लोग जन-प्रवृत्तियों से उतने परिचालित नहीं होते जितने अध्ययन से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों से, इसलिये साहित्य की रचना के क्षेत्र में ऐतिहासिक कारणों से उत्पन्न पारस्परिक अविश्वास एवं अज्ञानता का ही अधिक प्रभाव पड़ा और वह भी इस रूप में कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मुसलमान साहित्यिकों का योग प्रायः नगण्य-सा रहा है। यही स्थिति ईसाई धर्म की भी रही और उस धर्म के तत्वों का भी हमारे साहित्य पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। सच्ची बात तो यह है कि अपने सांस्कृतिक परिवेश में ईसाई धर्म इतना पाश्चात्य रहा कि उसे हम सच्ची दृष्टि से भारतीय धर्म कभी मान ही नहीं पाये और भारतीयता के रङ्ग में पूरी तरह से रंगा हुआ हिन्दी साहित्य उससे बिलकुल ही प्रभावित नहीं हुआ।

दर्शन

इस अन्धकार-काल में जो स्थिति हमारे धर्म की थी लगभग वैसी ही स्थिति हमारे दर्शन की भी थी। हमारे यहां धर्म और दर्शन भिन्न-भिन्न तत्व नहीं, पूर्ण रूप से अभिन्न तत्व हैं। हमने दर्शन के क्षेत्र को केवल चिन्तन, मनन और अनुमान का ही क्षेत्र कभी नहीं माना। भौतिक क्षेत्र की सीमाओं से अपने को मुक्त करके सुविशुद्ध प्रज्ञा के द्वारा चिन्तन-मनन और मन्थन करके जो पाया वह हमारा दर्शन बना और व्यावहारिक क्षेत्र में उसकी अवतारणा के लिये जो कर्णीय-कर्त्तव्य-हुआ वही हमारा धर्म बना। अतएव भारत में एक का पतन और दूसरे का उत्थान सम्भव ही

---

१ "इस्लाम इन इन्डिया एंड पाकिस्तान", पृ १७४।

नहीं था। और तब, बीसवीं शताब्दी की भूमिका में जो गति धर्म की हुई वही दर्शन की भी हुई। परिस्थितियों ने जैसे धर्म को जीवन के कर्म क्षेत्र से अलग कर दिया वैसे ही दर्शन को भी अलग कर दिया, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से जिस सुरक्षात्मक दृष्टिकोण से हमने धर्म को जितना और जहां तक अपनाये रक्खा उतना ही और वहीं तक दर्शन को भी नहीं छोड़ा। व्यावहारिक दृष्टि से धर्म भी समन्वयात्मक रहा और दर्शन भी। कुछ अद्वैतवाद, कुछ विशिष्टाद्वैतवाद, कुछ आस्तिक, कुछ नास्तिक, कुछ मीमांसा, कुछ पाशुपत, कुछ शाक्ति, कुछ शैव, कुछ गीता, कुछ उपनिषद्, आदि दर्शनों की बातें आ कर यहां मिल गई। इस प्रकार, एक ऐसी खिचड़ी बन गई जो हिन्दी-समाज के व्यावहारिक जीवन के लिये पूर्णरूपेण सुपाच्य एवं लाभप्रद हो गई।

ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि,—

हिन्दू समाज मानता है कि ईश्वर एक है। वह सर्व समर्थ है। वह सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द, अनन्त सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, नित्य, निर्विकार, सर्वकर्मफलदाता, अविनाशी गुणातीत और जगत की उत्पत्ति स्थिति संहार का कारण है। समस्त विरोधी वृत्तियों का वह सन्धि-स्थल है। समस्त वृत्तियां वहां पहुंच कर या उससे सम्बन्धित होकर अपनी-अपनी विशिष्टताएं खो बैठती हैं। वह दीनदयालु, दीनबन्धु, कृपासागर और पापियों का उद्धार करने वाला है। वैसे तो वह निर्गुण है किन्तु चूं कि वह सब-कुछ कर सकता है, इसलिये " परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां, धर्मसंस्थापनार्थाय" युग-युग में अवतार लेता है। लीला करने की भावना से प्रेरित होकर वह सृष्टि की रचना करता है।

जीव ईश्वर का ही एक अंश है और अंश-रूप में ईश्वर की समस्त विशेषताएं उसमें वर्तमान हैं। भगवान की दो मायाएं हैं—विद्या माया और अविद्या माया। इस अविद्या माया के वश होकर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल कर काम, क्रोध, मोह, लोभ, ममता, अहङ्कार, आदि में फंस जाता है और जन्म-मरण के कष्ट उठाया करता है। वह असमर्थ हो जाता है और भांति-भांति के कष्ट उठाया करता है ज्ञान मार्ग अथवा मुक्तिमार्ग के द्वारा जीव भगवान का दर्शन प्राप्त कर सकता है और मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। ये तीनों गुण हैं सत्, रजस् और तमस्। माया से आबद्ध जीव प्रकृति का दास हो जाता है वह रूढ़िवादी हो जाता है और आंख मूंद कर विश्वास करने लग जाता है।

कल्याण-मार्ग—

कहने के लिए तो हम वेदों पर विश्वास करते हैं किन्तु चूं कि कलियुग में वेदों का लोप हो गया है इसलिए हमारा विश्वास है कि भगवान का नाम रटने से ही हमारा

कल्याण हो सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्मण-वाक्य और बाबा-वाक्य ही प्रमाण हो गया है। तात्विक दृष्टि से जगत माया है किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह सत्य और तथ्य है यहां रहने-और अच्छे ढंग से रहने-के लिए उचित-अनुचित सब-कुछ किया जा सकता है। पाप किये जाना और उसके फल से बचने के लिए कुछ पुण्य-कार्य जैसे, मंगल का व्रत, दान-पुन्न, देवता की 'पूजा", पवित्र नदियों में डुबकी लगाना, कर्मकांडो का पालन, आदि–किये जाना हमारी वृत्ति हो गई है। मरने के बाद सांसारिक जीव के गन्तव्य पर पहुँचने के पहले उसे एक नदी पार करनी पड़ती है जिसका नाम है वैतरणी। उसे पार करने के लिए पूँछ का सहारा पाने को गाय का दान मरने के समय लोगों से कराया जाता है। नहीं तो जीव उसी में डूबा-उतराया करता है। डूबता है तो जलचर कष्ट देते है, उतराता है तो खूँखार पक्षी।

प्रायश्चित और 'परसाद'—

जीव की मुक्ति का एक मार्ग और भी प्रचलित है। उत्साह और सक्रियता से पाप किये जाओ और मन्दिर में भगवान के सामने रोये जाओ—हे भगवान्! हम बड़े पापी हैं! आप ही हमारा उद्धार करो! हम बड़े अधम हैं! हमें आप ही का सहारा है! भगवान एक पुलिस अफसर या प्रशासनिक अफसर की तरह है और जीव एक धनवान भिखारी की तरह! जो करता है वह करता ही जायगा और चिरौरी विनती करके अपने अपराध क्षमा कराता रहेगा। मरने के बाद जीव को भगवान की कचहरी में जाना पड़ता है। चित्रगुप्त भगवान की कोर्ट के पेशकार साहब हैं, और खुद भगवान, जज साहब। ये भगवान जी चापलूसी पसंद करने वाले—घूसखोर बड़े आदमियों जैसे हैं। हनुमान जी, देवी जी, आदि देवता—देवी भी बड़े लालची हैं। ये बीस आने के लड्डू या बकरे आदि की लालच में अपने सौदागरस्त भगतों की आवश्यकता-पूर्ति कर दिया करते हैं।

कर्म—

कर्म संबंधी हमारी दार्शनिक धारणा यह हो गई कि जीवन में धन सम्पत्ति, मान-मर्यादा बढ़ाकर बड़ा आदमी बनने के लिये जो भी ठीक समझो, करो। इस तरह करो गोया अमर हो। उचित-अनुचित, धोखा-धड़ी, बेईमानी, क्रूरता, व्यभिचार, आदि-सब कर सकते हो। हां, साथ–साथ 'दान-पुन्न' जरूर करते चलो। मंदिर बनवाओ, धरमशाला बनवाओ, पुजारी जी के जीवन-निर्वाह की व्यवस्था किये रहो, बामन देवता को 'सीधा" देते रहो, बस, भगवान भला करेंगे? कार्य-कारण-संबंध अनिवार्य नहीं रह गया, वह बड़ी आसानी से निवार्य हो गया। कर्म-सिद्धान्त का अर्थ भाग्यवाद हो गया। अच्छा हुआ, भाग्य से, बुरा हुआ, भाग्य से, ६ साल की बच्ची के ६० वर्षीय और

राज-रोग के आश्रय-स्थान पति देवता मर गये, भाग्य से, फेल हो गये, भाग्य से, मुकदमा हार गये, भाग्य से, गरीब हैं, भाग्य से, अमीर हैं, भाग्य से जो कुछ हो रहा है, भाग्य से जो-कुछ नही हो रहा है, भाग्य से जो-कुछ नहीं हो सकता भाग्य से, जो-कुछ हो जायगा, भाग्य मे, भाग्य-तकदीर-एक विचित्र दार्शनिक संग्रहालय है जहा से हो सब-कुछ निकलता है। "करम" माने "कर्म" नही, मरने की साल के भीतर ब्रह्मा के द्वारा अदृश्य रूप मे लिखित कुछ पंक्तिया हैं।

आवागमन और स्वर्ग-नर्क

हम आवागमन की बात मानते हैं। हम यह भी मानते हैं कि पिछले जनम मे जो-कुछ किया है वही इस जनम में भोगते हैं। साथ ही साथ, हम यह भी मानते हैं कि दो ऐसी जगहें भी हैं-कहा हैं, यह पता नही, शायद आसमान मे कही हैं-जिनमे से किसी एक जगह भगवान के राज्य की न्याय-व्यवस्था के निर्णय के अनुसार जीव को जाना पडता है और सूक्ष्म शरीर धारण करके-जो अंगूठे के बराबर होता है-अपने-अपने कर्मों के फल को भुगतना या भोगना पडता है। इन दोनो जगहो मे से एक को स्वर्ग कहते हैं और दूसरे को नरक। चोरी करने वाले, व्यभिचार करने वाले आदि को क्या दन्ड मिलता है, इसकी तस्वीरें बजारो मे चार-चार या छ छ आनो मे मिलती हैं। नरक ब्रिटिश साम्राज्य के किसी भयानक जेल की तरह है जिसके जेलर साहब का नाम है यमराज जी, और स्वर्ग किसी समृद्ध-विलासी राजा की सुन्दर राजधानी की तरह है जिसके राजा साहब का नाम है इन्द्रदेव !

भगवन-दर्शन और उसका फल-वरदान

भगवान का दर्शन हो सकता है किन्तु वह बडे भाग्य से ही होता है। उसका फल है अच्छे भोग के वर-दान की प्राप्ति। भक्त लोग अनन्त भक्ति का वरदान मागते हैं। मोक्ष की बात कभी-कभी सामने आ जरूर जाती है किन्तु सुन्दर भोग अथवा लोकोत्तर, आनन्दमयी, चिर अनुभूति को छोड कर निःस्वाद मोक्ष मागे कौन और मागे भी तो क्यो ? नैतिकता और संयम की दृष्टि से हमारे जीवन-दर्शन की स्थिति बडी ही दयनीय हो गई। धर्म की आड मे समस्त राजसिक और तामसिक क्रियाओ का अन्धाधुन्ध प्रचलन हो गया। काम, क्रोध, मोह, माया-ममता, मद, मत्सर, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, क्षोभ, स्पर्द्धा, ढोंग, ढकोसले आदि का धार्मिकों के समाज में बेरोक-टोक व्यवहार होने लगा। भक्तजन अपने महात्माओं के ऐसे कार्यों को देख कर भी इस प्रकार न देखने लगे मानों इनको देखना और इन पर विचार करना पाप है। कर्मकाण्ड में से नैतिकता का विचार निकल गया। विचार-विनिमय के लिये कोई संभावना ही नहीं रह गई। उपासना का सम्बन्ध भाव-विहीन कर्मकान्ड से हो गया।

और ज्ञान से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। दर्शन कहानी-प्रधान हो गया और वे कहानियां प्रायः पुराणों से ली गई। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि इस युग में हमारा जीवन-दर्शन पतनोन्मुखी, भावशून्य, एवं भावनाशून्य भक्ति-दर्शन हो गया।

धर्म का वास्तविक रूप

हिन्दू-धर्म और दर्शन का वास्तविक रूप यह नहीं था क्योंकि यह रूप किसी महान् साहित्य की न तो प्रेरणा बन सकता है और न विषय। ऊपर कहा जा चुका है कि जो व्यक्ति को और समाज को धारण कर सके वही धर्म है अर्थात् जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को और समाज के कल्याणकारी स्वरूप को विघटित होने से बचाए रख सके एवं उसको स्वस्थ एवं स्वाभाविक रूप से गतिशील रख सके वही धर्म है। धर्म की उपर्युक्त परिभाषा "धर्म" शब्द के लक्षण एवं अर्थ में ही निहित है। "धर्म" *शब्द व्याकरण के अनुसार "धृञ् धारणे" धातु के आगे "मन्" प्रत्यय लगाने से बनता* है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से हो सकती है—

१. ध्रियते लोक अनेक इति धर्म —जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है।

२. धरति धारयति वा लोकम् इति धर्म —लोक को धारण करे वह धर्म है।

३. ध्रियते य, स धर्म — जो दूसरो से धारण किया जाय वह धर्म है।

अमरकोष-कार के अनुसार 'धर्म" शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा-सुकृत या पुण्य, वैदिक विधि-यागादि, यमराज, न्याय, स्वभाव, आचार, सोमरस को पीने वाला। निरुक्त में "धर्म' शब्द का अर्थ "नियम" बताया गया है। महर्षि कणाद ने कहा है कि जिससे इस लोक में उन्नति और परलोक में कल्याण या मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है। मनु के अनुसार समस्त वेद अर्थात् ऋक्, यजु, साम, और अथर्व वेद धर्म के मूल हैं। गीता भी वेद में कहे हुए तत्वों को ही धर्म मानती है। क्रिया या कर्म द्वारा सिद्ध होकर जो कल्याण करे वही धर्म है। हमारे धर्म की उत्पत्ति सत्य से, वृद्धि दया और दान से, निवास क्षमा में, और नाश क्रोध से होना है। मनु के अनुसार वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार और आत्मा का प्रियता धर्म का लक्षण है। व्यक्ति और व्यक्ति के लिये, व्यक्ति और समाज के लिये, सामान्य और विशेष परिस्थितियों में, स्वाभाविक स्थिति और आपत्तिकालीन स्थिति में धर्म का स्वरूप बदल जाया करता है, यद्यपि उसकी वृत्ति और लक्ष्य एक ही रहता है। धर्म के स्व-

रूप को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है, "धर्म भारतीय विचारो और जीवन का आधार और युगो-युगों से उसकी सभ्यता का मार्ग-प्रदर्शक रहा है। अपने इतिहास के विभिन्न आवर्तनों और परिवर्तनो के बीच वह इस सिद्धान्त को अविचलित रूप से ग्रहण किये रहा। आत्मा की मुक्ति और स्वतन्त्रता उसके जीवन का पुरुषार्थ रहा हैं, मानव की दिव्यता और जीवन की मूलभूत एकता, उसका शाश्वत सदेश।"[१] गाधी जी के अनुसार धर्म वह तत्व है जो मानव के स्वभाव को बदल सकता है, जो मनुष्य को आतरिक सत्य से बाधे रहता है, और जो उसे सदैव शुद्ध करता रहता है। सच्ची बात तो यह है कि धर्मचिर परिवर्तनशील माननीय प्रकृति का अपरिवर्तनीय एव शाश्वत धर्म है। राधाकृष्णन ने धर्म के सम्बन्ध मे विचार करते हुए लिखा है, "धर्म शास्त्रार्थो, विद्वत्‌निष्कर्षो अथवा सस्कारों के सम्पादन, एव कर्मकान्डो का नाम नही है। वह एक प्रकार का जीवन है। वह एक विशेष अनुभूति है। वह सत्य की प्रकृति का दर्शन है अथवा सत्य की अनुभूति भावातिरेक का रोमाच नही है या आत्मपरक उद्भावना नही है बल्कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अनुभव है। मूल सत्य से सम्बन्धित पूर्णतम अखड व्यक्तित्व है। वह आत्मा का विशिष्ट दृष्टिकोण है......।"[२] धर्म के शाब्दिक, व्याकरण-सम्बन्धी, तथा मनु और कणाद, आदि के द्वारा किये गए अर्थ, और धर्मप्राण महात्माओ द्वारा उपस्थित किये गए स्वरूप, तथा दार्शनिको द्वारा की गई व्याख्या में कोई भी मौलिक अन्तर नहीं है। बाते एक ही हैं, केवल कहने का ढग दूसरा है। उसके स्वरूप को और अधिक बोधगम्य बनाते हुए स्वामी शिवानन्द ने लिखा है, "जो आत्मा को ईश्वर मे पुनराबद्ध कर देता है वह धर्म है। मानव सदैव अपने पशुवत् अस्तित्व मे सन्तुष्ट नही हो पाता। पशुओ की तरह जीवन बिताते रहने से उसकी आन्तरिक तृप्ति नही होती। वह आध्यात्मिक सन्तोष आश्वासन, और शाति चाहता है। ऐसे मानव की गहनतम आन्तरिक इच्छा-माग-की पूर्ति एवं तृप्ति धर्म से ही सभव है।"[३] वे यह भी कहते हैं, 'धर्म किसी व्यक्ति के जीवन और उसके मानस पर सजीव प्रभाव डालता है। वह मस्तिष्क को आध्यात्मिक भोजन देता है। वह मानव को दिव्य बना देता है। वह देवी जीवन है वह हृदय को पिघला कर उसे विशुद्ध कर के उसको परिवर्तित कर देता है। विश्वास धर्म की नीव है। आत्मानुभूति उसकी वाह्य रूपरेखा है। पवित्रता, सत्यनिष्ठा, विशुद्धता और अहिंसा उसकी दीवारें हैं। नीर-क्षीर-विवेक, अपरिग्रह, निर्मलता एव प्रसन्नता, आत्म-सयम, चिर

१. 'दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इन्डिया'; भाग, ४, भूमिका ७ वा पृष्ठ।

२. 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ'; पृ. १५

३ "वर्ल्ड पार्लियामेंट आफ रिलीजन्स", कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ. १०६।

की एकाग्रता और ओदार्य उसकी ईंट हैं। प्रेम उसका सीमेंट है।"[1] एक ओर धर्म का यह रूप है, और दूसरी ओर, अन्धकार के परिणामस्वरूप उत्पन्न-काजल की कोठरी से निकले हुए-हिन्दू धर्म का वह भयावह रिक रूप, जिसे हम पिछले कुछ पृष्ठों में देख चुके हैं! दोनों में बड़ा अन्तर है! यदि हम कुछ और गहराई से देखें तो धर्म की इस व्याख्या के अनुसार अपने प्रचलित हिन्दू धर्म का एक भी तत्व सम्भवतः न मिल सकेगा! और हिन्दू धर्म ही क्यों, ईसाई, इस्लाम, पारसी, बौद्ध, जैन, आदि कोई भी धर्म अपने वर्तमान व्यावहारिक रूप में धर्म की इस कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। इसका कारण है।

धर्म के रूप

बात यह है कि धर्म के दो रूप होते हैं-एक उसका प्राण अथवा मूल तत्व, और दूसरा, उसकी बाह्य रूपरेखा। धर्म का पहला रूप शाश्वत एवं सनातन होता है। उसका दूसरा रूप समय, स्थान एवं परिस्थिति सापेक्ष होता है। सान गुरू जी ने लिखा है, "धर्म में दो भाग होते हैं एक शाश्वत तत्वों का भाग और एक अशाश्वत तत्वों का भाग ... धर्म का यम रूप नहीं बदलता लेकिन नियम रूप-भाग-बदलता रहता है।"[2] धर्म के इन्हीं दोनों रूपों को ध्यान में रख कर अरविन्द ने लिखा था, "धर्म मानव समाज का एक अत्यन्त महान् सांस्कृतिक प्रभाव है और इसने मानव जीवन के लिए गुरु से ही सबल प्रेरणा प्रदान की है ....इनकी विभिन्नताएं स्पष्ट हैं और ये विभिन्नताएं अपने-अपने जन्म-स्थान की भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्थितियों से सम्बन्ध रखती प्रतीत होती हैं .....यदि हम धर्मों के केन्द्रीय अनुभवों को विचारें, उन अनुभवों को जिनसे उन का जन्म हुआ है तथा जिन्हें वे चरितार्थ करना चाहते हैं, तो उनमें अपूर्व सहानुभूति और साम्य पाते हैं।"[3] गांधी जी ने भी कहा है, "आप इतना समझ लें कि सभी मजहब अच्छे हैं ..."[4]

हिन्दू-धर्म और दर्शन—

ध्यान रखने की बात यह है कि हिन्दू-धर्म का यह रूप विकृत नहीं हुआ। विकृत हुआ धर्म का वह भाग जो स्थान, समय और परिस्थिति-सापेक्ष है, और इस विकृति का भी स्वरूप यह है कि सहस्राब्दियों पूर्व निर्धारित हमारे कर्मकाण्ड वैसे के

---

१. वही, पृ ७३।

२ "भारतीय संस्कृति", पृ ४२

३ अदिति, अरविन्द विशेषांक, अगस्त, १९५१, पृ. १३२

४ "प्रार्थना प्रवचन" पृ ९३

वैसे ही रह गये। वे परिवर्तनो के साथ-साथ परिवर्तित अथवा संशोधित नही हो पाये जिसका परिणाम यह हुआ कि परिवर्तित व्यावहारिक जीवन से उनकी सगति न बैठ सकी। उनके भीतर की सजीवता, स्फूर्ति, प्राणवान तत्व निकल गया। यही स्थिति अन्य धर्मों के साथ भी है। यदि हिन्दू-धर्म का सर्वस्व या प्रधान तत्व यही पक्ष होता तो हिंदुत्व कब का मिट गया होता, किन्तु यह तत्व हिन्दुत्व का प्रमुख तत्व है ही नही यह प्रमुख उन लोगो के लिए है जिनके मस्तिष्क और चेतना के सभी दरवाजे और खिडकिया बन्द हैं अर्थात् जो चेतना पाकर भी जड हैं। हिन्दी के साहित्यिक जड नही हैं और इसीलिये हिन्दी के आधुनिक साहित्य के निर्माताओ ने धर्म के इस भाग को साहित्य का विषय कभी नही बनाया—साहित्येतर स्थलो और अवसरो पर वे भले ही इसी को अपनाते रहे हो। हिंदू धर्म मे प्रमुखता है उसके शाश्वत भाग की ओर उस भाग मे न मालूम कितनी अक्षय सजीवनी शक्ति भरी हुई है ! ! वह मानव-आत्मा की शाश्वत वृत्तियो-प्रवृत्तियो पर आधारित है। वह व्यापक तत्वो से सबधित है। वह मानव की सर्वव्यापक एव सार्वकालिक प्रकृति की असली माग की पूर्ति के लिए है। इसलिये राधाकृष्णन ने लिखा है, "हिन्दुओ के धर्म को धर्म-शास्त्र न कह कर जीवन-योजना कहना ही अधिक उपयुक्त होगा[1]............ ... सपूर्ण प्रयत्न का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक पूर्णता है..........।"[2] हमारा यह धर्म सस्थाओ और सस्कारो के जाल से लोगो के चरित्र एव उनकी नैतिक भावनाओ को विकसित करने के लिए है। यह शाश्वत मानव द्वारा अनुमोदित आचार-शास्त्र है। जिस देश का धर्म इतना महान है, और साथ ही साथ, बौद्धिक दृष्टि से जो देश कभी भी किसी से पीछे नही रहा उस देश का दर्शन भी वैसा नही हो सकता जैसा हमने पिछले पृष्ठो मे देखा है क्योकि वह भी एक आपत्तिकालीन दर्शन था। कारण यह है कि दर्शन धर्म का युक्तिवादी एव बौद्धिक पक्ष है और धर्म दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप है। हमारा दर्शन ससार मे अनोखा है और हमारी दार्शनिक उपलब्धिया विश्व की अनिवार्य एव गौरवमयी विभूतिया हैं। उन्हे खो कर ससार दरिद्र हो जायगा। वह ससार का प्रेरणा-स्रोत है। उसी ने भारत का मस्तक ऊँचा उठाया है।

दो सस्कृतियो का गलत दृष्टि लेकर मिलना—

अठारहवी शताब्दी मे विश्व-इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई यूरोपीय शक्तियो का भारतीय शक्तियो से सम्पर्क। वे "सोने की चिडिया" की खोज मे भारत आये। उनका उस भारत से सम्पर्क स्थापित हुआ जिसके बारे मे

१. "भारत की अन्तरात्मा", पृ. ३३।
२. वही, पृ ३१।

वे न मालूम कितनी रहस्यमयी बातें और आश्चर्यजनक कथाएँ सुनते रहे। वे भारत मे तो आये किन्तु भारत को समझने की अन्तर्दृष्टि लेकर नहीं आये। एक ओर दुर्भाग्य था। शांत और उदार भारत उनके आने के कई शताब्दियों पहले से अन्य विश्वासी, स्वार्थी, युद्धप्रिय और कट्टर, तथा स्व धर्म विस्मृत जाति के घनिष्ठ सम्पर्क में आ चुका था। विरोधी प्रवृत्ति वाली जातियों के मिलने से जो आलोडन हुआ उसने कुछ नासमझ किन्तु प्रभावशाली व्यक्तियों के कारण दोनों जातियों को समन्वित सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित स्थिति तक नहीं आने दिया और दोनों जातियाँ पतनोन्मुखी हो चलीं। मिलन यदि सम्मिलन मे बदल सका होता तो यूरोपवासियों के आने के बाद का इतिहास कुछ और ही होता। किन्तु यह नहीं होना था, नहीं हुआ। यूरोपवासी भारत को समझने की अन्तर्दृष्टि लेकर आये नहीं थे और हमारी स्थिति ऐसी थी नहीं कि हम कुछ समझा सकते। परिणामत उन्होंने मिथ्या दृष्टि से हमें समझना प्रारम्भ किया और समझे यह कि भारत यद्यपि सोने की चिड़िया है किन्तु जो-कुछ भारतीय है वह सब निकृष्ट है। धर्म, दर्शन साहित्य जीवन और समाज-सब तुच्छ हैं। वेद गड़रियों के गीत हैं, धर्म रूढ़ियों-अन्धविश्वासों-अनैतिकताओं से भरी बकवास-कल्पित प्रिय और कहानियाँ का बन्न है सारा का सारा साहित्य अंगरेजी पुस्तकालय के एक खाने से भी निकृष्ट है जीवन-स्तर निम्नतम है और लोग असभ्य हैं। परिणाम यह हुआ कि हम सभ्य बनाने का उत्तरदायित्व उनके कन्धों पर भगवान ने अपने-आप डाल दिया और संसार में हमारा हम पापियों का उद्धार कराने का ठेका खुदा के बेटे के अनुयायियों ने ले लिया और कितना उद्धार किया इसका साक्षी-प्रमाण-गोआ डामन डियू का इतिहास है। सभ वामि युगे युगे का वादा करने वाले को सम्भव होने की आवश्यकता पड़ गई 'सृजाम्यहम्' को सृजित होने का उपयुक्त अवसर दिखाई पड़ने लगा। अवतार हुए--रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द रामतीर्थ, दयानन्द गांधी आदि, के रूप में। परमहंस ने प्राचीन ऋषियों-मुनियों की जीवन कथाओं पर विश्वास पैदा करा दिया विवेकानन्द ने धर्म दर्शन को तात्कालिक जीवन से संयोजित कर दिया राम तीर्थ ने भारत माता को एक धार्मिक अस्तित्व एवं व्यक्तित्व प्रदान किया दयानन्द ने आर्य धर्म की युक्तियुक्तता तथा उसमे निहित शक्ति और क्षमता का दिग्दर्शन कराया और विरोधियों की अनर्गल वाणी के अनाचार को रोक दिया और गांधी ने व्यावहारिक जीवन राजनीति समाज, आदि-में उसकी सम्भावनाओं और उपयोगिताओं को प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। इन अलौकिक शक्तियों ने कायापलट कर दी। डी० एस० शर्मा ने सन् १८८५ ई० (कांग्रेस के स्थापना वाले वर्ष) से सन् १९५० ई० (भारतीय जनतंत्र की स्थापना वाले वर्ष) के बीच के समय को हिंदुत्व

: आधुनिक महान् पुनर्जागरण का युग माना है। [1] हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी कायापलट, इसी पुनर्जागरण, इसी पुनरुत्थान, प्राचीन आत्मगौरव की प्राप्ति के इन्हीं प्रयासों, इसी मथन, से निःसृत नवनीत की साहित्य अभिव्यक्ति है-झांकी है।

हिन्दू-धर्म और ईसाई—

हुआ यह कि जब ईसाइयत शासकों का धर्म हो गई तब हम भारतवासी चौंक पड़े। इसके बाद हिन्दुओं का शील कभी निन्दित नहीं हुआ। धर्म-परिवर्तन अधिकतर उन्होंने ही किया जो हिंदुत्व में अनादृत थे अथवा उससे त्रस्त थे। उच्च-वर्गीय लोगों को-समझदार लोगों को-हिन्दुत्व ही प्यारा है। ईसाई धर्मप्रचारक हमारे धर्म में बुराइयां ही बुराइयां देखने लगे और अपनी पुस्तकों में यही सब लिखने लगे। हम भी सोचने लगे कि क्या सचमुच यही बात है। विचारशील लोगों ने हिन्दुत्व का पर्यवेक्षण प्रारम्भ किया। हमें अपनी बुराइयां दिखाई पड़ी तो साथ ही साथ अपनी महानता से भी हम परिचित हो गये। यहीं से पुनर्जागरण प्रारम्भ हो गया। हमने देखा कि अँगरेजी शिक्षा पाये हुए नवयुवक अपने धर्म और अपनी संस्कृति से घृणा करने लगे हैं। हमारी समझदार जनता ने इनका तिरस्कार और बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। ये छिछले लोग चरित्रहीन निकले और चूंकि आज भी भारत की एक प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता यह है कि वह सब-कुछ अपराध क्षमा कर सकता है किन्तु चरित्रहीनता को कभी भी क्षमा नहीं कर सकता अतएव उनसे, उनकी संस्कृति और उनके धर्म से, अरुचि प्रारम्भ हो गई। ईसाइयों की सबसे बड़ी भूल यही थी कि सांस्कृतिक दृष्टि से वे भारतीय कभी भी नहीं हो पाये और इसी-लिये वे भारत के अपने कभी भी नहीं हो सके। इन ईसाइयों ने हमारे धर्म और हमारी संस्कृति की कम हानि नहीं की। आक्रमणकारी मुसलमानों ने यदि मन्दिर तोड़े थे, बलात् धर्मपरिवर्तन कराया था, और देवताओं की मूर्तियों को तोड़ा था तो इन्होंने भी हमारे धार्मिक साहित्य, हमारे धर्म, और हमारे देवताओं का अपमान किया। धर्म-परिवर्तन इन्होंने भी कम नहीं कराया। यही कारण है कि ये भी हमसे दूर हो गये-हमारे साहित्य से भी दूर हो गये। रहन-सहन में मुसलमान भाई तो हममें मिल-जुल गये थे लेकिन यह नवीन आक्रमण चूंकि धार्मिक कम, सांस्कृतिक अधिक था, अतः ये हमारे पास किसी भी रूप में न आ सके। ताजिए में लाखों हिन्दू भाग लेते हैं किन्तु क्रिसमस और ईस्टर में शायद एक भी हिन्दू भाग नहीं लेता।

---

१. "हिन्दूइज्म थ्रू दि एजेज", पृ. ३।

हिन्दुत्व का पुनर्जागरण—

राधाकृष्णन ने ठीक ही लिखा है कि हिन्दू धार्मिक पुनर्जागरण का कुछ कारण तो पाश्चात्य खोजो का परिणाम है, कुछ पाश्चात्य-शासन के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया है और कुछ ईसाई धर्म प्रचारकों के धर्म-प्रचार के विरुद्ध होने वाला विद्रोह है[१]। यह विद्रोह करने वाला वही था जो न तो प्राचीनता से पूरी तरह—अंधे ढंग से—चिपका था और न आधुनिकता के रंग में रंग कर प्राचीन को बिल्कुल भुला ही बैठा था। वह प्राचीनता से भी प्रभावित था और आधुनिकता से भी। आधुनिकता से प्रभावित मस्तिष्क की तृप्ति नये तत्वों नई व्याख्याओं नये निष्कर्षों, और नये रूपों से होती है। हिन्दू धर्म को अब हमें इस रूप में रखना था कि वह इन मांगो की पूर्ति कर सके। आज के युग ने पुराने धर्मों और दर्शनों को इस बात की चुनौती दे रखी है कि वे अपनी उपादेयता और उपयुक्तता को एक बार फिर प्रमाणित करें नहीं तो नवीन परिस्थितियों की मांग और युक्तिवाद के हथौड़े से वे चूर चूर हो जायेंगे। उन्नतिशील सभी धर्मों के नेता इस चुनौती का जवाब सोचने में संलग्न हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर विश्व का प्राचीनधर्म-दर्शन, हिन्दुत्व, एक नई आन बान से उभरता हुआ दिखाई पड़ रहा है। भीखनलाल आत्रेय ने जे० बी० प्रेट का का यह कथन उद्धृत किया है कि आधुनिक विज्ञान की भूमिका में भी जो धर्म पुनर्जीवित होता हुआ दिखाई दे रहा है वह हिन्दू धर्म ही है। [२]

नव शिक्षित व्यक्ति तथा पुनर्जागरण की प्रक्रियाएं

सबसे पहले यह दृष्टि उन्हें मिली जो नई शिक्षा पाये हुए थे और जिनके सम्बन्ध दूर-दूर तक थे और जिनके ज्ञान की सीमा व्यापक थी। पश्चिम की संस्कृति भारत में घुस आई और उसके साथ साथ वे कारण भी आये जिनसे नवीन आशाएं, आकांक्षाएं, और उत्सुकताएं पैदा हुई। हिन्दुओं ने अध्ययन किया और अपने को एक ऐसे संसार में पाया जिसमें राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, समानता, और प्रत्येक व्यक्ति की महत्ता की भावना सामान्य रूप से प्रचलित थी। ये हिंदू नवीन शिक्षा, व्यापार और यात्राओं के लिए उत्सुक हुए। वे विभिन्न वर्गों में घुले-मिले, विभिन्न जातियों के साथ बैठ कर खाया-पिया और समुद्र यात्राएं की यद्यपि जाति-बहिष्कार का डर बराबर उनके साथ रहा। नई आवश्यकताओं और आकांक्षाओं ने उनके व्यक्तित्व को विभिन्नता दी—स्वतन्त्र एवं मुक्त व्यक्तित्व, आत्मविश्वासी व्यक्तित्व क्रियाशील व्यक्तित्व। सारी १६ वी शताब्दी में सामान्य जनता का स्थिति पूर्ववत् रही। यद्यपि परम्परा से चले आते हुए ढांचे वैसे ही रहे किन्तु कुछ उन साहसी व्यक्तियों के

---

१. ईस्ट एन्ड वेस्ट पृ० १०८

२ "पापूलरहिंदूज्मऐटए ग्लास" की भूमिका।

मस्तिष्क मे नये विचारो को जगह मिली जो ऐसे परिवर्तनो की राय देते रहते थे जिन्हें सुनकर पुराने विचारो और मान्यताओ के विश्वासी व्यक्ति चौंक पडा करें। नवीन सामाजिक मान्यताओ की स्वीकृति तथा व्यक्ति की स्वाधीनता और समानता के विचारो ने १६ वी शताब्दी मे भविष्य के महान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इस प्रकार जन साधारण का उत्थान हुआ और उसने अपने को उस विशाल समाज के एक महत्वपूर्ण भाग के रूप म देखा जिसके सदस्य न केवल अपने असतोष को ही व्यक्त करते थे अपितु आगे बढ कर न्याय की माग करते थे। राष्ट्रवाद की विकासशील चेतना के कारण समाज का नवीन प्रकार से मूल्याकन हुआ। इस मूल्याकन का आधार जात-पात नही था बल्कि उससे आगे बढ कर सम्पूर्ण समाज को उसने ध्यान मे रखा। १६ वी शताब्दी के सुधारकों ने सम्पन्न व्यक्तियो की आदर-भावना का ध्यान रखते हुए मानवतावादी दृष्टिकोण को सामने रख कर बातें की। वे बडे लोगो को नाराज नही करना चाहते थे। उनको सफलता सीमित रूप मे ही मिली। बीसवी शताब्दी के नेताओ ने और अधिक खुल कर तथा यथार्थ वादी दृष्टिकोण से बातें की। गाधी जी ने कहा कि अछूतो की सामाजिक स्थिति और उनकी आजीविका का स्वरूप सवर्ण हिन्दुओ को ही बेहतर करना होगा। इन अछूतो को वे सुविधाएँ देनी होंगी कि वे अपना विकास आप कर सकें। यदि ऐसा नहीं होगा तो हिन्दू धर्म नही बचाया जा सकेगा। जनसमूह की आर्थिक स्थिति सुधारने, गरीबी मिटाने, किसानो-मजदूरो के विभिन्न सगठन, आदि ने राष्ट्रीय आन्दोलन को गति दी तथा जमीदारो और पूँजीपतियो के विरुद्ध मोर्चा भी तैयार किया। समाज ने शिक्षा को तब तक मान्यता नही दी जब तक कि स्वय उन्होंने ही आ. बढ कर अहिंसात्मक आदोलनो में भाग लेकर अपने व्यक्तिगत और सामाजिक उत्थान के लिये प्रयत्न नही किये। सबसे महत्वपूर्ण बात थी जन-कल्याण की भावना और उसे नैतिक दृष्टि से उच्चतम कार्य घोषित करना। भारत की राजनीतिक एकता के कारण जन-कल्याण की इस भावना और कार्यक्रम को देश-व्यापी स्वरूप दिया जा सका। यह समस्त देश की जनता के हितार्थ परिचालित होने लगा। पाश्चात्य और भारतीय सस्कृतियो के संघर्ष ने भारतीय जीवन और विचारो के ठोस और सजीव मौलिक तत्वों की खोज की प्रेरणा दी।[1] बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे यह बात निश्चित रूप से दिखलाई पड रही थी कि हिन्दू समाज मे सास्कृतिक आत्मचेतना पूर्णरूपेण जागरुक हो गई है।[2] भगिनी निवेदिता का यह कहना कि आज हिन्दुत्व आक्रमण-

१. शैलेन्द्र डब्ल्यू० स्काट कृत "सोशल एथिक्स इन माडर्न हिंदूज्म", पृ० ८ के आधार पर

२ 'दि कलचुरल हेरिटेज आफ इन्डिया" भा० ४, पृ० ७२५।

क्षीण हो रहा है, यही सिद्ध करता है। इसका तात्पर्य यह नहीं था कि हिन्दुत्व अन्य धर्म वालों का धर्म परिवर्तन करा के उन्हें बलपूर्वक हिन्दू धर्म स्वीकार कराना चाहता है बल्कि इसका तात्पर्य यह था कि वह सबसे यह कहना है कि सब लोग अपने-अपने धर्म के मूल स्वरूप को पहचान कर उसी मे स्थित रहे। आज हिन्दू अपने धर्म और दर्शन के किसी भी स्वरूप के लिये शर्मिन्दा नही है। आज यूरोप के सम्मुख हिन्दू-धर्म और दर्शन की गौरव के साथ व्याख्या की जाती है। इस व्याख्याता के रूप मे यदि एक ओर रोमा रोला के शब्दो मे हिन्दू धर्म के नेपोलियन, वेदान्त-केसरी, विवेकानन्द हैं तो दूसरी ओर भारत के आधुनिक जनक राधाकृष्णन महात्माओ, विद्वानो, और पुरातत्ववेत्ताओ ने भारत के प्राचीन और मध्ययुगीन गौरव को पुस्तको, फाइलो और मिट्टियो से खोज-खोद कर सामने ला कर रख दिया।

समन्वय-वृत्ति तथा अपने तत्वो की नई व्याख्याएं—

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिये एक बार भारत माता के एक सपूत, स्वामी शकराचार्य, ने उसमे उसके विरोधी, बौद्ध धर्म के सभी तत्वो-मूल्यो को अपने मे समाहित कर लिया था। तात्पर्य यह है कि हिंदुत्व पुनरुत्थान का मर्म जानना है। नवोत्थान की आधुनिक वेला मे भी प्रकारान्तर से यही प्रक्रिया द्रष्टव्य है। इस युग मे हिन्दूधर्म नेअनेक आधुनिक-पाश्चात्यकोमूल्यो अपने अन्दर मिला लियाहै और अक्सर लोग यह कहते हुए दिखाई पडते हैं—यह भी हमारे यहा था, वह भी हमारे यहा था, हमारे पास हवाई जहाज भी थे, हमारे यहा गणतन्त्र भी था, आदि-आदि। ऐसा हम गलत कहते हों-यह बात नही है। झूठ के पाव नही होते और झूठ बोल कर हम ढोगी भले ही सिद्ध हो जाते किन्तु हमारा पुनरुत्थान कभी-भी नही हो सकता था जब अम्बा, अम्बालिका मे उदयशकर भट्ट आज की नारी-भावना की प्रतिशोधात्मक वृत्ति दिखाते है, या जब यशपाल अपनी "दिव्या" मे तथा राहुल अपने "जय यौधेय" आदि मे और वृन्दावन लाल वर्मा अपनी 'मृगनयनी' मे आधुनिक युग की प्रवृत्तियां चित्रित करते हैं तब उनकी पृष्ठभूमि मे हिन्दुत्व के पुनरुत्थान की यही प्रवृत्ति काम करती हुई दिखाई पडती है। ऐसा करने की प्रक्रिया मे हिंदुत्व पुन सजीव, सप्राण, सक्रिय सक्षम, सम्पूर्ण एव सशक्त हो गया। रोलेण्ड डब्लू० स्काट ने लिखा है, "पाश्चात्य सस्कृति की बाढ रोकने और उसका मुकाबला करने के लिये आविष्कृत विभिन्न तत्वों के परिणाम के रूप मे ही प्राचीन भारतीय सस्कृति के पुनरुत्थान, नवीन चेतना एव उसके विभिन्न आदोलनों को देखा जा सकता है।[1] धार्मिक और दार्शनिक आन्दो-

[1] "सोशल एथिक्स इन माडर्न हिन्दूइज्म" पृ० १६।

लनों का विशेष रूप से यही लक्ष्य रहा है। पाश्चात्य संस्कृति के दोषों की आलोचना यथार्थवादी दृष्टिकोण से की गई और उसकी वास्तविक योग्यता का मूल्यांकन किया गया साथ ही साथ, प्राचीन भारत की विशेषताओं और उसके आध्यात्मिक मूल्यों की आदर्श झांकियां प्रस्तुत की गई। प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय जीवन और दृष्टिकोण की त्रुटियों एवं असफलताओं के कारणों की ओर से आंखें फेर ली गई। संघर्ष स्थिति में—जीवन और मरण के संकट की घड़ियों में—कमजोरी के गीत गाये भी नहीं जाते। वे सांस्कृतिक पराजय की नहीं—मरण की घड़ियां थी। भारतराष्ट्र अमीका महाद्वीप के रूप में और भारतीय, नीग्रो के रूप में परिवर्तित किये जाने वाले थे। देश को उप-महाद्वीप की ऊंची स्थिति तक उठा कर अन्य महाद्वीपत्व के गर्त में फेंका जाने वाला ही था कि हम जग गये। हमें हर तरह से अक्षम किया जा रहा था। और इतना किया जा चुका था कि उसकी विरासत से गुलाम मनोवृत्तियों से-आजाद होने के पन्द्रह वर्ष बाद तक भी हम मुक्त नहीं हो पाये हैं ऐसी स्थिति में सर्व प्रथम लक्ष्य हुआ राष्ट्र की भलाई का-बन्धन मुक्ति का।

हिन्दुत्व का नया रूप—

राष्ट्र हित के विचारों ने ही अनेक सामाजिक सुधार आन्दोलनों को भी प्रेरणा दी थी क्योंकि आधुनिक राष्ट्र के विकास की भावना से उत्पन्न परिस्थितियों के ही कारण धर्म ने सामाजिक चेतना के अनेक मूल्यों को अपने अन्दर आत्मसात किया था। राधाकृष्णन, आदि भारतीय विचारकों ने इस आवश्यकता की पूर्ति की ओर आगे बढ़ कर सबल स्वरों में यह घोषित किया कि हिन्दू धर्म इस आक्रमण को झेल लेने में पूर्णत समर्थ है। उन्होंने यह भी दिखाया कि आज राष्ट्रीय और सामाजिक विकास और उन्नति के लिये जिन गुणों की आवश्यकता है वह हिन्दुत्व के अन्दर उत्कृष्ट रूप में मौजूद है। सामाजिक अवनति के कारणों के कीचड़ से जिस हिन्दुत्व को निकल लिया गया था वह हिंदू धर्म व्यक्ति और समाज के उत्थान को शक्ति प्रेरणा प्रोत्साह नप्रद साधन स्रोत बन गया। राधा कृष्णन ने कहा कि धर्म आध्यात्मिक अनुभवों और विचारों का सूक्ष्मतम संकलन है जिसका आधार न तो रूढ़ियां और कर्मकाण्ड हैं और और न शास्त्र-प्रामाणिकता। अरविन्द ने भी धर्म के नैतिकता-आध्यात्मिकता प्रधान स्वरूप को ही मान्यता दी न कि रूढ़ियों और कर्मकाण्डों वाले स्वरूप को। गांधी जी ने जब सत्य और अहिंसा को अपना धर्म कहा तब वह अनिवार्य रूप से नैतिकता से सबद्ध हो गया। गीता की अनेक व्याख्याओं ने भी यही सिद्ध किया कि आधुनिक नैतिकता और पवित्र आचार शास्त्र से पृथक धर्म का कोई भी अस्तित्व नहीं इस प्रकार धर्म दर्शन को समाज से नियोजित करके ससार-मुक्ति तथा ससार सापेक्ष्यता के महत्वों के बीच की खाई को पाटने की कोशिश की गई। गीता का निष्काम कर्मयोग इस

प्रयत्न में काफी हद तक सहायक सिद्ध हुआ। इस प्रकार समाज सम्बन्धी धार्मिक धारणाओं में परिवर्तन हुआ। अब "करम" को हम "भाग्य" न मान कर "कार्य" या "क्रिया" तथा उसकी समष्टि मानने लगे। अब हमारी धार्मिक पवित्रता कपड़ा उतार कर खाने, नहा कर खाना बनाने, अथवा कोयले से खिंची लक्ष्मण-रेखा की बन्दिनी नहीं रह गई बल्कि वह मानसिक क्षेत्र का तत्व बन गई। अब हम विश्वजनीन नैतिकता की बातें सोचने लगे और इस चिन्तन का आधार बना उपनिषदों का "तत् त्वम् असि" तत्व। सारे संसार को उसी की अभिव्यक्ति के रूप में देखने पर कृत्रिम भेद-भाव की दीवालें ढहने लगीं और समस्त विश्व की नैतिक एकता विश्व-मानवता का स्वरूप उभरा। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टि कोणों की महत्ता और आवश्यकता ने एक नये, उदार, और व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण की सृष्टि की और इस दृष्टिकोण को एक नया नैतिक आधार मिला। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष और लक्ष्य को भौतिक एवं सांसारिक पक्ष और लक्ष्य से मिला दिया गया। पहले धर्म की उपेक्षा की गई। फिर, प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों को अपनाया गया। धर्म को जीवन के अनेक व्यावहारिक क्षेत्रों से कुछ दूर रखा गया। जैसे, व्यवसाय का धर्म से कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया। परिणामत. धर्म ने हमारे स्थूल और भौतिक जीवन और विकास में पग-पग पर बाधा डालना या हस्तक्षेप करना बन्द कर दिया। वैसे भी, धर्म व्यवसाय, आदि क्षेत्रों से तत्वत निकल ही गया था। वहां यह रह गया था केवल प्रदर्शनार्थ। अब इसको इस रूप में वहां से बिलकुल हटा कर इसके सूक्ष्म और तात्विक रूप का यथासम्भव अधिकाधिक आदर करना प्रारम्भ कर दिया गया। रूढ़ियां अपना महत्व और अपनी प्रतिष्ठा खो ही रही थीं। कुछ ही दशाब्दियों के परिश्रम के परिणामस्वरूप शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों पुराना धर्म आधुनिक युग और समाज के अनुरूप हो गया ये नेता जिसे हिन्दू धर्म का मूल तत्व समझते थे उसे अक्षुण्ण रखना चाहते थे। ये बीसवीं शताब्दी के लिये किसी नये धर्म की खोज नहीं करना चाहते थे। ये शुद्ध हिन्दू ही रहना चाहते थे। आलोचना यों होती थी कि हिन्दू धर्म की अनेक आधुनिक प्रथाएं और रूढ़ियाँ-रीतियाँ उसके अपने मूल रूप से दूर हटी हुई हैं। उन्होंने उसकी पौराणिकता की या तो उपेक्षा की या आलोचना ताकि वे अपने मूल स्रोत तक पहुंच सकें और मूल रूप के अधिकाधिक निकट तक पहुंच जायं। उनकी इन आलोचनाओं में पर्याप्त सत्य और बल था। परिणाम यह हुआ कि ये रूढ़ियां और प्रथाएं अपने विकृत रूपों में आधुनिक हिन्दी साहित्य से भी बहिष्कृत हो गईं। इन नवीन नेताओं ने आराधना के नवीन रूपों का समर्थन किया जो अपेक्षाकृत अधिक सरल और नैतिकता के अधिकाधिक निकट थे तथा लोग जिन्हें अधिक से अधिक समझ सकते थे। संस्कृत का आदर कम

नही हुआ परन्तु प्रादेशिक भाषाओ को अधिकाधिक अपनाया गया । धर्म के एकमात्र ठेकेदारो का इन्द्रासन हिल गया । पूजा-पाठ के लिये हम एकमात्र ब्राह्मणो पर ही आधारित नहीं रह गये । स्वामी दयानन्द की "संस्कार-विधि" के सहारे हम स्वयं संस्कार सम्पन्न करने लगे । मुन्शी सदासुख लाल 'नियाज" के वंशज श्री व्रजवासी लाल गौड सत्यनारायण जी की कथा उसके हिन्दी अनुवाद के सहारे पूरे विधि विधान के साथ कर लेते हैं-बिना "पडित जी" के ही ! आधुनिक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र मे भी इन "पण्डित जी महाराजो" की अवतारणा "गुणकर्मस्वभावश" हुई, न कि इस-लिये कि उनके पिता जी और माता जी का जन्म ब्राह्मण कुलो मे हुआ था और वे भी ब्राह्मण कुल मे जनमे हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के "मुद्राराक्षस" के चाणक्य "प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य, और रामकुमार वर्मा के चाणक्यका इस दृष्टि से सूक्ष्म विश्ले-षण हमारी भावनाओ एव धारणाओ के विकास की या पुनरुत्थान की मोडों का सूचक सिद्ध हो सकता है ।

धर्म-सुधार

धर्म-सुधारको का आदर बढा । ये ऋषि, महर्षि, महात्मा एव स्वामी के विशेषणो से विभूषित किये गये । रूढि-गत एव परम्परा-गत नैतिकता की जगह वैयक्तिक नैतिकता का उदय हुआ । प्रत्यक्षतः दोनो एक दूसरे के विरोधी सिद्ध हुए । विजय वैयक्तिक नैतिकता को मिली । जाति-बहिष्कार और हुक्का-पानी के बन्द किये जाने की धमकियां निष्प्रभ हो गई । परम्परा का पूर्णतः सम्बन्ध-विच्छेद नही किया गया और न इस प्रकार के किसी समाज-विशेष का ही उदय हुआ । अपनी-अपनी विशेष मनोवृत्ति और धारणा के अनुसार व्यक्तियो ने अपनी-अपनी नैतिकता का स्वरूप निर्धारित किया । रूढियो और प्रथाओ के विरुद्ध होने वाले सघर्ष मे व्यक्ति ने तर्क, बुद्धि तथा विश्लेषण के अस्त्रो का यथाशक्ति सहारा लिया । आशंकाएँ की गई और बौद्धिक स्तर पर उनका समाधान मागा गया । शास्त्रो की व्याख्या करने की मूलभूत समस्या के हल के लिये बडी सतर्कता के साथ बौद्धिक स्तर पर विचार-विवेचन और विश्लेषण किया गया । धार्मिक जगत मे सार्वजनिक व्याख्यानो की बडी चहल-पहल हुई । आर्यसमाजियो, सनातन-धर्मावलम्बियो, ईसाइयो और मुसलमानो के परस्पर शास्त्रार्थ-मुबाहिसे-हुआ करते थे । प० ज्वालाप्रसाद मिश्र के छपे हुए व्याख्यान बडे ही प्रिय हो रहे थे । आर्यसमाजी हिन्दुओ के बीच प्रिय भी थे और अप्रिय भी अप्रिय इसलिये थे कि वे परम्परा-गत हिन्दू धर्म के स्वरूप की तीव्र आलो-चना करते थे, प्रिय इसलिए थे कि वे ईसाइयो और मुसलमानो-जैसे हिन्दुत्व-विरो-धियो को मुंह तोड उत्तर देते थे-ईट का जवाब पत्थर से । आर्य समाज आक्रमण-शील हिन्दू धर्म की तोप था । मानसिक शांति को लक्ष्य रूप मे स्वरूप किया गया ।

बुद्धि पर शास्त्र का अंकुश—

बुद्धि के असीमित और निरंकुश उपयोग के खतरे से हम परिचित थे और इसलिये उससे सावधान रहे। उसके ऊपर हम आत्मा का-शास्त्र का—अंकुश स्वीकार किये रहे। फिराक साहब इतना सही कहते हैं—"तुम्हारे माडर्न हिन्दी लिट्रेचर का कोई भी वर्थ ह्वाइल इन्टेलेक्चुवल बेसिस है ही नहीं—इट्स एप्रोच इज़ नाट इन्टेलेक्चुवल।" लेकिन जब इसके बाद गरजते हैं—"यह मूर्खों का, गधों का, ब्रेनलेस क्रीचर्स का लिट्रेचर है—उनका लिखा लिट्रेचर है जो हिन्दी के एलावा और कोई भी सब्जेक्ट लेकर गुड डिवीजन में एम० ए० नहीं कर सकते", और इसके बाद तुलसीदास, गुप्त, पन्त और 'निराला', आदि के लिए जब वे भयानक गालियाँ बकते हैं तब उनकी नीयत पर सदेह होने लगता है। यदि हमारे साहित्य का आधार पाश्चात्य दर्शन या पाश्चात्य बुद्धिवाद नहीं है तो वह तिरस्करणीय नहीं है—'कान्टेम्पट' की चीज नहीं है। *इन बड़ों के प्रति अशिष्टता न बरतते हुये भी मैं अपने साहित्य की इस प्रवृत्ति पर* गौरवान्वित हो कर सर ऊँचा कर लेता हूँ। हम अच्छे हैं या बुरे हैं जो-कुछ हैं—स्व-तिष्ठित तो हैं—अपने धर्म में तो हैं! दूसरे की पर धर्म की उतारी हुई खाल तो नहीं ओढ़ी या नहीं ओढ रखी है! इन्सान के विकास की दृष्टि से ऐसे लोग इंगलैंड, अमेरिका और रूस को सबसे अच्छा, तथा इसलाम को ही उसके बाद का समझते हैं। हिन्दुत्व को वे 'डोगमा" समझते हैं!! अस्तु, आधुनिक हिन्दी साहित्य में बौद्धिकता या बुद्धिवाद की प्रधानता नहीं है। इधर हाल में अज्ञेय-वादियों ने, अथवा *यथार्थ*-वादियों ने, कुछ ऐसा स्वांग जरूर भरा है किन्तु उनका व्यापक दृष्टि से न कोई अस्तित्व है और न महत्व एवं न प्रचार ही। उसमें अनुभूत्यात्मक ईमानदारी का अभाव है। वह न जन-साहित्य है, न महत्-जन-साहित्य है। आधुनिक हिन्दी साहित्य *का जो गौरव और महत्व है यह इनकी इस प्रवृत्ति के कारण नहीं क्योंकि इनके* पीछे हमारी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं है। आधुनिक हिंदी साहित्य पर जो हम गर्व कर सकते हैं वह इसी कारण कि न तो वह विशुद्ध रूप से बुद्धि प्रधान है और न हिंदुत्व-विहीन। *स्वतन्त्रता, समानता और न्याय* का नवीनतम स्वरूप और उनकी नवीनतम धारणाएँ हमें पश्चिम से मिल ही रही थी। सबल, सशक्त और उन्नतिशील होने की उत्तेजक अपील जनसाधारण से की गई।

नैतिक जीवन की आधारभूमि

वेदान्त ने नैतिक जीवन के लिये विशेष आधारभूमि तैयार की। *'तत् त्वम् असि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', और अहं ब्रह्म अस्मि, "इसलिये पड़ोसी को हानि, पहुँ*चाना अपने ही को हानि पहुँचाना है—*या उसकी सहायता अपनी ही सहायता है!"*—

चिन्तन की—नवीन नैतिक चिन्तन की—यह प्रक्रिया हो गई। जीवन के धार्मिक या आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये नैतिकता अनिवार्य समझी गई। सभी धर्म सुधारकों के विचारों के अनुसार नैतिकता-विहीन धार्मिकता को आडम्बर समझा गया। स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि मैं उस ईश्वर या धर्म मे विश्वास नही करता जो एक विधवा के आसू नही पोंछ सकता या जो एक अनाथ के मुख मे रोटी के दो कौर नही दे सकता। गाधी जी ने लिखा कि वे उस ईश्वर के अतिरिक्त जो करोडो मूक प्राणियों के अन्तर मे पाया जाता है और किसी ईश्वर को नही मानते "[1] वैयक्तिक धर्म बुद्धिवाद के अनुकूल एव युक्तियुक्त नैतिकता, और सामाजिक क्रियाकलापो को, इन तीनो को, अविच्छिन्न रूप से परस्पर सम्बन्धित पाया गया। सुशिक्षित सपन्न और प्रभु वर्ग के लोगो ने भी दीन-दलित वर्गो और जातियो की भलाई के लिए इनकी ओर से कार्य करने प्रारम्भ कर दिये। सारे समाज के कल्याण की बातें सोची जाने लगीं। धर्म और दर्शन की बाह्य अक्षमताओ ने हमे घर-रोका था, जब वह सक्रिय प्रगतिशील, हुआ तो हम भी उद्धमुखी हो उठे। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी पृष्ठभूमि में लिखा गया है। इसी मानसिक स्थिति वाले कलाकारो की कृतियो से वह प्रोज्ज्वल है।

हिंदुत्व का वास्तविक मूल्यांकन और उसके प्रति गौरव का भाव—

इस मनोस्थिति का परिणाम यह हुआ कि हमारे देखने और समझने का ढग बदल गया। एक समय था जब अपने को हिन्दू कहने मे लोगों को शर्म मालूम होती थी किन्तु इस पुनरुत्थान के परिणाम स्वरूप एक दिन वह आ गया है जब भारत के एक सन्यासी ने विश्व-धर्मावलम्बियों के सम्मुख अमान्यता प्राप्त धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे शान से यह घोषित की थी, "मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है जिसने ससार को 'सहिष्णुता' तथा "सब धर्मों को सम्मान प्रदान" करने की शिक्षा दी है।"[2] सबसे बडी बात यह हुई कि इन महापुरुषो से हमें अपने धर्म को समझने की वास्तविक दृष्टि मिली। विवेकानन्द ने लिखा है ...... कट्टरपथियो की विचार शक्ति का सर्वनाश हो जाता है।"[3] इस कट्टरता को हटा देने से हमे धर्म उस रूप मे नही दिखाई पडा जिस रूप मे वह विभिन्न धर्मावलम्बियो को आपस मे लडाता है।

---

१. 'हरिजन", ११ मार्च, १९३९ ई०।

२. जनवरी, १९६१, की "सरस्वती" मे प्रकाशित, विवेकानन्द का शिकागो के धर्म-ससद का भाषण।

३. "भक्तियोग" पृ. ११, १२।

धर्म का रूप एवं उसकी परिभाषा ही बदल गई। वह अपने पुराने और वास्तविक रूप में हमारे सामने आ गया। राधाकृष्णन ने लिखा, "धर्म यह प्रयत्न करता है कि मनुष्य को उस के देवत्व का ज्ञान करादे, केवल कोरा बौद्धिक ज्ञान देकर नहीं, किन्तु उसमें तादात्मय की अनुभूति कराकर। इस अनुभूति के लिये किसी विशिष्ट मार्ग का निर्देश नहीं किया जा सकता।"[1] यह दृष्टि पाकर हमने, महात्मा गांधी के शब्दों में, पाया कि "नाम से सब धर्म अलग-अलग हैं मगर सबकी जड़ एक है।"[2] इस व्यापक या तात्विक दृष्टि से जब हमने अपने धर्म को देखा तो पाया, "हिन्दू धर्म एक महासागर है, जैसे सागर में सब नदियां मिल जाती हैं वैसे हिंदू धर्म में सब धर्म समा जाते हैं।"[3] पंडित जवाहर लाल नेहरू ने लिखा, 'हिन्दू धर्म सत्य की अथक खोज है-हिन्दू धर्म सत्य को मानने वाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।"[4] हमने तर्कप्रेम को हिन्दू धर्म की विशेषता पाया। तर्क की कसौटी पर कसने से हमें पता लगा कि भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी बनें-यह नितान्त स्वाभाविक है क्योंकि वैयक्तिक धर्म अपने अपने स्वभाव और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विनिर्मित होता है। राधाकृष्णन ने समझाया कि "हिन्दू धर्म तथा दर्शन मानता है कि समय-समय पर आने वाले सृष्टि एवं प्रलय के चक्र उस एक ही विश्व-हृदय के स्फुरण तथा सकोचन के प्रतीक हैं जो सदा ही निष्क्रिय तथा सदा ही सक्रिय रहता है।[5] इस प्रकार हमको विश्वास हो गया कि एक ही मूल आत्मा इन नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रही है। श्रुति ने भी घोषणा की थी—"एकं सद्विप्राः बहुधा वदंति"। बहुरूपता में एकता का पाना ही उपनिषदों का भी लक्ष्य था। हमारी धार्मिक पुनर्जागृति हमें अपने मूल-आत्म स्वरूप के निकट ले गई। उन्होंने अन्यत्र लिखा है, "...... हिन्दू धर्म ने एक ऐसे धार्मिक वातावरण का विकास किया है जिसमें एक ओर सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान पाया जाता है और दूसरी ओर प्रतीकोपासना का वह विधान जिसको केन्द्र मानकर महान् कलापूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि की गई है। उसमें भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक विकास एवं

---

१ "भारत की अन्तरात्मा", पृ ६।

२ प्रार्थना प्रवचन, भाग २, पृ १६८।

३. वही पृ १६८।

४ "हिन्दुस्तान की कहानी", पृ ९७।

५ "भारत की आन्तरात्मा", पृ ६।

धार्मिक ज्ञान से युक्त मनुष्यों को सभी श्रेणियों के लिये स्थान है।" [1] इस पृष्ठ-भूमि में निर्मित हिन्दू का हृदय हो न तो किसी धर्म विशेष से द्वेष रख सकता है और न ऐसी चेतना से सम्पन्न कलाकारों द्वारा निर्मित आधुनिक हिन्दी साहित्य ही। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि वेदान्त का सबसे उदात्त सत्य यह है कि हम एक ही लक्ष्य पर भिन्न मार्गों से पहुँच सकते हैं। [2] रामकृष्ण परमहंस ने तो विभिन्न धर्म-साधनाओं को अपनाकर इस सत्य को प्रत्यक्ष ही कर लिया था। इसीलिये तो, वैष्णव प्राण मैथिलीशरण गुप्त "काबा और कर्बला" लिख लेते हैं। जिस हिन्दू को अपने धर्म का कुछ भी ज्ञान है वह उन सब को श्रद्धा और भक्ति करता है जो लोक-कल्याण में लगे हैं। इसीलिये हिंदू धर्म "धर्म शब्द के सामान्यत प्रचलित अर्थ के अनुसार धर्म नहीं है। इसमें कोई ऐसा एक मत या पन्थ ("क्रीड") ही नहीं है जो हर हिन्दू अपनाए हो। कुरान या बाइबिल की तरह कोई भी ऐसी एक पुस्तक नहीं है जिसे सभी सिर झुकाते हैं। बस, कुछ चिर सत्य एव शाश्वत सिद्धान्त ऐसे हैं जिन्हें प्राय हिन्दू समान रूप से मानते हैं-जैसे, हिन्दू धर्म में सबके लिये स्थान, वेदों की निरपट ऋषि, आत्मा, सत्य, जन्मान्तरवाद, पुनर्जन्म, कर्मवाद, घर बदलने के रूप में मृत्यु, अहेतुकी भक्ति, अपरोक्षानुभूति, अद्वैततत्व, हिन्दू धर्म तथा विज्ञान का सामजस्य, प्रतीकोपासना, मूर्तिपूजा, विभिन्नता में एकता, सगुणभक्ति, जीवन को एक परिवर्तनशील विराम के रूप में मानना, ईश्वर जगत को सप्राण, सोद्देश्य एव एक की ही अभिव्यक्ति मानना, आदि। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों को समान रूप से महत्वपूर्ण माना और कहा कि सारे रूप उस एक बहुरूपिये के ही हैं। जगत की जिस विशेषता ने हिंदू दार्शनिकों को सत्य के अनुसधान की ओर प्रवृत्त किया है इसकी अनिरयता, और, अनुसन्धान के द्वारा जो हमें मिला वह यह है कि जिसे हम अपने से बाहर कहीं और छिपा हुआ समझते थे वह हमारे निकट से भी निकट है, प्राणों का भी प्राण है और वह हमीं में समाया हुआ है। आराधना की सुविधामात्र के लिये हमने उस भगवान की मूर्ति बनाली थी। वस्तुत मूर्त रूप में मूर्तिपूजा हमारी अपनी खोज नहीं है। उसे, पंडित जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार, हमने यूनान से सीखा। [3] हमने जीवन की पहेली का अपने ढग से उत्तर भी पा लिया था जिसे विवेकानन्द ने इन शब्दों के माध्यम से अभिव्यजित किया है, "जीवन क्षणस्थायी है, चाहे तुम गली में काम करने वाले मजदूर हो, चाहे लाखो जनो के ऊपर राज्य करने वाले चक्रवर्ती सम्राट हो, चाहे तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छे से अच्छा हो, चाहे बुरे से बुरा हो। हिन्दू कहता है कि जीवन की इस पहेली का केवल एक उत्तर है' परमात्मा और धर्म। यदि

१ "भारत की अन्तरात्मा", पृ १४।
२. कर्मयोग, पृ ११८
३. "हिंदुस्तान की कहानी", १४६

ये साथ हो, तो जीवन सुखदायी, रहने योग्य, तथा सार्थक होजाता है, नहीं तो जीवन व्यर्थ का एक बोझ है।[1] हमने अपने धर्म के विविध तत्वों की खोज-बीन भी की। उदाहरणत 'अहिंसा' तत्व है। इसका ऐतिहासिक अध्ययन करने पर हमें पता चला कि बौद्धधर्म के विशेष प्रभावके ही कारण भारत को बलिदान, मास और मादक वस्तुओं के सेवन से धार्मिक एव नैतिक अरुचि होने लगी। गांधी जी ने अहिंसा को, जिसे परम्परा हत्या न करना ही समझती थी, "बहादुरी की पराकाष्ठा व विरोधी सीमा"[2] माना। पहले हम मार सकते को बहादुरी समझते थे। अब अर्थ बदल गया। व्यवसाय के एक लकड़ी के औजार चरखे को अहिंसा का प्रतीक माना गया।[3] दृष्टिकोण ऐसा बदला कि एक अ-दार्शनिक औजार दार्शनिक तत्व-अहिंसा-का प्रतीक बन गया। गणेश प्रतीक सिद्ध हुए गणतन्त्रवादी सरकार के प्रेसीडेन्ट के। क्रियात्मक रूप में धार्मिक स्थानों जैसे-मठ, मंदिर, गुरुद्वारा, आदि-के महन्तों के पतन को रोकने का, सुधारने का, प्रयत्न किया।

तत्वों की युगानुकूल व्याख्या—

हमने धर्म की पारिभाषिक शब्दावलियों की युगानुकूल व्याख्या भी प्रस्तुत की। विवेकानन्द ने लिखा है, "जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरे की आत्मा को शक्ति मिले उसे "गुरु" कहते हैं और जिसकी आत्मा में शक्ति सचरित होती है उसे "शिष्य"।[4] महात्मा गांधी ने भङ्गी का दूसरा ही अर्थ निकाला और कहा कि असली भङ्गी को भीतर सफाई करनी होती है।[5] ब्राह्मणत्व का अर्थ लगाया गया मानव-शक्ति के उच्चतम विकास का प्रतीक और हिन्दुत्व का लक्ष्य बताया गया प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण बनाना। विवेकानन्द ने लिखा कि हमें समझना होगा कि ये देवता पहले केवल शक्तिशाली पुरुष मात्र थे[6] और ये देवता भी विशेष-विशेष भाव के द्योतक होने के कारण भाव की उन्नति के साथ-साथ उन्नत होते हैं। परिणाम यह हुआ कि "वयं रक्षाम" नामक उपन्यास में चतुरसेन शास्त्री ने राम और रावण का एक नये ही रूप में अध्ययन प्रस्तुत किया है और इस माध्यम से भारत के प्राचीनतम इतिहास पर एक नई दृष्टि डाली। "गौ" माने चार पैर और सींग-पूंछ वाला जानवर

१. 'भक्ति और वेदान्त", पृ २४
२. "प्रार्थना प्रवचन,', भाग २, पृ २०२
३. वही, पृ २००
४. "भक्तियोग", पृ० ३२।
५. प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ० २०
६. "ज्ञानयोग", पृ० १०२ और १०५।

वर ही नहीं रह गया उसका एक अन्य अर्थ हुआ "इन्द्रिय", और गोपाल कृष्ण इन्द्रियजित-इन्द्रियों की समुचित रूप से देख रेख निग्रह करने वाले योगीराज कृष्ण हो गये। इसी 'गाय' का दूसरा अर्थ हुआ समस्त निरीह मानवजाति और गांधी जी ने गोरक्षक हिन्दुओं का कर्तव्य बताया समस्त मूक जीवों की रक्षा।[1] इसी प्रकार गांधी ने ब्रह्मचर्य का अर्थ नारी से दूर रहना-भागना-न लगा कर, काम दृष्टि का अभाव लगाया। १६ वर्ष की मनु गांधी के साथ एक ही शैया पर सोने का गांधी जी का प्रयोग इसी दिशा में था।[2] इसी विचार की साहित्यिक अभिव्यंजना हमको भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा' में चित्रलेखा और कुमारगिरि के प्रसंग में मिलती है।[3] आहार-सम्बन्धी छुआछूत हिन्दुओं में बहुत बढ़ गया था। उस पर विचार करके स्वामी विवेकानन्द ने शंकराचार्य का मत उद्धृत करते हुए लिखा, "शंकराचार्य कहते हैं कि 'आहार' शब्द का अर्थ है इन्द्रिय द्वार से मन में जो विचार एकत्रित होते हैं उनके निर्मल होने से सत्व निर्मल होंगे, इसके पहले नहीं'''''''वर्तमान काल में हम लोग शंकराचार्य के उपदेश को भूल कर केवल "खाद्य" अर्थ लेते हैं।"[4] इन नई व्याख्याओं की दृष्टि से "मानव सेवा संघ" वृन्दावन के सुप्रसिद्ध सूर सन्त स्वामी शरणानन्द द्वारा प्रकाशित "सन्त समागम" नामक पुस्तक तथा महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध स्वनामधन्य साने गुरु जी द्वारा लिखित 'भारतीय संस्कृति" नामक पुस्तक बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इस नई दृष्टि से दूसरों द्वारा हम पर लगाये गये लाछनों का खोखलापन भी दिखाई पड़ गया। प्रायः यह कहा जाता है कि हिंदू धर्म ने दलितों के मानसिक एवं चारित्रिक विकास के लिये कुछ नहीं किया। यह कहने वालों की अज्ञता का ही द्योतक है क्योंकि आर्यों ने यहां के मूल निवासियों को भी अपना अङ्ग बना लिया था और उनकी अनुचित आदतों को छुड़ाने और उन्हें श्रेष्ठतर जीवन बिताने की प्रेरणा देने के लिये बहुत-कुछ किया था। संसार के अनेक धर्म और दर्शन पुनर्जन्म को नहीं मानते लेकिन हिंदू मानता है। धार्मिक पुनर्जागरण ने इसका कारण भी समझा दिया। हमको बताया गया कि हिंदू दर्शन के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व किसी दिव्य उद्देश्य का परिणाम है। अब जब तक उस दिव्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। उद्देश्य इतना आलौकिक है कि

---

१ 'दि लास्ट फेज', भाग २, पृ० १२८

२ "लास्ट फेज", भाग १

३ चित्रलेखा, ४ और १७ वां अध्याय।

४ "वेदान्त धर्म", पृ० १६२।

साधारणत सौ-पचास साल म सामान्य मानव उसकी पूर्ति कर नहीं पाता और उसकी पूर्ति के लिए आवश्यक काय जिसके द्वारा किया जा सकता है कर्मेन्द्रिय निर्मित वह शरीर पचास-पचहत्तर साल से अधिक सुगठित रह नहीं पाता-या तो बेकार हो जाता है या विघटित। अब या तो उद्देश्य की पूर्ति न हो या मानव के अस्तित्व की अवधि बढ़े। पहले को सम्भव होने नहीं दिया जा सकता, इसलिये दूसरे की ही सम्भावना निकाली गई। अस्तु, एक जन्म को लम्बी यात्रा के बीच पड़ने वाले एक स्टेशन एक सरायमात्र के रूप म देखा गया। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं था जिससे एक मनुष्य-एक आत्मा-के अस्तित्व को बढ़ाया जा सकता। परिणामत आत्मा अमर हो गई-अविनश्वर एक जीवन एक कर्मावधि मात्र हो गया मृत्यु एक विराम हो गयी-इतर स्थल। एक-एक जीवन मे हम अपने व्यक्तित्व का विकास कर करके अपने को इस प्रकार योग्य से योग्यतर बनाते रहते हैं कि अन्ततो गत्वा उस निज य उद्देश्य की पूर्ति हो जाय। अरविन्द का यह कथन बड़ा ही सारगर्भित है, पुनर्जन्म मानो व्यक्तित्व के उत्तरोत्तर विकास का एक साधन है पुनर्जन्म पूर्व कर्मों के अनुसार नहीं हो सकता बल्कि अन्तरात्मा के अनुभव की माग के अनुसार होना चाहिए — एक व्यक्ति इस जीवन म जैसे धर्म करता रहा है वही उसकी रुचि-प्रवृत्ति-को निर्धारित करता — ।[1] धर्म, दर्शन और नैतिकता का सापेक्षिक महत्व उसकी उपयोगिता और महत्व के स्वतन्त्र एव तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा प्रस्तुत किया गया। राधाकृष्णन ने लिखा हिन्दू दार्शनिकों ने सदा ही यह प्रयत्न किया है कि निर्मल चरित्र का अभ्यास एव सत्यप्रेम धार्मिक भक्ति से दब न जाय। . . . सच्ची धार्मिक भक्ति तो उस विवशजात नम्रता को कहते हैं जो सब कुछ ईश्वर के सहारे छोड़ देने पर उत्पन्न होती है ज्ञान-मूलक इस भावना के फलस्वरूप भक्त मानव सेवा म जीवन उत्सर्ग कर देता है।[2] भगवद्भक्ति का एक नया स्वरूप-आदर्श-सामने आया। अभी तक पूजा एक चीज थी भक्ति एक दूसरी ज्ञान एक बात थी ज्ञानी का जीवन एक दूसरी। इसी कारण ज्ञाता और ज्ञेय दो विभिन्न तत्व हो गये थे। अरविंद ने कहा, ज्ञाता और ज्ञेय की पृथकता मे जो ज्ञान उपलब्ध होता है वह ज्ञान का वास्तविक रूप नहीं[3] और रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा हम तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञान-क्षेत्र म ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव-क्षेत्र म आश्रय

---

१. अदिति, अगस्त १९५१ ई० अरविन्द विशेषांक
२ भारत की अन्तरात्मा पृ० १६
३. अदिति, अगस्त, १९५१ 'अरविंद विशेषांक।

और आलम्बन है । ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं भाव की उसी सीमा पर जाकर आश्रय और आलम्बन भी एक हो जाते हैं।"[१] तो, भक्त और भगवान भी एक हो गये ! यह है ज्ञान की नवीन व्याख्या का साहित्यिकों पर और उनके द्वारा की गई साहित्यिक विवेचनाओं पर प्रभाव !

आर्यसमाज का प्रभाव—

आधुनिक युग मे हिन्दू धर्म को सबसे अधिक आर्यसमाज ने प्रभावित किया है। आर्यसमाज ने यह प्रभाव हिंदू धर्म का सुधारक बनकर डाला है, उसका शत्रु या विरोधी बनकर नहीं। उन्नीसवी शती और बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिंदू–जागरण मे आर्यसमाज का प्रधान हाथ रहा है। सर हेनरी काटन ने इसे "हिन्दू विचारो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा आकर्षक अध्याय"[२] कहा है। अपने "सत्यार्थ प्रकाश" तथा अनेक शास्त्रार्थों मे स्वामी जी ने हिंदू धर्म तथा अन्य धर्मों की जो आलोचनाएँ की वे सचमुच बडी तीखी थी किन्तु थी अनिवार्य। उनके बिना हिन्दुत्व का बुद्धिसम्मत रूप और इस्लाम तथा ईसाइयत की कमजोरिया सामने आ ही नही सकती थीं। उनकी आलोचनाओं का कोई भी जवाब न दे सका। इस आलोचना वाले प्रसङ्ग से हटने पर स्वामी जी विश्व–मानवता के नेता के रूप मे दिखाई पडते हैं। "मनुष्यपन" 'मनुष्यधर्म' उनके अपने अपने शब्द हैं। स्वामी जी ने हिंदुत्व पर से पौराणिकता की पर्तें उघेड दी। इस प्रकार उसका असली रूप सामने आ गया। स्वामी जी की महानता शंकराचार्य-जैसी थी। शंकराचार्य के बाद से भारत मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो स्वामी जी से बडा संस्कृतज्ञ, उनसे बडा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता, तथा कुरीतियो पर टूट पडने मे उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। उनके सम्बन्ध मे यह विचार मदाम ब्लेवास्की का था। वास्तविकता तो यह है कि स्वामी जी और उनके आर्यसमाज को उस समय के लोग ठीक से समझ नही पाये। इस्लाम या ईसाइयत से उनका कोई भी विरोध न था। उनका उद्देश्य तो वैदिक धर्म का समर्थन और प्रचार मात्र था। यह बात छिपी नही है कि इस वैदिक धर्म पर ईसाइयो और मुसलमानो ने आक्रमण किया था। उस आक्रमण के घातक प्रभाव से वैदिक धर्म को आर्यसमाज ने बचा लिया। इस सुरक्षा–कार्य के रूप मे ही स्वामी जी की आलोचनाएँ थी। हमको बचाने वाली तलवार का एकाध वार यदि हमारे आक्रमणकारी पर भी पड गया तो इसका दोष सुरक्षा के लिये उठी हुई तलवार का नहीं, मारने के लिये उठी हुई तलवार का ही है। शिव शङ्कर मिश्र का कहना है, "इस समाज की स्थापना से–

१. 'गोस्वामी तुलसीदास' का 'तुलसी की भावुकता' नामक निबन्ध
२. "न्यू इण्डिया", पृ० ८।

लोगा मे धर्म-वृद्धि और विचार-शक्ति जागरित हुई है। आंग्लशिक्षा प्राप्त लोगों की वेद पर से आस्था उठ गई थी परन्तु अब वह वेद को मानने और स्वधर्म को पालने लगे हैं। लोगों का परधर्मी होना बन्द हो चला है और धर्मभ्रष्ट लोगो का शुद्धि-संस्कार कर उन्हें अपनाने का प्रयत्न होने लगा है।"[१] शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है, 'उसने एक बौद्धिक सिपाही का रूप धारण किया। उसने हिन्दुत्व के भीतर एक फौजी संस्कृति को जागरूक किया। स्व ावत उसमे मनोहरता-मधुरता नहीं थी, हिन्दुत्व था, कवित्व नहीं।" उसका मुख्य उद्देश्य था विदेशी सभ्यता के प्रति विजयी होना, उसे शुद्ध कर अपने म मिला लेना।'[२] आर्यसमाज के मुख्य कार्य ये थे — शुद्धि संगठन, रूढ़ियों और अंधविश्वासों का नाश, वैदिक धर्म का पुरुत्थान, और नई शिक्षा पद्धति। स्वामी दयानन्द का व्याख्यान सुन कर केशव चन्द्र सेन ने उनसे यह अनुरोध किया था कि यदि आप हिन्दी म भाषण दें तो आपकी बात अधिक से अधिक लोग समझ सकेंगे। स्वामी जी न बात मान ली। स्वामी जी को हिन्दुओं का सुधार करके वैदिक धर्म का प्रचार करना था। वैदिक धर्म की सारी बातें संस्कृत म थीं और हिन्दू लोग हिन्दी अधिक समझते थे। शब्द-भण्डार लिपि की एकता, व्याकरण, वाक्यनिर्माण, आदि की दृष्टि स संस्कृत का हिंदी से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हिन्दी म लिखने पर संस्कृत की सभी बातें अपने मूल रूप क अधिकाधिक समीप रहती हुई भी अभिव्यंजित हो सकती थी। तथा कथित उर्दू और अँगरेजी इस दृष्टि से नितान्त अयोग्य और अक्षम भाषाएँ थीं इसीलिये स्वामी जी और उनक आर्यसमाज न हिंदी अपना ली। शिक्षा के सम्बन्ध म आर्यसमाज म दो दल थे — कालज पार्टी, और गुरुकुल पार्टी। दोनों पार्टियों के लोगों ने हिन्दी साहित्य की सेवा की। बी ए एम ए तक की शिक्षा हिन्दी के माध्यम म भारतवर्ष म पहली बार देन वाली संस्था थी गुरुकुल कांगड़ी। कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रारम्भ होने के बहुत पहले स ही हिन्दी उत्तर, मध्यम, और पूर्वी भारत म नव चेतना का माध्यम और प्रतीक बन चुकी थी। आर्यसमाजों के दैनिक कार्य, प्रचार-कार्य उनके द्वारा प्रकाशित साहित्य, प्रचार क लिये प्रणीत पत्र-पत्रिकाएँ, साप्ताहिक अधिवेशनों और वार्षिक समारोहों आदि-सबका माध्यम हिन्दी था। आर्यसमाजी बनने के लिए करोड़ों आदमियों ने हिन्दी अपनाई। संस्कृत और हिन्दी क सान्निध्य म वैदिक और पौराणिक साहित्य का हिन्दी म अनुवाद हुआ। स्नातकों क रूप म हिन्दी को अनेक साहित्यिक और उत्साही प्रचारक मिल गये। 'गङ्गाप्रसाद अभिनन्दन ग्रंथ' म

---

१ 'भारत का धार्मिक इतिहास' पृ० ३६५।

२ "युग और साहित्य" पृ० १४३।

अभिनदन ग्रथ" मे प्रकाश वीर शास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि पजाब जैसे इस्लामि-यत के प्रभाव-क्षेत्र मे, जहा सन्ध्या और हवन के मत्र भी आरम मे आर्य-जन उर्दू मे ही लिख कर याद करते थे वहा आजकी नई पीढी आर्य-शिक्षण-सस्थाओ के इस हिंदी प्रधान वातावरण के कारण उर्दू से दूर चली गई है । डरबन, फीजी, आदि, विदेशो मे भी आर्य समाज ही हिन्दी को पहले ले गया था । फीजी, में वहा के आर्यसमाज ने हिंदी-कवि-सम्मेलन का आयोजन किया था पद्म सिंह शर्मा, जयचन्द्र विद्यालकार, सत्यकेतु विद्यालकार, गगाप्रसाद उपाध्याय, चन्द्रावती लखनपाल, धीरेन्द्र बाबू राम सक्सेना, नाथू राम शर्मा 'शकर', आदि आर्यसमाजी विचारो के समर्थकों के रूप मे ही हैं। इस सबध मे अभी इतना ही पर्याप्त है।

ब्रह्मविद्या समाज -

आर्यसमाज के संस्थापक की असाधारण विद्वता और शास्त्रचर्चा ने तथा स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के प्रत्यक्ष उदाहरणों ने प्राचीन हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर दी और ससार के सभी देशो ने उसे मुक्त कठ से स्वीकार कर लिया । ससार के लोगो का ध्यान ब्रह्मविद्या की खोज और उस क्षेत्र के अनुसन्धानों की ओर पहले ही आचुका था । ससार के किसीभी देश का ब्रह्मविद्या-जिज्ञासु हिंदू धर्म के तत्वो की उपेक्षा करके चल नही सकता । अस्तु, १८७५ ई० में हेलेना पेट्रोवना ब्लेवास्की और मिस्टर कोलोन आलकाट ने "थियासोफिकल सोसाइटी स्थापित की जिसका उद्देश्य था उन अगोचर नियमो का अनुसन्धान और प्रचार जिनके अधीन यह सृष्टि सचालित होती है । आगे चल कर उच्च नैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन बिताना तथा आधिभौतिकता की वृद्धि का विरोध भी उद्देश्य हुआ । धार्मिक कट्टरता का विरोध पूर्वी देशों के धर्मज्ञान के तत्वों का पश्चिम में प्रचार, "धार्मिक भिन्नता से मनुष्य भिन्न नही हो जाते"-इस विचार का अर्थात् विश्वम नवता की धार्मिक भूमिका का प्रचार, आदि बातें ही इस ब्रह्मविद्या समाजमे थीं । १८७६ ई० मे इसके दोनों सस्थापक बम्बई चलेआये और ईसाइयो के धर्मप्रचारकों को रोकने, शिक्षा मे परिवर्तन करने, तथा सस्कृत के पठन-पाठन पर जोर देने लगे । इनकी श्रीमती एनी बेसेन्ट ४६ वर्ष की आयु मे भारत आई और आते ही सास्कृतिक आन्दोलन मे कूद पड़ीं । उनका खान-पान, वेश भूषा, आदि शुद्ध भारतीय था । वे असाधारण वक्ता थीं । बीसवी शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षो के अन्दर के हिंदुत्व के इतिहासमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व इस अंग्रेज महिला का था । उन्होंने हिंदुत्व और भारतवर्षको एक ही माना था । उनका कहना था कि भारत वर्ष को हिंदुत्व और अलग कर देना वैसा ही होगा जैसा किसी पेड को उसकी धरती से उखाड फेंकना । हिंदू धर्म के एक अंग की उनकी

व्याख्यानों से लोगों की आँखें खुल जाती थीं। उन्होंने तो रूढ़ियों, रीतियों और रिवाजों तक का समर्थन किया था। "हिंदू मैनर्स ऐण्ड कस्टम्स"-जैसी जहरीली और राक्षसी उद्देश्य से लिखित पुस्तकों के प्रभाव से बचने के लिये जिस इ जेनरेशन की आवश्यकता थी वह श्रीमती बेसेन्ट की प्रतिभा से निर्मित हुआ। इस ब्रह्मविद्या समाज के लोग दिव्य शक्ति का अस्तित्व मानते थे और उनका विचार था कि मानव भगवान के विधान को कार्यान्वित करने का एक साधन है। उसे निश्चित कर लेना चाहिए कि वह पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि बन कर रहे। मानवता के लिये आत्मबलिदान के उच्चतम आदर्शों की पुनर्स्थापना और सारी मानवजाति में एक मूलभूत एकता का दर्शन करने में इसका विश्वास था। यह समाज चाहता था कि मनुष्य अपने श्रेष्ठतम मनोभावों का विकास करे, उसमें मानव-जाति के दुखों के प्रति महानुभूति हो, और वह समस्त मानव-जाति की सेवा के लिये अपने को उत्सर्ग कर दे। तात्विक और दार्शनिक दृष्टि से थियासोफी हिन्दुत्व के अधिकाधिक समीप है। हिन्दू-धर्म के श्रेष्ठतम और मान्य ग्रंथों के अनुवाद प्रकाशित करा कर इसने हिन्दुत्व के पुनरुद्धार के लिये ठोस कार्य किया है। हिन्दू दार्शनिक सिद्धान्तों और पाश्चात्य सामाजिकता का अद्भुत और युगानुकूल समन्वय इस समाज ने प्रस्तुत किया है। डॉ० एस० शर्मा का कथन है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब हजारों नर-नारी भारत की महानता और हिन्दुत्व के गौरव पर श्रीमती एनी बेसेन्ट के व्याख्यान सुनते थे तो वे या तो भाव-विगलित होकर साधु हो उठते थे या भावधारा में बह जाते थे--डूब जाते थे।[१] सर वैलेन्टाइन चिरोल कहते हैं कि जब श्रीमती बेसेन्ट-जैसी असाधारण योरोपीय महिला यह कहती हैं कि पश्चिम के दर्शन नीति, देवता, आदि की अपेक्षा भारतीयों के देवता, धर्म, दर्शन, आदि कहीं अधिक श्रेष्ठतर हैं तो क्या आश्चर्य कि भारतीय पाश्चात्य सभ्यता की ओर से मुँह फेर लें।[२] श्रीमती बेसेन्ट तो हिंदुत्व के जागरण से अखिल विश्व का भी कल्याण मानती थीं। इन्होंने अखंड हिंदुत्व पर आस्था, विश्वास जमाया। इन्होंने समाज को भारत का धार्मिक रूप समझाया। थियासोफी-धर्म नहीं, धर्मों का आश्रय है। मुसलमान अच्छा मुसलमान हो, हिन्दू अच्छा हिन्दू हो, और ईसाई अच्छा ईसाई हो-यही ब्रह्मविद्या समाज चाहता था उसका लक्ष्य यह समझना था कि यदि ये तीनों अच्छे हो गये तो भारत के लिये हितकर होगा। उस समय भारत में ये तीनों धर्म बुरी तरह से टकरा रहे थे। इनको एकता पर ओर देने वाले इस समाज ने उन्हें मिला कर त्रिमूर्ति बना दिया। इसका परिणाम-

१. "हिन्दूज्म थ्रू दि एजेज", पृ० ११८

२ "इण्डियन अनरेस्ट", पृ० २६।

स्वरूप कट्टर और ढ़ोंगी लोगो की संख्या घट गई। इस प्रकार इस समाज ने भारत के एक रोटरी आन्दोलन समाज मे बडा ही स्वस्थ वातावरण विनिर्मित कर दिया।

यही अवस्था रोटरी आन्दोलन की रही जिसका जन्म २३ फरवरी, १६०५ ई० को शिकागो मे हुआ था। इसके जन्मदाता थे पाल हैरिस। इनका लक्ष्य, प्रेरक-वाक्य हैं.—"सेवा अपने स्वार्थ से बडी है", और "जो अच्छी से अच्छी सेवा करता है उसको अधिक से अधिक लाभ मिलता है"। इसके सदस्य एक दूसरे के अधिकाधिक काम आते हैं और परस्पर प्रेम-भाव पैदा करते हैं। इसके कार्य स्वार्थ-प्रेरित नही होते। स्पष्ट है कि यह विचारधारा हिन्दी साहित्यको की अपनी मनोवृत्ति और विचारधारा के अधिक अनुरूप है। यह हमारी सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के अनुरूप है। यह हमारी आकाक्षाओ-भारतीय गौरव की पुनर्प्राप्ति-एव तत्सम्बन्धी वातावरण के प्रतिकूल नही है। इसने सामान्यत प्रवहमान भावधारा को गतिवृद्धि ही की है।

दुर्भाग्य से इन दोनो आन्दोलनो का कार्यक्षेत्र और प्रभाव कुछ उच्च वर्ग के लोगो तक ही सीमित रह गया। हिन्दी साहित्य की विषयवस्तु के रूप मे जो वर्ग था वह प्राय. इन आन्दोलनो के सिद्धान्तो पर ही जीवन बिता रहा था यद्यपि वह इस 'ब्रह्मविद्यासमाज" अथवा "रोटरी" से परिचित न था। निर्माताओ मे से अनेक इससे परिचित थे। परिणाम यह हुआ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य पढने पर मन मे-भावक्षेत्र मे-जो वातावरण निर्मित होता है वह लगभग वही है जैसा यह "ब्रह्मविद्यासमाज" एव "रोटरी" सगठन बनाना चाहता है। तात्विक दृष्टि से दोनो एक-से हैं-साहित्यक हिन्दुत्व प्रधान-क्योकि वही भारत है-वही वस्तुत हमारा वास्तविक रूप है जिसकी अभिव्यजना आधुनिक हिन्दी ने की।

ईसाई धर्म का योग -

सातवी शताब्दी तक भारत मे पर्याप्त ईसाई आ चुके थे। १४६८ मे वास्को डिगामा के भारत आने पर ईसाई धर्म का काफी प्रचार किया गया। १६ वी शताब्दी मे उदारचेता अकबर ने इन्हे धर्म-प्रचार की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे दी थी। १७६३ मे विलियम केरे भारत मे आया। यह पहला पादरी था जो पश्चिम की मिशनरी सोसाइटी से भेजा गया था। १८१८ मे उसने सेरामपुर मे कालेज खोला। बाइबिल के अनुवाद, प्राइमरी शिक्षा, पत्रकारिता, धर्म-प्रचार, आदि उसके कार्य थे।। बीसवी शताब्दी मे फादर वेस्टकाट और सी एफ. ऐन्ड्रूज के कार्य भी इस दृष्टि से सराहनीय रहे। १६३० मे भारत का चर्च इगलैण्ड के चर्च से स्वाधीन हो गया। १६५४ ई० तक नेशनल क्रिश्चियन काउन्सिल के तत्वाधान में ४६ कालेज, ४४८ हाई स्कूल, ५५३ मिडिल स्कूल और १०३ टीचर्स ट्रेनिंग कालेज खोले जा चुके थे। इन ईसाइयों

ने शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य किये। साथ ही साथ इन्होंने धर्म प्रचार का भी कार्य किया। पहले ये पाश्चात्य देशों की ही सभ्यता–संस्कृति को सब–कुछ मानते थे। राष्ट्रीय आन्दोलनों के फलस्वरूप इनके दृष्टिकोण का भी भारतीयकरण हो गया। भारत में जन्म ले कर भारत के अन्न, जल और वायु से जीवन बिताकर अन्ततोगत्वा भारत की ही मिट्टी में मिल जाने वाले को भारतीय संस्कृति और भारत राष्ट्र का हो कर रहना चाहिए–यह बात इन सबकी भी समझ में आ गई। युग की भावधारा–युग धर्म के प्रतिकूल ये अपना धर्म बना नहीं सकते थे और इन्होंने भी भारत के वास्तविक रूप–उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को पहचानना प्रारम्भ कर दिया है। अब यह देख कर बहुत ही प्रसन्नता होती है कि उदार आलोचना करते हुए प्रकृति–विज्ञान अध्यात्म शास्त्र धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन धार्मिक चेतना के मनोवैज्ञानिक अध्ययन तथा रहस्यानुभूतियों के घनिष्ठतम एवं प्रगाढ़तम परिचय के फलस्वरूप ईसाई–पंडित ईसाई धर्म के पुनर्निर्माण में लग गये हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि ईसाइयत हिन्दुत्व के अधिकाधिक निकट आती जा रही है। अस्तु अंगरेजी शिक्षा का प्रचार मानवतावादी दृष्टिकोण से की गई सेवायें, समाजसुधार व्यक्तिगत गुणों–योग्यताओं और मान्यताओं को आदर देने वाले दृष्टिकोण का प्रचार और भारतीय समाज के बुद्धिजीवियों की आशाएँ–आकांक्षाएँ–विचार–दृष्टिकोण आदि को आधुनिकता की ओर प्रेरित करना आदि ईसाइयों की महत्वपूर्ण देनें हैं। इन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिये कोई विशेष सांस्कृतिक दृष्टिकोण तो नहीं उभारा हाँ उसकी बौद्धिकता को अधिक सक्रिय अवश्य कर दिया है। लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय और रामचन्द्र शुक्ल आदि सभी विद्वान् इस विचार को मानते हैं कि आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रादुर्भाव और प्रचार में इन ईसाइयों का महत्वपूर्ण भाग रहा है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'महात्मा ईसा' प्रेमचन्द्र के रंगभूमि की सोफिया जॉन आदि फादर कामिल बुल्के का रामकथा का विकास आदि संभव न होते यदि भारत में ईसाई न होते।

बौद्धधर्म की देन—

बौद्ध धर्म भारत के ही एक सपूत की देन है। अनेक शताब्दियों तक भारतवासियों की चेतना को अपने रंग में पूरी तरह से रंग लेने के बाद कालांतर में वह भारत से विलुप्त हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की करवट बदल कर जब हम अपने को संभालने लगे तथा अपने पूर्व गौरवमय स्वरूप को प्राप्त करने के उद्देश्य से हमने अपनी प्राचीन महानता की खोजें प्रारम्भ की तब स्वाभाविक रूप से हमारा ध्यान बौद्धधर्म की ओर भी गया। पुरातत्व विभाग ने जब कपिल वस्तु

लुम्बिनी, मग्नाथ श्रावस्ती, और कुशीनगर को भूमि के भीतर से निकाल कर हमारे सामने रख दिया और रख दिया और राइस डेविस, आदि विद्वानो की व्याख्याओ ने बौद्धधर्म की तात्विक विवेचना हमारे सामने उपस्थित कर दी, एवं लका, बर्मा, चीन, जापान, आदि के बौद्ध धर्मावलम्बियो ने बौद्ध-तीर्थ यात्राएँ प्रारभ करदी तब महाबोधि सोसाइटी के प्रयत्नो से हमने बौद्धधर्म का अध्ययन-अन्वेषण प्रारभ किया। नवीन चेतना ने धर्म के शाश्वत तत्वो को अशाश्वत तथ्यो एव कर्मकाडो से पृथक करना सीख ही लिया था। परिणामत, बौद्धधर्म के शाश्वत तत्वो ने सारे समार को आकृष्ट कर लिया। बुद्ध ने निश्चय कर लिया था कि दार्शनिक गवेषणाव्यर्थ है। उन्होने देखा कि आचरण क्षेत्र मे कर्मकाड की सस्कार-पद्धति ने नैतिक कर्तव्यपालन का स्थान ले लिया है। धार्मिक क्षेत्रो मे भी असभ्यता के युगो के अधविश्वास फिर सिर उठा रहे हैं और स्वार्थ परायण पुरुष अपने हित-साधन मे उनका उपयोग कर रहे हैं। बुद्ध ने बताया कि बिना पुजारियो की मध्यस्थता अथवा ईश्वर चर्चा के भी हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लोक कल्याण-साधन अथवा शुद्धआचरण से मोक्ष मिलता हैं अनिश्चित फल देने का वादा करने वाले दुराग्रहो को मानने अथवा कुछ देवताओ की तोष शान्ति के उद्देश्य से की गई रहस्यपूर्ण क्रियाओ के सम्पादन से नही। इसी प्रकार हमने नई ज्योति एव दृष्टि से जैन धर्म-दर्शन का भी अध्ययन किया। इन दोनो धर्म दर्शनो की अनेक बातें हिंदू-धर्म दर्शन मे व्यावहारिक रूपसे आ ही गई थी। विरोध विगलित हो चुका था। अतएव मैथिलीशरण गुप्त ने बुद्ध को रामचन्द्र जी के ही वश का बताकर कहा, "हे राम ! तुम्हारा वश-जात, सिद्धार्थ ······"[1]। जैसे वैष्णव-भक्त भगवान से "भुक्ति-मुक्ति" न माग कर "भक्ति" मागता है वैसे ही गुप्त जी ने "अमिताभ" से भक्ति ही मांगी।[2] शाश्वत मूल्यो की खोज और मान्यता ही के कारण 'यशोधरा' मे बौद्ध तत्व और वैष्णव-तत्व नीर क्षीर की भाति मिलकर एक हो गये हैं। अपनी कल्पना को बौद्ध युग मे ले जाकर हिन्दी कवियो ने अनेक कविताए, कहानीकारो और उपन्यासकारो ने अनेक उच्चकोटि के उपन्यास और कहानिया, और नाटककारो ने अनेक उच्चकोटि के नाटक लिखे हैं। "यशोधरा" 'वैशाली की नगर वधू', एव अम्बपाली मे सबधित अनेक सफल कृतियोंसे हिन्दी वाङ्मय मे समृद्ध हुई है।

इस्लाम का योग—

सम्भवत बौद्धो और ईसाइयो से भी अधिक भारतीय जीवन और इतिहास को प्रभावित करने वाला धर्म इस्लाम है। मौलाना अबू मुहम्मद इमामुद्दीन ने लिखा

१ "यशोधरा"

२. वही

है कि इस्लाम एक स्वतन्त्र शब्द है इसका अर्थ है ईश्वरको मान लेना, ईश्वर के समक्ष शीश झुका देना, अपने को सर्वथा ईश्वर के समर्पण मे दे देना और उसकी सम्पूर्ण आज्ञाओं को स्वीकार कर लेना।[१] राहुल साकृत्यायन ने इस्लाम का शाब्दिक अर्थ शान्ति' अथवा 'शान्ति की क्रिया' माना है।[२] इस्लाम के तीन आधारभूत विश्वास हैं – (१) ईश्वरके अस्तित्व और उसके गुणों मे विश्वास, (२) रसूल अर्थात् ईश्वरके दूतोंमे विश्वास, और (३) कयामत और रोजे, प्रलय और न्याय के दिन मे विश्वास। कुरान शरीफ इस्लाम की पवित्रतम धर्म-पुस्तक है। मुहम्मद साहब अंतिम पैगम्बर हैं। पैगम्बर वह है जो ईश्वर या खुदा का पैगाम लाने वाला आदमी हो। इस्लामी धर्मशास्त्र कहता है, 'ऐ मोहम्मद! तुम केवल (कुमार्ग के परिणाम से) सचेत करने वाले हो और इसी प्रकार हर जाति मे पथ-प्रदर्शक आ चुके हैं'[३] राहुल साकृत्यायन ने लिखा है कि कुरान प्राचीन शास्त्रों का समर्थक है[४] और ईश्वर को कुरान न सृष्टि का कर्ता, धर्ता हर्ता माना है[५] ईश्वर बड़ा दयालु है, वह अपराधो' को क्षमा कर देता है,[६] वह सत्य है, न्यायकारी है, काफिरो पर भी दयाकरता है, माता पिता स्त्री पुत्रादि रहित है।[७] कितने ही लोग इस्लाम मे भी ईश्वर को साकार मानते है क्योकि "अर्श (सिंहासन) जल पर है" से पुराणों के शेषशायी ईश्वर का स्मरण आता है।[८] कुरान में यह सिद्धान्त भी भलीभांति प्रतिपादित है कि ईश्वर अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अनुपम और अतिशय समीप है। जिस प्रकार पुराणों मे परमेश्वर के बाद अनेक देवता भिन्न भिन्न काम करने वाले माने जाते हैं उसी प्रकार इस्लाम ने फरिश्तो को माना है। सर्वशक्तिमान होने से उससे, ईश्वर ने, बिना उपादान कारण के ही जगत बना डाला। इस्लाम मे पुनर्जन्म नहीं माना गया है। वहां प्रलय या कयामत के दिन प्रत्येक जीव अपने पुराने शरीर के साथ जी उठेगा। उसी दिन उसके शुभ या अशुभ कर्मों का पारितोषिक या दंड भी सुनाया जायगा। इस्लामके अनुसार भी जगत के लोगो की असमानता ईश्वरेच्छा है। यद्यपि इस्लाम मे

---

१. "इस्लाम का परिचय" पृ. ६
२. "इस्लाम की रूपरेखा" पृ. ८१
३. 'इस्लाम का परिचय", पृ ११
४. "इस्लाम की रूपरेखा", पृ. २०
५. "वही, पृ ५६
६. वही, पृ ५६
७ वही
८, वही

भी माना गया है कि "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" किन्तु तौबा (प्रायश्चित) से और पैग़म्बर की सिफ़ारिश से पाप का क्षम्य हो सकना भी सम्भव माना गया है। जन्नत (स्वर्ग), दोज़ख़ (नर्क), हूर (अप्सरा), बाग़ (नन्दन) शराब सोम), जन्नत में सुख-भोग, और दोज़ख़ में विपत्ति की आग बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे पुराणों में कहीं-कहीं स्वर्ग-नरक का उपभोग अनन्त काल तक के लिये है और कहीं-कहीं सावधि। स्वर्ग-नरक के बीच की दीवाल को एराफ़ कहते है। मृत्यु को भी भगवान के ही आधीन माना गया है। राहुल जी के अनुसार इस्लाम के कुछ सम्प्रदायों के लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं। कुरान की प्रार्थनाएँ स्पष्ट करती हैं कि इस्लाम कितना विनयशील शान्ति-प्रिय, समर्पणशील, आस्तिक और निष्ठा एवं आस्थामय है। कुरान की 'पनाह' 'अऊज़ु' बिल्लाहि मिनश्शैत्वानिर्रजीम' का अर्थ है-'शरण लेता हूँ मैं अल्लाह की पापात्मा शैतान से बचने के लिये।" 'फ़ातिहा' का अर्थ है "पहले ही पहल नाम लेता हूँ अल्लाह का जो निहायत रहम वाला, मेहरबान है। हर तरह की स्तुति भगवान के ही योग्य है। वह सारे विश्व का पालने-पोसने वाला और उद्धारक परम कृपालु, परम दयालु है। चुकौती के दिन का वही मालिक है। हम तुम्हारी ही आराधना करते हैं और तुम्हारी ही मदद मांगते हैं। ले चलो हमको सीधी राह-उन लोगों की राह जिन पर तेरी कृपा-प्रसाद उतरा है। उनके रास्ते नहीं जिन पर तुम्हारी अप्रसन्नता हुई है या जो मार्ग भूले हैं। तथास्तु। यह है 'बिस्मिल्लाहि रह्मानिर्रहीम। अल्हम्दुलिल्लाहिर्रब्बिल आलमीन ... आमीन" तक के पदों का भाव। शब्द बदले हैं, भाव एक ही है। नाम बदले हैं, नाम वाला एक ही है। धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म में जो अन्तर है वह नगण्य है। हिन्दुओं और मुसलमानों-दोनों में ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है। हिन्दुओं की ही भांति इस्लाम में भी नैतिकता का आदर्श काफ़ी ऊँचा है। आचरण की शुद्धता, दान, अतिथि सेवा अव्यभिचार, शराब का त्याग, क्षमा, अविरोध, आदि महत्त्वपूर्ण बातें एक-सी हैं। इस्लाम का धर्मग्रन्थ कहता है कि ईश्वर उस जीव के खून और मांस से सन्तुष्ट नहीं होता जिनकी तुम कुर्बानी करते हो वरन् वह तुम्हारी धर्मनिष्ठा से सन्तुष्ट होता है। मुहम्मद का बहिश्त में जाना इस बात का प्रतीक है कि ससीम और असीम का संयोग होना सम्भव है। भगवानदास ने सभी धर्मों की मौलिक एकता प्रतिपादित करते हुए मसीह और रसूल में अवतार की छाया देखी है और "अल्लाहो बि कुल्ले शयीन् मुहीत" में 'ब्रह्म सर्वमावृत्य तिष्ठति" का भाव देखा है।[1] भारत में आकर इस्लाम ने पहले अपने को विशुद्ध रखना चाहा, और चाहा कि भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस्लाम स्वीकार कर ले। मरे टी० टाइटस ने लिखा है कि हिन्दू तथा हिन्दुत्व के प्रति

१. "समन्वय", पृ २६८।

इस्लाम का दृष्टिकोण सदैव ही असहनशीलता का रहा है ।[1] इस्लाम ने हिंदुओं को अहलुलकिताब भी नहीं माना । तात्पर्य यह हुआ कि हिंदू या तो इस्लाम स्वीकार करें या मृत्यु । यथार्थ के तकाजे ने मजबूर कर दिया वर्ना हम धिम्मी भी नहीं बन सकते थे अर्थात् जजिया खिराज देकर भी और इस्लामी शासन स्वीकार करके भी छुट्टी नहीं पा सकते थे । विजेता इस्लाम हिंदुओं और बौद्धों के देश का इस्लामीकरण किये बिना अपने को सफल मानने के लिये कभी भी नहीं तयार हो सका । भारत में इस्लाम की कहानी सैद्धान्तिक कट्टरता और भारतीय प्रकृति के तात्त्विक के संघर्ष की कहानी है । दोनों एक दूसरे से लडते भी हैं और दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं । दोनों के सुन्दरतम पक्ष भी हैं और कुरूपतम पक्ष भी । अस्तु अपने अथक प्रयत्नों के पश्चात् भी भारत में आया हुआ इस्लाम अपने उद्देश्यों में सफल न हो सका । एक मात्र भारत ही वह अपवाद है जहां इस्लाम भारत को अपनी इस्लामी दुनिया में न मिला सका ।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म की विशुद्धता बनाये रखने के लिये पार्थक्य की नीति अपनाई गई । पार्थक्य की नीति के प्रोत्साहन का एक कारण और है । योरप में ईसाइयों और मुसलमानों के बीच दीर्घ काल तक धर्म युद्ध हुआ था जिसके परिणामस्वरूप ईसाई अंगरेज भी इस्लाम के विरुद्ध थे । मौलाना अबूमुहम्मद इमामुद्दीन ने लिखा है — "जब योरप से अंगरेजी साम्राज्य भारत आया तो वह अपने दूसरे अस्त्र-शस्त्र के साथ वह प्रचार भी लेता आया जो इस्लाम और मुसलमानों के विरुद्ध सदियों से योरप में फैला हुआ था । मुसलमानों की वजह से हिंदुस्तान में भी इस्लाम के विरुद्ध घृणा और द्वेष मौजूद ही था । इसलिये योरप से आये हुए इस्लामी-विरोधी प्रचार का खूब स्वागत और इस्तकबाल हुआ ।"[3] कुछ भी हो सामान्य जनता की प्रवृत्ति राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति से भिन्न हुआ करती है और हमारे आलोच्य काल तक आते-आते भारत का सामान्य हिंदू और मुसलमान एक ढंग का जीवन बिताने लगा था । धार्मिक पूजा-पाठ और वेश भूषा नाम धाम रीति रिवाज आदि के क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति ने सबको पूर्ण स्वतन्त्रता देना सीखा ही था । भारतीय मुसलमानों को भी वह स्वतन्त्रता सहज स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो गई । बाकी व्यवहार मेल मिलाप खून-पसीना सबका एक ही रहा था । धार्मिक और सांस्कृतिक विद्वेष नाम की कोई चीज रह ही नहीं गई थी । तब हिंदू सवर्ण संत पूजा सहनशीलता निरन्तर

---

१ इस्लाम इन इण्डिया ऐण्ड पाकिस्तान पृ १६

२ 'दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इण्डिया' भाग ४ पृ ५७६ ।

३ इस्लाम का परिचय पृ ११७ ।

सम्पर्क, देवता और शास्त्र सम्बन्धी हिंदू-उदारता, राधाकृष्ण की पूजा, सामाजिकता, सत मत की उदारता, आदि के कारण हिंदू मुसलमान से प्रभावित हुए, और मुसलमान हिंदू से, यद्यपि दोनो का अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और दृष्टिकोण अब भी अक्षत है। सारे भारतवर्ष में न तो कोई हिंदू गाव है और न कोई मुसलमान गाव राजेन्द्र बाबू ने बडे विस्तार के साथ यह दिखाया है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे किसी प्रकार हिंदू और मुसलमान दोनो एक दूसरे से प्रभावित हुए है[1] हिन्दुत्व और इस्लाम मे जो अन्तर था उसके कारण न तो हिंदू मुसलमान से द्वेष करता था और न मुसलमाम हिंदू से बल्कि दोनो आपस में एक दूसरे की मान्यताओ का आदर करके उनके सपन्न होने मे परस्पर एक-दूसरे की सहायता करते थे। मुसलमान हिन्दू दोस्त को जब खाने पर बुलाता था तब हिंदू घर से ब्राह्मण द्वारा भोजन बनवाकर पवित्र स्थान पर खिला कर उसके "धरम" की रक्षा करना अपनी दोस्ती का एक अ ग-कर्तव्य-समझता था। गाधी जी ने लिखा है, "उस (अजमेरके) दरगाहमे हिंदूभी जाते हैं और हिंदू जाकर मानता भी करते हैं। इसी तरहसे मुसलमान भी करते हैं। इसी तरह से मुसलमान भी जाते हैं। और तो सब एक बन गये हैं, ऐसा चलता है। धर्म से नही, कर्म से।"[2] तो, हमारा महात्मा भी यही कहता था और काव्यात्मा का भी यही कथन था, "हौं तो मुगलानी हिंदुआनीह्वै रहूंगी मैं।" उदार हिंदुत्व के सपर्क मे आकर भारत का कट्टर इस्लाम भी थोडा-बहुत उदार हो चला है। राधा कृष्णन ने लिखा है, इस्लाम का भारतीय स्वरूप हिन्दू विश्वासो और कर्मकाण्डो के रूप पर ढला हुआ है .... सुन्नियो की अपेक्षा शिया हिंदुत्व के अधिक समीप हैं[3] जनता, कवि, महात्मा, एव सत, आदि के द्वारा दोनो का सास्कृतिक सम्मिलन प्रारम्भ हो गया था। यदि यह सफल हो जाता तो जैसे पारसी, सिक्ख, शाकल्य द्वीपीय, शक-सेना, आदि हिंदू अर्थात् भारतीय हैं वैसे ही मुसलमान भी होते! वे हम मे मिल भी गये होते और अपनी स्वतन्त्र पहचान (आइडेन्टिटी) भी रखते। किन्तु अंग्रेजो ने इसमे अपना लाभ न देखा। पढ़े-लिखो के एक वर्ग को ऐसा इजेंक्शन दे दिया कि वे अपनी विचारधारा मे एक-दूमरे के खून के प्यासे हो गये। एक दूसरे के शत्रु होकर वे भारत माता के शत्रु हो गये। यह इजेक्शन कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियो और भूलों का साथ पाकर इतना प्रभावशाली होगया कि आजादी भी उसके जहरीले प्रभाव को पूरी तरह नही मिटा पाई है। यह धर्मान्धता, यह अविश्वास, मूर्खता, यह सकुचित दृष्टि एव अदूरदर्शिता इस महाद्वीप के इतिहास मे अभी कौन-

१. "खण्डित भारत",
२. "प्रार्थना प्रवचन" भा, २, पृ, १६१।
३. "इस्ट एँड वेस्ट" पृ, ३३।

से गुल खिलायेगी, इसे भविष्य ही जानता होगा। दुश्मन उतना भयानक नहीं होता जितना विद्वेषी भाई ! द्वेष की प्यास विदेशी दुश्मनों से मिल कर अपने भाई के खून बहाने से भी शायद नहीं बुझती ! वह बुझती है उदारता स्वार्थ त्याग, से ऊपर उठने और समझदारी आने से मगर ये अंगरेजी पढ़े महात्मा गांधी की चिता की आग की चिनगारी भड़काते रहते हैं और भारत की प्रणम्य तपोभूमि को श्मशान-सा देखने के शौकीन लगते हैं। प्रसन्नता और आशा की किरण केवल यहीं से आती है कि संत, महात्मा समझदार लोग, और सामान्य जनता अब भी मन्सूमन की परम्पराओं को ही अपनाये हैं। इतने हत्या-काण्डों के बावजूद भी मुहर्रम में हिंदू ताजियेदारों की संख्या कम नहीं होती! आवश्यकता केवल एक बात की है, और वह यह है कि कोई प्रभावशाली एवं विश्वास प्राप्त मुसलमान धर्मनेता मुसलमान भाइयों को यह समझा दे कि धर्म परिवर्तन का अर्थ यह नहीं होता कि इतिहास और आदर्श बदल गये, कि धर्म बदल गये, कि धर्म बदलने में बाप का नाम नहीं बदल जाता। उसे पैतृक परम्परा और नव स्वीकृत धर्म में सामञ्जस्य स्थापित करना है। उसे अशिक्षित, कट्टरपंथी, कुटिल राजनीतिज्ञ, एवं अनुदार मुल्ला वाले धर्म से इस्लाम को निकाल कर या बदल कर एक व्यापक अध्यात्म की आधार-शिला के सहारे इस्लाम की सत्यतम, उच्चतम, एवं उदारतम व्याख्या करनी है। वैसे भारत की आत्मा इस्लाम को अपनी कतिपय कट्टरताओं को ढीला करने की ओर प्रेरित कर रही है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पढ़े लिखों के एक वर्ग में यह साम्प्रदायिक विद्वेष था जिसमें जहाँ एक ओर भारत की हानि हुई वहाँ दूसरी ओर खड़ी बोली हिन्दी की भी हानि हुई। खड़ी बोली के रसखान, घनानन्द और जायसी का गला जन्म होने के पहले ही घोट दिया गया। उर्दू के रूप में एक सौतेली, प्रेममयी, बड़ी बहन को पाकर खड़ी बोली की कविता कितनी सप्राण, सशक्त, और सुन्दर हुई होती, इसे कौन कह सकता है! फिर भी, इस इस्लाम ने हिंदी को कुछ बड़े ही सुंदर और प्यारे शब्द दिये हैं, जैसे, 'इन्सान' 'आसमान' 'जिंदगी' "जवानी' मुहब्बत" 'दुनिया' "दिल' आदि। शृंगार प्रधान साहित्यिकों की अभिव्यक्तियों में जो एक नया चटपटापन, नई मस्ती, नई तड़प दिखाई पड़ती है, उसका बहुत बड़ा श्रेय सूफी-प्रेम का है। सूफी धर्म की मृदुल-काम्यता महादेवी वर्मा में देखी जा सकती है। छायावाद में रोने धोने की जो अधिकता है उसका भी श्रेय 'दिनकर,, ने इस्लामी प्रेम की अभिव्यक्तियों में ही पाया है।[1] उन्होंने लिखा है कि ये कवि (विशेषतः महादेवी) इसलिए नहीं रोते थे कि असहयोग आंदोलन असफल हो गया था या प्रथम महायुद्ध-जनित निराशा इन्हें घेरे थी, 'असल में छायावादकालीन वेदनाप्रियता एवं रोमा-

१ संस्कृति के चार अध्याय पृ १६१

टिक मुद्रा का परिणाम थी। दूसरे, उनके मूल में बहुत दूर पर, सूफियों की वेदना-प्रियता काम कर रही थी .... ,,[१] । अस्तु, इस्लाम से हिन्दी को इस्लाम धर्म और संस्कृतिसम्बन्धी साहित्य (पंडित सुन्दर लाल, राहुल सांकृत्यायन, आदि द्वारा लिखित) गुप्त जी का "काबा-कर्बला, इस्लामी इतिहास-सम्बन्धी कुछ नाटक तथा हिन्दु-मुस्लिम ऐक्य सम्बन्धी कुछ अच्छा साहित्य मिला है।

अरविन्द का योग—

इस युग में अध्ययनशील और विचारशील भारतीयों और कुछ विदेशियों को भी धर्म, दर्शन, और योग की एक नई व्याख्या एवं विचारधारा ने बहुत आकृष्ट किया। यह विचारधारा अपने युग के सुप्रसिद्ध एवं अत्यन्त भयानक क्रान्तिकारी तथा बाद के योगी अरविन्द ने प्रस्तुत की थी। उनका कहना है कि सृष्टि की मूल सत्ता वह ब्रह्म है जो समस्त विश्व के अन्दर चेतना के रूप में निहित है। स्थूल जड-सत्ता, फिर प्राण, फिर मन, आदि—इस प्रकार के क्रमशः विकास के रूप में वही चेतना अपने आपको अभिव्यक्त कर रही है। योगीराज का कथन है कि ब्रह्म तो सत्य है किन्तु यह जगत् मिथ्या नहीं है। यही तो ब्रह्म का अभिव्यक्त रूप है। उनका कहना है कि मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसा नहीं है जैसे लहर। जिस तरह लहर समुद्र में जाकर लीन होती है उसी तरह ब्रह्म के अन्दर मनुष्य का व्यक्तित्व लीन नहीं हो सकता। सबसे पहले तो व्यक्ति को अपने अहंकार का त्याग करना पड़ेगा। अहंकार से मुक्त यह आत्मा ब्रह्म के माध्यम से जगत के साथ और जगत के सभी प्राणियों के साथ आन्तरिक एकता का अनुभव करते हुए एक अपूर्व निजी भाव का अनुभव कर सकती है। व्यक्ति और विश्व के अभिन्न संबंध का यह बड़ा अनोखा दृष्टिकोण है। आध्यात्मिक सत्ता न तो निर्गुण है अर्थात् न तो विशेषताओं से रहित है और न शून्य चेतना है। वह एक परिपूर्ण चेतना है। उसके अन्दर सभी गुण और सभी विशेषताएं हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात जो, युगानुकूल भी है, उन्होंने यह कही है कि व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सबको छोड़कर व्यक्तिगत रूप से अकेले-अकेले मुक्ति प्राप्त कर सके। व्यक्ति सारे विश्व का एक अंग है। अंग अपने को अंगी से सर्वथा अलग नहीं कर सकता। उसकी अपनी उन्नति सबकी उन्नति का एक कारण बन जायगी और सबकी उन्नति में व्यक्ति का भी हित है। सत्ता की आदि समस्या मूलतः समस्वरता (हार्मनी) या सामंजस्य या सन्तुलन की है। दर्शन का मूल स्रोत और एकमात्र आधार है अनुभव। अनुभव को

१. "संस्कृति के चार अध्याय" पृ ३६६।

अमक भाव मे बाधना होगा। उसे सीमाओ से ऊपर रखना होगा। सर्वव्यापक सत्ता "अद्वैत है। हमको अपनी द्वैत भावनाओ के लिये भी उसी का आधार बनाना होगा है। वह नितान्त परम है अविनार है, और अगम्य है। मनुष्य अपनी प्रकृति और स्वभाव के नाते एक निकटतर सत्ता को ही ग्रहण कर पाता है। इसको उसने ईश्वर' कह दिया है। यह ईश्वर भी पूर्ण सच्चिदानन्द सत्ता है। यही सत्ता जगत को भी रचती है। वह शुद्ध सत् ही जगत मे अभिव्यक्त हो रहा है। इसी नाते हम इस पूरे ससार म कही भी ऐसे दो तत्व नही मिलते जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न या एक दूसरे के सर्वथा प्रतिकूल या विपरीत गुणो वाले हो। अस्तु मानव चेतना, पशु चेतना, वनस्पति की प्रतिक्रिया, और प्रत्यक्षत नितान्त जड पदार्थ मे एक क्रम है, एक अटूट सिलसिला है। सुख-दुख की अनुभूतिया हमारे उथले मानस तत्व की अभ्यास-जनित प्रतिक्रियाएँ हैं। इन प्रतिक्रियाओ से परे होने पर हम उन्ही स्पर्शों से एक रस आनन्द भी मिल सकता है जिनसे हम छिछली या हल्की मनोवृत्ति मे दुख या सुख का अनुभव करते हैं। अरविन्द ने लिखा है, 'वस्तुओ की आत्मा है अनन्त अविभाज्य सत्ता, इस सत्ता की मूलभूत प्रकृति या धर्म है आत्म सचेतन सत्ता की अनन्त अक्षय शक्ति, और, फिर उस आत्म सचेतनता की मूलभूत प्रकृति या उसका स्वविषयक ज्ञान है सत्ता का अनन्त अविच्छेद्य आनन्द।'[1] व्यष्टि, समष्टि, और परात्पर तत्व—तीनो ब्रह्म की ही स्थितिया हैं। हम यह नही सोचना चाहिये कि ये तीनों स्वतन्त्र सत्ताएँ है। सत्ता अन्ततोगत्वा एक सुसबद्ध और सगठित तत्व है। असीम देश एव अनन्त काल वाला यह जगत या विश्व उसी सत्ता का सार्वभौम रूप है। व्यष्टि उसका अनिवार्य अग है। इस प्रकार अनेकत्व और एकत्व का समाधान होता है। मानव इसी जगत मे, इसी पृथ्वी तल पर ही दिव्य जीवन प्राप्त कर सकता है। सत्ता का क्रमिक स्तर है जड,प्राण,मन, अन्तरात्मा अतिमन, आनन्द चित् और सत्। यह विकास का एक क्रम है। इस रूप मे, इस क्रम से चेतना निरतर वृद्धि प्राप्त करती रहती है। इस विकासक्रम का आधार है एक व्यापक अवचेतना। यह विकासक्रम ब्रह्म की ऐक्य-पूर्ण चेतना की ओर बढ रहा है। वर्तमान काल मे सामान्यत हमारा सबसे अधिक विकास जिस स्तर तक हो पाया है वह है मन वाला स्तर। अन्तरात्मा का स्तर मन के ऊपर है और इसलिये निश्चित रूप से मन के स्तर से भिन्न है। व्यावहारिक रूप म मन सदैव प्रकृति की ओर अभिमुख होता है। अन्तरात्मा का स्वभाव है जगत के आत्मतत्व भगवान को खोजना। अन्तरात्मा गत्यात्मक है और आत्मा शुद्धसत्तात्मक। ये ब्रह्म के

१ दि लाइफ डिवाइन', पृ. १५१।

ही दो पग हैं। अन्तरात्मा से अतिमन तक के विकास का मार्ग काफी लम्बा है। मन का समूल रूपान्तर करना होगा। चेतना को ऐसा बनाना होगा कि वह सत्य को धारण कर सके उसे अनेकता में एकता का अनुभव करने के योग्य बनाना होगा। इस प्रकार अध्यात्ममय होने से अमरत्व का अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। मानव इस विकासका अग्रदूत है। योग की सचेतन क्रिया द्वारा वह और अधिक तेजी से विकास कर सकता है। मानव में ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी दोनों प्रकार की गतियां एक साथ काम करती रहती हैं। योग और चिन्तन द्वारा उसे तत्वों का स्पष्टीकरण करना होगा। सात अनन्त की एक अवस्था है। अनंत अवस्था की प्राप्ति ही 'दिव्य जीवन है।'[1] इस 'दिव्य-जीवन" की प्राप्ति अति-मानस से ही संभव होती। "अति मानस और दिव्य जीवन नामक लेख में अरविन्द का कथन है "अति-मानस अपने मूल रूप में सत्य चेतना है इसकी गति सीधी होती है, और वह सीधे अपने लक्ष्य तक जा सकती है अतएव एक अतिमानसिक सत्य चेतना का अभि-व्यक्त होना वह प्रधान सत्य है जो दिव्य जीवन को यहां संभव बना था। इससे मानव मन का मौलिक रूपान्तरण हो जायगा। मन, प्राण, शरीर-सभी दिव्य जीवन के अंग बन जाएंगे।

हरिदास जी चौधरी ने लिखा है, 'उनके योग का उद्देश्य है प्राच्य के आध्या-त्मिक आदर्श के द्वारा पाश्चात्य की कर्मप्रेरणा को उदबुद्ध करना और पाश्चात्य के कर्मस्रोत के अन्दर प्राच्य के देव-जगत के स्वप्न को मूर्त विकसित करना"" प्रकृति के पीछे जो विश्वात्मा विराजमान है उनके साथ अभिन्नता स्थापित कर अनन्त शक्ति से शक्तिमान होना है" "मनुष्य के अन्दर जो सुप्त देवता विद्यमान है उनको जागृत कर मनुष्य का रूपान्तर साधित करना होगा"" 'पृथ्वी की अन्तर्निहित विराट चेतना को उदबुद्ध कर यहीं पर स्वर्ग राज्य को स्थापित करना होगा श्री अरविन्द का विश्वास है कि मनुष्य के अन्दर भगवान का अतिमानस शक्ति (सुप्रामेंटल पावर) का अवतरण होने से अतिमानव (सुपरमैन) का जन्म होगा। मनुष्य की सचेतन प्रचेष्टा और साधना के द्वारा ही यह नवीन जन्म या अभिव्यक्ति सिद्ध होगी।"[3] योगीराज अरविन्द के इस चिन्तन और योग ने विचार-जगत में एक नई क्रांति पैदा कर दी। पृथ्वी पर स्वर्ग की अवतारणा युक्तियुक्त हो गई। यह विचार और साधना का यह स्वरूप भारतीय संस्कृति के अनुरूप था जिससे हमें अपने प्राचीन रूप और गौरव की पुनर्प्राप्ति

---

१ 'अदिति", फरवरी, १९४६।

२ "वही, वही, १९५०।

३ "अदिति', १९५४ की पाचवीं पुस्तिका।

की आशा हुई। हिन्दी के लेखकों ने आगे बढ़ कर इस विचार का अध्ययन किया। पन्त पाँडेचेरी के आश्रम में कुछ दिन रहे। विद्यावती "कोकिल" जैसे वहीं की हो गई हैं। इस विचारधारा का आधुनिक हिंदी साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। अरविन्द की कृतियों के हिन्दी अनुवाद हुए। गम्भीरता और उच्चकोटि का आस्तिकवादी साहित्य मिला। गीता-उपनिषद की नवीन मौलिक व्याख्याएँ प्राप्त हुईं। मानव को ऊँचा उठाने वाला साहित्य रचा गया। भगवान के चौबीसों अवतारों को पन्त ने विकास-क्रम के, उत्तरोत्तर वृद्धि के, रूप में सोचा। संस्कृतनिष्ठ गद्य की एक नई शैली मिली। उच्चकोटि के विचार मिले। कविताएँ, कहानियाँ नाटक, एकांकी, आदि लिखे गये। आरसीप्रसाद सिंह, शांति एम० ए०, पन्त, 'कोकिल', आदि पर इस विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

वेदांत—

बीसवीं शताब्दी के प्रथम कुछ वर्षों के अन्दर स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ ने विदेश में भी और अपने देश में भी समझदार व्यक्तियों की चेतना के कण कण को वेदान्त की शंखध्वनि से आलोड़ित-विलोड़ित कर दिया। उन्होंने भारतीयों से अपने अन्तर को टटोलने तथा अपने वास्तविक स्वरूप और गौरव को फिर से पहचानने के लिये कहा। वे वेदांत का सहारा लेकर भारत को एक आध्यात्मिक सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करना चाहते थे। प्रश्न उठता है यह सब संभव कर देने की शक्ति रखने वाला यह वेदान्त है क्या ? "वेद नामक ग्रंथ दो भागों में बँटे हैं—कर्मकांड और ज्ञानकांड। दूसरा भाग ज्ञानकांड हम लोगों के धर्म का आध्यात्मिक अंश है। इसका नाम वेदान्त अथवा वेद का अन्तिम भाग अथवा वेद का चरम लक्ष्य है।"[1] इस वेदान्त के तीन प्रस्थान हैं —उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और गीता। उपनिषद् ऋषियों के अनुभव हैं। उपनिषदों के निष्कर्षों की युक्तिसंगत व्याख्या के प्रयत्नों का स्वरूप ब्रह्मसूत्र में है और गीता वह योगशास्त्र है जिसके माध्यम से हम वास्तविक धार्मिक जीवन पा सकते हैं। 'वेदान्त' शब्द से केवल अद्वैतवाद का ही अर्थ नहीं निकालना चाहिए। श्री हरि कृष्ण दास गोयन्दका ने उसके सिद्धांतों में चौबीस मुख्य बातें इस प्रकार बताई हैं।

(१) यह प्रत्यक्ष उपलब्ध होने वाला जो जड़-चेतनात्मक जगत है इसका उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही है (१—१—२ जन्माद्यस्य यत)।

(२) सर्वशक्तिमान परब्रह्म परमेश्वर की जो परा (चेतन जीव-समुदाय) और अपरा

---

१ विवेकानन्द कृत "वेदान्त", पृ० ३।

(परिवर्तनशील जड वर्ग) नामक दो प्रकृतियां हैं, वे उसी की अपनी शक्तियां हैं, इस लिये उससे अभिन्न हैं (३–२–२८ प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् । वह इन शक्तियों का आश्रय है, अत इनसे भी भिन्न है । परब्रह्म जीव और जड वर्ग से सर्वथा विलक्षण और उत्तम है (३–२–३१– परमत: सेतून्मानसबन्धभेदव्यपदेशेभ्य.) ।

(३) वह परब्रह्म परमेश्वर अपनी उपर्युक्त दोनों प्रकृतियों को ले कर ही सृष्टिकाल में जगत की रचना करता है और प्रलयकाल में इन दोनों प्रकृतियों को अपने में विलीन कर लेता है ।

(४) परब्रह्म परमात्मा शब्द, स्पर्श, आदि से रहित, निर्विशिष्ट, निर्गुण एवं निराकार भी है तथा अनन्त कल्याणमय गुण–समुदाय से युक्त सगुण एव साकार भी है । इस प्रकार एक ही परमात्मा का यह उभयविध स्वरूप स्वाभाविक तथा परम सत्य है औपाधिक नहीं है (३–२–११–२६) ।

(५) *जीव–समुदाय उस परब्रह्म की परा प्रकृति का समूह है, इसलिए उसी का अंश* है (२—३—४३) । इसी दृष्टि से वह अभिन्न भी है । तथापि परमेश्वर जीव के कर्म फलों की व्यवस्था करने वाला (२—४—१९) सबका नियन्ता और स्वामी है ।

(६) जीव नित्य है (२ ४ – १६) । उसका जन्मना और मरना शरीर के सम्बन्ध से औपचारिक है (३—२—६) ।

(७) जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर मे और लोकान्तर मे भी जाना–आना शरीर के सम्बन्ध से ही है । ब्रह्मलोक में भी वह सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से ही जाता है (४—२—६) ।

(८) परब्रह्म परमेश्वर के परमधाम मे पहुँचने पर ज्ञानी का किसी प्रकार के प्राकृत शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता वह अपने दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होता है (४—४—१) । वह उसकी सब प्रकार के बन्धनों से मुक्तावस्था है (४—४—२) ।

(९) कार्यब्रह्म के लोक म जाने वाले जीव को वहा के भोगो का उपभोग संकल्प मात्र से भी होता है और उसके संकल्पानुसार प्राप्त हुए शरीर के द्वारा भी (४—४—८, ४—४ - १२) ।

(१०) देवयान मार्ग से जाने वाले विद्वानों मे से कोई तो परब्रह्म के परमधाम मे जा कर मुक्ति–लाभ कर लेते हैं (४—४—४) और कोई चैतन्य–मात्र स्वरूप से अलग भी रह सकते हैं (४—४—७) ।

(११) कार्यब्रह्म के लोक मे जाने वाले उस लोक के स्वामी के साथ प्रलय–काल के समय सायुज्यमुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं (४—३—१०) ।

(१२) उत्तरायण मार्ग से ब्रह्मलोक मे जाने वालों के लिये रात्रिकाल या दक्षिणायन काल मे मृत्यु होना बाधक नही है (४—२—१६—२०)।

(१३) जीव का कर्त्तापन शरीर और इन्द्रियो के सम्बन्ध से औपचारिक है (२—३—३३—४०)।

(१४) जीव के कर्त्तापन मे परमात्मा ही कारण है (२—३—४१)।

(१५) जीवात्मा विभु है, उसका एकदेशित्व शरीर के सम्बन्ध से ही है, वास्तव म नही है (२—३—२६)।

(१६) जिन ज्ञानी महापुरुषो के मन मे किसी प्रकार की कामना नही रहती, जो सर्वथा निष्काम और आप्तकाम हैं उनको यही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। उनका ब्रह्मलोक मे जाना नही होता।

(१७) ज्ञानी महापुरुष लोक-सग्रह के लिये सभी प्रकार के विहित कर्मो का अनुष्ठान कर सकता है (४—१—१६—१७)।

(१८) ब्रह्मज्ञान सभी आश्रमो मे हो सकता है। सभी आश्रमों मे ब्रह्मविद्या का अधिकार है (३ ४—४६)।

(१९) ब्रह्मलोक मे जाने वाले का पुनरागमन नहीं होता (४-४—२२)।

(२०) ज्ञानी के पूर्वकृत सचित पुण्य-पाप का नाश हो जाता है। नये कर्मो से उसका सम्बन्ध नही होता (४-१-१३-१४)। प्रारब्ध कर्म का उपभोग द्वारा नाश हो जाता है। तदनन्तर वर्तमान शरीर नष्ट हो जाता है और वह ब्रह्मलोक को या वही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है (४-१-१९)।

(२१) ब्रह्मविद्या के साधक को यज्ञादि आश्रम कर्म भी निष्काम भाव से करने चाहिये (३—४—२६) शम-दम, आदि साधन अवश्य कर्त्तव्य हैं (३—४—२७)।

(२२) ब्रह्मविद्या कर्मो का अङ्ग नही है (३—४—२—२५)

(२३) परमात्मा की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मज्ञान ही है (३—४—४७ और १)।

(२४) यह जगत प्रलय काल मे भी अप्रकट रूप से वर्तमान रहता है (२-१-१६)।[1]

यही उपर्युक्त वेदान्त भारतीय सस्कृति की आधारशिला, भारत की अमर महानता का रहस्य एव उसका सर्वस्व है। जीवन दुखपूर्ण है, जगत दुखपूर्ण है यह बात कोई भी व्यक्ति जिसने जगत को अच्छी तरह जान लिया है अस्वीकार नहीं कर सकता। तब समस्या ससार को दु ख-रहित करने की नही रह जाती समस्या रह जाती है इस सर्वग्राही दु ख की चुभन पीड़ा को निष्प्रभ करने की। वेदान्त ने इसी

---

१. 'वेदान्त दर्शन'' के 'निवेदन'', का पृ ७, ८ और ९।

दृष्टिकोण को अपनाया। वेदान्त इससे भागा नहीं, पराङ्मुख नहीं हुआ, उसने देखने और अनुभव करने की धारा-दिशा-बदल दी। वेदान्त की इसी बात को विवेकानन्द ने इस रूप मे उपस्थित किया है, "..... सर्वत्र ब्रह्म का दर्शन करके जीवन की विपत्तियो और दुःखो को हटा सकते हैं। कुछ इच्छा मत करो।"[१] वेदान्त में वैराग्य का अर्थ है जगत का ब्रह्मभाव। वेदान्त शिक्षा देता है कि जगत को ब्रह्मस्वरूप देखो। इसी वेदान्त को रामकृष्ण परमहंस ने अपने जीवन मे प्रत्यक्ष कर लिया था। उन्ही का शिष्यत्व स्वामी विवेकानन्द ने ग्रहण करके सारे समार को वेदान्त के सूर्य से चमत्कृत कर दिया था, मनुष्यमात्र को समझने की एक नई दृष्टि दी थी, एव दलित-पतित मानव जाति के उद्धार का एक दृष्टिकोण दिया था। जगत ब्रह्ममय है तो दुखी मानव भी ब्रह्म का ही रूप है। उसकी सेवा ब्रह्म की सेवा है। जब एक ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है तब धन-सम्पत्ति, सब आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्या है और तब अच्छे काम-मानवता के उद्धार-- के लिये इन मिथ्या के त्याग मे ननुनच क्यो-मोह क्यो ? आत्मा अमर है। हम शरीर नही, आत्मा हैं। जब ऐसा है तब इस शरीर के जाने-छूटने--का मोह व्यर्थ है। सबसे बड़ा भय मृत्यु का होता है। वेदान्त ने उसके डक को ही निकाल दिया। अब मानव निर्भय हो गया। ये सारी बातें जाति का उत्थान करने वाली थी और ये सारी बातें वेदान्त से निकलती हैं।

विवेकानन्द ने यही किया और आत्मोद्धार के लिये संघर्ष-रत भारत को एक बहुत बडा सहारा दिया--बल दिया। स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त को संघर्ष की मरुभूमि के बाहर देखने की कभी व्यर्थ--चेष्टा न की। उन्होंने मानव--जीवन को वेदान्त की पृष्ठभूमि से सही ढग से समझा और इस तरह समझाने का प्रयत्न किया कि मानव लघुता से ऊपर उठकर अपने महान लक्ष्य की एक झांकी पा जाय। उन्होंने कहा, "एक वेगवती नदी समुद्र की ओर जा रही है। छोटे-छोटे कागज के टुकडे, तिनके, आदि इसमें बह रहे हैं, वे इधर-- उधर जाने की चेष्टा कर सकते हैं किन्तु अन्त मे उन्हे अवश्य ही समुद्र मे जाना पडेगा। इसी प्रकार तुम और मैं तो क्या, समस्त प्रकृति ही क्षुद्र-क्षुद्र कागज के टुकडो की भांति उस अनन्त पूर्णता के सागर ईश्वर की ओर अग्रसर हो रही है। हम भी इधर-उधर जाने की चेष्टा कर सकते हैं, परन्तु अन्त मे हम भी उस जीवन और आनन्द के अनन्त समुद्र मे पहुँचेंगे।"[२]

विवेकानन्द का निम्नलिखित कथन सेवा और वेदान्त के उनके समन्वय को

---

१ "ज्ञानयोग", पृ २३४

२. ज्ञानयोग" पृ २२८

श्रेष्ठतम रूप मे उपस्थित करता है, "वर्तमान समय के लिये स्वामी रामकृष्ण का यह सन्देश है-सिद्धान्त, प्राचीन अन्धविचार, मत-मतान्तर, गिर्जे, मंदिर-किसी की भी चिन्ता न करो। मनुष्य-जीवन का सार जो आत्मज्ञान है उसके समय उनका कुछ भी महत्व नही। मनुष्य मे जितना ही आत्मज्ञान बढ़ेगा उतना ही ससार का वह अधिक उपकार करेगा। उसी का सचय करो, पहिले उसे प्राप्त करो और किसी धर्म मे द्वेष न निकालो, क्यो सभी धर्म और मतो मे कुछ न कुछ अच्छाई अवश्य होती है। अपने जीवन के आचरण से यह बता दो कि धर्म का अर्थ शब्द-समूह नहीं, न केवल नाम, न सम्प्रदाय है, धर्म का अर्थ सच्चा आत्मज्ञान है। जिन्होंने इसे प्राप्त किया है वे ही धर्म के रहस्य को समझ सकते हैं। जिन्हें आत्मज्ञान मिल चुका है वही दूसरे को भी दे सकते हैं तथा मनुष्य-जाति के सच्चे शिक्षक हो सकते हैं। प्रकाश की वे ही सच्ची शक्तियाँ हैं......आत्मज्ञानी बनो और सत्य का स्वय अनुभव करो। अपने भाइयो के लिये त्याग करो। उनके लिए प्रेम की लम्बी-चौडी बातें करना छोड, जो कहते हो उसे कर दिखाना सीखो। त्याग और आत्मज्ञान की अनुभूति का समय आ गया है। ससार के धर्मों की सत्यता तभी दिखाई देगी। तुम्हें ज्ञान होगा कि किसी से द्वेष करने की आवश्यकता नही और तभी तुम मनुष्य-जाति की सच्ची सेवा कर सकोगे।"[१]

यही प्रवृत्ति, ये ही विचार स्वामी रामतीर्थ के भी थे। उन्होंने ससार को राम मय देखना और अपने को राम में डुबा देना ही सच्चा ज्ञान और सच्ची उपासना समझा। उन्होंने कहा, "मन को देव के पास बिठाना" उपासना है, अथवा उपासना उस अवस्था का नाम है जहा रोम-रोम मे राम रच जाय, मन अमृत मे भीग जाय...."[२] इसके लिये *उदाहरणस्वरूप उन्होंने पत्थर का जल मे डूब कर शीतल* होने, कपडे की गुडिया के अन्दर-बाहर जल मे निचुडने लग जाने, और मिश्री की डली के गङ्गा-रूप हो जाने की बातें कहीं। इनके उपदेशो के विषय थे, तुम क्या हो आनन्द का इतिहास और घर, पाप का निदान, कारण और उपचार, प्रकाश, आत्म-विकास, प्रकाशों का प्रकाश, यथार्थ और आदर्श एकीकरण, प्रेम के द्वारा ईश्वर का अनुभव, व्यावहारिक वेदान्त और भारत। उनके उपदेशो का सार इस प्रकार है — (१) मनुष्य का देवत्व, (२) ससार उसकी सहकारिता करने को बाध्य है जो सम्पूर्ण ससार से अपनी एकता समझता है, (३) शरीर को सचेष्ट सघर्ष मे और मन को प्रेम

---

१. "भक्ति और वेदान्त", पृ ४३।

२ "श्री स्वामी रामतीर्थ", पृ ४०।

तथा शान्ति मे रखने का ही अर्थ है यही अर्थात् इसी जीवनमे पाप और दुःखसे मुक्ति, (४) सबसे अभिन्नता के व्यावहारिक अनुभव से हमे समतोल निश्चिन्तता का जीवन प्राप्त होना है, और (५) सकल ससार के पवित्र धर्मग्रथो को हमे उसी भाव से ग्रहण करना चाहिये जैसे हम रसायन-विद्या का अध्ययन करते हैं और स्वय अपने अनुभव को अन्तिम प्रमाण मानना चाहिये। अमेरिका मे दिये गये उनके व्याख्यानो का यह सार-सकलन एक अमेरिकावासी ने उपस्थित किया था।

रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, आदिके इन उपदेशो का एक सबसे बडा परिणाम जहा उस समय यह निकला कि हम अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थ, आदि की ओर मुडे क्योकि इन्होने उन सब पर हमारी आस्था अडिग कर दी, थी वहा दूसरी ओर एक दूसरा परिणाम यह भी निकला कि हम सभी भारत पर न्योछावर होने को तैयार हो गये। यह एक अनोखी बात है किन्तु फिर भी अस्वाभाविक नहीं। बात यह है कि इनके परिणामस्वरूप हम अपने देश के प्राचीन धर्म और दर्शन की महानता और भारत के धर्मगुरु होने के कारण असाधारणरूप से गौरवान्वित अनुभव करने लगे किन्तु प्रत्यक्ष जीवन मे देखा कि हमारी अधोगति असाधारण रूप से धार्मिक है और अनुभव किया कि इसका कारण है विदेशी सस्कृति और अग्रेजी शासन को हटाना हमने अपना-अपने सबका-सर्वप्रथम कर्त्तव्य मान लिया। इस अनुभूति को और अधिक तीव्र बनाने वाली एक दूसरी अनुभूति भी हमे हुई। वह अनुभूति यह थी कि भारत एक भूमि-भाग नही, एक आध्यात्मिक सत्ता है। उसका एक-एक कण पवित्र है। मा की तरह वह केवल हमारे शरीर का ही पालन-पोषण नहीं करती बल्कि अनत-सत्ता की तरह हमारी आत्मा को आध्यात्मिक प्रवृत्तियो से सपन्न भी करती है। सच्ची माता तो वही है। "सर्वं खल्विद ब्रह्म" की पृष्ठभूमि मे इस अनुभूति की जागृति नितान्त स्वाभाविक थी। अस्तु, असाधारण भावुकता एव सच्ची आध्यात्मिकता मे डूबे हुए रामतीर्थ कह उठे, "त्याग और कुर्बानी से ही इस देश को स्वतत्रता प्राप्त होगी। राम का सिर जायगा, फिर पूरन का, और तत्पश्चात् सहस्रो दूसरे व्यक्तियो का, तब कही जाकर देश स्वतत्र हो सकेगा। भारतवर्ष-भारतमाता स्वतन्त्र होनी चाहिए............गुलामी! अरे दासपन! अरी कमजोरी! अब समय आ गया, बाधो बिस्तर, उठाओ लत्तम-पत्ता, छोडो मुकत पुरखो के देश को! सोने वालो, बादल भी तुम्हारे शोक मे रो रहे है, बह जाओ गगा मे, डूब मरो समुद्र मे, गल जाओ हिमालय मे! राम का यह शरीर न गिरेगा जब तक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी होजायगा, तो भी इसकी हड्डिया दधीचि की हड्डियो के समान इन्द्र का वज्र बन कर द्वैत के राक्षस को, चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा तो भी इसका ब्रह्म बाण नहीं चूक सकता........मैं सदेह

भारत हूं। मारा भारतवर्ष मेरा शरीर है। कन्याकुमारी मेरा पैर और हिमालय मेरा सिर है। मेरे बालो की जटाओ से गगा बह रही है। मेरे सिर से ब्रह्मपुत्र और अटक निकली हैं। विन्ध्याचल मेरा लंगोट है, कारोमडल मेरा दाया और मलाबार मेरा बाया पैर है। मैं सम्पूर्ण भारत हूं। ....हिन्दुस्तान मेरे शरीर का ढाचा है और मेरी आत्मा सारे भारत की आत्मा है। चलता हूं तो अनुभव करता हूं कि तमाम हिंदुस्तान बोलता है . ...।[1]" इसी से कुछ मिलती-जुलती बात योगीराज अरविन्द ने कही, "भारतवर्ष भारत-शक्ति है। एक महान् आध्यात्मिक परिकल्पना की जीवत शक्ति है, और इसके प्रति निष्ठावान रहना ही उसके जीवन का मूल सिद्धान्त है। क्योंकि इसी के बल पर उसकी अमर राष्ट्रो मे गणना रही है, यही उसके आश्चर्यजनक स्थायित्व का तथा उसके दीर्घ जीवन एव पुनरुज्जीवन की शाश्वत-शक्ति का रहस्य रहा है।"[2] इस प्रकार हम यह देखते हैं कि यह वेदान्त हमारे कल्याण का एक प्रातिभासिक सत्ता, और जीव तथा ब्रह्म की मूल रूप से सजातीयता घोषित करके वेदान्त ने मूल्यों मे असाधारण रूप से क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। यह वेदान्त अत्यन्त प्राकृतिक और प्रजातन्त्रात्मक है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम स्थिति अर्थात् आत्मानुभूति की आकाक्षा कर सकता है। इसके लिये उसे वास्तविक क्षमता विकसित करनी चाहिए। वेदान्त किसी भी ऐसे तत्व पर न तो जोर देता है और न आधारित है जो अनिवार्य न हो और जिसे आज की वैज्ञानिक खोजें अन्यथा सिद्ध कर सकती हों। भारतवर्ष के लिये तो यह वेदान्त सब-कुछ है। खान-पान, रहन सहन, पूजा—उपासना, आदि मे अनत सामाजिक परिवर्तनो के होने पर भी हमारी श्रुतियो के अलौकिक सत्य वेदान्त के ये अद्भुत तत्व-आज भी सदा की भांति अपनी महिमा के साथ अजेय और अजर-अमर भाव से स्थिर हैं। वेदान्त एक ऐसा अनत कोष है जिसे कोई भी विजेता भारत से नहीं छीन सकता। इस वेदान्त को आधुनिक युग के अनुकूल बनाकर उपस्थित करने का कार्य उपर्युक्त महात्माओ ने किया। विवेकानन्द के इस महान्कार्य का मूल्यांकन इस प्रकार किया गया है कि विवेकानन्द उस भागीरथ के रूप मे हैं जिससे आध्यात्मिकता की भागीरथी को समाज के धरातल पर उतार लिया। वेदान्त हिमालय से उन्होंने आध्यात्मिकता की जो गगा समाज मे प्रवाहित की उसके जल का पान करके समाज का व्यक्ति आत्मशक्ति-सपन्न, वीर, तेजस्वी, स्वतत्र, आत्मरूप या ब्रह्मरूप समाज का सेवक और पूर्ण मानव हो सकता है।[3] उन्होंने भारतीय जनता रूपी शेर को, 'सो

1 'माधुरी", दिसम्बर, १६३७ ई०, पृ ६४६-६४७

२ "अदिति" नवम्बर, १६५५ ई०

३ " कल्चुरल हेरिटेज आफ इण्डिया', भाग ४, पृ, ६६२।

अपने को भिखार समझता था, वेदान्त का दर्शन दिखाकर उसमे सचमुच वीर होने आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया। यद्यपि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे ही इनका देहान्त हो गया था किन्तु इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से सारा देश प्रभावित हुआ स्वामी विवेकानन्द ने हिंदू धर्म के कर्मकाण्ड वाले पक्ष को तिरस्कृत करके ज्ञानकाड का (वैदान्त का) उपदेश देकर हिंदुत्व का जो रूप प्रतिष्ठित किया आधुनिक हिंदी काव्य उसी की मजुलतम झाकी है। पत, 'प्रसाद' 'निराला' राम वर्मा आदि की तो बात ही क्या, स्वय 'दिनकर' तक अपने काव्य मे विवेकानन्द को बता कर अपने को उनका ऋणी मानते हैं।

प्राचीन पर आस्था—

यहा तक पहुंचते-पहुंचते हम समझदार भारतवासी समझ गये थे कि (१) हमारा वतमान जीवन इस कोटि का नही है कि वह उच्चकोटि के साहित्य का विषय बन सके, (२) हमारी शिक्षा हमारे जीवन से सबधित नही है अर्थात् वह हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन के किसी काम की नही, वह केवल नौकरी पाने की सभावना मात्र उपस्थित कर सकती है, (३) यह शिक्षा सिद्धान्तो की बात करती है, और (४) इस शिक्षा का हमारी सस्कृति से कोई भी सबध नही है और इसलिये इससे हमारे अपने साहित्य-निर्माण मे कोई विशेष सहायता नही मिल सकती। ऊपर कही हुई दूसरी और चौथी बात हमे इस तथ्य का रहस्य बताती है कि क्यो टैगोर, भारतेन्दु, प्रसाद, पत, निराला', मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल- महावीर प्रसाद द्विवेदी, आदि स्वनामधन्य साहित्यकार उच्च-शिक्षा न प्राप्त करके भी अपने-अपने क्षेत्र के अद्वितीय कारयित्री प्रतिभा वाले सिद्ध हुए और क्यो इन महापुरुषो को अपने आप घर पर भारतीय साहित्य का अध्ययन करना पडा। ऊपर कही हुई तीसरी बात ने हमको सिद्धान्त-प्रिय बना दिया और पहली बात ने हमारे साहित्य और साहित्यकार को प्रत्यक्ष जीवन से पराङमुख करके चिन्तन और मनन-प्रधान बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमने पीछे मुड़कर अपने पुराने धर्म और दर्शन का अध्ययन और मनन करना तथा उसमे प्रेरणा लेकर साहित्य लिखना प्रारम्भ कर दिया क्योकि हमे इन पर अधिक विश्वास हो गया था। देवी-देवताओ की जो समझ मे आने वाली बौद्धिक व्याख्या की गई उससे हमारा यह विश्वास दृढ हो गया अपनी मूढता एव अज्ञानता के कारण हम यह समझ भले ही न पाएं किन्तु प्राचीन पौराणिक कथाओं के भीतर महामूल्य-सत्य छिपा है। कोई बात अनर्गल नहीं है। हमारे देवी-देवता या तो महान मानव थे या वे रूपक हैं जो किसी तत्व या तथ्य को

प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति करते हैं। हमने मान लिया कि विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के विभिन्न देवता या तो वस्तुत शूरवीर मानव थे जैसे कृष्ण, या इनका अस्तित्व पौराणिक था जैसे शिव कुछ पूर्व-वैदिक-युग की सभ्यता से आये हैं और कुछ वेदोत्तर अथवा पौराणिक काल से मिले, कुछ ऐतिहासिक और अर्द्ध ऐतिहासिक भी थे[1]। आधुनिक हिन्दी साहित्य ने इनके ऊपर से अन्धविश्वास और कभी-कभी आध्यात्मिकता का भी छत्र उतार कर इनको कर्मवीर महामानव के रूप मे देखा और इन पर महाकाव्य और खण्डकाव्य लिखे गये। हम मानने लगे कि हमारे पुराण इतिहासों और तथ्यों-तत्वो की साहित्यिक अभिव्यक्तियां हैं। उन्होंने हम पर बड़ा उपकार किया है। उनमे हमारे धर्म की बड़ी-बड़ी बातें छिपी हैं यह एक मान्य तथ्य है कि इन पुराणो के प्रताप से हिन्दू धर्म डूबता-डूबता बचा। साथ ही एक बात यह भी स्वीकार किये बिना नही रहा जा सकता कि पुराणो के द्वारा देश मे भक्ति रस का कुछ विलक्षण प्रभाव पड़ गया। साथ ही पच देवताओ की उपासना आदि का प्रभाव खूब बढ़ा और हिन्दू धर्म ने अपना सिक्का फिर जमा लिया।

वैदिक धर्म—

सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना ने हमे अपने धर्म और दर्शन के आदि स्रोत वेदो की ओर उन्मुख किया। स्वामी दयानन्द और उनके द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ने वेद सम्बन्धी स्वामी जी की व्याख्याओ के प्रकाश में वेदों को फिर से पढने और वैदिक कर्मकाड तथा वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। इस दिशा मे हम काफी दूर तक चले भी। आर्यसमाज के सम्पूर्ण प्रभाव-क्षेत्रो मे सध्या और अग्निहोत्र चल पड़ा। वेदमत्रो की ध्वनिया फिर से सुनाई पड़ने लगी। अग्निहोत्र के धुएँ फिर से वायुमडल मे लहराने लगे। जहाँ तक दार्शनिक विचारो का सम्बन्ध है, वेदों मे उनका अभाव है। वेदो मे उनका अभाव है वेद धर्म-ग्रंथ हैं दर्शन-ग्रथ नही। इतना अवश्य है कि वेदो के ऋषियों ने जिस सर्वोपरि अदृष्ट शक्ति का चिन्तन किया है वही दर्शनो की प्रेरणा, उद्गम तथा केन्द्र हैं। वेदों मे एक अदृष्ट शक्ति को स्वीकार किया गया है। वैदिक ऋषियों ने विश्व की अनेकता मे एकता देखी है। उन्होंने कहा है—एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का पुरुष ब्रह्म का व्यक्त रूप ही लगता है। अदृष्ट प्रकृति के रहस्यो और शक्तियो को जानने के लिये वैदिक ऋषियों ने तप और योग का आश्रय लिया। ऋषियो ने अनु-

[1] "दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इण्डिया", भाग ४, पृ. ३३०।

मव किया कि ससार के दुख को परम सुख मे बदला जा सकता है। इसके लिये उन्होने देवताओ की प्रार्थना की। उनका विश्वास था कि देवता प्रसन्न होकर मानव को अच्छे मार्ग की ओर ले जा सकते हैं। ऋषियो, का निष्कर्ष था कि जीवात्मा और परमात्मा की एकता से ही परम श्रेय की उपलब्धि हो सकती है। यह परम श्रेय परमात्मा या विश्वात्मा की सहचरी अदृष्ट शक्ति ही है। जिस विधान के द्वारा प्राकृतिक नियम परिचालित होते हैं उसे वेद ने धर्मविधान माना। वेदो के अनुसार इस जड जगत का सूत्रधार चेतन पुरुष है। उसके हाथो मे कर्ममय जगत की बाग-डोर है। विभिन्न देवता इसी चेतन सत्ता के विभिन्न रूप हैं। इसीलिये वेदो मे बहुदेववाद है। इन्द्र, अग्नि, सोम, अश्विनीकुमार, वायु, मित्र, वरुण, ऊषा, पूषा, विष्णु, आदि प्रमुख देवता हैं। वेदो मे विष्णु को उतना महत्वपूर्ण देवता नही माना गया है जितने महत्वपूर्ण वे बाद मे हो गये। हमारे जड जगत के जितने भी कार्य हैं, जो भी भोग्य वस्तुएं हैं और हमारी भोगेन्द्रिय की जितनी भी शक्तिया हैं, उन सबके अधिष्ठाता ये देवता हैं। अपने कल्याण और सुख के लिए हमे इन देवताओ को प्रसन्न रखना चाहिए। ये देवता यज्ञ से प्रसन्न होते हैं। यही कारण है कि वैदिक जीवन यज्ञ प्रधान था। 'प्रसाद' की "कामायनी" मे इस यज्ञ प्रधानता-का उल्लेख है। देवता परमात्मा को अपना सहायक मानते हैं और उसे यज्ञ, आदि से प्रसन्न रखते हैं। परमात्मा ही उन्हे मोक्ष दिलाता है। ये देवता विवेक-सपन्न, परोपकारपरायण, आत्मज्योति से अन्धकार को नष्ट करने वाले, सत्यनिष्ठ, ज्ञानी, ज्ञानदाता, आदि गुणो से सम्पन्न होते हैं। वेदो ने मानव का लक्ष्य अन्तिम सत्य की प्राप्ति के रूप मे निर्दिष्ट किया है। यह अन्तिम सत्य एक ही है। इस प्रकार हमे वेदो मे अद्वैत के भी तत्व मिलते हैं। वेदो की महत्ता "ऋत" अर्थात् सनातन सत्यो के निरूपण मे है। वेदो ने सात्विक कर्मों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। वेदो ने मृत्यु का भय नहीं जाना और इसीलिये वहा परलोक की चिन्ता नही है। "दिनकर" ने लिखा है, "वस्तुत आत्मा, पुनर्जन्म, और कर्म-फल वाद के विषय मे वैदिक ऋषियों ने अधिक नहीं सोचा था। १" आधुनिक हिन्दी साहित्य मे भी पुनर्जन्म और कर्मफलवाद पर विशेष जोर नही दिया गया है। वेदो मे अवतारवाद की भी बात नही है। वेदो के उपर्युक्त भावो और विचारो तथा "कामायनी" के आशा सर्ग की कई अभिव्यक्तियों मे भावसबधी साम्य पर्याप्त है —

विश्वदेव, सविता या पूषा

सोम, मरुत, चन्चल पावमान,

---

१. "सस्कृति के चार अध्याय" पृ ८१।

वरुण आदि सब घूम रहे हैं,
किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रूभङ्ग प्रलय-सा
जिसमें ये सब विकल रहे ?
अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिन्ह ये,
फिर भी कितने निबल रहे ?
....

किसका करते थे सधान ?
....

किसके रस से सिंचे हुए ?
....

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ ?
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?
....

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
....

हे विराट, हे विश्व देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान ?[१]

तथा:—

कस्मै देवाय हविषा विधेम"[२] की पुनरावृत्तियों वाले श्लोक

या

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत,
कुत आजाता कुत इय विसृष्टि,
अर्वाग देवा अस्य विसर्जनेताऽथा
को वेद यत् आबभूव ।[३]

ऋग्वेद की इन जिज्ञासाओं का रूप भी यही है—रात में सूर्य कहाँ रहता

१. "कामायनी", आशा सर्ग,
२, "ऋग्वेद" १०-१२१-१ एवं उसके बाद के कुछ श्लोक ।
३, वही, १०-१२६-६ ।

है ? दिन में तारे कहा चले जाते हैं ? सूर्य गिर क्यों नहीं पड़ता ? दिन-रात में पहले कौन था ? वायु कहा से आता है और कहा चला जाता है ? आदि ?

उपनिषद् -

वेदों के पश्चात् हमारा ध्यान उपनिषदों की ओर गया। विषय की दृष्टि से वेदों के तीन भाग हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्म संहिता एवं ब्राह्मण भाग में है, उपासना संहिता एवं आरण्यक में, और ज्ञान उपनिषद में। विद्या दो प्रकार की हैं—परा और अपरा। चारों वेद, छओ वेदांग अपरा विद्या हैं और अक्षर ब्रह्म का ज्ञान परा विद्या है परा विद्या ही ब्रह्म विद्या है। अपरा कर्मप्रधान है, परा मोक्षदायिनी। अपरा के द्वारा परा विद्या का मोक्ष फल पाया जाता है। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि अविद्या है। जिससे ब्रह्म को बोध हो वह विद्या है। ब्रह्म विद्या का न होना ही अविद्या है। मूलतत्व प्रकृति से ही जगत का अस्तित्व है। यह प्रकृति ब्रह्म की उपादान-भूत माया है। उपनिषदों ने आत्मा को अजन्मा, नित्य, शाश्वत, जन्म-मृत्यु से रहित, और अविकारी माना है। उपनिषद् ब्रह्म को सर्वव्यापी, नित्य, अनन्त, शुद्ध, चैतन्य, सबकी आत्मा, सत्य, अनादि, ध्रुव और अद्वितीय मानते हैं। यह सब आत्मा है। वही सब में है। वह विज्ञानमय और आनन्दमय है। उसे विवेक द्वारा ही जाना जा सकता है। वह मन, बुद्धि और इन्द्रिय से परे है। उसके साक्षात् के लिये जितेन्द्रिय, शान्त चित्त, निरीह, सहिष्णु और अन्तर्निष्ठ होने की आवश्यकता है। उसे जाना जा सकता है। ब्रह्म के दो रूप हैं-पर और अपर। परब्रह्म निरुपाधि, निःसीम, परात्पर और निर्गुण है। अपर ब्रह्म उपाधियुक्त, ससीम, अन्तस्थ और सगुण है। परब्रह्म सत्-चित्-आनन्दस्वरूप है और अपर ब्रह्म नित्य, सर्वव्यापी, जगत्स्रष्टा तथा कर्मों का अधिष्ठाता है। वही पालक और संहारक भी है। परब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त, अद्वैत, अमृत और सनातन है और अपर ब्रह्म जगत का कारण, पाप-पुण्य के फलों का दाता, प्रकाशक, अनन्त, अक्षर, सनातन तथा सर्वज्ञ है। उपनिषद वैयक्तिक आत्मा को जीव और आत्मा को परम आत्मा मानते हैं। जीव के साथ कर्म फल और अनुभूतियां जुड़ी रहती हैं किन्तु आत्मा अज, अनादि, नित्य और कर्म बन्धन से मुक्त रहता है। जीव का लक्ष्य होता है आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और अद्वैत की प्राप्ति। संसार में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। उपनिषद् जीव की चार अवस्थाएं बताते हैं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओं के जीव को क्रमशः "संसार", "तैजस", "प्राज्ञ" और "आत्मा" कहते हैं। उपनिषदों ने पांच कोश माने हैं जो जीव के सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर हैं। ये हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। ये क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर

होते जाते हैं। आत्मा आनन्दमय और कोश में रहता है। जगत ब्रह्म का ही दूसरा रूप है। यह उसका निमित्त और उपादान कारण है। उपनिषद ज्ञान पाकर जीव बन्धन से छूट जाता है। वेदान्त दर्शन के मूल आधार उपनिषद ही हैं। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषदों के ऋषि अधिक अन्तर्मुखी दृष्टि वाले थे। वे संसार के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति अधिक उदासीन हैं। वे संसार के क्षणिक महत्व वाले पदार्थों के आकर्षण से ऊपर उठ गये थे। उन्होंने सृष्टि के रहस्य को वाणी दी है। उन्होंने कहा है कि यह आत्मा प्रवचन, बुद्धि अथवा उपदेश सुनने से नहीं प्राप्त हो सकता। वे तर्क से भी आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं मानते। आचार्य के सिखाने पर ही उसका बोध सम्भव है। इस प्रकार उपनिषदों में गुरु और भगवत्कृपा का महत्व स्वीकार किया गया है। उपनिषदों ने जगत का सत् होना स्वीकार किया है। ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् कभी कभी रहस्य-पूर्ण भाषा का व्यवहार करते हैं। रामानुज और शंकर दोनों के सिद्धांतों को उपनि-षदों से ही प्रेरणा मिली है। अस्तु, ये उपनिषद वैराग्य और संन्यास के अधिक समीप हैं। ये कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, पाँच तत्वों, महत्तत्व, आदि पर विश्वास करते हैं। कर्मफल पर और पुनर्जन्म पर भी इनका विश्वास है। यहां मूर्तिपूजा नहीं है। यज्ञ की जगह ज्ञान है। इनके अनुसार जीव संकल्प करने और कार्य करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है। ये बन्धन का कारण तत्वज्ञान का अभाव मानते हैं। इनके अनुसार वासनाओं के छूटने से ब्रह्म-प्राप्ति सम्भव है। तत्वज्ञान के लिये विवेक और वैराग्य आवश्यक है। इस प्रकार ये उपनिषद् ब्रह्म विद्या हैं। उपनिषदों के विषय में शंकराचार्य का यह मत था, "जिससे मुमुक्षुओं की संसार-बीज-भूत अविद्या नष्ट होती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म-प्राप्ति करा देती है और जिसमें दुखों का सर्वथा शिथिली-करण हो जाता है वही अध्यात्मविद्या उपनिषद है।"[1] इनसे हिन्दू संस्कृति के अनेक दार्शनिक सिद्धान्त निकले हैं इस युग में आर्य समाज के प्रयत्नों द्वारा और अन्य विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के ज्ञान-पिपासा के परिणामस्वरूप उपनिषदों के अनेक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए और हिन्दी के साहित्यकारों ने भी उनका अध्ययन किया जिसका परिणाम किसी न किसी रूप में उनके द्वारा प्रणीत साहित्य पर अवश्य पड़ा।

गीता—

इसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में हमने गीता का भी अध्ययन किया उपनिषदों और वेदों की अपेक्षा गीता इस युग में भारतवर्ष में तथा संसार के अन्दर

१. "कल्याण" हिन्दू संस्कृति अङ्क", पृ. २८६।

भी अधिक लोकप्रिय रही है और उसने समझदार लोगो के मानस को अधिक प्रभावित किया है। इसका एक झांकी हम गीता प्रेस, गोरखपुर से निकलने वाले "कल्याण के "गीता तत्वांक" विशेषांक मे उल्लखित देश-विदेश तथा प्रायश सभी धर्मों और विचारों के विद्वानो और मर्मज्ञो की उक्तियो एव विचारो को देखने से मिलती है। शंकराचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर की व्याख्याओं के प्रचार, गीता प्रेस से प्रकाशित सटीक "गीता" के अनेक सस्करणो तथा "गीतातत्वांक" के अतिरिक्त अंग्रेजी मे श्रीमती एनी बेसेंट का टीका, अंग्रेजी मे ही राधाकृष्णन की गीता-व्याख्या, और कन्हैया लाल मुन्शी की गीता की व्याख्या, मराठी मे लोकमान्य तिलक का "गीता-रहस्य" और आचार्य विनोबा भावे का "गीता प्रवचन", अरविन्द की "एसेज आन गीता", आदि ने गीता की लोकप्रियता स्थापित कर दी। देवराज और तिवारी ने लिखा है "आज हिंदू जाति की जागृति के युग मे यदि जनता मे गीता के प्रति श्रद्धा और सम्मान बढ़े तो आश्चर्य ही क्या है।"[१]

गीता के अनुसार ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम तत्व श्रीकृष्ण को ही माना गया है। वेदान्त के अद्वैत को गीता ने यह स्वरूप दिया है। उसके दो भाव हैं - एक, अपर-भाव और दूसरा, परभाव अमर भाव का ब्रह्म माया से युक्त है। वह सृष्टि का रचयिता है। उसी को हम विश्वात्मा कहते हैं। परभाव वाला ब्रह्म अव्यय है, अनन्त है और अचिन्त्य है। क्षरभाव से ब्रह्म लीलामय स्वरूप वाला है और अक्षर भाव से वह निर्गुण रूप है। वही पुरुषोत्तम तत्व-श्रीकृष्ण-प्रकृति-जन्य गुणों के अभाव के कारण निर्गुण हो जाता है और लीलामय होने के कारण सगुण हो जाता है। इस प्रकार गीता निर्गुण और सगुण, दोनो को स्वीकार करती है फिर भी उसने सगुण को श्रेष्ठ माना है। उस सगुण ब्रह्म की दो प्रकृतियां हैं-परा और अपरा। जीव रूप चैतन्य स्वरूप प्रकृति परा है, और पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार अर्थात् मायावाली प्रकृति अपरा है। इस प्रकार गीता ने त्रिगुणात्मिका माया को ब्रह्म की अभिन्न शक्ति माना है। प्रकृति और पुरुष दोनो को उसने मूल तत्व अर्थात् ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम का प्रकाश या उसकी अभिव्यक्ति माना है। गीता ने प्रकृति या महद् ब्रह्म या माया को तीन गुणों से युक्त माना है-सत् रजस् और तमस्। गीता ने इन तीनों की बडी विशद एवं व्यापक व्याख्या की है। मानसिक, भौतिक एव व्यावहारिक जीवन की अनेकानेक प्रवृत्तियो का विश्लेषण एव विभाजन गीताकार ने इन्हीं तीनो के आधार पर किया है। गीता के अनुसार प्रकृति ही सबकुछ

१ "भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास", पृ ११७।

करनी है। मूल अहंकार या प्रमाद के कारण हम यह समझ बैठते हैं कि करने वाले हम हैं। गीता ने अक्षर यानी भगवान को इन सबके ऊपर माना है। गीता ने जीव को ब्रह्म की परा प्रकृति माना है। वह ब्रह्म का सनातन अंश है। वह प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोक्ता माना गया है। ब्रह्म ही को गीता ने जगत का निमित्त और उपादान-दोनों कारण माना है। यह ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है—उसी का एक रूप। उसी आनन्द-सिन्धु पुरुषोत्तम मे निवास करने को ही गीता ने मोक्ष माना है।

इस सृष्टि मे जीव का प्रधान लक्ष्य है ब्रह्म का बोध। यह दो प्रकार से हो सकता है :—ज्ञाननिष्ठा के द्वारा और योगनिष्ठा के द्वारा। अपने समस्त कार्यों, इच्छाओं और अपने आपको अभिमान से शून्य करके ब्रह्म मे मिला देना ज्ञाननिष्ठा है। दृश्यमान जगत के प्रति अनासक्ति का दृष्टिकोण और अनिच्छा की भावना पैदा करके और कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति धारण करके मन, वचन और कर्म से प्रभु के आधीन होना योगनिष्ठा है। हम कोई भी निष्ठा अपनावें, वैराग्य और अनासक्ति इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये अनिवार्य हैं। मन और इन्द्रियो का निग्रह होना चाहिए। मोक्ष की इच्छा रखने वाले की प्रकृति सतोगुणी होनी चाहिये। उसमे निर्भयता, शुद्धता, स्वाध्याय प्रेम, मान-अपमान से ऊपर उठ जाने की क्षमता, दम्भ का अभाव, ऋजुता, सत्य-प्रियता और उदारता, आदि गुणो का होना नितान्त अनिवार्य है। उसके अन्दर समत्व भाव का उदय हो जाना चाहिये। प्रियवस्तु के भी परित्याग की क्षमता का होना आवश्यक है। कष्ट, मोह और मृत्यु को भी लक्ष्य प्राप्ति के लिये हँसते-हँसते झेल जाने वाला ही इस पथ पर बढ सकता है। इस तरह कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है। मानव को पाप-पुण्य की भावना से ऊपर उठ जाने का प्रयत्न करना है। गीता कहती है कि स्वयं परात्पर कृष्ण ही सभी कर्मों के अधिष्ठाता हैं। जब वास्तविकता यह है तब जीव को कर्तृत्व के अहं का परित्याग कर देना चाहिये। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि मानव कर्म तो करेगा किन्तु उसके फल मे आसक्त न होगा। फल मे आसक्ति का अभाव फल तो देगा किन्तु अनिष्ट से मुक्त कर देगा। पाप कर्म तो न ही होंगे हम पुण्य के लोभ या अहंकार से भी मुक्त हो जायगे। गीता कहती है कि हमे प्रतिक्षण प्रतिपल उसको याद करते रहना चाहिए। यही अनासक्ति है निष्काम कर्मयोग है। यही ज्ञानभक्ति युक्त कर्मयोग है। गीता ज्ञान मार्ग की बडी प्रशंसा करती है किन्तु भक्ति को श्रेष्ठतर मानती है। योग का गीता ने बडे ही महत्व की बात बताई है। वह हठयोग की क्रिया का पूर्णरूपेण तिरस्कार नही करती किन्तु उसके अपने मन के अनुसार काम करने मे

कुशलता और समत्व भावना ही वास्तविक योग है। यह एक विचित्र बात है कि जिस गीता के कारण महाभारत हुआ, जिसने अर्जुन को चुनौती दी–"क्षुद्र हृदय-दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परतन", जिसने खुलकर कहा–"युद्धस्व विगत-ज्वर.", वह गीता हिंसा या जीवहिंसा का समर्थन कहीं नहीं करती। गीता कर्त्तव्य की ओर अग्रसर करती है। गीता कर्त्ता को सर्वांगीण दृष्टि देती है। वह कहती है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करे उसे मुक्ति मिल जायगी। गीता कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद के विरुद्ध है। यही स्वस्थ सामाजिक एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण है। यही पारिवारिक जीवन की भित्ति है। यही बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की युग की माग थी। यही भारत की आवश्यकता थी।

गीता की मूल समस्या कर्त्तव्याकर्त्तव्य की समस्या है। यह हरयुग मे और हर व्यक्ति के जीवन मे पैदा होती है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे यह समस्या इस प्रकार थी --राज्य क्ति या राष्ट्रभक्ति, बूढ़ी मा या भारत मा, अपने परिवार का दुख या सम्पूर्ण भारत का दुख पिता के प्रति कर्त्तव्य-पालन हो या सम्पूर्ण राष्ट्र, आजादी के लिये मरें या जीवन के सुख के लिये जिएँ, आदि। गीता इस दृष्टि से एक अनोखी पुस्तक है कि उसने मानव-हृदय मे शाश्वत रूप से उठने वाले ऐसे प्रश्नों का, मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों का, सम्यक् विश्लेषण करके जो उत्तर दिया है उसकी उपयोगिता और सच्चाई को आज तक कोई चुनौती नहीं दे सका। न मालूम कितनी विलक्षण प्रतिभा गीताकार के पास थी कि उसके द्वारा उपस्थित उत्तर समाधान या हल तबसे आज तक सभी युगो के, सभी प्रकार के, सभी स्तरों के एवं सभी देशों के मनुष्यों से लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। सभी परिस्थितियो मे गीता का ज्ञान मनुष्य की आत्मा का सर्वोत्तम पाथेय सिद्ध हुआ है। गीता के समान ऐसी कोई दूसरी पुस्तक ससार के साहित्य मे आज तक नहीं निकली। गीता सचमुच अद्वितीय है। गीता ने मोक्ष का द्वार केवल सन्यासियो के ही लिये नहीं, गृहस्थो के लिये भी खोल दिया। "दिनकर" ने ठीक लिखा है[1] कि गीता गृहस्थो की उपनिषद् है। ज्ञान-कर्मयुक्त भगवत शरणागति की सिद्धि गीता का सार है। कोई आश्चर्य नहीं कि फासी पर चढ़ने के तैयार कर्मवीर क्रान्तिकारियों के हाथ मे गीता रहती थी। गीता मे सबकुछ है। उसमे उससे पूर्व के सभी दर्शनों और विचारधाराओ का समन्वय है और फिर भी उसने कुछ ऐसा दिया है जो न उसके पहले किसी ने दिया था और न उसके बाद दिया है। उसके प्रणेता एवं उसकी प्रतिभा के विषय मे जो कुछ भी कहा जाय, कम है।

---

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ १४८

जैन दर्शन—

ऊपर कहा जा चुका है कि गीता ने हिंसा का समर्थन कहीं नहीं किया है। आगे चलकर बौद्धधर्म और जैनधर्म ने अहिंसा का पूर्णरूप से प्रतिष्ठा कर दी। वेदों ने यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कार्य माना था और आगे चलकर कहा गया "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"। जैन और बौद्ध धर्म ने वेदों को ही मानने से इन्कार कर दिया और वे नास्तिक कहलाये। देवराज और तिवारी ने कहा है, "जहां जैन-दर्शन में हम आस्तिक विचारों के केवल व्यावहारिक मत का विरोध पाते हैं वहां बौद्ध-दर्शन में आर्यों के व्यावहारिक और तात्विक दोनों प्रकार के विचारों का रूपान्तर हो गया है।"[१]

जैनधर्म न तो ईश्वर को मानता है न वेद को। वह सृष्टि को मानता है, और जीव को मानता है। उसके अनुसार सृष्टि अनादि है। उसका निर्माण प्राकृतिक तत्वों के निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं, उसकी कोई आवश्यकता ही नहीं। यह सृष्टि वस्तुत सत्य है। जैनधर्म के अनुसार संसार द्रव्यों से विनिर्मित है। जिनमें गुण और पर्याय दोनों हों वह 'द्रव्य' है। गुण स्वरूप धर्म को कहते हैं और 'पर्याय' आगन्तुक धर्म का। स्वरूपधर्म सर्वदा विद्यमान रहता है और आगन्तुक धर्म बदलता रहता है। अतएव संसार बदलने वाले तथा न बदलने वाले तत्वों से बना है। इसलिये संसार की समस्त वस्तुओं में स्थिरता और विनाशशीलता और अनित्यता-दोनों की सत्ता विद्यमान है। जैनधर्म के अनुसार यह सृष्टि छः तत्वों से बनी है – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। चेतनद्रव्य को जीव कहते हैं। इसमें प्राण और शारीरिक, मानसिक तथा इन्द्रियजन्य शक्ति रहती है। जीव में शुद्ध ज्ञान अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान भी रहता है और दर्शन ज्ञान अर्थात् सविकल्प ज्ञान भी रहता है। इसके कारण उसका शुद्ध रूप ढंक जाता है। भावदशा में पड़ा हुआ प्राण ही 'पुद्गल' है और जिस जीव में यह पुद्गल भी रहता है वह 'संसारी" कहलाता है। जीव नित्य, अमूर्त, कर्ता, स्थूल कर्म फलों को भोगने वाला सिद्ध और ऊर्ध्वगति वाला है। इसमें अविद्या होती है और इसी के कारण वह कर्म के बंधन में फंस जाता है। उसके अन्दर संकोच और विकास दोनों गुण हैं। तभी तो वह चींटी और हाथी दोनों में बन सकता है। यह जीव प्रत्येक क्षण बदलता रहता है। जीव की सत्ता अनन्त है। वह जलवायु खनिज, आदि पदार्थ और सभी धातुओं में रहता है। अस्तु, जीव दो प्रकार के हुए- बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव संसारी होता है। बद्ध जीवों में भी कोई सिद्ध होता है और कोई असिद्ध। यह जीव निर्जीव के बिना नहीं ठहर सकता। चैतन्य प्रत्येक जीव का सार तत्व है। यह सूर्य

---

१ 'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास", पृ ११६

के समान स्वयं प्रकाशित होने वाला और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करने वाला होता है। प्रत्येक जीव मे अनन्त ज्ञान होता है। कर्मों के आवरण के कारण उसका यह रूप ढँक जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मनस, ये सब आवरण ही हैं जो कर्मों से बनते हैं, जैनधर्म ने ४ कषाय माने हैं-क्रोध, मान, माया, लोभ। सदाचार से संयम प्राप्त करके इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। तभी कर्मों का नाश होगा-और वही स्थिति मोक्ष की होगी है। हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध और मागना पापकर्म हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, अपरिग्रह पुण्य कर्म हैं। सदाचार का आधार दया है। प्रत्येक जैनी के लिये बारह प्रकार की "भावना" या "अनुप्रेक्षा" के पालन की सलाह है। क्षणभगुरता, असहायता, दुःखों से छुटकारा पाने का मार्ग, एकाकीपन का अनुभव सासारिक वस्तुओं से सम्बन्ध का अभाव शरीर की अपवित्रता, नये सत्कर्म उत्पन्न करने का चिन्तन, कर्मों मे आत्मा को न बँधने देना, कर्मों के बधन को क्षीण करने के के उपाय पर विचार, तत्वचिन्तन, तथा सम्यक् चरित्र, सम्यक् दर्शन दुर्लभ है किन्तु उन्हीं से सुख मिल सकता है-ये ही बारह भावना हैं। विषय वासनाओं के परित्याग और अहिंसा को जैनधर्म ने बहुत ही आवश्यक माना है। सयम का अभ्यास करते-करते निर्जरा अवस्था की प्राप्ति हो सकती है जो वस्तुतः "मोक्ष" है। कारण यह है कि बन्धन का हेतु आस्रव या इच्छा है। इसका अभाव ही वासनाओं का अभाव है जिससे कर्म शरीर छूटता है। जैनधर्म मानता है कि स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म कर्म शरीर है जो मरने के बाद भी जीव के साथ जाता है। यही पुनर्जन्म का कारण है। हमे यह कर्म शरीर छोड़ना है। इधर कर्म के संस्कार क्षण-क्षण पड़ते रहते हैं तो, चित्तनिरोध द्वारा, योग की समाधि द्वारा हम इससे मुक्ति पा सकते हैं। इसलिये जैनधर्म मे अपरिमित कष्ट सहने को अच्छा माना गया है। वह मानता है कि शरीर आत्मा का शत्रु है। उसको असाधारण कष्ट देना चाहिये-यहा तक कि वे खाना न खाकर मर जानेको अच्छा समझते हैं। जैनधर्मने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को धर्म का "त्रिरत्न" माना है। सम्यक् दर्शन तीन मूढता और आठ अहकार छोडने का कहते हैं। ससार मे प्रचलित मूढता, देवता-सम्बन्धी मूढता और पाखण्डियों वाली मूढता के साथ-साथ अपनी बुद्धि, अपनी धार्मिकता, अपने वश, अपनी जाति, अपने शरीर-मनोबल, अपनी चमत्कारशक्ति, अपनी योग-तपस्या और अपने रूप-सौंदर्य का अहकार भी छोड देना चाहिये।

सृष्टि जिन ६ तत्वों से बनी है उनमे दूसरा है "पुद्गल"। तात्पर्य यह है कि उन छः तत्वों में से केवल "पुद्गल" ही ऐसा है जो मूर्त है-देखा जा सकता है। सृष्टि जिन परमाणुओं से बनी है उन्हीं का योग 'पुद्गल' का निर्माण करता है - ये परमाणु अनादि, अनंत, मिश्र और मूर्त है परमाणु पुंजों को ही "स्कन्ध" कहते हैं

अर्थात् जिसके अंश न बन सकें। यह परमाणु अविभाज्य, अच्छेद्य, अदाह्य, और अग्राह्य है। पृथ्वी, तेज, जल, आदि इन्हीं स्कन्धोंके रूपान्तर हैं। जैन दर्शन मे शरीर से आत्मा को अलग एवं स्वतन्त्र माना गया है। जानने के स्वरूप द्वारा ही इस आत्मा की प्रतीति होती है। महावीर स्वामी ने इसमें जो गुण बताये हैं वे प्रायः वही हैं जो आस्तिक दर्शन को "आत्मा" में हैं।

धर्म वह तत्व है जिससे जीव और पुद्गल को गति मिलती है। इसके विपरीत सक्रिय द्रव्य को ठहराने वाला तत्व अधर्म है। आकाश वह तत्व है जिसमें सृष्टि ठहरी है और काल वह तत्व है जो सभी प्रकार के परिवर्तनों का आधार है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं। पहला स्वभाव अर्थात् वह रूप जो दूसरे की अपेक्षा न रखता हो और दूसरा, विभाव अर्थात् वह रूप दूसरी वस्तु की अपेक्षा रखता हो। इस धर्म मे इन दोनों रूपों को सत्य माना गया है।

- इस धर्म के अनुसार 'केवल ज्ञान' ही श्रेष्ठतम ज्ञान है और वह आत्मा को तब प्राप्त होता है जब उसके कर्म बन्धन कट जाते हैं।

जैनधर्म का अनेकान्तवाद उसके सप्तभङ्गीनय हैं। इसके द्वारा किसी वस्तु के नानाविध धर्मों का निश्चय किया जाता है। ये सात भङ्ग या वाक्य हैं – १. शायद घट है, २ शायद घट नहीं है, ३ शायद घट है भी और नहीं भी है ४ शायद घट वर्णनातीत है ५ शायद घट है भी और अवक्तव्य भी है, ६ शायद घट नहीं है और अवक्तव्य भी है, और ७ शायद घट है, नहीं भी है और अवक्तव्य भी है। इसका मूलभाव यह है कि शायद का कोई भी वस्तु निरपेक्ष या एकान्तरूप से सत्य नहीं है।

जैनधर्म मे ६ तत्व ज्ञेय हैं—जीव, अजीव, आस्रव अर्थात् आत्मा का कर्मों की ओर बहना, बन्ध (आत्मा का कर्म में बंधना), संवर (आस्रव को रोकना, निर्जरा (कर्मक्षय के उपाय करना), पाप, पुण्य और मोक्ष।

बौद्ध-दर्शन –

बौद्ध दर्शन ने जैनियों से एक कदम आगे बढ़कर उपनिषदों के आत्मवाद को भी अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार वेदों को अपौरुषेयता, यज्ञवाद, ईश्वरवाद, और आत्मवाद सबका तिरस्कार हो गया। गौतम बुद्ध ने चार सत्य स्वीकार किये हैं– (१) दुःख आर्य सत्य है, (२) दुःखसमुदय आर्य सत्य है अर्थात् यह कि मनुष्य के दुःख का कारण उसकी तृष्णा है, (३) दुःखनिरोध आर्यसत्य है, और (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद आर्यसत्य है अर्थात् दुःख से छूटने के लिये निम्नलिखित आठ बातों का

पालन अनिवार्य है —सम्यक दृष्टि सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

गौतम बुद्ध अमूर्त दार्शनिक तत्वज्ञान-सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार करना बेकार समझते थे। ईश्वर, ब्रह्म, देवता, देवता की प्रार्थना, आदि प्रश्नों को वे टाल जाते थे। इन्हे वे "अव्याकतानि" कहते थे। पाश्चात्य विद्वानो ने माना है कि निर्वाण विनाश की स्थिति है किन्तु राधाकृष्णन आदि भारतीय विद्वान उसे बह उज्ज्वल शान्ति मानते हैं जो कभी भङ्ग नही होती। बुद्ध ऐसे मोक्ष या निर्माण को मानते हैं। वे जन्मान्तरवाद और कर्मफलवाद को मानते हैं। हमारे शरीर के विनाश के साथ चित्त प्रवाह का विनाश नही होता। वह सस्कारों का बोझ लिये हुए एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। उनके अनुसार आत्मा शरीर के परिवर्तनो के साथ-साथ परिवर्तित होता चलता है। वह विकारी है। वह मलिन भी होता रहता है और निर्मल भी होता रहता है। उनके अनुसार नाशवान आध्यात्मिक या मानसिक और आधिभौतिक अणुओ से शरीर बना है और आत्मा? वह तो स्मृतियों और सस्कारो का सकलन मात्र है। इसीलिये दोनों परिवर्तनशील एव विकारी हैं। वे अविद्या को संसार का कारण मानते थे। उनके विचार मे दुखो का मूल काम या तृष्णा है। मोक्ष के लिये ध्यान और समाधि की आवश्यकता वे मानते थे। उन्होंने देवताओं को मनुष्यो के ही समान अपूर्ण और सीमित माना है। मन को अचंचल रखने का ध्यान ही समाधि है। प्रज्ञा या बुद्धिवाद को वे बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। रूप, वेदना, सस्कार सज्ञा और विज्ञान, जो ससार की श्रेष्ठ वस्तुएं हैं, वस्तुत अनित्य है। बुद्ध ने अविद्या और सस्कार (भूत जीवन) विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श वेदना, तृष्णा, उपादान और भव वर्तमान जीवन) तथा जाति और जरामरण को भवचक्र माना है। उनके अनुसार हिंसा, चोरी, यौन-दुराचार, झूठ और नशा करना वर्जित है। इन्हे न करना ही पचशील है।

गौतम का सारा धर्म-विचार यथार्थ पर आधारित है। वे ज्ञान की अपेक्षा कर्म को प्रधानता देते थे। उनका धर्म-विचार व्यवहारो की विवेचना से निकला है। उनके अन्दर निराशावाद है किन्तु पलायनवाद या अकर्मण्यतावाद नही। वे मनुष्य मात्र को समान मानते थे। इसीलिये उन्होने जातिवाद की उपेक्षा की है। ब्यष्टिमय विचारों में बहुजन हिताय को। पूसिन का मत उद्धृत करते हुए 'दिनकर' ने बौद्धधर्म को "हिन्दुत्व का बौद्धीकरण"[1] माना है। यह बात ठीक भी है क्योंकि बौद्धधर्म और

---

१. "संस्कृति के चार अध्याय", पृ १३४

हिन्दू धर्म मे बहुत समानता है। 'दिनकर' ने बुद्धदेव को प्रचलित हिन्दू धर्म का भंजक नही, सुधारक माना है और शायद दोनों धर्मों की असाधारण समानता ने शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध की सज्ञा दिलवा दी। कालान्तर मे यही बौद्ध विचारधारा शून्यवाद, आदि जटिल दार्शनिक विवेचनाओं में उलझ कर अपने मूल स्वरूप को खो बैठी।

हिन्दुत्व की रूपरेखा पूर्ण[१]

गुप्तकाल अर्थात् चौथी शताब्दी के आते-आते हिन्दुत्व का पूरा विकास हो गया था। ८०० ई० के लगभग होने वाले कश्मीर दार्शनिक जयन्त भट्ट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि तब तक भारतवासियों मे किसी नई वस्तु की कल्पना करने की शक्ति नहीं रह गई थी। इसका उल्लेख चन्द्रचन्द्र विद्यालकार ने इतिहास प्रवेश मे किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि यह स्थिति सारे ससार की रही है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व तक के ससार ने वही सोचा जिस ओर सोचने की प्रेरणा उसे भारत के धर्म और दर्शन दो। और, उस समय तक के भारत की मुख्य सम्पत्ति थी हिन्दुत्व जिसका विकास उसने तब तक कर लिया था। निराकार की पृष्ठभूमि म या निराकार के साथ साथ साकार की उपासना, निर्गुण ब्रह्म, और सगुण ब्रह्म की धारणाएँ, शून्य-सा सर्वव्यापी और व्यक्तित्व प्रधान ब्रह्म, ईश्वर और त्रिमूर्ति, दुर्गा और गणेश, भगवान के अवतार, वेदों की प्रामाणिकता मे विश्वास, निष्काम कर्म का महत्व, पुनर्जन्म, कार्य कारण-शृखला के रूप मे जन्म-मरण, कर्मफल का अवश्यमेव भोक्तव्य होना, वर्णाश्रम धर्म, वैष्णव, शैव, शाक्त उपासनाएँ, मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ-श्राद्ध, ज्ञान-भक्ति-कर्म-ये तीन रास्ते, आदि सबका स्वरूप निश्चित हो गया था। इसके पश्चात् क्रांतिया हुई अवश्य हैं किन्तु केवल दोषो के निराकरण मात्र के लिये वे कोई नवीन मौलिक उद्भावनाएँ नहीं प्रस्तुत कर सकीं। धर्म की अन्य बातों और स्वरूपों का उल्लेख बाद मे किया जायगा। अभी हम केवल दार्शनिक चिन्तनों पर ही दृष्टिपात कर रहे हैं। इस क्षेत्र मे भी नवीन व्याख्याएँ ही हुए हैं। कोई नया तथ्य या तत्व नहीं उपस्थित किया गया।

न्याय-दर्शन—

विकसित दर्शनों मे सर्वप्रथम न्याय का नाम आता है। इसको प्राचीन काल मे "आन्वीक्षकी" भी कहते थे। वाचस्पति गैरोला कहते हैं कि तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसन्धान करना ही "अन्वीक्षकी" है'''' 'न्याय' शब्द का अर्थ है जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि का जा सके या जिसके द्वारा किसी निश्चित

१. "सस्कृति के चार अध्याय", पृ १३४

सिद्धांत पर पहुंचा जा सके — "।[1] न्याय-साहित्य के दो भाग हैं — पदार्थ मीमांसा और प्रमाणमीमांसा। पहले के प्रवर्तक हैं गौतम जिनके 'न्यायसूत्र' में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान-इन सोलह पदार्थों का विवेचन है। प्रमाण मीमांसा के प्रवर्तक गगेश उपाध्याय थे, जिनके 'तत्वचिन्तामणि" में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-इन चार प्रमाणों पर विचार किया गया है। पहला 'प्राचीन न्याय" और दूसरा 'नव्य न्याय" कहलाता है। प्राचीन न्याय का मुख्य लक्ष्य था मुक्ति की प्राप्ति किन्तु नव्य न्याय में एकमात्र तर्क ही प्रधान है। न्याय तर्कप्रधान दर्शन है। उसमें नितान्त वैज्ञानिक ढङ्ग पर विवेचन और विश्लेषण किया है। विवेचन-पद्धति सूक्ष्म, दुर्गम और पारिभाषिक शब्दों से भरी है। ज्ञान के दो भेद हैं-प्रमा और अप्रमा। यथार्थ ज्ञान प्रमा (प्रमिति) है। वस्तु जैसी है वैसी न समझना अप्रमा है प्रमा या प्रमाण के जानने के लिये चेतन व्यक्ति की आवश्यकता है इसको ज्ञाता या प्रमाता कहते हैं। ज्ञान का आधार है विषय जिसे प्रमेय कहते हैं। प्रमाण कहते हैं देखने को। ये तीनों मिलकर ज्ञान के हेतु हैं। गौतम ने निःश्रेयस या मुक्ति के लिये अपने "न्यायसूत्र" म १६ 'पदार्थों' अर्थात् उपायों (प्रमाण, प्रमेय, हेत्वाभास आदि) का ज्ञान आवश्यक माना है। ज्ञान के चार साधन हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आत्मा, देह, इन्द्रिय, विषय मन, बुद्धि, प्रवृत्ति, दोष, मृत्यु के बाद पुनर्जन्म, फल, दुःख और अपवर्ग मोक्ष) इनका ज्ञान मोक्ष का कारण है। आत्मा के दो भेद हैं-जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा के गुण (लिंग) हैं इच्छा, द्वेष प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान। शरीर-बन्धन से मुक्त होने पर ये लिंग' छूट जाते हैं। न्याय मे ईश्वर की सत्ता पर बड़ी गंभीरता से विचार किया गया है। उसे कर्मों का अधिष्ठाता माना गया है। यह दर्शन वेदों को प्रामाणिक मानता है। इस दर्शन में पदार्थों के स्थूल रूप और गुणों से उठकर उनके परमाणुरूप का विस्तार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन—

न्याय के साथ ही वैशेषिक का भी नाम लिया जाता है। "वस्तु" के मूल मे जो 'विशेष" सत्ता निहित है उसी को "परमाणु" कहते हैं। 'परमाणु" को ही सर्वोपरि मान लेने के कारण इस दर्शन को वैशेषिक कहा गया जिसके प्रणेता हुए कणाद। वैशेषिक मे पदार्थों की संख्या पहले छः मानी गई थी जो बाद मे सात कर कर दी गई। ये पदार्थ हैं द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव।

---

१. 'भारतीय दर्शन", पृ २०१

पचमहाभूत, काल, दिक्, आत्मा, और मन ये नौ द्रव्य हैं। निर्गुण और निष्क्रिय द्रव्याश्रित पदार्थ गुण है जिस की संख्या २४ मानी गई है-रूप, रस, गंध स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण पृथकत्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, बुद्धि, प्रयत्न, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, धर्म और अधर्म। इस दर्शन में कार्य और कारण-दोनों का अलग-अलग अस्तित्व माना गया है। यह "असत्यकार्य वाद या 'आरम्भवाद'' है। इस दर्शनके अनुसार जितने भी दृश्यवान पदार्थ हैं सब परमाणुओं से बने हैं। पृथ्वी, जल, तेज और वायु-ये चार भौतिक परमाणु हैं इनको महाभूत भी कहते हैं। इन्हीं से सृष्टि बनती है। परमाणु के दो स्वरूप हैं-परम अणु और परम महत्। परिमाण की अल्पतम पराकाष्ठा "परअणु' है और सबसे ऊँची पराकाष्ठा परम महत् है। परम अणु ही त्रसरेणु कहलाते हैं। सात प्रकार का रूप छः प्रकार का रस, दो प्रकार का गंध और दो प्रकार की बुद्धि मानी गई है। निश्चयात्मिका बुद्धि विद्या या प्रमा है, और अनिश्चयात्मिका अविद्या। संशय विपर्यय और स्वप्न-ये तीन रूप है अविद्या के। इसी प्रकार तीन प्रकार के संस्कार और पाच प्रकार के कर्म माने गये हैं। सृष्टि और प्रलय की भी विवेचना है। इसमें परमेश्वर को इच्छा प्रधान मानी गई है। न्याय और वैशेषिक मे आंशिक विभिन्नता किन्तु पर्याप्त साम्य है।

सांख्य-दर्शन—

प्रोफेसर मैक्समूलर के विचार में वेदांत के बाद भारत का सर्वाधिक महत्व पूर्ण दर्शन सांख्य ही है। इसके प्रवर्तक के रूप मे कपिल का नाम प्रसिद्ध है। यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद को मानता है। इसके अनुसार कार्य की सत्ता कार्य की उत्पत्ति के पूर्व उसके कारण मे विद्यमान रहती है। इसके सांख्य यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि यह समस्त संसार-रूप जो कार्य है वह मूल प्रकृति रूप कारण मे अव्यक्त रूप मे विद्यमान रहता है। सांख्य यह भी मानता है कि वस्तु मे नहीं बल्कि वस्तु के स्वरूप मे परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन को सांख्य ने परिणाम कहा है। प्रत्येक तत्व या वस्तु मे रहने वाली शक्ति या उसका स्वरूप सांख्य के अनुसार उसका धर्म है। यह धर्म परिवर्तनशील है। अतः जगत का यह रूप या परिवर्तनशील है। सम्पूर्ण सृष्टि का भी कोई न कोई धर्म होना चाहिये। यह धर्म, या कारण रूप या मूल तत्व सांख्य के अनुसार प्रकृति है। जगत के परम तत्व के रूप मे सांख्य ने दो तत्व माने हैं-पहला है प्रकृति और दूसरा, पुरुष। पुरुष अनेक हैं। उनमे से सबकी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृति होती है। किसी मे प्रकृति का कोई

गुण प्रधान होता है और किसी मे कोई। यह पुरुष शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न होता है। यह शुद्ध चैतन्य, प्रकाशस्वरूप, कारणहीन, निवृत्तिहीन, नित्य, व्यापक, क्रियाहीन, गुणहीन और गतिहीन होता है। प्रकृति के सम्पर्क मे आने पर यह पुरुष जीव कहलाता है। प्रकृति और पुरुष मे एक दूसरे के विपरीत गुण होते हैं। प्रकृति से मुक्ति पाना ही जीव का मोक्ष है। मोक्ष पाने से पहले वह तरह-तरह की योनियो मे चक्कर काटता रहता है। अपने पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार ही जीव को अगले जन्म मे योनि प्राप्त होती है। पुनर्जन्म लिंग शरीर का होता है। लिंग शरीर बुद्धि, अहंकार मन, ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रिया और तन्मात्राओ का अर्थात् १८ तत्वो का होता है। यह पुरुष चेतन होता है। निरपेक्ष द्रष्टा मात्र होता है। प्रकृति का सान्निध्य ही उसे गतिशील बनाता है।

प्रकृति इसके बिल्कुल विपरीत होती है। वह एक है। जड़ है। जगत का मूल कारण है। वह गतिशील होती है वह त्रिगुणात्मिका है। उसके तीन गुण हैं सत्, रज और तम। ये तीनो देश और काल की सीमा के परे होते हैं। सृष्टि के पूर्व प्रकृति के तीनो गुण साम्यावस्था मे रहते हैं। यह साम्यावस्था ही सजातीय परिणाम है। इसका रूप वैसा ही होता है जैसा पानी का परिणाम बर्फ। पुरुष के सान्निध्य से प्रकृति की यह साम्यावस्था भंग होती है। सृष्टि रचना विजातीय परिणाम है। सृष्टि का विकास पुरुष के मोक्ष-साधन के लिये होता है। सृष्टि-विकास का क्रम सांख्य के अनुसार निम्नलिखित ढंग से होता है:—

सृष्टि
()

()
पुरुष
(१)
(न प्रकृति, न विकृति)

()
(१) प्रकृति (प्रकृति)
()

महत् तत्व या बुद्धि
(२) ()
अहंकार
()

()
सात्विक अहंकार
()

()
तामस अहंकार
()

() ज्ञानेन्द्रिय (५)	() कर्मेन्द्रिय (५)	() मनस् (१)	(शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) (५) तन्मात्राएँ ()

() आकाश	() वायु	() अग्नि	() जल	() पृथ्वी	(पंचतत्व (५)

()

देश काल पंचतत्व या पंचमहाभूत

इस तरह सृष्टि के ये २५ तत्व हुए। इन्हीं पचीसों तत्वों के तत्वज्ञान से जीव प्रकृति से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इन पचीसों, को सांख्य ने चार भागों में बांटा है : (१) प्रकृति, (२) विकृति, (३) प्रकृति-विकृति, और (४) न प्रकृति, न विकृति। महत्, अहंकार, तन्मात्रा को मिला कर प्रकृति-विकृति माना गया है। प्रकृति-प्रकृति है। पुरुष न प्रकृति, न विकृति है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, और मनस विकृति हैं।

योग-दर्शन —

योग को सांख्य के ही तत्वों पर अवलम्बित माना गया है। यह सांख्य का पूरक है, उसका व्यावहारिक पक्ष है। जितने भी आस्तिक दर्शन हैं उन सब का लक्ष्य है भगवान में मिल जाना। यही योग है इसका उद्देश्य है योग-द्वारा पाचों प्रकार के क्लेशों और नाना प्रकार के कर्मफलों से विमुक्त करके प्राणी को मोक्ष प्राप्त कराना। इन क्लेशों, कर्म, कर्मफल, और वासनाओं से दूर रहने वाला पुरुष विशेष ही योग का ईश्वर है। ओउम् का जप करने से ईश्वर का प्रणिधान होता है। भक्ति ही ईश्वर प्रणिधान है। योग के तीन तत्व हैं-ईश्वर, जीव और प्रकृति। ईश्वर में सत्, चित् और आनन्द, जीव में सत् और चित् तथा प्रकृति में केवल सत् तत्व है। *पतंजलि, का योग हमें यह बताता है कि हम संसार तथा उसकी प्रत्येक वस्तु का इस* ढङ्ग से उपयोग करें कि अधिक से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो और ईश्वर-प्राप्ति भी हो जाय। इसके लिये आवश्यक है कि पुरुष अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित हो। यह अवस्था समाधि की होती है। समाधि दो प्रकार की होती है - निर्विषयक एकाग्रता अर्थात् सप्रज्ञात और सविषय समाधि (असंप्रज्ञात) यह चित्तवृत्ति के निरोध

द्वारा होना है। ये चित्तवृत्तियाँ पाच प्रकार की हैं. —प्रमाण, विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प (जिसके ज्ञेय पदार्थ की सत्ता न हो), निद्रा (अभाव-प्रत्यय जिसका आलबन हो) और स्मृति (अनुभूत विषय का ध्यान)।

चित्त वृत्ति के निरोध का साधन अधिकारी भेद के अनुसार बताया गया है। तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं —उत्तम (केवल अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध), मध्यम (तप, स्वाध्याय, और भक्तिपूर्ण क्रिया मे चित्तवृत्ति-निरोध, और मन्द। इस तीसरे प्रकार के अधिकारी के लिये योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं:—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति नियम हैं। इनके अनुष्ठान से विविध शक्तियां और योगानुकूल भावनाएं प्राप्त होती हैं। प्रथम पांच बाह्य समाधि से सम्बन्धित हैं और अन्तिम तीन अतरङ्ग समाधि से। इनसे पाप का विनाश, ज्ञान का उदय और विवेक की प्राप्ति होती है। स्थूल, स्वरूप, (उपादान) सूक्ष्म (तन्मात्राएं), अन्वय (प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति), अर्थत्व (आत्मा का लीला-विलास) ये पाच प्रत्येक वस्तु के पाच भूत हैं। ये बाह्य-रूप हैं। योगी जब इन पर विजय पा लेता है तब 'भूत विजय' की अवस्था आती है। इसके बाद अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति (प्रत्यक्षानुभव), प्राकाम्य (इच्छाओं का दमन, वशित्व (सब का आत्मा से प्रकाशित होने का ज्ञान), ईशित्व (सबको स्वय मे नियोजित करना), और यत्र कामावसायित्व (मनोभिलाओं का सर्वथा अन्त) आठ सिद्धिया मिलती हैं। ये परमात्मा की प्राप्ति मे सहायक होती हैं। परमात्मा सृष्टि का निरपेक्ष द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, क्लेश-कर्म-कर्मफल और आशय से विमुक्त होता है। भक्ति से उसका साक्षात्कार होता है।

पूर्वमीमांसा दर्शन-[२]

महर्षि जैमिनी द्वारा प्रवर्तित मीमासा दर्शन का विषय है वैदिक विधि-निषेधो का आशय समझाना, उनकी पारस्परिक सगति बैठाना, और युक्तियो के द्वारा कर्मकाण्ड के मूल सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना। धर्म के वास्तविक रूप पर अर्थात् वेदप्रतिपाद्य विधिवत् कर्म पर, जो परमानन्द की प्राप्ति करा सकते हैं, वास्तविक प्रकाश डालने का प्रयत्न मीमासा मे किया गया है। मीमासा के दो भाग हैं। पूर्वमीमासा ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित है। इसको कर्ममीमासा भी कहते हैं उत्तर मीमासा उपनिषदो पर आधारित है। यही वेदान्त कहलाता है। पूर्व मीमासा ही वस्तुत मीमासा है। मीमासा वैदिक दर्शन है। वहा माना गया है कि वेद भगवान के निश्वास हैं। वे सदा नित्य और सत्य और

सत्य हैं। अपौरुषेय, निष्कलुष, निर्दोष, अभ्रान्तिमूलक, अनादि और स्वतः प्रमाण है। कर्मकाण्ड में वाक्यार्थ-निर्णय के लिये ही पूर्वमीमांसा दर्शन है। वेदों को स्वतः प्रमाणसिद्ध करने के उद्देश्य से ही मीमांसा ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञान की प्रकृति, सत्य और मिथ्या की प्रकृतियां और उसकी कसौटियां प्रमाण तथा अन्य आवश्यक समस्याओं पर विचार किया है। ज्ञान दो प्रकार का होता है :— प्रमा (अज्ञात पदार्थ की सत्यता का निश्चय हो जाना) और अप्रमा (वस्तु का अभाव परन्तु उसके ज्ञान की प्रतीति)। प्रमाण को ज्ञान की कसौटी माना गया है। मीमांसा ने प्रमाण के निम्नलिखित भेद माने हैं — प्रत्यक्ष (इन्द्रिय और अर्थ का साक्षात् सम्बन्ध), अनुमान (सादृश्य) शब्द (वेद) अर्थापत्ति (किसी श्रुत या दृष्ट विषय की सिद्धि जिस अर्थ के बिना न हो वह अर्थापत्ति है) और अनुपलब्धि (वस्तु के अभाव का ज्ञान)। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को भी नित्य मानते हैं। वर्णों से पद और पद से अर्थ सिद्ध होता है। शब्दार्थ मूलतः जातिवाचक होता है। वाक्य न तो अखंड है और न वाक्य-वाक्यार्थ में कार्य-कारण सम्बन्ध है, और न अन्तिम पद ही वाक्यार्थ का वाचक है शब्द में विकार नहीं होता। वेद स्वतः प्रमाण है। ज्ञान की प्रामाणिकता उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही रहती है, कहीं बाहर से नहीं आती। ज्ञान के उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है। भ्रान्ति और ज्ञान ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। मीमांसा में जगत् और जगत् के कारणभूत पदार्थों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। शाबरभाष्य में द्रव्य, गुण, कर्म और अवयव, की सत्ता मानी गई है और प्रभाकर ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति और सादृश्य इन ८ पदार्थों की सत्ता मानी है। मीमांसा मानती है कि हमारी इन्द्रियों द्वारा जिस रूप में जगत को प्रत्यक्ष किया जाता है वह उसी रूप में सत्य है। आत्मा और परमाणु नित्य हैं सृष्टि-रचना के मूल में प्रधान कारण है कर्मों का संचय। शरीर में आत्मा अपने पूर्व-संचित कर्मों का फल भोगता है। यह भोग ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा होता है। सभी बाह्य पदार्थ आत्मा के भोग के विषय हैं। संसार के सभी कार्यरूप पदार्थों के मूल में एक अदृष्ट शक्ति मौजूद रहती है। जगत, जगत के विषय, परमाणु और आत्मा नित्य हैं। जीव के नष्ट हो जाने पर उसके द्वार किये गये कर्म आत्मा में संचित हो जाते हैं। उन्हीं के साथ आत्मा का पुनर्जन्म होता है। वह आत्मा शरीर, इन्द्रियां और बुद्धि, इन सबसे भिन्न है। आत्मा में परिवर्तन होता है। आत्मा अनेक हैं। देवता बहुत से हैं। उन्हीं के लिए यज्ञ किये जाते हैं। सृष्टि और प्रलय की भावना को ठुकरा दिया गया है। पहले के मीमांसा ईश्वर के बारे उपेक्षा प्रकट करते हैं। बाद में उनमें भी आस्ति-

कता आ गई। धर्म के लिए वेदों के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं। धर्म का लक्षण है प्रेरणा। वेद जो कुछ करने की प्रेरणा देते हैं वही धर्म है। वेद क्रियार्थक हैं—करने की प्रेरणा देते हैं—कर्त्तव्य बताते हैं। यज्ञ-आदि करने वालों में एक अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। मनुष्य के काम तीन प्रकार के होते हैं काम्य, निषिद्ध और नित्य। नित्य कर्म सार्वभौम महाव्रत हैं। सुख, दुख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म, अधर्म, आदि धर्मों से छूट जाना ही मुक्ति का स्वरूप है।

उत्तर-मीमांसा—

उत्तरमीमासा वेदांत है जो बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' पर आधारित है। ६... पीछे उल्लेख किया जा चुका है। इस ब्रह्मसूत्र पर अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखकर अपने-अपने मत चलाए शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य लिखकर अद्वैत, भास्कराचार्य ने भास्कर भाष्य लिखकर भेदा भेद, रामानुज ने श्री भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत, मध्य ने पूर्णप्रज्ञ भाष्य लिखकर द्वैत, निंबार्क ने वेदान्तपारिजात भाष्य लिखकर द्वैताद्वैत और बल्लभ ने अणुभाष्य लिखकर शुद्धाद्वैत की प्रतिष्ठा की। इनमे शङ्कर, रामानुज और वल्लभ बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। 'मैं चेतन हूँ और सब चेतन जीवो मे मैं ही हूँ", अद्वैत इसी को प्रतिपादित करता है।

अद्वैतवाद—

इसके अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। उससे सयुक्त होकर ब्रह्म सृष्टि रचता है। यह ब्रह्म ईश्वर है। वही सगुण हो जाता है। माया उन शक्तियो का सामूहिक रूप है जो जगत के समस्त कार्य-व्यापारो का कारण है। जगत ब्रह्म का विवर्त्त (अवास्तविक प्रतीति) और माया का परिणाम या रूपान्तर है। सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर को माया का सहारा लेना पडता है। उसी के कारण एक ब्रह्म अनेक नामों एव रूपो मे आभासित होता है। ब्रह्म इस जगत का निमित्त और उपादान कारण है। माया और ब्रह्म दो नही हैं। माया ब्रह्म की इच्छा शक्ति है। ब्रह्म से उसकी सत्ता है। वह इस जगत का कारण है वह अनिर्वचनीय है। त्रिगुणात्मिक है। उसका आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म। वह ज्ञानविरोधी है। वह सत्य को ढंक लेती है (आवरण) और असत्य की प्रतीति कराती है (विक्षेप)। इसके साधन हैं काम क्रोध, लोभ, आदि। इसके कारण भ्रान्ति पैदा होती है। विशुद्धसत्व-प्रधान प्रकृति माया है और मलिनसत्वप्रधान प्रकृति अविद्या है। माया से ढँका ब्रह्म ईश्वर है, अविद्या से ढँका ब्रह्म जीव। जैसे हमारे नाखून या केश उगते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से जगत पैदा होता है। इसका प्रयोजन लीलामात्र है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे शकर

का विचार है कि ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन पाचो को सूक्ष्म भूत या तन्मात्राएँ कहते हैं। इनमें जब सात्विक अंश की प्रधानता हुई तब क्रमश एक-एक से श्रोत्र स्पर्श, चक्षु जिह्वा और घ्राण की उत्पत्ति हुई जो सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्ही तन्मात्राओं के सयुक्त सात्विक अंश से बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार की उत्पत्ति हुई। पच महाभूतो का साधारण कार्य या इनमे से सबका सम्मिलित कार्य है अन्त करण और प्रत्येक मे से एक-एक के कार्य का परिणाम हैं कर्मेन्द्रिया अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। ब्रह्म जिन पाच कोशो के भीतर रहता है वे हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अन्वय (स्वप्न मे साक्षी आत्मा के स्फुरण) और व्यतिरेक (स्थूल देह के प्रति उदासीनता और अप्रतीति) से पचकोशों का भेद-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। तभी चिदानन्द रूप की प्राप्ति होती है। बुद्धि और पाचों ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर ही जीव माना गया है जो विज्ञानमय कोश से ढँका रहता है। यह जीव चैतन्य है और कर्ता, उपभोक्ता, आदि माना गया है। इसी की मुक्ति होती है। प्राण के पाच प्रकार माने गये हैं—प्राण, अपान (गुदा—स्थित), समान (शरीर के मध्य स्थित), उदान (कण्ठ-स्थित) और व्यान (सारे शरीर मे व्याप्त)। ५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण, १ बुद्धि, और १ मन मिलाकर सूक्ष्म शरीर बनता है। इसमे इच्छा, ज्ञान और क्रिया का वास होता है। पचभूत जड प्रकृति का विकसित रूप है। इसी से चौदहो भुवनों वाला ब्रह्माण्ड, प्राणी और पदार्थों की उत्पत्ति होती है स्थूल भूतों से स्थूल शरीर पैदा हुआ। यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी ईश्वर का एक रूप है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर, सहित आत्मा ही जीव है। यह ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। यह शरीर आदि उपाधियों से युक्त होता है। तात्विक दृष्टि से ईश्वर और जीव एक होता है। अन्तर केवल व्यावहारिक होता है। ईश्वर केवल मेघाकाश की तरह होता है। वह अन्तर्यामी, प्रेरक, नित्यमुक्त, सर्वज्ञ और जगत का कारण है। जैसे स्वर्ण से आभूषण की, वैसे ही ईश्वर से जगत की उत्पत्ति होती है। जगत ईश्वर का आकार है। जीव बद्ध है क्योंकि आवरणयुक्त है, ईश्वर सदा नित्य है क्योंकि आवरणमुक्त है। जीव मे जो ईश्वर का अंश है वह कर्म करता है और ईश्वर में जो ब्रह्म का अन्श है वह कर्मों का फल देता है। अद्वैतवाद में आत्मक हो स्वत सिद्ध माना गया है। आत्मा ही ब्रह्म है। आत्मा का स्वरूप है आनन्द, ज्ञान, आदि। वह सत्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और शान्त है। वह जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओं में अखंड रहता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुख, सस्कार—ये आठो आत्मा के गुण हैं। यह सम्पूर्ण विश्व-प्रपच एक ही अद्वितीय तत्व में अन्तर्भूत, स्थित और प्रकाशित है। उसके अतिरिक्त यहा और कुछ नहीं है। उपासना आध्यात्मिक उन्नति की एक सीढी है। मोक्ष का पहला उपाय है ज्ञान। अन्त करण की शुद्धि, नैतिक गुणों को बलवान

बनाना, और वेद-प्रतिपादित कर्मों का करना अत्यन्त आवश्यक है। विवेक, वैराग्य, शम, दम सहनशीलता या तितिक्षा, कर्मों को भगवान मे लगाना, ब्रह्म मे तत्पर होना तथा गुरु सेवा शास्त्र एव गुरुवाक्य मे विश्वास और मोक्ष की इच्छा मुक्ति के बहिरङ्ग साधन हैं। श्रवण मनन, ब्रह्म-विषयक विश्वास और समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। शमादि भी बाहरी साधन हैं। शंकर ने तीन सत्ताएँ मानी है—तात्विक या पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक।

विशिष्टा द्वैतवाद—

शंकराचार्य की उपर्युक्त ब्रह्म-व्याख्या कुछ इने-गिने विचारको की चीज रह गई। रामानुजाचार्य ने उसको इस योग्य बना दिया कि वह सब की समझ मे आ जाय। रामानुज के विचार से ब्रह्म वह है जिसमे वे अन्य पदार्थ भी हैं जिनका विस्तार ब्रह्म ने ही किया है। चैतन्य आत्मा और जड प्रकृति दोनो मे बराबर विद्यमान न होता हुआ भी ब्रह्म उन दोनो से विशिष्ट है। ब्रह्म जगत मे व्याप्त भी है और उससे परे भी है। वह अपनी इच्छा से इस उद्देश्य युक्त सृष्टि को उत्पन्न करता है। ईश्वर, आत्मा और प्रकृति ये तीनो पदार्थ उसी ब्रह्म मे हैं। जैसे आत्मा शरीर से सबंधित है वैसे ही ब्रह्म का कार्य समझना चाहिये। जैसे मिट्टी मे घडा, सुवर्ण मे आभूषण और कपास मे कपडा है वैसे ही ब्रह्म मे जगत है। बल्कि जगत मे ही परमेश्वर का अनुमान होता है। सृष्टि के उत्पन्न होने पर जड जगत और चेतन आत्मा मे परिणाम उत्पन्न होते हैं किन्तु ब्रह्म के ब्रह्मत्व मे कोई परिणाम या विकार नही पैदा होता। अतः जगत, जगत के पदार्थ और अद्वैत ब्रह्म तीनो सत्य हैं। ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी। माया का जडत्व और जीव का अल्पत्व ब्रह्म है नहीं। ज्ञान ब्रह्म का सबसे अधिक व्याप्त गुण है। वही निष्कर्ष है। आनन्दयुक्त है। रामनुज के मत से ज्ञान को जाने बिना ब्रह्म को नही जाना जा सकता। वे उपासनाप्रधान ज्ञान को स्वीकार करते हैं। ज्ञान का उद्देश्य है मुक्ति। इसके लिए आवश्यक है कि हम वेद, शास्त्र, गुरु, और ईश्वर म सत्य बुद्धि बनाये रखें। उपासक का भाव ईश्वर के प्रति ऐसा अटूट होना चाहिये जैसे तैल की धारा। प्रकृति सत्य होते हुए भी अचित्, विचारहीन और जड है। प्रकृति के सतोगुणप्रधान रूप से ज्ञान एव आनन्द की उत्पत्ति हुई, सत् रज और तम मिश्रित रूप ही अविद्या या माया है जिससे पांच विषय, पाच इन्द्रिया, पाच भूत पांच प्राण प्रकृति, महत्, अहकार और मन पैदा हुए, और उसका अचित् रूप ही कालस्वरूप है जिसके आधीन प्रलयावस्था है। भगवान की इच्छा से मूल प्रकृति तेज जल और पृथ्वी म बँटी। इनसे सत, रज और तम गुण पैदा हुए और इन तीनो से जगत्। मन, बुद्धि, चित् और अहंकार से अत

करण बना इस अन्तःकरण में आत्मा के रूप परमात्मा आया। अर्जित कर्मों का भोग और आगे के कर्मों का अर्जन प्रारम्भ हुआ। पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप ही सद् की ओर प्रवृत्ति होती है। ईश्वर भक्ति करते-करते शरीर छूट जाय तो जीव की मुक्ति होती है। कर्मफल, पुनर्जन्म और भवचक्र यहां भी स्वीकृत है। परमेश्वर जीवों का साक्षी होता है। सृष्टि से पहले लयावस्था में जीव समूह वासनामय (लील मय) होकर कारणभूत क्षीरशाही विष्णु भगवान के उदर में रहता है। सृष्टि के समय वह जीव समूह अपनी अपनी वासना तथा अपने अपने कर्मों के अनुसार करण कलेवर धारण कर प्रकट होता है और अपने-अपने कर्माजित लोक को चला जाता है।[१] लय की अवस्था में जगत परमात्मा में ही लय हो जाता है। इस प्रकार जगत का भी नाश नहीं होता। उसका लय (छिपना) मात्र होता है। वस्तुतः वह सत्य है। जगत और जीव मिथ्या नहीं, उनका अभिमान मिथ्या है। जीव को अविद्या ढंक लेती है और तब जीव अपने वास्तविक रूप को भूलकर दुःखादि का अनुभव करने लगता है। जीव माया और परमात्मा ये तीनों अपृथक, अनादि और अनन्त हैं। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर व्यक्तित्वमय है। वैकुण्ठ में निवास है। अर्चा (देव मूर्तियां) विभव (मत्स्यावतार आदि), व्यूह (वासुदेव संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) सूक्ष्म (पर ब्रह्म) और अन्तर्यामी रूप में भगवान रहते हैं। भगवान को जानने का उपाय है भक्तियोग अर्थात् प्रीतिपूर्वक ध्यान। कर्म सदैव करणीय हैं। सन्यास का समर्थन नहीं। शूद्रों के लिए प्रपत्ति या शरणागति का उपदेश है। वस्तुतः 'रामानुज का दर्शन जनता का दर्शन है। जनता के धार्मिक और नैतिक विश्वासों का जैसा समर्थन रामानुज ने किया वैसा किसी ने नहीं किया। मैक्समूलर ने परिहास में लिखा है कि रामानुज ने हिंदुओं को उनकी आत्मा वापस दे दी . . . जीवात्मा जगत् और ईश्वर तीनों की पारमार्थिक सत्ता है. . इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन और नैतिक प्रयत्नों का महत्व बढ़ जाता है। हमारे कर्त्तव्य असली कर्त्तव्य हैं। जिन्हें पाप कहा जाता है वे वास्तव में पाप हैं . विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन ने भक्ति, प्रेम, कर्तव्य, आदि के लिये शंकर की अपेक्षा अधिक जगह निकाल ली वह भगवद्गीता के भी अधिक अनुकूल है। इसीलिये आज भारत की अधिकांश जनता ज्ञात या अज्ञात रूप से रामानुज-अनुयायिनी है।[२]

---

१. वाचस्पति गैरोला कृत 'भारतीयदर्शन, पृ ४५५।

२ देवराज और तिवारी भारतीय "दर्शनशास्त्र का इतिहास पृ ४४९-४५०-४५१

शैव दर्शन—

विष्णु तथा शिव दोनो ही देवताओ का उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है। रुद्र सहारक है तथा पशु और जनके पालक है। आगे चलकर रुद्र मे मगल-भावना का भी समावेश हो गया। सहारक रुद्र प्रसन्न होने पर मगलमय शिव हो गये। वायु, लिंग, कर्म, शिव, आदि पुराणो तथा आगमों मे शैवधर्म के सूत्र बिखरे पडे हैं। ऐतिहासिक शैवधर्म की दो परम्पराओ का समन्वय है-एक है वैदिक या आर्य शैवपरम्परा और दूसरी है आर्यपूर्वशैवपरम्परा। शैव-धर्म में मूलत चार सम्प्रदाय हैं —शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। उत्तर मे काश्मीर-शैवमत और दक्षिण मे वीर शैवमतभीहैं सप्रदायका मूल आधार दो है' वैदिकशैवमतकी परंपरा,और आगम। इसमिद्धात क अनुसार शिवही परमतत्व हैं। वे अनादि, अनन्त और शुद्ध सच्चिदानन्द हैं। वे स्वतंत्रसत्ता, विशुद्धि अनतप्रतिभा अनत ज्ञान सर्वपाशमुक्ति, अनतप्रेम, अनतशक्ति और अनत आनद वाले हैं शैव सिद्धान्त मे तीन पदार्थ हैं-पति (शिव), पशु (जीव) और पाश (जीव के बधन)। शिव परमेश्वर, अनत ऐश्वर्यवान सर्वज्ञ स्वतन्त्र नित्यमुक्त, शक्तिरूप शरीर वाले हैं। सृजन, पालन सहार तिरोभाव, और अनुग्रह-ये पाच कार्य शिव करते हैं। जिस समय शक्ति अपने समस्त कार्य समाप्त करके अपने स्वरूप मात्र मे स्थित हो जाती है तब शिव की लयावस्था होती है। उन्मेषप्राप्त शक्ति जब बिंदु को कार्योन्मुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया को समृद्धि करती है तब शिव की भोगावस्था होती है। पशु जीव को कहते हैं। जीव सीमित शक्ति वाला तथा अणु के आकार का होता है। वह नित्य, व्यापक, कर्ता, तथा अनेक है पाशमुक्ति शिवत्व प्राप्ति है। मुक्ति जीव शिव के अधीन होते हैं। जीव तीन प्रकार के होते हैं-विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। क्षीण कर्म जीव विज्ञानाकल है। आणवमल और कार्मणमल से युक्त प्रलयाकल होता है तीनों मलो से युक्त जीव सकल है जीवों के बन्धन का नाम पाश है। पाश चार प्रकार के हैं- जीव की स्वाभाविक ज्ञानक्रियाशक्ति का आच्छादन करने वाला पाश 'मल" है, फलार्थी जीवो की निरतर क्रिया "कर्म' है, "माया" मे जीव उत्पन्न होने हैं, और रोधशक्ति साक्षात्NP शिवशक्ति है। पाश-मुक्ति शिवकी कृपासे ही सभव है। NP पाशुपतमत मे भी पशु, पति और पाश ही तीन पदार्थ माने हैं। कालामुख और कापालिक का साहित्य बहुत कम प्राप्त है। इनके सिद्धान्त, साधन, आदि सभी गुप्त रखे गये हैं। वीर शैवमत दक्षिण मे बहुत प्रचलित है। इनके अनुयायियों को "लिंगायत" भी कहते हैं। देवराज और तिवारी ने लिखा है कि सिद्धान्त की दृष्टि से यह एक प्रकार का विशिष्टाद्वैतवाद है। शाक्तमत भी अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और गुप्त रखा गया है।

यह मत शिव और शक्ति को परम तत्व मानता है। इन्ही के एक दूसरे मे प्रवेश से सृष्टि बनती है। काश्मीर-शैवमत की एक धारा है स्पन्दशास्त्र जो अद्वैतवाद-जैसा है। शिव की मूल शक्ति के स्त्रीतत्व अर्थात् नाद स त्रिविध मल की क्रिया प्रवर्तित होती है। ध्यान और योग से परमेश्वर का स्वरूप प्रस्फुटित करने से इन मलों का नाश होता है। दूसरी धारा है प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। इसमे आत्मा चैतन्यस्वरूप, विमर्शरूपा, पराशक्ति,चित,स्वतन्त्ररूपा,विश्वोत्तीर्ण,विश्वात्मक,परमानन्दमय,परमेश्वर,परमशिव,शान्त सर्वज्ञ, प्रभु, अनतशक्ति-सम्पन्न, आदि है। वह परमधाम, परमपद, परमवीर्य परमामृत, परमतेज, परमज्योति,आदि है वे शाश्वत हैं, सर्वोत्तम हैं वे देवाधिदेव हैं, तथा निर्माण एव विनाश की शक्तियो से सपन्न हैं। इन्हे गिरीश, पशुपति, ईशान, महेश्वर आदि के रूप म माना जाता है। यह आत्मा अपनी इच्छामें ही शिव से लेकर धरणि पर्यन्त ३६ तत्वो मे अभेदता के साथ प्रास्फुटित होती है'। यह सर्वथा स्वतन्त्र विश्व की निर्वृत्ति एव उसके प्रकाशन का कारण है। सृष्टि-रचना के सम्बन्ध मे यह शाक्त से बहुत-कुछ मिलता है। परमात्मा की पाच शक्तिया विशेष रूप मे विख्यात हैं-चित् (प्रकाशस्वरूप , आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। मलो से आवृत्त आत्मा जीव है। यहा भी पाश पशु और पति वाला सिद्धात है मुक्ति के तीन उपाय हैं-शाभव (शिवोऽहं) की गुरुदीक्षा, शाक्त (ध्यान, पूजा, अर्चना)और आणव (शिव-शक्ति केदीक्षा-मन्त्र, आदि के द्वारा सर्वत्र होने की ज्ञान-प्राप्ति, जडरूप का तिरोभाव, चैतन्यभाव का दर्शन, और उसी मे तल्लीनता। शाभव उपाय सर्वश्रेष्ठ है क्योकि शिव और उनके भक्तों मे वैयक्तिक प्रकृति का सबध है। तपस और गुरुभक्ति से भी वे प्राप्त किये जा सकते हैं। इस दर्शन ने जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाएं मानी हैं। सृष्टि चिति का आभास है। सत्य है। उसी की इच्छा से उत्पन्न है। वस्तुत पूर्णतया अभेद है। सृष्टि का निर्माण माया-द्वारा होता है। माया परमेश्वर शिव की सृजन शक्ति है। वह स्वतन्त्र नही, उसी शिव पर आधारित है। शिव की इसी आनन्द रूपा शक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के ३६ तत्व इस प्रकार हैं —शिव, शक्ति सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, काल, नियति, काल, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्ध, अहकार, मन ५ ज्ञानेन्द्रिया, ५ कर्मेन्द्रिया पाच तन्मात्राएं और पाच स्थूलभूत। शवदर्शन में "पाश' का अर्थ "अपूर्णता" है। 'तन्त्रों का कथन है कि शक्ति के बिना शिव प्राणहीन शरीर की भांति है क्योकि बल के बिना बुद्धिमत्ता सक्रिय नही हो सकती। उसी स्थान पर यह भी कहा गया है कि शक्ति को धारण करने वाले शिव तथा स्वय शक्ति मे अनन्यता तथा तद्रूपता का सम्बन्ध है। शक्ति को नारी समझना एक भूल होगी।"' वेबर के शब्दों मे यह शक्ति 'अनेक दिव्य स्वरूपों का

१. "दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इन्डिया', भाग, ४ पृ २५०

मिश्रण" है। भारतवर्ष में इस शक्ति की पूजा अनादि काल से चली आ रही है। शिव की दया और उसके ज्ञान का ही नाम शक्ति है। सच्चिदानन्द पिल्लई ने लिखा है कि शैव का तात्पर्य है "आनन्द"—अतुलनीय आनन्द-वह जो शाश्वत आनन्दमय है।[1]

वैष्णव-दर्शन अर्थात् भागवत-दर्शन—

पांचरात्र संहिताओं में वैष्णव धर्म-दर्शन का पूर्ण विकास हुआ है। ये संहिताएं १०८ हैं। विष्णु पुराण और भागवत पुराण इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यामुनाचार्य, रामानुज, निंबार्क, मध्व, विष्णुस्वामी, आदि इसके प्रमुख आचार्य हैं। राधाकृष्ण, सीताराम, दुर्गा, गणपति, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य, श्री लक्ष्मी, गङ्गा, यमुना, शीतला, यम, वरुण, कुबेर, अग्नि, राहु केतु, नाग, सर्प, आदि सबकी पूजा यहां होती है। ऋग्वेद के विष्णु में नारायण, परम ब्रह्म तथा वासुदेव को भी मिलाकर आज के विष्णु का स्वरूप विनिर्मित हुआ और गुप्तकाल के आते-आते इनके अवतारों की भी कल्पना हो गई। इसी युग में श्री या लक्ष्मी उनकी पत्नी भी मान ली गई। इनके अवतार होते हैं। अवतार की कल्पना असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है। "यदि ईश्वर ने मनुष्य के रूप में हमारे सामने आकर प्रत्यक्ष रूप में क्रियात्मक ढंग से यह न दिखाया होता कि सिद्धान्तों को व्यवहार में कैसे लाया जाय और उनसे पूर्णता किस प्रकार प्राप्त की जाय तो वेदान्त के उच्चतम सत्य भी सिद्धान्त मात्र रह जाते।"[2] यह दर्शन प्रेम और सेवा पर बल देता है। वैष्णव धर्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है भक्ति। यहां प्रभु के सम्मुख उपासनामय आत्मसमर्पण मुक्ति का सरलतम किन्तु निश्चिततम साधन माना गया है। मुक्ति भक्ति और प्रपत्ति से प्राप्य है। अंशतम जीव को ही इस दर्शन में लक्ष्मी कहा गया है। अक्षर ब्रह्म से ही चिनगारी की भांति जीव निकलते हैं। भागवत धर्म ईश्वर की प्रेम मूल भक्ति वाला धर्म है। प्रपत्ति भक्त का साध्य है। उसकी कृपा की प्राप्ति ही भक्त का लक्ष्य है। ईश्वर के प्रति तीव्रतम प्रेम (भारतेंदु की चन्द्रावली यात्रा) इसकी प्रकृति है। भक्ति की दृढ़ता के लिये ज्ञान की नींव आवश्यक है। यह भक्त के भगवान को खींच लाती है यहां ईश्वर और भक्त दोनों एक दूसरे की बाहों में समा जाने को बेचैन रहते हैं। ईश्वर का व्यक्तिगत रूप, अवतार, लीला, सगुणत्व, लीला के लिये द्वैत-इसी मत की बातें हैं। विश्वप्रेम, रसमयता, विश्वमोहन रूपतत्व, आदि के भी कारण बीसवीं

---

१. "वर्ल्ड पार्लियामेन्ट आफ रिलीजन्स" का कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ १०३

२. "दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इन्डिया", भाग ३, पृ २८५

शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चैतन्य मत की ओर भी लोग खिंचे। डी० एम० शर्मा ने भक्ति आन्दोलन की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है-(१) प्रेम और दया वाले सर्वोत्तम ईश्वर पर विश्वास, (२) प्रत्येक जीव की व्यक्तिगत सत्ता में आस्था रखते हुए भी यह विश्वास करना कि वह आध्यात्मिक है और परम-आत्मा का एक अंश है, (३) भक्ति के द्वारा मुक्ति पर विश्वास, (४) भक्ति को सर्वोपरि मानना, (५) गुरु के प्रति अधिकाधिक आदर करना, (६) नाम की पवित्रता और नाम-जप के सिद्धान्त पर विश्वास, (७) मन्त्र-दीक्षा और संस्कारों पर विश्वास, (८) सन्यास के साम्प्रदायिक स्वरूप पर विश्वास, (९) जाति-पाँति के नियमों में शिथिलता, और (१०) भाषा-द्वारा धर्म-शिक्षा।[१] रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में यह भागवत धर्म बुद्धि के नवनीत में तला हुआ प्रेम के मधु में पूर्णरूपेण डुबाया हुआ पुआ (मोटी रोटी) है।[२] हमारी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है प्रार्थना। हमने मध्य युग में ही यह स्वीकार किया है कि प्रार्थना आत्मा की अभिव्यक्ति, हृदय की तीर्थयात्रा, और प्राणों की व्याख्या है। इसका एक रूप वेदों में तथा उनके भी पहले के जीवन में ढूंढा जा सकता है। भारत में दृष्ट और अदृष्ट दोनों के लिये प्रार्थनाएं हुई हैं। इसमें भक्त और उसके भगवान-आराधक और आराध्य के बीच के वैयक्तिक सम्बन्ध की घनिष्ठता और रागात्मकता पर जोर दिया जाता है। वैदिक ऋषियों के गायत्री मन्त्र से लेकर निराला, पन्त, और रामकुमार वर्मा के गीतों तक की परम्परा एक है। इनके अनन्त विस्तार और प्रकार हैं। ऐश्वर्यमय सगुण स्वरूप की भी प्रार्थना है और निर्गुण की भी देवताओं से लेकर त्यौहारों तक न जाने किन-किन की प्रार्थनाएं होती रही हैं। यज्ञ के कर्मकाण्ड की अपेक्षा पूजा की सरलता अधिक व्यावहारिक और ग्राह्य हुई। पूजा में प्रार्थना का स्थान महत्वपूर्ण होता गया। भारतेन्दु से लेकर पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा, आदि के प्रार्थना-गीत इसी दार्शनिक भाव-भूमि पर आधारित हैं। आधुनिक युग की प्रार्थनाओं में मूर्त्त की अपेक्षा अमूर्त तत्वों की प्रधानता हो गई है। सूक्ष्मता बढ़ गई है। "आज मेरी गति तुम्हारी आरती बन जाय,[३] तथा "क्या पूजा क्या अर्चनरे"[४] के पीछे कबीर के "साधो सहज समाधि भली" की पृष्ठभूमि है। रामकुमार वर्मा के अनेक प्रार्थना-गीत आत्मा और परमात्मा के तात्विक सम्बन्धों पर

---

१. 'हिन्दूइज्म थ्रू दि एजेज", पृ ६१

२ "दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इन्डिया" भाग ३

३. रामकुमार वर्मा . "आकाश गंगा" से

४ महादेवी वर्मा "यामा" से

पूर्णरूपेण आधारित हैं—जैसे 'एक दीपक किरण कण हूं।''[1]

रहस्यानुभूति—

जब प्राणी की आध्यात्मिक चेतना जागृत हो जाती है तब वह ईश्वर के लिये छटपटाने लगता है। इस अवस्था म पार्थक्य की तड़प से, जिसकी अनुभूति रहस्यवादी को इस स्थिति मे होती है उस प्रकार की अभिव्यजनाएं होती हैं जैसी नम्मलवार की "गोपीगीता' या श्री रामकृष्ण के वचनामृतों म है। आध्यात्मिक क्षुधा की तृप्ति ब्रह्मानुभूति से ही सभव है। पार्थक्य की अवस्था म आत्मा की समस्त अनुरजनाएं एव जीवन की अशेष ऊष्मा समाप्त हो जाती है इन्द्रिया दैवी आलाक के दर्शन के लिये बेचैन हो उठती हैं। उसक बिना जीवन एक बोझ हो जाता है। यह माग ज्यो-ज्यों तीव्रता होता जाती है त्यो-त्यों नोद आना आदि और शरीर म होने वाली अनकानेक क्रियाओ का स्वाभाविक सम्पादन समाप्त हो जाता है। शरीर घुलने लगता है। धीरे-धीरे मानसिक ह्रास भी प्रारम्भ हो जाता है। आत्मा की यह भूख प्रेमास्पद को भी प्रभावित करती है। वह अपने स्वर्गिक एकाकीपन को और असीमित गौरव को तिरस्कृत करक आत्मा की ओर अभिमुख हो उठता है। मिलन की तीव्रतम उत्कण्ठा जागृत हो उठती है। मिलन होता है और होती है शाश्वत आनन्द की अनुभूति। यह लीला अनवरत है आदिकाल से होती चली आरही है। भारतीय धम और दर्शन तथा साधना की पृष्ठभूमि म उपर्युक्त रहस्यात्मक अनुभूति नितान्त सभव है। हमारे यहा का चेतन और आनन्दमय किन्तु अनिर्वचनीय ब्रह्म ही रहस्यवादियो का साध्य है। उसको अभिव्यक्ति करने का और उसकी प्राप्ति-मिलन की स्थिति की अनुभूतियो की अभिव्यजना का असफल प्रयास आठवीं-नवीं शताब्दियो क सिद्धाचार्यों म मिलता है। भक्ति-आन्दोलन न उस ब्रह्म को रागात्मकता से युक्त कर दिया। अद्वैत न उसम और हमम अभिन्नता स्थापित कर दी थी। आध्यात्मिक चेतना की जागृति पर अपूर्ण का पूर्ण के लिये बेचैन होना नितात स्वाभाविक है। अपना अपने से मिलने के लिये बेचैन हो उठना है। यह जागृति जब हठयाग की साधना स होती है तब रहस्य साधनात्मक होता है। हृदयतत्व की प्रधानता अर्थात् भावनात्मकता की तीव्रता भी व्यक्ति को उसकी अनुभूति की ओर उन्मुख कर सकता है। विरह की तीव्रता का स्वरूप सूफियो स मिला है। यह भावात्मक रहस्यवाद है। कवियो का रहस्यवाद प्राय इसी प्रकार का होता है। इस पृष्ठभूमि म आधुनिक युग के कवियों ने रहस्यवादी कविताएं लिखीं। आधुनिक भारत चिन्तन प्रधान अधिक और कर्मप्रधान कम है। वह कर्म साधना की ओर कम उन्मुख हुआ है। इस युग म बुद्धितत्व अधिक मुखर और प्रखर

१ आधुनिक कवि", भा। ३

हो उठा है। अतएव कबीर, आदि से प्रेरणा लेकर जो स्वयं सिद्धों की परम्परा में आते हैं और जिस परम्परा में ही टैगोर भी हैं-बुद्धि से सोचकर और चिन्तन करके आधुनिक हिन्दी साहित्य की रहस्यवादी कविताएँ लिखी गईं। इसीलिये वे जिज्ञासा प्रधान अधिक हैं। कबीर के अधिक निकट होने के कारण रामकुमार वर्मा में मिलन की स्थिति की अनुभूतियों की व्यंजना का प्रयास अधिक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इन लोगों की अभिव्यक्त अनुभूतियों में कोई असाधारण नवीनता नहीं। नवीनता भाषा, शैली और अभिव्यंजना के स्वरूप में है। आध्यात्मिक अनुभूतियों की यथार्थता के अभाव में जिज्ञासा के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के रहस्यवाद में जो कुछ है उसका अधिकांश लौकिक शृंगार अधिक प्रतीत होता है-यद्यपि यह लौकिक शृंगार इतना महान है, इतना उदात्त है, इतना अतीन्द्रिय और वासना से इतना परे है कि अलौकिक-सा लगने लगता है। कबीर के रहस्यवाद में भी रूपक के रूप में, सादृश्य के द्वारा अनुभूति को हृदयगम कराने का प्रयास करता हुआ जो आया है वह भी लौकिक शृंगार ही है। यहाँ उसका रङ्ग कुछ अधिक चटकीला और आकर्षक हो गया है।

पाश्चात्य-दर्शन—

देवराज ने लिखा है, "वर्तमान काल में दार्शनिक चिन्तन मुख्यत: योरप और कुछ हद तक अमेरिका में ही होता रहा है'।[१] ऐसे योरप के निकटतम सम्पर्क में आकर भारतवासी उससे प्रभावित न होते, यह असंभव था। उसी पृष्ठ पर योरोपीय दर्शन की सबसे स्पृहणीय विशेषता के रूप में चिन्तन स्वातन्त्र्य का उल्लेख किया गया है। भारतीय संस्कृति भी विचार-स्वातन्त्र्य एवं चिन्तन-स्वातन्त्र्य का समर्थन करती है। योरोपीय दर्शन की इस विशेषता को, जो हमारी भी विशेषता है, इस युग में हमने पूरी तरह से अपना लिया है।

ज्ञान-मीमांसा बुद्धिवाद—

दर्शन के मुख्य भाग दो हैं —ज्ञान मीमांसा, और तत्वमीमांसा। तत्वमीमांसा में आत्मा, जगत और ईश्वर पर विचार किया जाता और ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की उत्पत्ति, ज्ञान के स्वरूप, और ज्ञान की सीमा पर। ज्ञान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में योरप में तीन विचारधाराएँ पाई जाती हैं —बुद्धिवाद, प्रतीतिवाद और कांट का समन्वयवाद। डेकार्ट, स्पिनोजा और लाइबनीज नाम के दार्शनिक बुद्धि को ही प्रधानता देते थे। डेकार्ट, बुद्धिवाद का पिता कहा जा सकता है। वह दर्शन में गणित की प्रणाली का उपयोग करता है। बुद्धिवाद कहता है कि ज्ञान विवेक की उपज है।

---

१ 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास', पृ ६

कुछ बुद्धिवादी यह भी कहते हैं कि ज्ञान कुछ आदि सिद्धान्तों की विवेकपूर्ण विवेचना का फल है। यह बुद्धि को सार्वभौम और नितान्त आवश्यक मानता है। काट का भी यह सिद्धान्त है कि बुद्धि जिन सम्बन्धो की स्थापना करती है उन्ही को हम बाह्य जगत का सार्वभौम धर्म कहते हैं। काट का यह भी कहना है कि वैज्ञानिक लोग अपनी खोजो से प्रकृति के जिन नियमो का पता चलाते हैं वे वास्तव मे मानव बुद्धि के नियम हैं। उनसे बौद्धिक धारणाओ की आवश्यकता और प्रामाणिकता सिद्ध की है। पन्द्रहवी–सोलहवी शताब्दी की योरोपीय पुनर्जागृति तथा बाद मे होने वाली विज्ञान की उन्नीति ने बुद्धि को धार्मिक ग्रथो एव धर्मगुरुओं के आतक से मुक्त कर दिया। योरप ने बुद्धि की इस स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये सभी उपायो का सहारा लिया है। इसी का परिणाम है कि आज क योरप की प्रधान प्रवृत्ति हो गई है आध्यात्मिकता विहीन बौद्धिक उन्नति। यारोपीय दर्शन प्रधानत बौद्धिक गवेषणा है।[1] अस्तु, कुछ तो योरप की नकल करने और कुछ भारत को फिर से उन्नत करके योरप से भी श्रेष्ठ बनाने के लिये हमने बुद्धिवादी सिद्ध करने और यदि हो सके तो उससे लाभ उठाने के लिये हमने बुद्धिवाद को यथासभव अपना लिया। यहा तक अपना लिया कि कविता भी बुद्धिवाद के प्रभाव से बच न सकी। प्राचीन तथ्यो और तत्वो की नई व्याख्या बुद्धिवाद के हा सहारे हो सकी है।

(२) समन्वयवाद—

ऊपर काट का उल्लेख किया गया है वह बुद्धिवादी था तो किन्तु उसने बुद्धि को ही सबकुछ नही मान लिया। उसकी ज्ञान-मीमासा वस्तुत बुद्धिवाद और प्रतीतिवाद का समन्वय उपस्थित करती है। उसके सवेदन का हेतु पदार्थो या वस्तुओ का अपने यथार्थ रूप मे होना बताया है। इसीलिये वह व्यावहारिक जगतको ज्ञेय मानता है किन्तु उसने बुद्धि की एक सीमा निर्धारित कर दी है। उसने परमार्थ जगत को बुद्धि के लिये अज्ञेय मानकर अज्ञेयवाद को जन्म दिया उसका विचार है कि अपनी स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार बुद्धि ईश्वर और आत्मा, आदि के सबध मे जिज्ञासा उत्पन्न तो कर देती है किन्तु इनके विषय मे कुछ बता सकना बुद्धि के लिये असभव है। नैतिक जीवन मे उसने ज्ञान की सीमा बाँध कर ईश्वर, आदि को मानना आवश्यक माना है।

(३) प्रतीतिवाद—

ज्ञान-मीमासा का तीसरा सिद्धान्त है प्रतीतिवाद या अनुभववाद। इस मत को मानने वाले दार्शनिको मे लाक, बर्कले और ह्यूम का नाम आता है। लाक को अनुभववाद का पिता कहा जा सकता है। इसके मानने वाले लोग बुद्धि या विवेक

१. "अदिति", अरविन्द विशेषाक, पृ. १०७

को निष्क्रिय, सहज प्रत्ययों से रहित, तथा गणित-सबंधी एवं वस्तु-सबंधी विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार प्रत्ययों की प्राप्ति हमें इन्द्रियों से होती हैं। अस्तु ज्ञान एक मात्र अनुभव है।

रोमांटिक भावना या मानवतावाद—

१७ वीं—१८ वीं शताब्दी के पहले योरप में सम्पन्न और विपन्न व्यक्तियों के बीच बहुत बड़ी गहरी खाई थी। निर्धन बड़ी ही हेय दृष्टि से देखे जाते थे। धीरे धीरे यह धारणा बदली और निम्न वर्ग वालों की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि डाली जाने लगी। इसीसे रोमांटिक भावना का जन्म हुआ। १७ वीं शताब्दी के आसपास का युग फ्रांस इंगलैण्ड और जर्मनी के धार्मिक युद्धों विद्रोहों और क्रांतियों का युग रहा है। लोग मार-काट हत्या, हिंसा, पशुता बल-प्रयोग की भयानकता, आदि से ऊब चुके थे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में रोमांटिक भावना और मानवतावादी विचारधारा का जन्म हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में इंगलण्ड और फ्रांस में जड़वाद का जोर बढ़ रहा था। आगस्ट कान्ट ने इस पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक अन्वेषण-प्रणाली का आश्रय लेने का विचार प्रकट किया उसने कहा कि ज्ञान का अर्थ वस्तु जगत को शासित करने वाले नियमों की खोज है। उसने परलोक की चिन्ता छोड़कर मानवता के ऐहिक जीवन को सुधारने का कार्य बताया। उसके अनुसार पूजा, उपासना या सेवा का वास्तविक विषय मानवता है। उसके समय तक यान्त्रिक आविष्कारों और उद्योग-धन्धों में बहुत प्रगति हो चुकी थी। औद्योगिक क्षेत्रों में पूंजीपतियों द्वारा खरीदे गये इन्सानों की जो मर्मान्तक दुर्गति एवं पशुओं से भी गई बीती अवस्था होती है उसकी प्रतिक्रिया ने भी इस विशाल विपन्न अभागे मानव-समुदाय की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया। इनको सुखी करना एक पवित्र कार्य हो गया। इनसे विशाल मानवसमाज बनता है जिसकी प्रवृत्तियाँ अन्ततोगत्वा प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। मनुष्य अपने जीवन में यह अनुभव करता है कि वह अपने से बहुत बड़ी किसी शक्ति पर निर्भर है। यह अनुभूति मनुष्य को शान्ति देती है। वह इस शक्ति की श्रद्धा उपासना एवं पूजा करता है। यह शक्ति न ईश्वर है न देवता यह शक्ति मानवता है। यही वह देवता है जिसकी उपासना हमें करनी चाहिये। यही हमारे आवेगों का लक्ष्य होना चाहिये। हमें इसी की सेवा करनी चाहिये। यही हमें सुख दे सकता है। ईश्वर को कोई नहीं जानता इसे हम सभी जानते हैं विचार-क्षेत्र में यह नया विचार था और समझ में आने वाला विचार था। इसने योरप के ज्ञान विज्ञान को प्रभावित किया और भारत की विचार धारा को भी प्रभावित किया। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "परन्तु

साहित्य-क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावाद ही थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण से विद्रोह करने वाली स्वच्छन्दतावादी *प्रेम-धारा का भी जन्म हुआ।*"[१] यह विचारधारा हमने इसलिये भी अपनाई कि इस दृष्टिकोण को अपनाने से भारत की विशाल ३५ करोड़ जनता को, जो अंग्रेजी शासन में पिसकर पशुओं से भी गया-बीता जीवन बिता रही थी, उन्नति की आशा थी। "सर्वे भवन्तु सुखिन" के भारतीय स्वप्न को सफल देखने की यह आशा देती है।

ज्ञान का स्वरूप—

ज्ञान के स्वरूप के विषय में योरोपीय दर्शन तीन धारणाएं उपस्थित करता है—(१) ज्ञान के विषय ज्ञाता से स्वतन्त्र हैं, २ ज्ञाता के मन से बाहर कोई भी वस्तु नहीं, और (३) ज्ञाता के मन से बाहर कुछ है तो, पर हम उसे जान नहीं सकते। पहला प्रचलित वास्तववाद है, दूसरा विज्ञानवाद या अध्यात्मवाद है और तीसरा, शोधित वास्तववाद।

बुद्धिवाद—

जर्मन दार्शनिक हीगल भयानक रूप से बुद्धिवादी है। वह अनुभव-निरपेक्ष बुद्धि को मान्यता देता था। उसकी धारणा है कि विश्व तत्व या ब्रह्म केवल बुद्धि-द्वारा ही जाना जा सकता है। उसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन का विषय बुद्धितत्व है। वह विश्व को व्यक्तिरूप या व्यक्तित्व मानता है। वह मानता है कि प्रकृति केवल *वस्तुओं की व्यवस्था मात्र है। स्पेस या देश की दृष्टि से ये वस्तुएं एक दूसरे से पृथक्* होती हैं। इस प्रकार वह प्रकृति को वास्तव मानता है। प्रकृति में पुनरावृत्ति होती है। वह मानता है कि परिवर्तन की क्रिया सत्य है लेकिन उसके उपादान परमभाव या परम आत्मा के आविर्भाव हैं। 'परम' है विशुद्ध अस्तित्व। परम को अपने विकासक्रम में स्वातन्त्र्य की प्राप्ति क्रमशः होती रहती है। हीगल धारणाओं का द्वन्द्वात्मक विकास मानता है। *प्रत्येक विचार अपूर्ण या विरोध-ग्रस्त होता है जिसे मिटाने के* लिये वह दूसरे विचार या दूसरे सिद्धान्त को जन्म देता है। हीगल के विचारों ने धर्म, दर्शन राजनीति, कला, आदि ज्ञान के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। इसी हीगल ने आगे चलकर मार्क्सवाद को जन्म दिया।

प्रकृतिवाद—

तत्वमीमांसा ने पहले प्रकृतिवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार संसार स्वय-

१. "हिन्दी साहित्य", पृ ४३२।

हीन और प्रयोजनहीन है। संसार का एक बहुत बड़ा भाग यन्त्र है जो अपने नियमों से स्वत परिचालित होता है। यह वाद मानता है कि प्राण तथा मन का विकास भी भौतिक पदार्थों से ही होता है।

भौतिकतावाद—

इसमे जड़वाद या भौतिकवाद निकला। जैनेन्द्र का कथन है, 'भौतिकवाद ईश्वर की आवश्यकता मे नही रहता। वह अनादि भून को मान कर उस आधार पर समस्त सृष्टि और इतिहास की रचना को हृदयगम करने की विधि सुगम करता है" सक्षेप म भौतिकवाद चेतन और अविकल पर न टिक कर वस्तु और बिन्दु से आरम्भ करता है।"[1] भौतिकवाद के अनुसार सभी पदार्थों की उत्पत्ति जड़ से होती है। जड़ की विशेषता यह है कि वह जगह घेरता है, उसका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, उसम वजन है, जब तक वह एक जगह है तब तक उस जगह पर दूसरा नहीं आ सकता, और वह एक स्थिति से दूसरी स्थिति म किसी बाहरी शक्ति के बिना नही जा सकता। यह परमाणुवाद पर विश्वास करता है और मानता है कि जड का सार तत्व उसकी शक्ति है। प्राण-सत्ता और चेतन-सत्ता इसी जड के परिणाम हैं। इस के अनुसार भौतिक जगत सम्पूर्ण रूप से सत्य है। जड़ वस्तु परमाणुओ से निर्मित है। परमाणु जब एक खास ढङ्ग से मिलते हैं तब भौतिक वस्तुएँ बनती हैं। परमाणुओ के एकत्रीभूत होने से ही चेतना का सचार होता है। हर घटना के पीछे भौतिक कारण होता है। यह जड़वाद कार्य-कारण-सिद्धान्त पर विश्वास करता है। यह आत्मा, धर्म, ईश्वर, नैतिकता, इच्छा-स्वातन्त्र्य, आदि कुछ नही मानता। काट ने भौतिक शास्त्र की प्रामाणिकता का समर्थन किया है। हाब्स, डार्विन, स्पेंसर आदि दार्शनिक भौतिकवादी ही हैं। भौतिक विज्ञान के तथ्यों और खोजो न भी इसे प्रतिष्ठा प्रदान की। भारत के भी धर्म और ईश्वर के प्रचलित रूप की विकृति ने लोगों को उससे विमुख करके भौतिकवादी बना दिया। हिन्दी के नाटक, कहानी, नई कविता, उपन्यास, आदि मे यह भौतिकवाद अनेक रूप धारण करके और अनेक के साथ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप मे अब उपस्थित रहने लगा है। अन्धविश्वास के साथ-साथ इसने विश्वास की भी जड खोद दी है। कुछ लोग भारत का कल्याण और अभ्युत्थान इसी मे देखते हैं।

सृष्टि (१) सृष्टिवाद—

सृष्टि के सम्बन्ध म योरप मे दो प्रमुख विचारधाराएँ हैं। पहली विचारधारा सृष्टिवाद कहलाती है। इसके अनुसार विश्व का सृष्टिकर्ता ईश्वर है। जब उसने

१ 'समय और हम", पृ. १२०

इच्छा उत्पन्न होती है तब तक यह विश्व सृष्ट होता है। ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है। ईश्वर और जड़तत्व से यह जगत रचा जाता है।

(२) विकासवाद-सृजनात्मक—

दूसरी विचारधारा है विकासवाद की। इसके अनुसार प्राणियों का क्रमशः विकास हुआ है। इस विकास के तीन प्रमुख स्तर होते हैं। सृष्टि के मूलतत्व सर्वप्रथम इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं। जब सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तब इन इधर-उधर बिखरे तत्वों का एकीकरण होता है। दूसरी अवस्था में इन एकीकृत तत्वों का आवश्यकतानुसार विभेदीकरण होता है। इसके बाद उनका निर्धारण होता है। विकास की अवस्था में तत्व व्यवस्थित रूप में रहते हैं और नाश की अवस्था में अव्यवस्थित रूप में। यह विकास प्रारम्भ में सरल होता है किन्तु आगे चलकर इसकी प्रक्रिया बड़ी जटिल हो उठती है। कुछ विचारकों का मत है कि सृष्टि का यह विकास उद्देश्यगर्भित या प्रयोजनपूर्ण होता है। उनके अनुसार जगत विचारपूर्वक बनाया गया है। एक बुद्धिमान विचारक जगत के नियमों का पथ-दर्शन कर रहा है। मानव के शरीर, उसके अङ्ग-प्रत्यग, पौधों के अस्तित्व एवं उनके अङ्ग-प्रत्यग, आदि-यहां तक कि निर्जीव पुद्गल-में भी प्रयोजन निहित है। यह प्रयोजनवादी विकासवाद या उद्देश्यपूर्ण विकासवाद कहलाता है। आगे चलकर बर्गसां ने सृजनात्मक विकास की कल्पना की। विकास सम्बन्धी घटनाओं पर विचार करने से बर्गसा इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विकास का कारण न तो कार्य-कारण-नियम है और न कोई अन्तिम प्रयोजन। उसका लक्ष्य है प्राणशक्ति या जीवनशक्ति की सृजनशीलता। एलेक्जेन्डर और मार्गन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विकास की विभिन्न स्थितियों में नूतनताओं का जन्म होता है। पुराने तत्व नये तत्वों को जन्म देते हैं। ये पुराने गुण नये गुणों को जन्म देते हुए भी अपने (गुणों) को नष्ट नहीं होने देते। कुल मिलाकर गुणों की संख्या में वृद्धि ही होती है। ध्यान रहे कि हमारी हिन्दी के अति आधुनिक कवि इसी नवीनता के पीछे पागल हैं तो, मगर उन्हें अपने से पुराने गुणियों या गुणों के प्रति कोई भी अनुराग नहीं। पुनरावृत्ति विकासवादी यह मानते हैं कि सृष्टि-क्रम में कहीं कोई नवीनता नहीं होती। पहले की ही पुनरावृत्ति होती है।

यांत्रिक-विकासवाद-

विकासवाद का दूसरा पक्ष है यांत्रिकविकासवाद। इस मत वालों की धारणा है विकास आकस्मिक यन्त्रवत् संयोग के कारण होता है। स्वयम्भू परमाणु [illegible] कारण आकस्मिक रूप में एक दूसरे से मिलते हैं और फिर अपने

अलग हो जाते हैं। विश्व विकासवादी विकास को प्राकृतिक नियमों पर आधारित मानते हैं। यह जड़वाद के अधिकाधिक अनुरूप है।

जीव-विकास—

इसके पश्चात् हम जीव-विकास के सिद्धान्त पर आते हैं। इस वाद में डार्विन और लामार्क के सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जड़ से जीव और जीव से चेतन प्राणियों का विकास होता है। सभी का विकास जीवकोषों से होता है। सबसे पहले सृष्टिकर्ता ने कुछ जीवकोषों में प्राण फूंक दिया। उन्हीं से सारी सृष्टि बनी। एक जाति के जीव धीरे-धीरे बदलकर दूसरी जाति के जीवों में परिवर्तित हो जाते हैं। शरीर-रचना में होने वाले कुछ परिवर्तन उस जीव-योनि के वंशजों में संक्रान्त हो जाते हैं। यह परिवर्तन उस जाति के सभी प्राणियों के लिये समान रूप से उपयोगी नहीं सिद्ध होता। इस भेद या परिवर्तन से कुछ को पुश्त-दर पुश्त लाभ पहुँचता है और कुछ का अस्तित्व मिट जाता है। सबल और उपयुक्त जीवित रहते हैं, शेष नष्ट हो जाते हैं। अस्तित्व के लिये भी निरन्तर संघर्ष चलता रहता है जिसमें शक्तिशाली का अभ्युदय और शक्तिहीन का विनाश होता रहता है। प्रकृति अनुकूल प्राणियों को चुन लेती है और प्रतिकूल का नाश कर देती है। परिवर्तन के कारण उत्पन्न होने वाले जीव कभी-कभी पुराने जीव से अलग होकर नई और बलवान योनि की सृष्टि करते हैं।

लामार्क ने कहा कि प्रत्येक प्राणी पर उसके वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वातावरण के साथ उसका क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध रहता है। भेद या परिवर्तन का मूल कारण यही है। वातावरण ही प्राणियों के अन्दर आवश्यकतानुसार अवयव विशेष का विकास करते हैं जो निरन्तर प्रयोग के कारण सबल अथवा अप्रयोग के कारण नष्टप्राय होते रहते हैं। वंशक्रम के अनुसार वे गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते हैं।

इस विकासवाद के परिणामस्वरूप जड़वादी और नास्तिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। इसी रास्ते पर चलकर स्पेन्सर ने यह सिद्धान्त निकाला कि जीव और उसके पर्यावरण या वातावरण में पारस्परिक सहयोग अनिवार्य होता है। आगे चलकर व्यक्ति का व्यक्तित्व वातावरण का खिलौना हो गया। हक्सले ने संघर्ष पर जोर दिया और नीत्शे ने कहा कि नैतिकता की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है जीवित रहने की श्रेष्ठता। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। साहित्यिक रूप धारण करके ये सारी विचार-धाराएँ कलात्मक ढंग से हिन्दी साहित्य में अभिव्यक्त हो चुकी हैं और हो रही हैं। अपने एक व्याख्यान में पन्त ने कहा था कि हिन्दू धर्म में कहे गये विभिन्न अवतार

ध्यान से देखने पर विकास की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक मात्र लगते हैं.—मछली, कछुआ, सूकर, नृसिंह, वामन, परशु राम, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध कल्कि, आदि।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद--

हीगल का प्रकृतिदर्शन प्रकृति-जगत के क्रम-विकास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या है। विरोध इसके मूल में है। यही विकास को गति देता है। हीगल का दर्शन मानवता के सारे अनुभवों को समष्टि का रूप देने के प्रयास हैं। हीगल अध्यात्मवादी था। हीगल से ही प्रेरणा लेकर किन्तु उनके अध्यात्मवाद को पूर्णतः तिरस्कृत करके मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रस्तुत किया। मार्क्स जड़वादी हुआ। मार्क्सकृत इतिहास की व्याख्या मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की—उसकी राजनीति, अर्थनीति, इच्छाओं और अभिलाषाओं की-व्याख्या है। मनुष्य का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह सिद्धान्त हर प्रकार की अलौकिक शक्तियों को, आत्मा--परमात्मा सब; बाह्य, भौतिक दृश्य जगत को ही सत्य मानता है। यह प्रकृति को तमाम जगत का मूल, मानता है। हीगल के सिद्धान्त को लेकर उसे हो दृश्य जगत और सामाजिक प्रगति पर मार्क्स ने लागू कर दिया। उसमें डार्विन के विकासवाद और हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रगतिवाद का सम्मिश्रण है। भौतिक विश्लेषण, परीक्षण की कसौटी पर ठीक उतरना, प्रयोग द्वारा प्रमाणित और प्रदर्शित हो सकना स्वीकार्य होने की कसौटी बनी। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की तीन कसौटी हैं--वाद, प्रतिवाद और समुच्चयवाद। वह मानता है कि जगत परिवर्तनशील है। पूर्ण या पवित्र या चिरतन कुछ नहीं है। सामाजिक सम्बन्ध राजनीतिक सम्बन्ध, सदाचार, धर्म और आध्यात्मिक चेतना के तदनुकूल रूप अपने समय के इतिहास से स्वतन्त्र नहीं होते। प्रत्येक वस्तु गतिशील है, प्रत्येक वस्तु प्रक्रिया मे है। उसी वस्तु म ही वस्तु का निरोध भी वर्तमान रहता है। यह अपने अस्तित्व का परिचय निरन्तर देता रहता है। दोनो का द्वन्द्व ही जीवन है। द्वन्द्व की समाप्ति जीवन की समाप्ति है। प्रकृति में कम करने वाली शक्तियां अन्धी- क्रूर, और संहारक होती हैं जब तक कि हम उनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करके उन पर अधिकार न प्राप्त कर लें। धर्म मनुष्य के मन में उन बाहरी शक्तियों का कपोल कल्पित विस्मयजन्य प्रतिबिम्ब मात्र है जो दैनिक जीवन का नियंत्रण करती हैं। इस प्रतिबिम्ब मे पार्थिव शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। परस्पर विरोधी वस्तुओं मे जो धनात्मक और ऋणात्मक संघर्ष होता है वही द्वन्द्वात्मक प्रगति का कारण होता है। इस प्रकार यह दर्शन अनीश्वरवादी, अनास्थावादी, हिंसाप्रधान, और जड़वादी है, फिर भी जैनेन्द्र के शब्दों में "मार्क्स के ऐतिहासिक विकासवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिक-

वाद में मेरे लिये कोई चौंकने या आपत्ति करने की बात नहीं। इतिहास और राजनीति को समझने का यह तर्क-शुद्ध प्रयास है।"[१] गांधी और विनोबा तथा इनके प्रेरणा-स्रोत अजर-अमर भारतीय संस्कृति की शक्ति और उसके प्रभाव के कारण यह मार्क्सवाद भारत को पूर्णतः अपने रंग में तो नहीं रंग सका पर इसकी व्याख्याओं ने हमारे दृष्टिकोण को थोड़ा-बहुत यहाँ-वहाँ परिवर्तित अवश्य किया है। इसका उल्लेख किया भी जा चुका है और आगे भी किया जायेगा।

उपयोगितावाद—

जान स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद ने भी हम पर अपने रङ्ग के छींटे डाले हैं। उपयोगितावाद का यह आदर्श नहीं है कि कर्त्ता को ही सबसे अधिक आनन्द मिले। उपयोगितावाद का आदर्श तो यह है कि सबको मिला कर सबसे अधिक आनन्द मिले। मिल के अनुसार अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख अथवा सामाजिक सुख जीवन का आदर्श है। मिल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पक्षपाती था। वह केवल निश्चित, तीव्र और दीर्घकाल-व्यापी ही सुख को मनुष्य का ध्येय नहीं मानता था। वह उच्चकोटि के सुख को ध्येय रूप से रखना चाहता था। उपयोगितावाद आशावादी है। अपनी श्रेय-प्राप्ति के लिये सर्वसाधारण को भी उच्च आचरण के महत्व से दीक्षित देखना चाहता था। उपयोगितावाद का मतलब आनन्द-प्राप्ति तथा दुःख से बचना है। उपयोगितावाद में अन्य बातों के साथ-साथ सुख और सौन्दर्य की भावना भी सम्मिलित है। इसीलिये वह उस आत्मत्याग की प्रशंसा करता है जो मनुष्य-जाति के या जाति-विशेष के सुख या सुख के बृद्ध साधनों को बढ़ाता है। ये बातें सत्य, शिव, और सुन्दर के अन्दर आ जाती हैं, और अपने वर्तमान रूप में यह सूत्र योरप से आने पर भी भारतीय संस्कृति की अनुरूपता के कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य के बहुत बड़े भाग का आदर्श वाक्य बन गया है।

अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद—

घोर वैज्ञानिकता के विरुद्ध योरप में प्रतिक्रिया हुई। लोगों की रुचि फिर अध्यात्मवाद और चैतन्यवाद की ओर उन्मुख हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। लाट्जे, हार्टमान, ग्रीन, ब्रेडले बासक, क्रोचे और जेण्टायल इसी प्रवृत्ति के दार्शनिक हुए। लाट्जे बुद्धि पर सन्देह करना सभव नहीं मानता। वह बुद्धि में विश्वास करता है। वह श्रद्धा को भी आवश्यक मानता है। वह विश्व-तत्व को चेतन मानता है। वह तत्व पदार्थ का लक्षण आत्मचेतना

१. "प्रथम और हम", पृ ७५

और मचेतन–व्यक्ति–भाव मानता है। हार्टमान मानता है कि अचेतन कृतिशक्ति सर्वत्र बुद्धि द्वारा सचालित मालूम होती है। ग्रीन ज्ञान या अनुभव के अस्तित्व के लिये चेतन तत्व की आवश्यकता का अनुभव करता है। ब्रेडले इगलैंड का सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मवादी विचारक है वह मानता है कि मूल तत्व एक है और वह सामजस्य-पूर्ण है। वह अनुभव रूप है। उसकी कल्पना व्यक्तिभाव की होनी चाहिए। परम ब्रह्म गति और परिवर्तन शून्य है। तत्वपदार्थ कभी भी अपना विरोध नहीं करता। बोमाके मानता है कि विश्व–तत्व अपने को चिन्तन–प्रक्रिया मे अभिव्यक्त करता है। मानवश के उच्चकोटि के अनुभवो में विश्व की समष्टिरूपता या व्यक्तिभाव प्रकाशित या फलित है। क्रोचे का दर्शन नव्य अध्यात्मवाद है। वह मानता है कि विषय अनुभव का ही एक पहलू है और अनुभव मानसिक होता है। विषय अनुभवकर्ता से भिन्न नही है। चैतन्य आप ही अनुभव मानसिक होता है। विषय अनुभवकर्ता से भिन्न नही है। चैतन्य आप ही जगत की सृष्टि करता है। उसने चेतना की (१) ज्ञानात्मक क्रिया (२) धारणा, (३) व्यावहारिक क्रिया और दार्शनिक क्रिया एवं ऐतिहासिक क्रिया को माना है। उसके शिष्य जेण्टायल ने इन चार प्रकार की क्रियाओं का विरोध करके चेतना को एक रूप माना।

अस्तित्ववाद –

अति आधुनिक विचारधाराओ मे तर्कमूलक भाववाद और अस्तित्ववाद आते हैं। तर्कमूलक भाववाद मानता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों जैसे–ईश्वर, आत्मा, आदि के विषय मे तर्क करना उचित नही है। यह वाद मानता है कि हमारे सारे ज्ञान का आधार इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभव है। अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध मे कही गई अनुभव-सम्बन्धी बात निरर्थक और मिथ्या होती है। इसके अनुसार दर्शन का कार्य है वाक्य की समीक्षा और विश्लेषण। यह मत भाषा अथवा प्रतीकों के प्रयोग का भी विश्लेषण करता है। यह अध्ययन तीन भागों मे बँटा है — प्रैगमेटिक्स, (मनुष्यो के व्यवहार और उनके भाषा–प्रयोग के सम्बन्धो का अध्ययन), सिमैन्टिक्स (प्रतीकों और उनके द्वारा सकेतित तथ्यों के आपस के सम्बन्ध का अध्ययन) और लाजिकल सिन्टैक्स (प्रतीकों के विभिन्न तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धो का अध्ययन)।

अस्तित्ववाद का प्रवर्तक है कीर्कगार्ड। यह वाद व्यक्तिगत जीवन या अस्तित्व का दर्शन है। यह मत व्यक्ति की स्वतन्त्रता को आवश्यक मानता है। इसकी इच्छा है कि व्यक्ति को उसकी स्वतन्त्रता एव जिम्मेदारियो के प्रति जागरूक बनाया जाय। यह मत इस प्रकार के व्यक्ति को आदर्श मानता है। कीर्कगार्ड सत्य की प्रतीति आत्मा के भीतर मानता है। वह समष्टिवाद का विरोधी है। व्यक्ति अपने स्वतन्त्र निर्णयो के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। चिन्तन का मुख्य काम यह है कि

व्यक्ति का विश्व से इस प्रकार का संबंध हो कि वह अपने जीवन की विविध संभावनाओं का साक्षात्कार कर सके। हमारा जानना जीने के लिये होता है। हम यथार्थ से भागें न, बल्कि उसमें अपने को संबंधित करके निर्णय लेने का साहस कर सकें। हेडेगर नामक अस्तित्ववादी आदमसत्ता या मानवसत्ता को मानता है। वह मानता है कि मानव जीवन की संभावनाएँ बदलती रहती हैं। संभावनाओं का चुनाव मनुष्य के रूप को बदल देता है। दुनिया मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति का क्षेत्र है। साथ ही हम अन्य मनुष्यों से भी संबंधित हैं। इसी संबंध में सामान्य मनुष्यता का जन्म होता है ज्यां पाल सार्त्र भी महत्वपूर्ण आदर्शवादी है। वह दो सत्ताएँ मानता है – (१) अपने में, और (२) अपने लिये। यह चेतना दूसरे को (अ) वस्तु मानकर, और (ब) अपनी ही तरह द्रष्टा-भोक्ता विषयी मानकर गतिशील होती हैं। मार्क्स ने स्वतंत्रता को मानव का असली रूप माना है। मनुष्य विश्व ब्रह्माण्ड का पूरक नहीं; स्वतः एवं स्वतंत्र है। मनुष्य का निर्माण उसकी अपनी संभावनाओं और इच्छाओं द्वारा होता है। हम स्वयं अपनी प्रकृति के विधाता हैं। धर्म, मनुष्य का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। वह जैसा चाहे, बन जाय। न ईश्वर, न कुछ अच्छा, न बुरा। मानव प्रकृति नाम की कोई भी चीज नहीं। हमारा अति आधुनिक साहित्य इन विचारधाराओं से बहुत हद तक प्रभावित है।

हमने सब का अध्ययन किया—

हम भारतीयों ने योरप और भारत के इन दर्शनों का अध्ययन किया और प्रयत्न एवं अप्रत्यक्ष रूप में इनसे प्रभावित हुए। एक दूसरे को एक दूसरे के समीप लाने के प्रयत्न में लगे। टैगोर ने कहा है, "आधुनिक भारत के अच्छे भले व्यक्तियों ने अपने जीवन का यह लक्ष्य बना लिया है कि वे पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे के समीप ले आएँ।"[1] यह आवश्यक भी था क्योंकि इसके बिना हमारे उत्थान का और कोई उपाय था भी नहीं। यह अवश्य है कि नवनीत अभी निकल नहीं पाया, उसे निकलना है।

वर्तमान हिन्दूधर्म—

साने गुरू जी ने लिखा है, "भारतीय धर्म बढ़ता रहने वाला धर्म है। वह नवीन नवीन विचार ग्रहण करके आगे बढ़ता रहेगा। वह नवीन नवीन क्षेत्रों में घुसेगा। सारे ज्ञान को अपना कर समाज का निर्माण करेगा।[2] बदली हुई एवं बदा

१. "टुवर्डस यूनिवर्सल मैन", पृ १३३।

२. "भारतीय संस्कृति", पृ. ३६।

चित वृत्तियों वाली पृष्ठभूमि में तथा नई यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय धर्म ने यही किया। लोग प्रायः कहा करते हैं कि हिंदू धर्म भी विचित्र धर्म है क्योंकि हिंदुओं की न कोई अपनी एक पोशाक, न कोई एक सर्वमान्य धर्म-पुस्तक, आदि। वे ऐसी बात करके और विशेष रूप से भारतीय इस्लाम से उसकी तुलना करके उसे निकृष्ट अथवा निर्बल सिद्ध करके हिंदुओं में उबाल लाना चाहते हैं। उनकी बातें सही हैं लेकिन जिसे वे हमारी कमजोरी समझते हैं, सौभाग्य से वही हमारी सबसे बड़ी विशेषता है। उसे छोड़ना हिंदुत्व को मिटा देना है। हिंदुत्व में कट्टरता नहीं है, क्योंकि राधाकृष्णन के अनुसार, 'यह स्पष्ट है कि हिन्दू धर्म एक प्रणाली है, परिणाम नहीं, एक वर्द्धमान परम्परा है, अटल दिव्य प्रकाशन नहीं। किसी ओर से भी आने वाले ज्ञान पर इसने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया, क्योंकि (इस) आत्मराज्य में मेरे और तेरे का भेद नहीं है।'[1] उसकी प्रकृति है सभी धर्मों के लिये आदर और सद्भावना अपनी बौद्धिक चेतना और सत्य के प्रति अपनी अनुभूति को सतत जागरूक रखना सभी महान पुरुषों के प्रति सच्ची श्रद्धा, धर्म की वास्तविक प्रकृति (छिपी हुई अग्निशिखा) की खोज प्रगतिशीलता और रूप परिवर्तन की आवश्यकता और अनिवार्यता।

समस्त भारत का योग—

इसीलिये हिंदूधर्म किसी एक पुस्तक, किसी एक व्यक्ति, किसी एक प्रदेश या किसी एक वेश या देश की ही चीज कभी नहीं रहा। यह अवश्य है कि इस पर पड़ी हुई छापों में से किसी की छाप अधिक स्थायी है और किसी की कम। उदाहरणार्थ, भारतीय धर्म का जो स्वरूप शंकराचार्य द्वारा उपस्थित किया गया है वह अब भी सर्वथा शक्तिहीन नहीं हुआ है। रामानुज तथा माधव, कबीर तथा नानक, आदि ने भी हिन्दू धर्म पर अमिट छाप लगाई है। भारत के विभिन्न प्रान्तों और प्रदेशों ने भारतीय धर्म और दर्शन के उस स्वरूप को विकसित करने में अपना-अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है जो आज भारतीय जीवन का मूलाधार हो रहा है। विभिन्न धर्मों के रूप में जीवन के विभिन्न मौलिक कार्यसंघात और विभिन्न दर्शनों के रूप में विभिन्न मौलिक चिन्तन विभिन्न प्रदेशों ने विकसित किये हैं। यह कुछ ठीक वैसे ही है जैसे हिन्दी। ब्रजभाषा भी हिन्दी है, खड़ी बोली भी राजस्थानी भी, बिहारी भी। जैसे हम यह नहीं कह सकते कि बस इतना ही और यही हिंदुत्व है वैसे ही हम भी नहीं कह सकते कि यही रूप हिन्दी है। बंगाली का क्षेत्र है बंगाल, पंजाबी का भी अपना एक विशेष क्षेत्र है, इसी प्रकार अन्य बोलियों और भाषाओं के भी अपने-अपने

---

१. 'भारत की अन्तरात्मा', पृ० २८।

विशेष क्षेत्र है लेकिन हिन्दी! नाम के अनुसार हिन्दी का अगर कोई भी क्षेत्र कहा जा सकता है तो वह है हिंद, याने सम्पूर्ण हिन्दुस्तान! और यह सही भी है क्योंकि बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब, आदि सभी ने हिन्दी का पोषण किया है। ठीक इसी प्रकार का हिन्दू धर्म भी है जहां विभिन्न प्रदेशों के चिन्तनों और कार्य-सघातों ने गंगा-यमुना की भांति मिलकर समन्वय-संगम पर एकत्व और सुख-मर्तप की अलौकिक पवित्रता उपस्थित कर दी है। देखिये —[1]

१ कश्मीर	शैव, त्रिकदर्शन	२. पंजाब	वेदों के प्रार्थनागीत
३ मिथिला	जनक-याज्ञवल्क्य	४. मध्यप्रदेश	कर्मकाण्डी साहित्य, प्रारंभिक उपनिषद्, महाभारत, रामायण, कुछ पुराने पुराण
५ मगध	महावीर और बुद्ध		
६ बंगाल	चैतन्य, तन्त्रसाधना,		
७ असम	शङ्करदेव का विशुद्ध वैष्णववाद और तन्त्र साधना।	८ पूर्वीप्रदेश	मध्ययुगीन सिद्ध
		९ नेपाल	बौद्ध और ब्राह्मणधर्म का समन्वय।
१० उड़ीसा	सूर्योपासना, साम्बपुराण, चैतन्यकक्षा के दर्शन-ग्रंथ।		

११ द्रविड़ ब्रह्मसूत्रभाष्य, आलवार, नैवनायनार, संहिता और आगम के अनेक लेखक।

१२ महाराष्ट्र-तुकाराम, नामदेव, तिलक, विनोबा, शिवा, रामदास, ज्ञानेश्वर, आदि।

१३. राजस्थान— विन्ध्य, बिहार के कुछ भाग — असाधारण शौर्य प्राचीन धार्मिक विश्वास।

१४. गुजरात-काठियावाड़—प्रारम्भिक भागवत धर्म, जैन साहित्य, दयानन्द, गांधी।

१५ सिंध—सूफी विचारक

अभी इस सूची में न मालूम कितनी बातें और जोड़ी जा सकती हैं!

सह-अस्तित्व—

बात यह है कि भारतवर्ष ने धर्मों के सह-अस्तित्व अथवा दूध-पानी की तरह से मिल जाने की समस्या युगों-युगों से हल कर ली है। चूंकि भारतवर्ष के प्रत्येक युग, प्रत्येक भूभाग, एवं प्रदेश का अपना-अपना धर्म एवं दर्शन था जिनका संगम

---

१. 'कल्चुरल हेरिटेज आफ इन्डिया', भाग ४

हिन्दूधर्म है अत हिन्दुत्व की दृष्टि मे भारत का कोई भी भाग ऐसा नही है जहा पूज्य नदिया न हो, जहा पवित्र नगरिया न हो। इतिहास, ससार और पुस्तकें तो कुछ ही को जानती हैं, जैसे—काशी, प्रयाग, अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, नासिक, बदरिकाश्रम सारनाथ, बुद्धगया, रामेश्वरम्, पढरपुर, गगा, यमुना, सिंधु कृष्णा, नर्मदा, ताप्ती, कावेरी, आदि, किन्तु यहा तो मिट्टी का कण-कण एव जल का एक-एक विन्दु पवित्र है। जहा लीप-पोतकर मिट्टी मात्र का ही ऊँचा चबूतरा बनाकर उस पर चार-फूल और चावल के चार दाने रख दिये वही पूज्य हो गया। जिस पेड पर जल डाल कर सिन्दूर लगा दिया जाय वही प्रणम्य है। यहा "गगा" का अर्थ पवित्रता से अभिन्न है। हर नदी, हर तालाब, हर पोखरा, गगा है। कहावत है—"मन चगा तो कठौती मे गगा", और स्नानार्थी जब कुएं या नल का पानी लोटे मे भरकर अपने सर पर डालता है तो "हरगगा" या 'हर हर गगे" कहता है। स्थानीयता को बर्दाश्त करके या यो कहे कि भाषा अथवा भौगोलिकता को आवश्यक प्रधानता न देकर हमने धर्म को "धार्मिकता" मे बदल रक्खा है। उसे अखिल भारतीय रूप दे रक्खा है। भारतीय को अच्छा धार्मिक एव अच्छा आराधक होना चाहिए—चाहे जिस धर्म का हो चाहे जिस देवता का! प्राय लोग धर्म को गलत समझने, गलत ढग से विचारने और उसका गलत उपयोग करने लगे हैं। मोतीलाल नेहरू का यह कहना था, "आज धर्म का उपयोग सबसे बडी विभाजक शक्ति के रूप मे किया जाता है। हमारे दैनिक जीवन मे उसका अर्थ है मूर्तिपूजा और धर्मान्धता, असहिष्णुता और मस्तिष्क की सकीर्णता, स्वार्थपरता और स्वस्थ समाज का निर्माण करने वाले गुणो का निषेध। राजनीति के साथ भी उसका सम्बन्ध किसी काम का नही।"[१]

जनता की कमजोरी और उसका दुरुपयोग—

बात यह है कि अल्प बुद्धि वाली सामान्य जनता धर्म के वाह्य स्वरूप को ही जानती-मानती है क्योकि उसक तात्विक रूप को ग्रहण करने की क्षमता उसमे होती नही और इसीलिये उसको वाह्यरूप प्रधान धर्म से हटा सकना कठिन होता है। "धर्म-निरपेक्ष" अंगरेजी सरकार यह व्यवस्था करना नही चाहती थी कि लोग धर्म के असली रूप को समझे। धर्म-भ्रष्ट हो जाने की आशका ने सामान्य जनता को धर्म के बाह्यस्वरूप से इतना चिपका दिया कि वह उस पर किसी तरह का आघात करने वालो को अपना घोर शत्रु समझने लगी। अंगरेजी सरकार और उसके अस्तित्व से प्राणवान बने रहने वाले स्वार्थियो ने इस जन-मनोवृत्ति का लाभ उठाया। उसे बहलाकर एक दूसरे से लडाया और खुद राज्य और पद प्राप्त किया। जनता के पास

१. "मोतीलाल नेहरू जन्मशताब्दी स्मृति ग्रथ", पृ० ६२

धार्मिक आस्था मात्र बचने पाई। उसके अतिरिक्त धर्म की सारी असलियत उसमें छिन गई।

पीछे देखा गया—

१। विचारकों ने देखा कि एक खतरा आ गया है। इसको तभी दूर किया जा सकता था जब प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों और मूल्यों पर बराबर जोर दिया जाता रहे। अस्तु, हिंदू महापुरुषों और विचारकों ने अपने धर्म और संस्कृति के मौलिक श्रोतो और मूलभूत तत्वो को नहीं छोड़ा। वे छोड़ने लायक थे भी नहीं। इसके साथ ही साथ उन्होंने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नवीनतम आदर्शों के अनिवार्य और महत्वपूर्ण प्रभावों को अस्वीकार भी नहीं किया।

हिन्दुत्व की काया-पलट—

परिणामत हिन्दूधर्म की कायापलट हो गई। हिन्दूधर्म के विभिन्न तत्वों की सूक्ष्मतम परीक्षा, निरर्थक एव अनुपयोगी तत्वों का तिरस्कार और उपयोगी तत्वों की नवयुग के अनुरूप व्याख्याएं प्रस्तुत की गई। इनके परिणामस्वरूप हिंदूधर्म को सजीवनी शक्ति मिली। उसका रूप समाजोपयोगी होने लगा, उसका लक्ष्य जन-हित होने लगा। समाजिकता की दृष्टि से अनुपयोगी तत्व निरथक एव अस्वीकृत हो गए। व्यक्तिगत धार्मिक जीवन और धार्मिक अनुभवो के जो तत्व शाश्वत और स्थायी महत्व के थे वे ही स्वीकृत एव मान्य हुये। धर्म की वास्तविकता उन तत्वों मे खोजी गई जो सामाजिक अन्याय, असमानता, आदि से कलंकित होने से बचे थे। अन्याय अनीति को जन्म देने वाली सामाजिक प्रथाओं और सस्थाओं से धर्म को अलग करने का प्रयत्न किया गया। परिणामत धर्म, सस्कृति और इतिहास का उज्ज्वलतम पक्ष उभरता चला गया। भारत-प्रेम की भावना से इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिला। हिंदूधर्म मे जो भी सुधार हुए उन सब की आवश्यकता का अनुभव राष्ट्रोत्थान की दृष्टि से ही हुआ था। मानवता की भलाई और जन कल्याण की भावना ने गति दी। हिंदी का यथार्थवादी और आदर्शवादी साहित्य इसी पृष्ठभूमि में लिखा गया। वास्तविकता यह है कि शास्त्रों के अनुमोदन की बात आजकल केवल कहने भर के लिये रह गई है। शास्त्रों की तनिक भी चिन्ता किये बिना आज का मानव वही करता है जिससे उसका हित हो, उसे सुख मिले या उसे आराम मिले।[१] रूढ़ियों और प्रथाओं पर आधारित नैतिकता से आलोचना-प्रधान नैतिक विचार-विनिमय और तदनुरूप क्रियाशीलता की ओर चला जाना ही नये दृष्टिकोण की विशेषता है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि आधुनिक हिंदी साहित्य में शास्त्रों का उल्लेख

---

१ "इन्डियन सोशल रिफार्मर" के सम्पादक का १९१२ मे कथन।

उतना नहीं हुआ जितना आलोचना-प्रधान नैतिक विचार और तद्रूप जीवन-यापन का प्रयास अभिव्यक्त हुआ है। हिन्दू दृष्टिकोण चिन्तन की और विचार विनिमय की पूरी पूरी स्वतंत्रता देता है किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में शास्त्र, संस्कृति और परम्परा के विधिनिषेधों का पालन अनिवार्य मानता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में —विशेषतः कथा साहित्य में भी हम यही पाते हैं कि चिन्तन और अभिव्यक्ति नवीनतम एवं क्रान्तिमयी है किन्तु ऋषियों, मुनियों, वेदों, शास्त्रों, आदि के प्रति आदर के साथ-साथ, व्यावहारिक जीवन में रूढ़ियां और परम्पराएँ भी मान्य हैं, अनुल्लंघ्य हैं और अधिकतर सबको बांधे हुए हैं। इसीलिये समाज विघटित नहीं होने पाया है। तात्पर्य यह है कि हमारे सांस्कृतिक जीवन और हमारी धार्मिक विचारधारा का अधिकांश तो कुछ भी नहीं बिगड़ा किन्तु व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों और उनकी मनोवृत्तियों में शनैः शनैः परिवर्तन अवश्य होता गया। उदाहरण के रूप में हम यह मानने लगे कि अपने जीवन, अपने धर्म और अपनी परिस्थितियों के उत्तरदायी किसी न किसी रूप में हमीं हैं हमने राजा को ईश्वर मानना छोड़ दिया। हमने उनको अपनी ही तरह के हाड़ मांस का मनुष्य मान लिया। समाज और व्यक्ति की दुरवस्था को बदलने का काम भाग्य और भगवान के ऊपर छोड़कर हाथ पर हाथ धरे बैठने में जो मूर्खता है वह हम समझ गये। धार्मिक ढोंग और ढकोसला अब हमारी श्रद्धा और पूजा पाने में असमर्थ हो गए। हम इनकी उपेक्षा करने, इनकी आलोचना करने और इनके प्रभाव से अपने को मुक्त रखने का साहस पा गये। कहीं-कहीं अति भी हो गई।

सुधारवाद और रूढ़िवाद—

इस प्रकार दो विचारधाराएँ हमारे अन्दर पनपीं। हममें से कुछ लोग सुधारवादी हो गये और कुछ लोग प्रगतिशील या क्रांतिकारी। आबिद हुसैन ने लिखा है, "...... दो विरोधी प्रवृत्तियां क्रियाशील रही हैं —(१) एक तो उदारतावादी आंदोलन जिसने अपने आपको धर्म में समन्वयवाद, सामाजिक दृष्टिकोण में आधुनिकतावाद और राजनीति में मध्यमवाद के रूप में अभिव्यक्त किया और (२) रूढ़िवादी आंदोलन। इसके दो विभिन्न रूप रहे। एक में तो वैदिक धर्म और सामाजिक जीवन में लौट जाने का आग्रह था, दूसरे में वेदान्त दर्शन को धार्मिक जीवन का आधार बनाया गया जिसमें पौराणिक हिंदूधर्म समन्वित था। इसमें हिंदू समाज का ढांचा बदलने का आग्रह तो था किन्तु उसकी आत्मा नहीं [१]। टैगौर, राधाकृष्णन और गांधी ने हिंदुत्व को इतना व्यापक बना दिया कि उसमें मानवता और उदार राष्ट्रीय दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया।

१. "राष्ट्रीय संस्कृति", पृ. १०५।

धार्मिक व्यक्ति और हिन्दूधर्म—

हमारे धर्म के मानने वाले दो श्रेणियों में बँट गये (१) गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए यथासम्भव धर्माचरण करने वाले, और (२) भिक्षाटन, तीर्थाटन करने वाले तथा मठों, आदि में बैठकर पूजा पाठ करने वाले साधु एवं पुजारी, आदि। आजकल वैदिक कर्मकाण्ड नहीं चल पाता। उसकी जगह पर वैष्णव एवं पौराणिक कर्मकाण्ड चलते हैं। उपासना प्रायः विष्णु अथवा अवतारों की होती है क्यों कि वे भक्तवत्सल, दयालु, अहिंसावादी, कल्याणकारी, अधर्म एवं अधर्मियों के नाशक, धर्म संस्थापक, अवतारी, शान्त, उदार, श्रष्टा, प्रतिपालक, संहारक, देवाधिदेव, अनादि, अनत, अविकारी, सच्चिदानन्द, परमब्रह्म हैं। विष्णु स्वामी ने तो काया-कष्ट को निरर्थक मानकर एक मात्र नाम स्मरण को ही मोक्ष का साधन बताकर इसे सर्वसुलभ एवं सर्वप्रिय बना दिया था। इष्टदेव कहीं राम हैं कहीं कृष्ण, कहीं अकेले, कहीं युगलमूर्ति के रूप में। द्वेष किसी से नहीं। श्रद्धा तुलसी और शालिग्राम के लिये भी है। बंधन कोई भी नहीं। लोक व्यवहार और सुविधा के अनुसार जैसे चाहे, अराधना करें। मिलने पर पारस्परिक अभिवादन 'जै राम जी की", "जय सियाराम", "राम राम', आदि के रूप में होता है। वृन्दावन में एक तांगे वाले को मैंने "हटो राधे, 'बचो राधे", कह कर नारियों को रास्ते से हटाते हुए देखा सुना है। इस प्रकार एक परात्पर विश्वात्मा के अस्तित्व में हिंदुत्व को कभी भी आशंका नहीं हुई। वह संसार को सत्य तो नहीं मानता किन्तु उसकी प्रतीति को प्रबल एवं आवश्यक अवश्य मानता है। हिंदुत्व उस दिव्य सत्य के व्यक्तिकरण में आस्था रखता है और उसे आवश्यक मानता है। हिंदुत्व सम्पूर्ण सत्य और सापेक्षिक सत्य का अन्तर समझता है। हिंदू धर्म और हिन्दू जाति असाधारण रूप से सहनशील है। हिन्दू सब का आदर करता है। हिन्दुत्व मायावाद, कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म को मानता है। वह विवाह को धार्मिक कर्त्तव्य और पति पत्नी को जन्म जन्मान्तर का साथी मानता है। हिन्दुत्व आज भी सोत्तरत्रात्मक है। उसमें सबके लिये जगह है। हम "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" को आज भी मानते हैं। भक्ति को सर्वोपरि मानते हैं। आपत्ति में भगवान की ओर देखते हैं। मन्दिर, मूर्ति, वेद शास्त्र, पुराण, स्मृति, ज्ञान, भक्ति, माता पिता गुरु, गुरुजन का आदर और उनके आज्ञापालन, शम, दम, निष्कामता, तितिक्षा, योग, निवृत्ति मार्ग, आध्यात्मिकता, आदि को हम अपने धर्म का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। उपनिषद् और दर्शन शास्त्र के ज्ञाता उच्च श्रेणी के थोड़े लोग ही हैं। सामान्य जनता में अन्धविश्वास है। आधुनिक हिन्दू रीति रिवाजों में आज जो कुछ पाया है उसमें कुछ भाग वैदिक रीति

रिवाजो का है, कुछ योग साधना –पद्धति का है और कुछ वेदान्त दर्शन का है।[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि मे भी वैदिक, यौगिक और वेदान्त का धर्म दर्शन है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, "जन साधारण धर्म अभी भी पौराणिक सनातन धर्म है, जिसके अन्तर्गत अनेक वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदाय चल रहे है। गगा जी का माहात्म्य, तीर्थ स्थानो का महत्व, गोरक्षा की भावना, श्राद्ध तथा धार्मिक व्रत उत्सवो का मनाना इसके मुख्य बाहरी लक्षण हैं। आस्तिकता की भावना, पुनर्जन्म तथा कर्मफल मे विश्वास और जन्मगत बिरादरी व्यवस्था इसके मौलिक सिद्धात कहे जा सकते हैं।

धर्मग्रथों के रूप मे गीता, उपनिषद, भागवत तथा तुलसीकृत रामायण का पाठ पढ़े-लिखो मे होता है ....सर्वसाधारण मे इनका स्थान सत्य नारायण की कथा और कीर्तन ने ले लिया है।"[2] अतुलचन्द्र चटर्जी ने भी रामायण और महाभारत को सामान्य हिन्दू जनता के धार्मिक आदर्शों का आधार माना है।[3] तुलसीदास विशेष रूप से मान्य हैं। हमारे सारे धार्मिक अनुष्ठान पण्डित–पुरोहित ही कराते हैं। इसका एक शुभ परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू धर्म और समाज विघटित होने से बच गया। उच्छृखलता और मनमानी नही होने पाई। पूरे का पूरा साल हिन्दुत्व-विधान के अनुसार व्रतो और त्योहारो से भरा है इनकी पृष्ठभूमि धार्मिक है। सबके पूजा सम्बन्धी कर्मकाण्ड हैं, और विधान हैं। ये भी हमारी सास्कृतिक चेतना के अङ्ग हैं। इन व्रतो और त्योहारो पर सभी ने कुछ न कुछ लिखा है। शायद ही कोई कवि हो जिसने बसन्त पर कुछ न लिखा हो। दीपावली अन्धकार और प्रकाश के अनन्त सौन्दर्य का प्रतीक बनकर कलाकारो की सृजनात्मक प्रतिभा को प्रेरणा देती है। होली यम द्वितीया, राखी, आदि ऐसे ही त्योहार हैं। इसी प्रकार मेले और तीर्थस्थान हैं। हम हिन्दुओ ने महान आत्माओ एव महान साधनाओ से सम्बन्धित स्थानो को भी आदर दिया है। विभिन्न सम्प्रदायो के लोगो ने अपने–अपने सस्थापको, उद्धारको अथवा अपने–अपने सम्प्रदायो के प्रमुख व्यक्तियो से सम्बन्धित स्थानो को बार–बार देखने और प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। मूर्तिपूजा बढी और मूर्तियो की प्रतिष्ठा के लिये मदिर बने। तीर्थ यात्राए होने लगी। ऐतरेय ब्राह्मण और महाभारत से लेकर गाधी और विनोबा तक यात्राओ की परम्परा अखण्ड रही है। आर्य सन्यासियो से लेकर राहुल साकृत्यायन तक ने यात्राओ का महत्व बताया और बढाया

१. "दि कल्चुरल हेरिटेज आफ इंडिया", भाग ४ पृ ४४७–४४८

२. "मध्यदेश–ऐतिहासिक तथा सास्कृतिक सिहावलोकन", पृ० १८८

३ "न्यू इन्डिया", पृ० २८

है। कुछ तीर्थ शिक्षा के महान केन्द्र भी हो गये हैं। अब तो आर्थिक राजनीतिक और साहित्यिक तीर्थ और भवन भी बन गए हैं। सजग जागरुक कलाकार की चेतना इस सांस्कृतिक प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकती। प्रेमचन्द की अनेक कहानियां प्रसाद का "कंगाल' नामक उपन्यास शिव सिंह 'सरोज" की 'आनन्द भवन" शीर्षक कविता, मोहनलाल द्विवेदी का 'सेवाग्राम' कविता-संग्रह, आदि अनेक सफल कृतियां इसी सांस्कृतिक मनोभूमि पर हैं वृन्दावन का साहित्य मे स्थान सूरदास के समय मे था तो "रत्नाकर और गोपाल शरणसिंह के समय म भी है। सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रीयता के प्रेरणा स्रोत के रूप मे 'दिनकर", आदि ने अनेक स्थानों को अपनी कविताओं का विषय बनाया है।

हम पर गलत प्रभाव ऊपर ही ऊपर पड़ा—

उपर्युक्त धर्मों और दर्शनों का हमारे ऊपर असाधारण रूप से प्रभाव पड़ा है। धार्मिकता हमारे जीवन और व्यक्तित्व की नस-नस मे है। प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ने वाली बाहरी जीवन की कुछ बातों (और इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण बातों) के कारण कभी-कभी यह भले ही जान पड़ता हो कि हमने धार्मिकता छोड़ दी है किन्तु वस्तुत ऐसा कुछ है नहीं। धार्मिकता का यह परित्याग केवल कुछ ही समय और क्षेत्र के लिये और वह भी बौद्धिकता के स्तर पर होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो हम आपादमस्तक धार्मिकता म रंगे हैं। धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है, 'निर्णय यह निकलता है कि हम धार्मिक हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते किन्तु इसम कोई भी सन्देह नहीं कि हमारी संस्कृति पर धार्मिकता का चिप्पर-लबिल-लगा है।"[१] यहा बनिये बेईमानी भी भगवान का नाम लेकर करते हैं, विपन्न एव असमर्थों पर सपन्न और समर्थ लोगों के द्वारा होने वाले अन्याय और अत्याचार भी धर्म और भगवान का नाम लेकर ही किये जा सकते है, भगवान का नाम लिखकर परीक्षार्थी प्रश्नोत्तर लिखते हैं और बिना भगवान का नाम लिये वे 'नकल" करने का भी साहस नहीं रखते दूकानदारी का आरम्भ भगवान का नाम लेने और उनकी पूजा करने के बाद ही शुरू होता है। मैं राजनीति शास्त्र के एक ऐसे सज्जन विद्वान को जानता हूँ जिसने अपने निर्देशन मे शोध कार्य करने वाले एक मेधावी छात्र का शोध प्रबन्ध 'साइत बिचरवाकर विश्व विद्यालय म परीक्षणार्थ जमा करवाया था। भगवान की कृपा से ही परीक्षा मे उत्तमोत्तम श्रेणी मिलती है अच्छी-अच्छी नौकरियाँ मिल सकती हैं लड़की के लिये अच्छा वर मिल सकता है मुकदमे जीते जा सकते हैं, बीमारियां अच्छी की जा सकती हैं और क्रिकेट मैच जीता जा सकता है। मैंने इजी

१. 'माडन इंडियन कल्चर, पृ० ६

नियरो, बैरिस्टरो न्याय मूर्तियो एव विज्ञान के आचार्यों तक का अपने-अपने व्यवसाया के आदि को एव सफलताओं को भगवान जी या हनुमान जी के 'परसाद' से अनुप्राणित, अनुप्रीति एव पुलकित करते हुए सुना है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, "... अधिकाश नामो पर धार्मिकता की छाप (है)....... अपने देश पर धार्मिकता, विशेषतया पौराणिक और भक्ति-सम्प्रदायो की छाप इस बीसवीं शताब्दी मे भी कम नहीं हुई है ... .रामप्रसाद त्रिपाठी का डा० पी० त्रिपाठी हो जाना तो केवल इतना ही जतलाता है कि त्रिपाठी जी ने धोती-चादर छोडकर समय की आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है।"[1] अस्तु, धार्मिकता हमारे कण-कण में रमी है। जितना धार्मिक सस्कार अनेक अन्य देशो के लोग जीवन भर साधन करके प्राप्त करते हैं उतना सस्कार यहा के अशिक्षित व्यक्ति को भी बहुधा पैतृक अधिकार के रूप मे आपसे आप प्राप्त हो जाता है। आज के हिन्दू की यह बडी विचित्र स्थिति है कि उसका मस्तिष्क भी सक्रिय है और उसके पुराने धार्मिक एव दार्शनिक सस्कार भी सक्रिय। भगवान का नाम लेकर कार्य प्रारम्भ करेगा। फिर भगवान को भूलकर अजर-अमरवत् ईमानदारी-बेईमानी आदि सब उपाय लगाकर सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। सफल होना तो "परसाद" चढायगा, असफल होगा तो भाग्य को दोष देकर कुछ दिनो मे सबकुछ भूल जायगा। मौत और असफलता को पराजित करने की कुजी हमारे हाथ से अभी गई नही है।

प्रगतिशील हिन्दुत्व और उसका प्रभाव—

आर्नल्ड ट्वायन्बी ने लिखा है, 'मेरा विश्वास है कि पश्चिमी दृष्टिकोण-या आधुनिक दृष्टिकोण-बिना किसी विरोध के प्राचीन सभ्यताओ पर विजय प्राप्त करने जा रहा है। सभवत: भारत में परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व अन्तिम मोर्चा ले।"[2] आर्नल्ड साहब यहीं चूक गये। अन्तिम मोर्चा "परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व" नहीं लेगा, *प्रगतिशील उदार हिन्दुत्व लेगा*। खुद तो जीतेगा मगर आधुनिक दृष्टिकोण को हारने न देगा। समन्वय होगा। जैसे चाद मेघ घेरे में चमकता है वैसे हिंदुत्व प्रलय की घडियों में निखरता एव प्रदीप्त होता है। राष्ट्रवाद की भूमिका मे हिन्दुत्व ने जिस सफाई और सफलता के साथ अपना रूप और प्रभाव बदला है वह दर्शनीय है। उसकी बन्दूक का रुख किसी ओर और होता है, गोली कहीं और लगती है और पूरा हो जाता है अदृश्य लक्ष्य। स्वामी दयानन्द प्रचलित हिन्दू धर्म का सुधार करना चाहते थे, उपदेश दिया उन्होंने वेदों की ओर लौटने का, और आर्यसमाज-मन्दिरों से स्वतन्त्रता

१ 'विचारधारा",

२. "दि एशिया मैगजीन", २६ अप्रैल, १९६२ वाला अक।

है। कुछ तीर्थ शिक्षा के महान केन्द्र भी हो गये हैं। अब तो आर्थिक राजनीतिक और साहित्यिक तीर्थ और भवन भी बन गए हैं। सतत जागरूक कलाकार की चेतना इस सांस्कृतिक प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सकती। प्रेमचन्द की अनेक कहानियां, प्रसाद का कंगाल'' नामक उपन्यास, शिव सिंह "सरोज" की 'आनन्द भवन'' शीर्षक कविता, माहनलाल द्विवेदी का 'सेवाग्राम कविता-संग्रह, आदि अनेक सफल कृतियाँ इसी सांस्कृतिक मनोभूमि पर हैं वृन्दावन का साहित्य मे स्थान सूरदास के समय मे था तो ''रत्नाकर' और गोपाल शरणसिंह के समय मे भी है। सांस्कृतिक जागरण और राष्ट्रीयता के प्रेरणा स्रोत के रूप मे 'दिनकर', आदि ने अनेक स्थानों को अपनी कविताओं का विषय बनाया है।

हम पर गलत प्रभाव ऊपर ही ऊपर पड़ा—

उपर्युक्त धर्मों और दर्शनों का हमारे ऊपर असाधारण रूप से प्रभाव पड़ा है। धार्मिकता हमारे जीवन और व्यक्तित्व की नस-नस मे है। प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ने वाली बाहरी जीवन की कुछ बातों (और इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण बातों) के कारण कभी-कभी यह भ्रम हो जान पड़ता हो कि हमने धार्मिकता छोड़ दी है किन्तु वस्तुतः ऐसा कुछ है नहीं। धार्मिकता का यह परित्याग केवल कुछ ही समय और क्षेत्र के लिये और वह भी बौद्धिकता के स्तर पर होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो हम आपादमस्तक धार्मिकता मे रंगे हैं। धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी ने लिखा है, 'निर्णय यह निकलता है कि हम धार्मिक हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते, किन्तु इसमे कोई भी सन्देह नहीं कि हमारी संस्कृति पर धार्मिकता का चिप्पक-लेबिल-लगा है।''[१] यहां बनिये बेईमानी भी भगवान का नाम लेकर करते हैं विपन्न एवं असमर्थों पर सपन्न और समर्थ लोगों के द्वारा होने वाले अन्याय और अत्याचार भी धर्म और भगवान का नाम लेकर ही किये जा सकते है, भगवान का नाम लिखकर परीक्षार्थी प्रश्नोत्तर लिखते हैं और बिना भगवान का नाम लिये वे "नकल" करने का भी साहस नहीं रखते, दूकानदारी का आरम्भ भगवान का नाम लेने और उनकी पूजा करने के बाद ही शुरू होता है। मैं राजनीति शास्त्र के एक ऐसे सज्जन विद्वान को जानता हूँ जिसने अपने निर्देशन मे शोध कार्य करने वाले एक मेधावी छात्र का शोध प्रबन्ध 'साइत' विचरवाकर विश्व विद्यालय में परीक्षणार्थ जमा करवाया था। भगवान की कृपा से ही परीक्षा मे उत्तमोत्तम श्रेणी मिलती है, अच्छी-अच्छी नौकरियाँ मिल सकती हैं, लड़की के लिये अच्छा वर मिल सकता है, मुकदमे जीते जा सकते हैं बीमारियां अच्छी की जा सकती हैं और क्रिकेट मैच जीता जा सकता है। मैंने इन्जी

---

१. 'माडर्न इण्डियन कल्चर", पृ० ६

नियरो, बैरिस्टरो, न्याय मूर्तियो एव विज्ञान के आचार्यों तक का अपने-अपने व्यवसायों के आदि को एव सफलताओ को भगवान जी या हनुमान जी के 'परसाद' से अनुप्राणित, अनुप्रीति एव पुलकित करते हुए सुना है। धीरेन्द वर्मा ने लिखा है, " ... अधिकाश नामो पर धार्मिकता की छाप (है)...... " अपने देश पर धार्मिकता, विशेषतया पौराणिक और भक्ति-सम्प्रदायो की छाप इस बीसवी शताब्दी मे भी कम नही हुई है... ......रामप्रसाद त्रिपाठी का आर० पी० त्रिपाठी हो जाना तो केवल इतना ही जतलाता है कि त्रिपाठी जी ने धोती-चादर छोडकर समय की आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है।"[१] अस्तु, धार्मिकता हमारे कण-कण मे रमी है। जितना धार्मिक सस्कार अनेक अन्य देशो के लोग जीवन भर साधन करके प्राप्त करते हैं उतना सस्कार यहा के अशिक्षित व्यक्ति को भी बहुधा पैतृक अधिकार के रूप मे आपसे आप प्राप्त हो जाता है। आज के हिन्दू की यह बडी विचित्र स्थिति है कि उसका मस्तिष्क भी सक्रिय है और उसके पुराने धार्मिक एव दार्शनिक सस्कार भी सक्रिय। भगवान का नाम लेकर कार्य प्रारम्भ करेगा। फिर भगवान को भूलकर अजर-अमरवत् ईमानदारी-बेईमानी आदि सब उपाय लगाकर सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। सफल होना तो "परसाद" चढायेगा, असफल होगा तो भाग्य को दोष देकर कुछ दिनो मे सबकुछ भूल जायगा। मौत और असफलता को पराजित करने की कुजी हमारे हाथ से अभी गई नही है।

प्रगतिशील हिन्दुत्व और उसका प्रभाव—

आर्नल्ड ट्वायन्बी ने लिखा है, 'मेरा विश्वास है कि पश्चिमी दृष्टिकोण-या आधुनिक दृष्टिकोण-बिना किसी विरोध के प्राचीन सभ्यताओ पर विजय प्राप्त करने जा रहा है। सभवत भारत में परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व अन्तिम मोर्चा ले।"[२] आर्नल्ड साहब यहीं चूक गये। अन्तिम मोर्चा 'परम्परागत कट्टर हिन्दुत्व" नही लेगा, प्रगतिशील उदार हिन्दुत्व लेगा। खुद तो जीतेगा मगर आधुनिक दृष्टिकोण को हारने न देगा। समन्वय होगा। जैसे चाद अघेरे मे चमकता है वैसे हिन्दुत्व प्रलय की घडियो मे निखरता एव प्रदीप्त होता है। राष्ट्रवाद की भूमिका में हिन्दुत्व ने जिस सफाई और सफलता के साथ अपना रूप और प्रभाव बदला है वह दर्शनीय है। उसकी बन्दूक का रुख किसी ओर ओर होता है, गोली कहीं और लगती है और पूरा हो जाता है अदृश्य लक्ष्य। स्वामी दयानन्द प्रचलित हिन्दू धर्म का सुधार करना चाहते थे, उपदेश दिया उन्होंने वेदों की ओर लौटने का, और आर्यसमाज-मन्दिरों से स्वतन्त्रता

---

१ 'विचारधारा",

२. 'दि एशिया मैगजीन", २६ अप्रैल, १९६२ वाला अक।

के प्रदीप्त प्रकाश को पान के लिये निकले लाखों शलभ। संध्या-वन्दन करने वाले कण्ठों से उद्भूत वेद-मन्त्रों की स्वर-लहरी क्रान्ति की अमरता का सबल घोष, वैतालिक का स्वर एवं खगों का कलरव निनाद बन गई। कह नहीं सकते कि स्वामी दयानन्द ने यह सपना देखा था या नहीं किन्तु विवेकानन्द का 'गैरिक वस्त्र' स चत' राष्ट्रवादियों के त्याग-बलिदान-फांसी की ज्वाला की लाल लपटों को अपने अन्दर जहर छिपाये था। धर्म राष्ट्रीयता के अभियान-रथ की ध्वजा बना। कारण-सूत्र सरल है। धर्म या दर्शन का लक्ष्य है आत्मकल्याण या आत्मस्वरूप की प्राप्ति और वह परतन्त्रता में सभव नहीं। इस दृष्टि से राजनीतिक परतन्त्रता सबसे अधिक भयानक है। इसीलिये कर्मयोगी महात्मा स्वतन्त्रता की सेना का अधिनायक हो गया। इस प्रकार धर्म और राजनीति एक ही सूत्र के दो छोर बन जाते हैं। पराधीन भारत की दो बीमारियां बड़ी भयानक थीं —छुआछूत और फिरका परस्ती ये आजादी की प्राप्ति में बाधक थीं। ध्यान से देखे तो इनके लिये धर्म में भी कोई आदरणीय स्थान नहीं हो सकता। मोतीलाल नेहरू का यह कथन इस दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, "एक सच्चा हिन्दू छुआछूत और फिरका-परस्ती को नहीं मानता।"[1] चूंकि धर्म और राजनीति दो पृथक् तत्त्व नहीं हैं इसलिये दोनों का उदय एक ही मानस के अन्दर और साथ ही साथ हो सकता है। अरविन्द का यह कथन इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, "मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन यह है कि मेरा दृढविश्वास है कि भगवान ने जो गुण, जो प्रतिभा, जो उच्च शिक्षा और विद्या, जो धन दिया है, वह सब भगवान का है। जो कुछ भरण-पोषण में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है उसी को अपने लिये खर्च करने का अधिकार है। उसके बाद जो-कुछ बाकी रह जाता है उसे भगवान को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब-कुछ अपने लिये, सुख के लिये, विलास के लिये खर्च करूं तो मैं चोर कहलाऊंगा ...दूसरा पागलपन हाल में ही सवार हुआ है। पागलपन यह है कि चाहे जैसे हो, भगवान का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा ...... तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को जड़ पदार्थ कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी भर जानते हैं, मैं स्वदेश को मां जानता हूं, भक्ति करता हूं, पूजा करता हूं ...... "मैं जानता हूं कि इस पतित जाति का उद्धार करने का बल मेरे अन्दर है ... ..."[2] इससे धर्म-दर्शन से प्रेरणा लेकर हमारे देशभक्त उपेक्षा की उपेक्षा कर सकें, कठिनाइयों में भी मुस्करा सके, आत्मविश्वासी और साहसी बन सकें, अकेले में भी घबड़ाये नहीं, धोखेबाजों और दगाबाजों के कारण वे पस्त नहीं

---

१. "मोतीलाल नेहरू जन्मशताब्दी स्मृति ग्रन्थ", पृ० २०३।

२. "अदिति", अरविन्द विशेषांक, १९५१ ई०

हुए, किसी से डरे नहीं बलिदानी-कष्ट-सहिष्णु-असीम विश्वासी, और अद्भुत-दृढ़चित्त वाले बन सके और उनकी साधना आत्म-समर्पण-योग-रूप पा सकी।
शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है "भारत की छाती पर जो यह महान आन्दोलन हो चुका और हो रहा है यह उन्हीं (भगवान) की इच्छा से हुआ और हो रहा है, हम लोगों का यही विश्वास है।"[१]

आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप मे—

इस प्रकार के धर्म और दर्शन की पृष्ठभूमि में हमारी जनता का एक विशिष्ट मानस विनिर्मित हुआ और ऐसे विशिष्ट मानसवाली जनता के कुछ सच्चे प्रतिनिधियों ने आधुनिक हिन्दी साहित्य का निर्माण किया है।

इस प्रकार इस आधुनिक धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के समन्वित स्वरूप की नींव पर हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य प्रणीत हुआ। इन साहित्यिकों में से अधिकांश असाधारण प्रतिभा से सपन्न नहीं थे न उनके पास बहुत सी सम्पत्ति या अतुल वैभव था, सुशिक्षित वर्ग ने उनका उत्साहवर्द्धन भी नहीं किया और न वे ऋषि मुनि थे। वे समाज के साधारण प्राणी थे। अधिकांश गरीब थे। फिर भी आतंकवादी क्रान्तिकारियों की भांति उन्होंने त्याग बलिदान किया। बाह्य परिस्थितियों की विरोधियों और प्रतिकूलताओं की, अन्यायों और अत्याचारों की विषमताएँ बर्दाश्त कीं। खून और पसीने से, पत्नी और बच्चों की दलित आशाओं, उमगों और इच्छाओं से, आहों और कराहों से, अपनी खीझों और झुंझलाहटों से एक गौरवपूर्ण साहित्य का प्रणयन किया। 'निराला' ने सब कुछ "स्वाहा" कर दिया, पंत और महादेवी ने एकाकी जीवन बिताया, प्रेमचन्द ने फाके किये, रामचन्द्र शुक्ल टूटे इक्के पर चढ़े, श्यामसुन्दर दास बीमारियों से जूझे, महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दो ढाई सौ की नौकरी छोड़कर तीस पर गुजारा किया और अन्त मे आंख की ज्योति खो बैठे, 'बच्चन' ने झालरापाटन के महाराज का राजकवि होना छोड़कर सहगल की डांट फटकार और अनीतियां सहीं। जैसे भारत देश माता हो गया था वैसे ही हिन्दी भी माता हो गई। सेवा की लगन थी, निर्माण का उत्साह था। यदि प्रश्न किया जाय कि इन सब को ऐसा असाधारण मनोबल कहां से मिला तो इसका एक मात्र उत्तर होगा हमारे धर्म से, दर्शन से, हमारे सांस्कृतिक साहित्य से। उसने इनको मनोबल भी दिया और लिखने के लिये विषय भी दिये और हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य भी आस्था, विश्वास और जीवन के महत्वपूर्ण मूल्यों का साहित्य हो गया। उसका आधार चतुर्दिकव्याप्त विभिन्न वातावरण, तदनुरूप कर्म सनातन विश्वास,

१ बन्दीजीवन', भाग १, पृ १०।

नव आदर्शों के प्रति जागरूकता, मानवता का शाश्वत रूप और राष्ट्र प्रेम अधिक है। इनका मूल, श्रोत है विभिन्न धर्मों और दर्शनों का समन्वित स्वरूप। गुलाबराय ने लिखा है,[1] "हमारे कवियों ने अधिकांश में भारतीय विचारधारा का आश्रय लिया है किन्तु वर्तमान भारत पूर्व और पश्चिम के विचारों का मिलन विन्दु रहा है। योरोप के कुछ विचार तो भारतीय परम्परा से मेल खाते थे। और उन्होंने उनको पुष्ट भी किया और कुछ स्वतन्त्र तेल और पानी की तरह अलग रहे। प्राचीन परम्पराओं में तो शांकरवेदान्त और वैष्णव भक्तिमूलक द्वैतता अथवा अद्वैतता का समन्वय रहा, वैष्णव सम्प्रदायों में वल्लभाचार्य और रामानुजाचार्य का प्रभाव अधिक रहा है। शैव आगम यद्यपि कम पढ़े गये- तथापि काशी में उनका भी प्रभाव रहा। राष्ट्रीय भावना ने बौद्धधर्म को कुछ अधिक पोषण दिया। कुछ तो बौद्धधर्म का दुःखवाद तत्कालीन परिस्थितियों में उत्पन्न निराशावाद से अधिक मेल खाता था और बौद्धधर्म के नाते चीन, जापान और एशियाई देशों से हमारा घनिष्ठ सबंध स्थापित हो जाने की सम्भावना हो जाती है। धार्मिक क्षेत्र में अद्वैतवाद की पुष्टि करने वालों में रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द घोष, स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ मुख्य हैं। ब्रह्मसमाज ने भी उपनिषदों की अद्वैत विचारधारा को अग्रसर किया। स्वामी दयानन्द ने द्वैतवाद वैर्या, त्रैतवाद का समर्थन किया। उन्होंने ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को स्वतन्त्र माना। इन देशी प्रभावों के अतिरिक्त हेगिल का आध्यात्मिक सर्वात्मवाद और मार्क्स का भौतिक द्वन्द्वात्मक तर्कवाद हमारे शिक्षित युवक मन को आकर्षित करता रहा है। शमशेर बहादुर सिंह का कथन है, 'अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित धर्म सबंधी बहुत से नये दृष्टिकोण मैथिलीशरण जी के समय तक हिन्दू के संस्कार में घुलमिल गये थे।[2]...... हिंदुओं में चारों ओर "वैदिक युग". और "आर्यसभ्यता" की गूंज सुनाई पड़ती थी। बहुत कुछ मनुस्मृति का सनातनी पक्ष भी लिये हुए एक प्रगतिशील समन्वय के रूप में "भारतभारती" उसी की प्रतिध्वनि है।[2] कमलाकान्त पाठक ने 'मैथिली शरण—व्यक्ति और काव्य" में लिखा है, "गुप्त जी विशिष्टाद्वैतवादी हैं ......पर यह भी सत्य है कि उनके काव्य का वर्ण्य विषय जीवन की कर्मण्यता है, उत्थान चेष्टा है, भक्ति और वैराग्य की निवृत्तिमूलक भावना नहीं।[3] तात्विक दृष्टि से वे उदार वैष्णव भक्त हैं। रामानुज का

---

१. "अध्ययन और आस्वाद", पृ० २५९—२६०।

२. 'दो आब", पृ० १८।

३. 'मैथिलीशरण—व्यक्ति और काव्य", पृ० ७६

विशिष्टाद्वैत उनमे हैं। वे जीव और ब्रह्म की स्थिति को कुछ अंशों में निश्चय ही पृथक मानते हैं। राम ब्रह्म हैं, सीता माया। परमात्मा लीलाधाम है। भक्तवत्सल है। वे बन्धनो मे ही मर्यादा देखते हैं। दासोऽहं ही मोक्ष है।

उन पर भारतीय चिन्तन, रामकृष्ण और विवेकानन्द की सांस्कृतिक जागृति, और उनके मानवतावादी मूल्यो, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता की भावना, तिलक की राष्ट्रीयता, मिल और स्पेन्सर की लोकसत्ता और सामाजिक समता की भावनाएँ, अरविन्द घोष के अध्यात्मवादमूलक क्रान्ति पूर्ण राष्ट्रवाद, विज्ञानमयी सभ्यता के बुद्धिवाद मानवतावाद आदर्शों, नारी के प्रति प्राच्य उदात्त भाव, कान्टे के उपयोगितावाद, टालस्टाय के मानवतावाद, वैष्णववाद की "सवभूतहित रता" की भावना, बुद्ध की करुणा-मैत्री और रामायण तथा महाभारत, आदि का प्रभाव देखा जा सकता है। इसी प्रकार "हरिऔध" मे भारतीय धार्मिक विश्वासो और दार्शनिक मान्यताओ के सुन्दर स्वरूप मिलते हैं। ब्रह्म की एकता एवं व्यापकता (अद्वैतवाद या अभेदवाद), ब्रह्म का विश्वरूप होना, जीव की कर्मानुसार गति-प्राप्ति, ससार की परिवर्तनशीलता, नैतिक व्यवस्था, अज्ञान या अविद्या को बन्धन का कारण समझना, श्रेय के साधन के रूप मे निष्काम कर्म, लोकसेवा, सात्विक जीवन, उच्च विचार, आत्मोत्सर्ग, विश्व-बन्धुत्व, परोपकार, निष्कामभक्ति, निःस्वार्थ सेवा, कर्त्तव्यपरायणता, आत्मसाक्षात्कार को या लोकहित को जीवन के चरम लक्ष्य के रूप मे मानना, आदि मिलता है। तन्मयता के कारण राधा का प्रेम विश्वप्रेम मे बदल जाना है इनमे से कुछ तो शुद्ध भारतीय दर्शन और चिन्तन की बातें हैं, जैसे जीव की कर्मानुसार गति, आदि और कुछ विदेशी होते पर भी अपनी धारणा के अनुरूप होने के कारण अपना ली गई हैं, जैसे "लोकहित" आदि। रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियां हैं उन सबके मूल रूप हमें उपनिषदोंकी विचारधारा में प्राप्य हैं। प्रसाद और महादेवी मे प्रणय-प्रधान-रहस्यवाद है। मैथिलीशरण गुप्त मे भक्तिपरक सगुण रहस्यवाद की झांकियां मिल जाती हैं। रामकुमार वर्मा मे वेदान्त की पृष्ठभूमि पर ज्ञानमूलक रहस्यवाद मिलता है। निराला मे शुद्ध दार्शनिक रहस्यवाद है। वे विशुद्ध अद्वैतवादी हैं। वे मायावाद की ओर अधिक झुके हैं। नन्द दुलारे वाजपेयी ने लिखा है, "प्रसाद जी ने शैवागम से ही इस सर्ववाद मूलक आनन्दवाद को ग्रहण किया।"[1] वे शैव अद्वैतवाद से प्रभावित हैं अर्थात् यह कि "एक : सत्ता पूरितानन्द रूप पूर्णो व्यापी वर्तते नास्ति किंचित्" (शिवसंहिता)। अस्तु, प्रसाद का आनन्दवाद (शैव-दर्शन से), समरसता (शैव-दर्शन से), श्रद्धा (सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति का प्राण), इडा या कामपुत्री (वेद-भारतीय साहित्य से), भूमा

---

१. आधुनिक साहित्य पृ ६४

(उपनिषद् से), आदि भारतीय दर्शन की देन हैं। नाटकों में बौद्ध दर्शन और अन्य कविताओं मे वेदान्त के तत्व हैं। गीता का "श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं" कामायनी मे चरितार्थ है। "कामायनी" मे परमाणु वाद या मार्क्सवाद, आदि के भी प्रभावों की छाया है। योग-दर्शन तो है ही। पन्त जी ने अपने को अरविन्द के जीवन-दर्शन से प्रभावित भी माना है[1] और लिखा है, "... ... श्री अरविन्द के सम्पर्क से मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका ऐसा मेरा अनुभव है।"[2] पन्त के ऊपर उपनिषद अद्वैतवाद, मार्क्सवाद, विवेकानन्द, अरविन्द और गांधी का प्रभाव है। पन्त ने लिखा है, "..........अनेकानेक प्रकार की धार्मिक, नैतिक दार्शनिक, सामाजिक जिज्ञासाएँ प्रखर प्रश्नो का रूप धारण करके मेरे मन को तीक्ष्ण तीरों की तरह बेधा करती और अपने हृदय के अज्ञात घावो में मरहम लगाने के अभिप्राय से मैं अनेक प्रकार के ग्रंथों-उपनिषद, गीता, रामायण, रामकृष्ण वचनामृत, विवेकानन्द, रामतीर्थ, पातंजलि योगवाशिष्ठ रस्किन, टालस्टाय, कार्लाईल, थोरो, इमरसन आदि अनेक विचारकों का गम्भीर ध्यानपूर्वक पारायण करने लगा।[3] .. ...मुझे स्मरण है, जब दर्शन ग्रंथों, टालस्टाय की पापपुण्य की धारणाओं, तथा शङ्कर भाष्य भर्तृहरि, आदि के जीवन-निषेध भरे निर्मम प्रभावों से मेरा हृदय हिमशिलाखंड की तरह जमकर कठोर विपण्ण तथा रसशून्य हो गया था और मुझे उन्निद्र रोग रहने लगा था तब बाइबिल की सहज प्रेमसिक्त जीवन मधुर अन्तर्दृष्टि भरी सूक्तियों से मुझे बड़ी सान्त्वना तथा शांति मिलती थी।[4] .. ...किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जो पश्चिमी आदर्शवादी विचारधारा को आघात लगा तथा रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जिस नवीन सामाजिक यथार्थ की धारणा की ओर धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होने लगा और साथ ही वैज्ञानिक युग ने हमारे मध्ययुगीन निषेधात्मक दृष्टिकोण के विरोध, मे जिस नवीन भावात्मक दर्शन (फिलासफी आफ पाजिटिविज्म) को जन्म दिया उस सब की सम्मिलित प्रतिक्रिया स्वरूप विश्व जीवन तथा मानव जीवन के प्रति मेरी आस्था तथा आशा बढ़ती गई[5]... ...मेरे कवि-हृदय को नवयुग मंगल के लिये एक सर्वाङ्गपूर्ण रससिद्ध चैतन्य की खोज थी।"[6] कहने को तो यह एक व्यक्ति की कहानी है किन्तु वस्तुत यह सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य की धार्मिक-दार्शनिक

---

१. "उत्तरा", पृ. १६
२. "साठ वर्ष—एक रेखाकन", पृष्ठ ३६
३ "साठ वर्ष—एक रेखाकन", पृ. ३६
४. वही, पृ. ३६
५. वही, पृ. ४८—४६
६ वही, पृ. ५२

पृष्ठभूमि की सही झाकी प्रस्तुत करती है। पन्त जी सारे सौर मंडल को एक ही चित् शक्ति का प्रकाश और प्रसार मानते हैं। फिर भी कभी-कभी इनमें अद्वैतता की ओर *झुकाव अधिक दिखाई पड़ता है। उनके अनुसार मूल सत्य शुद्ध चैतन्य है।* वे स्थिर सत्ता और उसकी चेतनाशक्ति अर्थात् शिव और शक्ति को मानते हैं। वे अचल से गति का उदय मानते हैं। उनके अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि या परिवर्तन आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अरविन्द के समान वे भी मानते हैं कि पदार्थ से प्राण, प्राण से मन, मन से अति मन, और वहां से सच्चिदानन्द की प्राप्ति जगत के प्राण का आरोहण है और इसके विपरीत गति अवरोहण है।

उनके अन्दर मानव और प्रकृति का तादात्म्य भी मिलता है। माया सच्चि-दानन्द की सृजनात्मिका शक्ति है। जग को वे अनित्य मानते हैं ("अनित्य जग" कविता)। "एकतारा" और 'नौका बिहार' पर उपनिषदों के अध्ययन का प्रभाव देखा जा सकता है। 'एकोऽहं बहु स्याम' का संकेत है। उनमें कोरे अध्यात्मवाद का भी खंडन है और कोरे भौतिकवाद का भी। वहां अध्यात्मवाद और भूतवाद में, *गांधी और मार्क्स म समन्वय है। "गुंजन" में आध्यात्मिकता का निखार और परि-*मार्जन है। "पल्लव" मे दार्शनिक उड़ानें (भारतीय दार्शनिक धारणाओं सबंधी) हैं। "वीणा" में प्रकृति के प्रति और आदर्श के प्रति मोह है। महादेवी वर्मा ने स्वीकार किया है कि बचपन मे ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके दर्शन से उनका परिचय हो गया था। उनके दुःखवाद मे वेदान्त अद्वैतवाद और सर्वात्मवाद एवं बौद्ध दर्शन का अद्भुत समन्वय है। इतने पर भी वह बौद्धिकस्तर पर ही है। निराला की दार्शनिक चिन्तन पद्धति पर विवेकानन्द का प्रभाव है। वे शंकर के अद्वैतवाद के समर्थक होकर भी व्यावहारिक दृष्टि से जगत का मिथ्यात्व नहीं स्वीकार करते। प्रसाद मे भारतीय दर्शन का स्वर अधिक मुखरित है। रामकुमार वर्मा के काव्य का भारतीय स्वरूप उन्हीं के शब्दो मे इस प्रकार देखा जा सकता है, "आलिंगन की उष्णता और चुम्बन की मादकता भरे रीति कालीन साहित्य की रंगशाला में मेरा काव्य तपस्वी की भांति बैठा रहा ....अपने अन्त करण का सहज वस्त्र धारणकर मेरा काव्य ज्योति का आह्वान ही करता रहा .... मैं जब कभी आत्मविश्लेषण करने बैठता हूं तो यही ज्ञात होता है कि सम्भवतः इसी पवित्र अनुभूति में मेरे काव्य मे रहस्यवाद की प्रेरणाएं जाग उठी होंगी...... लेकिन अपने पवित्र क्षणों—"सम्भवतः" कबीर के काव्य के प्रभाव में धीरे धीरे अन-जाने ही दार्शनिक हो चला था।"[1]

---

१. "अनुशीलन",

वस्तुत जिन प्रभावों ने गांधीवाद को जन्म दिया उन्हीं ने छायावाद को भी जन्म दिया है। इनका मूल दर्शन एक ही है—यानी भारतीय दर्शन का सर्वात्मवाद। 'दिनकर' ने लिखा है, "राममोहन राय, विवेकानन्द, तिलक, और गांधी के समान हम छायावाद कालीन कवियों में भी वेद और उपनिषद के कुछ सनातन सूत्रों को पूर्णरूप में जीवित पाते हैं, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति के लिये ये कवि पाश्चात्य शैलियों की ओर बड़े ही ममत्व से देख रहे थे।"[1] पन्त ने भी छायावाद को भारतीय जागरण की चेतना के सर्वात्म मूलक कैशोर समारम्भ से उद्भूत एक विशिष्ट भावात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यंजना के रूप में ही सफल माना है।[2] छायावाद में संसार भगवान का विराट है। उनमें हममें पूर्ण एकता है। हम इस ससीम में उस असीम को ही देखते हैं। आज के साहित्य की जो प्रवृत्ति और रुचि है उसका कारण है अंगरेजों की भौतिकता प्रधान विचारधारा और हमारी विचारधारा का संघर्ष। नहीं तो, महादेवी के विचारों के अनुसार 'जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिये जिस अध्यात्म का आह्वान किया काव्य ने सौंदर्य काया में उसी की प्राणप्रतिष्ठा कर दी।[3] नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है कि छायावादी कवियों ने अपने दर्शन के निर्माण में भारतीय दर्शन और जीवन की समृद्धि परम्परा का ही उपयोग किया है।[4] इसी प्रकार उन्होंने लिखा है, 'छायावाद भारतीय आध्यात्मिकता की नवीन परिस्थिति के अनुरूप स्थापना करता है .... आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता ....[5]। उपनिषदों के ब्रह्म, अतीन्द्रिय जीवन, अद्वैतभावना, शैवागम की समरसता और आनन्द भाव में लिपटी हुई बौद्धिक करुणा, आध्यात्मिक सौंदर्य सर्वात्मवाद, अभेददृष्टि, अध्यात्मवाद, आदि की संयमशील साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ ही छायावाद हैं। छायावाद का सांस्कृतिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छायावाद तो प्रकृति का चेतन आधार लेकर चला ही है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है, "आधुनिक युग में सत्य की परीक्षा आरम्भ होने पर लोग अपने अन्तर्जगत की यथार्थ परीक्षा करने के लिये उद्यत हुए तब उन्होंने वहां एक अतीन्द्रिय जगत का आभास

---

१. "काव्य की भूमिका", पृ० ७४।
२. 'चिदंबरा", भूमिका।
३. "साहित्यकार की आस्था", पृ० ४७।
४. "हिन्दी अनुशीलन" —धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ०,५२७।
५. "आधुनिक साहित्य", पृ० ३१६–३२०—३२३।

पाया''''''''' इस रहस्यमय 'जीवन' को 'प्रकट' करने के लिये हिंदी मे वस्तुवाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरम्भ हुई वह कवियो की रचनाओं में छायावाद के नाम से प्रकट हुई।[1] चतुरसेन शास्त्री ने लिखा है, "उपनिषदो के अचिन्त्य, अदृष्ट ब्रह्म तत्व को इस शैली मे चित्रमयी भाषा मे, रूपकल्पना की गई है। इसी परम्परा मे विविध आध्यात्मिक अभिव्यजनाएँ छायावाद के रूप मे अवतरित की गई।[2] निश्चित रूप से किन्तु अपरोक्षत, यह आधुनिक काल मे धर्म और दर्शन का प्रभाव है। 'प्रसाद' और पत आदि मे सर्वात्मवाद है। छायावाद को आध्यात्मिक न मानते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने छायावाद पर पडे हुए प्रभावो का विश्लेषण इस रूप मे किया है, "हा, इसमे सन्देह नही कि छायावाद के कवियों की चेतना मे नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावो के कारण एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था''''''''''आरम्भ से ही उन्होने सूक्ष्म आतरिक मूल्यो को ही महत्व दिया था। और फिर बाद मे तो 'प्रसाद' तथा महादेवी ने भारतीय अध्यात्म दर्शन के सहारे और पत ने देश विदेश के विभिन्न दर्शनो के आधार पर अपनी चेतना को और भी परिशुद्ध एव सस्कृत कर लिया।[3] वे छायावाद का एक बौद्धिक युग की सृष्टि मानते हैं।[4] प्रगतिवाद अपने वर्तमान रूप मे यूरोपीय धर्म दर्शन से उद्भूत हुआ है। भारत मे आकर भी उसका रूप अभी मार्क्सवादी दर्शन का है। प्राचीन विचारो के ही परिणामस्वरूप व्यक्ति का महत्व कम और समाज का अधिक हो गया है। इधर पश्चिम के व्यक्तिवाद के परिणामस्वरूप वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्तियो को भी प्रधानता हुई। प्रगतिवादियो के लिये भौतिक वास्तविकता ने सत्य का, भौतिक वस्तुओ की वृद्धि ने शिव का, और स्वाभाविकता ने सुन्दर का रूप धारण कर लिया। नगेन्द्र ने लिखा है, "फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाडकर उसकी तह मे छिपी हुई कुठाओ का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव प्रवृत्तियो को, जिनमे मुख्य क्षुधा और काम हैं, प्रकृत रूप मे व्यक्त करने से नही घबराते।[5] अस्तु, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, साम्यवाद, फ्रायड, डार्विन, मार्क्स, आदि के तत्वो से प्रगतिवाद बना। भौतिकवाद मूलत. मार्क्स दर्शन से ही प्रभावित है। नगेन्द्र ने प्रयोगवाद की दुरूहता के जो कारण बताये हैं जैसे भावतत्व और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग उपचेतन मन के अनुभव-खण्डो के यथावत चित्रण का आग्रह, काव्य के उपकरणो

१ "मेरा अपनी कथा", पृ ११३

२ "हिन्दी साहित्य का परिचय" पृ० १५२।

3. "आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य की प्रवृत्तियां", पृ० १३।

४. "वही पृ० १४।

५. " "

एव भाषा का एकान्त वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग और (इन सबका मूल कारण) नवीनता का सर्वग्राही मोह,[1] ये सब पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तनों और धारणाओं का परिणाम है।

बाद के कवियों पर मध्य क्रान्तिवाद का प्रभाव है। उसके सबसे महत्वपूर्ण कवि और कथाकार 'अज्ञेय' की साहित्यिक चेतना का निर्माण मध्यों क्रान्तिवादी दर्शन पर है। कथा-साहित्य में जो आदर्शवाद है वह धर्म का ही प्रभाव है। सच बात तो यह है कि आज के हिन्दी साहित्य मे मध्ययुगीन धर्म या धर्म का मध्य युगीन-कर्मकाण्डो वाला-स्वरूप नही मिलता। गुप्त जी के राम पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिये ही आते हैं। हिन्दी कविता का रहस्यवादि साम्प्रदायिक रहस्यवाद नही है। कहानियो और नाटको तथा उपन्यासों में प्राचीन, आदर्शात्मक, चमत्कारप्रधान धर्म नही चित्रित होता। अवतारों के चमत्कारो की बौद्धिक व्याख्या सदगुरु शरण अवस्थी के एकांकियो और सेठ गोविन्द दास कर्तव्य मे अवश्य मिलता है। यशपाल और राहुल सांकृत्यायन तथा पहाडी, आदि पर मार्क्सवाद यथार्थवाद एव भौतिकवाद का प्रभाव असन्दिग्ध है। एकमात्र प्रेमचन्द ही ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने दोनों प्रभावो को पूर्णरूपेण आत्मसात कर लिया था। लक्ष्मी नारायण मिश्र का नाट्य साहित्य यूरोपीय बुद्धिवाद की पृष्ठभूमि पर है। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य यूरोपीय और भारतीय धर्म एव दर्शनो की मिली-जुली पृष्ठभूमि पर निर्मित हुआ है जिसका लक्ष्य है नवीन भारत का उत्थान एव उसकी गौरवमयी परम्परा को अक्षुण्ण रखना।

---

१. "विशाल भारत", अप्रैल, १९५५ ई.

अध्याय—६

नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलन

नीति की आधार शिला—नैतिकता और संस्कृति—हमारी नैतिकता की जड़ें एवं आपत्तिकालीन नैतिकता—नैतिकता की डावाडोल स्थिति—सामने भारी खतरा—सँभलने के प्रयत्न और स्वरूप—अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति से सहायता—गांधी के प्रयत्न—आर्यसमाज का योग—ब्रह्मविद्या समाज का योग—प्राचीन तत्वों और नवीन व्याख्याओं का योग—रामतीर्थ का योग—विवेकानन्द का योग—गांधी की देन—हम पर उनका प्रभाव।

नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलन

नीति की आधारशिला—

इस अध्याय को एक प्रकार से दार्शनिक और धार्मिक पृष्ठभूमि का पूरक ही समझना चाहिए। बात यह है कि हमारे भारत मे दर्शन, धर्म, नीति और आत्मोत्थान परस्पर एक दूसरे से इस प्रकार घुले-मिले हैं कि प्रत्यक्ष जीवन मे उनका एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र अस्तित्व संभव नहीं है समग्रता मे ही उनकी सार्थकता एवं उपयोगिता हृदयगम की जा सकती है। दार्शनिक विवेचन "पदार्थों अर्थात् अस्तित्व के विभिन्न तत्वों के विभिन्न पक्षों, रूपों एवं उनके आपेक्षिक सम्बन्धो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण करके उन्हे स्पष्टत गोचर करके धर्म का एक स्वरूप निश्चित करता है। हम यह जान जाते हैं कि वह कौन-सा तत्व है जो हमे धारण किये है। उसी को "धारण" करके अर्थात् उसी के अनुरूप जीवन बिताकर हम धर्म की व्यावहारिक अथवा जीवन सम्बन्धी रूपरेखा निश्चित करते हैं। जीवन के विभिन्न रूपो एवं उसके विभिन्न क्रिया-कलापों को इस रूप मे अग्रसर करना या ले चलना कि वह धर्म के मूल रूप या तत्व के विपरीत न पड जाय, उसको काटने, उस पर आघात करने, न लग जाय, नीति है। इस प्रकार नीति धर्म से सम्बन्धित हो गई और धर्म सम्बन्धित है दर्शन से। रही आत्मा की बात, तो वह एक ओर दर्शन की चीज है और इस प्रकार धर्म की भी चीज है और दूसरी ओर उसका सम्बन्ध नीति से है। भारतीय धर्म-दर्शन के अनुसार आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिन गुणों का आरोप परमात्मा मे है वे गुण, यदि पूर्ण रूप मे नहीं तो अशरूप मे, जीव में अवश्य हो अर्थात् आत्मा मे प्रत्यक्ष हो। प्रश्न यह है कि आत्मा मे ये गुण हैं या नहीं इसका पता कैसे लगे। तो, यदि सूक्ष्म, अमूर्त, निराकार आत्मा मे ये गुण होगे तो इसका पता उस आत्म-प्रकाश से प्रदीप्त-प्रोज्ज्वल बुद्धि द्वारा प्रेरित और इन्द्रियो द्वारा सम्पादित कार्य-कलाप से चल सकेगा। सूक्ष्म की अभिव्यक्ति सदैव स्थूल द्वारा होती है। इस प्रकार हमारे कार्यों और विचारो से निश्चित होने वाला रूप-गुण और दृष्टिकोण-ही हमारी आत्मा का स्वरूप है। हमारी आत्मा का स्वरूप वह है जो हमारे पूर्णरूप परम आत्मा का है। परम आत्मा का गुण या स्वरूप क्या है? वह सत् रूप है, चित् रूप है और आनन्द रूप है। गांधी जी कहते थे कि परमात्मा सत्य है इसके बजाय यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि सत्य ही परमात्मा है।[1] इसलिये आत्मिक उत्थान का रूप हुआ सत् रूप या सत्य रूप होना अर्थात्

1. अखिल भारतीय आकाशवाणी से शुक्रवार को प्रसारित गांधी-सूक्तियों मे से एक।

असत् से बचना। यही नीति की भी आधारशिला है। परमात्मा रचनात्मक या सर्जनात्मक है। हमारे यहां विनाश या मृत्यु तत्व नहीं है। अक्षमता, अयोग्यता, एव अशक्ति के क्षमता, योग्यता एवं शक्ति मे परिवर्तन की एव जर्जर प्राचीन के सस्फूर्त नवीन मे परिवर्तन की प्रथम प्रक्रिया ही मृत्यु है। मृत्यु का सत् जन्म की पृष्ठभूमि मे है। तो, परमात्मा पूर्णरुपेण विधायक हुआ, रचने वाला हुआ और इसीलिये जीव को भी रचनात्मक होना चाहिये। मतलब यह कि परम आत्मा हिंसावृत्ति का नही है और इसलिए जिसकी आत्मा का उत्थान हो चुका है वह पूर्ण अहिंसक ही होगा और कुछ हो ही नही सकता। परमात्मा अद्वैत है, अभेद है। तो आत्मा का वास्तविक रूप अभेद वाला हुआ। वह अपने मे सबको और सब मे अपने को देखेगा। जब ऐसा होगा तो किसी से भी वैर, हिंसा, प्रतिस्पर्द्धा, घृणा की हो नही जा सकती। तब तो यदि कोई अशुभ एव अवाछित करता है तो दोष आवरण का हुआ, मूल तत्व का नहीं, और इसलिये वैर अपराधी से नही, अपराध से बनेगा। इससे यह निकलता है कि वही आत्मा खरीदार मे है और वही बेचने वाले मे और इसीलिये डाडी मारना, बेईमानी करना, परमात्मा के साथ किया गया अपराध हुआ। परम आत्मा सूक्ष्म तत्व है तो आत्मा सूक्ष्म तत्व हुआ। स्थूल सब का सब तत्व हीन है। लक्ष्य है आत्मा को इतना स्वच्छ दर्पण बना लेना कि परमात्मा उसमे सही और स्पष्टतम रूप से प्रतिबिम्बित हो सके। जब वास्तविक यह है तो फिर तमाम चालबाजिया और बेईमानिया करके उपकुलपतित्व, प्राचार्यत्व, मन्त्रित्व, राज्यपालत्व आदि ले लेने से क्या बनेगा! अस्तु इस एक बात की अनुभूति कर लेने से जो होता है वह है आत्मिक उत्थान और जो निकलती है वह नीति। इस प्रकार नीति का उत्थान आत्मा के उत्थान से मूलत पृथक् नही सिद्ध होता।

नैतिकता और सस्कृति—

स्पष्ट हुआ कि नीति-निर्माण और आत्मस्वरूप की कल्पना मे अपने धर्म और अपनी सस्कृति से बडी सहायता मिलती है बल्कि यो कहें कि ये ही एकमात्र साधन हैं। भीतर है तो आत्मा है, बाहर से सम्बन्धित है तो नीति है। अपने समाज की प्रकृति और प्रगति के अनुसार इनमे परिशोधन एव परिवर्तन हुआ करता है। दोनों जब हाथ मे हाथ डालकर चलते हैं, एक दूसरे को साथ लेकर एव एक दूसरे का साथ देकर चलते हैं तो समतोल-सन्तुलन बना रहता है और विकास, उत्थान तथा कल्याण होता है। हमारे समाज के अन्दर कोई नई बात पैदा हुई, हमने अपने को और अपनो को उसके अनुसार बदला, नई नीति बनी और यह क्रम चला। यह विकास का क्रम है। इससे झटके नही लगते। नीचे की चीज ऊपर या ऊपर की चीज

नीचे नहीं हो जाती। नैतिक सन्तुलन बना रहता है। आत्मा पतनोन्मुखी नहीं होती। जब कोई चीज ऊपर से थोपी जाती है बलात् लादी जाती है, तो नैतिक प्रलय उत्पन्न हो जाती है। आत्म–विस्मरण हो जाता है। दूसरी बात यह है कि सवारियों का मोड समकोण नहीं जानता। गति की दिशा का परिवर्तन आधा–तिहाई वृत्त बनाकर ही होता है। तेज चलती हुई साइकिल को एकबारगी यदि मोडा जाय तो पहिया चकरा जाता है। यदि किसी जाति या समाज की गति–प्रवृत्ति–को रात भर में बदलने की कोशिश की जाती है तो उस समाज या जाति का सन्तुलन बिगड जाता है। एक विचित्र उलझन–भरी परिस्थिति पैदा हो जाती है। आदमी बाह्य परिस्थितियों में इतना उलझ जाता है कि भीतर का आत्मन विस्मृत–उपेक्षित -मृतप्राय हो जाता है। नई परिस्थिति तत्काल हो नई आस्था एव नई नीति का निर्माण कर नहीं पाती और न वह समाज म सबको स्वीकार्य होती है। नई परिस्थिति की माग प्राचीन के अनुरूप या अनुकूल होती नहीं। आदमी सुख और सुविधा चाहता है और नई परिस्थिति में वह सब बड़े ही टेढ़े ढङ्ग से मिलता है। यह टेढा ढङ्ग अनीति और अधर्म वाला हुआ करता है। अपनी मान्यताओं के उल्टे हुआ करता है। इन सबका परिणाम होता है अनैतिकता की वृद्धि, अनात्म भाव, जड दृष्टि, स्थूल मनोवृत्ति एव आत्मा का पतन। एक बार जब यह चल पडता है तो इसे रोककर अभीप्सित वृत्ति के अनुकूल वातावरण की सर्जना के लिए अनेक आन्दोलन चलाने पडते हैं एव अनेक महात्माओं की बलि देनी पडती है। उन्नीसवीं और बीसवीं शती में भारत में यही हुआ।

हमारी नैतिकता की जडें एव आपत्तिकालीन नैतिकता—

सास्कृतिक दृष्टि से देखने पर हमारे नैतिक और आत्मिक पतन की जडें बहुत गहराई में, कई–कई शताब्दियों पीछे की परिस्थितियों में हैं। पीछे कहा जा चुका है कि हिन्दुत्व का वर्तमान स्वरूप गुप्तकाल तक निर्मित हो चुका था। उसके पश्चात् हिन्दुत्व में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ। बात यह है कि धर्म और दर्शन में क्रान्तिकारी परिवर्तन शताब्दियों बाद होते हैं और सजग, सशक्त, प्रगतिशील तथा ऊर्ध्वमुखी जातियों द्वारा होते हैं। पांचवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के बीच भारत का आध्यात्मिक पतन हो चला था। कोई भयानक आधी–तूफान आया नहीं। सुख–चैन के दिन थे। हमारी प्रतिभा शास्त्रों की व्याख्याओं और उलझनों में उलझ गई। जनता का मन पौराणिक हो गया। साधु धर्म को भूल गये। अनेक तन्त्रों और रहस्यमयी साधनाओं का जन्म हुआ। शराब, स्त्री–सभोग, मूढता तथा अन्धविश्वास चारों ओर फैल गये। सन्यासी और बैरागी वह सुख और भोग पाने लगे सामान्य गृहस्थ जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। तभी इस्लाम का आक्रमण हुआ।

इनके अन्दर विजय का तेज था। अनेक देशों को अपने अन्दर समा लेने का अहंकार था। भौतिक शक्ति भी थी। आध्यात्मिक दृष्टि से जर्जर हिन्दुत्व इस्लाम के सांस्कृतिक आक्रमणों का उत्तर प्रत्याक्रमण में दे नहीं सकता था। 'दिनकर' ने लिखा है, "हिन्दुत्व पराजित प्रजा का धर्म था और इस्लाम विजेताओं का ' ...... परिणाम यह हुआ कि अपनी रक्षा के लिये हिन्दुत्व, घोंघे की तरह, सिकुड़ कर अपनी ही खोली में छिपने लगा। जात पाँति के नियम उसने और भी कड़े बना लिये, लड़कियों का बचपन में ब्याह आम बात हो गई एवं छुआछूत की भावना पहले से भी बढ़कर हो गई[1]। यह जकड़बन्दी है – रेजिमेन्टेशन। यह आध्यात्मिक पतन है। यह आत्म-विस्मरण है। हिन्दुत्व एक आपद्धर्म हो गया। उसकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई। हिन्दू बाह्याचारों तक सीमित हो गया। कर्मकाडमात्र को ही हमने धर्म समझ लिया। हम में जड़ता आ गई। इससे आत्मिक उत्थान नहीं होता।

नैतिकता की डाँवाडोल स्थिति—

जब आत्मबल नहीं रह गया तो नैतिक दृढ़ता भी समाप्त हो गई। धर्म जीवन का प्रेरणा स्रोत नहीं रह गया। झूठ, विश्वासघात बेईमानी आदि अनैतिकताएँ सभी जगह पाई जाने लगीं। यह सामान्य जनता की बात है – तुलसी, कबीर, मीरा, राणा प्रताप, शिवाजी आदि की नहीं। तभी आ गया अँगरेजी राज्य और अँगरेजी सभ्यता। अँगरेजी मुहावरों के अनुसार हम कड़ाई से निकल कर आग में जा गिरे। यह नया खतरा पहले से अधिक भयानक था। और इधर, हम अभी सँभल भी नहीं पाये थे। हम पर जो नया आक्रमण था वह अधिक सूक्ष्म, गहराई वाला और व्यापक था। यह खतरा जीवन की धारा की गति को सहसा एक दूसरी ओर मोड़ देने के कारण अधिक भयानक हो गया। अँगरेज शासक था और इसलिये उनके पास यह अधिकार भी था कि वे हमारे जीवन को नये रास्ते पर चलाने का कानून बना सकें और इतनी शक्ति भी न थी कि लोगों को उस रास्ते पर चलने के लिये मजबूर भी कर सकें। उसने एक रास्ता और ऐसा भी निकाल लिया कि उसे इस रास्ते पर चलाने के लिए विशेष प्रयास न करना पड़े बल्कि हम स्वयं ही उस रास्ते पर चल पड़े। यह रास्ता था अँगरेजी शिक्षा का और उसके एक विशिष्ट दृष्टिकोण का। अँगरेज का रहन सहन और उसकी भाषा विजेता का रहन सहन और विजेता की भाषा थी। विजेता शासक की भाषा और उसके रहन सहन का अनुकरण सारी जनता तेजी से करने लगती है। इस पर जब पद, प्रतिष्ठा और पैसे

---

१. 'संस्कृति के चार अध्याय', पृष्ठ २६८।

का लोभ भी हो तो कहना ही क्या ! खुजली में कोढ ! और, अंगरेजों की यह नीति इतनी सफल हुई कि हम अपने रहन सहन और अपनी भाषा का अनादर, अपमान और उसकी क्षमता पर अविश्वास आजादी पाने के सत्तरह वर्षो बाद आज भी करते हैं ! यह आत्म हीनता है और बड़े बड़े पंडितों, विद्वानों, संस्कृत के आचार्यों एवं देश-भक्तों तक में है । अंगरेजों के आने और ये अधिकार हथियाने के पहले हम मध्ययुगीन थे – मन और तन दोनों में । अंगरेजों ने हम पर खण्डित आधुनिकता लाद दी । इतिहासकारों ने मुक्तकण्ठ से और प्रसन्नात्मक स्वर में इसे उनके द्वारा किया गया सुधार कहा है । यह बात विचारशील व्यक्ति की समझ में नहीं आ सकती । अंगरेजों ने एक रात में ही हम आधुनिक बनाना चाहा । परिणाम यह हुआ कि न हम आधुनिक ही हो पाये और न मध्ययुगीन ही रह गये । तन आधुनिक दिखने लगा और मन, सदा हुआ मध्ययुगीन ही रह गया । यह स्थिति बीसवीं सदी के इस उत्तरार्द्ध में भी है । हम विभक्त हो गये, भक्त किसी के न हो सके । यह स्थिति आत्मिक और नैतिक उत्थान की भूमिका नहीं बन सकती । इस आधुनिकीकरण में हम जिस ढंग से धुन कर रख लिया गया वह किसी भी जाति की अत्यंत करुण कहानी हो सकती है । हम पर पश्चिमी शासन पद्धति लादी गई । हम पर पश्चिमी न्याय पद्धति लादी गई । भारतीय गाड़ी के पहिये में पश्चिमी हवा भरी गई, हम अन्दर ज्ञानी तपस्वी और सच्चरित्र का करते थे किन्तु हमें शासक और अधिकारी का आदर सत्कार करना पड़ा । हमारे लिये विद्या का रूप था ज्ञान किन्तु हम विद्या का रूप सर्टीफिकेट में दिखाया गया । हमारी विद्या व्यक्तित्व का विकास करके जीवन को सुखमय बनाती थी किन्तु नई विद्या हमें नौकर बनाने लगी । पहले त्यागी बड़ा आदमी होता था किन्तु अब अत्याचारी, भोगी, विलासी, अनैतिक और चापलूस बड़ा आदमी हो गया । पहले प्रेम सब कुछ था किन्तु अब रुपया सब कुछ हो गया । अंगरेजी व्यवस्था ने देश में भूठ, पाखंड, पैसा, रोब, और नौकरी को सब कुछ बना दिया । शिक्षा से धर्म निकल गया । परिणामतः सुशिक्षित लोग भी धर्मज्ञान की दृष्टि से वैसे ही मूर्ख रह गये जैसे बेपढ़े लोग । धर्मविहीन शिक्षा यानी पतवार विहीन नाव ! संस्कृत पढ़े–लिखे धार्मिक लोग आदर और प्रतिष्ठा के स्रोत नौकरी से वंचित होने लगे । उनमें भी आत्महीनता आ गई । लक्ष्य हो गया येन केन प्रकारेण – धर्म, इज्जत, ईमानदारी आदि बेचकर भी मोटी तनख्वाहों और अधिक अधिकारों वाली नौकरी पाना । इस्लाम ईसाइयत और अंगरेज के अत्याचारों और फिर भी उनकी समृद्धि ने पराजित–पीड़ित जनता की दृष्टि स्थूल कर दी और व्यावहारिक दृष्टि से भगवान पर से उनका विश्वास हट गया । पैसा भगवान हो गया, अधिकारी माई बाप हो गये । "ऊपरी आमदनी"

योग्यता की निशानी हो गई, ईमानदारी का अर्थ मोंदूपना हो गया। परस्पर विरोधी आदर्शों की टकराहट म यह सब तो होना ही था। यह सभव ही नहीं था कि परिणाम इसके अतिरिक्त और कुछ हो सकता। शताधिक वर्षों तक जिस देश ने मानव बुद्धि की योग्यता का एक मात्र आधार विदेशी भाषा को सही लिखना ही माना— काबिल वह है जो अंगरेजी लिख बोल सके— और आज भी यही मानता हो—उस देश का नैतिक और आत्मिक पतन न होगा तो क्या होगा? हम जड हो गये, स्थूल बुद्धि और अध चेतना वाले हो गये, विभक्त व्यक्तित्व वाले हो गये, विभक्त भाषा वाले हो गये, आत्महीनता की प्रवृत्ति वाले हो गये। हम हतात्म और अनैतिक हो गये। दिनकर ने लिखा है, 'भारतवासियों की बुद्धि इतनी जड हो गई थी कि कोई यह सोचता ही नहीं था कि छूआछूत मनुष्यता के प्रति घोर पाप है, कि विधवा विवाह नहीं होने देना नारी जाति के प्रति अन्याय है कि शूद्र और नारी को वे ही अधिकार मिलने चाहिए जो उच्चवर्गों के पुरुषों को प्राप्त हैं। समाज में भ्रूण हत्याएं चलती थी, बालिकाओं का वध चलता था, जहा—तहा सती की प्रथा भी कायम थी और लोग छिपकर नीच जाति की स्त्रियों से भी सबध करते थ। किन्तु इन बातों के खिलाफ समाज में कोई नहीं सोचता था। तीर्थो में व्यभिचार के अड्डे बने थे। किन्तु इन बातों को रोकने वाला कोई नहीं था।'[१] वे फिर लिखते हैं, हिंदुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे जीवन को निःसार मानने लगे थे। अतएव जीवन का अपमान एक ऐसी वस्तु का अपमान था जिसका अस्तित्व नहीं था। अन्याय और न्याय में कोई अन्तर नहीं था और न कोई अत्याचार ही ऐसा था जिसका उत्तर देना आवश्यक हो। यह बडी ही अर्थपूर्ण बात है कि उन्नीसवी सदी से पूर्व भारतीय साहित्य में कोई भी लेखक या कवि ऐसा नहीं हुआ जो यह कहने का साहस करता कि यह अन्याय है और हम इस अन्याय का विरोध करने को आये हैं ...... ।[२] तात्पर्य यह है कि सुप्त और जड हिन्दुत्व की टकराहट जब उत्थानोन्मुखी विदेशी जीवन पद्धति और विदेशी आदर्श अर्थात् आधिभौतिकता से हुई तो भारतीय जीवन और दृष्टिकोण का सन्तुलन बिगड गया। विषमताएं उत्पन्न हुई और हमारा नैतिक तथा आत्मिक पतन हो गया। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'दीर्घकालीन विदेशी शासन के कारण देश को जो सबसे अधिक क्षति पहुँची वह जनता के नैतिक स्तर से सम्बन्ध रखती है। स्वतन्त्र देशों की तुलना में देशवासियों का नैतिक स्तर साधारणतया चरम पतन को

---

१ 'संस्कृति के चार अध्याय' पृष्ठ ४३६।

२ 'वही', पृष्ठ ४४५।

पहुँच गया है।[1] हमने अपनी पवित्रता की जो कसौटी बनाई वह हमारी बुद्धि की जड़ता, दृष्टिकोण की स्थूलता, नैतिक छिछलेपन और सूझ की कमी की द्योतक है। यह कसौटी है खानपान के क्षेत्र मे छूत छात और संस्कारों के क्षेत्र मे बेसमझे कर्मकाण्डो का सम्पादन। खानपान सम्बधी छुआछूत ने तो आफत या रूप धर लिया। भगवान दास ने इसके विषय मे अपने विचार यों प्रकट किये हैं,"........ 'छुओ मत 'छुओ मत" यही पुकार-पुकार कर पवित्रमन्यता और अहंकार का सन्तोष पोषण किया जाता है...... " परस्पर स्नेह और तज्जनित सघ शक्ति की हत्या की जाती है, और दूसरो को निमत्रण दिया जाता है कि ऐसे छिन्न भिन्न हिन्दुओं को रोज जूतियां लगावें।[2] संस्कारों के सम्पादन की जड़ता इतनी हास्यास्पद स्थिति मे पहुँच गई कि शादी होती है सोते हुए बच्चों-बच्चियों या जाहिल युवक युवतियों की और दूल्हा दुल्हन के द्वारा की जाने वाली प्रतिज्ञाएं संस्कृत भाषा मे करते हैं दानों और के दो जड़ स्वार्थी रट्टू तोते !! पतन की ये कहानियां हमारी इस बीसवीं सदी के लिये भी यथार्थ हैं। इन्हें हम सभी जानते हैं। अधिक कहने से लाभ भी क्या ?

सामने भारी खतरा--

कुछ भी हो, यह स्थिति अशोभनीय थी। ऐसा नहीं चलने दिया जा सकता था, क्योंकि यह स्थिति विघटन को जन्म देने वाली होती है, किसी जाति के मरण की भूमिका होती है एव जाति विशेष की सभ्यता और संस्कृति का अन्त कर देने वाली होती है। यह स्थिति चलती रहती तो हम भारतवासी रेड इन्डियनों की तरह आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की तरह, अफ्रीका के हब्शियों की तरह आदिवासी मात्र रह जाते, अमेरिका और आस्ट्रेलिया की तरह भारत कुछ खास सभ्य जाति वालो का देश हो जाता और वे हमको अच्छी तरह से 'सभ्य' बनाते। धोती-कुर्ता खत्म हो गया होता, हिन्दी-संस्कृति मिट गई होती, रामकृष्ण समाप्त हो गए होते, मन्दिर मस्जिद का रूप बदल गया होता, हवन-यज्ञ मूर्खता हो गए होते ब्याह-श्राद्ध ढकोसला सिद्ध कर दिये गये होते, वेद-उपनिषद, गीता, रामायण मजाक की चीज होगये होते और सध्या-पूजा ढोंग करार दिया गया होता। आज तो कुछ ही महापुरुष ऐसा करते है मगर तब हम सबके सब कोट-पतलून-टाई पहन कर अंगरेज ही अंगरेजी बोलते-लिखते, हमारी माताएँ-बहनें-बहू-बेटियां साया पहनतीं कचहरी मे ही शादियां होतीं, 'नाइट क्लबो' मे बरबादियां होती, बाइबिल का पाठ होता, हम

---

1. 'मध्यदेश-ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सिंहावलोकन' पृष्ठ १६०।
2. 'समन्वय", पृष्ठ १३१।

नगे बदन--आधे पेट मेहनत करते और वे सभ्य वातावरण का निर्माण करते ! भारत मिट गया होता, "इन्डिया" बन गया होता ! प्रक्रिया कुछ ऐसी ही प्रारम्भ हुई थी ! कोट--पतलून पहनकर और अंगरेजी मे ही अपने सास्कृतिक समारोहो के "इन्विटेशन भेजकर अपने को सम्मानित समझ कर रोब और ऐंठ से अकड़ने वालो की चेतना की 'विभुता' पर मुझे तरस आता है !!! यह सही है कि ऐसा होना विश्व की सबसे बडी दुर्घटना होती यह काण्ड विश्व--मानवता की आत्महत्या का माध्यम जरूर होता किन्तु इसे आज कोई भले ही मान ले, उस समय मानता ही कौन !

सँभलने के प्रयत्न और स्वरूप --

लेकिन ऐसा नही होना था क्योकि भारतीय सस्कृति अमर है। भारतीय आत्मा की भाति भारतीय सस्कृति भी चिर परिवर्तनशील बाह्य रूप को बदल कर अपनी जीवनी शक्ति को अक्षत एव अमर बनाए रखना जानती है। इसका तात्पर्य यह नही है कि हम प्रयास और प्रयत्न नही करना पडता। परिस्थिति और लक्ष्य के अनु-रूप हम प्रयत्न करते हैं और सफल होते हैं। उन्नीसवी शताब्दी मे हमने तय कर लिया कि हमे अपने पूर्व गौरव की, अतीत के प्रोज्ज्वल आत्म रूप की, प्राप्ति करनी है। यह अपने को खोकर, भुलाकर, भी नही हो सकता, वर्तमान से भाग कर भी नही हो सकता, और वतमानकाल मे जो हमारी दुर्गति है एव नैतिक और आत्मिक पतन की जो दुरवस्था है, उसके बने रहने से भी नही हो सकता ! तुलसीदास ने कहा-- "धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी आपत्ति काल परखिए चारी।" हम "धर्म" की ओर मुडे। आत्मिक बल और नैतिक बल को इस जगत म सर्वश्रेष्ठ मानना भारत की एक प्रमुख विशेषता है। हमने इधर भी ध्यान दिया। निवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण ने हमारा बहुत अहित किया था। ससार मे रहकर प्रवृत्ति--पराङमुख होने का परिणाम हम भुगत चुके थे। अब हमने प्रवृत्ति और निवृत्ति मे समन्वय स्थापित करना चाहा। हमारे जीवन का बाह्यपक्ष--भौतिक पक्ष पश्चिम के रग मे रजित होने लगा था। उस का उत्थान हमने उन्ही की पद्धति से करना चाहा। हमारी आत्मा हमारी नीति और हमारा मन एव हमारी आस्था का भारतीय रग अभी पूरी तरह से बदरङ्ग होने से बचा था। इसका सुधार हमने भारतीय सस्कृति की परम्पराओं और मान्यताओ द्वारा करना चाहा। यही नव--भारत है। प्रयास के महत्व का मूल्याकन प्राप्त सफ-लता के आधार पर उतना नहीं किया जाता जितना प्रयास की सच्चाई और ईमान-दारी के आधार पर। यह तो सही है कि हम भारतीयो के नैतिक और आत्मिक स्तर को उस वाछित भूमिका पर आज भी नही प्रतिष्ठित करा सके जहा करना चाहते थे, किन्तु फिर भी हमारी कोशिशें वन्ध्या नही सिद्ध हुई। परिस्थितियो की

प्रतिकूलताओ से आच्छादित रहकर किसी सम्पूर्ण जाति का वांछित सुधार तथा सांस्कृतिक संघर्ष की स्थिति म मनोवृत्तियो एव आदर्शों का आमूल-अभीप्सित परिवर्तन इतनी जल्दी संभव भी नही है।

अस्तु, हमने अपने देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान के लिये प्रयास किये। प्रयास व्यक्तिगत रूप से भी हुए और संस्थाओ के माध्यम से किये गये आन्दोलनों के रूप मे भी। वैसे, इन आन्दोलनो और सस्थाओ के मूल मे भी व्यक्ति ही प्रधान रहा करते थे। प्रयास बौद्धिक स्तर पर भी हुआ और भावात्मक स्तर पर भी। व्यक्तिगत प्रयासो का पर्यवसान भी अन्ततोगत्वा सगठनो एव आन्दोलनों में हो गया। व्यक्तिगत प्रयासो का स्वरूप यह रहा कि एक असाधारण आत्मा पृथ्वी पर अवतरित हुई। मानव शरीर धारण करके उसने मानवों के उदाहरणार्थ साधनाएं कीं और उनमे शक्ति अर्जित करके कुछ ऐसे व्यक्तियो को प्रभावित किया जो उनका चिरन्तन सन्देश लेकर जनता मे घुस गये। वैसे ही, जैसे सूर्य उदय हुआ और उसकी किरण अपने अन्तर को उद्भासित करती हुई जगत को प्रदीप्त होने का सन्देश देती हुई धरती पर फैल गई। रामकृष्ण ने विवेकानन्द, दयानन्द ने श्रद्धानन्द और गाधी ने मोतीलाल, जवाहरलाल, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल और बिनोवा का निर्माण किया। फिर भी, सूर्य के अन्तर का जो प्रकाश है वह उसका अपना ही स्वरूप है। इसी प्रकार इन आत्माओं की ज्योति वस्तुतः इनका अपना ही स्वरूप था। यह उनका आत्मस्वरूप था, और आत्मस्वरूप ही परमात्मा रूप है यानी परम आत्मा का अंश रूप है। इसीलिये उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के अन्तिम कुछ वर्षों या उत्तरार्द्ध मे जन्म लेने वाले ये महापुरुष-जो भारत के हर प्रदेश, हर क्षेत्र मे अवतरित हुए थे, जैसे रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द, विवेकानन्द, मदन मोहन मालवीय, गाधी, तिलक, मोतीलाल नेहरु अरविन्द, जवाहरलाल नेहरु, राजेन्द्र प्रसाद बिनोवा, टैगोर, रमन, शरत, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'प्रसाद', मैथिलीशरण गुप्त, आदि-अंशावतार थे। इन लोगों ने आकर भारत के जीवन के हर क्षेत्र को गौरवान्वित किया, किसी ने रूप मे नैतिक और आत्मिक उत्थान करने का प्रयत्न किया और अपने इस प्रयास मे किसी न किसी रूप मे अवश्य सफल रहे। संसार मे कोई भी बड़ा काम कोई मनुष्य स्वतः नहीं करता सम्भवतः कर भी नहीं सकता—बल्कि उससे कोई करवा लेता है। लौकिक मानव है क्या? कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियो, तन्मात्राओ महत्, चित्, बुद्धि, अहकार और प्रकृति का समुच्चय मात्र। इनमें से किसी मे भी इतना सामर्थ्य नही कि वह अपने आप कोई असाधारण महत्व का कार्य कर सके। बुद्धि जड तत्व है। उसे सत् की ओर उन्मुख करने वाला कोई और होता है। वही सुझाता है। बुद्धि रूपी अर्जुन

के रथ के घोड़ों को सही दिशा की ओर ले जाने वाला कृष्ण ही वह "कोई और" है। जब 'वह' कुछ कराना चाहता है तभी कुछ सूझता है और बुद्धि उस सूझ को व्यवस्थित रूप दे देती है। उसी कृष्ण ने, उसी परम आत्मा ने इन सबको आत्मबल दिया। इनमें अपना अंश दिया। इन लोगों ने नैतिक और आत्मिक उत्थान के चक्र का प्रवर्तन किया। रामकृष्ण परमहंस ने आध्यात्मिक साधनाओं, दिव्य शक्तियों और ज्ञान-बुद्धि के परे रहने वाली शक्ति परमात्मशक्ति पर-विश्वास उत्पन्न किया। भक्ति प्रेम और अनुभूति पर बल दिया और सर्वधर्म-समन्वय का प्रतिपादन किया। इसी विश्वास से सम्पन्न होकर विवेकानन्द ने वेदान्त का शंख फूंका और लोगों में आत्मबल अर्जित करने की प्रेरणा भरी। उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मठ ने इस संदेश का सुव्यवस्थित रूप से प्रचार करना प्रारम्भ किया। सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है, विचार-शीलता की एक शान्त और हल्की आवाज मानों दिव्य लोक से आई जो स्वामी विवेकानन्द के मुख से ऐसी सिंहध्वनि के रूप में निकली कि उसने तन्द्रा में पड़े हुए लोगों को सजग कर दिया और उन विचारशील लोगों में जिज्ञासा उत्पन्न कर दी जिनमें तत्वज्ञान की गहराई और विस्तार देखने की क्षमता थी।"[1] 'दिनकर' ने ठीक ही लिखा है कि भारत क्या है और उसकी सम्कृति क्या है, उसको देखना है तो विवेकानन्द को पढ़ो।[2] बीसवीं शताब्दी की नैतिक चेतना और आत्मिक शक्ति के स्वरूप पर विवेकानन्द का बहुत प्रभाव पड़ा है। अपने उसी लेख में 'दिनकर' ने कहा है कि उन्होंने जो-कुछ लिखा है वह विवेकानन्द की ही बात है। गर्ट्रूड एमरसन सेन ने बिलकुल सही लिखा है, 'शेर की तरह दहाड़ कर स्वामी विवेकानन्द ने आलस्य, निर्बलता, ईर्ष्या, द्वेष, आदि की लघुतम प्रवृत्तियों को, जो गुलामी की कलंक हैं परित्याग कर देने के लिये और अपनी महानता के पूर्णतम स्वरूप को प्राप्त करने के लिये भारतवर्ष को ललकारा।"[3] स्वामी दयानन्द ने लोगों के अन्दर प्रचलित धर्म की आलोचना करने का साहस उत्पन्न किया, वेदों की पुनर्प्रतिष्ठा स्थापित की और दूसरे धर्म वालों के सामने हिन्दुओं में जिस आत्महीनता का अनुभव होने लगता था उसे दूर किया। रामतीर्थ ने वेदान्त को अपने जीवन में उतार कर दिखा दिया और भारत को एक चेतन तत्व के रूप में उपस्थित किया-न कि भौगोलिक प्रदेश के रूप में। अरविन्द ने योग-साधना को महत्व दिया और अतिमानस की कल्पना द्वारा सबको दिव्य जीवन प्राप्त कर सकने का विश्वास दिलाकर सबको नवीन आशा से स्पंदित कर दिया। तिलक ने

---

१. "सरस्वती", जनवरी, १९६३, पृ. ३५।

२. "रसवन्ती", वर्ष ६, अङ्क ६, पृ. ६४।

३, "कल्चुरल युनिटी आफ इन्डिया", पृ. ५८।

सत्वप्रधान प्रवृत्तिमार्ग अपनाने का संदेश दिया। गांधी ने सत्याग्रह की कल्पना द्वारा सत्य और अहिंसा को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध किया और भौतिक बल के ऊपर आत्मबल को स्थान दिया। टैगोर ने विश्व बंधुत्व, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, राष्ट्रप्रेम, तथा रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की ओर रूढ़ियों का विरोध किया। गीता, उपनिषद्, और रामायण, आदि के अध्ययन ने भी लोगों का आत्मबल बढ़ाया। विनोबा ने सात्विक दान के प्रचार के द्वारा आत्मविस्तार की धारणा को जीवन में अवतरित करने का मार्ग बताया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हमने शक्ति और आत्मबल पर अडिग विश्वास पैदा करने का प्रयत्न किया और बीसवीं शती में धर्म, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति, आदि के क्षेत्रों में उसी नैतिक शक्ति और आत्मबल के सहारे कार्य करना आरम्भ कर दिया। हम सबको इस रास्ते पर नहीं चला पाये लेकिन इसमें दो मत नहीं हो सकते कि हमने अनेक को इन शक्तियों से ऊर्जस्वित कर दिया। इसके लिए हमें बहुत-कुछ बदलना पड़ा, समझना पड़ा, याद करना पड़ा, अपनी पूँजी को टटोलना पड़ा। दूसरे की पूँजी के सहारे हम अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकते थे क्योंकि हम अच्छी तरह जान गये थे कि पर धर्म भयावह होता है।

अपनी प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति से सहायता—

उस समय हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो हमारी आत्मा को सबल बना सकता और हमारे परम्परागत स्वरूप को महत्वपूर्ण बता सकता। यही हमारी आस्था और हमारे विश्वास को फिर से जीवित कर सकता था। राधाकृष्णन ने लिखा है, "हमें एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो आत्मा की शक्ति का वस्तुओं से अधिक महत्वपूर्ण घोषित करे तथा जिस दुनिया में विज्ञान और संगठन एवं संस्थाओं का सम्बन्ध और महत्व समाप्त हो गया है परम्परा से स्थापित मूल्यों और मानों के सामने उसी दुनिया में कुछ तत्व और महत्व खोज सके।[१]

जब ऐसे धर्म की खोज होने लगी तब स्वभावतः हमारा ध्यान गया अपने हिन्दुत्व की ओर और हमने पाया कि हिंदू धर्म आध्यात्मिक विचारों और अनुभूतियों की अनंत राशि है और वही अनंत राशि हमें फिर महान बना सकती है। हमने वेदान्त, गीता, महाभारत, उपनिषद्, आदि आर्षग्रन्थों की आर्षध्यात्मिकता, उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मतत्व की खोज-विवेचना और उनसे निकल सकने वाली संभावनाओं को स्पष्ट रूप में देखा। वेदान्त भारत की वह शक्ति है जिसके सक्रिय होने पर संसार की कोई भी और कैसी भी शक्ति भारत का बाल तक बांका नहीं कर सकती। गीता का

१. "रिकवरी आफ फेथ", पृ. ६

स्थितप्रज्ञ दर्शन हमारी प्रेरणा का स्रोत बना। रामचरित मानस का धर्मरथ रूपक और भरत की आध्यात्मिकता एवं लक्ष्मण का आज्ञापालन हमारी यात्रा का ध्रुव-तारा बना। राधाकृष्ण ने कहा, 'प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य की विजय से नहीं वरन् वासनाओं के निरोध से ही उसकी नैतिक उन्नति को जाचना चाहिए ······· गोलियों की बौछार में भी सच बोलना, शूली पर चढ़ा दिये जाने पर भी प्रतिहिंसा से विरत होना मनुष्य तथा पशु सभी का सम्मान करना, सर्वस्व दान कर देना, परोपकार में जीवन उत्सर्ग कर देना, अत्याचार को अविचलित भाव से सहन करना, आदि मनुष्य के प्रधान कर्तव्य हैं।'[1] यह हमारा आदर्श बना। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यही सब कुछ हो गया और हमने जीवन का निषेद कर दिया। जीवन का निषेद हमने नही किया — कभी नही किया —हमने तो केवल भोग की मर्यादा बाधी थी। भोग का सामर्थ्य भोग से दूर रहने मे निहित है इसलिये ब्रह्मचर्य है, संयमित भोग ही सुख है इसलिये मर्यादित गृहस्थ जीवन है, भोग की शक्ति अक्षय नही होती इसलिये छोड़ने की तैयारी की भूमिका मे वानप्रस्थ है और मरने के समय जबरदस्ती छूटे इससे अच्छा है कि हम अभी से छोड़ दें। इस रूप मे सन्यास है। जीवन का निषेद नहीं, बल्कि व्यवस्थित एवं कलात्मक ढंग से उसका भोग है। आध्यात्मिकता जीवन से भागना नहीं सिखाती। चीनी का दूध से, घी का दाल से और मक्खन का रोटी से विरोध नहीं होता, तो आध्यात्मिकता का ही जीवन से विरोध क्यों होगा, तो ऋषियों के भी पत्नियां होती थी। वे भी पिता होते थे। रामकृष्ण परमहंस और गाधी की आध्यात्मिकता सदेह से परे हैं। आध्यात्मिकता को जीवन की व्यापक भूमिका से और कर्मकाण्ड को धर्म की अन्तरात्मा से अलग कर देने का ही तो परिणाम है मठों का भोग व्यभिचार विकास का केन्द्र बनाना। आध्यात्मिकता योग या सन्यासमात्र ही नही है। जबसे हम यह बात भूल चले थे तभी से हमारा पतन प्रारम्भ हो गया था। इसलिये उत्थान की भूमिका मे हमें जीवन का समग्र दर्शन चाहिये था जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि हम समन्वय, सतुलन, और पूर्णता वाला धर्मदर्शन चाहते थे। भारत वर्तमान मे भी आनन्द पाता था और ज्ञान की गहराइयों तथा दार्शनिक जिज्ञासाओं मे भी। जो लोग यह कहते हैं कि भारत केवल धार्मिक, दार्शनिक, चिन्तन-प्रधान, आध्यात्मिक तथा लोकोत्तर विचारों मे डूबा रहने वाला देश है वे गलत कहते हैं। शायद वे भारत को ऐसा ही देखना चाहते हैं ताकि वे इस ससार और इसकी समग्रता का उपभोग कर सकें और भारत को उससे वंचित रख सकें। भारत इन सब भी है किन्तु वह शैशव की निर्बोधता, यौवन की उमंग और प्रौढ़ता

---

१. 'भारत की अन्तरात्मा', पृ १७।

की परिपक्वता, आदि से भी परिचित है। कोमल, मानवता, विभिन्नताओं से पूर्ण और सहनशील संस्कृति, जीवन की गहनतम तथा सूक्ष्मतम सूझ बूझ और उसके रहस्य-पूर्ण तरीकों का मार्मिक ज्ञान एवं अनंत से प्राप्त अदम्य स्फूर्ति भारत की अक्षय जीवन शक्ति और अदम्य उत्साह के रहस्य हैं।[1] उपर्युक्त कथन पर यदि गंभीरता पूर्वक विचार करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह हमारी नैतिक और आत्मिक शक्ति है। उदाहरणार्थ, शैशव की निर्बोधता ले लीजिये। जड़ता, भौतिकता एवं ऐन्द्रियता से परिपूर्ण चेतना में शैशव की निर्बोधता नहीं पाई जा सकती। यह उनमें पाई जा सकती है जो इन सबसे ऊपर उठकर आत्मशक्ति संपन्न हो गये हों। इसीलिये तो बच्चों की जिस मुस्कान और हँसी के माध्यम से दिव्य अलौकिक राग और आलोक झाँकता है वह ईसा और गान्धी जैसों के ही मुखमंडल पर ही देखी जा सकती है! अँगरेजी हमारी संस्कृति और प्रकृति के प्रतिकूल है और इसलिये वह हमारी आत्मिक शक्ति के अर्जन, तथा नैतिक पुनरुत्थान के प्रयत्न और उसकी अभिव्यक्ति की भाषा बन नहीं सकती थी। शायद यही कारण है कि सभी दृष्टियों से अनमोल बातें कहने वाले विवेकानन्द, टैगोर, शिवानन्द, राधाकृष्णन भगिनी निवेदिता, बेसेन्ट, आदि की बातें जनसमूह के गले का हार, जीवन की स्फूर्ति और शोभा नहीं बन सकी और देश का कायापलट न हो सका, और अँगरेजी को छोड़ देने के कारण तथा संस्कृत और हिन्दी को अपनाने के कारण दयानन्द और गान्धी ने जन साधारण को आश्चर्यजनक रूप से बदल दिया। छोटे से छोटे लोग भी अपने जीवन और छोटे से क्षेत्र में असाधारण रूप से बदल कर नैतिकतावादी एवं आत्मवादी हो गये।

गाँधी के प्रयत्न—

बीसवीं सदी के आते आते गान्धी ने अपना आत्मिक और नैतिक उत्थान सम्बन्धी कार्यक्रम जनता के सामने रख दिया क्योंकि गान्धी में यह शक्ति थी। श्री निर्मल कुमार बोस ने लिखा है कि 'गान्धी उस तीर्थयात्री की तरह है जो किसी अनन्त पथ पर निर्बाध गति से चलता चला जा रहा है। यती—दंड हाथ में लिये हुए गान्धी कहीं दूर पर दिखाई देने वाले किसी ज्योति की ओर बढ़ता चला जा रहा है। यह ज्योति उसे आराध्यतापूर्वक अपनी ओर बराबर खींच रही है। उसने अपने अन्तर में आशा की ज्योति जला रखी है। वह उसी के संकेतों से प्रेरणा पाता है। इसके अतिरिक्त उसके पास करने के लिये कुछ भी नहीं है। उसकी चेतना का गहन-तम स्तर उसे बता चुका है कि उसके आदर्शों का कल्पना लोक कभी अवतरित होगा या नहीं यह जानना उसका कार्य नहीं है ... ...उसका लक्ष्य है उस अलौकिक

१. 'डिस्कवरी आफ इंडिया', अध्याय ७।

कुम्भकार के दिव्य हाथों में सानी हुई मिट्टी का एक पिंडमात्र बनना।[1] बोस महोदय ने आगे फिर लिखा है कि गांधी अपने निश्चित उद्देश्य को लिये हुए भगवान की राह पर अकेला बढ़ता जा रहा है। मानवता के अन्तर मे उठने वाली पीड़ा की प्रत्येक लहर से उसका हृदय तड़प उठता है। मानवता के दुःख और उसकी अधोगति मे हिस्सा बँटा लेने का उसका अडिग निश्चय है। जिस-जिस तत्व ने मानव को दबा रखा है उन सबको हटा देने के प्रयत्न मे आत्मबलिदान करने के लिये सदैव तत्पर है। वह क्षणिक लाभ के लिये मानवी एकता की दिव्य एवं पवित्र थाती के प्रति विश्वासघात करने के लिये कभी भी तैयार नहीं।[2] अस्तु, ऐसा महामानव सभी प्रकार की नैतिक और आत्मिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न आत्मा ही हो सकता है जो सभी प्रकार के स्वार्थों से ऊपर उठ चुका हो। टैगोर ने लिखा, "आज हम लोगों के बीच मे जो महात्मा आया राष्ट्रीय स्वार्थपरता के भाव से बिल्कुल मुक्त है।[3] गांधी मे राष्ट्रीय स्वार्थपरता भी नहीं थी। वे तो राष्ट्र का ऐसा उत्थान चाहते थे जो विश्व कल्याण का माध्यम बन सके। इसीलिये उनके कार्यक्रम आत्मिक और नैतिक उत्थान को दृष्टि मे रखकर बने। गांधी जी ने लिखा-"(१) सच्चा स्वराज्य अपने मन पर शासन करना है, (२) उसकी कुञ्जी, सत्या ह आत्मबल अथवा प्रेमबल है, (३) इस बल से काम लेने के लिये सोलह आने स्वदेशी बनना जरूरी है, और (४) हम जो कुछ करना चाहते हैं वह इसीलिये नहीं कि अंग्रेजो से हमे द्वेष है या हम उन्हे सजा देना चाहते हैं बल्कि इसलिये कि वह करना हमारा कर्त्तव्य है।"[4] गांधी जी का सत्याग्रह कार्यक्रम आत्मिक और नैतिक शक्तियों के आधार पर जीवन को चलाने का विशाल और क्रांतिकारी परीक्षण है। उन्होंने जीवन की शुद्धता पर जोर दिया। तप पर उनका विश्वास है। अहिंसा और सत्य उनकी चेतना के अनिवार्य अङ्ग हैं। उनकी प्रार्थना सभाएँ और उनके प्रार्थना प्रवचन आत्मिक और नैतिक उत्थान के ही लिये हैं। उनकी प्रार्थना मे हरि ॐ के बाद ईशोपनिषद् का प्रथम श्लोक रहता था। "प्रातः स्मरणम्" के प्रथम श्लोक की प्रथम पंक्ति है "प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरद् आत्मतत्वम्"। पृथ्वी माता को पैर से छूने मे भी जो अपराध की अनुभूति करके क्षमा मांगता है ऐसी अनुभूति को जगाने वाला श्लोक भी यहां है। यहां सरस्वती, गुरु, विनायक, विष्णु, महादेव और ब्रह्म की उपासना के श्लोक हैं। इस प्रार्थना मे यह

---

१. 'स्टडीज इन गांधीज्म', पृ ३४६।

२. वही, पृ ३५४।

३ 'हंस" जनवरी, १६३८, "महात्मा गांधी" शीर्षक लेख।

४. "हिंद स्वराज्य", पृ. १५५।

कामना प्रकट की जाती है कि दुख से तपे हुए प्राणियों की पीड़ा का नाश हो—"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्"। वहां कुरान की "पनाह" और 'फातिहा' है, जरथोस्ती गाथा" है और बौद्ध मन्त्र है। प्रातः-साय दोनों समय "अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जन, सर्वधर्मसमानत्व स्वदेशी, स्पर्श भावना का विनम्र, व्रत निष्ठा से पालन करने का निश्चय किया जाता है। सायंकाल की प्रार्थना मे परमात्मा तत्व के नमस्कार के बाद गीता का सम्पूर्ण स्थितप्रज्ञ लक्षण दुहराया जाता है। "सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै" की कामना तथा असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर, और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने की प्रार्थना है। ईशोपनिषद् कठोपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, तैत्तिरीय उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद् और छान्दोग्य उपनिषद् के श्लोकों का पाठ होता है। रामचरित मानस की सुन्दर सूक्तियां, राम के निवास योग्य मानस संबंधी चौपाइयां, राम रथ तुलसी के विनय के पद और सूर कबीर नानक मीरा रैदास नरसी मेहता तुकाराम नामदेव तथा ईसाई संतो के भजन भी यहां हैं। उनका सर्वाधिक प्रिय भजन 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे' उच्चकोट के नैतिक जीवन की कल्पना उपस्थित करता है। शुद्धतम जीवन का आदर्श उपस्थित करता है। सादगी का जीवन गांधी जी चाहते थे। मशीन की जगह चर्खे और बड़े कारखानों की जगह गृह उद्योग की प्रधानता के पीछे श्रमनिष्ठ सादे जीवन की ही बात थी। उनके आश्रम मे सादे भोजन, सादे वस्त्र, श्रम की प्रतिष्ठा और आत्मोन्नति के प्रयत्नों के ही कार्यक्रम होते थे। बाहरी सफाई, जो अन्तर के कल्मषलुप एवं परिष्कार की द्योतक थी, उन्हें प्रिय थी। सेवा और सफाई की आखिरी सीमा शायद वहां थी जहां गांधी जी दूसरों के मल मूत्र को साफ करना अपना सबसे प्रिय कार्य मानते थे। खादी की धवलता मे उन्हें आत्मा की उज्ज्वल ज्योति के दर्शन होते थे। सूत कातने मे वे मानसिक एकाग्रता एवं चित्तवृत्ति निरोध देखते थे। इस प्रकार चर्खा चलाना वे आध्यात्मिक कार्य मानते थे। निर्धन जनता मे वे भगवान को देखते थे। उनकी समाज सेवा और देश भक्ति आत्मविस्तार की भावना से भरी थी। उनका सर्वोदय वस्तुतः व्यक्ति की दृष्टि से आत्मोदय ही था। गांधी ने माना कि आत्मबल शारीरिक बल से श्रेष्ठ है। राधाकृष्णन भी मानव के स्वभाव से आध्यात्मिकता को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं। गांधी ने भारत की आत्मिक साधना को फिर से जीवित कर दिया। उन्होंने सौंदर्य और नारी को पवित्र दृष्टि से देखा। रामकृष्ण भी नारियों को माता काली की साकार जीवन प्रतिमाएं मानते थे। गांधी जिव्हा पर विजय काम से विजय मानते। वे इन्द्रिय निग्रह

के पक्षपाती थे। उन्होंने ईश्वर को सदाचार का स्वरूप माना। रामकृष्ण ने अपने जीवन मे क्रियात्मक रूप से सारे धर्मों की मूलभूत एकता का अनुभव किया था। गाधी भी उसी भावभूमि पर पहुँच गये थे जहा से सभी धर्म सच्चे और समान दिखे। गांधी जी धर्म-दृष्टि को धर्म का वास्तविक रूप और मन की विशुद्धता को धर्म का काम समझते थे।

आर्यसमाज का योग—

आर्यसमाज का आन्दोलन भी तेजी पर था। उसने रूढि और परम्परा का डटकर विरोध किया। जिस पौराणिकता ने हिन्दुत्व के खड खड कर दिये थे उसका भयानकतम और उग्रतम एव क्रूरतम विरोध करके आर्यसमाज ने आत्मशक्ति एव नैतिक जीवन पर पडी हुई धूल झाड दी। छुआछूत को अवैदिक बताकर और आत्म-तत्व का प्रचार करके आर्य समाज ने हिंदुत्व की अखण्डता को पुनर्जीवित किया। स्त्रियो की शिक्षा का समर्थन करके उनकी शिक्षा के लिये स्कूल-कालेज खोलकर और उनको भी ज्ञान और धर्म के क्षेत्र मे पुरुष के समान महत्व देकर उनके ऊपर मध्य-युगीन मतो का आरोपित कामिनीत्व, रमणीत्व एव शृगार-काम के उद्दीपन का घातक एव मिथ्या आवरण हटाकर आर्यसमाज ने हिन्दू जाति के आधे भाग को आत्म चेतना और नैतिक चेतना की सभावनाओ से युक्त कर दिया। आगे चलकर गान्धी जी ने तो उन्हे अहिंसा और सत्याग्रह का साक्षात् प्रतीक माना। ब्रह्मचर्य अपने असली रूप मे सामने आया। आर्यसमाज धर्म सम्बन्धी जिन शास्त्रार्थों की आयोजनाएँ करता था उन्होने जनता के सामने धर्म के वास्तविक स्वरूप को उपस्थित करने की क्रिया मे एक महत्वपूर्ण योग दिया। गुरुकुलो की स्थापना करके और यथा सम्भव प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली पर शिक्षण का कार्यक्रम बनाकर और उसे कार्यान्वित करके भी आर्यसमाज ने आर्य-ग्रन्थो के प्रचार का तथा आत्मिक-नैतिक पुनरुत्थान का कार्य किया। आर्यसमाज के अधिवेशनो मे कई-कई दिनो तक होने वाले आर्य सन्यासियो और उपदेशको के उपदेशो ने भी जनता के आत्मिक-नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया है। लाला लाजपत राय ने लिखा है, "आर्य समाज ने विचारो के महासागर का, संस्कृति का तथा उदारतावाद का बाध-द्वार-हिन्दू समाज के लिये उन्मुक्त कर दिया है" और वह "हमारे अन्दर इस तथ्य की चेतना को फिर से जागृत कर रहा है कि हम विचारो और कार्यों—दोनो के ससार मे महान और सशक्त थे।"[१]

ब्रह्मविद्या समाज का योग—

थियासोफी के रङ्गमच से श्रीमती एनी बेसेन्ट ने घोषणा की, "चालीस वर्षों

१. "दि आर्यसमाज", पृ २८२।

क सुगम्भीर चिन्तन के बाद मैं कहती हूँ कि विश्व के सभी धर्मों मे हिन्दूधर्म से बढ़कर पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एव आध्यात्मिकता से परिपूर्ण धर्म दूसरा और कोई नही है।" परिणामस्वरूप हिन्दुओ मे आत्मविश्वास पैदा हुआ। थियोसोफिकल सोसाइटी अर्थात् ब्रह्मविद्या समाज ने परोक्ष नियमो के अनुसधान करने, उच्चनैतिकतापूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करने, विज्ञान और आधिभौतिकता की वृद्धि के विरोध करने, विश्वमानवता क प्रचार करने, सभी धर्मों की मूलभूत एकता की अनुभूति करने, सब धर्मों की पवित्रता और अच्छाई पर विश्वास करने तथा धर्म और ज्ञान के तत्त्वो के सम्यक् प्रचार करने को अपना कार्य-क्रम बनाया था। स्पष्ट है कि पूर्ण सच्चाई और ईमानदारी से जो ये कार्यक्रम अपनाएगा वह सकुचित हृदय वाला, अनात्मवादी तथा अनैतिक नही रह सकता। उसकी आत्मा का उत्थान होगा। उसके जीवन म साक्षात नैतिकता अवतरित हो जायगी।

प्राचीन तत्वो और नवीन व्याख्याओ का योग—

प्राचीन तत्वों और बातो की नवीन व्याख्याओ ने भी आत्मोत्थान की प्रक्रिया म पर्याप्त सहयोग दिया। राधाकृष्णन ने कहा, 'धर्म के दो रूप होते हैं, एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। ये दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं।"[1] इस व्याख्या के द्वारा उन्होंने अनेक अनैतिकताओ का निराकरण करने का रास्ता खोल दिया। तिलकचन्दन लगाकर तथा पूजा-पाठ करके भी यदि कोई किसी गरीब का गला काटता है कोई अधिकारी किसी अपरिचित योग्य की जगह किसी परिचित-अनुशसित अयोग्य की नियुक्ति करता है, डाका मारता है, किसी छात्र के प्राप्तांक बढाता है, अनुसमाओ के द्वारा अधिकार लेता है तथा धन कमाता है तो यह अधार्मिक है। यह सही है कि हमारे समाज का आचरण अभी इस धारणा के अनुरूप नही होसका है किन्तु यह भी सही है कि हम इस ढग से सोचने लगे हैं। नैतिकता का स्वरूप यह हो गया कि सामाजिक कल्याण का आचरण करने वाला विधान पुण्य हो गया और इसके प्रतिकूल होने वाला आचरण, पाप। तात्पर्य यह कि हट्टे-कट्टे 'बामन" को खिलाने की अपेक्षा भूखे मरते हुए चमार को खिला देना अब पुण्य माना जाने लगा है। पन्डे के आगे बछिया की पूछ छूना अब पुण्य नहीं रह गया, अब पुण्य हो चला है भूमिविहीनो के लिये भूमिदान देना और सद्‌ग्रन्थ खरीदना, खरीदकर सत्साहित्य पढ़वाना, किसी साधनहीन को बोने के लिये बीज, जोतने के लिये हल-बैल, आदि खरीदकर सम्पत्तिदान देना। उच्चतम नैतिकता का एक स्तर यह भी है कि विनोबा भावे द्वारा प्रवर्तित

---

1. "भारत की अन्तरात्मा",

सम्पत्ति-दान के अनुसार अब कोई सम्पत्ति दान देता है वह अपनी ही आत्मा को साक्षी बनाकर देता है। हिसाब सर्व सेवा संघ के पास भेजना है और दान का रुपया खुद खर्च करता है। विचारों की इसी पीठिका पर दान का अर्थ, शंकराचार्य से प्रेरणा लेकर ('दान संविभाग'), 'सम्यक्' विभाजन ही मान लिया गया है। गांधी-विनोबा के यहां मन और वाणी प्रार्थना में लीन होती है और हाथ सूत कातते हैं। कर्मकाण्ड का रूप बदल गया क्योंकि अभी तक पुजारी जो हाथ से घंटी बजाते और जबान से श्लोक कहते थे। अब प्रार्थना का साथ हो गया समाजोपयोगी रचनात्मक कार्य में उत्पादन के कार्य से। साने गुरुजी ने लिखा, "समाज रूपी ईश्वर की यह कर्ममय पूजा रसमय गंधमय करना है। उस कर्म का ही जप करना है। यह कर्म किस प्रकार उत्कृष्ट होगा यही चिन्ता हमें रखनी चाहिये।" ' जप माने निदिध्यास। कल की अपेक्षा आज का कर्म अधिक सुन्दर हो, आज की अपेक्षा कल का काम अधिक सुन्दर हो। इस प्रकार की भावना मन में रखना। इस प्रकार लगातार मन में अनुभव करना ही जप है-इसी से हम मोक्ष के अधिकारी होते हैं।"[१] पहले "राम राम राम राम रम रम रम रम" करना जप था। यह जड़ जप था। अब जप में सुगंधि आ गई। यह सुगंधि है नैतिकता की। पहले गुरु होता था किसी मठ का अधीश्वर, किसी सिद्धपीठ का आचार्य, आदि। वह एक विशेष कर्मकांड के साथ होने वाले शिष्य के कान में फूंक मार देता था, बस! यह जड़ता थी। कंठी गले को फांस लेती थी। अधिकांश समाज इस जड़ता में जकड़ा जाकर जड़ ज्ञान वाला होकर अनैतिक होता जा रहा था। नये आन्दोलन की नई दृष्टि ने गुरु का नया अर्थ बताया। 'गुरु का मतलब है अब तक का सम्पूर्ण ज्ञान। गुरु मानो एक प्रकार से हमारा ध्येय है। हमें जिस ज्ञान की पिपासा है वह अधिक यथार्थता से जिसके पास हम प्रतीत होता है वही हमारा गुरु बन जाता है।"[२] अपने कर्त्तव्य या उत्तरदायित्व से भागना या उसको ठीक से न सम्पादित करना अनैतिकता है लेकिन ऐसी अनैतिकता के लिये आज हम मजबूर हो गये हैं। मजबूर इसलिये होगये हैं कि उसमें हमारा मन नहीं लगता और मन इसलिये नहीं लगता कि हमें वह कार्य करना पड़ता है जो हमारी रुचि का नहीं है, (उससे हमारा स्वार्थ भले ही सधता हो!) जिसके लिये हमारे पास समुचित संस्कार नहीं। संस्कार हैं, रुचि है, पुड़िया बांधने की और डंडी मारने की मगर जमाने ने बना दिया है प्रोफेसर और वह भी इसलिये कि रट कर और किसी की कृपा से प्रमाण पत्र और पद पा लिया गया है। निश्चित

१. "भारतीय संस्कृति", पृ. ८०।

है कि यह ऐसे आदमी का "स्वधर्म" नहीं। स्वधर्म है पुडिया बाधना और अधिक लेकर कम देना और जिससे मन न मिले या स्वार्थ न सधता हो उसकी जड काटना। ऐसे लोग विद्यामवन मे भी "स्वधर्म" ही करेंगे! इसलिये 'स्वधर्म" की व्याख्या हुई अपनी विशुद्ध रुचि का काम हाथ मे लेना। ऐसे कर्म के प्रति प्रेमपैदा हो जायगा। "भक्ति" की भी आवश्यकता है अर्थात् करना यह है कि जिनके लिये हम कर्म कर रहे हैं उनके प्रति भी प्रेम पैदा हो जाय। उन्हीं को हम भगवान मानने लगे। ऐसा होते ही हमारा कर्म भक्तिमय हो जायगा। गांधी ने आजीवन इसी का प्रयत्न किया है, विनोबा भी यही कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम यह मानने लगे कि सच्चा आनन्द कर्म मे है। अपने हाथ-पैर, अपने हृदय, और अपनी बुद्धि को सेवाकर्म मे नियोजित कर देने से विशुद्ध आनन्द पाने की कल्पना हममे पैदा हुई।

रामतीर्थ[1] का योग—

बीसवी सदी के प्रारम्भ मे रामतीर्थ विशुद्ध आत्मशक्ति के रूप मे दिखाई पडते हैं। उनके पीछे वस्तुत न कोई बड़ा सगठन था और न कोई बडी सस्था। उनके उद्‌गार और विचार केवल पुस्तको के माध्यम से हम तक पहुँचे। फिर भी उनकी बातें स्थायी प्रभाव डालने वाली हुई। सचमुच उनकी आत्मा देश, काल, जीवन, मृत्यु, और विभिन्न धर्मों से बहुत ऊपर उठ गई थी। वे सही मानों में अपनी देह को भूल जाया करते थे। असाधारण भावुकता और तन्मयी स्थिति उनकी स्वाभाविकता हो गई थी। उन्होने कहा कि जापान को मैं अपने देश के समान समझता हू और यहा के अधिवासी मुझे अपने देश-बान्धव मालूम होते हैं। क्या चमत्कार था कि उनका जन्म भी दीपावली के दिन, कृष्णार्पण भी दीपावली के दिन और जल समाधि भी दीपावली के दिन!! उनकी तन्मयावस्था का यह स्वरूप था कि वे अपने को विशुद्ध और केवल आत्मा ही समझते थे और इसलिये कहते थे, 'मैं स्वयं मृत्यु हूँ। बिना मेरी इच्छा के वह मेरा बाल भी नहीं बाका कर सकती'। वे पूर्ण अनन्त थे और उनकी स्वतन्त्रता का अर्थ था देश, काल और वस्तु से मुक्ति। आत्मउत्थान की अत्यन्त ऊँची सीढी पर खडे होकर उन्होने कहा, 'क्रिश्चियन, हिन्दू, पारसी, आर्यसमाजी, सिख, मुसलमान और वे लोग भी, जिनकी हड्डिया, नसें, मास, मेरी प्रिय इष्ट देवी, भारतभूमि के अन्न जल से पुष्ट हुए हैं, मेरे भाई हैं—नहीं, मेरी आत्मा है। उनसे कह दो कि मैं उनका हूँ। मैं सबको स्वीकार करता हूँ—किसी को नहीं

---

[1] इनके ये उद्धरण इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके मूल श्रोतों या स्थानों के उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई — लेखक।

छोड़ता ।" आत्म-उत्थान की एक दूसरी छवि देखिए—"मैं प्रेम हूँ– सचमुच मैं प्रेम का सागर और प्रेम का विभव हूँ। मैं सबसे समान प्रेम करता हूँ।............और तो क्या–यदि कोई शत्रुत्व भाव से भी मेरे सामने आये तो उसे भी मैं बड़े प्रेम के साथ गले लगाऊँगा। मेरा प्रेम इतना गहरा है कि शत्रुत्व उसमे डूबकर तुरन्त नष्ट हो जायगा"। इस आत्मभाव ने स्वदेशाभिमान और वेदान्त को असाधारण आश्चर्य के साथ एक कर दिया –"अपने हृदय में यह भाव उत्पन्न कीजिए कि "मैं देश हूँ— भारत हूँ —भारतवर्ष हूँ। भारत की भूमि ही मेरा शरीर है, "कमोरिन" मेरे पैर हैं हिमालय मेरा सिर है मेरे सिर की चोटी से ही ब्रह्मपुत्र और सिंधु निकली हैं, विन्ध्याचल मेरी कमर में बंधा हुआ कमरबन्द है, "कारोमंडल" और मलाबार मेरा दाहिना और बायां पैर है। मैं समस्त भारतवर्ष हूँ भारत की पूर्व और पश्चिम दिशाएँ मेरी दाहिनी और बाईं भुजाएँ हैं और समस्त मानव जाति को आलिंगन करने के लिये मैंने अपनी दोनों भुजाएँ फैला दी हैं। मेरा प्रेम विश्वव्यापक है। अहा! हा! मेरे शरीर की गठन ही इस प्रकार है। खड़ा होकर अनन्त दिक्काल की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाता हूँ परन्तु मैं अन्तरात्मा— विश्वात्मा हूँ। मैं जब चाहता हूँ तो मालूम होता है कि सारा भारत चलता है, बोलता हूँ तो भारतवर्ष बोलता है और श्वास लेता हूँ तो सारा देश श्वास लेता है। मैं भारत हूँ शंकर हूँ, शिव हूँ, यह भाव हृदय में तो उत्पन्न होना ही स्वदेशाभिमान है और इसी को व्यावहारिक वेदान्त कहते हैं।" रूपक की तरह से लिखना आसान है किन्तु साधारण कल्पना शक्ति के पर झड़ जाते हैं उस आत्मा को 'विभुता तक पहुँचने में जिसे पूरी ईमानदारी के साथ उपर्युक्त भाव की अनुभूति होती हो! ऐसे स्वामी रामतीर्थ ने देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान के लिये कहा, 'राम सबसे ऊँचे पर्वत पर खड़ा होकर घोर गर्जन के साथ कहता है कि दरिद्रता और दौर्बल्य की शिकायत करने वाले लोगो, सचमुच तुम सर्वशक्तिमान परमात्मा हो, स्वयं "राम" हो। अपनी ही कल्पनाओं में स्वयं मत जकड़ जाओ। उठो, जागृत हो जाओ और अपनी निद्रा और संसार रूपी स्वप्न को झाड़कर अलग फेंक दो। जब तुम ही सब कुछ हो तो वृथा दुःख और दरिद्रता में क्यों फँसे पड़े हो! अरे, जग उठो और निजस्वरूप को पहचान लो। यह सब दुःख-दरिद्र अपने आप ही लोप हो जायगा। सारे सुखों की खान और सम्पूर्ण आनन्द का अन्तरात्मा तुम्ही हो।" इस दुःख और दरिद्रता का स्वरूप समझाते हुए उन्होंने कहा कि 'यह मेरा', 'वह मेरा' कहकर ममत्व के पीछे पड़े हुए मनुष्य ही सच्चे 'दरिद्री' और कंगाल हैं। उनके अनुसार अपने आपको एक शरीर में परिच्छिन्न करना कारावास है और अपने आप को सारा देश ही नहीं, सम्पूर्ण संसार अनुभव करना

आत्मरूप की प्राप्ति, आत्मा का विस्तार एवं उत्थान है। स्वामी रामतीर्थ के अनुसार पशुवृत्तियों को जीतना और अपने अहम् को सर्वव्यापक करना चाहिये। उनके कथनानुसार इच्छाएँ तभी पूरी हो सकती हैं जब हम इच्छाओं से ऊपर उठ जायें। भोक्ता या कर्त्ता के भाव को वे उत्थान का बाधक मानते थे। उन्होंने चार ऋण बताए—परमेश्वर के प्रति, मानव जाति के प्रति, देश के प्रति और अपने प्रति। वे तीन कृपाएँ मानते थे ईश्वर की कृपा, गुरु की कृपा और आत्मकृपा। उनके अनुसार सफलता का साधन है उद्योग, स्वार्थत्याग, निरभिमान, "मैं" का विस्मरण, विश्वव्यापी प्रेम, प्रसन्नता, निर्भयता और स्वावलम्बन। वे भारत के लाखों साधुओं को तरैया के पानी की काई मानते हुए भी उनमें से कुछ को कमल मानते थे।

विवेकानन्द का योग—

स्वामी विवेकानन्द के योग और महत्व को हम पीछे देख चुके हैं। यहा उनके भी उन विचारों को देख लेना अनुचित न होगा जिन्होंने हमारे आत्मिक और नैतिक स्तर को गौरवमयी स्थिति तक ऊपर उठाया है। स्वामी जी व्यक्तिगत ईश्वर की उपासना के विरुद्ध थे क्योंकि इससे धर्मगुरुओं का सम्प्रदाय पोषित होता है और जब तक ये धर्म-गुरु हैं तब तक समाज मे अत्याचार होंगे और इसीलिये उच्चभाव ही नही पैदा हो सकते। धर्मगुरु और व्यक्तिगत ईश्वर वेदान्त की तलवार से धराशायी हो जाते हैं। निश्चय हुआ कि समाज को उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिये ही स्वामी जी ने वेदान्त धर्म का प्रचार किया। इस वेदान्त धर्म का प्राण है 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"

स्वामी जी ने कहा है, 'ऐसी चिरस्मरणीय वाणी और कभी उच्चरित नही हुई थी और न ऐसा महान सत्य ही कभी आविष्कृत हुआ और यही सत्य ही हमारी हिन्दू जाति के जीवन का मेरुदण्ड होकर रहा है।' [१] तात्पर्य यह हुआ कि वही सत फुटबाल मे भी है और वही गीता मे भी। कोई भी कर्म बुरा नहीं। हर कर्म पूजा है। अतः आवश्यकता और परिस्थिति तथा वृत्ति के अनुसार कोई भी कार्य किया जा सकता है। यदि उनका सदुपयोग किया जाय तो सभी कार्य किसी न किसी रूप मे मनुष्य के उत्थान के लिये हैं। इस लोक मे मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है। स्वामी जी ने बताया है, 'अतएव वेदान्तदर्शन के मत से मनुष्य ही जगत मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और पृथ्वी ही सर्वश्रेष्ठ स्थान है, कारण कि एकमात्र यहीं पर मुक्त होने की सम्भावना है।' [२] इस आशाप्रद वाणी के द्वारा स्वामी जी ने लोगो मे अपने नैतिक

१. "वेदान्तधर्म", पृ. १६६।
२ "ज्ञानयोग", पृ ७९।

और आत्मिक उत्थान की आशा और रुचि पैदा की। तरीका यह बताया 'मस्तिष्क को ऊँची-ऊँची चिन्ताओं, ऊँचे-ऊँचे आदर्शों से भर लो, उन्हीं को दिन-रात मन के सम्मुख स्थापित करो।"[1] उनके गुरुदेव रामकृष्ण ने कहा था कि बाघ में भी ईश्वर है यह सत्य है परन्तु जैसे बाघ के सम्मुख जाना उचित नहीं वैसे ही दुष्ट मनुष्य के अन्दर भी ईश्वर के होते हुए उस दुष्ट मनुष्य का संग करना उचित नहीं। बीसवीं सदी में गांधी जी ने कहा कि घृणा दुष्ट से नहीं, उसकी दुष्टता से होनी चाहिए शायद स्याद्वाद को ध्यान में रखकर स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि जो शुभ कर्मों में भी कुछ न कुछ अशुभ तथा अशुभ कर्मों में भी कुछ न कुछ शुभ देखते हैं वास्तव में उन्होंने कर्म का रहस्य समझा है। यह कह कर स्वामी जी शुभ-अशुभ के भी संकुचित बन्धन से मानव की चेतना को ऊपर उठाना चाहते थे। उनका मत था कि प्रवृत्ति के बन्धन को चीरकर मनुष्य अपने गन्तव्य मार्ग को प्राप्त करता है। भारत का लक्ष्य था अपने प्राचीन गौरव की पुनर्प्राप्ति और इसलिये भारतीयों का लक्ष्य हुआ महान भारतीय बनना, अपने पूर्वजों की तरह बनना। इसके लिये यह आवश्यक था कि हम दूसरों के मुखापेक्षी न रहें बल्कि स्वयं सक्षम तथा समर्थ बनें। स्वामी जी ने कहा 'अपने आप में विश्वास करो और यदि तुम धन-सम्पत्ति चाहते हो तो उसे पाने के लिये प्रयत्न करो वह तुम्हें अवश्य मिलेगी। यदि तुम प्रतिभाशाली और मनस्वी होना चाहते हो तो उसके लिये भी चेष्टा करो, तुम वैसे ही होगे। यदि तुम स्वतन्त्रता चाहते हो तो प्रयत्न करो तुम देवता बनोगे।"[2] इस आश्वासन के द्वारा स्वामी जी ने प्रयास करने और कर्मयोगी होने का संदेश दिया। स्वामी जी धुरंधर कर्मी या कर्मयोगी और प्रबल इच्छाशक्ति वाले को ही महापुरुष मानते थे। कर्मयोग और दृढ इच्छाशक्ति ही महापुरुषत्व है। ऐसा मनुष्य जो होना चाहे वही हो जायगा। तो, प्रश्न उठता है कि मनुष्य क्या होना चाहे। स्वामी जी की राय है कि मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये आत्मोपलब्धि। कारण यह है कि अन्य सभी चीजों की प्राप्ति क्षणिक होती है। उनका विचार है कि जो लोग ऐशो और विलासिता की ओर झुक रहे हैं वे कुछ देर के लिये भले ही तेजस्वी और बलवान जान पड़ें किन्तु अन्ततोगत्वा वे बिल्कुल नष्ट हो जायेंगे। इसीलिये स्वामी जी अपरिग्रह संयम और त्याग को महत्वपूर्ण मानते थे। त्याग को वे 'भारत की सनातन पताका' मानते थे। यही कारण है कि थोड़े में जीवन-यात्रा का निर्वाह करके आत्मसंयम पूर्वक प्रयत्न करना चाहिये। वे पवित्रता को मूल तत्व मानते थे। इनके बिना पर्वत, गुफा, काशी अथवा स्वर्ग-सभी

१. ज्ञान योग, पृ ६२
२ "वेदान्त धर्म", पृ ८४।

बेकार है। यदि पवित्रता हुई, चित्त निर्मल हुआ तो वास्तविक सत्य का अनुभव अवश्य होगा। ऐसा व्यक्ति किसी से भी नहीं डरेगा, क्योंकि उसे अपने ऊपर विश्वास होगा। हमारे पतन का कारण उन्होंने यही बताया कि हम डरते हैं क्योंकि हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं। उनका कथन है, "हमारे देश के ये तेतीस करोड़ लोग मुट्ठी भर विदेशियों के सामने सिर झुकाते हैं और वह लोग हमसे नहीं झुकते, इसका कारण क्या है ? इसका कारण यह है कि उनको अपने पर विश्वास है और हम लोगों को अपने ऊपर विश्वास नहीं है।"[1] इसीलिये उन्होंने हमें शक्तिशाली बनने का उपदेश दिया और कहा कि वे ऐसे युवक चाहते हैं जिनका शरीर फौलाद का बना हो। उन्होंने जाति और वर्ग के भेद को भुलाकर सबमें आत्मवत् के देखने का सदेश दिया और सभी को महान तथा साधु बन सकने का अधिकार दिया, "जाति विशेष, सबल-निर्बल का विचार न कर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, प्रत्येक लड़की-को सिखलाओ, बतलाओ, बतलाओ कि सबल-दुर्बल, ऊँच-नीच सभी के भीतर वह अनन्त आत्मा विद्यमान है, इसीलिये सभी महान बन सकते हैं सभी साधु बन सकते हैं।"[2] स्वामी जी की दृष्टि म भारतीयों की महानता का स्वरूप पाश्चात्य नहीं हो सकता। उनका कथन है, "हमें अपनी जातीय विशेषता को रक्षित रखना होगा ......हमारे अधिकांश आधुनिक सस्कार पाश्चात्य कार्यप्रणाली का अनुकरण मात्र हैं। भारत में कभी इसके द्वारा सुधार नहीं हो सकता।"[3] हिन्दू-जाति और उसकी अमरता की शक्ति मे स्वामी जी का अखण्ड विश्वास था। वे मानते थे कि हिन्दू-जाति की यह जीवनी शक्ति समयआने पर महानदी की तरह प्रवाहित होगी। उनके ही शब्दों में इसका कारण यह है "अपनी वीरता के कारण वे (भारतवासी) मृत्यु का एक सहोदर के समान मानना कर सकते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनके लिये कोई मृत्यु नहीं है। इसी वीरता ने उन्हें शताब्दियों के विदेशी आक्रमणों और निर्दय अत्याचारों के सम्मुख अजेय रक्खा है। वह जाति भी जीवित है और उस जाति मे इस जघन्य दुर्दशा और विपत्ति के दिनों मे भी आत्मिक उन्नति के प्रबल महारथी हुए हैं।"[4] निश्चित है कि ये विचार किसी भी जाति के आत्मिक और नैतिक उत्थान में असाधारण रूप से सहायक होसकते हैं। यह आत्मा की भाषा है, यह नीति की वाणी है। बीसवीं सदी में स्वामी जी के ये विचार पुस्तकों के माध्यम से चारों ओर फैल गये।

---

१ "वेदान्त-धर्म", पृ २०६।

२ वही, पृ २११

३. वही, पृ २१४।

४ 'भक्ति-वेदान्त', पृ १४।

गाँधी की देन—

पीछे हम देख चुके हैं कि गांधी जी ने किन–किन उपायों और साधनों के द्वारा देश के आत्मिक और नैतिक उत्थान का प्रयास किया था। यहा हम यह देखना है कि उन्होंने किन–किन गुणों और प्रवृत्तियों को विशेष रूप से उभारा। गांधीवाद पर अपना मत प्रकट करते हुए शांति प्रिय द्विवेदी ने लिखा है कि अब तर्क अज्ञान के वातावरण मे साधारण वर्ग दुःख सहता आया है एवं मूढ़ दार्शनिक की तरह उच्च-वर्ग स्वर्गीय सुख प्राप्त करता आया है एक कूटनीतिज्ञ की तरह। इस मूढ़ता और कूटनीतिज्ञता के बीच मुमूर्ष मानवता का जागरण ही समाजवाद और गांधीवाद है।[1] उनके मत मे दुखों का वैज्ञानिक कारण, सामाजिक विवेक ऐतिहासिक तत्वान्वेषण और ऐतिहासिक विकृतियों का प्रकट करना समाजवाद के द्वारा होता है तथा ईश्वर, धर्म और भाग्य का समुचित स्वरूप, आध्यात्मिक बल, पौराणिक शोधन और सत्य को उसके आदर्श रूप म उपस्थित करना गांधीवाद के द्वारा होता है। अन्य सच्चे महात्माओं की ही तरह गांधी जी म भी यह विशेषता थी कि वे कहते थे बाद म और करके पहले दिखा देते थे। उनके गुण वाणी द्वारा अभिव्यक्त होने के पूर्व उनके कर्मों और व्यक्तित्व से पूर्णरूपेण अभिव्यंजित हो उठते थे–ठीक वैसे ही जैसे प्रखर प्रकाश के विकीर्ण होने के पूर्व अरुणाभा। लोग यह तो कह सकते थे कि क्या करें, भाई हम महात्मा नहीं है। यह हमसे नहीं होता, लेकिन कोई यह नहीं कह सकता था कि गांधी जी की अमुक बात कही नहीं जा सकती। उनकी इस विशेषता के कारण लोग उनकी बातों से असाधारण रूप से प्रभावित हो जाया करते थे।

गांधी जी ने आत्मबल को शाश्वत बल और जड़वाद का या पशुबल को निकम्मी चीज माना। उन्होंने कहा है, 'आज जड़वाद का ही बोलबाला है और लोग ऐसा समझने लगे कि चैतन्यवाद या आत्मबल कुछ है ही नहीं क्यों कि हम न तो हाथों से उसे छू सकते हैं और न आखों से देख सकते हैं। परन्तु मैं अध्यात्मवादी हूं और मेरे लिये नैतिक बल के सामने पशुबल की कोई कीमत ही नहीं है। मैं तो अब भी यही कहूंगा कि पशुबल अस्थायी है और अध्यात्मबल या आत्मबल या चैतन्यवाद एक शाश्वत बल है। वह हमेशा रहने वाला है क्यों कि वह सत्य है। जड़वाद तो एक निकम्मी चीज है।[2] अकेले इसी आत्मबल के सहारे गांधी ने सारे संसार की भौतिक शक्तियों और प्रभुताओं को चुनौती दे दी थी। सत्याग्रह म इसी आत्मबल

---

१. 'युग और साहित्य", पृ ८७।

२ 'प्रार्थना प्रवचन", भाग १, प २००

की अभिव्यक्ति होती है। वैसे सत्याग्रह कोई नई चीज नहीं है। गाधी जी ने स्वीकार किया है कि सदाग्रह शब्द से पहले उसकी उत्पत्ति हो चुकी थी। नामकरण में विलम्ब हुआ। पहले इसे 'पैसिव रेजिस्टेन्स' कहा गया। पर जब गाधी जी ने देखा कि इसका सकुचित अर्थ किया जा रहा है, इसे कमजोरों का हथियार समझा जाता है और उसमे से हिंसा के प्रकट होने की सम्भावना है तो मदनलाल गाधी ने 'सदाग्रह' का सुझाव दिया जिससे गाधी जी ने 'सत्याग्रह' बना लिया। यह सत्याग्रह संघर्षों का अन्त नहीं करता बल्कि उनके स्तर को ऊँचा उठा देता है। यह संघर्ष कुरूपताओं से मुक्त है। यह संघर्ष विनाश नहीं, निर्माण करता है। यह नैतिक स्तर पर उठ आता है यह गलती करने वालो को बदल देता है। सत्याग्रही विरोधी के प्रति प्रेम, सहानुभूति और आदर करता है। वह विरोधी पक्ष को भी ध्यान मे रखता है। इसका सबसे कठिन अंश है विनय और 'विनय' से तात्पर्य है विरोधी के प्रति भी मन मे आदर, सरलभाव, उसके हित की इच्छा और तदनुसार व्यवहार।[1] सत्याग्रह कभी निराश नहीं होता। ऐसे विनय और ऐसी आशावादिता के लिये असाधारण आत्मबल की आवश्यकता है जो असत्‌वादियों या कायरो मे कभी नहीं पाया जा सकता और इसीलिये गाधी जी ने लिखा था, 'नामर्द कभी सत्याग्रही हो ही नहीं सकता, इसे पक्का समझिये।'[2] शक्ति आती है सत्य के आचरण से और अहिंसा के भाव से। सत्य का स्वरूप है निर्माण या सृजन या रचनात्मकता, और अहिंसा का स्वरूप, पर से प्रेम या पर से आत्मप्रतीत। सत्याग्रही को असत् भाषण नहीं करना है। झूठ नहीं बोलना है। चम्पारन में गाधी जी पर चलने वाले मुकदमे की असाधारणता का उल्लेख करते हुए राजेन्द्र बाबू ने कहा है कि गान्धी जी ने गवाहों को यह कहकर निरर्थक सिद्ध कर दिया कि उनको हुक्म मिला था और उन्होंने मानने से इन्कार कर दिया। गान्धी जी ने कहा कि उन्होंने विवेक बुद्धि की आज्ञा मानकर सरकार की आज्ञा टाल दी। इससे मजिस्ट्रेट तो हक्का बक्का रह ही गया, न मालूम कितनो के अन्दर सच बोलने की चाह पैदा हो गई।[3] न मालूम कितने किसानो के अन्दर इतनी शक्ति आ गई कि जो गोरो का नाम सुनते ही काँप उठते थे वे उनके खिलाफ बयान देने आने लगे। फिर सत्य निष्ठा आई। उनकी कार्य प्रणाली बताते हुए राजेन्द्र बाबू ने लिखा है," .... "जब तक बातो की पूरी तरह जाँच न कर लें और उनका यह अपना विश्वास पक्का न हो जाय कि जिन शिकायतों को वह दूर करना

1. 'हिन्द स्वराज', पृ ८८
2. 'बापू के कदमो मे', पृ ११-१८।
3. 'वही', पृ. १६।

चाहते हैं, वे सच्चे हैं, वह कुछ करना नहीं चाहते।[१] फिर इतनी शक्ति मिली कि वह जो करना चाहते थे उसकी सूचना अपने विरोधियों को भी दे देते थे। इसीलिये गान्धी निडर थे। वे न भीड़ से डरे, न पुलिस से डरे, न जेल से डरे, न कठिनाईयों से डरे और न नोआखाली के गुन्डों से डरे। यही स्थिति उनके सच्चे अनुयायियों की भी थी। शक्ति मिली, निर्भयता मिली। इसी सत्य ने अपने निश्चय पर दृढ़ रहने की शक्ति दी। गान्धी का आत्मबल सत्य से निकलता है और सत्य ही गान्धी का परमेश्वर है। इस सत्य पर विश्वास ही आस्तिकता है। इसलिये गान्धी जी बहुत बड़े आस्तिक थे। उन्होंने बार बार कहा है कि ईश्वर पर विश्वास बहुत बड़ी सहायता है। उन्होंने कहा है 'धर्म उन लोगों के कारण बढ़ता है जो ईश्वर का नाम लेते हैं, ईश्वर का नाम करते हैं, ईश्वर का स्तवन करते हैं, उपवास और व्रत करते हैं और ईश्वर से आरजू करते रहते हैं कि भगवन्, हम रास्ता नहीं देखता, तू ही दिखा दे। गान्धी जी मानते थे कि राम नाम सबसे ऊँची दवा है किन्तु उसको अनुभव करने के लिये धीरज चाहिये। उस ईश्वर से शक्ति पाने के लिये प्रार्थना होनी चाहिये और गान्धी जी के लिये प्रार्थना कितनी महत्वपूर्ण थी —यह कहने की आवश्यकता नहीं रह गई। यह आत्मशक्ति की एक बहुत बड़ी देन थी कि गान्धी को सबकी मलमनसाहत पर विश्वास था। उनका कहना था कि विश्वास निकलता है। विश्वास से दगाबाजी का सामना करने की ताकत मिलती है।

संयम को वे अहिंसात्मक बहादुरी का एक साधन समझते थे। संयम ही हमें प्रतिहिंसात्मक होने से रोक सकता है। वे गुस्से का जवाब गुस्से से देना अन्याय समझते थे। वे केवल साध्य की ही सात्विकता से संतुष्ट नहीं थे बल्कि साधनों को भी सात्विक देखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि गलत साधन से सही काम कभी हो ही नहीं सकता। गांधी जी उपवास को आत्मशुद्धि का अचूक साधन मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि किसी विषय में यदि सफलता नहीं मिली तो उसका कारण अपने ही अन्दर की कोई कमी है। इसीलिये उनका विश्वास था कि कोई बाहरी शक्ति इन्सान को नहीं गिरा सकती। गांधी जी अपने प्रतिपक्षी को प्रेम के प्रयोग से जीतते थे। उसके मन में अच्छी भावनाओं को जागृत करके वश में करते थे। उन्होंने अपने लड़ने का जो तरीका बताया है वह पूर्णरूपेण आत्मिक और नैतिक शक्तियों पर आधारित है। उनका कथन है, मेरा लड़ने का तरीका तो राम जैसा है।

१ 'प्रार्थना प्रवचन', भाग १, पृ ६०।
२ 'प्रार्थना प्रवचन', पृ १५–१६।

राम-रावण-युद्ध जब चल रहा था तब विभीषण ने राम से पूछा कि आप बिना रथ के हैं, आप कैसे लड़ेंगे ? तब राम ने सच्चाई, शौर्य, आदि गुणों के आधार पर कैसे लड़ाई लड़ी जाती है, यह बताया।"[1] गान्धी जी जिस अशरीरी तत्व के उपासक थे 'राम' उसी का प्रतीक बना। गांधी जी ने सफाई पर बड़ा जोर दिया और कहा कि जिसका शरीर मलिन है, क्यों कि वह भी मन की मलीनता से ही होता है, और साथ ही जिसकी दृष्टि में गंदगी रहती है, जो भगवान का भजन न सुनकर दुष्टों का इतिहास सुनता है, वही 'सच्चा कोढ़ी है'। गांधी जी के अनुसार *अपनी सच्ची सफाई अपने ही द्वारा हो सकती है और इसीलिये वे खुद की मदद या* स्वाश्रय के कायल थे। स्वावलम्बन को वे नितान्त आवश्यक समझते थे। वे चाहते थे कि आदमी कम से कम मे अपना गुजारा कर ले। वे अपरिग्रह सिखाते थे। वे स्वादेन्द्रिय पर विजय पाने को अत्यन्त कठिन किन्तु अत्यन्त आवश्यक मानते थे। छुआ छूत का भी उन्होने घोर विरोध किया। वे इतना सादा भोजन पसंद करते थे कि नमक मिर्च जैसी चीजें भी मिलाकर कुछ पाच ही चीजें भोजन मे चाहते थे। बुराई दूर करने का उनका तरीका सक्रिय असहयोग का था। कानून और सरकार को वे हिंसा से सबधित मानते थे और हिंसा उन्हें इतनी असह्य थी कि उन्होने लिखा है, 'यह मानना नास्तिकपन और वहम है कि बहुसख्यक की बात अल्पसंख्यक को माननी ही चाहिए।[2] वे मानते थे कि सख्या और शस्त्र के सामने सकल्प और साहस बल भारी पड सकता और विजयी हो सकता है। इन और ऐसे ही अनेक गुणों का और प्रवृत्तियो का प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से प्रचार करके गांधी ने मोतीलाल नेहरू से लेकर देहातो के अज्ञात-अप्रसिद्ध कार्यकर्ताओं तक को खद्दर पहनवा दिया चर्खा कतवा दिया, सादा जीवन बितवा दिया, उबाले चने चबवा दिये, प्रार्थना मे बिठला दिया, जेल जाना और वहा के कष्ट सहना सिखा दिया। गीता लेकर हँसते-हँसते फासी पर चढ जाना सिखा दिया। पजाब के गुरुद्वारों के बहुतेर निकम्मे और दुराचारी महन्तो का गुरुद्वारो पर नियत्रण कम करने के लिये अकालियो ने बीसवी सदी के तृतीय दशक मे जो आन्दोलन चलाया था वह गांधी जी की उपर्युक्त शिक्षाओं का ही प्रभाव था। उनका स्वरूप यह था कि सरकार ने अकालियों को सत्याग्रह करने के लिये जाने से रोका, 'कुछ अच्छे तगडे जवान निरस्त्र हाथ जोड़े आगे बढ़े। उधर से लोहे और पीतल से मढ़ी हुई लाठिया लिये हुए पुलिस के सिपाही एक अंगरेज अफसर के साथ आगे आए। उन लोगों को उन्होंने रोका। वे लोग बैठ गये। इस पर उन लोगों

---

१ 'प्रार्थना प्रवचन' पृ० १५, १६।

२. 'हिन्द स्वराज्य' पृ० ८६।

को लाठियों से पीटा। वे फिर उठकर खड़ा होना चाहते पर मार कर गिरा दिये जाते। यह क्रम उस वक्त तक चलता रहता जब तक वे बेहोश नहीं हो जाते। बेहोश हो जाने पर ऐम्बुलेन्स पर लादकर उनको दूसरे लोग उठा लाते। कभी-कभी उनके केश पकड़ कर उन्हें घसीटा भी जाता"' "'''पीठ पर अथवा सिर पर वार करते थे, अथवा दोनों जघो के बीच में लाठी लगाकर फाते पर चोट करते या पेट में मारते थे ''''''''' सिक्खो की हिम्मत और बर्दाश्त की शक्ति भी अद्भुत थी।'[1] यह आत्मशक्ति का ही प्रभाव था कि एक बार जब गाधी से कहा गया कि अपना सदेश रेकर्ड करवा दें तो उन्होंने कहा कि यदि मेरे सन्देश मे सत्य है तो मैं जेल के अन्दर रहूँ या बाहर उसे लोग सुन ही लेंगे। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने नेहरू जी का यह विचार लिखा है कि खादी का सबसे अच्छा परिणाम मानसिक हुआ है।[2] खादी ने शहर वालों और गाववालों के बीच की खाई को पाटने मे कुछ कामयाबी हासिल की है। खद्दर से आत्म निर्भरता की निकली। राजेन्द्र बाबू ने लिखा है कि हम सत्याग्रह को जिस ऊचाई पर पहुँचे हैं उससे निःसन्देह इतिहास का रूप बदल गया है।[3] यह आत्मिक और नैतिक उत्थान सबधी आन्दोलनो का ही प्रभाव है कि वह लाठी जो मारने का साधन थी आगे बढने का सहारा बन गई। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीयता मे अँगरेजो के प्रति द्वेष या घृणा बहुत कम थी। आर्यसमाज ने ओजप्रधान सामाजिक विवेक जागृत किया था जिसे गाधी ने आत्मशक्ति द्वारा सत् प्रधान राजनीति मे परिवर्तित कर दिया और शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है,''' ''''''''''अधिकाश युवक एक ऊचे आदर्श की साध म, अपने सपूर्ण जीवन को सार्थक बनाने की खोज मे, अपने मनुष्यत्व का, अपने व्यक्तित्व का, अपने 'स्व' का सर्वाङ्गीण स्वतत्र विकास करने की खातिर इस व्रत म दीक्षा लेते थे।'[4]

हम पर इनका प्रभाव—

इस प्रकार नैतिक और आत्मिक पुनरुत्थान की प्रवृत्तियो एव आन्दोलनो ने हमारे जन-मानस को आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित किया। साहित्यिक-चेतना जन मानस की अपेक्षा कहीं अधिक सवेदनशील और ग्रहणशील होती है। उस पर इनका

१ 'राजेन्द्र बाबू कृत 'आत्मकथा' पृ० २३५ २३६, २३७।

२ 'वृन्त और विकास', पृ० १६।

३ पट्टाभि सीतारामैया कृत 'काग्रेस का इतिहास', की भूमिका, पृ० ७।

४ 'बन्दी जीवन', भाग, २, पृ० ६।

प्रभाव भारतेन्दु युग से ही पड़ना प्रारम्भ हो गया था क्योंकि आधुनिक काल में भारतेंदु युग से ही हिन्दी साहित्य ने धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग अपनाना प्रारम्भ कर दिया था जिसकी पूर्णतम परिणति बीसवीं सदी में हमें मैथिलीशरण गुप्त में दिखाई पड़ती है। रूढ़ियों, और अन्धविश्वासों की विपुल राशि को काट फेंकने के आर्यसमाजी कार्यक्रम का यह प्रभाव पड़ा कि हिंदू धर्म विशुद्ध नीति वाला धर्म हो गया। उसका नैतिक पक्ष प्रबल हो गया। आधुनिक हिंदी साहित्य में धार्मिक साम्प्रदायिकता इसीलिये कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ती। वह उच्चकोटि के नैतिक और आत्मिक स्तर की अभिव्यक्तियों का वृन्दावन है। विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है कि आर्यसमाज ने 'अपनी ओर से हिंदी लेखकों और कवियों के जीवन-संबंधी दृष्टिकोण को अधिक युक्तिवादी अथवा बुद्धिप्रधान बना दिया'।[४] 'दिनकर' ने लिखा है, कि शृंगार की कविता लिखते समय द्विवेदी युग के कवियों को मानो ऐसा लगने लगता था जैसे कि स्वामी दयानन्द पीछे खड़े देख रहे हों।[१] यह बड़ी भारी बात थी। परिणामस्वरूप आर्यसमाजी लेखकों की आर्यसमाजी विचारधारा से सम्बन्धित विपुल कृतियों से हिन्दी साहित्य भर गया। लक्ष्मी नारायण गुप्त ने इस विपुल साहित्य का विस्तृत परिचय देने का प्रयत्न किया है[२]। 'आर्यदर्पण' आर्यावर्त', 'आर्यमित्र', 'दयानन्द'-पत्रिका', वैदिक मार्तण्ड', 'वैदिक संदेश', 'अर्जुन', आर्यगजट', 'आर्यजीवन', 'सार्वदेशिक' 'हिन्दी' मिलाप', आदि पत्र-पत्रिकाएँ, उपन्यास, कहानियां, नाटक, जीवनचरित वेदभाष्य एवं अन्य वैदिक साहित्य के अनुवाद आदि निकले। तुलसीराम स्वामी का सामवेद और श्वेताश्वतर का भाष्य, पं. आर्यमुनि का वेदान्त तत्व कौमुदी', इन्द्र वेदालंकार का 'उपनिषदों की भूमिका, देवशर्मा 'अभय का वैदिक विनय', नारायण स्वामी द्वारा रचित 'वैदिक साहित्य', भगवद्दत्त का 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास', दामोदर सातवलेकर का 'वैदिक साहित्य', रघुनन्दन शर्मा का 'वैदिक सम्पत्ति', मुंशीराम शर्मा 'सोम' का 'प्रथमजा'; नारायण स्वामी का 'आत्मदर्शन', 'मृत्यु और परलोक', गंगाप्रसाद उपाध्याय का 'आस्तिकवाद'; दीवान चंद का 'स्वाध्याय संग्रह' रुद्रदत्तशर्मा के प्रहसन वासुदेवशरण का 'उरुज्योति' और सैकड़ों छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ हिन्दी साहित्य को आर्य समाज की महत्वपूर्ण देन है। इन नैतिक और आत्मिक उत्थान के आन्दोलनों का हिन्दी साहित्य को के मानस पर

---

४ इंग्लिश इन्फ्लुएन्स आन हिन्दी लैंग्वेज एंड लिटरेचर', (१८७० ई० से १९२० ई०) नामक थीसिस, पृ ८७।

१ 'काव्य की भूमिका', पृ २८।

२ 'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन' नामक थीसिस से

कितना असाधारण प्रभाव पड़ा था और वह कितना अनुभूति शील हो गया था इसका एक उदाहरण श्यामसुन्दर दास ने प्रस्तुत किया है —'जब कोश की समाप्ति पर उत्सव मनाने की चर्चा हो रही थी तब यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक जीवित सम्पादक का एक दुशाला, एक घड़ी और एक फाउन्टेन पेन उपहार में दी जाय। एक दिन बातों-बातों में मैंने अपनी स्त्री से इस आयोजन का हाल कहा। उसने पूछा कि क्या तुम भी दुशाला घड़ी और कलम लोगे। मैंने उत्तर दिया क्यों नहीं ? उसने प्रत्युत्तर दिया —'यह सर्वथा अनुचित है। सभा को तुम अपनी कन्या मानते हो, उसकी कोई चीज को लेना अनुचित और धर्मविरुद्ध समझते हो, फिर ये चीजें कैसे ले सकते हो ?'[१] यह था द्विवेदी युग के हिन्दी-साहित्यिक का भावात्मक या आत्मिक उत्थान। फिर भी द्विवेदी युग का साहित्य निवृत्तिवादी साहित्य नहीं है। जैसे इस युग के आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आंदोलन व्यक्तियों को सन्यासी नहीं बनाना चाहते थे, कर्मठ गृहस्थ बनाना चाहते थे वैसे ही इस युग की कविता से सन्यास की ध्वनि नहीं निकलती और न वह सन्यासी की वृत्तियों से भरी है। वहाँ नर और नारी दोनों का मूल्य समाज में उठा था। पथिक में, प्रियप्रवास में, साकेत—यशोधरा—भारत-भारती' में एक उच्चकोटि की आत्मिक श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है। ये पुस्तकें असाधारण रूप से ऊँच नैतिक स्तर पर हैं जातिगत कटुता और संकुचित दृष्टिकोण जो इनमें कहीं नहीं है सो इसी उन्नत आत्मा का फल है। अनुवादकों के द्वारा रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के वचन मृत हिंदी की निधि हो गये। निश्चित रूप से हिन्दी इनसे समृद्ध हुई है। रामकृष्ण मिशन के हिंदी प्रकाशन इसके प्रमाण हैं। द्विवेदी युग में साहित्य सृजन कविता लिखना तथा हिंदी का प्रचार और प्रयोग पवित्र कार्य समझा जाता था। इस पृष्ठभूमि में हम रामकुमार वर्मा के इन कथनों को सही समझते हैं और उन पर विश्वास करते हैं, मैंने कविता को एक अत्यन्त पवित्र अनुभूति के रूप में समझा है। इसीलिये मैंने किसी हल्के क्षण में कविता नहीं लिखी। अपने काव्य जीवन के प्रभात में तो मैं स्नान कर कविता लिखने बैठता था, आज जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो जैसे पूजा की पवित्रता मेरी लेखनी की नोक पर आ बैठती है। सम्भवत यही कारण है कि मैं भौतिक शृंगार की कोई कविता नहीं लिख सका या जीवन की उन बातों पर प्रकाश नहीं डाल सका जो पार्थिव जीवन के क्रोड में अपनी दैनिक गति से घटित होती रहती हैं।[२] सम्भवत यही कारण है कि उनके हास्य और व्यंग्य प्रधान नाटकों का उद्देश्य केवल हँसाना ही नहीं है हृदय का परिष्कार भी करना है।

---

१ मेरी आत्म कहानी', पृ १७५।

२ 'आधुनिक कवि' भाग ३ की भूमिका, पृ ३

उन्होंने स्वय इसे स्वीकार किया है।[४] नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलनों को भूमिका मे ही अथवा उनके द्वारा पडने वाले व्यापक प्रभाव के परिणामस्वरूप ही महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उन दिनो दो-सौ रुपये मासिक की नोकरी छोड़कर तेईस रुपये मासिक की सम्पादकी स्वीकार की और इन्ही आन्दोलनों से निसृत "नवनीत के प्रभाव ने ही उन की धर्मपत्नी क मानसिक और नैतिक स्तर को इतना ऊँचा उठा दिया था कि द्विवेदी जी को उनका भी समर्थन और सहयोग मिल गया। सच मुच द्विवेदी युग मे साहित्य की एक नैतिक मर्यादा थी—एक ऊँचा आदर्श था। 'कानन कुसुम' मे मत, धर्म, आदि को दूर करके मानवमात्र से प्रेम करने, ससार भर को मित्र बनाने एव परम पिता की प्रिय सतान की तरह अभिन्न रहने की बातें हैं। 'कामना' मे विश्वबन्धुत्व और सम्पूर्ण मानवता के प्रति प्रेम की भावना है। पत की 'ज्योत्स्ना' नामक आदर्शवादी रूपक आत्मिक और नैतिक उत्थान सम्बन्धी इन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि पर ही लिखा जा सकता था। पत ने लिखा है, "रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को मैंने नव मानवता के निर्माण के लिये अनिवार्य मूल्य माना है।...... गाधी जी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक रासस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों में रहेगा।"[१] वे स्वीकार करते हैं कि "पश्चिमका जीवन सौष्ठव हो विकसित विश्वतंत्र मे विनरित, प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्णद्रवित भू तमस तिरोहित" इत्यादि ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानन्द के सारगर्भित कथन 'मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ" को ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ।'[४] विवेकानन्द ने लिखा है, "बल्कि इस (शारीरिक साहस के) विषय में तो चींटी अन्य जन्तुओ से श्रेष्ठ है"[५] और पन्त ने 'चींटी' शीर्षक कविता में लिखा, "वह समस्त पृथ्वी पर निर्भय, विचरण करती श्रम मे तन्मय, वह जीवन की चिनगी अक्षय। . .. ...जीवित चींटी जीवन-वाहक, मानव जीवन का वर नायक।" 'प्रसाद' की 'कामायनी' मे अलौकिक शक्ति सपन्नता, यम-नियम, उपासना, समन्वय, नारी के उदात्त रूप, विश्व मैत्री, मानवता प्रेम, विश्वबन्धुत्व, आदि की भावना और उच्चकोटि के नैतिक जीवन तथा आध्यात्मिक बल-प्राप्ति का सदेश मिलता है। प्रेमचन्द और 'प्रसाद' का आदर्शवाद इन्हीं आन्दोलनो की पृष्ठभूमि पर है। बालकृष्ण

---

१. "रिमझिम", पृ० १६।
२. "चिदबरा", पृ० २७।
३ वही, पृ० ३१।
४. "उत्तरा" की भूमिका, पृ० २२।
५. "ज्ञानयोग", पृ० ६२।

राव ने ठीक ही लिखा है, "छायावाद विद्रोह की भूमिका मे साहित्य के मच पर उतरा था पर उपदेशक बनकर हमें शान्त रहने सन्तोष करने और दुख को हँस कर स्वीकार करने का पाठ पढाने लग गया।'[1] छायावाद मे निश्चित रूप से विराट और उदात्त भावनाएं हैं। इसके पश्चात् राजनीति मे समाजवादी विचारधारा फैल गई और साहित्य में प्रगतिवाद आ गया। राहुल, यशपाल, 'अज्ञेय' इलाचन्द जोशी, 'पहाड़ी', धर्मवीर भारती, आदि की रचनाओ ने अपने को इन नैतिक और आत्मिक उत्थान सम्बन्धी आन्दोलनों के प्रभाव से सैद्धान्तिकता और बौद्धिकता के द्वारा जैसे-जानबूझ कर मुक्त कर लिया हो। गाधी-विनोवा-विवेकानन्द के युग पर प्रजातन्त्र और समाजवाद के बादल छा गये। साहित्य मार्क्स, फ्रायड, भौतिकवाद, यथार्थवाद, आदि के घुएं में घुटन और कुंठा की अनुभूति कर रहा है।

१. "कल्पना" पत्रिका, मार्च, १९५९

अध्याय १०

पाश्चात्य सभ्यता और हिन्दी प्रदेश

पाश्चात्य सभ्यता क्यों लाई गयी — लाने की प्रक्रिया — बीसवीं सदी मे उसका व्यापक प्रभाव — पुनरुत्थान की प्रक्रियाओं पर उनका प्रकोप आर्य समाज — ईसाइयों से जनता की अरुचि — हमारी उदारता, उनकी चतुराई — पाश्चात्य सभ्यता के उपकरण और उनका प्रभाव — हिन्दी प्रदेश के मुख्य गढ़ों पर अधिकार — असन्तोष का अंकुर और उसका बढ़ना — प्राचीन नवीन की तुलना और नवीनता — अनर्थ-ज्ञान — अंगरेजी सभ्यता का साहित्य पर प्रभाव — विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि — साम्यवादी विचारधारा — फ्रायड — मनोविज्ञान — इलियट — प्रतिबिम्बवाद तथा कुछ महत्वपूर्ण विचारक — पाश्चात्य सभ्यता हमें पतन की ओर ले चली — दो इंगलैंड और एक से हमें सहायता मिली — हमारे भीतर की संजीवनी शक्ति — अच्छे का उपयोग और उसका प्रभाव।

पाश्चात्य सभ्यता और हिन्दी प्रदेश

पाश्चात्य सभ्यता क्यों लाई गई ?

भारत के व्यापार और धन पर अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने के अबाध अधिकारों की प्राप्ति के लिये भारत में होने वाले यूरोपीय शक्तियों के संघर्षों में जब अंगरेज पूरी तरह से विजयी हो गया तो उसका दूसरा काम हुआ फल का उपभोग अर्थात् व्यापार पर अपना इजारा कायम करना और जिस तरह से हो सके धन बटोरना। उन्होंने राजनीतिक परतन्त्रता की शृङ्खला से बांधकर हमें अपंगु, अशक्त और प्रतिकार कर सकने में पूर्णतः असमर्थ कर दिया। निर्जीव का ही अपहरण और उसकी विभूतियों का ही यथेच्छ उपयोग सम्भव भी होता है। अंगरेजों ने पहले तो सेवा-सत्कार के बदले प्राप्य बख्शीश के रूप में व्यापार करने की स्वतन्त्रता ही मांगी थी किन्तु जब उसे राजनीतिक अधिकार भी अपने उद्देश्य की दृष्टि से सही (और मानवता तथा नीति की दृष्टि से गलत) उपभोग प्रारम्भ कर दिया। तात्पर्य यह कि नीति-अनीति, सही-गलत, अच्छेबुरे, सभी ढंगों से धन इंगलैंड पहुँचाया जाने लगा। व्यापारी को "लाभ" होने लगा। यदि अंगरेज व्यापार तक ही सीमित रहता तब तो बात दूसरी थी लेकिन व्यापार की भूमिका में जो उसने राजनीतिक अधिकार लिये तो रंग-ढंग बदल गया। इससे फायदा भी हुआ और नुकसान भी। फायदा यह हुआ कि व्यापार के क्षेत्र में जहां, जिस दर पर, जिस शर्त पर, जिस प्रकार, जितना, जिसके द्वारा और जो चाहा वह करने की उसे सुविधा मिल गई। दूसरी ओर, जो उसकी जिम्मेदारी देश पर राज्य करने की हुई वह एक बहुत बड़ी बात थी। वह हमारे तंत्र यानी हमारी संस्कृति से अपरिचित था। अस्तु, इसके अनुसार यानी हमारी प्रकृति और परम्परा के अनुसार वह शासन न कर सका और न जीवन की गतिविधि ही नियोजित और निर्धारित कर सका। कुछ-कुछ क्षेत्रों में (जैसे, कानून में) उसने मौलवियों और पण्डितों से राय ली किन्तु जैसे शब्दकोष (डिक्शनरी) से शब्दों की प्रकृति और भाषा की प्रकृति नहीं जानी जा सकती वैसे ही उसकी गतिविधि हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बद्ध न हो सकी। वैसे भी, हमारे जीवन में हमारे ही तंत्र

को चलते देने मे उसका कोई विशेष लाभ भी नहीं था। लाभ तभी सभव था जब हमारे जीवन को अंगरेज अपने अंगरेजी तन्त्र से बाधते। ऐसा करने से लाभ यह था कि स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक हम उनके अनुगामी (नक्लची) बन सकते थे। परानुयायी या परानुगामी का अपना विशेष कुछ भी नहीं होता। जब इनका सबका प्रभाव वह आतरिक रूप से भी ग्रहण कर लेता है तो उसकी अपनी सस्कृति भी नष्ट हो जाती है। तन्त्र का सम्बन्ध जहाँ तक अस्तित्व के जड पक्ष से है वहा तक सभ्यता का वृत्त है, और जहाँ तक आन्तरिक पक्ष से है, चेतन से है वहा तक सस्कृति का। तो, स्थूल इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक यदि हम उनके रग में अनुरजित हो जायँ तो 'तन के काले मन से गोरे" बन जायँ–अर्थात् उनके जैसे बने-सिले कपडे पहनने की नक्ल करें, उनके यहा की ही बनी चीजों का उपभोग करें, उनके जैसे बने घर–कमरों मे रहें, उनके जैसे कुर्सी–मेज का उपयोग करें, उन्हीं की तरह बोलें, उनकी ही बोली बोलें, उन्हीं का साहित्य पढें, अपना साहित्य और अपनी बोली बोलने मे अडचन, कठिनाई और अपमान का अनुभव करें, उन्हीं की तरह अपनी पत्नी से प्रेम-व्यवहार करें और प्रेम करें, उन्ही की तरह के शिक्षालय खुलें, उन्हीं की तरह गुरु भी हो और शिष्य भी, उन्हीं की तरह हम भी रुपये के गुलाम हो और आदमी को यन्त्र मात्र मानें, आदि। इससे उनके व्यापार में भी फायदा था। उनकी जैसी चीज हम बना नहीं पायेंगे तो हम अपने यहा का कच्चा माल उन्हें देकर कहेंगे कि साहब, जैसी आपकी चीज है वैसी ही इसे भी बना दीजिये। इस बनी चीज को हम तिगुने दाम पर उनसे खरीदेंगे। यों उनका व्यापार बढता है। वैसे, हम अपने दर्जी से भी सूट सिलवाते हैं लेकिन सन् १९६४ ई० में भी हमारे भीतर ऐसे प्राणी हैं जो इगलैंड-अमेरिका में सिला सूट पहनकर कुछ ज्यादा अकड और शान से चलते हैं ? कहा वह और कहा यह !! तो, इस तरह यदि सभ्यता की दृष्टि से भारत इगलैंड का अच्छा नक्लची हो जाय–और ध्यान रहे कि सभी दृष्टियो से सबसे अच्छा नकलची पुत्र होता है–तो इगलैण्ड सभ्यता की दृष्टि से हमारी 'पितृभूमि" हो सकती थी ! अंगरेजों ने यही चाहा था मगर दुख है कि स्वतन्त्रता–प्राप्ति के पश्चात् भंवाले के कुछ सच्चे बेटे बे-बाप के हो गये ! अस्तु, कुछ व्यापार की दृष्टि से और कुछ अपने शासन को भारत पर लादे ही रहने की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक और सुविधाजनक तथा उपयोगी था कि भारत को शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक–सभी दृष्टियों से इसके अपने तन्त्र से वियुक्त करके इगलिस्तान के तन्त्र में बाध दिया जाय। सच्ची और समग्र पर-तन्त्रता तो यही है न !

पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार की प्रक्रिया—

अंगरेजो ने अपने तन्त्र को हम पर लादने का प्रयत्न बडे ही व्यापक रूप से

किया था। उनका कार्यक्षेत्र स्थूल इंद्रियों से लेकर अचेतन मन और बुद्धि तक बना। धर्म को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। केरल-गोआ से लेकर काशी-प्रयाग-मथुरा तक मसीह के भक्तों ने हर संभव उपाय से मसीह के भक्तों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार उन्होंने भारत के पापियों का उद्धार किया प्रारम्भ कर दी। १८५७ ई० की चिनगारी के रूप में सुप्त शेर का पहला थप्पड़ पड़ा और क्रुद्ध होकर अंगरेजों ने उस हाथ को-पंजे को-क्रूरता-पूर्वक मिटाना-बर्बाद करना चाहा। ऐसा लगता है कि जैसे चोर किसी बेखबर सोये हुए आदमी को नोच रहे हों और ज्यों ही हाथ -लेजा काटने को बढ़ें त्यों ही वह करवट बदलकर हुंकार भर कर एक हाथ फटकार दे। धर्म-संस्कृति भारत का मर्म है। १८५७ ई० के बाद अंगरेज समझदार हो गया। उसने घोषणा की-हम तुम्हारे मर्म को न छुएंगे और हम यह सब काम तुम्हारी भलाई के लिये ही कर रहे हैं क्योंकि तुम हमारी प्रजा हो। धोखे-धड़ी से हमारी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला बड़े दुलार से हमें अपनी 'प्रजा' कहने लगा कुछ भी हो, १८५७ ई० में जो नींद टूटी तो फिर हम सोये नहीं। सांस्कृतिक तन्द्रा या प्रमाद का झोंका उसके बाद बड़ी तेजी से यदि फिर कभी आया है तो गांधी के मरने के बाद ही। अस्तु भारतवर्ष में आकर अंगरेजों ने यहाँ की भूमि-व्यवस्था के क्षेत्र में अखिल भारतीय पैमाने पर जो परिवर्तन प्रारम्भ किये उन सबका सारांश यह था कि जमींदार ठीक से राज्य-कर देते रहें और अच्छे 'ब्वायज' या 'गुड सिटीज़न' बने रहें तो उन्हें इस बात में भी पूरी स्वतन्त्रता थी कि वे जो चाहें करें और जैसे चाहें, रहें अर्थात् कुछ भी कमाई किये बिना जैसा चाहें, धन बसूलें-सम्पत्ति बढ़ायें और भोग-विलास, अनैतिकता, अत्याचार और जड़ता एवं पशुता की खाई में भारत के परवश-विस्मृत-अमृतपुत्रों को ढकेलते रहें। हां, धन और प्रशासन संबंधी किसी विशेष अधिकार की मांग न करें। अंगरेजों ने अपने अस्तित्व और स्थायित्व के लिये इनसे पूरी सहायता और सहयोग की आशा की थी और वे निराश नहीं हुए। ये अंगरेजों के मानसपुत्र बने और अपने समस्त प्रभाव-क्षेत्र को भी वैसा ही बनाने लगे। राज्य-शक्ति की प्रकृति की अनुरूपता और प्रवृत्तियों का अनुसरण प्रजा की वैसे भी स्वाभाविकता होती है। एक ओर आजादी के प्रयत्न भी होते रहे और दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता भी अपना जोर दिखाती रही। यह घात-प्रतिघात चलता रहा। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में १८५७ ई० की "क्रान्ति के बाद अंगरेजी शासन के दृढ़ होने के साथ ही पाश्चात्य विचारधारा भी वेग से चलने लगी।"[१]

---

१. "आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत", पृ० ४०।

बीसवी सदी मे उसका व्यापक प्रभाव—

बीसवी सदी मे उन्नीसवी सदी की इन प्रवृत्तियो का पूर्ण परिपाक हमे मिलता है। अँग्रेजो की ज्ञात या अज्ञात, स्वाभाविक या अस्वाभाविक रूप से बरती जाने वाली कूटनीति की पूर्ण सफलता बीसवी सदी मे खुले रूप से स्पष्टतम रूप से-हमारे सामने आ गई। हममे से लगभग सभी ने उनकी सभ्यता की थोडी बहुत सभी चीजें अपना लीं-कुछ जान-बूझ कर, कुछ स्वार्थवश, कुछ विवशतावश। आस्था और विश्वास, भावुकता और रागात्मकता की दृष्टि से हम मध्ययुगीन ही रह गये किन्तु व्यावसायात्मिक बुद्धि और बाह्य जीवन मे हमारे अन्दर अँगरेजियत आ गई-आधुनिकता आ गई। हमारी आधुनिकता का अर्थ था – और बहुत-कुछ है भी—अँगरेजियत या अँगरेजों की नक्ल। आधुनिकता यदि हमारे समाज की, हमारे जीवन की, प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघात और तज्जन्य आवश्यकताओ से उद्भूत हुई होती तो समुद्र-मथन से नि सृत अमृत की तरह होती किन्तु यह हमारे समाज पर लादी गई थी हम पर शासन करने वालो की स्वार्थ-पूर्ति का आवश्यकताओ के परिणामस्वरूप। घोडा गाडी के आगे नही था, गाडी घोडे के आगे की गई। घोडे ने गाडी खीची नहीं, गाडी ढकेली गई। हम विभक्त हो गये। आधा तीतर, आधा बटेर हो गये। पराजय और पराधीनता का यह सब परिणाम होता ही है! आनल्ड ट्वायनबी का भी यही मत है। यद्यपि उनके ये विचार योरप तथा सारे विश्व को ध्यान मे रखकर व्यक्त किये गये हैं, फिर भी वे भारत पर भी चरितार्थ होते हैं। वे कहते हैं "विश्व मे यूरोप का प्राधान्य और पाश्चात्य सभ्यता का विस्तार साथ-साथ हुआ है। दोनो आन्दोलन एक दूसरे के पूरक और सहायक रहे हैं। यह कहना असम्भव होगा कि इनमे से कौन किसका कारण रहा है और कौन किसका प्रभाव। स्वाभाविक था कि यूरोप के राजनैतिक प्राधान्य के कारण पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार मे सुविधा हुई क्योंकि शक्तिहीन और अक्षम के द्वारा सशक्त और सक्षम का अनुकरण सदा से ही होता है.........जिस शताब्दी की समाप्ति १६१४ ई० के आसपास हुई है उसमे संसार को आर्थिक दृष्टि से नवीन पाश्चात्य औद्योगिक व्यवस्था ने ही नही जीता था बल्कि उन पाश्चात्य राष्ट्रों ने भी जीता था जिनके अन्दर यह नवीन व्यवस्था पाई जाती थी और जिन्होंने इस व्यवस्था का आविष्कार किया था।"[१] राजनीतिक दृष्टि से हारने वाली जाति के अन्दर एक प्रकार की मानसिक हीनता जो पैदा हो जाया करती है अँगरेजों के सामने वह हमारे अन्दर पैदा हो गई थी। फिर वह गोरे थे,

१ सिविलिजेशन आन ट्रायल', पृ० ६४।

हम काले, और यह भी हमारी एक बड़ी कमजोरी है-शायद सारी मनुष्य जाति की कमजोरी-कि हम काले की अपेक्षा गोरे की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं।

छोटा बच्चा काली की अपेक्षा गोरी दुलहिन, और मां-बाप काली सन्तान की अपेक्षा गोरी सन्तान अधिक पसंद करते हैं। इसलिये गोरा अंगरेज अपने आप देवदूत हो गया। बेईमानी या ईमानदारी, नीति या अनीति किसी भी तरह से हो, वह जीता और कई बार जीता, हम हारे और कई बार हारे। क्रूरता हम दिखला नही सकते इसलिये जब हम जीते तो हमने उन्हे आतंकित नहीं किया लेकिन जब वे जीते तो उनके नृशस अत्याचारों, पाशविक व्यवहारो, दानवीय प्रदर्शनो और क्रूरतापूर्वक दमन ने इन्सान तो क्या, धरती-वायु-आकाश-पानी-आग के एक-एक कण को थर्रा दिया था ! बहू-बेटियो की इज्जत गोरे सिपाही खुले आम, दिन दहाडे, सबके सामने लूट लेते थे। जीना दूभर हो गया था। जीना तभी सभव था जब हम अपने को उनका भक्त सिद्ध करके उन्हे यह विश्वास दिला देते कि हम सभव असभव उपाय से उनके हैं। उनकी हर क्रिया के समर्थक हैं। १८५७ ई० के बाद वे भी हम परतभी विश्वास कर सकते थे जब हम इस तरह का पूर्ण आत्मसमर्पण करते। जिंदगी बहुत प्यारी होती है और सामान्यत मानव 'जेती बहै बयार पीठ तब तैसी कीजै' का सिद्धांत मानता है। कमजोरो ने घुटने टेक दिये, वीर जान पर खेल गये। कमजोरो की सख्या अधिक होती है, वीर अकेला ही होता है। हम कमजोर नही थे— कभी नही थे - पराधीनता के इन दिनो मे भी नही थे - लेकिन एक बार हारने पर हमको अगरेजो के हाथो जितना कुछ भुगतना पडा उसने हमको असहाय कर दिया। अगरेजों को ब्राह्मण-ज्ञान से खतरा था तो सस्कृत के ज्ञाता और वेदो-उपनिषदों के मर्मज्ञो को सरकारी नौकरियो और प्रतिष्ठा से इतना वचित कर दिया गया कि ब्राह्मण को जिंदा रहने के लिये 'पीर बबर्ची भिश्ती खर' सब कुछ बनना पड़ा। अगरेजो को ठाकुरो की तलवार से डर था तो सेना मे 'हवलदार' बन पाना भी उनके लिये कठिन हो गया। उन्हे भारतीयो की बुद्धि से और सगठन-शक्ति से भय था तो ऊँचे पदो पर भारतीयो को नियुक्त ही नहीं किया जाता था। भारतीय व्यवसाय से वे घबराते थे तो कारीगरो के अगूठे काटते फिरते थे, कच्चा माल, अपने भाई-बन्धुओ के ही हाथ बेचने पर भारतीयो को मजबूर करते रहते थे, व्यवसाय के सभी प्रमुख स्थलो पर अपनी जाति के लोगो को रखते थे और भारत मे व्यवसाय के लायक कोई चीज बनने ही नहीं देते थे। ती का अर्थ कगाली हो गया। श्रमहीनता का पर्याय हो गया। सारी नाकेबन्दी अंगरेजों ने पक्की कर रखी थी।

पुनरुत्थान की प्रक्रियाओ पर उनका प्रकोपः—'आर्यसमाज—

भारतीय विद्रोह का डर अंगरेज जाति की नस-नस मे इतना भर गया था

कि जिस किताब में दो बात भी उनके हित के प्रतिकूल या वास्तविक लिखी मिलती थी वही जब्त कर ली जाती थी। जो भी आंदोलन भारतीय को बुद्धिमान, युक्तियुक्त समझदार, आत्मविश्वासी, आत्मनिर्भर एवं उन्नत बनाने के लिये होता था उसी पर हमारे इन महाप्रभुओं की कोप-दृष्टि पड जाती थी। बीसवी शती के आर्यसमाज का आंदोलन भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर प्रयत्नशील करने के लिये था तो लाजपतराय के शब्दों में "भारतवर्ष के विदेशी शासकों को आर्यसमाज कभी फूटी आंखों भी नहीं सुहाया। उन्हें इसकी आजाद बोली, और आत्मविश्वास- आत्मनिर्भरता-अपनी सहायता आप करने के आदेशों का प्रचार कभी भी अच्छा नहीं लगा। उन के कार्यक्रमों के राष्ट्रीयता वाले पक्ष ने उनको इसका विरोधी बना दिया था।"[1] बात यह है कि सबकुछ गँवा बैठने पर भी भारतवर्ष के पास अभी एक चीज ऐसी बची थी जो उसकी सारी खोई हुई चीजें वापस दिला सकती थी। वह चीज थी धर्म। यह धर्म भी उस समय कुछ धूमिल हो गया था। आर्यसमाज उसी धूल को झाड़कर हिंदुधर्म का वह दर्पण निर्मल कर रहा था जिसमें भारतीय अपने वर्तमान और अतीत का प्रतिबिम्ब देखकर कुछ निष्कर्ष निकाल सकते थे। अंगरेज इस धर्म से द्वेष रखते थे किन्तु उसे छूने का साहस नहीं कर पा रहे थे क्योंकि भारत के इस मर्मस्थल को कुरेदने का फल १८५७ ई० में तो भुगत चुके थे, और फिर भी, उनके द्वारा पालित-पोषित और प्रोत्साहित पादरी चूकते नहीं थे। आदिवासियों के गांव गांव तथा गोआ और केरल इसके दो उदाहरण हैं। भारत के छोटे-छोटे कस्बों में भी झांझ बजाते हुए आठ-दस गोरे खुदा के प्यारे बेटे का गुणानुवाद करते फिरते थे। उनकी इस आंधी के सामने भी सीना तानकर खड़े होने का साहस हिंदू जाति को जिस आर्यसमाज ने दिया था, उनको जैसा का तैसा जवाब जिस आर्यसमाज ने दिया था, उनके स्कूलों के सामने जिस आर्यसमाज ने गुरुकुल खड़े कर दिये थे, पतलूनधारी विद्यार्थियों के बदले जिस आर्यसमाज ने लँगोट, उत्तरीय और पीले वस्त्रधारी ब्रह्मचारी उपस्थित कर दिये थे और पाश्चात्य सभ्यता की तूफानी लहरों को पराजित करके जिस आर्यसमाज ने भारत में पहली बार क्रियात्मक रूप से भारतीय वेश-भूषा, रहन-सहन, विचार-धारा के प्रति आदर और अपनापन की भावना पैदा की थी वह यदि अंगरेज महाप्रभुओं को न सुहाया तो कोई आश्चर्य नहीं था। इन ईसाइयों की दाल जब भारतीयों के उच्च वर्ग में न गली तब उन्होंने अछूतों और पिछड़ी जातियों को लक्ष्य बनाया किन्तु आर्यसमाज के अछूतो द्वार और गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस के हरिजनों द्वार आर्यक्रम

---

१. 'दि आर्य समाज', पृ. १५५-१५६।

के सामने वहां भी इनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया। फिर भी, ईसाइयों ने बहुतों के बदन पर कोट-पतलून और चेतना पर यीशूमसीह का रंग चढ़ा ही दिया।

ईसाइयों से जनता की अरुचि —

पाश्चात्य सभ्यता की आक्रमणशालीन सेना के एक अंग मे भी थे। और, सभ्यता के क्षेत्र मे इसे जितनी ही सफलता मिलती थी, हिन्दुत्व इनसे उतना ही असहनशील होता जाता था — चिढ़ता जाता था। उसने अंगरेजी शिक्षा, अंगरेजी पहनावा और अंगरेजी रहन-सहन को ईसाइयत का पर्याय घोषित कर दिया था। हिंदुत्व इतना सतर्क था कि प्रथा और परम्परा का किंचित भी उल्लंघन किया कि वृद्धों ने व्यंग्य किया—'चार अच्छर अंगरेजी पढ़ि के धरम करम नास के दिहिस-किरिस्तान हो गया—ईसाई हो गया'। तात्पर्य यह है कि हिंदुत्व के धर्म-द्वार को तोड़ कर पाश्चात्य सभ्यता की सेना भीतर नहीं आ सकी

हमारी उदारता, उनकी चतुराई—

उधर हमारी तात्कालिक आवश्यकताओं और इधर हमारे विचारकों ने एक साथ यह घोषित किया कि धर्म और कर्मकाण्ड दो चीजें हैं। कर्मकाण्ड का धर्म के आन्तरिक और शाश्वत पक्ष से कोई भी सम्बन्ध नहीं है और विशेष महत्व की चीज यह आन्तरिक और शाश्वत पक्ष ही है। निष्कर्ष यह निकला कि हम खायें चाहे जो कुछ, पहनें चाहे जो कुछ, रहें चाहे जैसे, बोलें चाहे जो, व्यावहारिक उपयोग में चाहे जो कुछ लाएं, उससे हमारे धर्म पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह चिर परिवर्तनशील तत्व हैं। तभी एक और चीज हुई। अंगरेज ने देखा कि भारत के धर्म को छूना तो खतरनाक है इसलिये उसे तो छूना नहीं है। हां, मनुष्य की दो कमजोरियों—सुविधा, और लाभ या उपयोगिता — का उपयोग अपने पक्ष मे किया जा सकता है। ऐसी चीजें दो जिससे मनुष्य को अपेक्षाकृत कम मेहनत या झंझट उठानी पड़े, और जिसमे कम पैसा लगाकर अपेक्षाकृत अधिक लाभ पाने की आशा या सम्भावना हो। ऐसी चीजें देने मे अंगरेज को व्यापारिक दृष्टि से लाभ भी था। तो सभी चीजें इकट्ठी हो गईं। हमने पतलून-टाई-बूट में, छुरी काटे से खाने में या अंगरेजी पढ़ने मे कोई सांस्कृतिक या धार्मिक हानि नहीं देखी, लाभ यह देखा कि अंगरेज प्रभु प्रसन्न होंगे, हम पर कृपा करेंगे, हमें अच्छी नौकरी मिलेगी, और उन्होंने देखा कि कि इस प्रकार हमारे यहां के बने छुरी-काटे, टाई

बूट या अंगरेजी की पुस्तकों का बाजार बढ़ेगा और हमारी व्यापारिक उन्नति होगी। साथ ही, हमारी सभ्यता का रौब भी पड़ेगा। बस, हमारे जीवन के हर क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता अपनी पूरी सजधज, विविधताओं और विचित्रताओं, के साथ वेगपूर्वक घुसने लगी। पहले वस्तुएँ आती हैं रुचि बनती है, फिर वस्तुओं की भाषा आती है। कालान्तर में उनके मनोविज्ञान बनता है और तदनुरूप विचार बनते हैं। अन्ततोगत्वा इन सब का दर्शन जन्म लेता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक ये वस्तुएँ अधिक आईं, रुचि अधिक बनी और भाषा अधिक अपनाई गई। बीसवीं सदी में इनके साथ साथ इनका मनोविज्ञान बना और हमने उनके विचार भी अपनाये। कुछ दिनों के अन्दर वहां के नये नये आविष्कार भी हमारे बीच प्रचलन पाने लगे। नव स्वतन्त्र भारत उनके दर्शन को भी अपनाने की ओर उन्मुख किया जा रहा है। समाजवादी रूपरेखा या ढर्रे (सोशलिस्टिक पैटर्न) का और फिर समाजवाद या जनतान्त्रिक समाजवाद को भारत में चलाने की जवाहरलाल नेहरू की मनोवृत्ति इसी की द्योतक है।

पाश्चात्य सभ्यता के उपकरण और उनका प्रभाव—

अंगरेजी भाषा और साहित्य से हमारा परिचय बढ़ा। हम अंगरेजी लिखने, बोलने और पढ़ने लगे। हमने कोट पतलून, टाई, फल्ट, हैट, बूट, ओवर कोट, बुशशर्ट आदि पहनना शुरू किया। घड़ी, चश्मा, फाउन्टेन पेन आदि आवश्यक हो गये। न्याय की विकृततम परिणाम वाली संस्था, जिसे कचहरी कहते हैं, पूरी तरह से अंगरेजी नमूने पर भारत में छा गई। वकील बैरिस्टर समाज की शोभा बन गये जिसके परिणामस्वरूप व्यावहारिक दुनिया से सत्य तिरस्कृत हो गया तथा झूठ और बेईमानी अमान्यता प्राप्त स्वीकार्य तथ्य एवं शानदार जीवन की प्राप्ति का सुलभ साधन बन गई। विद्यालय और विश्वविद्यालय नामक संस्था उनकी कार्य प्रणाली, आदि सब अंगरेजी ढंग पर दिखाई पड़ी और प्रोफेसर गाउन, डिग्री और स्टूडेन्ट भारत में पाश्चात्य सभ्यता के प्रमुख गढ़ बने। आज भी स्नातक की ज्ञान-सम्पन्नता का प्रतीक शोक, अज्ञान एवं तमस् का द्योतक कालापन (काला गाउन) है। बनियों ने तो अपना बहीखाता और 'श्री गणेश जी सदा सहाय' तथा 'श्री लक्ष्मी जी सदा सहाय' अब भी चला रखा है किन्तु बाजार और दूकान की रूपरेखा अंगरेजी नमूने पर है। मिलों का सारा नाक नक्शा अंगरेजी है। अंगरेजी सभ्यता की रेल गाड़ी, मालगाड़ी, मोटर कार, बस, हवाई जहाज, स्टीमर, ट्रामवे, बाईसिकिल, मोटर बाइसिकिल, बैंक और सहकारी समितियां देश में फैल रही हैं। सिनेमा की सारी

रूपरेखा पाश्चात्य है। रेडियो और ट्रांजिस्टर की ही देने है। तार घर और डाकखाने विदेशों के आविष्कार हैं। मुद्रणकला के विभिन्न अवयव और समाचार पत्र-पत्रिकाएँ पाश्चात्य सभ्यता की देनें हैं। 'टिकट' एक विदेशी व्यवस्था है। कंघा, क्रीम, पाउडर, शेविंग सेट, टूथ ब्रुश, टूथ पेस्ट, होल्टआल, सिगरेट, दियासलाई, कुर्सी मेज, बिस्कुट, केक, पेस्ट्री, कप, सासर, प्लेट, ग्लास, जग, फाउन्टेन, आदि विदेशी रङ्ग-ढङ्ग की चीजें हमारे दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ हैं। कपडे सीने की मशीन भी ममवत विदेशी आविष्कार है। बिजली, बिजली-घर, बिजली घर की मशीनें तार-खम्भे, उसकी इन्जीनियरिंग, बल्ब, बिजली का तार, बिजली का आयरन, बिजली की आटा-चक्की और रुई चक्की-आदि, बिजली का हीटर, कूलर, रेफरीजरेटर, आदि हजारों वस्तुएँ विदेशी सभ्यता की देनें हैं। अस्पताल, अस्पतालो के डाक्टर, डाक्टरो के हजारों औजार लाखो दवाइयाँ, इलाज करने की पद्धति-सबकी सब विदेशी है। शासन-पद्धति एवं प्रशासन की रूपरेखा विदेशी है। सारा शासन-तन्त्र विदेशी सभ्यता की देन है, जेलों की भी रूपरेखा का आधार विदेशी है। अपराधों के कारण विदेशी हैं और उनके निवारण के प्रकार भी विदेशी है। 'राम राम" की जगह 'गुड मार्निंग" "गुड इवनिंग", "गुड नाइट", और "बाई-बाई" भी विदेशी है। स्वतन्त्र भारत तक मे ऐसे महत्वाकांक्षी कम नहीं है जिनकी प्रसन्नता का अतिरेक और सभ्यता की शान केवल उसी समय दिखाई पड़ती है जब उनका बच्चा श्लोक पाठ न करके "ट्विंकिल ट्विंकल लिटिल स्टार गाता है और 'चाचा जी" चाची जी" की जगह 'हेलो अंकिल", "डियर आंटी" बोलकर "नमस्ते" की जगह 'टा' 'टा' कहता है। यह विदेशी देन है। फुटबाल, वालीबाल, बैडमिन्टन, टेनिस, टेबुलटेनिस, हाकी, क्रिकेट, बिलियर्ड, फ्लाश ब्रिज, पजिल्स और क्रासवर्ड, हार्सरेस, आदि पाश्चात्य रङ्ग के मनोरंजन हैं। पाठशाला-व्यवस्था और पुस्तकालयों का संगठन भी विदेशी ढंग पर होता है। लाउड स्पीकर, माइक्रोफोन, हड़ताल, पब्लिक मीटिंग, आदि भी विदेशी है और विभिन्न संस्थाएँ और संगठन भी अपने वर्तमान रूप में विदेशी हैं। "लाइफ इन्स्योरेन्स कारपोरेशन" और इस तरह की अनेक संस्थाओं के संगठन और उनकी कार्यपद्धतियों की रूपरेखा विदेशी है। पैसे का प्रमुख विदेशी चीज है। नारी का पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता में आकर स्वतन्त्र व्यक्तित्व और आर्थिक दृष्टि से एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में आना, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त औद्योगीकरण तथा मशीनीकरण, राष्ट्रवाद, हिंसावादी संस्कृति, पारिवारिक विघटन, भौतिकवादी सभ्यता, तन-मन-की ही सजावट, नारी को मनोरंजन के एक साधन के रूपमें देखना, सेक्स की प्रवृत्तियों का निर्बन्ध उभार, जीवन में कौतूहल की प्रधानता, कमाई के लिए शिक्षा, गुरु का गुरुत्व और

शिष्य का शिष्यत्व केवल कक्षा भवन तक ही सीमित रहना, आदि असख्य बातें विदेशी सभ्यता की देने हैं। ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र मे अनुसधान और आविष्कार की हमारी वर्तमान रूपरेखा भी विदेशी ही है। विदेशी सभ्यता के इन विभिन्न उपकरणों ने हमारे साहित्य को भी प्रभावित किया है। साहित्य–और विशेषत हिंदी साहित्य यथार्थ जीवन के परिणामस्वरूप कम अधिकतर आन्तरिक दृष्टिकोण या सिद्धान्त मात्र के परिणामस्वरूप निर्मित होता है। कविता भाव–जगत की चीज है और चूकि हमारा भाव जगत्–हमारा राग–अधिकतर अभी पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव कम दिखाई पडता है परन्तु साहित्य की जिन विधाओ मे बाह्य जीवन के चित्रण की ही सम्भावना अधिक होती है आधुनिक हिंदी साहित्य की उन विधाओ मे–अर्थात् नाटक, कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, आदि में–हिन्दी प्रदेश पर पडने वाले ये पाश्चात्य प्रभाव और उनके रग मे रँगा हुआ हमारा बाह्य जीवन पूरी तरह से चित्रित मिलता है। आधुनिक हिंदी साहित्य और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य म अतर का मूल कारण यही है।

इस युग के भारतीय जीवन मे रेलो का महत्व असाधारण रूप से बढा। रेलो को प्रतीक मान लीजिये यातायात के उन समस्त साधनों का जो भारत के किसी भी कोने को समग्र राष्ट्रीय जीवन से एकत्रित–अलग–नही रहने दे रहे हैं अर्थात् जिन्होंने भारत के कोने–कोने को एक सूत्र मे जोड दिया है। इन्होंने भारतीय जीवन पर निम्नलिखित प्रभाव डाले हैं —

(१) इन्ही के कारण भारत की प्राचीन अर्थव्यवस्था और जीवन–व्यवस्था समाप्त–सी हो गई है।

(२) इन्ही के कारण औद्योगीकरण सम्भावित ही नही, वास्तविकता के रूप में प्रतीत होता है।

(३) इन्ही के कारण देश मे राष्ट्रीय दृष्टिकोण का बुर्जुआ वर्ग पैदा हुआ जिसके स्वार्थ जब अगरेजो के स्वार्थ से टकराये तो राष्ट्रीयता की चिनगारियां निकलीं और स्वाधीनता के सूर्य का उदय हुआ।

(४) इन्होंने देहात बदल दिये क्योंकि वैसिल मैथ्यूज के शब्दो म "जैसे चूहे, प्लेग ले जाते हैं वैसे ये बसें आधुनिकता फैलाती हैं" इन्ही के कारण देहातों का आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक अवरोध समाप्त हो गया।

(५) इन्होने भारत के हर व्यक्ति का दृष्टिकोण सभी दृष्टियों से अखिल भारतीय तथा एक भारतीय सस्कृति वाला बना दिया।

(६) इन्होंने विभिन्न क्षेत्रो, स्थानो और व्यक्तियो को एक दूसरे से जोड दिया।

(७) इन्ही के कारण रूढिवादी सामाजिक दृष्टिकोण समाप्त हो चला।

(८) इन्होंने ही प्रगतिशील, सामाजिक और वैज्ञानिक विचारो को जनता मे फैला दिया।

(९) इन्ही के कारण एक की खोज और प्राप्ति सारे देश की निधि होने लगी क्योकि ये ही चिट्ठिया, पार्सल, समाचार पत्र-पत्रिकाए और सामान इधर से उधर लाने और ले जाने के साधन है।

और (१०) इन्ही के कारण देश भर की प्रतिभाए सुविधापूर्वक समय-समय पर एक जगह एकत्रित होने लगी।

इनका साहित्य पर प्रभाव निम्नलिखित रूप और प्रकार से पडा —

(१) किसी एक लेखक की कृति समस्त हिन्दी-प्रदेश की सम्पत्ति हो गई।

(२) कवियो और लेखको की कृतियो से आनन्द उठाने और लाभ पाने वालो की सीमा गोष्ठियों से निकल कर पूरे भारत तक मे फैल गई।

(३) भिन्न-भिन्न प्रदेशो के लेखक एक दूसरे से मिलने लगे और उनमे परस्पर मैत्री और सहानुभूति तथा एक दूसरे की बातो को समझने की प्रवृत्तिया विकसित हुई।

(४) विभिन्न भाषाओ और क्षेत्रो का एक दूसरे से सम्मिलन हुआ।

(५) दृष्टिकोण उदार और व्यापक हुआ।

(६) किसी स्थान विशेष की घटना पूरे साहित्यिक वर्ग को प्रभावित करने लगी। उदाहरणार्थ, बगाल के १९४४ ई० वाले अकाल ने महादेवी वर्मा को तडपा दिया।

(७) रेलो पर चढकर कार्यकर्ताओ, समाचार-पत्रो, पुस्तको और परीक्षाओ की उत्तर-पुस्तको ने हिन्दी को कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बगाल से लेकर काठियावाड तथा द्वारिका पुरी तक पहुँचा दिया।

(८) लेखको के सम्मेलनो की आयोजनाए होने लगी और लेखको तथा साहित्य की समस्याओ पर विचार-विनिमय सभव हो सका।

और (९) रेल-साहित्य अर्थात् यात्रा के समय पढा जाने वाला हल्का साहित्य भी लिखा जाने लगा।

हिन्दी प्रदेश के मुख्य गढो पर अधिकार—

बीसवी शताब्दी के आते-आते हमने अंगरेजी पढना या अंगरेजी स्कूलो

ग पड़ना पूरी तरह से स्वीकार कर लिया था। 'हमो' का तात्पर्य है भारतीय समाज के उस वर्ग से जिसने साहित्य का निर्माण किया है वैसे, पाश्चात्य शिक्षा और विधि व्यवस्थाओं को हिंदुओं ने अपने मुसलमान भाइयों की अपेक्षा पहले सीखा और अपनाया किंतु बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मुसलमानों के हितैषी नेता सैयद अहमद खां ने भी मुसलमानों के अंगरेजी सीखने पढ़ने की आवश्यकता का अनुभव बड़ी तीव्रता से कर लिया था जिसका परिणाम अलीगढ़ आंदोलन या मुस्लिम कालेज, अलीगढ़ के रूप में दिखाई पड़ा। अंगरेजों ने पटना, बनारस, प्रयाग, लखनऊ आगरा, मथुरा और हिन्दी प्रदेश के अन्य महत्वपूर्ण स्थानों पर अपना मजबूत अधिकार जमाया। उ इन सांस्कृतिक केन्द्रों को अपने कब्जे में किया। यहीं से उन्होंने अपना राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अभियान करना था। इन्हीं केन्द्रों को उन्होंने अपनी पाश्चात्य शिक्षा का केन्द्र भी बनाया। लगता है, जैसे हमारी सुरुचि को उन्होंने अपने बाणों का निशाना बना लिया हो। जैसे कोई सेना किसी प्रदेश के मुख्य गढ़ों पर पहले अधिकार जमाती है वैसे ही अंगरेज और अंगरेजी संस्कृति ने संस्कृत और हिन्दी के गढ़ों पर अधिकार करके वहाँ जमकर हमारी भाषा और संस्कृति को उन्मूलित करने का प्रयत्न किया। अंगरेजी शिक्षा और अंगरेजी भारत में पाश्चात्य सभ्यता के लाने और चारों ओर फैलाने वाले रथ की धुरी है। अंगरेज जब हिंदी प्रदेश में घुसा तब राजसत्ता के पथ से घुसा, और तब उसके एक हाथ में स्वार्थ और क्रूरता एवं जड़ता विनिर्मित राजदंड था और दूसरे हाथ में थे टेनिसन और किपलिंग, शेक्सपीयर और मिल्टन हार्डी, और डिकेंस, मिल और रस्किन। यह अंगरेजी जब भारत में आई तब संसार एक नए युग के द्वार पर खड़ा था। इस अंगरेजी ने सारे संसार के साथ ही साथ भारत को भी नये युग के नये आलीशान महल के भीतर ले जाकर खड़ा कर दिया। संसार के साथ साथ भारत ने भी अपने को भी बदलना प्रारम्भ किया। शेष संसार का बदलना उनकी अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार हुआ, हमारा बदलना हमारे शोषकों की आवश्यकता और दया के अनुसार हुआ। प्रतिक्रियावादी अंगरेजों की राजनीतिक एवं आर्थिक दासता, भयानक शोषण एवं अमानवीय नीति ने हमें सभी तरह इस प्रकार अशक्त एवं निर्जीव कर दिया था कि हम परोपजीवी पराश्रित एवं आत्मगौरव विहीन होने लगे। यह अंगरेजी शिक्षा चूंकि हम पर लादी गई थी इसलिए यह बहुत दिनों तक यह हमारी अपनी स्वाभाविक वृत्ति नहीं हो सकी— सम्भवत आज तक नहीं हो सकी। आयु के जिस भाग में हमारी चेतना इतनी ताजी और सक्षम होती है कि हम अधिक से अधिक ज्ञान ग्रहण कर सकें —वह श्रान्त, सुस्त और निढाल नहीं होती —उन दिनों उनकी सारी शक्ति और क्षमता इस ओर व्यय होने लगी कि हम अंगरेजी को हिन्दी में और हिन्दी को

अगरेजी मे अनुवाद कर सके। तात्पर्य यह कि हम ज्ञान मे नही, भाषा के अनुवाद की क्षमता मे जीवन बिताने लगे। इस प्रक्रिया की दूसरी स्थिति मे हम यूरोप के साहित्य और संस्कृति से परिचित होने की चेष्टा मे लगने थे। इस प्रकार सारे जीवन मे हमे अपनी सभ्यता और संस्कृति के अगाध भण्डार को देखने का कभी अवसर ही नही मिलता था। श्री निवास आयगर ने लिखा है, 'पश्चिमी प्रभाव का आधात लगने ही यहा की धरती गोडी गई थी। अगरेजी साहित्य ने मानो इस क्षेत्र को और उपजाऊ बना या, धीरे धीरे आधुनिक भारतीय साहित्य जन्म लग लगा।'[१] वास्तविकता तो यह है कि अगरेजी साहित्य ने इस क्षेत्र को अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र को ही और अधिक उपजाऊ बनाया था। अस्तु बीसवी शताब्दी मे भारत मे पश्चिम से नवीन ज्ञान विज्ञान की पृष्ठभूमि मे व्यावसायिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ थी। योरप मे यह सब उन्नीसवी शताब्दी मे ही समाप्त होकर निष्क रूप मे सामने आने लगा था। भारत मे यह बीसवीं शताब्दी मे आया।

असंतोष का अंकुर और उसका बढना—

अस्तु, अगरेजी शिक्षा जब भारत मे प्रचलित हो गई तो कुछ समय के बाद कुछ ऐसे महत्वाकाक्षी भारतीयो का भी दल सामने आया जो क्लर्की करने मात्र मे सन्तुष्ट न हो सका। भारत बौद्धिक जिज्ञासा एव लालसा से शून्य कभी भी नही रहा। हम ज्ञान शून्य नही रहना जानते। अपनी ज्ञान सम्पत्ति नही मिली तो पश्चिम को ज्ञान सम्पत्ति ही प्राप्त की जाय। अनुवाद और क्लर्की मात्र से सतुष्ट न होने का कारण चेतना की बौद्धिक जिज्ञासा अथवा चेतना के स्तर की ऊचाई था। बाद मे यह भी कारण हो गया कि एक तो और कोई सुन्दर विकल्प नही है और दूसरे, यथा सभव यह हमारे आत्मगौरव एव उत्थान मे सहायक भी हो सकता। अस्तु, हम अगरेजी भाषा और पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान के निकटतम सपर्क मे आये। अगरेजी भाषा पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। आश्चर्य होता है भारतीयो की क्षमता पर कि विपरीत वृत्तियो की सस्कृति और सभ्यता वाली जाति की भाषा पर इतना असाधारण अधिकार व प्राप्त कर सके। अंगरेजी साहित्य को रट डा ।। प्लेटो और अरस्तू से लेकर मार्क्स और लास्की तक सबका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यूरोप और अमेरिका के समान प्रतिभाशालियो की कृतियाँ और उनके द्वारा आविष्कृत समस्त ज्ञान विज्ञान हमारी जबान पर आ गय। रूसो, वाल्टेयर, मिल, स्पेंसर, डार्विन, हक्सले, रसेल, फ्रायड, युग आदि कोई भी हमसे अपरिचित न रह गया। कुछ ने यही रह कर पढा और कुछ ने यूरोप मे जाकर पढा। भारतीय शिक्षित समाज मे एक जबर्दस्त बौद्धिक हलचल पैदा हो गई शुरु शुरु मे

१ 'आज का भारतीय साहित्य', पृ० ४३४।

तो हम उनके अन्दर सभी अच्छा दिखाई पड़ा और अपने अन्दर सब तुच्छ और हेय ही प्रतीत हुआ। भारतीय प्रतिभा की एकान्तता समाप्त हो गई। कुएं की दीवारें टूट गईं और स्कूलों और कालेजों के तरुण विद्यार्थियों की आश्चर्यचकित आँखों के सामने विचारों का एक नवीनतम संसार आ गया।[1] दृष्टि को एक विस्तृत क्षेत्र मिला, जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण प्राप्त हुआ। पाश्चात्य शिक्षा आलोचनात्मक और वैज्ञानिक है। परिणाम यह हुआ है कि हमारी भी बुद्धि आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक हो गई तथा हम भी रूढ़ियों और परम्पराओं के विरोधी और विद्रोही हो गए। इस विरोधी और विद्रोह की मनोवृत्ति मिली आलोचना और विश्लेषण से प्राप्त उन निष्कर्षों से जिन्होंने रूढ़ियों, परम्पराओं और अन्ध विश्वासों की असामयिकता, अनुपयोगिता एवं निःसारता की प्रतीति करा दी। विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है "अंगरेजी भाषा और साहित्य और इस भाषा के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन हमारे आज के युग के वैज्ञानिक आलोचनात्मक और मानवतावादी दृष्टिकोण के उदय और विकास का प्रधान कारण रहा है।"[2] यह अध्ययन एक क्रिया का कारण— साधन उपस्थित करने का कारण— भले ही रहा हो किन्तु मानवीय दृष्टिकोण के उदय और विकास, आदि का प्रधान कारण नहीं हो सकता, प्रधान कारण रहा है अंगरेजों का भारत शोषण तज्जन्य आक्रोश एवं बेचैनी और चंगुल से मुक्त होकर आत्मगौरव की पुनर्प्राप्ति की तीव्रतम कामना। इस कामना का कारण था रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द, रामतीर्थ और गाँधी का उद्बोधनात्मक शंखनाद।

प्राचीन–नवीन की तुलना और नवीन का अनर्थ–ज्ञान—

इसी सांस्कृतिक कारण से हमने अपने अतीत और वर्तमान की तुलना की थी और इस तुलना से हमने अपने वर्तमान को दयनीय पाकर उस न्यूनता से मुक्ति पाकर श्रेष्ठतर बनने की प्रेरणा पाई थी। ऐसा करने और सोचने वाला वर्ग प्रायः मध्यवर्ग था और एक ऐतिहासिक विवशता ने इस वर्ग को जबान पर अंगरेजी बिठा दी थी। इसीलिए हमारे पुनरुत्थान की भावना का श्रेय अंगरेजी को दे देने की भूल प्रायः कर दी जाती है। वास्तविकता तो यह है कि अंगरेजी और अंगरेजियत हमें

---

१ डी० एस० शर्मा कृत हिन्दुइज्म थ्रू दि एजेज, पृ० ६२।

२ 'इंग्लिश इन्फ्लुएन्स आन हिन्दी लैंगुएज एंड लिटरेचर', नामक अप्रकाशित थीसिस पृ ३।

गढ़ने म टकेनन के लिये थी और इसने यही किया भी। कुछ सांस्कृतिक कारणो से ही इसके इतने प्रभावो के होते हुए भी हम मिटने नही पाये। नही तो भारतवर्ष मे जो इतनी अधिक निरक्षरता, मूढता, मूर्खता, दुश्चरित्रता, मौलिकता का अभाव, अनुकरण की प्रवृत्ति अनैतिकता, स्तर की निम्नता आदि दिखाई पडती है वह अंगरेजी की ही देन है। यह अंगरेजी का ही प्रमाद है कि जहा जनता की सख्या करोडो मे है वहा बिकने वाली पुस्तको की सख्या सैकडो–या बहुत हुआ तो, हजार–तक ही रह जाती है[1] राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है कि अगरेजी शिक्षा हमारे प्रान्त के लोगो को कायर और निकम्मा बना देती है।[1] के० आर० श्रीनिवास आयगर ने लिखा है, 'हमारी शिक्षा–व्यवस्था का सबसे बडा दोष यह है कि वह कागजी फूलो का एक आकर्षक गुच्छा है न कि एक सजीव एव सप्राण वृक्ष जिसे न दिखाई पडने गहरी जडे संभाले हुए हो। आधुनिक विश्वविद्यालयो की न कोई रूपरेखा है न कोई जीवन, न मस्तिष्क है और न आत्मा।[2] राष्ट्रीय आन्दोलन मे विश्वविद्यालयो का कोई भी महत्वपूर्ण योगदान नही रहा। राष्ट्रीय जीवन की प्रधानधारा से ये विश्व विद्यालय प्राय दूर रहे। इस दृष्टि से ये सक्रिय, प्रत्यक्ष और धनात्मक न होकर, निष्क्रिय, परोक्ष और ऋणात्मक रहे। ये विध्वसात्मक न होकर सहारात्मक रहे। सामूहिक जीवन की रचनात्मक प्रेरणाओ स इन विश्वविद्यालय वालो ने–चार हाथ दूर रहना अलग रहना ही पसन्द किया। यह बात दूसरी है कि गाधी की आत्मिक शक्ति ने–जादू ने–इन्हे स्तम्भित करके इनसे राष्ट्र का कुछ हित करा लिया लेकिन तब इसका श्रेय इस शिक्षा–व्यवस्था और इस अंगरेजी को नही दिया जा सकता क्योकि उस जादू के हटते ही इनका वास्तविक रूप–इनका वास्तविक प्रभाव सामने खुलकर आ गया। जिन्होने कुछ ठोस किया वह उनकी अपनी व्यक्तिगत आत्मिक शक्ति थी और इसलिए उसका भी श्रेय इनको नहा मिल सकता क्योकि व लोग न तो इन विश्वविद्यालयो की उपज थ और यदि थे भी, तो राष्ट्रोत्थान का कार्य प्रारंभ करने के बाद इन विश्वविद्यालयो के रह भी नही गये थे। हमारे इन सांस्कृतिक देवदूतो म राम कृष्ण, दयानन्द गाधी, विनोबा, टैगोर, आदि कोई भी इस शिक्षा–व्यवस्था की देन नही है। विवेकानन्द, मोतीलाल, जवाहरलाल, सुभाष, अरविन्द तिलक, मालवीय आदि इस शिक्षा–व्यवस्था के प्रभाव से मुक्त होने के बाद ही देश के हितकारी बन पाये। कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का कथन है कि नवीन शिक्षा हमारे नवयुवको मे जीवन–सघर्षो से एक योद्धा की भाति जूझने की, महानता एव उच्चतम आदर्शो

१. "आत्मकथा", पृ ६५०।
२. "आवर ग्रेटेस्ट नीड' की भूमिका, पृ १२।

की बलिवेदी के ऊपर चढ़ जाने की, बौद्धिक ऊचाइयों एव महत्वाकाक्षाओं की प्राप्ति एव उनकी प्राप्ति के मार्ग की कठिनाइयो को सहने की शक्ति एव साहस बनाए रखने की प्रेरणा एव स्फूर्ति नही देती।[१] कठिनाइयो के सामने बार-बार झुकते रहना, उनसे कतराते रहना, बेईमानियों से समझौते करते रहना, हर काम को "चलने दीजिये" टाइप से करना, 'शार्टकट' खोजते रहना, विवेकविहीनता, किसी भी कीमत पर "चमकदार" दिखाई पड़ना, जड़ता की ओर उन्मुख रहना, आदि आज की शिक्षा व्यवस्था की देने हैं। चिकने-चमकने कपडो की चिकनी-चमकती अगरेजी पोशाक पहनना, क्लड-साबुन-क्रीम से रोज अपने चेहरे को और जूते को चिकना और चमकदार बनाना विद्वत्ता या योग्यता का 'ट्रेडमार्क' हो गया है। जीवन की सफलता और गौरव तिकड़म और चापलूसी से मिलने लगा, न कि श्रद्धा, भक्ति और योग्यता से। नैतिकता की यह हालत है कि जिनके अन्दर विश्वविद्यालयो मे पढाने की योग्यता थी वे हाई स्कूल और इन्टर के लडको की भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियां सुधारते और ट्यूशन करते हैं और जो पान और पसारी की दूकान पर बैठने लायक थे वे सिफारिश और चापलूसी के बल पर शिक्षा-क्षेत्र की बडी से बड़ी नौकरियां पा लेते हैं। अगरेजी और अंगरेजी शिक्षा-व्यवस्था का विषाक्त प्रभाव जहा-जहां पड़ा समाज का वह-वह अग अनैतिकता से सडता गया। हम सत्य की प्रेरणा से वचित हैं, धर्ममय जीवन से दूर हैं और हमारी नैतिक चेतना कुंठित हो गई है। हम कहते कुछ हैं और करते कुछ। जिन सास्कृतिक मूल्यो से चेतना सुदृढ और सशक्त होती है इन अगरेजी शिक्षा मे और उसके परिणामस्वरूप निर्मित जीवन मे उनकी उपयोगिता और मान्यता सदिग्ध हो उठी है। विज्ञान ने भौतिक और आर्थिक दृष्टि से सारे ससार को एक कर दिया है किन्तु व्यक्ति अभी भी अपनी रागात्मक एव भावात्मक लघुताओं से ऊपर नही उठ पाया।

अंगरेजी सभ्यता का साहित्य पर प्रभाव—

इस अंगरेजी सभ्यता ने जहा हमारे जीवन को प्रभावित किया है वहा हमारे साहित्य को भी प्रभावित किया। जैसे यह प्रभाव हमारी आत्मा को अभी नही प्रभावित कर पाया, उसी प्रकार हमारे साहित्य की अपनी आत्मा का अभी भी हनन नही हो पाया है। प्रभाव जीवन मे भी बाहरी स्तरों पर है और साहित्य मे भी रूप विधान पर अधिक है। जीवन मे हमारा रग-ढग बदला है और साहित्य मे हमारी शैली बदली है। यहा भी हमारी भाषा का स्वरूप बदला है और वहा भी बदला है।

१ "आवर ग्रेटेस्ट नीड", पृ. २४२—२४३।

महावीरप्रसाद द्विवेदी और वड्सवर्थ के काव्य-सिद्धान्तों में पर्याप्त समानता मिल सकती है। साहित्य की विधाएँ बहुत-कुछ अंगरेजी साहित्य की विधाओं के अनुरूप हो गई। शब्दकोष, व्याकरण, वाक्य-निर्माण, विराम-चिन्ह, परिच्छेद एवं पैराग्राफ विभाजन, मानवीकरण, विशेषण विपर्यय, रोमांस के प्रति आकर्षण आदि अनेक तत्वों पर अंगरेजियत की छाप है। अंगरेजी नाट्यशास्त्र के परिणाम स्वरूप ही हमारा नाट्यशास्त्र संस्कृत नाट्यशास्त्र की पेचीदगियों से मुक्त होकर जीवन के अधिकाधिक निकट आ गया। इसी प्रकार विषय वस्तु का क्षेत्र और रूप भी विस्तृत हो गया है। उपन्यास और कहानी के वर्तमान रूप, निबन्ध, आलोचना, जीवनचरित्र, आदि अंगरेजी प्रेरणा से विकसित हुए हैं। भाषा-विज्ञान, समाजशास्त्र इतिहास, राजनीति, विज्ञान, भौतिक विज्ञान, आदि के अध्ययन और तत्सबंधी साहित्य के सृजन को प्रेरणा पश्चिम से ही मिली है। एकांकी के आधुनिक स्वरूप-निर्माण मे मेटर लिंक, बर्नार्डशा, आदि से मिली प्रेरणाओं ने योगदान दिया है। इन प्रभावों का विश्लेषण करके यदि हम देखना चाहें कि अंगरेजी और उसके साहित्य के हम कितने ऋणी हैं, कितना हमने उनका लिया है और कितना हमारा अपना है तो हम यों कह सकते हैं कि उत्थान की प्रेरणा विशुद्ध रूप से हमारी अपनी, रूप और विधा (बाह्य रूप) बहुत-कुछ उनकी और कुछ हमारी अपनी भी, भाषा की प्रकृति हमारी, शैली उनकी विषयवस्तु, हमारे अपने जीवन की और उद्देश्य, विशुद्धरूप से राष्ट्रीय एवं विश्व मानवता से संबंधित है।

विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि—

पाश्चात्य सभ्यता की दूसरी महत्वपूर्ण देन है विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टिकोण। बौद्धिकता की प्रधानता और भौतिकतावादी दृष्टिकोण इससे निकलता है—बनता है। उन्नीसवीं शताब्दी को विश्व के वैज्ञानिक युग की पहली शताब्दी कहा जा सकता है, और यही युग भारतीय संस्कृति की राजनीतिक पराधीनता के कुपरिणामों का युग है। जहां पिछले युगों मे हम यूरोप से किसी बात मे नहीं पिछड़े थे वहां आगे की डेढ़ शताब्दियों में हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर घातक ग्रहण लग जाने से-अपने हाथों-पैरों के बंध जाने से-हम निष्क्रिय हो गये और आज इतने पिछड़े लगते हैं कि लगता है कि यह पिछड़ापन हमारा जातीय स्वभाव है। हम अवैज्ञानिक कभी नहीं थे। इतना अवश्य है कि हमने इस भौतिक विज्ञान को ही एकमात्र सब कुछ नहीं समझ लिया था। उसे आध्यात्मिकता से आच्छादित रक्खा था। हमारी वैज्ञानिकता और आज की नई वैज्ञानिकता मे यही अन्तर है। हमने जीवन के स्थूल एवं जड पक्ष को विज्ञान से और मूल मानव को अध्यात्म से कलित किया था। साथ ही, जड़-

तत्व की अपेक्षा आत्मतत्व को प्रमुखता दी थी। उपनिषदों की धारणा है कि 'मूल्यों को ध्यान में रखने की शक्ति के कारण और अमरत्व की शाश्वत क्षुधा के कारण मानव इस धरती पर दैवी शक्ति का सर्वश्रेष्ठ मूर्त्त स्वरूप है। नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि मानव जीवन-सरिता में अपनी स्वीकृति के बिना ही डाल दिया गया है। विभिन्न प्रकार की शक्तियों से भरी हुई इस दुनिया में उसे ढकेल दिया गया है। उसे ऐसा लगता है कि इस दुनिया में वह तभी जीवित रह सकता है जब वह उन शक्तियों पर, जिनसे वह घिरा हुआ है, अपना अधिकाधिक प्रभुत्व स्थापित कर ले।''[1] इस विज्ञान ने केवल तथ्य देखा है। उसने आदमी की शक्ति इतनी बढ़ा दी कि वह प्राकृतिक शक्तियों का अपने आराम और अपनी उन्नति के लिये उपयोग कर सके। ऐसा करके उसने यह समझा था कि शायद मानव भौतिक वातावरण को बदल देगा। हुआ कुछ और ही। मानव ने वातावरण बदलने की अपेक्षा शक्ति बढ़ाने-बढ़ाते प्रकृति पर अपना अधिकार जमाने का स्वप्न देखा। मानव भूतत्व विद्या की एक शक्ति हो गया। भौतिक और रासायनिक उन्नति करते करते वह ग्रहों को भी जीत लेने पर तुल गया है, किंतु इस विज्ञान ने मानव को जीवन के शाश्वत-तत्व का ज्ञान नहीं दिया—शायद दे भी नहीं सकता। विज्ञान मानव को उसका लक्ष्य नहीं बता पाया। अस्तु, वैज्ञानिक युग का मानव न अपने को रोक पा रहा है, और न अपने द्वारा विनिर्मित दैत्य को। सभ्यता विनाश की ओर जा रही है। दिनकर' ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं :—

> यह समय विज्ञान का, सब भांति पूर्ण समर्थ
> खुल गये हैं गूढ संसृति के अमित गुरु अर्थ।
>
> ....
>
> प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन
>
> ....
>
> प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत,
> सिन्धु से आकाश तक सबको किये भयभीत
> सृष्टि को निज बुद्धि में करता हुआ परिमेय
>
> ....
>
> जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय ?
>
> ....

---

१ राधाकृष्णन कृत "ईस्ट ऐंड वेस्ट"

लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ ?

....

रत्नवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेय
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप
भ्रान्त पथ पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप ?[1]

जीव एक संश्लेषण है और विज्ञान एक विश्लेषण। विज्ञान में कोई आतरिक शक्ति नहीं। यह सुखो की व्यवस्था कर सकता है परन्तु नैतिक दृष्टि से मनुष्य को ऊँचा नहीं उठा सकता। यह वेश्यावृत्ति रोक सकता है पर हर नारी को हर पुरुष की बहन-बेटी-मा बना देना उसके बस की बात नहीं। यह जीवन का बाह्य नक्शा मात्र बदल सकता है। तो, जीवन पर विज्ञान का यह प्रभाव पड़ा कि इस विज्ञान प्रधान पाश्चात्य सभ्यता मे जीवन टुकड़े-टुकड़े होकर विघटित हो गया है। यह विज्ञान यदि वैज्ञानिकों या निष्पक्षो तक ही सीमित रहता तो इसका प्रभाव उतना अहितकर न होता किन्तु निहित स्वार्थों-राजनीतिज्ञो-की छाया के नीचे आकर इसने वैज्ञानिक आविष्कारो ने-मानव का बड़ा अहित किया और बदनाम हो गया। भारतीय जीवन मे यह विज्ञान अभी बुद्धि और चिन्तन के क्षेत्र तक ही सीमित है, जीवन मे व्यावहारिक क्षेत्र मे अथवा भारतीय मानव के हृदय प्रदेश मे अभी इसकी पहुँच नहीं हुई है। फिर भी, साहित्य में यह वैज्ञानिकता और बौद्धिकता घुस गई है। कवियो का वैज्ञानिक अध्ययन, प्रवृत्तियो का वैज्ञानिक अध्ययन, कवियो के जीवन-वृत्त का वैज्ञानिक अध्ययन, पाठो का वैज्ञानिक सम्पादन, वैज्ञानिक समालोचना, भाषा-विज्ञान, आदि के अतिरिक्त कवियों के भी दृष्टिकोण और उनकी कविताओं की पृष्ठभूमि में भावुकता और रागात्मकता की जगह वैज्ञानिक चिन्तन दिखाई पड़ता है। विज्ञान अभी साहित्य का विषय तो नहीं बना लेकिन दृष्टिकोण बनकर आधुनिक हिन्दी साहित्य को बदल अवश्य रहा है।

साम्यवादी विचारधारा—

हिंदी प्रदेश के चिन्तन को प्रभावित करने वाली पाश्चात्य सभ्यता की देनों मे से एक साम्यवादी विचारधारा भी है जो बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के तृतीय दशक तक भारत मे आ गई थी। मूलतः यह एक आर्थिक विचार है और काल को समझने

१. "कुरुक्षेत्र" का "अभिनव मानव" सर्ग।

का तर्क शुद्ध प्रयास है। यह सत्य से उतना संबंधित नहीं जितना समाज से संबंधित है इसकी पृष्ठभूमि मे नैतिकता-विहीन भौतिक वादी प्रवृत्तियाँ हैं। राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है, 'साम्यवाद का ध्येय है सारे देश या विश्व को एक सम्मिलित परिवार बना देना और देश की सारी सम्पत्ति को उस परिवार की करार देना।" [१] यह ईश्वर और धर्म को नहीं मानता। यह द्वन्द्व को ही मूल तत्व मानता है और उसी से सब की उत्पत्ति और विकास मानता है। यह समाज के विकास को समाज के ही विभिन्न वर्गों के संघर्षों का परिणाम मानता है और मानता है कि समाज के प्रत्येक अवयव के स्वरूप का निर्माण उत्पादन के साधनों के स्वरूप के आधार पर होता है। यह शोषण का शत्रु है। सभ्यता की दृष्टि से देखें तो साम्यवाद वैयक्तिकता को — व्यक्तिगत पूंजी या पूंजी पर के व्यक्तिगत अधिकार को — समाप्त करने का समर्थक है अर्थात् यह व्यक्ति को बिल्कुल महत्व नहीं देता। यह जो कुछ भी समझता है वह समाज को समझता है। यहां व्यक्ति का कोई आदर नहीं। वह भी मशीन का एक पुर्जा है। जब तक उपयोगी है तब तक चमकाया जायगा और नहीं तो फेंक दिया जायगा —'शूट' किया जा सकता है। यह मशीनों का दोस्त और दस्तकारी का दुश्मन है। यह पारिवारिक जीवन का शत्रु है। स्त्री–बच्चे रहेंगे तो परन्तु उनका उत्तरदायित्व समाज पर रहेगा और इसीलिये अधिकार भी समाज का रहेगा। व्यक्ति अपनी शक्ति भर काम करेगा और आवश्यकता भर पावेगा। समाज के निर्माण मे चूंकि हर व्यक्ति आवश्यक है और हर काम आवश्यक है अतएव न कोई काम बड़ा, न छोटा। अतएव न कोई उच्चवर्ग और न कोई निम्न वर्ग। यह साम्यवाद शक्ति का उपासक है। अतएव समाज को बदलने के लिये राज्यशक्ति पर मजदूर वर्ग या प्रोलेतारियत का अधिकार अनिवार्य समझता है।

यह इसके लिये मारकाट और सभी तरह की हिंसा करने को तैयार है। इस शक्ति का स्थूलतम रूप पैसा है। पैसा यानी सिक्का। अस्तु, उत्पादन वृद्धि, व्यापार वृद्धि अर्थात् बाजार (मार्केट) की वृद्धि और भौतिकवाद की भावना इस सभ्यता का आधार बनी। इस सभ्यता मे निश्चित रूप से नारी का मूल्य घट जाता है। पौरुष एवं उसकी परुषता महत्वपूर्ण हो जाती है। नारीत्व का योग इस सभ्यता के विकास मे बहुत कम होता है। यह सभ्यता भावप्रधान नहीं, कर्मप्रधान हो जाती है, कर्म ऊपर बढ जाता है। संघर्ष और स्पर्द्धा से यहां प्रेरणा मिलती है। यहां भेद और संहार का साम्राज्य है। यहा मन की और आत्मा की भूख और मांग नाम की कोई

---

१ 'साम्यवाद ही क्यों ?', पृ० ६२।

भी चीज नहीं होती। यहां प्रेम एक रोग है। चुंबन एक गंदी चीज है। इससे संक्रामक रोग पैदा हो सकते हैं। यहां नारी उत्थान की एक इकाई मात्र है। वह कमाई करने निकली है। बराबरी की हकदार है। यहां नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के साथ कोई उच्चतर मूल्य या आदर्श नहीं संयुक्त हैं। वह एक घटनामात्र है। स्वादिष्ट खाना, सुखकर पहनना, जमकर भोग करना, रम कर विलास करना, दम-भर मेहनत करना, मन भरे तो मिल जाना, नहीं तो, दूर से दोस्त बने रहना और शुद्ध-अशुद्ध लौकिक-अलौकिक, दिव्य-दानवी, आदि की बेकार की खुराफातों से मन को मुक्त रखना, तत्व (भाव और अध्यात्म) को कुछ न मान कर तथ्य ही को सब कुछ मानना आदि बातें इस सभ्यता में स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं। निश्चित है कि ये विचार और सिद्धांत भारत के हर आयु हर वर्ग और रुचि वाले समाज को नहीं पसन्द आ सकती। हमारी संस्कृति के प्रतिकूल हैं। जिसको यह पसन्द भी आएगी वह इसे समाज के अन्दर व्यावहारिक रूप दे भी नहीं पायेगा और देन भी नहीं पाएगा। यह गर्म खून और गर्म उमर वालों की बुद्धि और कल्पना का वैभव मात्र होकर रह गया है। जीवन पर इसका असर उतना नहीं पड़ा जितना साहित्य पर पड़ा है। इससे प्रसूत एवं प्रोत्साहित बुद्धिवाद एवं विश्लेषणवाद ने आलोचना का रूप ही बदल दिया है। अब आलोचना वैयक्तिक रुचि एवं रस वाले सिद्धान्तों के आधार पर न होकर समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर होती है। इसी के परिणामस्वरूप साहित्य में हीन वर्ग वालों का पर्याप्त चित्रण होने लगा है— हालांकि वह पूर्ण रूप से स्वाभाविक नहीं होता। गणेश प्रसाद की 'सुहाग बिन्दी' लक्ष्मी नारायण मिश्र का 'राक्षस का मन्दिर', 'अज्ञेय' के 'शेखर — एक जीवनी', आदि में जो सेक्स की मनोवैज्ञानिक गाँठें हैं। —उलझनें हैं— वे भी इसी के परिणाम के रूप में देखी जा सकती हैं। नारी-शरीर के भार उभार तथा चढ़ाव उतार को गुदगुदी और मन बहलाव की पीठिका समझना और बेशरमी से भरा हुआ उनका चित्रण करना इसी सभ्यता और तज्जन्य मनोरुचियों की देन है। अनेक उपन्यास और उपन्यास लेखक इस रंग में रंग गये हैं क्योंकि इस रंग में बड़ा आकर्षण है और चखने में यह काफी मिर्च मसालेदार और परिणामस्वरूप काफी गरमी लाने वाला है। कविता पहले की अपेक्षा कुछ अधिक सरल हो गई है क्योंकि इस सिद्धान्त और आवश्यकता के अनुसार साहित्य भी जन-समूह के लिये होता है और जनसमूह सरलता प्रिय होता है। अनुभूतियों की तीव्रता से कमी हो रही है और सस्ती भावुकता [१] बढ़ रही है। कविता का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। धार्मिक, नैतिक और

१. 'गुनाहों का देवता' नामक उपन्यास में सुधा और चन्दर की भावुकता—जैसी।

परम्परागत बन्धना की अब कोई परवाह नहीं की जाती । जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है, साम्यवाद भौतिकवाद तत्व और प्रभाव की दृष्टि से दो नहीं हैं । इसमें भौतिक तत्वों को ही सब कुछ माना जाता है । यहाँ सूक्ष्म या आध्यात्मिक तत्व नाम की कोई भी चीज नहीं होती । इसमें धर्म की प्रधानता नहीं होती तात्विक दृष्टि से यह पुद्गल या भौतिक अणु-परमाणुओं को तथा राजनीति की दृष्टि से राष्ट्र को सब कुछ मानता है । जब ब्रह्म या परम आत्मा के न रहने पर यह अद्वैत सूत्र नहीं मिल सकता जो सबमें आत्मीयता— तादात्म्य— की अनुभूति करा सके ऐसी स्थिति में रागात्मक अद्वैतता या अखण्डता का सम्बन्ध अकल्पित होता है । किसी के साथ भी अविच्छिन्नता की प्रतीति नहीं होने पाती । पारिवारिकता खत्म हो जाती है या उसमें दिलों को जोड़े रहने वाला प्रेम-तत्व रह नहीं जाता । स्वार्थ प्रधान हो जाता है । अपने मन और अपनी आवश्यकता की बात ऊपर आ जाती है । 'पर' के लिये अपने को दे डालने की और इस 'दे डालने' के अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की बात दब जाती है । एक बात और भी पैदा होती है । भौतिकता की दृष्टि से व्यक्ति इस विशाल ब्रह्माण्ड और उसकी अमित प्रकृतियों एवं शक्तियों के सामने नगण्य है, एक दम छोटा है, और भाव की दृष्टि से प्राकृतिक शक्तियाँ मानव के सामने विपन्न हैं । भाव से मानव विभु होता है और प्रभु के समकक्ष बैठता है, नहीं तो, यह मानव बड़ा ही अशक्त और असहाय है । तो, भौतिकता मानव को असहाय, नगण्य, अक्षम, असमर्थ और विपन्न बना देती है । इतनी कम शक्ति और इतने कम दिनों तक रहना और सामने, अनंत वैभव — सुख— सम्पदा— भोग ! और इस विश्व में जितना हमें पा सके हैं उनमें कहीं अधिक पाने बाकी असंख्य हैं ! यह विचार व्यक्ति में 'हाय' पैदा कर देता है । वह असन्तुष्ट होकर अधिकाधिक पाने, लेने, छीनने, चुराने, और नोचने खसोटने का प्रयत्न करता है । भावात्मक विघटन होता है । प्रेम समाप्त होता है, भोग बढ़ता है । स्निग्धता की जगह हिंसा सिर उठाती है, प्रीति की जगह पैसा चलता है । जीवन टुकड़ों में बँटता है । परिवार का रस नहीं मिलता तो प्यासा हृदय भर जाता है और रसा मन मनोरंजन माँगता है । मधुर घर की संस्कृति की चिता पर मादक क्लबों की सभ्यता की आकर्षक इमारत बनती है । हृदय नहीं सजता तो सजे सजाए ड्राइंग रूमों के निर्जन मन बेचैन हो उठता है । मन के सदा की लाज भरी चाँदनी पर जब विलास की काली चादर तन जाती है तो आर्केस्ट्राओं और शराब से झनझनाती हुई उत्तेजनापूर्ण 'नाइट-क्लबों' की संस्कृति उत्तेजक उभार पर आती है । परन्तु आग घी से नहीं बुझती, वासना भोग से शान्त नहीं होती, और अधिक भड़कती है । और अधिक भोग होता है और भड़कती है और अधिक भोग मांगती

है, और यह क्रम शक्ति एवं क्षमता की क्षीणता की अन्तिम स्थिति तक चलता रहता है। अधिकाधिक भोग अधिकाधिक पदार्थ चाहता है और अधिकाधिक को धन से वंचित करने से सगृहीत होता है।

वस्तु के सग्रह से सिक्के का सग्रह सुविधाजनक और सुरक्षित होता है। अस्तु सिक्के का महत्व बढा। शोषण बढा। दूसरे का श्रम कम मूल्य पर खरीदा गया। श्रम का मूल्य घटा बुद्धि का मूल्य बढ़ा। ईमानदारी तिरस्कृत हुई। तिकड़बाजी पुरस्कृत हुई। श्रम की सार्थकता सिक्के से आंकी गई। निर्माण वास्तविक लक्ष्य नही रह गया। बैंक, फर्म, आदि खुले। आदमी का मूल्य घट गया। जड आर्थिक दृष्टिकोण की प्रधानता ने चेतन मानव का महत्व घटा दिया। वह कायर हो गया। भाव, नैतिकता, आध्यात्मिकता और राग का सुख नही मिला–अन्तर तृप्त नही हुआ–तो पैसे के जोर से सुख, सुविधा, यश गुरुत्व, महत्व, प्रीति, आदि खरीदने की प्रवृत्ति बढी। कहा गया–"टका धर्मो टका कर्मो टका मोक्ष प्रदायक"[1] मदिरा, नारी के शरीर और (थ्रिल) उत्तेजना की माग बढी। असाधारण और असाधारण कल्पित होने लगी। साहित्य चरमसीमा और कौतूहल प्रधान हो गया और रह गया कि उसके बाद शीघ्र ही कथावस्तु समाप्त हो जाय क्योंकि फिर कोई लुत्फ नही रह जाता। भीतर घुटघटाहट और बाहर रोष, भीतर कमजोरी और बाहर अकड, भीतर दीनता और बाहर दभ-यह जडवादी सभ्यता की उपलब्धियां हैं। ये भारत मे भी आगई। इस भौतिकवादी सभ्यता ने नारी का अवमूल्यन कर दिया। उसका महत्व घट गया, मूल्य घट गया, आदर घट गया, सत्कार घट गया, प्यार घट गया। पहले वह सहधर्मिणी थी, अब महकर्मिणी हो गई। पहले वह देवी थी, अब "कुमारी" या "श्रीमती" मात्र रह गई। पहले उसको स्नेह, प्रेम एव श्रद्धा मिलती थी, अब मसालेदार भडकीली वस्तुएं मिलती हैं। पहले उसे देखकर हम आदर से सिर झुका लेते थे, अब बेहयाई से आंखे फाडे रहते हैं। पहले वह एक परिवार मे बंधकर भी हजारों लाखो से स्वतन्त्र रहती थी, अब पुरुष-मुक्त होकर भी पुरुष प्रधान समाज की बन्दिनी हो गई। पहले वह पति, सन्तान एवं परिवार की आवश्यकताओ की पूर्ति करती थी, आज मैनेजरो, डाइरेक्टरो, साथियो एवं अध्यक्षो की इच्छा की तृप्ति करती है। प्रेम स्निग्ध एक की दासी आज वासना-प्रधान हजारों की 'चिड़िया' हो चली है। आज वह 'व्यक्ति' हो गई है। भौतिक सभ्यता मे 'व्यक्ति' की कीमत होती है उसकी अर्जन-क्षमता के अनुसार जिसमे नारी पुरुष की अपेक्षा हीन है। अस्तु, पुरुष की प्रतियोगिता मे आकर वह 'हीन' हो गई। नारी पुरुष नही हो सकती। नारीत्व खोकर वह विपन्न हो

---

1. एक लोकोक्ति

जाती है। नारी अर्जन के लिये नही, 'सर्जन' के लिये है। आज उसका महत्व उसके गुणों के आधार पर नहीं, उसकी तनख्वाह और उसके आकर्षण की क्षमता पर आंका जाता है। आज स्त्री का सहयोग नहीं, उपयोग होता है आर्थिक और सामाजिक होड मे जूझने वाले भौतिकवादी-जडवादी मानव के तन की भूख और मन की थकान मिटाकर उसको गुदगुदाने का साधन मात्र नारी हो गई है। आज सेक्स मनोरंजन का साधन हो गया है। धर्म की बात बेकार की बात हो गई है, 'प्रजनन' अवाछित ऐक्सीडेन्ट हो गया है। मैथुन हो किन्तु उसका स्वाभाविक फल न संभालना पडे, इसके लिये अनेक उपाय और साधन निकाले जा चुके हैं और उनके उपयोग को अनैतिक नही माना जाता। बल्कि सार्वभौम सत्ता, सम्पन्न सर्व-प्रभु सरकार अपनी समस्त शक्तियो एव क्षमताओं का उपयोग करके उनका प्रचार करती है। उसकी महिला प्रतिनिधियां भी बडी निष्ठा और आस्था से उसकी वकालत करती हैं। गर्भपात को कानूनी कार्य घोषित करने का विचार सामने लाया जा रहा है। निश्चित है कि इससे समाज मे व्यभिचार बढ़ेगा। आज भी 'मिसेज' की अपेक्षा 'मिस' एव 'श्रीपति' की जगह 'चिर कुमार' या बाल-ब्रह्मचारी पुरुष इसका उपयोग कम नहीं करते। शायद समाज व्यभिचार को मान्यता प्रदान करने की ओर-मुक्त मैथुन की ओर उन्मुख हो रहा है। अपने आदम स्वरूप की ओर मुडने की दिशा मे विकासोन्मुख है। ठीक भी है क्योंकि भौतिकवादी जड सभ्यता की नैतिकता का रूप कुछ तो बदला होगा ही। अस्तु, आदमी 'मैं' को प्यार करने लगा। सार्थकता देने मे नही, पाने मे समझी जाने लगी। तो, जो हमे एक दूसरे से समुचित एव वाछित रूप से बाधता है वह 'सम्बन्ध' न होकर 'बन्धन' समझा जाने लगा। विवाह 'सोशल कन्टेक्ट' या 'म्युचुअल ऐग्रीमेन्ट' हो गया जो आज किया जाता है और कल तोडा जाता है। जड सभ्यता ने पुरुष और नारी दोनो के भीतर से सहने और निबाहने की भावना समाप्त कर दी। विवाह जन्म-जन्मान्तर का बन्धन नहीं रहगया और अब तो सरकार ने भी 'तलाक' का रास्ता खोल दिया है। पटे तो ठीक है, नही तो छोड दो, इस छोड-छाड में नारी सदैव घाटे मे रहती है। पति या पत्नी को दोस्त मानने का रिवाज चला जिसका तात्पर्य यह है कि दोनों दो ऐसे व्यक्तित्व हुए जिनका भावात्मक या रागात्मक सबध सूत्र बडा ही कच्चा होता है। यह भौतिकवादी सभ्यता है। इस प्रकार अब हम सबको एकमात्र बुद्धि की दृष्टि से देखने लगे। अस्तु, इस भौतिकवाद ने वैज्ञानिक मनोवृत्ति, वैज्ञानिक विचारपद्धति एव तर्कशक्ति दी। अब जीवन भयानक रूप से कर्मसकुल एव उद्देश्य प्रधान हो गया। भौतिक विज्ञान-प्रधान हो गया। युद्ध, कला, व्यापार, शल्य एव चिकित्सा, आदि के क्षेत्रो पर विशेष रूप से इस भौतिकवादी सभ्यता की छाप पडी। भौतिक लघुताएं मिट गई प्राचीरें टूट गई। नवीनता की अभिवृद्धि

हुई। वस्तुओं की विविधता और प्रचुरता जीवन की सीमाओं से उफना उठी है। साहित्य में मनोविज्ञान, आदि का प्रवेश हुआ। बौद्धिकता बढ गई। धर्म, नीति और आध्यात्मिकता का स्थान यथातथ्य चित्रण ने लिया। आदर्श का स्नेह-स्निग्ध आंचल छोड़ दिया गया।

फ्रायड —

बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी सभ्यता ने भारत को एक और महत्वपूर्ण चीज दी है। यह चीज है फ्रायड के विचार और निष्कर्ष। इस विद्वान ने मानव-मन का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग से किया और कुछ अपने निष्कर्ष निकाले। उसके निष्कर्षों ने मनोविज्ञान की दुनिया में एक हलचल मचा दी। इसने मानव चेतना के कई स्तर बनाये। उन स्तरों में एक है अवचेतन मन। अनेकानेक कारणों से हमारी जो इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती वे दबकर अवचेतन मन में पड़ी रहती हैं। उनमें असाधारण शक्ति होती है और वे चुपके चुपके उत्पात मचाया करती हैं। मनुष्य का चिन्तन, मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्तियां, मनुष्य का व्यवहार, मनुष्य की कल्पना और कामना, मनुष्य के भाव और विचार, मनुष्य की क्रिया और प्रतिक्रिया इनसे प्रभावित होती रहती है। इन दमित वासनाओं में भी सबसे अधिक सशक्त होती है काम-वासना। फ्रायड के अनुसार काम-वासना से ही हमारा सारा जीवन अनुप्राणित होता है। बच्चे से लेकर वृद्ध तक की समस्त क्रियाओं के पीछे यही होती है। बच्चा मां को इसलिये अधिक प्यार करता है कि उसमें काम-वासना है, भाई-बहन के भी प्यार का यही आधार है! दमित काम-कुंठाएँ ही हमारी मूल प्रेरणा हैं। कला में इन्हीं दमित काम वासनाओं का श्रेष्ठतम रूप मिलता है। कला के माध्यम से हमारी दबी हुई इच्छाएँ समाज से समझौता करने के लिये रूप बदल कर आती हैं। कलाकार प्रतीक शैली अपनाता है। वह जीवन-संघर्ष से भागकर कल्पनाओं का एक संसार बनाता है "मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ, है यह विस्तृत संसार न मुझको भाता, मैं सपनों का संसार लिये फिरता हूँ।"[1] फ्रायड की इस विचारधारा ने कला और साहित्य को समझने की एक नई दृष्टि दी जो पाश्चात्य सभ्यता की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप है।

मनोविज्ञान—

आधुनिक विज्ञान ने मानव-मन को भी अछूता नहीं छोड़ा। उसका भी विवेचन और विश्लेषण किया गया है। यह विज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। इसमें मन। विभिन्न वृत्तियों, प्रवृत्तियों एवं उस पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों का अध्ययन किया

१. 'बच्चन' की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ।

जाता है। 'आधुनिक कविता में जिन मनो-वैज्ञानिक तत्वों एवं प्रतिक्रियाओं का उपयोग हुआ है वे इस प्रकार हैं—(१) निर्बाध निक्षेप या फ्री एसोसियेशन जिसका आधार आत्मोद्‌बोधन........, (२) व्यंजना का उपयोग अर्थात् सांकेतिकता, (३) प्रतीकवाद, (४) उद्‌बोधक प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यंजना का प्रयत्न, (५) वैयक्तिकता और (६) अचेतन प्रक्रियाओं के विशृंखल समूह मात्र के रूप में मानव की कल्पना।[1] नाटकों में तो मनोवैज्ञानिक चित्रण अनिवार्य हो गया है। इसी प्रकार कहानी, उपन्यास, आलोचना, जीवन चरित्र एवं निबन्ध, आदि में भी इसका आधार लिया जाता है।

इलियट—

इस सभ्यता की उपज, इलियट, की मान्यताओं ने भी हमको प्रभावित किया है। प्रयोगवादी कविता का बहुत–कुछ आधार इलियट है। उसके अनुसार कवि का व्यक्तित्व और कवि की कृतियाँ–ये दोनों दो स्वतन्त्र इकाइयाँ हैं। जो मन रचना करता है वह उस मन से भिन्न है जो भोग करता है। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि हमने जो भाव प्रकट किये हैं वे हमारे अपने ही हों। इसलिये काव्य में कवि की अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को ही खोजना बेकार है। हमने जिन भावों की व्यंजना की है उनके मौलिक रूप का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। कला–सृजन की उत्कट प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही हमें वे संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ मिल जाती हैं जिनका समन्वित रूप हमारे द्वारा रचित काव्य के रूप में दिखाई पड़ता है। रचना करते समय कलाकार अपने 'स्व' को अपनी रचना से अलग रखता है। इसलिये कला में कलाकार के व्यक्तित्व को खोजने का प्रयास नहीं करना चाहिये।

प्रतिबिम्ववाद तथा कुछ विचारक—

१९०८ ई० में हूल्मे के नेतृत्व में प्रतिबिम्बवादी आंदोलन प्रारम्भ हुआ था। एजरा पाउण्ड और एमी पावेल ने इसको समृद्धि प्रदान की। प्रथम महायुद्ध के बाद यह आंदोलन समाप्त हो गया। साहित्य–क्षेत्र में इसका पर्याप्त विरोध हुआ था। इस आंदोलन ने शास्त्रीय पद्धति को स्वीकार किया। इसके अनुसार कविता में संक्षिप्त *के साथ और एक मर्यादापूर्ण ढंग से दृश्य के प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करना चाहिये।* यह अभिव्यक्ति स्पष्ट होनी चाहिए। इसके अनुसार अर्थ की शुद्धता भी आवश्यक है। विषयवस्तु चुनने में कवि पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। भावों की अभिव्यंजना में नाद -

---

१. "आलोचना", नवम्बर, १९५५ ई० पृ. २९–३०।

रा भी सहारा वह ले सकता है। इससे किसी भाव की अनुभूति ध्वनित की जा सकती है। प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करने के लिये हमको यदि का सहारा लेने की मजबूरी नहीं है। हमें इस ढंग से अभिव्यक्त करना चाहिये कि उसकी अपनी विशिष्ट वैयक्तिकता बनी रहे। शब्द चित्रों के विधान में शुष्क कठोरता आवश्यक है। इन प्रकार यथार्थ अभिचित्रित होना चाहिये। वस्तु के अपने सही रूप को ही चित्रित करना है। इस चित्रण में हमें अपनी मान्यता को अलग रख देना है। काव्य आत्म परक भावुकता प्रधान, दार्शनिक अथवा वर्णनात्मक नहीं होना चाहिये। कठोर, दृढ़ और ठोस रूप सामने लाना चाहिए। जो-कुछ लिखो उसमें कुछ अजनबीपन, अनोखा पन, असाधारणता हो। कविताएँ छोटी हों। प्रभाव थोड़े समय तक के लिये पड़े। शुद्ध आकृति ज्ञान का इसमें बड़ा महत्व है।

निरीक्षण पूर्ण एवं वास्तविक होना चाहिए। ईलियट की ये धारणायें फ्रांस के प्रतीकवादी आन्दोलन से मिली। असफलताओं और भोगवाद ने फ्रांस में जनतांत्रिक आदर्शों और मानवतावादी रोमांटिक काव्य-परम्पराओं के विरुद्ध विचार पैदा किये। विक्टर ह्यूगो रोमांटिक स्कूल के थे उनके ठीक विपरीत विचार लेकर बाद लेयर पतनवादी कविता के समर्थक हुए। इसके अनुसार मानववाद, बुद्धिवाद, आदर्शवाद, आदि सभी कला के लिये अवांछनीय हैं। प्रतीकवादी कविता इसी पतनवादी कविता की एक शाखा थी। मालर्मे, रेमी द गुर्मा और पाल वालेरी, आदि के नेतृत्व में यह यूरोपीय साहित्य का एक प्रमुख आन्दोलन हो गया। प्रतीकवादी कवियों में से अधिकांश कलावादी, पलायनवादी और घोर व्यक्तिवादी थे। उनकी कविताएँ आदर्शों और मतवादों से दूर रहती थी। ऐसा करने से "विशुद्ध" कविता बनती है क्योंकि यदि कविता में कोई खास विचार, सिद्धांत, मत एवं बोधगम्यता रही, उसका आकार बृहद रहा, या वह समझकर लिखी गई, या समझ में आ सकी तब वह, विशुद्ध कविता' नहीं रह जायगी'' तब 'समझ में आने वाली चीज" हो जायगी, सिद्धान्त' हो जायगी, 'बड़ी रचना" हो जायगी, 'कविता' कहां रह जायगी''। इसी तरह एक और विचारधारा हमको पाश्चात्य सभ्यता ने दी। उसका नाम है अस्तित्ववाद। अस्तित्ववाद दो प्रकार का होता है। एक के अनुसार मानव यह अनुभव करता है कि वह स्वतन्त्र है और 'कुछ" है। यह सोचने के बाद वह यह अनुभव करने लगता है कि तब उत्तरदायित्व भी है। उसके सामने के बन्धन एवं उसकी बाधाएँ, उसे अपने को अक्षम और मनुष्य की लघुताएँ उसे अपने को अकेला सोचने को विवश कर देती हैं। अब वह अपने को ईश्वर के सामने प्रणत करके अपने को शून्य कर देता है। यह आस्तिक अस्तित्ववाद है। दूसरे प्रकार का अस्तित्ववाद नास्तिक अस्तित्ववाद है जिसके

अनुसार मनुष्य की कोई भी अपनी स्थायी प्रकृति नहीं। मनुष्य पदार्थ नहीं, कर्ता है और इसके कारण उसका प्रत्येक कार्य एक नई कृति है–सृष्टि है। इसका पता यों लगता है कि आप किसी भी मनुष्य की पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक एवं व्यक्तिगत स्थितियों को पूरी तरह से जानते हुए भी नहीं कह सकते कि वह अमुक परिस्थिति में अमुक आचरण करेगा ही। अनुमान कर सकते हैं और गलत हो सकते हैं। यह मानव पूर्णरूप से स्वाधीन है। उसकी इस असीम स्वाधीनता की सीमा बना देने में समर्थ शक्ति कोई है ही नहीं–ईश्वर, न और कोई परम–चरम शक्ति। मनुष्य की यह असीम स्वाधीनता ही उसके लिये घातक है–अभिशाप है। सामने अनन्त है। उसमें से अपने लिये "कुछ" चुनने को वह बाध्य है। ऐसा किये बिना वह रह नहीं सकता। अब प्रश्न उठता है कि कैसे चुने ! इसके लिये उसके पास कोई शाश्वत मापदण्ड ही नहीं है। यही परिस्थिति मानव के जीवन की शाश्वत दुविधा है। उसके अन्दर व्याकुलता होती है। उसे अपनी इस व्याकुलता का कोई स्पष्ट ज्ञान होता नहीं पर वह बेचैन रहता है। भीतर ही भीतर कुछ कचोटता है वह भागना चाहता है, पर भाग नहीं सकता ! दयनीय, एकाकी, असहाय, बेचारा !! साहित्य इसी हीनता के देवता की अभिव्यक्ति है। टालस्टाय का सिद्धान्त था कि कलाकार अपनी कृतियों में जिन भावों को अभिव्यजित करता है उनकी प्रकृति, उनके स्वभाव और जनता पर पड़ सकने वाले उनके प्रभाव का–अनुमान उसे होना चाहिये। ऐसे भावों की अभिव्यजना उसे नहीं करनी चाहिये जिनसे लोक का अहित हो। साहित्य में लोक–हित के उत्कृष्ट भावों की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। साहित्य एक उपयोगी वस्तु है। उसका एक उद्देश्य है और नन्द दुलारे वाजपेयी के शब्दों में "साहित्य प्रवृत्तियों के संघठन प्रस्तुत करता है और उनके निर्माण में सहायक भी होता है–यह रिचार्ड्स के मत का सार है।"[१]

आगे चलकर काडवेल ने मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश साहित्य में कराया। इसके अनुसार साहित्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं। वह साध्य भी नहीं। वह साधन मात्र है। वह 'पार्टी' के हित के लिये होना चाहिये। कार्य–कारण परंपरा से मुक्त न होने के कारण साहित्य किसी का 'कार्य' है किसी का 'कारण' जिससे कोई 'कार्य' होगा। युग का आर्थिक विधान और स्वरूप ही साहित्य का रूप निर्माण करता है। मध्यवर्गीय और उच्चवर्गीय व्यक्तियों द्वारा रचित साहित्य बुर्जुआ प्रवृति प्रधान और शोषण का सहायक एवं समर्थक होता है। व्यक्तिवाद बुर्जुआ प्रवृति का

१. 'नया साहित्य नये प्रश्न', पृष्ठ ६२

परिणाम है। इटली का बूनेडिटो क्रोचे काव्य को अभिव्यजना मात्र मानता है। उसके अनुसार कला एक मानसिक प्रक्रिया है। वह आत्मा व्यभि हैं। मनुष्य की सहज चेतना और कल्पना नाम की जो दो चीजें मिली हैं उन्ही से कला का जन्म होता है। मन एक सवेदनाशील तत्व है। सामान्य जीवन व्यापारों के द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व मन पर अपनी छाप छोडते जाते हैं। उन्ही छापों की अभिव्यजना कला है। एडलर का विचार है कि चूकि मानव शारीरिक, मानसिक, आदि अनेक क्षमताओ की दृष्टि से हीन है अतएव व्यक्ति के मन मे हीनता की भावना बस जाती है। इसकी प्रतिक्रिया यः है कि वह कमी पूरा करना चाहता है अर्थात् असाधारण सत्ता और महत्ता प्राप्त करने की इच्छा पैदा होती है साहित्य और कला भी मनुष्य की इस हीन भावना की चुभन भुला देने के लिये हैं। काव्य रचना की शक्ति न प्रकृति की देन है, न परम्परा से उत्तराधिकार मे मिलती है और न यह किसी पुण्य का फल है। यह मानव की हीन भावना की प्रतिक्रिया है। भय, सघर्ष और निराशा आदमी को कवि बना देते हैं। वह अच्छा लिखकर और सुनाकर जो जनता के हृदय को प्रभावित कर लेता है तो अहकार मे फूल उठता है। अपनी हीनता का दर्द भूल जाता है। उसमे एक सामाजिक भाव जागता है। वह दूसरे मनुष्य से प्रेम भी करने लगता है। सारे ससार को अपना समझने लगता है। इससे अपना और सबका कल्याण होता है। यह विचार अ त चेतनावाद है। युग 'सामूहिक अचेतन' से कला को उद्भूत मानता है। कला और साहित्य मे इस दृष्टि से कोई खास अन्तर नही पडता। युग की विचारधारा का सार नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दो मे यह है, 'साहित्य ऐसी ही क्षतिपूरक क्रिया है। उसमे कलाकार समस्त मानवता की उन निगूढ अभिलाषाओ को अभिव्यक्त करता है जिनका उसके युग विशेष की भूलो और त्रुटियो के निराकरण और एक अभिनव सतुलन की प्राप्ति के साथ गहरा सबध है।'[1] अतियथार्थवाद के अनुसार कलाकार को चाहिये कि वह अपने चेतन मन की क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ पर कोई ध्यान न दे अपने आप उसके अचेतन मन से कुछ भाव और कुछ छविया उभरेंगी। उन्हे उसी रूप मे ही साहित्य मे अभिव्यक्त करना चाहिये। यह अतीन्द्रिय यथार्थ नियमो और अनुशासनो से परे होता है।

हमने इन सभी सिद्धान्तो को पढा। इनमे से कुछ हमारे अनुकूल थे और कुछ हमारे प्रतिकूल। ठोस एव सुगठित जीवनधारा के अभाव मे मौलिक चिन्तन कल्पना मात्र है। हमारा पढा लिखा मध्यवर्ग ऐसी अमर वेलि था जिसकी जड न हमारी सस्कृति मे रह गई थी और न पाश्चात्य सस्कृति मे। यह निर्मूल वर्ग लहरो पर उतराता

१. 'नया साहित्य नये प्रश्न', पृ ८६

—बहता है। जब कुछ ठोस नही दे मिलता तो यश नहीं मिलता और अहं की पूर्ति नहीं होती। इस कमी की पूर्ति हमने नवीनता और चोंका देने वाली चीजों से करनी चाही। इस नवीनता की खोज ने हमें ऊपर कहे गये सिद्धान्तो को बौद्धिक रूप से अपनाने के लिये मजबूर कर दिया। आधुनिक युग का पाश्चात्य समाज और उसकी नकल करने वाला भारतीय समाज 'अभी उस रूप की खोज कर रहा है जिसमें वह अपने मन और आत्मा की ठीक ठीक अभिव्यक्ति कर सके। मानव जीवन मे ही जब स्थिरता नही आई, तब क्या उसकी अन्तरात्मा और अन्तश्चेतन की अभिव्यक्ति करने के रूप और शैली में स्थिरता आ सकती है ?[1] बात यह है कि औद्योगिक क्रांति अपनी चरम सीमा पर बीसवी सदी मे ही पहुँची। इससे मानव के ज्ञान मे वृद्धि हुई। उसका मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ। साथ ही साथ असह्य मानव दुःख और विपत्तियो की चक्की म पिस उठे। ज्ञान विज्ञान की नई नई खोजों तथा मन और जीवन के नये नये रहस्यो की जानकारी का बोझ सम्भालने वाला मानव उठा नही पा रहा है, सह नहीं पा रहा है। वह बिखरा जा रहा है। पागल हुआ जा रहा है। अपने को उधड़ता जा रहा है। यह भोग प्रधान भौतिकवादी सभ्यता हाड़-मास और जड़ वृत्तियो का विश्लेषण ही कर सकती है। नये ज्ञान के रूप म भारत को पश्चिम से यही मिला है, मिल रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् फिर हम उसी रग मे रंगे जा रहे हैं, हमारा जीवन उसी रग म रगा जा रहा है, हमारी चेतना उसी मे रँगी जा रही है, हमारी बुद्धि उसी मे रगी जा रही है।

पाश्चात्य सभ्यता हमे पतन की ओर ले चली—

पाश्चात्य सभ्यता से ज्यो-ज्यों हमारा परिचय बढता गया त्यों-त्यो हमको यह प्रतीत होने लगा कि वहा की शिक्षा, समाज तथा शासन पद्धति यद्यपि आदर्श और सिद्धान्त की दृष्टि से हमसे श्रेष्ठ नहीं है किन्तु हमारे जीवन को बलात् उसी के साचे मे ढाला जा रहा है और हम विवश होकर उसी के अभ्यस्त होते जा रहे हैं। यही हुआ। हमारे जीवन को पाश्चात्य सभ्यता के तंत्र से इस प्रकार कस दिया है कि हमें उसकी चुभन की अनुभूति तो होती है किन्तु हम अपने को उससे छुड़ा नहीं पा रहे हैं। कुछ तो यह भी सोचने लगे हैं कि जब सारी दुनिया उसी रास्ते पर जा रही है और आज की दुनिया मे किसी का भी सबसे पृथक होकर रह सकना सम्भव नहीं है तब उन्नति और सुख का एक ही रास्ता है और वह यह है कि जहां तक

---

१ 'कल्पना', पत्रिका, पृ ५०६ लेखक-अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार

चल सके वहां तक पाश्चात्य विधान को स्वीकार कर लो। यह दृष्टिकोण अनुचित है। इसके अनौचित्य का अनुभव तभी हो गया था जब पाश्चात्य सभ्यता हम पर लादी जा रही थी। इसीलिये इस बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे महात्मा गाधी ने लिखा था, यह तो मेरी पक्की राय है कि हिन्दुस्तान अंगरेजो के नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता के बोझ से पिस रहा है। इस पूतना की पकड मे वह आ गया है। इससे बचने का उपाय है अवश्य पर दिन दिन वह अधिक कठिन होता जा रहा रहा है।[1] आज हम अनुभव करते है कि इस 'पूतना' की पकड और भी मजबूत हो गई है — इस से छूटना और भी कठिन हो गया है।

इस सभ्यता की उन्नति स्पर्द्धात्मक है। हर राष्ट्र अपनी उन्नति चाहता है। इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर राष्ट्रों ने अपनी अपनी अर्थनीति बनाई है। सब चाहते हैं कि उनका अपना सामान सभी जगह जाय और बिके मगर दूसरे के सामान की खपत उनके अपने यहा न होने पाये सभी औद्योगीकरण और मशीनीकरण चाहते हैं। राजसत्ता इसी अर्थनीति के एक तन्त्र के रूप मे ही परिवर्तित हो रही है। जीवन मे वैश्यवृत्ति प्रधान हो रही है। पैसा आवश्यक हो गया है और इसी-लिये संघर्ष अनिवार्य हो गया है। वर्ग संघर्ष की उत्पत्ति हो रही है। हिंसा करवटें लेती है। जैनेन्द्र के शब्दो मे 'ऋषि से राज्य श्रेष्ठ'[2] हो चला है। राजसिक प्रवृत्ति वाले का उत्कर्ष और सात्विक का अनादर होता है। गणित स्वार्थपरक हो गई है। हिसाब यो चलता है कि कितने पैसे लगे और कितने मिले, यो नही चलता कि समाज का जितना धन और श्रम व्यय हुआ उसकी क्षतिपूर्ति कितनी हो सकी है। लाभ का अर्थ हो गया सिक्के की बढोत्तरी — न कि मानवता की वृद्धि। हिसाब का गठबन्धन स्वार्थ से हो गया। उसने न्याय को तलाक दे दिया। आज शोषण की समस्या प्रधान हो गई है। बीसवी सदी के भारत की यही कहानी है।

अस्तु, वस्तुपरक दृष्टि, बुद्धिवाद की अधिकता, संस्थाओ के बल पर यश और पद की रीति या कुरीति से अर्जन, जनसाधारण से सपर्क का अभाव, गलत बातें कह सकने और गलत व्याख्या कर सकने का सामर्थ्य, नवीनता का मोह, रोब, गांठने की इच्छा, अपनी हीनता छिपाकर अपने को बडा दिखाने की इच्छा, अनैतिकता, साधना की कमी, नीति और धर्म से डरने की प्रवृत्ति का नाश, स्वार्थ, गुटबन्दी, आदि अवां-छित वृत्तियां पाश्चात्य सभ्यता के सपर्क के परिणामस्वरूप हमारे जीवन और हमारे

---

१ 'हिन्द स्वराज्य', पृ ३८

२. 'समय और हम',

साहित्य को मिली हैं। स्वार्थप्रेरित अँगरेजी सत्ता और पतनोन्मुखी भारतीय-मानस तथा जड़सभ्यता–इन तीनों के सम्मिलन से किसी बहुत अच्छे परिणाम की आशा भी नहीं की जा सकती थी। हमारी बौद्धिक उपलब्धियाँ अत्यन्त छिछली और साधारण रहीं। के० एम० मुन्शी ने कहा है, कि *उच्चतर बौद्धिक-उद्भावनाओं के परों को अब भी सशक्त एवं सबल होना है।*[1] *सशक्तता का अभाव हो चला* शिक्षित हिन्दू दो ससारों के बीच खोया-खोया-सा है। भारतवासियों की रीढ़ की हड्डी बहुत कमजोर हो गई और वे पलायनवादी प्रवृत्ति के हो गये। वे विगत गौरव की झाँकियों पर सन्तोष करने लगे। जवाहरलाल नेहरू ने इसे "मूर्खतापूर्ण और भयङ्कर मनोविनोद"[2] कहा है। स्वामी रामतीर्थ ने कहा कि अँगरेजी शिक्षा के कारण हमारे विचारों में जो क्रान्ति हुई *उसका साराश दो शब्दों में दिया जा सकता है।* एक तो यह कि निसर्ग-पर अधिकार जमाने से सुख की वृद्धि होती है और दूसरे यह कि अपनी ही सुखवृद्धि करना मनुष्य का प्राप्तव्य है। पन्त ने लिखा कि हमें भाषा नहीं, बल्कि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं मनुष्यों की भाषा चाहिये।[3] हम पश्चिमी विचार, दर्शन तथा साहित्य के दास हो गये। हम यह समझने लगे कि *हमारी आध्यात्मिकता और दर्शन सामन्ती परिस्थितियों की देन है* और आज के युग के लिये उपयोगी नहीं है। हमारा जीवन सज-चला किन्तु अन्तर, चेतना, भाव एवं विचार सुसज्जित एवं सगठित न हो सके।

दो इंगलैंड–जिनमें से एक से हमें कुछ सहायता मिली –

जवाहरलाल नेहरू ने दो इंगलैंडों की चर्चा की है।[4]—"शेक्सपियर और मिल्टन वाला, उदार बातों और लेखों वाला, वीरता के कारनामों वाला, राजनीतिक *क्रान्ति और आजादी के लिये लड़ने वाला,* विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति वाला, और 'बहशियाना जाब्ता फौजदारी करने वाला, बर्बर व्यवहार करने वाला, सामन्तवादी एवं प्रतिक्रियावादी'"। हम दूसरे इंगलैंड की स्वार्थपरक साम्राज्यशाही नीति के नीचे दबे रहे किन्तु धीरे-धीरे पहले के भी सम्पर्क में आये। दूसरे इङ्गलैंड ने पहले इंगलैंड के प्रभाव को रोकना चाहा, पहले इंगलैंड ने हमारे महत् कार्यों और *उद्देश्यों में सहयोग और सहायता दी।* भारत ने अपनी शक्ति, अन्तर्प्रेरणा और

---

१ 'आवर ग्रेटेस्ट नीड', पृ ३४।
२ 'डिस्कवरी आफ इंडिया', पृ ६६-७०।
१ 'पल्लव' की भूमिका, पृ० १०।
२. 'हिंदुस्तान की कहानी', पृ० २४६।

क्षमता के बल पर पाश्चात्य सभ्यता से कुछ बातें अपने यथासम्भव लाभ के लिये भी सीख ली। हमारी प्रसुप्त बौद्धिक और आलोचनात्मक-शक्ति का पुनर्जीवन, जीवन को फिर से बसाने और नये नये सृजन की इच्छा, नई परिस्थितियों और नये आदर्शों का देखने, समझने और अपनाने की इच्छाएं इस नये युग मे हमे पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से ही प्राप्त हुई। ये विचार अरविन्द के हैं और इनकी सत्यता मे कोई भी सन्देह नही। इस नवीन सम्पर्क अथवा उसके धक्के ने ही हमें जगाया और जीवित रहने के लिये एव गौरव की प्राप्ति के लिये नई परिस्थितियों के अनुरूप बदल जाने की प्रेरणा दी। तभी तो हमने जाति-व्यवस्था की कठोरता और इसी तरह की अनेक अनावश्यक परम्पराओं को यथासम्भव तोड दिया। धार्मिक एव साम्प्रदायिक कट्टरता भी इसीलिये समाप्त होती जा रही है। इसने हमारा दृष्टिकोण उदार बना और हम किसी व्यक्ति या जाति के विरोधी न होकर उसके दोषों मात्र के विरोधी हुए। हमारे यहाँ भी वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुसन्धान होने लगे। ललित कलाओं और वास्तु कलाओं में नई-नई छवियाँ उभरी। हम हर तरह से दुनिया के बीच मे आकर खडे हो गये। अब सबसे अलग-एकलित-नही रह गये। दूसरो की हवा लगने का 'छूत' समाप्त हो गया।

हमारे भीतर की सजीवनी शक्ति—

दूसरे के रूप और दूसरे की आत्मा को स्वीकार कर लेना यदि निर्बलता, पराजय एव मृत्यु है तो भी पर के प्रभाव को स्वीकार करके परिस्थिति के अनुरूप अपने को परिवर्तित कर लेना सजीवता, क्षमता, शक्ति और जिंदगी की निशानी है। हिन्दी के सेवक मुर्दा नहीं हैं और यह इसी से प्रकट है कि यद्यपि अगरेजी साम्राज्यवाद ने हमे कुछ भी देना नहीं चाहा था किन्तु तब भी हमने उनकी सभ्यता की श्रेष्ठताओं म से बहुत-कुछ लेकर अपने को यथोचित ढग से उन्नत और समृद्ध कर लिया है। हमने पश्चिम का सारा साहित्य मथ डाला। उसमे हमारी आवश्यकता और सस्कृति के अनुकूल जो अमृत था उस ले लिया और अपने साहित्य के इतिहास म एक नया अध्याय जोडा। इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन ने लिखा है, "नये विचार और नये साहित्य की यदि जडें जमानी थीं और उन्हे फलना-फूलना था तो विचार और उद्देश्य का नया वातावरण भी निर्मित करना आवश्यक था। यह वही परिचित भारतीय भूमि हो सकती थी परन्तु आधुनिक उपकरण और समृद्ध खाद का स्वागत भी बहुत आवश्यक था।"[१]

---

१. "आज का भारतीय साहित्य" पृ० ४३३

जो पाश्चात्य जीवन और दर्शन भारत मे ला दिया गया था उसका इससे अधिक सुन्दर उपयोग और कोई दूसरा हो भी नहीं सकता था। वह अपना स्वाभाविक प्रभाव डाले बिना रह नहीं सकता था। हमारे अधिकार में केवल इतना ही रह गया था कि उसका सदुपयोग कर लें। वही हमने किया।

इच्छे का उपयोग और उनका प्रभाव—

दर्शन के क्षेत्र मे भौतिकवाद, राजनीति के क्षेत्र मे लोकतत्रवाद और समाजवाद, समाज के क्षेत्र मे प्राचीन आवश्यक रूढियों और परम्पराओं का त्याग, जीवन में प्रवृत्ति का मार्ग तथा व्यक्ति और समाज की महत्ता हमने स्वीकार की। हमे एक बौद्धिक अन्तर्दृष्टि मिली। अब हमने हिन्दी की सेवा का केवल व्यक्तिगत मार्ग ही नही अपनाया बल्कि दल और सस्थाओं का निर्माण करके आन्दोलन का भी रास्ता पकड़ा। बीसवीं सदी के आते आते नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हो गई और हिन्दी प्रदेश मे चारों ओर उसकी शाखाएँ फैल गई। बीसवी सदी का तृतीय दशक समाप्त होते-होते प्रयाग मे 'हिन्दुस्तानी ऐकेडमी' की स्थापना हो गई। इसी प्रकार 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' भी बन गया। भौतिकवादी एव बुद्धिवादी दृष्टि ने यह सुझाया कि साहित्य की सेवा का तात्पर्य केवल कविता, कहानी, नाटक आदि लिखना ही नही है सेवा के इस क्षेत्र मे ज्ञान विज्ञान का साहित्य प्रस्तुत करना तथा कचहरी से लेकर शादी–व्याह के उत्सव के निमत्रण और घर के नामकरण, आदि मे भी हिंदी का प्रयोग भी हिंदी की सेवा है। यह एक व्यापक समग्र दृष्टि थी जो मिली। यह एक आंदोलन था। इस नयी सभ्यता के प्रभाव ने ही जीवन में विविधता उपस्थित की और हमारे हिन्दी साहित्य को अनेक विधाएँ मिलीं। हमने खूब लिखा। के०एम० मुशी ने लिखा है कि पिछले पचास वर्षों मे भारतवर्ष की पुस्तक शक्ति बढ़ी है।[1] इसमें कोई सदेह नहीं कि इन पिछले पचास वर्षों का पुस्तक साहित्य हिंदी का समृद्धतम पुस्तक साहित्य है। गद्यकाव्य, शब्दचित्र, रेखाचित्र, कवियों की आलोचना, रिपोर्ताज आदि अभिव्यक्ति के नये ढाचे मिले। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, एकाकी, आदि को आकर्षकतम नया रूप विधान मिला। पाश्चात्य जगत के साहित्यिकों ने भी हमे प्रभावित किया। रामकुमार वर्मा ने लिखा है, 'मेरे इन नाटकों में कहीं कहीं काव्य की छाया भी है। यह मेरे लिये स्वाभाविक है। इस क्षेत्र मे जेम्स बारले के 'ट्वैल्स' और 'लिब्ब कुएल्टी', आदि नाटकों ने मुझे बल प्रदान किया है। पी. बी शैली की 'चैंसी' रचना भी मुझे विशेष रुचिकर है। शा के यथा-

---

१. 'आवर ग्रेटेस्ट नीड', पृ० १५०

संवाद से तो कोई भी नाटककार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।[1] पदमसिंह शर्मा ने लक्ष्मीनारायण मिश्र का यह कथन उद्धृत किया है, तब भी मिल्टन और शा को मैं पसन्द करता हूँ। इब्सन का बहुत अधिक प्रभाव मेरे नाटकों की वाह्यरूप रेखाओं पर पड़ा। गेटे, नीत्शे और रोम्यारोला के भीतर मुझे भारतीय जीवन दर्शन की झलक मिली। प्लेटो के सिद्धान्त जहां तक समझ सका हूं सब ओर से भारतीय हैं।[2] प्रभाकर माचवे ने अपने एक लेख में हिन्दी पर पड़ने वाले शा के प्रभाव का अच्छा विवेचन किया है।[3] पाश्चात्य सभ्यता उत्सुकता और नवीनता की मनोवृत्ति पसन्द करती है। हिन्दी मे एकांकियों की लोकप्रियता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रभाव के परिणामस्वरूप भी हो सकती है। रामकुमार वर्मा भी लिखते हैं, 'इन दोनों को लिखते समय मैं बार बार यह अनुभव करता हूं कि मैं अपने मित्रों को ऐसी चीज दूं जो किसी न किसी तरह नई हो और जो उनके मन की उत्सुकता बढ़ाती हुई उन्हें किसी सत्य या रहस्य से परिचित करा दे।'[4] पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिक प्रधान नहीं है। पंत स्वयं लिखते हैं कि मेरा काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य नहीं है बल्कि वह महान संघर्ष का काव्य है —अन्तरतम संघर्ष का भू-जीवन, लोक मंगल तथा मानव मूल्यों का का काव्य।[5] पश्चात्य सभ्यता के संपर्क के परिणाम-स्वरूप ही हमारा साहित्य धीरे-धीरे रस से शून्य हो गया। उसमे दुर्दम प्यास और दुर्दान्त साहस की अभिव्यंजना होने लगी। ऐन्द्रियता, अश्लीलता के साथ साथ बीभत्स भी अधिक चित्रित होने लगा। हमारे साहित्य मे अंगरेजी रहस्यवाद, क्रोचे के अभिव्यंजनावाद, फ्रांस के प्रतीकवाद, पो के विषादवाद, आदि पाश्चात्य साहित्य की विचारधाराओं की झलकियाँ भी इधर उधर मिलती हैं। इस युग में कविता बन्धनों से मुक्त हो गई। हिन्दी के साहित्यिक की सारी और सभी झिझक इस युग में समाप्त हो गई। व्यक्तिवाद ने उसे साहस और बल दिया और दूसरी ओर उसने यह भी अनुभव किया कि उसका अन्तिम एवं पूर्ण कल्याण सामाजिक अभ्युत्थान में निहित है। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'धीरे-धीरे व्यक्ति मानव के स्थान पर

---

१. 'पृथ्वीराज की आँखें' की भूमिका, पृ. १२

२. 'हंस' अप्रेल १९४६

३ 'कल्पना' पत्रिका, दिसम्बर, १९५२ ई०

४. 'विचार दर्शन', पृ० ८७

५ 'चिदंबरा', पृ २७-२८

समाज मानव का महत्व प्रतिष्ठित होता गया। यह काल एक ओर सामूहिक आंदोलनों मे विश्वास करता है और दूसरी ओर सामाजिक अभ्युत्थान के प्रति आकृष्ट होने का भी समय है।[1] छायावाद का आदोलन उद्दाम वैयक्तिकता, रूढ़ि एव परम्परा के विरोधी तथा चिर नवीन के ग्रहण की पाश्चात्य प्रवृत्तियो को अपने भीतर लिये है। 'दिनकर' ने लिखा है, 'छायावाद हिन्दी मे उद्दाम वैयक्तिकता का पहला विस्फोट था। यह केवल साहित्यिक शैलियो के ही नहीं, अपितु समग्र जीवन की परम्पराओ, रूढ़ियों, शास्त्र-निर्धारित मर्यादाओं एव मनुष्य की चिंता को सीमित करने वाली तमाम परिपाटियो के विरुद्ध जन्मे हुए एक व्यापक विद्रोह का परिणाम तथा मनुष्य की दबी हुई स्वतन्त्रता की भावना को प्रत्येक दिशा मे उभारने वाला था।[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'कवियो की प्रेरणा अधिकांश मे विदेशी माध्यम के द्वारा आती है जो शास्त्र आधुनिक युग के मनुष्य को प्रभावित कर रहे हैं उनकी बहुत कम चर्चा हिन्दी भाषा मे हुई है।[3] यह माध्यम पश्चिम का है, यह शास्त्र पाश्चात्य है। पाश्चात्य जीवन सहलाता नही, झकझोरता है, वह निर्माण नहीं, ध्वस करता है, वह आलोचना करता है, बताता नही, वह घाव, अवसाद, दिखाता है, दवा नही करता। ये सारी प्रवृत्तिया आधुनिक साहित्य मे मिलती हैं। इसी प्रभाव से साहित्य व्याख्या मात्र हो गया है। वह हित के भाव के सहित नहीं रह गया है। मध्ययुग की हिन्दी-लिपि और आज की हिन्दीलिपि में जो अन्तर हो गया है उसकी तह में भी पाश्चात्य वैज्ञानिक मनोवृत्ति है। आज की लिपि का स्वरूप – निर्माण आवश्यकता और वैज्ञानिकता से प्रेरित है। व्यक्ति के चरित्र और मनोविज्ञान का उसकी लिपि और लेखन शैली पर बहुत प्रभाव पड़ता है। आज का व्यक्ति स्पष्ट, साफ, स्वतत्र, वैयक्तिकता प्रधान, ठहर-ठहर और समझ-समझ कर चलने का अभ्यासी, कुछ सरस, और सौन्दर्य की जगह सुविधा प्रेमी हो गया है। आज की हिन्दी लिपि पर इस मनोवृत्ति का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है, इसका पता तब और अधिक स्पष्ट रूप से लगता है जब इसकी तुलना किसी मध्ययुगीन हस्तलेख से करते हैं। वहाँ प्रत्येक अक्षर एक दूसरे से मिला – सटा है। अनेक अक्षर बहुत ही घुमाव – फिराव वाले हैं। विरामचिन्हों का अभाव है। शब्द भी एक दूसरे से इतने सटे होते हैं कि पता न लगे कि कौन शब्द कहा समाप्त होता है। आधुनिक लिपि मे इन सारी बातो का

---

१ 'हिन्दी साहित्य', पृ ४८२

२ 'हिन्दी अनुशीलन' नामक पत्रिका के वर्ष ५, अक १–४, पृ ७३ मे उद्धृत।

३ हिन्दी साहित्य की भूमिका' पृ १४०

परिष्कार हो गया है। यह विश्लेषण प्रधान पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। टाइप राइटर अर्थात् मशीन ने शब्दों के हिज्जे— वर्तनी— बदल दिये हैं। राजनीति प्रधान सभ्यता मे भाषा का रूप और लिपि का रूप राजनीतिज्ञो द्वारा राजनीति के दृष्टिकोण से तै होने लगा है। अतुलचन्द्र चटर्जी ने लिखा है कि भारत के अन्दर पिछले सौ वर्षों मे जितना भी कुछ लिखा गया है उसके ऊपर यूरोपीय विचारधारा और साहित्य का प्रभाव असाधारण है..........आधुनिक भारतीय भाषाओं मे प्रयुक्त वाक्यों के निर्माण के स्वरूप और मुहावरो एव कहावतों के ऊपर भी अंगरेजी का प्रभाव ढूंढा जा सकता है।[1] सारे भारत के लिये एक राष्ट्रभाषा का विचार भी पूर्णत भारतीय नही है।

---

१ 'न्यू इंडिया', पृ ६१।

अध्याय ११

सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दी प्रदेश की आत्मस्वरूप की खोज

हमारा आत्मरूप— हम पर आक्रमण— हम रक्षा के लिए प्रयत्नशील हुए—विवेकानन्द— गान्धी— तिलक— आर्य समाज — अरविन्द— टैगोर— राधाकृष्णन्— आत्मस्वरूप की खोज सुफल— नवीन दर्शन।

साँस्कृतिक दृष्टि से—

हिन्दीप्रदेश की आत्मस्वरूप की खोज

हमारा आत्मरूप—

भारत की अपनी विशुद्ध संस्कृति का थोड़े में विवरण कर सकना सम्भव नही है किन्तु जहा इसकी एक झलक दिखाये बिना आगे की बात को स्पष्ट रूप से उपस्थित कर सकना सम्भव न हो—जैसा कि यहा है—यहाँ कुछ यही कहा जा सकता है कि भोग की वासना से मुक्ति, यन्त्रो की गुलामी मे फँसकर नीति और सभी प्रकार के स्वास्थ्य मे वचित होने की अपेक्षा अपने हाथ-पैर से काम लेकर सच्चा सुख और स्वास्थ्य प्राप्त करना, कठोर बुद्धिवाद और कोमल मानवीय तत्वो का समन्वय, जीवन के प्रतीयमान विरोधी तत्वो मे भी सामजस्य स्थापित करने के लिये धर्म के आतरिक तत्वो और ईश्वर का उपयोग, कर्म और धर्म के साधनो को पवित्र मानना, उत्कृष्ट सेवा-कर्म के लिये उत्कृष्ट साधनो की अनिवार्यता, वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति, व्यक्ति की अपेक्षा बुद्धि, बुद्धि की अपेक्षा परम्परा, चर-अचर सभी से प्रेम करना सर्वत्र कृतज्ञता एव विनम्रता का प्रकाशन, चर अचर सभी को मानवीय भावना प्रदान करना, साहित्य मे ही नही, जीवन मे भी व्यावहारिक रूप से सर्वत्र प्रतीको को अपनाना, पशु पक्षी-वनस्पति, आदि सभी से आत्मीयता का सम्बन्ध, यज्ञ, दान, तप, त्याग, नारी को पूज्य मानना, चरित्र का महत्व, अद्वैत भाव, समन्वय, आध्यात्मिकता, धर्मपरायणता, चिंतन की स्वतन्त्रता, व्यावहारिक जीवन मे सस्कारों से और समाज से बधकर चलना, काम-वासना या मैथुन को मनोरजन न समझना, पुनर्जन्म, सत्य, अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य, निर्भीकता, सयम, श्रद्धा बाह्यरूपो की जगह 'मूल्यो' को महत्वपूर्ण समझना, सबको अपनाने की प्रवृत्ति, परिवार और पारिवारिकता की उदार वृत्ति, ऐहिक को पारलौकिक से जोड़ना, कर्म में धर्म या विचार, गावों की प्रधानता, शिक्षा का जीवन से सम्बन्धित होना, आदि भारत की संस्कृति का अपना स्वरूप—आत्मरूप—है।

हम पर आक्रमण—

ससार के इतिहास को भारतीय सस्कृति के अतिरिक्त जिन अन्य दो महत्वपूर्ण

सस्कृतियों ने असाधारण रूप से प्रभावित किया है वे हैं इस्लामी सस्कृति और ईसाई या यारोपीय सस्कृति। एक ने मध्ययुग मे समाज का जीवन बदला है और दूसरी ने आधुनिक युग मे। उन्नीसवीं और अब तक की बीसवी शताब्दिया नि सन्देह रूप से योरोपीय सस्कृति के प्रभुत्व की शताब्दिया हैं। भारत को इन दोनों प्रबल सस्कृतियो से टक्करें लेनी पड़ी हैं, और भयानक टक्करें लेनी पडी हैं। इस्लामी सस्कृति ने जीवन का बाह्यरूप बदला और हम मे कुछ पराजय की भावना पैदा कर दी, यूरोपीय सस्कृति ने अन्तर और बाह्य-दोनो को बदलने का प्रयत्न किया और हमारी चेतना को चकित, बुद्धि को भ्रमित और आस्थाओं एव धारणाओ को विचलित करने का प्रयत्न किया। इसने हममे हीनता की भावना भरने का बहुत-कुछ सफल प्रयत्न किया है। धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है, 'किन्तु एक दलदल से निकलते ही दूसरी बाढ मे फस गये। यह दूसरी नदी अधिक तीव्र और अधिक भयकर है-पश्चिमी सस्कृति की बाढ ······*इस नदी का जल विशेष नशीला मालूम होता है* क्योंकि समाज का अपने मन और मस्तिष्क पर से काबू छूटा जा रहा है।'' "एक समय था ' ······ जब पश्चिमी सस्कृति की चकाचौंध ने थोड़ी देर के लिये हमे अन्धा कर दिया था।''[१] आर्नल्ड ट्वायनबी ने ठीक ही लिखा है कि भारत ने पश्चिम का जो अनुभव किया है वह चीन, तुर्की या उससे भी कहीं अधिक रूस और जापान के अनुभवो से बहुत दु खपूर्ण और अपमानजनक रहा है लेकिन इसी कारण वह अनुभव इन सबकी अपेक्षा कहीं अधिक निकट का रहा है और भारत की आत्मा मे पश्चिम का लोहा सभवत बहुत गहराई तक धस गया है।''[२] कहा जा सकता है कि इस लोह-स्तम्भ पर जो लेख उत्कीर्ण होगा वह भारतीय सस्कृति की विजय का-जो वैजयन्ती फहरायेगी वह भारतीय सस्कृति की जीवनी शक्ति और मङ्गलमयी जीत की होगी। फिर भी, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यह बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती थी क्योंकि 'भारत जैसे प्राचीन देश की प्राचीन जाति की सभ्यता का इतिहास नष्ट हो चुका था और उस जाति के बच्चो को इसकी कुछ खबर नही थी। वे या तो भेड़-बकरियों के झुन्ड की भाति मन्दिरो मे देवता के सम्मुख बैठकर अपने को कायर, कपूत, कुकर्मी और अधम कह-कह कर काल्पनिक स्वर्ग के सुख-स्वप्नों की हास्यास्पद कामनाएं करते थे या अपने दीन, दुखी, अरक्षित, असहाय और निराश जीवन मे बैठे-बैठे ससार की अनित्यता का रोना रोया करते थे।

---

१. 'विचारधारा', पृ० १६६—१७०।

२. 'दि वर्ल्ड एंड दि वेस्ट', पृ० ३४।

साहित्य की मर्यादा और शृंगार या तो मारकाट की प्रशंसा करने में या अपनी ही वधूटियों के निर्लज्ज और अत्युक्ति पूर्ण अश्लील वर्णन करने में समाप्त हो जाता था"।[१] पाश्चात्य संस्कृति की प्रवृत्तियां हमारी संस्कृति की प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाती थीं और जो लोग पाश्चात्य संस्कृति के वाहक थे वे उदारचेता न होकर स्वार्थी, संकुचित और क्रूर प्रकृति के थे। पहले हमारे अपने राजनीतिक अधिकारों का अपहरण करके फिर उन्होंने हमारी संस्कृति के विभिन्न तत्वों के प्रति हमारे मन में हीन भावना पैदा की और स्वयं 'मदर इण्डिया' और 'हिन्दू मैनर्स एंड कस्टम्स इन इण्डिया'-जैसी पुस्तकें लिखकर उन को तुच्छ एवं नैतिकता-विहीन सिद्ध करना चाहा। शिक्षा को हमारे अपने सांस्कृतिक तत्वों से उच्छिन्न करके हमारी जानकारी को खोखला कर दिया। आस्थाएँ और मान्यताएँ टूट चलीं। हम लोग हल्के, छिछले और कमजोर हो गये। हमारे अन्दर अवैज्ञानिक वृत्तियां पैदा हो गईं। पाश्चात्य संस्कृति के देवदूत भारत को पश्चिम का एक सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने में लग गये। एक देश पर दूसरे देश की संस्कृति को लादने का प्रयत्न किया गया। आश्चर्य होता है उन लोगों की बुद्धि पर जो इसे सम्भव समझ बैठे थे, जो भारत की आत्मा को इतना निर्बल, निर्मूल निःसार एवं निःसत्व समझ बैठे थे! हम रक्षा के लिये प्रयत्नशील हुए—

बात यह है कि जो कुछ न हो, उसे आप तो जो-कुछ चाहिये बना लीजिये किन्तु जिसके अन्दर कुछ भी है वह सरलता पूर्वक और कुछ नहीं बन सकता। भारतवर्ष के अन्दर 'कुछ ही' नहीं, बहुत कुछ था। भारतवासी अपने को भूल भर गये थे, बस इस विस्मृति-काल में हमने उनकी सभ्यता तो अपना ली किन्तु सभ्यता ही सब कुछ नहीं होती, सब कुछ होती है संस्कृति और एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का आरोप आसान नहीं होता। स्वाभाविक रूप से उद्भूत होने में भी संस्कृति को हजारों वर्ष लग जाते हैं। अपनी ही सभ्यता के तत्वों को सांस्कृतिक रूप ग्रहण करने में शताब्दियाँ लग जाती हैं। सम्भवतः यही कारण है कि जिस जाति की कोई अपनी संस्कृति होती है उस पर किसी दूसरी जाति की संस्कृति का पूर्णरूपेण चिर आरोप दुःसाध्य कल्पना मात्र है। फिर, भारतीय संस्कृति!!! यह शेर जैसी है जो चोट खाने और भूखे होने पर दहाड़ता है, अन्यथा आलसी-जैसा पड़ा रहता है। यह उस शिव-जैसी है जिसके पास एक तीसरा नेत्र है जिसे सामान्यतः देखा तो नहीं जा सकता किन्तु जिसके खुलते ही बहुत बन ठन कर रहने वाला

---

१ चतुरसेन शास्त्रीकृत 'हिन्दी साहित्य परिचय', पृ ७०-७१

और मन को मादक बनाने वाला काम रूप धातु जलकर भस्म हो जाता है। सतरा पाकर ही यह सँभलती और अपने को सँभालती है। विचित्र टक्कर थी यह दो संस्कृतियों की। १९ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे टक्करें हुई और पूर्वार्द्ध के समाप्त होते होते राजनीतिक रूप से हम परास्त हुये। फिर भी हम 'विक्त' नही हुए, केवल एक बार धरती पर गिर पडे और कुशल अनुभवी खिलाडी की भाति गिरते-गिरते ही याद करने लगे अपनी बचत के दाव को अपनी क्षमता के मूल स्रोत को, अपनी शक्ति के उत्स को। पूरी तरह गिरे हम १८५७ ई० मे और हिन्दुत्व के पुनरुत्थान की पहली झलक हिन्दुत्व के तेज की प्रथम तेज किरण १८२७ ई० के आसपास दिखाई पडी जब राजा राम मोहन राय ने 'ईसाई जनता से अपील' शीर्षक से तीन लेख लिखकर ईसा को ईश्वर का पुत्र न होना, ईश्वर-भय के सिद्धात को भ्रामक, और पश्चाताप मात्र से पाप-निवृत्ति को असभव सिद्ध किया। १८४६ ई० मे बम्बई मे परमहस समाज नामक सस्था बनी जिसका उद्देश्य जाति-प्रथा को समाप्त करना था। १८५७ म हम गिरे और १८ वर्षो बाद ही 'आर्यसमाज' की स्थापना हो गई। १८८० तक थियासाफिकल सोसायटी भी भारत मे सक्रिय हो गई थी। १८३६ – १८८६ ई० तक रामकृष्ण परमहस ने ज्ञान की किरणें फैलाई। १८९३ ई० मे विवेकानन्द ने भारत की आध्यात्मिकता का सिक्का शिकागो सम्मेलन मे सारे विश्व पर फिर बैठा दिया था। कहा जा सकता है कि तभी से भारत आध्यात्मिक क्षेत्र मे फिर जगद्गुरु हो गया। तिलक के 'गीता रहस्य' ने भारतीय संस्कृति रूपी अर्जुन के हाथ में फिर से गाडीव रख दिया। अरविन्द ने आध्यात्मिक बल दिया और गाधी ने आध्यात्म के आधार पर देश के जीवन को चला दिया। अस्तु, यूरोप की आधिभौतिकता की टकराहट ने भारत की नीद तोड दी। भारतीय विचारकों ने अपने शास्त्रों, धर्मग्रन्थों और विपुल साहित्य का फिर से अध्ययन किया। उनकी खोज का एक विषय यह भी था कि यूरोप जिन बातों को लेकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता है क्या सचमुच हम उन से वचित थे अथवा क्या सचमुच वे उसकी अपनी ही हैं अथवा उसने उन्हें हम से ही कभी सीखा था। हमने पाया कि भारत वस्तुत उतना दरिद्र, विपन्न असमर्थ एव हीन नही है जितना ये पादरी अथवा योरप के विचारक बताते हैं। हमने पाया कि अब भी भारत के पास कुछ ऐसा है जो यूरोप के पास नहीं है। अंग्रेज अपनी नस्ल को श्रेष्ठतम समझता है। उसने भारतीयो को 'काला आदमी', 'कुली', 'कुत्ता', 'नेटिव', आदि नामो से पुकारा और इतनी घृणा की दृष्टि से देखा जितनी स सम्भवत किसी सभ्य जाति ने किसी भी सम्पन्न जाति को न देखा होगा। नवशिक्षितों मे-से कुछ को अंगरेजो की यह बात बहुत खली और इसकी प्रतिक्रिया बहुत

ही तीव्र हुई। इस वर्ग ने समान एव न्यायपूर्ण व्यवहार की माग की। मैकाले ने लिखा था कि एक दिन भारतीय अपनी पद्धतियो को भूलकर यूरोपीय सस्थाओ तथा अच्छी सरकार, आदि की माग करेंगे और वह दिन इंगलैंड के इतिहास का सर्वाधिकार गौरवपूर्ण दिन होगा। मैकाले की इस इच्छापूर्ति मे बहुत दिन नही लगते मगर उसकी नासमझी का दुर्भाग्य कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई और हम अपने प्राचीन गौरव की पुनर्प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हुए। स्वतत्रता की माग हुई। राजा लोग पूर्वी ज्ञान विज्ञान के पुनरुद्धार के प्रयत्नो के सरक्षक बने। भारतीयो का रहन सहन अपनाया गया। पडितो को प्रोत्साहन मिला। पाठशालाओ को दान मिले। सस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद कराये गये। सास्कृतिक पुनरुत्थान के इस कार्य मे उस युग मे हमे विलियम जोन्स, चार्ल्स विल्किन्स, कोलब्रुक, विल्सन, म्योर, मोनिएर विलिय स और मैक्समूलर, आदि से पर्याप्त सहायता मिली। इन्होने भारतीय बुद्धि-वैभव का कोष भारत और योरोप के शिक्षित विद्वानो के सम्मुख खोल दिया था। इसी प्रकार जेम्स फर्गुसन, बुहलर फ्लीट, हैवेल और आनन्द कुमार स्वामी ने भी हमारे प्राचीन भग्नावशेषो, आदि की श्रेष्ठता प्रतिपादित की और इस प्रकार हमारे मन सांस्कृतिक वैभव की विशालता का एक चित्र हमारे मानस पटल पर अकित कर दिया। राष्ट्रीय और धार्मिक मेले सगठित किये गये। राष्ट्रीय समाचार पत्र निकले। कुछ लोग राजनीतिक स्वतत्रता की प्राप्ति के लिये अग्रसर हुए। जो यह नही कर सकते थे वे धार्मिक और सास्कृतिक पुनरुत्थान मे सक्रिय भाग लेने लगे। यद्यपि दोनो का लक्ष्य और परिणाम एक था, दोनो एक दूसरे के पूरक थे किन्तु शायद इसे अंगरेज समझ नही सका था। आजादी के दीवानो का तो उसने बड़ी क्रूरता, निर्ममता और सोद्देश्यता के साथ दमन किया मगर सास्कृतिक क्षेत्र के वीरो से वह कुछ न बोला। सभवत बोल भी नही सकता क्योकि एक तो वह कुछ डरता भी था, दूसरे, बुद्धि और सत्य की इतनी ठोस भूमिका पर यह आन्दोलन चला था कि इसे रोक सकना सभव भी नही था। यह सूर्य धीरे-धीरे जरूर उगा किन्तु ऐसा उगा कि हजार बादल भी इसका आलोक आच्छादित करने मे अक्षम थे। नाराज होना एक बात है, कुछ कर सकना, एक बात। हम धोती पहनते हैं, सूट नही, हम खद्दर पहनते हैं, लकाशायर का कपडा नही, हम मन्दिर मे जाते हैं, गिरजे मे नही हम सस्कृत पढते है, अंगरेजी नही। हम आपके स्कूल मे नही पढते। आप बहुत करेंगे, नौकरी न देंगे। तो, वह हम आपसे मागेंगे नही, बल्कि मिली भी होगी तो छोड देंगे। कम खायेंगे, मोटा पहनेंगे, मेहनत करेंगे। फिर ? कोई क्या कर सकता है। बहुत—बहुत करेगा तो फासी देगा, तो हम कहते हैं कि शरीर असत् है—नाशवान है—उसकी ऐसी कोई बात नही, मूल तत्व है

आत्म सो, उसका कोई कुछ बिगाड नहीं सकता ! हम निर्भय हो गये । टामसन और गैरेट ने लिखा है, "शुरू शुरू म हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार का स्वरूप धार्मिक अधिक, राजनीतिक कम था........दक्षिण म तिलक और पजाब मे लाला लाजपत राय धार्मिक उत्साह को राजनीतिक क्षेत्रों मे प्रवाहित करने के मुख्य माध्यम बने।"[1] बात यह है कि ज्यो-ज्यो हम जगते गये त्यो-त्यो रूप, रग, भाव और कर्म से भारतीय बनते गये, पाश्चात्य रोब-दाब और प्रभाव कम होता गया, अंगरेज की लूट मे कमी होती गई वह खोखला गया, हमको दबाता गया और हम अनुभव करते थे कि हमारी आत्मोन्नति-स्व-तन्त्रता—मे सबसे बडा बाधक अंग्रेजी साम्राज्यवाद है और इसलिये इसे अब शीघातिशीघ्र समाप्त हो जाना चाहिये। एक रोचक बात यह है कि इस तरह के जितने भी सास्कृतिक आन्दोलन थे अपनी यथा-र्थता अर्थात् स्वरूप और सज्जा मे वे सब विशुद्ध रूप से भारतीय थ । राममोहन राय से लेकर जवाहरलाल नेहरु तक कोई भी स्थायी रूप से कोट-पतलून-टाई-धारी नही हुआ। जो ऐसा नही रहा उसका प्रभाव कम पडा। थोडी सी भी ईसाइयत या अंगरेजियत दिखी कि भारत की आत्मा—जनसमूह—उससे चौकन्ना हो गया। थियोसाफिकल सोसायटी मूलत योरोपियत के विरुद्ध थी' परन्तु उसमे दोष यह था कि जहा वह विदेशियो को भारतीय सस्कृति की ओर आकृष्ट करती थी वहा भारतवासियो को थोडा बहुत अंगरेजी सभ्यता की ओर झुका देती थी।[2] इसलिये जनता मे इसका अधिक प्रचार हो न सका। आर्यसमाज ने थियोसिफकल सोसायटी की अपेक्षा हिन्दुत्व की आलोचना कही अधिक की किन्तु चू कि उसकी रूप-सज्जा अंगरेजी न होकर भारतीय थी अतएव उसका प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत अधिक पडा। भारतीय सभ्यता और सस्कृति के उग्रतम समर्थक और उज्ज्वल प्रतिनिधि थे तिलक और गांधी और आजादी के बाद बिनोवा । सम ज मे ऐसे सुधारक, अध्यापक, सत और विद्वान भी पैदा हुए जिन्होने हिंदू धर्म से क्षेपको का बहिष्कार किया। उन्होंने अनिवार्य को अनावश्यक से पृथक करके, व्यर्थ को धराशायी करके, तत्व को अपना कर हिंदू धर्म को विशुद्ध कर दिया। इन्होने सनातन सत्य को आत्मानुभूति से सजीव एव सप्राण कर दिया। परिणामस्वरूप हिंदुत्व ईसाइयत की गोली झेलकर उसे अक्षकार्य करके भयमुक्त हो गया है। वह ससार के किसी भी धर्म के साथ बराबरी या ऊंचाई की हैसियत से बात और मुलाकात कर सकता है। पाश्चात्य सस्कृति से ज्यों-ज्यो हमारा परिचय बढता गया त्यो-त्यो यह प्रतीत होने लगा कि वहा

---

१. 'राइज ऐंड फुलफिलमेन्ट आफ ब्रिटिश रूल इन इडिया', पृ. ४६०

२ इन्द्र विद्यावाचस्पतिकृत 'भारतीय सस्कृति का प्रवाह', पृ १८२ ।

की शिक्षा, समाज तथा शासनपद्धति दूषित है। इस प्रतीति के साथ-साथ अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता पर आस्था उत्पन्न हुई। अनुभव हुआ कि प्रकृति को अधिकृत करने की चेष्टा में आधुनिक मानव जड़ मशीनों का एवं जड़ता का दास होता जा रहा है और उसके दुःख में वृद्धि होती जा रही है। यह विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।—"यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास! / चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश! / किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष, / छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश, नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार, प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।"[1] हमारे संन्यासी देशभक्तों ने इस विलासिता का तिरस्कार किया और कवि ने लिखा—ले चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक यह देह, / देवता है माँगते मन के लिये लघु गेह'।[2] यह आत्मोत्थान की वाणी है—'रमक्षी भूके मनुज का श्रेय यह नहीं विज्ञान, विद्या, बुद्धि यह आग्नेय।........ दिव्य भावों के जगत में जागरण का ज्ञान,| मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण अभियान।"[3]

तथ्यों का उद्घाटन कर-करके और तत्वों का विश्लेषण और आलोचनात्मक अध्ययन कर-करके थियासोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज ने गोरी जातियों का रोब समाप्त कर दिया और गांधी जी ने जीवन के हर क्षेत्र से गोरों का डर निकाल फेंका। यच०सी०ई० जकारिया ने लिखा है कि श्रीमती एनी बेसेन्ट का कथन है कि गोरी जातियों के प्रभुत्व में विश्वास के ह्रास का प्रारम्भ आर्यसमाज और थियोसिफीकल सोसाइटी के प्रचार के साथ-साथ होता है।[4] पट्टाभि सीतारामैया ने भी लिखा है कि पूर्वीय संस्कृति में जो कुछ महान और गौरवमय है उसके आविष्कार और पुनरुद्धार पर थियासोफिकल आन्दोलन में खास जोर दिया जाता था।[5] भारतीय साहित्य का उद्धार हुआ तो उसकी श्रेष्ठताएँ भी सामने आईं और हमने वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत, आदि में अभिव्यक्त महान तत्वों को पहचाना। उनकी श्रेष्ठता और शाश्वतता ने हमारा सिर ऊँचा कर दिया। सहस्राब्दियाँ बीतीं। साम्राज्यों के उत्थान और पतन हुए। जीवन के अनेकानेक पक्षों के सम्बन्ध में मनुष्य का दृष्टिकोण

---

१. 'दिनकर' कृत 'कुरुक्षेत्र' का 'अभिनव मानव' सर्ग।

२ वही,

३. 'दिनकर' कृत 'कुरुक्षेत्र' का 'अभिनव मानव' सर्ग

४ 'रेनेसैन्ट इंडिया', पृ. ३६

५. 'कांग्रेस का इतिहास', पृ. ६

बदला। के०एम० मुन्शी ने लिखा है, 'किन्तु मनुष्य के शाश्वत अनुभवों को अभिव्य- जित करने वाली मानवीय प्रकृति की दृष्टि से महाभारत के महत्व में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। पुराणों ने जो व्यास जी को अपने युग का मनु कहा है वह बिल्कुल ठीक है। वे भारत के सच्चे निर्माता और नेता हैं।'[1] कालिदास के 'अभि ज्ञान शाकुन्तल' ने पाश्चात्य कलापारखियों को ही नहीं चकित किया अपितु भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता का लोहा भी पश्चिम से मनवा लिया। हमने सोचा— कहा कालिदास और कहा शेक्सपीयर !! सिद्ध होगया कि हर देश, हर जाति और हर धर्म का मानव गीता की श्रेष्ठता, असाधारणता, अद्वितीयता एवं दिव्यता स्वीकार करता है[2] एडविन आर्नल्ड इसे 'दिव्य एवं अलौकिक गीत' कहते हैं ओ० हम्बोल्ट ने इसे 'सुन्दरतम और सम्भवत विश्व की सभी ज्ञात भाषाओं में अभिव्यक्त गीतों में से एकमात्र सच्चा दार्शनिक गीत' माना है। के०एम० मुन्शी ने लिखा हैं, 'इस नन्ही सी पुस्तक ने बाधाओं के सामने झुकने के स्थान पर उनकी अवज्ञा कर सकने वाले उस पौरुष के तेज को प्रखर और प्रदीप्त कर रखा है जिसमें पराजय और मृत्यु को चुनौती देने का साहस है और उस स्थूल भौतिकवाद का सामना कर सकने की शक्ति है जिससे आधुनिक पश्चिम ने सारे संसार को विपाक्त कर रखा है ...... रामायण और महाभारत-जैसे अमर महाकाव्यों के प्रभाव ने अनेक रूपों में हमारे सामूहिक अवचेतन मानस के विभिन्न तत्वों का निर्माण किया है... ......यह एक गम्भीर मानवीय आलेख है, मानव जीवन की परिस्थितियों के लिये पथप्रदर्शक है, यह जीवन-युद्ध की गम्भीरतम स्थिति में पड़े हुए मानव को कमजोरियों और कायरता के परित्याग का उद्बोधन करती है, यह वह विजयी जीवन सिखाती है जिस के द्वारा मनुष्य आत्मनियन्त्रण करके इसी जीवन में दिव्यता का स्वरूप प्राप्त कर सकता है।'[3] सचमुच गीता-महाभारत की समस्या शाश्वत मानव की शाश्वत समस्या है। उसकी समस्या है सम्यक् कर्म सम्पादन में मानव की कर्मशक्ति को पराजित करने वाली शक्तियां, उनका कारण और उनका निवारण। स्पष्ट है कि यह समस्या प्रत्येक व्यक्ति की समस्या है, और प्रत्येक युग के व्यक्ति की समस्या है, और इसीलिये, गीता प्रत्येक युग के मानव का अमर काव्य है। अपने को पहचानने में हमको नये युग में गीता से बड़ी प्रेरणा मिली। गांधी, तिलक, विनोबा, अरविन्द एनी बेसेन्ट, राधाकृष्णन, मुन्शी आदि अनेक विचारकों ने इस युग में गीता का मथन किया है

---

१ 'भगवद्गीता एंड माडर्न लाइफ', पृ १६

२ कल्याण' के 'गीतातत्वांक' में दी गई सम्मतियाँ और विचार

३ 'भगवद्गीता एंड माडर्न लाइफ', प १७-१८

और उसमे प्रेरणा पाई है। गीता ने हिन्दी प्रदेश ने— समस्त भारत के— मस्तिष्क को भारतीय सस्कृति के अनुरूप बनाने मे बड़ा कार्य किया । गीता के कई सस्करण, कई अनुवाद, कई व्याख्याएँ, कई टीकाएँ और कई सस्करण हुए। गीता-भवन बने। गीता जयन्ती मनाई जाने लगी। गीता परीक्षा प्रारम्भ हुई। आर्य समाज का लक्ष्य ही था हिन्दुत्व का इतना परिष्कार कि उसके ऊपर शताब्दियो के अन्तराय मे जो धूल की पर्तें पड गई हैं वे उखड कर अलग हो जायँ और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जीवन वैदिक जीवन और वैदिक धर्म ही हो जाय। आर्य समाज को भारत का आत्म-रूप वैदिक युग मे प्रतीत होता था— आधुनिक युग मे नही। लाला लाजपतराय ने लिखा है, 'जब आर्य समाज प्राचीन भारत के गौरव के गीत गाता है '' ······ तब राष्ट्रीयता की स्वस्थ शक्तियो को प्रेरणा मिलती है · ·· ·· और जिन राष्ट्रीयतावादी नवयुवको के कानो मे ये शोक-सूत्र गुँजाए जा रहे थे कि भारतीय इतिहास निरतर एव अबाध रूप से चलने वाले अपमान, पतन, विदेशी शासन, परदेशी-शोषण, आदि की करुण कहानियो का लेखा-जोखा मात्र है वे अब यह अनुभव करने लगे हैं कि उनका प्रमुख राष्ट्रीय स्वाभिमान जागरूक हो उठा है और उनकी महत्वाकाक्षाओ को सबल प्रोत्साहन मिल रहा है।[1] इसी बीच एशियाई देश जापान ने यूरोपीय देश रूस हरा और इस तथ्य ने गोरो की अपराजेयता का भ्रम मिटा दिया। हम यह सोचने लगे कि यदि जापान—ऐसा देश रूस को हरा सकता है तो क्या बात है कि भारतवर्ष-ऐसा राष्ट्र अपने गौराग महाप्रभुओं को अपने देश से निकाल कर स्वतन्त्रता नही प्राप्त कर सकता। हमने अपनी तुलना जापानियो से की, 'जापानी स्वाधीन हैं, हिंदुस्तानी पराधीन। जापानी देशभक्त हैं, हिंदुस्तानी देशभक्त नही। जापान मे एकता है, हिन्दुस्तान मे एकता का अभाव है।

वैज्ञानिक शिक्षा के लिये सात समुद्र पारकर जाना जापानी लोग अपने और अपने देश के लिये गौरव समझते हैं, पर समुद्र पारकर जाना हिन्दुस्तानियो के लिये पाप है, क्यो कि उनका धर्म जाता रहता है। जापान मे जाति-भेद का बहुत ही कम विचार है, हिन्दुस्तान मे जाति भेद का सबसे अधिक विचार है। जापान मे सब लोग परस्पर शादी विवाह करते हैं, हिंदुस्तान मे अपने वर्ग मे भी शादी करने मे अनेक झझट पैदा होते हैं। जापान मे छुआछूत नही, हिन्दुस्तान मे इसकी पराकाष्ठा है। ये बातें विचार करने लायक हैं। पर विचार करने वालो ही की यहा कमी है[2] ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त उद्धरण मे अपनी जिन कमियो और दोषो की

---

१ 'दि आर्य समाज', पृ १७०-१७१

२. 'सरस्वती' १६०५ ई०, अंक ८, पृ ३२४

ओर सकेत किया गया है उनके निराकरण द्वारा ही हिन्दुत्व अपने आत्मरूप के अधिकाधिक निकट पहुँच सकता है। इसी प्रकार दोनों विश्व महायुद्धो मे भी श्वेत जातियों की बहु प्रचारित श्रेष्ठता के भ्रम को दूर कर दिया और हम हीनता की भावना से मुक्त होकर राष्ट्र के कल्याण और स्वतन्त्रता की बातें सोचने लगे। भारतीय राजनीति के रगमच पर जो उग्रवादी विचारधारा आई उसका भी कारण आत्मरक्षा की भावना थी। टामसन एँड गैरेट ने बिल्कुल ठीक लिखा है, 'उग्र विचारधारा एक विदेशी सभ्यता के द्वारा हजम कर लिये जाने की आशका के प्रति एक प्रतिक्रिया थी। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर एक भारतीय की हैसियत से गौण एव सन्दिग्ध स्थिति पर उतारे जाकर अपनी प्रतिष्ठा खो जाने की आशका के प्रति प्रतिक्रिया थी। यह इस भय की भी प्रतिक्रिया थी कि हिन्दू समाज विघटित हो जायगा और उसकी स्थान-पूर्ति म समर्थ अन्य कोई व्यवस्था भी हमारे सम्मुख न होगी।'[२] आज भारत मे जो बात चारो ओर— सभी क्षेत्रों मे— बराबर दिखाई पड़ रही है वह है परस्पर विरोधी विचारो और कार्यों मे समन्वय स्थापित करने की— समझौते की— सामजस्य की। स्वतन्त्र होने के बाद तो हम किसी का भी तिरस्कार नहीं कर रहे हैं। आज हमारी दृष्टि 'इस' या 'उस' की नही, 'इस' और 'उस' की हो गई है। समन्वय का रास्ता भारत के लिये नया नही है। यह पुराना रास्ता है जिसने हिन्दुत्व को सदैव सप्राणता एव क्षमता दी है और सर्वथा विपरीत परिस्थितियो मे भी सहीसलामत— बल्कि पुष्ट और सस्फूर्त होकर— निकल आने की शक्ति दी है। अपनी आध्यात्मिकता के द्वारा आज हम योग-साधनाओं मे उतना प्रवृत्त नही होते जितना व्यक्ति की आत्मा को स्थूल भौतिकवाद से मुक्त करने मे प्रयत्नशील होते हैं।

अस्तु पुनर्जागरण और प्राचीन गौरवपूर्ण अवस्था को पुन प्राप्त करने की इस महत्वाकाक्षा ने राष्ट्रीय जीवन के लगभग सभी पक्षो को प्रभावित किया है। सर्वत्र नई व्यवस्थाएँ, नये रग ढग एव नयी उद्भावनाएँ दिखाई पडती हैं। इन सभी क्षेत्रों मे ऐसी विभूतियों का उदय हुआ है जो ससार के किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र के लिये शान और गुमान देने वाले आभूषण की तरह हैं। सबका लक्ष्य रहा समाज का अधिकाधिक कल्याण और जीवन के मूल उद्देश्य की ओर उन्मुख ध्यान। स्वार्थियो की बात छोड दें तो अपने अन्दर से धार्मिक कट्टरता को भी हमने दूर निकाल फेंका है। इसने भी हमें अपने प्राचीन रूप के निकट पहुँचाया है। अस्तु, अपनी प्राचीन गुरुता को प्राप्त करने के लिये हमने जितने भी धार्मिक आन्दोलन किये उन सबका प्राचीन हिंदू

२ 'राइज एँड फुलफिलमेन्ट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया', पृ ४८६

धर्म के सिद्धान्तो पर हुआ है और सबको भारतीय संस्कृति से ही प्रेरणा प्राप्त हुई है। ईश्वर की अद्वैतता पर विशेष महत्व दिया गया। रूढ़िवाद, कुरीतियो, कुसंस्कारो एव अन्ध विश्वासो को दूर हटाकर धर्म के विशुद्ध रूप को सामने लाने का प्रयत्न किया गया। वाह्याडम्बरों का परित्याग करके विशुद्ध आचरण, निर्गुण आराधना, आध्यात्मिक उपासना एव नैतिक जीवन का उपदेश दिया गया। सभी धर्मों की मूलभूत एकता प्रदर्शित की गई। सहिष्णुता की भावना जागृत करके उदार वृत्ति अपनाने का प्रयत्न किया गया। वर्ण व्यवस्था की जटिलताओं की उपेक्षा की गई। देश के अतीत वैभव और महानता पर गर्व प्रकट किया गया। उसकी तुलना में आधुनिक दीन-हीन दशा को चित्रित करके सुधार की भावना की तीव्रता प्रदान की गई। राष्ट्र-प्रेम एव संस्कृति प्रेम को उभारा गया। इस प्रयत्नो के द्वारा भारत ने योरोपीय समाज, धर्म और राजनीति की विभिन्न परम्पराओ के श्रेष्ठतम स्वरूप को अपनाने का प्रयत्न किया है। अब हमारे समाज के कुछ लोग इसी को श्रेष्ठ मानते हैं कुछ लोग ऐसे भी हैं जो प्राचीन भारत के तत्वो को ही श्रेष्ठ समझते हैं। कम्युनिज्म और जनसंघ इन्ही दो वर्गों के प्रतीक हैं। दोनों के अपने अपने अडिग विश्वास हैं स्वतन्त्र भारत इन्ही दोनो को मिलाकर जिस नय सिद्धान्त एव जिस नई जीवन पद्धति को जन्म देगा उसकी कोई स्पष्ट रूप रेखा अभी नही प्रस्तुत की जा सकती। हो सकता है कि जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रवर्तित जनतन्त्रात्मक समाजवाद या समाजवादी ढाचा ही उसको सामने ला सके। कुछ भी हो धर्मचक्र प्रवर्तित हो चुका है। कोई आश्चर्य नही कि निष्कर्ष आधुनिक विश्व इतिहास का एक कल्याणकारी आश्चर्य हो- धन्वन्तरि का अमृत कलश हो। तब तक न जाने कितने विष, श्री, चन्द्र, कौस्तुभ, ऐरावत आदि निकलेंगे, मगर तब तक धैर्य धारण करना होगा। अभी केवल इतना ही स्पष्ट है कि भारत ने युगप व राष्ट्रवाद में सहनशीलता और उदारता का समावेश और कर दिया है। भारतीय आत्मा पुरोहित बनी है भारत प्रणय परिणय भूमि बना है और विज्ञान तथा अध्यात्म एक दूसरे को स्निग्ध दृष्टि से देख रहे हैं?

ऊपर हमने उन प्रतिक्रियाओ का वर्णन किया है जिनके द्वारा हमने अपने पहले वाले गौरवपूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा की। यहा हम यह देखेंगे कि किन किन तत्व या व्यक्ति ने हमारे पहले के गौरवपूर्ण स्वरूप के किन किन तत्वो को किन किन रूपों से हमारे अन्दर फिर से प्रचारित करने एव लोकप्रिय बनाने का कार्य किया।

विवेकानन्द—

बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते होते रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेका-

नन्द ने हिन्दुओं को जाग्रत करके उन्हें अपने को पहचानने का संदेश दिया। उन्होंने अपने गुरु के व्यावहारिक या क्रियात्मक धर्म को उस विशाल उत्तोलन दंड का स्वरूप दे दिया जिसका सहारा पाकर दलदल में आकंठ धँसा हुआ हिन्दू धर्म और भारत दलदल से ऊपर उठ आया। स्वामी जी ने यह बताया कि परमहंस के ढंग पर वेदान्त को लाकर यदि भारत से आधुनिक जीवन में उसे उतारा जाय तो उससे भारत की अनेक समस्याएं हल की जा सकती हैं और वह फिर अपने पहले वाले गौरव पूर्ण पद को प्राप्त कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द एक ऐसे गुरु के शिष्य थे जिसे पुस्तक ज्ञान कुछ भी नहीं था किन्तु जिसने भावना और अनुभव के बल पर ही यह प्रत्यक्ष कर लिया था कि सभी धर्म एक हैं और भगवान अद्वैत तत्व हैं। उन्होंने विवेकानन्द को भी इसका प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया था कि ईश्वर है। इसलिये वे ज्ञान को अनुभूति का विषय मानते थे। वे शताब्दियों के ज्ञान और अनुभव के बाद बनी हुई कार्य प्रणालियों तथा परम्पराओं को केवल इसीलिये त्याग को तैयार नहीं थे कि कल का नौसिखिया केवल तर्क के बल पर उन्हें व्यर्थ सिद्ध कर रहा है। वे मानते थे कि हिन्दुओं का अपना जातीय भाव आध्यात्मिकता है और आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार ही मनुष्य जाति की सबसे बड़ी सेवा है। वे धर्म की बातों की जाँच तर्क और बुद्धि की कसौटी पर करने को तैयार थे और उसकी आवश्यकता का अनुभव करते थे। उनका विचार था कि शान्त, क्षमाशील, अनुद्विग्न और स्थिर चित्त मनुष्य ही सबसे अधिक काम कर सकता है। वे ईश्वर को अपौरुषेय मानते थे और ब्रह्म जिज्ञासा को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनका विश्वास था कि सबका अपना कोई न कोई आदर्श अवश्य होना चाहिये जिसकी पूर्ति उसके जीवन का उद्देश्य हो। यह आदर्श मनुष्य को नष्ट होने से बचाता और शक्ति देता रहता है। वे मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानते थे। उनका विचार था कि धर्म के प्राणशून्य आन्तरिकता हीन बाह्य चार सर्वथा त्याज्य हैं। उनका कहना था कि अज्ञान और प्रमाद ने हमें पूरी तरह से घेर रखा है। आज हम मरीचिका को मरीचिका न समझ पाते हैं, न कह सकते हैं। वास्तविक तत्व से विमुख एवं वंचित होकर हम भटक रहे हैं। वे सांसारिक सुख और आनन्द को हम अनन्त आनन्द का कण मात्र मानते हैं। ऐसा मानने से हम उस लाभ, लालच और वस्तु के छिन जाने के भय से मुक्ति पा जायेंगे जो हमें अंगरेजों के सामने बकरी बनाये रखता है। मात्र लौकिक सुख और आनन्द भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण माना भी नहीं गया है। स्वामी जी आत्मा में स्त्री पुरुष का भेद नहीं मानते थे। इस प्रकार नारी-उद्धार के कार्य को सहायता मिली। उसके ऊपर पड़ने वाली एकमात्र काम-दृष्टि भस्म हुई। भारतीय संस्कृति में सीता,

सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी, भारती, मीरा अन्दाल आदि महादेवियां है। विश्व की नारी विभूतियों मे आत्म-विस्मृत हिंदू जाति की भी देन कम महत्त्वपूर्ण नही है। गत गौरव की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हिन्दू जाति ने ही संयुक्त राष्ट्र-जैसी विश्व संस्था को ऐसी नारी दी जिसे वह प्रधान बनाकर गौरवान्वित हुई। कस्तूर बा विजय लक्ष्मी कॅप्टेन लक्ष्मी, सरोजनी, कमला, रामेश्वरी, इन्दिरा, दीदी (सुशीला), नलिनी आदि प्रमाण हैं कि नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण के क्षेत्र मे हम चिर प्राचीन एव चिरन्तन हो गये हैं। आस्तिकता और आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की आधार शिला है और इसी के अनुरूप स्वामी जी कहते हैं कि ईश्वर मे अनन्त प्रेम रखना ज्ञान-प्राप्ति का उपाय है। संसार के सभी प्राणियो को ईश्वर का रूप मानना चाहिये और उन से प्रेम करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बंधन टूटते हैं और मुक्ति मिलती है। भारतीय संस्कृति की ही धारणा के अनुसार स्वामी जी धर्म को प्रत्यक्ष अनुभव का विषय मानते थे और इस प्रकार गुरु-शिष्य-परंपरा को बनाये रखना चाहते थे। वे धर्मान्धता के आचरण को मूर्खता और धर्म के सनातन तत्वो के अनुसार जीवन बिताना बुद्धिमानी समझते थे। उनके अनुसार निर्भय एव सशक्त वही हो सकता है जो धर्म-प्राण हो क्योंकि धर्म-प्राण हो आत्मज्ञान-सम्पन्न एव आत्मानुभूति से तेजोमय हो सकता है। शक्ति और बात है, तथा ताकत या भारीपन और बात। दूसरे का उदाहरण है शेर और पहले का सन्यासी। अहिंसा से कायरता। हिंसक शेर मे चाहे जितना बल हो, मूढबुद्धि हो, किंतु वह मनुष्य से डरता-भागता है। यही दशा सांप की है। अहिंसक पक्षी या हिरन निर्भय विचरता है। स्वामी जी भय और दुर्बलता के शत्रु थे। वे व्यक्ति को प्राचीन दार्शनिक की तरह साहसी देखना चाहते थे और कहते थे, 'जगत मे तुम्ही तो एक मात्र सत्ता हो। *तुम्हे किस का भय है ? खडे हो जाओ, मुक्त हो जाओ।* ..... *मनुष्य को दुर्बल* और भयभीत बनाने वाला संसार मे जो कुछ भी है वही पाप है और उसी से बचना चाहिए.......... एक सिंह की भांति पिंजडा तोड दो, अपनी शृंखलाएँ तोड कर सदा के लिये मुक्त हो जाओ। तुम्हे किस का भय है, तुम्हें कौन रोक सकता है... — तुम शुद्ध स्वरूप हो, तुम नित्यानंद हो।'[1] यह सन्यासी की वाणी है, यह आत्मा की वाणी है। यह भारत की सांस्कृतिक शक्ति है, यूरोप की शक्ति सम्बन्धी धारणा, शक्ति सम्बन्धी भौतिक धारणा इससे भिन्न होगी। 'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन ने सिकन्दर के दूत को जो उत्तर दिया था वह स्वामी विवेकानन्द की वाणी है। वह पाश्चात्य भौतिक शक्ति एव तज्जन्य अहंकार को सांस्कृ

१. 'ज्ञानयोग', पृ० ३२५

तिक भारत का सनातन उत्तर है। वह जैसे चर्चिल को गांधी का उत्तर है। दादा धर्माधिकारी का कथन है कि विवेकानन्द कहते थे कि तुम जो साधन की चिन्ता करो, साध्य अपनी चिन्ता आप कर लेगा।[१] आगे चलकर यही गांधी की वाणी हुई। स्वामी जी पश्चिम की समृद्धि और वहां के लोगों की वास्तविकता जानते थे। व अन्य जातियों के दुर्भाग्य को ही ईसाइयों की समृद्धि का कारण मानते थे। वे भारतीय नारियों को पश्चिम की नारियों की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र मानते थे। भारतीय नारी की इसी पवित्रता, आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्नता एवं संभावना-सम्पन्नता के कारण ही तो आज भारतीय जीवन के हर क्षेत्र (राजनीतिक-क्षेत्र तक में) घूंघट वाली भारतीय नारी जितनी सक्रिय है और महत्वपूर्ण कार्य कर रही है उतनी सक्रिय संसार के सभ्य से भी सभ्य देश की चिर पर्दा-मुक्त नारी भी नहीं सच तो यह है कि शक्ति और क्षमता और बेपर्दा होने में नहीं, पवित्र एवं संयमशील होने में है, और भारतीय नारी से बढ़कर पवित्र एवं संयमशील किस देश की नारी हो सकती है।

अतएव स्वामी जी भारत में सत्वप्रधान शक्ति का स्फुरण देखना चाहते थे। उनका कथन था, 'अब हम लोगों को कोमल भावों के ग्रहण करने का समय नहीं है। इस तरह की कोमलता की सिद्धि करते-करते हम लोग इस समय मुर्दा सरीखे हो रहे हैं, हम लोग रूई की तरह कोमल हो गये हैं। हमारे देश के लिये इस समय आवश्यकता है लोहे की तरह मांसपेशी और स्नायुओं से युक्त बनने की, इतनी दृढ़ इच्छाशक्ति-सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो''' ......[२] इसके लिये वे स्वार्थ के अभाव, बलिदान, त्याग, अनासक्ति, निर्भयता, कर्तव्यपरायणता एवं इन्द्रियों की दासता से मुक्ति, आदि अनिवार्य समझते थे। विलासवृत्ति हमें जर्जर कर देती है कपटी और छलिया बना देती है और हमारा शक्ति-वीर्य सुखा देती है। हमारी निरक्षता का कारण पारस्परिक ईर्ष्या— द्वेष एवं हिंसा —दृष्टि भी है। यह आत्महृास है इसकी जगह हमें आज्ञापालन एवं सेवा करने की आदत डालनी होगी। उनका स्वदेश प्रेम भी ईश्वर प्रेम था और उनके अनुसार, यदि स्वदेश अथवा स्वधर्म के लिये युद्ध करते-करते मनुष्य की मृत्यु हो जाय तो योगी जन जिस पद को ध्यान द्वारा पाते हैं वही पद उस मनुष्य को भी मिलता है।[३] स्वामी जी देशभक्ति को तभी सम्भव समझते थे जब इतना विशाल हृदय

१ 'सर्वोदय दर्शन', पृ० १६३

२ 'वेदान्त धर्म', प० २०५-२०६

३ 'कर्मयोग', पृ० ३२

(योगियो वाला हृदय) मनुष्य को मिल जाय कि वह देश के सभी प्राणियों के सुख दुख को अपना समझ सके और सारे देश के लिये जिसमे सहानुभूति एवं प्रेम हो। स्वामी जी अद्वैत को कार्यरूप मे लाने की आवश्यकता समझते थे जिससे देश सेवा के कार्यों का स्वरूप भारतीय सस्कृति के अनुरूप हो जाय जब ईश्वर सर्वत्र है—और अद्वैत होने के नाते सर्वत्र वही है— तब निष्कर्ष यही निकलता है कि समाज के प्राणियो की सेवा ईश्वर की सेवा है। इस प्रकार स्वामी जी ने भारतीय सिद्धान्तों को लेकर भारतीय ढग से उन्हें कार्यान्वित करके हमारे प्रयत्नो के स्वरूप को विशुद्ध भारतीय रूप देना चाहा जिससे हम आधुनिक युग मे रहकर अपने आत्मरूप की प्राप्ति की ओर भी अग्रसर होते रहे क्योकि अन्यथा किसी भी दूसरे ढग से भारत का कल्याण नही हो सकता।

गांधी—

विवेकानन्द जो कुछ चाहते थे वह सब १९०२ ई० तक कहकर ससार से चले गये। पाचजन्य गूँज उठा। गाँधी जी उन्ही बातो को अपने जीवन मे उतार कर उससे कुछ सिद्धान्त बनाकर उनको भारतीय जीवन में फैला देने के लिये सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे कूद पड़े।

आत्मशक्ति उनमे इतनी थी कि उनकी बातो को प्रबुद्ध भारत अस्वीकार न कर सका। शकर दत्तात्रेय जावडेकर ने लिखा है कि आधुनिक भारत के वेदान्त मे से यह एक क्रान्तिकारी आध्यात्मिक उपपत्ति जन्मी कि अपनी अन्तरात्मा के सदेश का पालन करने के लिये स्थापित राज्यसत्ता के अन्यायी बन्धनो को तोडना हमारा आध्यात्मिक कर्तव्य है।[1] इसी मे से सत्याग्रह का निःशस्त्र क्रांति शास्त्र खडा हुआ। गाधी जी भारतीय लोकशाही का जन्म आम जनता का आत्मबल सगठित करने से ही सभव मानते थे। सच पूछिए तो गाधी जी की जीवनी श्रीमद्भगवद्-गीता की एक सजीव व्याख्या थी। उनका मार्ग गीता का मार्ग था—सनातन सिद्धांतों का सामयिक भाष्य। गाधी ने अतीत से सपर्क स्थापित किया था और इसीलिये उनके द्वारा प्रवर्तित राजनीतिक आन्दोलन को अतीत के अध्यात्म-द्वारा सास्कृतिक स्वरूप प्राप्त हो गया। वह शुद्ध राजनीतिक आन्दोलन न हो कर एक समग्र सास्कृतिक आन्दोलन हो गया। सद्गुरु शरण अवस्थी ने लिखा है "एक ही मानव मे सद्वृत्तियो और सद्भावनाओ का इतना बडा समूह सहस्राब्दियों से देखने मे नही आया। महात्मा गाधी मे इस उच्चता ने एक बडा भारी विश्वास उत्पन्न कर दिया था। शिव जी के मस्तक पर ऊपर से गिरने वाली पवित्र धारा की भांति

1. 'आधुनिक भारत', पृ. २६४-२६५

महात्मा गांधी इस महत्ता की गंगा को हमेशा ऊपर से आती हुई दया और कृपा के रूप में ही ग्रहण करते थे।[1] यह भारतीय स्वरूप है कि हमारा अपना कुछ नहीं है, जो-कुछ है, भगवान की दया है। गांधी की संस्कृति भारत की अपनी संस्कृति है-माँ-बहनों के आँचल में पली हुई संस्कृति। महादेव प्रसाद ने लिखा है कि जीवन की समस्याओं के विषय में गान्धी का दृष्टिकोण निश्चित रूप से हिंदुत्व पर आधारित था।[2] आचार-सम्बन्धी नैतिकता के लिये उन्होंने गीता, सामाजिक नियन्त्रणों के लिये मीमांसा, अभेद की भावना के लिये शंकर, वास्तविकता के लिये वैष्णव एवं तात्विक निष्कर्षों के लिये वेद, उपनिषद्, पुराण, आदि का सहारा लिया था। स्याद्वाद, पुनर्जन्म, अध्यात्मिकता, सत्य, अहिंसा, आदि उनके मूलभूत सिद्धांत थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शरीर श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सभी धर्मों की मूलभूत एकता, स्वदेशी और स्पर्शभावना उनकी दृष्टि में अवश्य करणीय थे। विकेन्द्रीकरण, जनतन्त्रवाद, चर्खा, बुनियादी शिक्षा, प्राकृतिक चिकित्सा, उपवास, सादा जीवन,हृदय परिवर्तन, साधन-शुद्धता, सत्याग्रह ट्रस्टीशिप आदि उनके कार्यक्रम थे। उन्होंने समझाया कि घृणा से घृणा, हिंसा से हिंसा, और प्रेम से प्रेम निकलता है। एकता सहिष्णुता और शांति गांधी मार्ग है। सर्वोदय उनकी कामना है-लक्ष्य। वे नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। वे सोच-समझ कर कार्य करने को कहते थे। वे आत्मविश्वास, स्वाभिमान, शत्रु के प्रति भी अहिंसक भाव रखने की, उत्तेजित न होने की, बदला न लेने की, निःस्वार्थ सेवा की, भीतरी और बाहर की सभी गदगियों से बचने की, प्रार्थना पर अखंड विश्वास करने की और आत्मा के उत्थान की बातें करते थे। वे प्रार्थना को भोजन से अधिक आवश्यक मानते थे। वे चूंकि हर हृदय में भगवान को देखते थे और भगवान बुरा नहीं होता इसलिये वे किसी को भी मूलतः बुरा नहीं समझते थे और इसलिये सबसे प्रेम करते थे और "सर्वभूतहिते रत थे। वे मानते थे कि संसार का इतिहास भौतिकता के विरुद्ध आत्मिकता के संघर्षों और अन्ततोगत्वा उसी की विजयों का इतिहास है। भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के ही अनुसार गान्धी संस्कृति ग्राम संस्कृति, गृह-उद्योग प्रधान संस्कृति तथा संयम-सरलता-सात्विकता-प्रेम-सहयोग प्रधान संस्कृति है। गान्धी जी ने मानवधर्म की धारणा की थी। उनका स्वराज्य आत्मराज्य था। इसका लक्ष्य केवल राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति ही नहीं था। वे ऐसा तन्त्र

---

१. 'माधुरी" पत्रिका, जुलाई, १६४० ई० पृ० ४६६

चाहते थे जो मानव के स्व-आत्म-की उन्नति के अनुकूल हो और जिससे मानव को आत्मोपलब्धि हो सके। वह भौतिकता मे डूब कर निर्जीव-जड यन्त्रमात्र न हो जाय। भौतिक उन्नति-भोगविलास के उपकरणों की प्रचुरता-और उसी के भोग मे रात-दिन डूबे रहकर हृदय के देवता-आत्मा का मार डालना गान्धी जी का स्वराज्य या राम राज्य नही था। भौतिकता मानव के लिये 'पर' है, और आत्मा उसका 'स्व' है। पराधीनता अँगरेजो या विदेशियो की ही आधीनता नही, भौतिक तत्वों की भी आधीनता है। मात्र भौतिकता शैतानियत है और इसीलिये गान्धी ने उस समय के भारत को समझाया था कि अँगरेजो की सस्कृति शैतानो की सस्कृति है। अँगरेजो की सस्कृति या सभ्यता स्वार्थमूलक थी, भारत की परमार्थमूलक रही। मशीनो की संस्कृति के वे इसीलिये विरुद्ध थे क्योंकि उससे स्वार्थमूलक और सकुचित दृष्टिकोण को पोषण मिलता है। उससे सत्य और अहिंसा की वृत्तियां मूर्छित होती हैं। ये वृत्तियां जिससे पनपती हैं गाधी ने उसी मार्ग को अपनाने की राय दी थी। वे कहते थे कि आवश्यकताओ को न बढ़ाओ। किसी पर अपना स्वामित्व न समझो। जो कुछ मिला है, भगवान का है। उसका भोग त्याग की भावना से करना चाहिये। त्याग समाज के लिये करो। उससे आत्मा का विकास होता है। आवश्यकता से अधिक भोग पाप है। आवश्यकता से अधिक सग्रह चोरी है शरीर-श्रम किये बिना खाना पाप है। आवश्यकता से अधिक जो-कुछ है उसे समाज की धरोहर समझकर रखो। अपने को उसका ट्रस्टी समझो। सब के हित के लिये कार्य करना ही यज्ञ है। परिवार को भी इसी रूप मे समझकर उसका पोषण करना चाहिये। परिवार त्याग की प्राथमिक पाठशाला है। जैनेन्द्र ने लिखा है[1] कि समाज मानो वह क्षेत्र है जहा परस्परता के सहारे हमारा आत्मीय भाव विस्तार पाता जा सकता है। गान्धी को भी इसी प्रकार मानव की आत्मा का विकास इष्ट था। इसीलिये गान्धी ने भारत के सामने सामूहिक त्याग और तपस्या का आदर्श उपस्थित किया था। धर्म के अतिरिक्त कोई और भी भूमिका ऐसी नही है, नैतिकता के अतिरिक्त और कोई भी धरातल ऐसा नही है, आत्मा के अतिरिक्त और कोई भी तत्व ऐसा नही है, जिसके सहारे यह सम्भव हो सके। इसीलिये गान्धी हमको लेकर उस भूमि मे गये जो भारत की चिर परिचित है। वह भूमि है अध्यात्म की, वेदान्त की,। सम्पूर्ण विश्व मे एक ब्रह्म की ही व्याप्ति है और जीव उसी का एक अंश है केवल इसी नाते व्यक्ति विश्व से एव व्यष्टि समष्टि से तादात्म्य स्थापित कर

१. 'समय और हम', पृ ४५१

सकता है। इसी रूप में 'सबै भूमि गोपाल की' एवं सम्पत्ति सब रघुपति के आहीं वाली बातें ठीक लगेंगी। गान्धी हमसे इसी पर विश्वास करने की बात करते थे क्योंकि इन तथ्यों का विश्वासी ही कह सकता है 'राम के चिरई, राम के खेत, खाओ चिरई भर भर पेट'। यही साधना गान्धी को इष्ट थी और तभी गान्धी ने कहा, "वह (ईश्वर) हृदय रूपी वन में रहता है और उसकी बसी है अन्तरनाद। हमें निर्जन वन में जाने की आवश्यकता नहीं। अपने अन्तर में हमें ईश्वर का मधुर नाद सुनना है और जब हममें से हरेक वह मधुर नाद सुनने लगेगा तब हिंदुस्तान का भला होगा।"[1] यह अन्तरनाद, अन्तप्रेरणा मुख्य चीज है। जो इससे सम्पन्न होता है वह दूसरे लोगों को भी अपने जीवन में दाखिल कर लेता है। तभी वह सर्वोदय का मर्म समझता है। इस भूमिका में डार्विन का 'सर्वाइवल आफ दी फिटेस्ट' वाली नीति निरर्थक लगने लगती है। अद्वैत और समन्वय आत्म तत्व सम्पन्न व्यक्ति को सारी सृष्टि से एक कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति को किसी से द्वेष नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति बुरे को नहीं, बुराई को दूर करना चाहेगा। वह दूसरे को दोष को अपना दोष समझ कर दूसरे को दण्ड न देकर अपने को दण्ड देगा। वह दूसरे का अहित न चाहकर, उसका सुधार, उसकी भलाई चाहेगा। वह अविनयी नहीं हो सकता। उसे सत्य का आग्रह होगा। वह दूसरे को भी सत्य निष्ठ देखना चाहेगा। ऐसी आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति किसी व्यक्ति या वर्ग से द्वेष नहीं कर सकता। वर्ग-संघर्ष नहीं हो सकेगा। वर्ग-भेद का निराकरण हो जायगा। इस दृष्टि को देकर गाधी जी विवशता को व्रत में, दरिद्रता को असग्रह में और भूख को उपवास में बदल देना चाहते थे। गांधी सभी प्राणियों में चेतन की उपस्थिति का विश्वास करा कर हृदय-परिवर्तन पर विश्वास कराना चाहते थे। इस प्रकार गाधी ने विभक्त भारत-चित्त को एकत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया था। मशीनों ने व्यक्ति का महत्व समाप्त कर दिया। गाव-सभ्यता के पुनरुद्धार और छोटे पैमाने के उत्थान द्वारा गांधी ने व्यक्ति के व्यक्तित्व की रक्षा के करने का प्रयत्न किया। सत्य और अहिंसा पर ही आधारित नई तालीम के द्वारा भी गाधी जी ने नैतिक मूल्यों का उद्धार करना चाहा था, क्योंकि नैतिक तत्व भगवान की ओर और अनैतिक तत्व अहंकार की ओर उन्मुख होते हैं। गांधी जी विचार को ऊँचा करने की बात करते थे। वे सेवा को श्रेष्ठ मानते थे सत्ता को नहीं। वहां ऋषि का महत्व था, श्री का नहीं। वे विवेक को प्रधानता देते थे। प्रेम को महत्वपूर्ण मानते थे। वे विवेक को भगवान का प्रतिनिधि समझते थे। वास्तविकता तो यह है कि गाधी

---

१. 'प्रार्थना प्रवचन', भाग १, पृ. १३१

राजनीतिज्ञ थे ही नहीं। भारत की तात्कालिक परिस्थितियों मे राजनीति उनके कार्यक्षेत्र में पड गई अन्यथा वे राजनीति से परे थे। वे सांस्कृतिक गगा के भगीरथ थे। भारत की अपनी जीवन-पद्धति के फिर से अपनाये जाने का सदेश लाने वाले देवदूत थे। यह उनकी आत्मा थी। राजनीति गौण थी उनके लिये। इसीलिये मैं भारत की स्वतत्रता एक मात्र राजनीतिज्ञों की ही अर्जित सम्पत्ति न मानकर इसका सारा श्रेय उन्हे नही देता। उसका श्रेय सांस्कृतिक आन्दोलन के उन देवदूतो को है जिनमे दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ एव अरविन्द आदि भी आते हैं। गाधी का वास्तविक स्थान इन महान आत्माओ के बीच मे है। सबसे बडी बात तो यह थी कि भारत के प्राचीन ऋषियो-मुनियो की तरह गाधी कहते थे कम, करते थे अधिक। जितना करते थे उसका शताश मात्र ही सभवत कहते थे। भारतीय सामाजिक वृत्ति यह है कि वह 'कथनी की अपेक्षा करनी' पर— वाणी की अपेक्षा चरित्र पर— अधिक विश्वास करती है। वह कर्म की वाणी समझती है। 'बच्चन' ने गाधी का एक उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है[1] कि समय पर स्नान कर लेने की दृष्टि से नौकर के अभाव में स्वयसेवकों के सामने से, जिनमे 'बच्चन' भी थे, खौलते हुए पानी की बाल्टी गाधी जी अपने हाथ से उठाकर नहाने के कमरे की ओर चले गये यह कहते हुए— 'जो काम जिस वक्त करना है, करना, न करना वक्त के साथ दगाबाजी है।' गाधी जी की पूरे की पूरी हथेली (अँगूठा, तर्जनी) जल गई थी। 'बच्चन' लिखते हैं कि समय की पाबन्दी तो बहुतो ने सिखलाई पर अपना हाथ जलाकर केवल बापू ने सिखलाया और ऐसा सिखलाया कि जैसे अपना सदेश हृदय पर दाग दिया। गान्धी ने जीवन को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा था। उन्होंने सच्चे अर्थों मे क्रान्ति की। उन्होंने मूल्यो के बदलने का प्रयत्न किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धी जी ने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का आध्यात्मिकता के सहारे उत्थान करके भारतीय समाज की गति आध्यात्ममुखी करके पूरे भारत को —और इसीलिये हिंदी-प्रदेश को भी— प्राचीन आत्मस्वरूप की खोज की ओर प्रवृत्त किया। थोडे समय म आत्मशक्ति की ऐसी सरिता प्रवाहित कर दी कि बहुतो का जीवन उसी मे पूर्णत निमग्न हो गया।

तिलक—

तिलक पूर्णरूपेण भारतीय सस्कृति मे रँगे थे। भारतीय सस्कृति का प्रेम कभी-कभी उन्हें समय मे पीछे घसीट ले जाता था। उनका 'गणेशोत्सव' और

---

१ 'नये पुराने झरोखे', पृ २४१ से २४३ तक

शिवाजी सम्बन्धी उत्सव को फिर चलाना उनका भारतीय प्रेम ही प्रकट करता है। अपनी परिभाषा द्वारा उन्होने हिंदू धर्म को बहुत व्यापक रूप से दिया था। इन्होने कहा कि जिसमे अनेक प्रकार के साधन होते हैं वह हिंदू धर्म है। उनके 'गीतारहस्य' ने अनेक भारतीयो को भारतीय सस्कृति के अनुकूल प्रवृत्ति मार्ग की ओर प्रेरित किया। वे लोगो को प्रवृत्ति प्रधान भक्ति मार्ग की ओर ले गये। उन्होने भारत की सास्कृतिक वृत्ति का रूप स्पष्ट किया जिसके अनुसार चलकर लोगो ने राजनीति मे भी भाग लिया और अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया।

आर्यसमाज —

आर्यसमाज के विषय मे थोडा सा पहले लिख आये है। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिये कि आर्यसमाज के प्रयत्नो और आदोलनो ने हिंदू समाज मे एक ऐसा मन्थन पैदा कर दिया कि वह अपने सभी दोषो का निराकरण करके अपने असली रूप को पहचानने मे लग गया। स्वामी दयानन्द आर्य संस्कृति अर्थात् भारतीय सस्कृति के पूर्ण समर्थक थे। एक बार तो ऐसा लगने लगा था कि देश सचमुच वैदिक युग मे पहुँच जायगा। आर्यसमाज अपने देश, अपने धर्म और अपनी सस्कृति के प्रगतिशील भक्त थे। सर वेलेन्टाइन शिरोल लिखते हैं कि स्वामी दयानन्द की की सारी शिक्षाएँ और उनके समस्त उपदेश उन विदेशी प्रभावो के सक्रिय प्रतिकार के लिए अधिक हैं जिनसे उनके विचार से हिंदुत्व के अराष्ट्रीयकरण का खतरा था।[1] बात यह थी कि दयानन्द ने देखा कि अभी राजनीतिक आदोलन छेडने का उपयुक्त समय नही आया क्योकि भारतीय असगठित और निर्बल हैं। इसलिये उन्होने हमारी सामाजिक धार्मिक एव आध्यात्मिक कमियो को दूर करने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी। उनकी समझ मे इसका सबसे सुन्दर उपाय यह था कि हिन्दू अपनी जाति मे आई हुई बुराइयों को दूर करके वैदिक सस्कृति को अपना ले। आर्यसमाज ने इस दृष्टि से शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। गुरुकुल शिक्षापद्धति का पुनरुद्धार इस दृष्टि से बडा ही महत्वपूर्ण था। एच०सी०ई० जकारिया ने गुरुकुल काँगडी को 'ससार की सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा सस्थाओं मे एक'[2] माना है। इस दृष्टि से सस्कृत के भारतीय सस्कृति सम्बन्धी साहित्य का हिन्दी मे अनुवाद उपस्थित कराने के लिये आर्यसमाज ने एक नियम भी बना दिया। लक्ष्मी नारायण गुप्त ने लिखा है, 'इस समय आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये थे जिनमे पाचवा

---

१ 'अनरेस्ट इन इडिया', पृ ५

२ 'रेनसेन्ट इडिया', पृ ४१

नियम यह था प्रधान समाज मे वेदोक्तानुकूल सस्कृत और आर्यभाषा मे नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तकें होगी • • ।[1] आर्यसमाज ने वेदोक्त सभी सस्कारो का भी प्रचलन प्रारम्भ कराया था और इसके लिये स्वामी जी ने सस्कारविधि नामक पुस्तक भी लिखी। आर्यसमाज ने अपने सारे कार्य हिन्दी मे करके जहा एक ओर हिन्दी की सेवा की वहा दूसरी ओर यह भी सिद्ध कर दिया कि अंगरेजी देश के जीवन के लिये उतनी अनिवार्य नही है जितनी लोग कहते हैं। स्वामी दयानन्द इसके प्रत्यक्ष उदाहरण थे निराला ने लिखा है मतलब यह है कि जो लोग कहते हैं कि वदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना उन्नतमना नही हो सकता जितना अंगरेजी शिक्षा द्वारा होता है महर्षि दयानन्द सरस्वती इसके प्रत्यक्ष खडन हैं। महर्षि दयानन्द से भी बढकर मनुष्य होता है इसका प्रमाण प्राप्त नही हो सकता।[2] यह बहुत बडी बात थी। इस प्रकार आर्यसमाज ने देश का ध्यान पाश्चात्य सभ्यता —सस्कृति की ओर से हटाकर अपने प्राचीन काल की सभ्यता—सस्कृति से कुछ ऐसा खोजने की ओर लगाया जो उसके प्राचीन रूप—गौरव को प्राप्त करा दे।

अरविन्द –

योगराज अरविन्द ने भारतीय सस्कृति के योग का महत्व हमारे सामने उपस्थित किया। आत्मा की विभुता का वे भी प्रतिपादन करते हैं और बतलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति साधना करके उस स्तर तक पहुच सकता है जिस स्तर तक मशीन युग या भौतिकवादी युग व्यक्ति की चेतना का कभी भी नही पहुँचा सकता। उनका दर्शन भी आध्यात्मिकता प्रधान है। उनके अति–मानस का स्तर भारतीय सस्कृति के योगियो के मानस के स्तर की ही याद दिलाता है। व्याख्या चाहे जितनी नवीन हो उनके रास्ते से चलकर हम वही खोज निकालगे जिसकी हमे खोज है अर्थात् अपना प्राचीन उन्नत रूप गौरव।

टैगोर—

आधुनिक भारत की आत्मरूप की खोज मे टैगोर का भी योग कम नही था। वे मानवता के देवदूत थे। उनका मानवता प्रेम उनकी आध्यात्मिकता का ही परिणाम था। डॉ० एस० शर्मा ने लिखा है कि सम्भवत किसी भी आधुनिक भारतीय ने उपनिषदो का तत्व अपने अन्दर उतना अधिक आत्मसात् नहीं किया जितना टैगोर

१ हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन', पृ २७
२ प्रबन्ध प्रतिमा', पृ ५४

ने ।[1] राधाकृष्णन ने टैगोर पर जो पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने कहा है कि टैगोर का जीवन-दर्शन भारतीय तत्वों पर ही आधारित है और उनकी रचनाएं प्राचीन भारतीय आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाले दर्पण के सामने हैं। उनको हम उपनिषदों की आधुनिक टीका कह सकते हैं। उनका रहस्यवाद है संसार और व्यक्ति की वैयक्तिक अनु-भूतियों के पीछे ईश्वर की उपस्थिति। ईश्वर संसार में सौन्दर्य की सृष्टि और प्रेम की माग करता है। वह प्रेम पाना और प्रेम करना चाहता है। वैष्णव धर्म का भी यही सिद्धांत है। टैगोर को अभेद और समत्व की अनुभूति हो गई थी। टैगोर ने यह आशा व्यक्त की है कि मानवता का सच्चा हितैषी एवं उद्धारक आ रहा है और वह निर्धनता से अपमानित झोंपड़ी-तुल्य भारत में—हमारे बीच ही पैदा होगा।[2] इसी की खोज में हिन्दी-प्रदेश और समस्त भारत लगा है।

राधाकृष्णन—

भारतीय संस्कृति की उदारता प्रगतिशीलता और अध्यात्मिकता का आशीर्वाद ही राधाकृष्णन की भी आत्मा है उनके रूप में आधुनिक भारत ने भारतीय दर्शन का गहरा मंथन किया है और अपने प्राचीन रूप को टटकर खोज की है जिसके निष्कर्षों के परिणाम स्वरूप हिंदुत्व का युक्ति युक्त रूप—वही जो हमारी खोज का विषय है—हमारे सामने मथे हुये दही से निकलने वाले नवनीत के रूप में उभर रहा है शिवमूर्ति तिवारी ने राधाकृष्णन के विषय में स्टालीन का यह वाक्य उद्धृत किया है 'डा० राधाकृष्णन मानवता के लिये कष्ट सहते हैं तथा सच्चे हृदय से बोलते हैं।[3] ध्यान रहे की प्राचीन भारत के ऋषियों-मुनियों की वृत्ति का स्वरूप भी यही था।

आत्मस्वरूप की खोज का सुफल—

जब हम आत्मविस्मृत थे तब अवस्था यह थी 'लोक में धारणा यही थी कि टोपी दक्कर साहब के सामने उपस्थित होने वाले को अर्द्धचन्द्र मिलना असम्भव या असाधारण बात न थी .. ।[4] परन्तु आत्मस्वरूप की खोजने का आन्दोलन हमको इस स्थिति पर उठा ले गया कि मामूली चप्पल और घुटनों तक की धोती

---

१. हिंदुज्म थ्रू दि एजेज', पृ० १७२

२ ट्रुवडस यूनिवर्सल मेन पृ० ३५८

१ आजकल मासिक अप्रैल, १९५४ ई०

२. हिमालय मासिक अगस्त, १९४६ ई० में राधाकृष्णन का कथन

ओढकर आत्म विश्वासी गांधी साहबों के पूज्य सम्राट जार्ज पंचम से भी मिलने गया और शान से मिल आया। इसका एक मात्र कारण यही है कि हम अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति को भूले नहीं। दिनकर ने बिलकुल ठीक कहा है, केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसका अतीत कभी मरा नहीं। यह बराबर वर्तमान के रथ पर चढकर भविष्य की ओर चलता रहा है।[1] इस युग मे भी यही हुआ। परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय साम्राज्यवाद की गुलामी का युग बुरे सपनों की तरह टूट गया और सुदूर अतीत की सुनहरी याद फिर हमें शक्ति देने लगी। भारत को जो चाहिए था अंगरेजी साम्राज्यवाद उसे दे नहीं सका। शायद दे भी नहीं सकता था क्योंकि वह उसके पास था ही नहीं यही कारण था कि भारत को अपने प्राचीन आध्यात्म मंदिर–संस्कृति–सम्पत्ति–की ओर मुडना पडा। वह महान् था और उसी से हमें अपनी खोई हुई अमानत को प्राप्त करने की संभावना, प्रेरणा और शक्ति मिल सकती थी। भारत की आधुनिक आदर्शवादिता का यही रहस्य है। सरकार और उसकी शिक्षा-संस्थाओं ने भारतवर्ष पर अपनी पाश्चात्य संस्कृति–सभ्यता लादने के यथासंभव सभी प्रयत्न किये। इसने हमें झकझोर दिया। समाज के धरातल को आलोड़ित विलोडित कर दिया। किन्तु झकझोरने से आदमी जग भी जाता है। हम भी जग गये। जागने के बाद हम अपनी मूल सम्पदा की खोज खबर लेने में लग गये। अपनी बुराइयों को दूर करके अपने को फिर से विशुद्ध अपना बनाने मे लग गये। परिणामत यदि गहराई मे घुस कर देखें तो भारत की अनादि काल से चली आती हुई परम्पराएं बहुत अधिक क्षुब्ध एवं अशांति नहीं हुईं[2]। भारतीय जन पद गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय जीवन और भारतीय संस्कृति के वातावरण मे आगे बढने लगा। राष्ट्र की मानसिक क्रान्ति हुई तथा सत्य और अहिंसा ने देश की काया पलट कर दी। देश पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की अनुकूल अच्छाइयों को अपना कर भी प्राचीन संस्कृति के अभिमान को धारण किये हैं। इन्द्र विद्या वाचस्पति मे लिखा है कि परन्तु भारत युग-युगान्तरों के परिवर्तनों, क्रान्तियों और तूफानों से निकल कर आज भी उसी (अपनी) संस्कृति का वेष धारण किये, विरोधी शक्तियों की चुनौतियों का करारा उत्तर दे रहा है।'[3] अपनी विशेषताओं और श्रेष्ठताओं की उसने उपेक्षा बिलकुल नहीं की। कहना तो यह चाहिए कि नया

---

१ 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० ८१

२ 'राधाकृष्णन कृत ईस्ट एण्ड वेस्ट' पृ ४२

३. भारतीय संस्कृति का प्रवाह की प्रस्तावना

भारत प्राचीन भारत का श्रद्धालु भक्त बन गया। वह अपने मौलिक सिद्धान्तों के साथ-अपनी संस्कृति के मौलिक अधिकारों के साथ अब भी गर्वोद्दीप्त खड़ा है। निष्क्रियता एवं निवृत्तिवाद के कारण बहुत-कुछ भुगतने वाले पस्त और निराश भारत में 'क्षुद्र हृदयदौर्बल्य त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप', तथा "युध्यस्व विगतज्वर" के संदेश बहुत ही लोकप्रिय हुए। प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्) को मिलाकर वेदों की मुख्यतम शिक्षाओं पर आधारित एक व्यापक धर्म के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया गया। रूढ़ि एवं जड़ता से मुक्त धर्म का स्वरूप ऋग्वेद, आदि की ऋचाओं में मिला। रामकृष्ण परमहंस के प्रभाव से हिंदुत्व प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बन गया विवेकानन्द ने आत्मशक्ति जागृत करके सामाजिक कल्याणकी प्रेरणा तथा तेज और ओज की भावना भरी। तिलक ने स्वाधीनता का शंखनाद फूँका। अरविन्द ने आध्यात्मिक एवं यौगिक साधना पर जोर दिया। हिंदुत्व की सार्वयुगीन उपयोगिताकी क्षमता निःसन्दिग्ध रूप से विदित होगई। हिंदुत्व का भागीरथी कुछ दिनों तक सूखती-सी प्रतीत होने के बाद फिर उद्दाम वेग से गरजती हुई आगे बढ़ी।

राम, कृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द, गाँधी, दयानन्द, तिलक एवं विनोबा, उस भागीरथी के पवित्रतम तीर्थस्थल हैं। एक महान सांस्कृतिक संग्राम छिड़ा। विजेता यूरोपीय संस्कृति और पराजित थी भारतीय संस्कृति। देवासुर संग्राम छिड़ा। ऐसे सांस्कृतिक संग्रामों में आज तक भारत कभी नहीं हारा और न आगे कभी हारने की संभावना है। भारत की जीत अभारतीय अच्छाइयों को आत्मसात कर लेने से हुआ करती है। भारत वही कर रहा है। समय अपने साथ अनेक नये अनुभव लाया और सब अनन्तागत्या उसी अतीत गौरव की अनुभूतियों की सरिता में घुलमिल गये। भारत ने सबको आत्मसात किया। एक अँगरेज का स्वतन्त्र भारत का प्रथम गवर्नर जनरल बनना मेरी दृष्टि में भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण प्रकृति - उदारता - का प्रतीक है। आज के हिन्दी प्रदेश एवं सम्पूर्ण भारत की आत्मा को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि हम पश्चिम की नकल हैं और न कोई यही कह सकता है कि हम दकियानूसी हैं। जो सांस्कृतिक संकट हमारे ऊपर आया था वह नवचेतना, आत्मचेतना और हमारी इसी समन्वयशीला प्रवृत्ति के कारण दूर हो गया है। ठीक यही स्थिति हमारे हिन्दी की है। वह न रीतिकाल की परम्परा में है और न पाश्चात्य साहित्य की बिल्कुल नकल ही।

हिन्दी ने पाश्चात्य भाषा साहित्य के महत्त्वपूर्ण तत्वों को लगभग अपन

त कर लिया है। जैसे, हिंदुओ ने इस युग म मूल तत्वों का अध्ययन किया, । रूपरेखा मे ही नहीं उलझे, पूर्व और पश्चिम दोनो का गहराई से अध्ययन, न और विश्लेषण किया और अब समन्वय की ओर चल पडे हैं वैसे ही और उसी वृत्ति ने प्रेरित होकर हमारे साहित्यिक पूर्व और पश्चिम की साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन, मनन और विश्लेषण करके उनका आत्मसात करके उसका नवनीत हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य भारत के इस महान सास्कृतिक जागरण की साहित्यिक अभिव्यजना है। परिवतनशील स्थूलता का मोह छूट-सा गया है। रूढियो और परम्पराओ से मुक्ति मिल गई है। पौराणिक, कर्मकाण्ड मूलक रूढि-प्रथा-परम्परा-रीतिरिवाज, आदि अपने मूल और महत्वपूर्ण रूप में आधुनिक हिंदी साहित्य मे कहीं नही है। आधुनिक हिंदी साहित्य एक सुधारोन्मुखी, उत्थान- रत एव उदार जाति के मानस की साहित्यिक छवियों का आभास है। जैसे हमारे जीवन और समाज मे आज भी अनेक प्रकार की विकृतिया, सकीर्णताएँ एव दुर्बलताएँ हैं (जिनके कुछ कारण हैं राजनीतिक, कुछ सक्रान्तिकाल, आदि) वैसे ही आधुनिक साहित्य मे भी कुछ दुर्बलताएँ, कुछ विकृतिया और कुछ कमिया हैं किन्तु जसे 'बाहर की इस काई को हटा लेने के बाद भारत के अन्तश्चेतन मानस मे जो-कुछ शेष रहता है उसके जोड का आज के ससार मे कुछ--भी देखने को नही मिलता'[1] वैसे ही निश्चित रूप से आधुनिक हिन्दी साहित्य के पास कुछ ऐसा है जो उसकी तमाम कमियो के होते हुए भी आज के ससार मे बेजोड है। पत, 'प्रसाद', 'निराला', रामकुमार वर्मा, दिनकर, महादेवी, प्रेमचन्द, वृन्दावन लाल वर्मा, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, आदि की कृतियो मे ये अद्वितीय निधिया ढूँढी जा सकती हैं। आज के भारत म रीति रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा, आदि सबमे आमूल परिवर्तन हो रहा है। हमने अपने अन्तर को पश्चिम के रग मे नही रगा है। बाह्य रूप मे पश्चिम की केवल वे ही चीजें अपनाई हैं जिन्हें हमारे विचार मे, हमारी सस्कृति म निषिद्ध नही कहा गया है और जीवन-धारा की गति के कारण जिनको अपनाने के लिये हम विवश हैं। पुराने-दकियानूसी लोग इन परिवर्तनो को भी नही सह पाते। वे 'आखें मूद लेने' की कामना करने लगे हैं ध्यान देने की बात यह है कि हमारी सस्कृति के मूल तत्व, हमारी तात्विक मान्यताएँ एव हमारे मूल धार्मिक विश्वास अभी वस ही हैं—लगभग वैसे ही हैं। और, जब तक य अखण्ड हैं तब तक भारत अजेय एव अमर है। मनु, चन्द्रगुप्त, बुद्ध,

---

[1] पत कृत 'उत्तरा' की भूमिका, पृ. १२

अशोक, हर्ष, पृथ्वीराज, अकबर, औरंगजेब, विक्टोरिया, नेहरू, के युगों के भारतीय रहन-सहन में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। इन परिवर्तनों के बावजूद भी यदि भारत महान एवं अपराजेय रहा है तो उसका कारण हमारे आंतरिक तत्वों—सांस्कृतिक विशेषताओं का अक्षत रहना ही था। इसी अक्षतता के कारण आज भी भारत का भाल भविष्य की सुनहरी कल्पना में प्रदीप्त है। पहले हम मानते थे कि आदमी रोटी के बिना रह सकता है पर धर्म के बिना नहीं रह सकता। पश्चिम ने कहा कि तुम धर्म के बिना रह सकते हो परन्तु रोटी के बिना नहीं रह सकते। आत्मस्वरूप की खोज ने हमें विश्वास कराया कि दोनों ही जीवन हैं। रोटी के बिना धर्म शरीर-विहीन है और धर्म के बिना रोटी जीवन-विहीन है। रोटी धर्म की और धर्म रोटी की रक्षा करे। समाज बढ़ता रहता है, नये विचार आते रहते हैं और समाज में कालान्तर में फैलते रहते हैं किन्तु कोई भी विचार, चाहे कितना ही अमृत तत्वों से भरा क्यों न हो, एकबारगी ही समाज भर में फैल नहीं जाता। इतने पर भी समाज इन नये विचारों से परिपुष्ट एवं उन्नत होता रहता है। नये और अच्छे विचारों का उदय न होना मृत्यु है। अतएव यद्यपि यह ठीक है कि आत्मबोध से प्राप्त निष्कर्ष अभी सारे समाज की सम्पत्ति नहीं बन सके किन्तु यह भी सही है कि उनसे समाज को अमृतत्व मिला है।

इसीलिये यद्यपि आधुनिक हिन्दी साहित्य की विधाओं आदि में बहुत नवीनता मिलती है परन्तु उसमें हमारी कोई हानि नहीं हुई क्योंकि आत्मखोजमें प्राप्त तत्व हमें संजीवनी शक्ति दे रहे हैं। यूरोपीय सभ्यता की चमक-दमक की सम्मोहिनी शक्ति आज न भारतीय साहित्य एवं उसके एक अंग—आधुनिक हिन्दी साहित्य—को। यह स्वीकार किया जाने लगा है कि 'केवल भारत ही' चाहे यहां ज्ञान और शक्ति का कितना भी क्षय या ह्रास क्यों न हो गया हो, आध्यात्मिक आदर्श के मूल स्वरूप के प्रति निष्ठावान बना हुआ है ....भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो समष्टि रूप में अपने उपास्य देव का त्याग करने का युक्ति यत्न, व्यवसाय तंत्र एवं अर्थ तंत्र रूपी प्रबल प्रभुत्वशाली प्रतिमाओं, पश्चिम के सफल लौह-देवताओं—के आगे घुटने टेकने से अब तक भी इन्कार करता आ रहा है ...... उसकी गम्भीरतर प्रज्ञा ने नहीं, वरन् उसके स्थूल मन ने ही बाध्य होकर स्वतन्त्रता, समानता और प्रजातन्त्र आदि अनेक पश्चिमी विचारों को स्वीकार किया है तथा अपने वेदांतिक सत्य के साथ उनका समन्वय किया है......... अपनी विचारधाराओं में वह पहले से ही उन्हें एक भारतीय रूप प्रदान करनेके लिये प्रयत्नशील है जो कि एक अध्यात्मभावित रूप हुए बिना नहीं रह सकता।[१] आज विनोबा की प्रार्थना सभाओं की 'मेहनत सेवा

१ 'अदिति', नवम्बर, १९४६ ई०

राम की', 'मेहनत करो इनाम लो' जैसी उक्तियां तथा 'मेहनत इन्सान की दौलत भगवान की' वाली धारणा इसी विचारधारा की ओर संकेत करती है। आज का भारतीय ऊपर से भले ही पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंग गया हो परन्तु अन्तरतम से वह भारतीय है। यह सम्भव नहीं कि वह संस्कृति की इस गंगा में स्नान किये बिना और इससे प्रभावित हुए बिना रह सके।

मोतीलाल नेहरू से बढ़कर पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगा हुआ दूसरा व्यक्ति मिलना कठिन होगा किन्तु सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कथन है कि अपने अन्तरतम में मोतीलाल नेहरू भारतीय संस्कृति में विश्वास रखते थे।[1] हिन्दी इसी नव जागरण की एक मात्र सफल भाषा थी और यह सब जागृत व्यक्तियों के अन्तर में इतनी रम गई थी कि पुरुषोत्तमदास टंडन ने अपनी कन्या दुलारी के विवाह में विवाह के मंत्रादि का हिन्दी में अनुवाद कराया और विवाह मंडप में केवल हिन्दी ही सुनी गई। भारत का मानस कितना उदार है, इसके प्रतीक एक ओर औघड़दानी 'निराला' थे और दूसरी ओर देहातों की वे भारतीय नारियां हैं जो किसी क्षुधार्त्त को बिना भोजन कराए नहीं जाने देतीं आज भारत का गांव गांव स्वावलम्बन सीख रहा है। सेवा करना सीख रहा है। बीसवीं शताब्दी के इस पूर्वार्द्ध में ऐसे असंख्य अनजाने व्यक्ति हुए जो स्वतन्त्रता की इस शानदार इमारत की नींव के पत्थर इस तरह बन कि इतिहास की आंखों से ओझल हो गये —विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए। यह इमारत उन्हीं की आड़ में खड़ी है, कष्टों और आपदाओं के ऊपर खड़ी हो सकी है। ये सारी बातें हिन्दी साहित्य में अभिव्यंजित हैं और हिन्दी साहित्यकों के जीवन में प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार आत्मस्वरूप की खोज के परिणामस्वरूप हमारे दृष्टिकोण बहुत बदल गए।

अतीत-दर्शन

जागृत होकर जातियां अपने विगत गौरवपूर्ण इतिहास की ओर देखती हैं। वर्तमान से उसकी तुलना करती हैं। इस तुलना से वर्तमान की अधोगति उनके हृदय में बेचैनी पैदा होती है और तब वे विगत युग की महानताओं से प्रेरणा लेकर अपने भविष्य का मार्ग निर्धारित करती हैं। भारत ने भी यही किया। उसका अतीत चूंकि असाधारण रूप से गौरवपूर्ण एवं उन्नत था अतएव वह उस पुराने वैभव से असाधारण रूप से प्रभावित हो गया। उसके हृदय में हिलोरें उठीं। गर्व से उसका सिर ऊंचा हो गया किन्तु वह वर्तमान को भी अस्वीकार न कर सका। कहा गया

१ 'मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रंथ' पृ० ८४

कि पहले आप चाहे जो-कुछ रहे हों, इस समय तो कुछ नहीं रह गये ? इससे प्रेरणा मिली अपने को फिर वैसा ही उन्नत बनाने की। यूरोप की चमक-दमक का रोब-आतंक समाप्त हो गया और भारत ने यह स्वीकार करना दृढ़ता पूर्वक अस्वीकार कर दिया कि वह हीन है। निजत्व की अनुभूति उद्‌भासित हुई। पुनरुद्धार एवं पुनरुत्थान के प्रयत्न प्रारम्भ हुए। आधुनिक हिन्दी साहित्य पूर्व और पश्चिम की इन्हीं दो धाराओं के घात-प्रतिघात का परिणाम है। सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से इस घात-प्रतिघात का परिणाम गांधीवाद के रूप में सामने आया था। इसी कारण इस हिंदी साहित्य का गांधीवाद से अभिन्न संबन्ध स्थापित हो गया। स्वयं हिंदी भाषा का आंदोलन भी इसी सांस्कृतिक आन्दोलन का एक अनिवार्य अंग था। १६ वीं शताब्दी के अन्त तक हमारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण सशक्त एवं प्रभावशाली हो गया था। फिर भी उसको भारत की अपनी वाणी मिल पाई थी। वह किसी भारतीय भाषा द्वारा अभिव्यंजित नहीं होती थी। यह एक कमी थी किन्तु इस कमी की पूर्ति भारत कर सकता था। इसकी ओर स्वामी दयानन्द ने क्रियात्मक रूप से संकेत कर दिया था। उन्होंने प्रयत्न कर दिया था कि हिन्दी में ऐसा सामर्थ्य है कि यदि इस को ठीक ढंग से विकसित किया जाय तो हम विदेशी संस्कृति के साथ-साथ विदेशी भाषा की दासता से भी छुट्टी पा सकते हैं। संस्कृत हमारे संस्कारों की भाषा है, हिन्दी हमारे नवजागरण की भाषा है, अंगरेजी हमारी हर तरह की गुलामी एवं हीनवृत्ति की सीमाओं, जड़ताओं एवं लघुताओं की भाषा है। हिन्दी आधुनिक युग की हमारी जागृति की वाणी है। हिन्दी की सेवा के महत्त्व को समझने का सही दृष्टिकोण यही है। इस बात को केशवचन्द्र सेन समझ गये थे, दयानन्द समझ गये थे, तिलक समझ गये थे, गांधी समझ गये थे टैगोर समझ गये थे, विनोबा समझ गये थे, और कभी राजगोपालाचारी भी समझ गये थे। इसीलिये हिन्दी प्रचार का पवित्र कार्य हुआ और इसीलिये अनेकों ने अपने जीवन की इस कार्य में-यज्ञ में-आहुति दे दी। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'रवीन्द्रनाथ की हिन्दी सेवा" नामक लेख में लिखा है, 'हिन्दी भवन की स्थापना के समय उन्होंने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था, तुम्हारी भाषा परम शक्तिशाली है। बड़े-बड़े पदाधिकारी तुम से कहेंगे कि हिंदी में कौन-सा रिसर्च होगा भला ! तुम उनकी बातों में कभी न आना। हिन्दी को वे एक ऐसी लोक भाषा मानते थे जिसकी अद्‌भुत और अक्षय शक्ति अभी प्रकट नहीं हुई।"[1] इस हिन्दी के उत्थान के लिये-उसको सशक्त एवं सक्षम बनाने के लिये-हमें संस्कृत भाषा के व्याकरण और शब्दकोष का सहारा लेना पड़ा। यह भी उसी व्यापक सांस्कृतिक-आत्म-

१. 'सरस्वती', १६४५ ई० पृ० ७२७

खोज-के आन्दोलन की प्रकृति के अनुरूप था। आत्मखोज के लिये हम संस्कृत साहित्य की ओर गये और आत्मखोज की अभिव्यक्ति के लिये संस्कृत भाषा की ओर। आत्म-खोज के आन्दोलन मे सकीर्णता नही, समन्वय वृत्ति की प्रधानता थी और हिन्दीभाषा ने भी अंगरेजी, उर्दू, बंगला, आदि के अनेक तत्वो को अपने अन्दर समाविष्ट किया है। इधर सुनीतिकुमार चटर्जी ने हिंदी भाषा को रोमन लिपि मे लिखने की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुझाव दिया था और संविधान सभा ने हिंदी अङ्को को रोमन अङ्को मे लिखे जाने का। यह बात असांस्कृतिक है और इसीलिये अग्राह्य हुई। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे भी कभी यह बात उठाई गई थी और हिंदी की ओर से यह उत्तर दिया गया कि अंगरेजो मे से किसी-किसी का मत है कि हिंदुस्तान मे रोमन अक्षरो का *सार्वदेशिक प्रचार होना चाहिये। पर रोमन अक्षर यहां के लिये बिल्कुल ही अयोग्य हैं।*"[1] असांस्कृतिक लोग आज तक हिन्दी और हिंदी वालो को हीन दृष्टि से देखते हैं लेकिन संस्कृति की अमृत प्रेरणाओ से सम्पन्न हिंदी वालो ने अपने सुखो और प्राणो की बाजी लगाकर सारा झाड़-झखाड़ समाप्त कर दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "समय पर कापी देता रहा, कभी, एक बार भी, कोई हीला हवाला नहीं किया। न बीमारी बाधक हुई न सफर बाधक हुआ, न समयाभाव बाधक हुआ। जानबूझकर कभी इसके द्वारा मैंने अपनी लेखनी का दुरुपयोग नही किया। न किसी के कोप से विचलित हुआ, न किसी के प्रसाद से कर्त्तव्यच्युत इसे बहुजन-प्रिय बनाने मे मैंने कभी कसर नही की। अपने लाभा--लाभ का कुछ भी विचार न करके सदा इसके पाठको ही के लाभा-लाभ का विचार ध्यान मे रक्खा। जो-कुछ लिखा केवल कर्त्तव्य-बुद्धि की प्रेरणा से लिखा। तिस पर भी समय-समय पर मुझ पर व्यक्तिगत आक्रमण हुए और अनेक दोषो का आरोप भी हुआ।.........मैंने न किसी की सेवा की है, न किसी पर एहसान किया है.........।"[2] स्पष्ट है कि यह एक तपस्वी की वाणी है जिसने इस कर्त्तव्य के सम्पादन मे अपनी आँखें खोदी। आत्म-खोज से प्राप्त प्रेरणाओं ने हिन्दी के अनन्त सेवकों के प्राणो को इसी प्रकार ऊर्जस्वित कर दिया था। अस्तु, ऐसे तपस्वियों की साधना से सवलित होकर हिन्दी समर्थ हो गई और अतीत के गौरव, वर्तमान के असंतोष तथा भविष्य के सपनो को वाणी देने लगी। नवीन प्राणो का स्पन्दन उसमे प्रकट होने लगा। काशी प्रसाद जायसवाल जैसे विद्वानों ने भारतीय इतिहास के गौरव का अध्याय खोल दिया। राहुल देश--देश की धूलि चरणो से रोदकर विश्व के कोने-कोने में बिखरी भारतीय संस्कृति के

१. सरस्वती १९०५ ई० पृ० ३१३
२ 'सरस्वती' जनवरी, १९२१, पृ० २

स्वर्णधूल आदि तक आते आते वे अरविन्द से भी प्रभावित हो चले थे। रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा का रहस्यवाद विशुद्ध रूप से भारतीय अमृत तत्वों से अनुप्राणित है। और, इन पर सबके द्वारा प्रवर्तित छायावादी आन्दोलन ? प्राय लोग कहते हैं कि इस पर रवीन्द्र नाथ टैगोर का प्रभाव है और अंगरेजी के रोमांटिक धारा के कवियों का प्रभाव है। थोड़ा– बहुत प्रभाव है इससे इन्कार नही किया जा सकता किन्तु प्रमुख तत्व प्रभाव नही होता प्रमुख तत्व वह होता है जिस पर प्रभाव पड़ता है इस आन्दोलन पर पड़ने वाले ये बाहरी प्रभाव प्राय भाषा शैली के ही स्तर तक रह गये उसके भीतर का तत्व खरे–निखरे रूप मे वही है जो हमारे आत्मरूप की खोज से मिला है सर्वामवान। साकेत यशोधरा प्रियप्रवास कामायनी कृष्णायन आदि जो महाकाव्य लिखे गये उनमे अपने आयधर्म अपनी आय सभ्यता और अपनी आय संस्कृति का ही युगानकूल सुंदर रूप मिलता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने असहयोग आंदोलन के विषय मे जो लिखा है वह हिंदी साहित्य के लिये भी पूर्णत सही है। उनका कहना है यह संपूर्ण देश का आत्मस्वरूप समझने का प्रयत्न था और अपनी गलतियों को सुधार कर संसार की समृद्ध जातियों की प्रतिद्वंद्विता मे अग्रसर होने का संकल्प था। संक्षेप मे यह एक महान सांस्कृतिक आंदोलन था आधुनिक काल मे आत्मविश्वास की ऐसी प्रचंड लहर इसके पूर्व कभी इस देश म नहीं दिखाई पडी थी।[1] इस महान आंदोलन ने भारतीय जनता के चित्त को बंधन–मुक्त किया। यही बंधन–मुक्त चित्त काव्यों नाटकों और उपन्यासों में नाना भाव स प्रकट हुआ।' आत्मस्वरूप की खोज के परिणामस्वरूप ही हिन्दी साहित्य ने मौलिक रूप से धम का पल्ला आज भी नही छोड़ा है। यहा युग और धम समन्वय स्थापित करने का प्रयास है। इसी आंदोलन के परिणामस्वरूप आज हमें वह दृष्टि मिल गई है कि हम अपने महत्व का वास्तविक मूल्यांकन करके अपने को हीनभावना से मुक्त कर सकें इसी दृष्टि क परिणामस्वरूप आज हम सोचने लगे हैं कि सांस्कृतिक दृष्टि से सूर और तुलसी शेक्सपियर से न जाने कितने आगे है। बिहारी कला और भूषण का जातीय शौर्य अंगरेजी साहित्य के किस कवि से कम है। हमें दोष देने वाले हमारी शील और क्षमता की प्रशंसा नहीं करते कि पचास वर्षों के अन्दर ही हमने एक नई क्रांति कर दी —भाषा के एक नये रूप को इतना साहित्यिक सामर्थ्य दे दिया। यह सही है कि प्रत्येक संस्कृति के सौन्दर्य और कला के प्रतिमान का दृष्टिकोण अलग अलग होता है किन्तु यदि वे सब कहीं एक प्रतिमान पा सकते हैं तो उसे दृष्टि मे रखकर के कह रहा हूं कि शुद्ध काव्य

१ हिन्दी साहित्य, पृ ४५१

कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से 'रत्नाकर' का साहित्य— विशेषतः 'उद्धव शतक'–विश्व साहित्य की सर्वप्रथम एवं सर्वोच्च श्रेणी में आयेगा और हिन्दी का यह एक कृष्ण-वर्ण सेवक सैकड़ों गोरी चमड़ी वाले कवियों के आगे–आगे चलने का अधिकारी होगा-हा, दृष्टि निरपेक्ष अवश्य हो (विश्व–सुन्दरी की प्रतियोगिता के पारखियों–जैसी न हो !) । 'रत्नाकर' का साहित्य आधुनिक युग की रचना है । निश्चित है कि यह शक्ति और सामर्थ्य इसी आत्मस्वरूप के खोज की साधना मे लगने के परिणामस्वरूप मिली है ।

अध्याय-१२

जीवन, दृष्टिकोण और संस्कृति

हमारी जीवनी शक्ति—संस्कृति का सीमा प्रान्त मात्र प्रभावित परन्तु उसका भी भयानक बाह्य प्रभाव—फिर भी हम अजेय—हमारा शत्रु विकृत अंगरेज—एक मात्र धर्मदृष्टि बची—उत्थान की प्रक्रिया—सबका पुनरुत्थान—नई व्याख्या—पुराने लोग भी बदले—पुनर्जागरण का शुभ प्रभाव—समन्वय—आधुनिक युग मे भी आधुनिक नहीं—देहात का जीवन—शहर का जीवन—मध्य वर्ग—इस वर्ग मे परिवर्तन—अंगरेजी राज्य मे भारत का जीवन—एक सामान्य दृष्टि—विचित्रताओं से भरा हुआ भारत और उसका दृष्टिकोण।

जीवन, दृष्टिकोण और संस्कृति

हमारी जीवनी शक्ति--

काल के अनन्त प्रवाह में भारतवर्ष ने-विशेषतः हिन्दी प्रदेश ने-विषम परिस्थितियों एवं प्रतिकूलताओं के अनेक आघात सहे हैं। हमारी जीवनी शक्ति की परीक्षा भी होती चलती है और साथ ही साथ शक्तियां हमको जीवन सत्व के तत्व भी प्रदान करती जाती हैं। वे असंख्य ऋषि मुनि (जिनके आज हम नाम भी नहीं जानते किन्तु जिनकी साधना क्षमताओं ने हमें अनन्त जीवनी शक्ति सम्पन्न तत्व दिये हैं), वेद, उपनिषद् गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराण, शास्त्र स्मृतियां, मनु, बुद्ध, पाणिनि, कौटिल्य, आदि आज भी हमारे जीवन को सक्रिय रूप से प्रभावित कर रहे हैं। 'फिराक', आदि कुछ विकृत मस्तिष्क वाले लाख कहें कि जो कुछ भारतीय है वह सब निकृष्ट है किन्तु इनके बकने से कुछ होता नहीं। भारतीय जीवन उपर्युक्त तीर्थ-स्थानों एवं पवित्र क्षेत्रों वाली भागीरथी से ही जीवन पाकर स्फूर्त एवं सक्रिय होता रहा है और हो रहा है और इसी कारण विवश भारत को सांस्कृतिक उपनिवेश बनाने की इच्छा रखने वालों की, स्वार्थी मूर्खों की एवं मानसिक विकृतियों की तृप्ति की इच्छा रखने वालों की कुचेष्टायें कभी पूरी नहीं होने पाईं। भारत एक अनोखा देश है। आक्रामक आये हैं, जीता है तथा राक्षसी उद्देश्यों एवं पाशविक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर क्रूरता पूर्वक हमें शताब्दियों तक झकझोरा है और इन सबके बावजूद भी भारत की जीवन धारा अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रही है। इतिहास के सम्पूर्ण युगों में भारत ने उसी प्रकार का जीवन बिताया है जिस प्रकार की रूपरेखा उसने प्रागैतिहासिक युग में बनाई थी। यह भारत की गतिहीनता का द्योतक नहीं, भारत की दूरदर्शिता, कल्पना-शक्ति और उसकी योजना की शक्तियों की प्राणवत्ता का द्योतक है। भारतवर्ष ने झुकना जाना है, टूटना नहीं, और बहुत दिनों तक सहते-सहते आखिर में वह जीत भी जाता है। भारतवर्ष पर दो आक्रमण बहुत ही शक्तिशाली हुए। पहला था आठवीं शताब्दी में इस्लाम का और दूसरा, १८ वीं शताब्दी में ईसाइयत का। ये दोनों आक्रमण द्विमुखी थे। आक्रमण की तलवार की एक धार राजनीति-क्षेत्र सम्बन्धी थी और दूसरी, धर्म-क्षेत्र सम्बन्धी। दोनों में से पहली कुछ

समय के लिये सफल हो गई थी परन्तु दूसरी की सफलता के दर्शन के लिये घनघोर आशावादियो को अभी अनन्त काल तक की प्रतीक्षा करनी पडेगी। आक्रमको ने यदि भारत को अपने रग मे रँगना चाहा तो इस दृष्टि से उनका कोई दोष न था कि उन्होंने यूरोप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया और एशिया के अनेक देशो की अपनी संस्कृतियो के पुराने रूप को सर्वथा नष्ट कर दिया था, गलती केवल यह हुई कि वे भारतीय संस्कृति के अमृत तत्व को पहचान नही पाये थे।

संस्कृति का सीमा प्रान्त मात्र प्रभावित परन्तु उसका भी भयानक बाह्य प्रभाव—

आक्रामक संस्कृतिया भारतीय संस्कृति के सीमा प्रान्त मात्र को छू सकी। धूल-भरे मजबूत वस्त्र पर पडने वाला डडा जैसे उसकी गर्द को ही उडाने मे समर्थ होता है वैसा ही कुछ यहाँ भी हुआ। उत्तरी भारत के कुछ भाग और दक्षिणी भारत की कुछ रियासते-और वहा भी शहरो और राज्यो से सम्बन्धित कुछ वर्ग विशेष ही इस्लामी संस्कृति से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे। साधारण जनता के सास्कृतिक जीवन को यह संस्कृति प्रभावित नही कर पाई थी। देश की लगभग ८५ प्रतिशत जनता अपनी उसी परम्परागत संस्कृत के प्रभावो मे पलती रही जो सारे देश मे एक-से हैं। देश के दो भाग हुए.—(१) राज्य से सम्बन्धित नागरिक, और (२) सामान्य जनता। पहले की रीढ़ की हड्डी मे घुन लग गया था। पाश्चात्य संस्कृति जब भारत मे आई तो उसका पहला जबरदस्त आक्रमण इसी पहले वर्ग वालो पर हुआ। घुन लगा ही था। रक्षा की सर्व प्रथम पंक्ति—सिंह-द्वार टूट गया। सेना सेनापति-विहीन हो गई। एक-एक करके राजा हारते गये और प्रजा कसाई के हाथ मे पडे मेमने की तरह जिबह होती गई। वे जीतते गये और ज्यो ज्यो जीतते गये त्यो-त्यो हारने वालो की चेतना और उनके जीवन को शासन-शृङ्खला से बाधते गये। अलग-अलग प्रान्त बन गये। प्रान्त-निर्माण की इस प्रक्रिया के पीछे कोई भी सास्कृतिक दृष्टिकोण नहीं था। इसमे हमको विभाजित करने की कूटनीति मात्र थी। हम हार गये। हम झुक गये। सदैव के लिये नही तब तक के लिए जब तक कि हम फिर सर उठाने के योग्य न हो जाएँ।

फिर भी हम अजेय—

अखाडे मे कुश्ती होती है तो गिरने वाला पहलवान हारने ही वाला नही होता। गिरते-गिरते वह प्राय यह सोचने लगता है कि कैसे करें कि हम 'चित्त'-न होने पाएँ। कभी-कभी पहले गिरने या नीचे हो जाने वाला जीत-भी जाता है। हिन्दू जाति दंगलो मे जमीन पर पहले आ जाती है परन्तु 'चित्त' आज तक कभी नहीं

हुई। यह विचित्र बात है कि १८५७ ई० हमारी अंगरेजों की पराधीनता का वर्ष है परन्तु अपने उद्धार का उपाय —पुनर्जागरण की हलचल—हमने १८२० ई० के ही आस पास से प्रारम्भ कर दी थी। गिरने के पहले पहलवान समझ गया था कि हम गिरने वाले हैं और बचने के उपाय के लिये उसकी अन्तर्चेतना सक्रिय हो उठी थी।

हमारा शत्रु विकृत अंगरेज—

ध्यान देने की एक बात और है। थोड़ा आगे पीछे भारत में दो इंगलैंड आये। इंगलैंड या पाश्चात्य सभ्यता के भारत में आने समय यदि भारत सामान्य जनता तथा उच्चवर्ग के लोगों में—इन दो वर्गों में—विभक्त था तो भारत में आने वाला इंगलैंड भी विभक्त था। एक का प्रतिनिधित्व हेस्टिंग्ज, क्लाइव, डलहौजी, ने किया और दूसरे का बर्क, शेली मिल, आदि ने। इस्लाम विभक्त होकर नहीं आया था, यूरोप सदा विभक्त होकर आया। यूरोप या इंगलैंड को भारत में अप्रिय बनाने वाला वर्ग वही पहला था। वे और इनके द्वारा नियुक्त अंगरेज अफसरों की एक झांकी जवाहरलाल नेहरू ने बड़ी कुशलता से उपस्थित की है।[1] अंगरेज भारत में अपने को एक विजयी सेना का सैनिक समझता था। अंगरेज और भारतीय। प्रत्येक दूसरे से डरता था और उससे अलग होकर आजादी की सांस लेता था। स्वाभाविकता पूर्वक घूमता था। प्रसन्न होता था। दो नस्लें थी, दो संस्कृतियां थी? भारतवर्ष में अंगरेजी राज्य ने अंगरेजी और भारतीयों—दोनों के बीच एक सरकारी वर्ग (अफसरों या साहबों वाला वर्ग) पैदा कर लिया। यह वर्ग जड़ बुद्धि, मूढ़ और सकुचित मस्तिष्क वाला होता था। वास्तविक भारतीय यदि वास्तविक अंगरेज से मिलता तो शायद ऐसा अनुभव न होता। भारतीय अंगरेज दफ्तर में काम करता था तथा फाइलों में गड़ा रहता था और जब निकलता था तो सीधे क्लबों में घुस जाता था जहां व्हिस्की, उत्तेजक तस्वीरों वाले अखबार और भद्दे—भोंडे मजाक, आदि का वातावरण रहता था। वहाँ से लौटता था तो या तो खाना सोना या फिर चापलूसों से घिरे रहना पड़ता था। यह जीवन श्रम—विहीन और उच्चताओं से रहित होता था। परिणामतः धीरे-धीरे ह्रास प्रारम्भ हो जाता था। परिस्थितियों का परिहास यह है कि अंगरेज इस पतन के लिए भारत की जलवायु को दोष देता था, और भारतीय, अंगरेजों के स्वभाव को। इस प्रकार, "ब्रिटिश जाति का भारतीय संस्कृति से परिचय विद्वान और विचारशील प्रतिनिधियों के द्वारा नहीं हुआ था प्रत्युत भारतीयता से उनका परिचय राजनीतिक क्षेत्र के बीच हुआ था और राजनीतिक क्षेत्र में

१—'आटोबायग्राफी', पृष्ठ २७ से २६ तक

दोनो ओर ऐसे व्यक्ति थे जिनका चरित्र ऐसा न था जिसके प्रति श्रद्धा होती।''[1] यही कारण है कि दो शताब्दियो के सम्पर्क के बावजूद भी अंगरेज भारतीय जीवन दृष्टिकोण, प्रवृत्ति तथा आशाओ एव आकंक्षाओं का समझ नही पाया और शायद इसीलिए हिन्दी को एक भी उच्चकोटि का अंगरेज साहित्यिक प्राप्त न हो सका। भारत ने तो फिर भी अंगरेजी साहित्य को टैगोर, सरोजिनी, गान्धी, नेहरू राधाकृष्णन, आदि दिये किन्तु अनुदारता, दकियानूसीपन, रूढिवादिता, अहंकार एव हीनता की ग्रन्थि मे ग्रस्त इगलैंड ने हम एक भी साहित्यिक नही दिया। इसके विपरीत, उन्होंने जो दिया उसका परिणाम यह हुआ कि भारत को मानसिक दासता, निराशा और उसकी प्रतिक्रिया के स्वरूप मुक्ति की छटपटाहट मिली। अस्तु, आधुनिक हिन्दी साहित्य के कलाकारो की विशेषताए हुई जीवन और जगत के बाह्य और आन्तरिक रहस्यो को समझने की मार्मिक व्याकुलता और निराशा एव उपेक्षा के आघात से उत्पन्न प्रचण्ड गतिशीलता। सम्भवत इतिहास मे पहली बार भारतीय मस्तिष्क एव प्रतिभा का सन्तुलन बिगड गया। पहली बार हममे से बहुत इतने अध पतित हो गये कि उन्हे अंगरेजों का राजनीतिक दासता सुखकर लगने लगी। गिजडे को तीलिया प्यारी लगीं। आक्रामक की-सैयादकी सभ्यता और सस्कृति अच्छी लगने लगी। उनकी भाषा और उनके साहित्य के हम गुलाम हो गये। भारत, भारतीय और भारतीयता हमे चुभने लगो। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा कि हम —'हैं भारतीय, परन्तु हम बनते विदेशी सब कही।'[2] अपना उपहास हम स्वय भी करने लगे। 'भाई, इन्डियन टाइम से आए हैं —कहने में हमे तनिक भी क्षोभ नही होता था। व्यावहारिक, बुद्धिवादिता, बुद्धिमानी, समझदारी यथार्थ दृष्टि, स्वाभाविक कमजोरी मजबूरियों, तथ्यों, युक्तियुक्तता, उदाहरण कार्य-कारण शृङ्खला, जाति-गत कमजोरी ऐतिहासिक कमजोरी दार्शनिक कमजोरी, भौगोलिक कारण, मानवीय मजबूरियो और कमजोरियो, भाषा एव साहित्य-सम्बन्धी उदारता, भारत की सास्कृतिक उदारता भारत की सास्कृतिक प्रकृति हठधर्मी, जबरदस्ती, आदि हजारो तर्क कुतर्क, वितर्क एव मन, वचन तथा कर्म से हम अपनी अंगरेज भक्ति अंगरेजो के प्रति होने वाली तारीफ चापलूसी तथा उनकी खितमतगारी और अंगरेजियत-प्रियता या मानसिक गुलामी का समर्थन या बचाव करने लगे। भौतिकवाद की लहरें भारतीय अध्यात्मवाद के किनारो से टकराने लगी। लगा कि हमारे सभी आदर्श और सिद्धान्त बह जायेंगे। धर्म और बौद्धिकता की टकराहटें हुईं। इस टकराहट के परिणामस्वरूप

१ 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृष्ठ २५
२ 'भारत भारती', पृष्ठ १५१

हुये पाश्चात्य सभ्यता भी दोषपूर्ण लगने लगी। हम विचित्र सन्देहों और आशंकाओं से भरे एक चौराहे पर खड़े हो गये। धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं ने जो विधि निषेध निर्धारित किये थे वे निरर्थक हो चले। नवीन नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएं अभी स्थापित नहीं हो पायी थीं। अस्तु व्यवहार में आने वाला धर्म वास्तविक जीवन से अलग हो गया। बौद्धिकता या हेतुवाद हल्का और छिछला लगा। पुरानी सभ्यता अनुपयुक्त लगी तथा पश्चात्य सभ्यता अयोग्य, अपर्याप्त एवं असमर्थ।

एकमात्र धर्म दृष्टि बची—

सब कुछ खो देने पर भी भारत के कुछ महाप्राण व्यक्तियों ने धर्म–दृष्टि नहीं खोई थी और अनुभूतिशील हृदय को जड़ पाहन नहीं बनने दिया था। ईसाइयों की हिन्दुत्व–विरोधी सरगर्मियों ने हिन्दू विचारकों को अपने वेद–उपनिषद्–गीता–आदि को फिर से उलटने के लिए बाध्य कर दिया क्योंकि धर्म हिन्दुत्व का मर्म स्थान है। यहां उसके प्राण रहते हैं। हिन्दू जाति का सबकुछ छीन लीजिए, नष्ट कर दीजिये, बदल दीजिए और वह शान्त रहेगा, उसके धर्म पर चोट कीजिए, वह आपको कभी क्षमा नहीं कर सकेगा क्योंकि तब वह तिलमिला उठेगा। नव–सांस्कृतिक पुनरुत्थान रूपी भगीरथी का ब्रह्म कमण्डल या गङ्गोत्री यही है।

उत्थान की प्रक्रिया—

इसी धर्म के कारण हम असाधारण गर्व से फिर सिर उठाने लगे। हम यह भी अनुभव करने लगे कि हमारा यह विरोधी हमसे कहीं छोटा है। तब यूरोपवासियों का हमारे साथ होने वाला व्यवहार हमें खलने लगा। हमें अनुभव होने लगा कि दुनिया वाले हमें कितनी ओछी निगाह से देखते हैं। इसका अनुभव बाहर पढ़ने के लिए गये हुए एवं अहर व्यवसाय के लिए गये हुए भारतीयों को विशेष रूप से हुआ। रंग और नस्ल के पक्षपात का भी अनुभव हुआ। इसका कारण यह भी मालूम हुआ कि हम विदेशी जाति के आधीन हैं। हमारी राजनीतिक जागृति का भी युग आया। पुरानी और पुराने ढंग की खेती को भी हमने अपनी हीनता और असमर्थता का कारण समझा। सामाजिक कुरीतियों पर भी दृष्टि गयी। दूसरे देशों में होने वाली नई–नई खोजों और आविष्कारों की ओर भी हमारी दृष्टि गयी और इस प्रकार हमने इस क्षेत्र की भी अपनी असमर्थताएं एवं अक्षमताएं देखीं। निद्रा, आलस्य, निष्क्रियता, आदि का युग खतम होने को आ गया। नया युग आता हुआ दिखाई पड़ा। यूरोपीय पण्डितों ने संस्कृत साहित्य का अन्वेषण, उद्घाटन, अध्ययन और मनन किया तथा उसके महत्व को स्वीकार किया। हमारी आँखें खुलीं। पुनर्जागरण की शक्तियां

क्रियाशील हो चलीं। भारत काफी सो चुका था और उसी प्रकार काफी खो भी चुका था। धीरे-धीरे किन्तु सुनिश्चित रूप से उसका आलस्य टूटा। उनकी पुराणप्रियता भी नयी परिस्थितियों से समझौता करने लगी। जनता तक ये प्रवृत्तियां पहुँचीं। गांधी युग मे भारत के सभी वर्गों की जनता नेहरू से निरहू तक-एक बारगी जो राजनैतिक कर्मक्षेत्र मे खुलकर कूद पड़ी, वह पागलो का या भावावेश-जन्य सहसा उठाया हुआ कदम नहीं था। उसके पीछे बरसो से नवजागरण को ये सांस्कृतिक प्रवृत्तियां काम कर रही थीं। अनन्त सम्भावनाओ को अपने मे सन्निहित किये हुए एक नवीन शक्ति का भारतीय जीवन मे उदय हुआ। १८८३ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती की मृत्यु हुई थी और १८८५ ई० मे भारतेन्दु की। स्वामी जी ने ३० वर्ष कार्य किया और भारतेन्दु ने २१ वर्ष। फिर इन दोनो आत्माओ ने अपने-अपने क्षेत्र म ऐसी सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न कर दी कि समस्त प्रदेश उससे आप्लावित हो उठा शास्त्र बोध और बौद्धिक सजगता पुन आ गयी। धर्म रह गया तो एक-एक करके सभी लौट आने लगे। यह भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही है कि इस घोर वैज्ञानिकता एवं बौद्धिकता प्रधान युग मे भी भारतीय नवजागरण का उदय धार्मिक आन्दोलनों मे हुआ। राजनीतिक नेताओ का भारत की धार्मिक परम्परा स गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। तिलक गान्धी, अरविन्द, काकोरी केस के अनेक शहीद, आदि धार्मिक मनोभावो एवं स्वभावों वाले थे। इधर भारतीय जनता भी धर्म, धर्म के संस्थापकों एवं उन्नायकों के स्वरूपों को तथा धार्मिक भाषा और शैली को ही खूब समझती थी। अस्तु, हमारा पुनर्जागरण धर्म से सम्बन्धित हो गया। पारस्परिक क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ ने हमको अपने मूल तत्वो की खोज की ओर प्रवृत्त कर दिया। धर्म को भी उसके बाह्य रूप से अलग करके आन्तरिक सत्य की ओर ले जाने लगा। पुनर्जागरण आत्मोत्थान का आन्दोलन बन गया। इससे हमको हमारा इतिहास मिला।

सबका पुनरुत्थान—

धर्म की काया पलट हुई। समाज-सुधार होने लगे। भग्नावशेषों के रूप मे प्राचीन वैभव सामने आने लगा। हमें हमारा प्राचीन दिखाई पड़ने लगा और उस प्राचीन पर होने वाले गौरव एवं अभिमान की भावनाएँ भी हमारे अन्दर जगीं। हिन्दू धर्म वैसा ही सस्फूर्त और सशक्त हो गया वैसा पहले किसी भी युग मे रहा हो सकता है। अब उसके लिए कोई भी भय नहीं रह गया। विदेशों से सम्पर्क बैठा। भविष्य की नवीन महत्वाकांक्षाएँ हममें पैदा हुई। हम महान और कल्याणकारी कल्पना करने लायक हो गये। नये विचार और नये भाव मिले। धर्म को विवेक

मिला। विश्वास को न्याय और युक्ति मिली। अन्धविश्वासों प० विज्ञान का प्रकाश पड़ा। आलस्य प्रगति में परिवर्तित हुआ। निराशा, उदासीनता पस्ती एवं कर्मविहीन निर्वाचन आवेगपूर्ण सुधार कार्यों में बदल गया। बी० एन० लुनिया ने लिखा है, ···· भारतीय पुनर्जागरण भारतीय सांस्कृतिक जीवन की नवीन यौवनावस्था है जिसने बिना प्राचीन सिद्धान्तों के तोड़े नवीन वेशभूषा धारण कर ली है। प्राचीन भारतीय संस्कृति ने ही वह मूलाधार प्रदान किया है जिस पर वर्तमान नवाभ्युत्थानी भारत ने अपना भव्य भवन निर्मित किया है। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण प्रमुखतः एक भावना का विषय है जिसने राष्ट्र के विकास की माग के साथ-साथ धर्म समाज और संस्कृति में विलक्षण परिवर्तन कर दिये हैं। एक नवीन आत्मजागृति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है। भारतीय आत्मा की कली विकसित हो रही है और भारत वर्तमान काल और भूत काल के विदेशी वातावरण द्वारा उत्पन्न बेड़ियों को तोड़ रहा है—इस पुनर्जागरण ने भारतीय आत्मा को उसकी गहराई तक हिला दिया है—(इसने)—राष्ट्रीय जीवन के लगभग समस्त क्षेत्रों को प्रभावित किया—यह तो पुन जागृत राष्ट्रीय भावना-द्वारा आत्म-अभिव्यक्ति की नवीन सृजनात्मक अन्तःप्रेरणा की खोज करने का प्रयास है जिसने विश्व पुनर्निर्माण के हेतु नवीन आध्यात्मिक बल दिया ··· ·· ··।"[1] हमारा चिन्तन सूक्ष्म भी हो चला और व्यापक भी। हम विशुद्ध सत्ता के विषय में भी सोचने लगे और विश्व सत्ता के विषय में भी। हमने मन, मनोविज्ञान और आत्मा की बातें भी सोचीं तथा इतिहास जीवन समाज और राजनीति की भी। अरविन्द ने लिखा, अतः हमारे सामने दो सत्य हैं—एक विशुद्ध सत्ता और द्वितीय विश्व सत्ता— सा.। का सत्य और जाति का सत्य। किसी एक को अस्वीकार करना आसान है किन्तु सच्ची और फलवती योग्यता तो चेतना के सत्यों को समझने और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उद्घाटन करने में है।[2] नैतिक उत्थान की ओर भी हमारा ध्यान गया और पतन तथा दानवीय वृत्तियां हमको चुभने लगीं। जे०बी० कृपलानी का यह कथन है कि कांग्रेस ने देश का विभाजन इसलिए स्वीकार किया कि यदि हम इस प्रकार एक दूसरे से बदला लेने के लिए वार करते रहे तो अन्त में हम नरभक्षी राक्षस या उनसे भी ज्यादा पतित हो जायेंगे।[3] इस प्रकार नैतिक उत्थान की चाह ने हमें

---

१ 'भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास', पृष्ठ ४३०, ४३१

२ 'डिवाइन लाइफ' प्रथम भाग, ११६

३ पट्टाभि सीतारामैया कृत कांग्रेस का इतिहास' से उद्धृत

हानि उठा लेने की शक्ति दी। इसी पुनरुत्थान की पृष्ठभूमि में हमारा जीवन-दृष्टि-कोण बदला और टैगोर ने १६०४ ई० मे लिखा कि आज हम समझ गये हैं कि कहीं दूर जा कर अपने को छिपा लेना आत्मरक्षा नहीं है बल्कि अपने को सुरक्षित रखने का सही रास्ता है अपने अन्दर निहित शक्तियों को जागरुक कर लेना।[१] बीसवी सदी की हमारी समस्त क्रियाशीलताएँ अपने अन्दर निहित शक्तियों को जागरूक करने के लिए ही थी। वेश्याओं के नृत्य का विरोध करके हमने अपने सामाजिक मनोविनोद या मनोरंजन को विशुद्ध करना चाहा। वैदिक शिक्षा, गुरुकुल प्रणाली, बेसिक शिक्षा, राष्ट्रीय-शाला, शान्तिनिकेतन आदि के द्वारा हमने शिक्षा-शक्ति को जागरुक और प्रभाव-शाली बनाना चाहा। नारी-शिक्षा, नारी-स्वतन्त्रता, पर्दे का विरोध, बाल-विवाह का विरोध और विधवा-विवाह के समर्थक आदि के द्वारा नारी-शक्ति को जागरुक करके पुनरुत्थान द्वारा समाज की उन्नति का प्रयत्न किया। अन्धविश्वास एव धार्मिक रूढियों के विरोध द्वारा धर्म को शुद्ध एव जागरुक किया। सामाजिक रूढियों समुद्र-यात्रा-निषेध आदि के विरोध द्वारा सामाजिक शक्ति को जागरुक किया। अछूतोद्धार और शुद्धि आदोलनो के द्वारा जाति को सगठित करना चाहा।

नई व्याख्या—

इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखकर हमे बातो को नये ढंग से समझना पडा। पुराने लोग हर उस व्यक्ति को नास्तिक कहते थे जो किसी प्रचलित रूढि का खडन या उल्लघन करता था। नयी जीवन-गति मे इनका उल्लघन अनिवार्य था। इस लिए आवश्यकता पडी कि नयी-नयी व्याख्याएँ की जाएँ ताकि व्यक्ति बहिष्कृत हो कर विघटित न हो जाय या पराया न हो जाय। इस दृष्टि से भगवान दास की 'समन्वय' नामक तथा साने गुरु जी की 'भारतीय सस्कृति' नामक पुस्तकें बहुत ही महत्व-पूर्ण है। देश की आवश्यकता, अपनी साधना और अपनी सूझ के अनुसार गान्धी ने भी मूल्यों, मान्यताओ एव धारणाओ को बदला है। प्यारेलाल द्वारा लिखित 'दि लास्ट फेज' और दादा धर्माधिकारी द्वारा लिखित 'सर्वोदय दर्शन' में इस तरह की नवीन व्याख्याएँ प्रचुर सख्या मे मिलती हैं। दादा धर्माधिकारी लिखते हैं, 'आज लोक-सत्ता सन्दर्भ मे, आस्तिक वह है जिसका मनुष्य की मूलभूत सत्प्रवृत्ति मे विश्वास है, जो यह मानता है कि मनुष्य मूलत सत्प्रवृत्त है और परिस्थिति जन्य

१ 'टुवर्डस यूनीवर्सल मैन', पृष्ठ ६५

विकारो से ही वह दुष्ट होता है।[1] गान्धी जी की व्याख्या के अनुसार स्वदेशी 'हमारे अन्दर की वह भावना है जो सुदूर स्थित वातावरण की उपेक्षा करा के हमें आ। निकटवर्ती वातावरण की सेवा और उसके उपयोगी की ही ओर सीमित कर देती है।[2] दादा धर्माधिकारी इस स्वदेशी को 'स्वावलम्बन एव परस्परावलम्बन' मानते हैं। जो लोग सुधारको तथा सुधारक सस्थाओं के प्रभाव मे आए वे पूरी तरह से बदल गये।

पुराने लोग भी बदले—

उनके अतिरिक्त जो चेतन या ज्ञात रूप मे पुराने को ही मानने वाले थे उनमे भी परिवर्तन हुए। उनके विचारो की जडता मे कमी हुई। उन्होने 'नयी हवा' या 'जमाने के रुख' के अनुसार या तो रूढियो को बदला या उनकी नयी एव वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। चोटी इसलिए रखनी चाहिए कि उसके पास खाल के नीचे 'मस्तिष्क' होता है और चोटी मे तेल लगता है तो दिमाग को तरावट मिलती है। यज्ञोपवीत हमारे तीन कर्तव्यो की याद दिलाने के लिए है। खडाऊँ से पैर के अँगूठे के पास की एक नस दबती है और इससे कामोत्तेजना दबती है। इस तरह की अनेक बातें कही गयी। इसी क्रम मे पौराणिक कथाओं एव उपाख्यानो को भी तर्कसगत रूप मे उपस्थित किया जाने लगा। देवी-देवताओ के स्वरूप की भी ऐसी ही वैज्ञानिक व्याख्याएँ उपस्थित की गयीं। इनका एक मात्र उद्देश्य अपनी सस्कृति और सभ्यता को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझना और अपने वास्तविक महत्व को पहचान कर आत्मगौरव की प्राप्ति करके आगे भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होना था। परिणामत रूढिवाद आपादमस्तक हिल गया।

पुनर्जागरण के शुभ प्रभाव —

इस पुनर्जागरण का एक प्रभाव तो यह हुआ कि हमारी कमियों एव दोषों का निराकरण होने लगा और हम कुछ उदार मनोवृत्ति के हो गये और दूसरा परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य सभ्यता और अँगरेजी का रोब हमारे ऊपर से हटने लगा। रोब तो हटा किन्तु चूँकि हम घृणा किसी से नही करते और सब की अच्छाइयों पर विश्वास करते हैं एव मधुप-वृत्ति वाले हैं अतएव हमने पश्चिम के भी समस्त ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन किया। विवेकानन्द अँगरेजी के उद्भट विद्वान एव यूरोप के तार्किकों एव दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। हर्बर्ट स्पेन्सर, स्टुअ

१- 'सर्वोदय दर्शन', पृष्ठ १८६

२- 'दि लास्ट फेज' २, पृष्ठ ५४८

मिल, शैली, वर्ड्सवर्थ, कान्ट, हीगेल, रूसो आदि का वे अध्ययन कर चुके थे। स्वामी रामतीर्थ गणित, सृष्टि शास्त्र, रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, तत्व ज्ञान, उत्क्रान्ति शास्त्र, शंकर, कणाद, कपिल, गौतम, पतञ्जलि, जैमिनि, व्यास, कांट, हीगल, गेटे, फिक्थ, स्पिनोजा, वयाट, स्पेन्सर, डार्विन, हैकेल, टिंडाल, हक्सले, जार्डन, जेम्स, आदि पढ चुके थे। सादी, हाफिज, रूमी, तबरेज आदि का भी उनका अध्ययन था। 'आटोबायग्राफी' पढने से पता लगता है कि जवाहर लाल नेहरू ने थियासोफी, जगन बुक एण्ड किम, स्काट डिकेन्स थैकरे, वेल्स, पाइथागोरस, ट्रेविलियन्स गैरीबाल्डी बुक्स, टाउन्सेन्ड का 'एशिया एण्ड यूरोप' आदि का गम्भीर अध्ययन किया था। गान्धी ने साल्ट की 'अन्नाहार की हिमायत', हावर्ड विलियम्स की 'आहारनीति वेल का 'स्टैंडर्ड एवोल्यूनिस्ट', एडविन आर्नल्ड की 'गीता', मैडम ब्लैवट्स्की की 'की टु थियासोफी', टालस्टाय का 'बैकुण्ठ तेरे हृदय मे है', रस्किन का 'अन्टू दिस लास्ट', कार्लाइल की 'विभूतियां और विभूतिपूजा', न्यू टेस्टामेंट, बाइबिल, आदि का भी गम्भीरतापूर्वक मनन किया था। हिन्दी के समाचार पत्र और पत्रिकाओं का भी यही लक्ष्य था कि हिन्दी के पाठक पूर्वी और पश्चिमी ज्ञान-कोष से पूर्णरूपेण परिचित हो जाएं। विषयो की विविधता से स्पष्ट है कि 'सरस्वती' के संस्थापक और सम्पादक ज्ञानवर्द्धक साहित्यिक पत्रिका बनाना चाहते थे। वे प्राचीन और अर्वाचीन पर समान बल देते थे।[1] सम्भवत यह स्याद्वादी मनोवृत्ति थी कि इस अर्द्ध-शताब्दी भर हम अंगरेज से लडे लेकिन हमने यह माना, 'अंगरेज स्वभाव से अच्छा होता है। वह किसी की बुराई करना नहीं चाहता ....स्थिति को पूरी तरह समझने मे उसे कुछ देर लगती है पर जब वह चीजो को साफ-साफ देख लेता है तो अपना कर्तव्य करने से नही चूकता।'[2] परिणाम यह हुआ कि कुछ हमारे पास था और कुछ हमे बाहर से मिल गया। आध्यात्म हमारा अपना था ही, भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ पश्चिम से मिलीं' हृदयवाद हमारे पास था, बुद्धिवाद वहा से मिल गया, निवृत्ति हमारे पास रह गयी थी, प्रवृत्ति की ओर फिर रुचि जाग्रत हुई, हस्तकलाएं हमारे पास थी ही, मशीनें हमें पश्चिम से मिल गयी, आदि। प्राचीन व्यवस्थाएं टूट गयी किन्तु उनसे बना मन नहीं टूटा, नई व्यवस्थाएं लाद दी गयी, किन्तु वे मनोविज्ञान न बना पायी।

समन्वय—

भारत की यह नवीन पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था अंगरेजों की भारत-विजय का

१, 'सरस्वती' का हीरक जयन्ती विशेषांक, पृ. ७

२ मोतीलाल नेहरू जन्म शताब्दी स्मृति ग्रन्थ, पृ. १२३

परिणाम है। इस प्रकार भारतीय अर्थ व्यवस्था मे अंगरेजी पूंजीवाद व्यापार, उद्योग और पूंजी–तीनों प्रकार से घुस आया। भारतीय पूंजीवाद की प्रकृति, स्वरूप और विस्तार अभारतीयों द्वारा निश्चित किया गया। जिस समय यह कार्य हुआ उस समय का अंगरेजी राज्य और भारत मे उसके प्रतिनिधि सोलहों आने सामन्तवादी ढाँचे के थे। उनके द्वारा भारत मे सामन्तवादी प्रवृत्तियाँ ही–और वे भी पराधीनता से पूर्ण, अभिशाप होकर–भारत मे फैली, और जब तक यह हुआ तब तक इंगलैंड पूंजीवादी देश हो गया। हम पराधीन थे ही, स्वस्थ एवं स्वाभाविक विकास या परिवर्तन सम्भव था नही। परिणाम यह हुआ कि हम सामन्तवादों के सामन्तवादी ही रह गये। सामन्तवाद से पूंजीवाद अधिक सुगठित एवं शक्तिशाली लगता है और अंगरेज हमसे अच्छा लगने लगा। इसीलिये जहा एक भी अंगरेज ने भारत मे इंगलैंड की एक बार भी हानि नही की, वहा विकृत भारतीयों की देशकृतघ्नता की एक अटूट शृङ्खला है। जो आविष्कार अंगरेज भारत मे लाये उनसे जीवन का कुछ रूप आधुनिक सा भी लगने लगा। अब पुरातन प्रवृत्ति और आधुनिकता, सामन्तवादी, पूंजीवादी और अध्यात्मवादी प्रवृत्तियों, आदि मे समन्वय स्थापित करने की समस्या बीसवी सदी के भारत के सामने उपस्थित हो गई। वीरा मिचलस ने स्वीकार किया है कि भारत के पास एक अनोखी चीज है नये विचारों को पुराने साचे में ढाल लेना और विजेताओं को भी इस प्रकार पालतू-जैसा बना लेना कि वे उसके इतिहास की प्रवहमान प्रक्रियाओं के एक अङ्ग मात्र हो जाय। इसी चीज ने उसे आज के आपाद-मस्तक झकझोर देने वाले परिवर्तनों के युग मे भी–जब कि रूस, चीन, अरब, जापान, मिस्र आदि देश इन परिवर्तनों से हिल गये हैं और उनकी अपनी संस्कृतियां चिथड़े-चिथड़े हो रही हैं–पूरी तरह से सभाल रखा है।'[1] यह भारत ही है जहा आज की बीसवीं शताब्दी मे भी जानवरों और पेड़ पौधों को सचमुच मानवीय व्यक्तित्व और मानवीय भावनायें प्रदान की जाती हैं, ज्योतिषियों से यात्रा, आदि के बारे मे शकुन पूछा जाता है और इसके साथ-साथ मशीनों का उपयोग, विज्ञान पर विचार विनिमय और युक्तिवाद के आधार पर विचार विमर्श किया जाता है यहा ऐटमिक रीऐक्टर, सूर्य-ताप-प्रयोग वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा गो पूजा नाग पूजा एवं सरित पूजा साथ-साथ चलती है। यहा ग्रहों की पूजा होती है। यहां सूर्य को जल और पितरों को तर्पण किया जाता है। यहा मशीनों की पूजा होती है। गगा को माता भी माना जाता है। यहा मध्ययुगीन और नवीन प्रवृत्तियों का गठबन्धन होता है। बीमारियो

१—'न्यू पैटर्न आफ डेमोक्रैसी', पृष्ठ ८३

के विशेषज्ञ भी आते हैं और ओभाओ की झाड फूक तथा मृत्युन्जय का जाप एक साथ होता है। ऐसा समाज धर्म और आस्थाशून्य नही हो सकता। भारत विज्ञान और धर्म की विवाह वेदी है यहा एक विचार-समष्टि की छाया को दूसरे विचार-समष्टि की छाया अपने मे समा लेती है। यहा विभाजक रेखा सगम क्षेत्र बन जाती है। यहा मध्ययुगीन प्रवृत्तियो वाले, एक दो नही, पाच सौ आठ राजा एक ही रात मे सामन्त से बुर्जुआ बन गये। समस्त यूरोप आज तक एक राष्ट्रीयता की भावना में आबद्ध न हो पाया और चौदह विभिन्न भाषाओ वाला, अनेक जातियो वाला एव अनेक रीति रिवाजो वाला भारत देखते देखते एक राष्ट्र बन गया। चौदह और पन्द्रह अगस्त के बीच मात्र के समय मे संसार का सबसे बडा उपनिवेश ससार का सबसे बडा प्रजातन्त्र हो गया। यहा हृदय और मस्तिष्क पूर्व और पश्चिम, पुरातन और नवीन गले मिल रहे हैं। अद्भुत दृश्य है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी अद्भुत दृश्य की साहित्यिक अभिव्यजना है। उसमे सामन्ती और मध्य युगीन प्रवृत्तिया भी हैं और नवीन प्रजातन्त्रवादी एव साम्यवादी प्रवृत्तिया भी। बाबू सम्पूर्णानन्द एक समाजवादी के रूप मे प्रसिद्ध हैं। भारत की एक प्रमुख उपलब्धि—योग के विषय मे उनका कथन है, मेरी ऐसी धारणा है कि योगाभ्यास ही उपासना का सच्चा मार्ग है। और किसी उपाय से वांछित फल नहीं प्राप्त हो सकता। यह कहना गलत है कि आजकल का मनुष्य इसका अधिकारी नही है। समाजवाद पाश्चात्य उपलब्धि है और योग भारतीय। इस प्रकार हमारे विचारक पूर्व और पश्चिम का समन्वय कर रहे है।[१] यहा रस शकर शुक्ल 'रसाल' भी हैं और 'अज्ञेय' भी, मैथिलीशरण गुप्त भी हैं और सुमित्रानन्दन पन्त भी। आज हिन्दी मे कई पीढियो और प्रवृत्तियो के लेखक हैं। मैथिलीशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, आदि एक पीढी के हैं, पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा, आदि दूसरी पीढी के। माखनलाल चतुर्वेदी, 'बच्चन', 'दिनकर', 'नीरज', आदि की अपनी-अपनी प्रवृत्ति है 'अज्ञेय' यशपाल, 'पहाडी', नागार्जुन, आदि का अपना दृष्टिकोण है, 'अचल', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, आदि अपने ढग से चल रहे हैं और धर्मवीर भारती, आदि प्रयोगवादियो का अपना दृष्टिकोण है। सस्कृति से मिली सामाजिक प्रकृति के कारण हिन्दी सबको स्नेह दुलार से अपनाये हुए है।

आधुनिक युग मे भी आधुनिक नही—

इस सास्कृतिक पुनर्जागरण का यह प्रभाव पडा कि यद्यपि आधुनिकता हमारे

१—'कुछ स्मृतिया और कुछ विचार', पृष्ठ २५

पास लाई गई किन्तु हम आधुनिक नहीं हो पाये। हम आधुनिकता का स्वांग मात्र भरते हैं। हमारे अन्दर अब भी रोमांटिक प्रवृत्तियां भरी पड़ी हैं। रोमांटिसिज्म का जीवन और विकास इस भावना पर भी आधारित है कि जो बीत गया है वह बहुत अच्छा है। उसके बिना उन्नति, सुख और समृद्धि की कल्पना मात्र कल्पना है। आधुनिक प्रवृत्ति इससे बिलकुल भिन्न है। जी० जी० जुंग ने लिखा है, "आधुनिक व्यक्ति वह है जिसका निर्माण अभी अभी हुआ है और आधुनिक समस्या वह है जिसका उदय अभी-अभी हुआ है किन्तु जिसका समाधान भविष्य में है ...... "केवल वही आधुनिक है जो वर्तमान के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है ..... इस प्रकार वह पूर्ण रूप से अनतिहासिक हो गया है। उसका उन मनुष्यों से वृहत् समाज से कोई भी सम्बन्ध नहीं जो रीतियों रिवाजों की शृङ्खलाओं में पूरी तरह जकड़े रहकर जीवित रहते हैं ....आधुनिक व्यक्ति ने मध्ययुगीन मानव की सम्पूर्ण आध्यात्मिक मान्यताओं और विश्वासों को खो दिया है और उनके स्थान पर भौतिक सुरक्षा के, सबके कल्याण के, दयालुता एवं परोपकारिता के सिद्धान्तों को अपनाया है"[1] स्पष्ट हुआ कि आधुनिकता काल सापेक्ष नहीं है। यह बात नहीं है कि जो कल था उसकी अपेक्षा जो आज है वही आधुनिक है। वस्तुतः आधुनिकता जीवन की एक दृष्टि है। आधुनिक व्यक्ति के सोचने-समझने, रहने-सहने, विश्वासों और धारणाओं, आदि की दृष्टि उसके पहले के युगों के व्यक्ति की दृष्टि से बिलकुल बदल गई है। इतिहास की गति विधि के प्रति जागरूक रहकर उसकी गति को तीव्रतर बनाना और उसके साथ चलना आधुनिकता है। हम अपने सांस्कृतिक नवजागरण की प्रवृत्तियों के कारण सही मानों में आधुनिक नहीं बन सके। आधुनिक होने का ढिंढोरा मात्र पीटते हैं। ढिंढोरा पीटने वाले लोगों की उम्र नई है। उनमें तारुण्य का उन्माद है। स्फूर्ति है। अधैर्य है। असंयम और उच्छृङ्खलता है। उनमें साहस है पर सहिष्णुता नहीं है। उनके पास प्रचार के साधन हैं पर साधना का बल नहीं है। नये पन की सर्वग्राही चाह है किन्तु भारत के असली जीवन की झांकी नहीं है। उनके कथन में आकर्षण है किन्तु ईमानदारी नहीं। उनके पास तर्क बल और बुद्धिबल है किन्तु भारत के व्यापक जीवन का अनुभव नहीं। और, भारत का वास्तविक जीवन है कैसा?

देहात का जीवन—

भारत का जीवन मूलतः दो भागों में बंटा है—(१) देहात का जीवन, और (२) शहर का जीवन। भारत के गांवों का अतीत बड़ा ही शानदार था। सर चार्ल्स

१—'माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सौल', पृष्ठ २२६, २२७, २२८, २३५

मेटकाफ ने उन्हें अपने मे पूर्ण तथा विदेशी आक्रमणों से या सम्बन्धों से परम स्वतन्त्र, लघुतम गणराज्य कहा है। पुराने ढग की खेती, हाथ से बने सामान और पशु के आधार पर ये गाव आत्मनिर्भर थे। जमीन गाव कमेटी या पचायत की होती थी। परिवार के सदस्यों की सामूहिक खेती होती थी। जमीन पर कृषक-परिवार का परम्परागत अधिकार होता था जमीन राजा की नहीं होती थी। एक कमाता था, बहुत खाते थे। कृषक-परिवार की कमाई मे राजा का भी एक भाग होता था। परिणामत. वहाँ जमीन के लिये कभी झगडे ही नही होते थे। वहा सब सबके लिये पैदा करते थे। किसान सबके लिये अनाज पैदा करता था, मोची सबके लिये जूते बनाता था और बुनकर सबके लिये कपडे बनाते थे। चीजो की अदला-बदली करली जाती थी वे बेची नहीं जाती थीं। सम्भवत. इसीलिये आधुनिक युग के सबमे अधिक अनर्थकारी तत्त्व-सिक्के-उस समय नही थे। औजार जीवित रखने के साधन थे और इसीलिये उनकी पूजा होती थी। सामान्यत व्यक्ति का व्यवसाय निश्चित हो जाता था। शादी या तीर्थयात्रा के अतिरिक्त बाहर जाने की आवश्यकता भी नही पडती थी। ये चित्र धुंधले रूप मे अब भी 'बच्च देहात' मे देखने को मिल सकते हैं। अंगरेजो ने इन देहातों का सारा नक्शा ही बदल दिया। जो जमीन उस क्षेत्र विशेष के भी राजा की नहीं थी उसे कलम के एक झटके से सात समुन्दर पार के विदेशी राजा ने अपनी मानली। किसानों और ग्राम-पचायतों के जिस अधिकार को किसी ने भी चुनौती नहीं दी थी उसको पूरी तरह व्यापारी साम्राज्यवाद ने क्रूरता पूर्वक छीन लिया। देहात में समाज के आठ वर्ग हैं —१—अंगरेजों के द्वारा बनाये गये जमीदार, २—वे जमीदार जो देहात मे कभी-कभी आते हैं और खेती नहीं करते-कराते, ३—इस दूसरे प्रकार के जमीदारों की जमीन को लगान पर जोतने-बोने वाले किसान, ४—उच्च, मध्य और निम्न स्तरों के काश्तकार, ५—खेतों में काम करने वाले मजूर, ६ बढई, लोहार, मोची, जुलाहे, आदि, ७—छोटे-मोटे दुकानदार, और ८—साहूकार-महाजन। देहात का वास्तविक जीवन उपर्युक्त पहले, दूसरे और चौथे प्रकार के प्रथम वर्ग के लोगों मे नहीं पाया जाता। इनका देहात और देहात के जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ये देहात में भी यथासम्भव शहर का एक घर बना लेते हैं। अधिकतर इनका जीवन शहर अथवा शहर के वातावरण में बीतता है। देहात में इनका कार्य रुपया वसूलना मात्र होता है। इन लोगों ने जनता को बहुत दुखी किया है। उनको पशु-सा बना दिया है। शरीर छोडकर आज के विकसित मानव का कोई-भी चिन्ह इनमे नहीं मिलता। इनका जीवन जितना दयनीय, इनका

मन उससे भी अधिक दयनीय ! जैसे इन्ही दयनीय लोगों को ध्यान मे रखकर महादेवी ने लिखा —

वे निर्धन के दीपक-सी
बुझती-सी मूक-व्यथाएँ
प्राणों की चित्रपटी मे
आंकी-सी करुण कथाएँ ।[1]

ये जमींदार 'माई-बाप' और 'सरकार' बन कर भगवान बन गये और आज तक लोग इनकी पूजा करते हैं। उनको इनके ऊँचे स्तर से नीचे उतारने और इनकी जमीदारी ले लेने वाली कांग्रेस सरकार को ये ही दयनीय मानवेतर कोसते और गालियां देते हुए सुने गये हैं। इन्होने लोगो को अनपढ, काहिल, लालची, आलसी, अन्धविश्वासी एव कुत्ता बना दिया। इन्होने लोगो को निर्धन बना दिया। इनकी 'प्रजा' भले मानव-जीवन का अनुभव पीढी-दर पीढी नही कर पाती थी। इनकी प्रजा का आर्थिक और भौतिक जीवन स्तर पिछड़ेपन की आखिरी सीमा पर था। 'फूल' को अपने अज्ञात या ज्ञात मन मे प्रतीक मानकर जैसे महादेवी ने सान्त्वना दी —

मत व्यथित हो फूल ! किसको सुख दिया ससार ने
स्वार्थमय सबको बनाया है यहा करतार ने।[2]

किन्तु यह वर्ग भी चुप न रह सका। भली जिन्दगी की चाह ने इन्हे अनजाने ही राष्ट्रीय बना दिया। राजा उत्तानपाद की गोद की चाह ने जैसे बालक को 'ध्रुव' बना दिया हो ! प्रेमचन्द का 'होरी' यही है। मध्य और निम्न श्रेणियो के भूमिपतियो की भी अवस्था कुछ विशेष अच्छी नही थी। लगान की अधिकता, खेतो का छोटा होना, भूमि के टुकडे होते रहना और लगातार बढने वाले-ऋण, आदि के कारण इस वर्ग का प्राय विघटन ही होता रहा। ये लोग प्राय तबाह हो गये हैं। इस वर्ग के लोग बढते-बढते 'मालिक' और घटते-घटते मजूर' या मुशी हो गये हैं। ये किसान भारत के वास्तविक प्रतीक हैं। ये किसान प्राय रूढिवादी, मजदूरो की अपेक्षा अधिक शान्त, व्यक्तिवादी, इधर-उधर बिखरे हुए, सास्कृतिक दृष्टि से पिछडे, सुस्त, एकरस, शहर से प्राय दूर भाग्यवादी, धर्मभीरु, लज्जाशील, आस्तिक, सन्तोषी, भीरु और पस्त तबियत के होते हैं। ये ही हमारे भारत के हलधर या हलपति हैं। इनका मस्तिष्क अविकसित रह गया है। ये वैज्ञानिकता-शून्य हैं। इनके भौतिक उत्थान एव निर्माण का शिल्प

1-यामा, पृष्ठ ८७
2-वही पृष्ठ ३०

सामान्य रम है। बाहरी दुनिया इनके लिये कुछ है ही नहीं। जीवन सदैव आशंकाओं और आपत्तियों से घिरा रहता है। धार्मिक रूढ़ियों के पालन और प्रकृति-पूजा में इनकी आस्था है। ये पराजित मनोवृत्ति के हैं। परम्पराओं के दास हैं। इनका दृष्टिकोण सीमित और संकुचित है। रूढ़ियों और रीतियों के सहारे इनका जीवन परिचालित होता है। रामलीला, नाटक-नौटंकी, कथा-वार्ता, पूजा-पाठ इनके सांस्कृतिक कार्यक्रम हैं। ताया जिनकिन ने लिखा है कि हमारे ये देहात गन्दे हो सकते हैं किन्तु यहां के लोग बहुत साफ होते हैं।[१] प्रतिदिन स्नान, धोती का प्रतिदिन धोया जाना, चूल्हे-चौके और बर्तन की दोनों समय सफाई आदि बातें उनकी स्वच्छता एवं पवित्रता-प्रियता की सूचक हैं। शताब्दियों से भी अधिक काल तक धर्म और नीति की शिक्षा से वंचित होने पर भी उनमें कुछ बातें असाधारण महत्व की हैं। यहां का कोई भी प्राणी अवांछित एकाकित, सम्बन्ध एवं सम्बन्धी-विहीन नहीं होता। वह महत्व की ऊष्मा से अनुप्रेरित तथा अपनत्व की प्रेरणा से अनुप्राणित रहता है। वह मां-बाप, भाई-बहन, रिश्तेदारों-पट्टीदारों पड़ोसियों, गांव-जेंवार, समाज एवं अपनी धरती माता का होता है। उसको चाहने वाले होते हैं, वह अनचाहा नहीं होता। जिसका अपना कोई भी नहीं होता, उसका भी कोई न कोई हो ही जाता है। लोग लड़कर भी एक हो कर रहते हैं। देहात में उम्र और अनुभव की बहुत इज्जत होती है। अपने परिवार के अन्दर सबका अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। आर्थिक और सामाजिक महत्व का पूर्ण रूप से तिरस्कार किये बिना भी उम्र और रिश्ते की बड़ाई-छोटाई का भी ध्यान रखा जाता है। अपने से बड़े सम्बन्धी और 'मान' का मान रक्खा जाता है भले ही वह असाधारण रूप से निर्धन ही हो! आदर पद और धन से स्वतन्त्र है। आज भी देहात में बड़ी आयु की भगिन के लिये 'भगिन चाची', और इसी प्रकार 'कहार दादा, 'कोरिन दादी', आदि सम्बोधन सुने जा जा सकते हैं। धन और शिक्षा का भी अपनी-अपनी जगह आदर किया जाता है। अदब और कायदे से रहने वाले की बात बड़े भी बड़े आदर से सुनते हैं। सामाजिक मामलों में बिरादरी और पंचायत का निर्णय एवं मान्यता असंदिग्ध है। गांव अपना गांव, घर अपना घर, खेत अपने खेत और आदमी अपने आदमी होते हैं। एक गांव का रिश्तेदार सारे गांव का रिश्तेदार और गांव की लड़की सारे गांव की लड़की होती है। अभी भी लड़की वाले गांव का कोई भी आदमी, वर वाले गांव के किसी भी आदमी से वैसे ही हँसी-मजाक करता है मानो अपने सगे रिश्तेदार से हँसी-मजाक कर रहा हो। गांव के आदमी को जभी अवसर मिलता है तभी वह अपनेपन

१-'इंडिया चेंजेज', पृ. ८

जाते हैं उन पर लगभग १२ व्यक्तियो या घरानो का अधिकार है। आज के युग की समस्त आकर्षक और भड़कीली वस्तुए, समस्त सुख और सुविधाए सारे अधिकार और स्वत्व, दान और दया, धर्म और पुन्य, और साथ-ही-साथ, सारी कूटनीतिया और छलनाए, सारी विकृतिया और व्याधिया, मानस और मानसशास्त्र की सारी कुरूपताए और विद्रूपताए, अनीति और अत्याचार एव क्रूरताए और विभीषिकाए इनके यहा मौजूद है। ये धर्मराज भी हैं और यमराज भी, इनके बाहर स्वर्ग है, भीतर नरक। आज के इस अर्थप्रधान युग मे देश का सास्कृतिक, बौद्धिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन पर भी इन्ही का प्रभाव है। उच्चकोटि की सभी पत्र-पत्रिकाए, सभी प्रकाशन-सस्थाए इन्ही के अधिकार मे हैं। कला कलाकार, कलाकृतिया, उनका प्रकाशन और प्रचार, आदि सब इनकी दयादृष्टि के भिखारी हैं। सरस्वती पहले राजा की दासी थी, अब लक्ष्मीपति की दासी हो गयी है। सम्भवत इसीलिए आपादमस्तक झकझोर देने वाला एव मौलिक रूप से क्रान्ति की आग धधका सकने वाला साहित्य हिन्दी मे नहीं है। सामान्य जनता के व्यापक प्रतिनिधित्व की प्रचुरता के अभाव का भी यही मौलिक कारण है तथा उदारता एव प्रगतिशीलता पूँजीवादी राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण का भी यही कारण है। साम्यवादी जीवन-दृष्टि ने अभी ऊपरी धरातल को ही थोडा-बहुत हिलाया है।

छोटे-मोटे व्यापारियो और दूकानदारों का कोई विशेष महत्वपूर्ण योग नही ये बेचारे एक जगह से सामान खरीदकर अपने स्थान पर ले जाकर यथासम्भव अधिक मुनाफा लेकर दूसरो के हाथ बेच देत हैं। पूँजीपतियो को तुलना मे ये 'बेचारे' हैं बेपारी' हैं और गरीबो की दृष्टि में 'साहुजी', 'सेठजी' या 'मालिक'। अर्थप्रधान युग मे अधिक अर्थसचय या अर्थसग्रह के लिये घूस देना और लेना चुङ्गी बचाना, अधिक दाम लेना, अनीति और बेईमानी, आदि सब कुछ इनके द्वारा सम्भव है। इनका लक्ष्य होता है लखपति या करोडपति बनना, पतला पहनना, तर माल खाना और पुरोहितो-अफसरो-वैद्यो डाक्टरो से मित्रता बनाये रखना। पहले वर्ग की तरह यह वर्ग भी आत्मविहीन जड और विकृत बुद्धि द्वारा प्रेरित होता है। इनके यहा दूकान की गद्दी या तिजोरी वाली दीवाल पर 'लाभ-शुभ' और 'श्री लक्ष्मी जी सदा सहाय' मोटो के रूप मे बराबर अङ्कित रहता है। लोग कहते हैं कि युद्ध और प्रेम के क्षेत्रो मे सब कुछ ठीक अथवा सही होता है। ये भाई इस सूची मे 'व्यापार' को भी सम्मिलित किये हैं। इनका नैतिक स्तर प्राय अत्यन्त दयनीय होता है। ये धार्मिक रूढियों और परम्पराओं का पालन करते हैं और 'पडितजी महाराज' तथा 'पुजारी जी महाराज' की बडी 'सरधा' करते हैं। 'धर्मादा' के रूप मे ये भी 'दया-धर्म-पुन्न' करते हैं क्योकि

इनके आदर्श रूप प्रथम वर्ग के लोग तीर्थ स्थानो में धर्मशालाएँ बनवाते है, मन्दिरो का पुनरुद्धार कराते हैं, नये भव्य विशाल मन्दिर बनवाते हैं, स्कूलों, कालेजो और पाठशालाओ को उपकृत करते हैं, पब्लिक स्कूल, विद्यालय, महाविद्यालय और स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आदि खुलवाते हैं। अब ये चन्दा भी देने लगे हैं लेकिन बहुत सोच समझकर। पहले ये भाई रुपये गाढते थे, अब बैंको मे रखने लगे हैं, पहले रोकड बही चलती थी और अब (चलती तो रोकड बही भी है पर उसके साथ-साथ) 'लेजर' रसीद बुक और नये ढग से एकाउन्ट भी चलने लगे हैं। साहित्य पर इनका कोई-भी प्रभाव नही पड़ा। साहित्य ये पढते भी नही—नई पढाई इनके लिये निरर्थक भी है—उसकी जगह 'माया', 'मनोहर कहानियां', जासूसी उपन्यास (जो रेलवे के व्हीलर स्टाल पर सुलभ हैं) पढते है। अब बाजार का भाव जानने के लिये ये दैनिक समाचार पत्र भी खरीदने लगे हैं। चीन के आक्रमण के समय एक दिन एम री जी भी मेरे सामने नेहरु जी की युद्ध नीति सम्बन्धी अयोग्यता और असमर्थता सिद्ध कर रहे थे।

शहरो मे रहने वालों का तीसरा वर्ग। इनकी दुर्गति के बारे मे जो कुछ भी कहा जाय, कम है। यह वर्ग इतना अधिक ऋणी रहता है कि वह ऋण तीन महीनो की पूरी की पूरी मजदूरी से भी नही चुकाया जा सकता। पाच-पाच और छ-छ वर्षो की आयु तक के बच्चे मजदूरी करते देखे गये हैं। आवास-समस्या का यह हाल है कि मजदूरी करने वालो के सामान्य परिवारो को रहने के लिए एक-एक कमरे भी नही मिल पाते। बम्बई मे कभी-कभी तो एक एक कमरे में १० से लेकर १६ आदमी तक रहते हुए पाये गये हैं। बम्बई की जनता का तेरह प्रतिशत भाग सडकों के पार्श्व मे स्थित पगडडियो पर रातें बिताता है। पूरी-की-पूरी जिन्दगी गुजार देता है। सफाई की तरफ से जो लापरवाही बरती आ रही मे वह अवसर सडते हुए कूडे के ढेरों और मैले से भरे गड्ढों के रूप मे स्पष्ट है।[१] शौचालयो के अभाव मे हवा मे और मिट्टी मे गन्दगी बढ जाती है। मकान के नाम पर एक कोठरी, जिसकी न तो कोई नींव, न खिडकी, न हवा के आने-जाने की पर्याप्त व्यवस्था, दरवाजा इतना नीचा कि बिना झुके प्रवेश असम्भव, पर्दा करने के लिये मिट्टी के तेल के पुराने टिनो की दीवार और उस पर पुराना बोरा, प्रकाश का प्रवेश भी बडी कठिनाई के बाद। इन्हीं घरो मे प्रजनन, जीवन, विवाह, सास-ससुर और पुत्र-पुत्रवधू के दाम्पत्य जीवन। यौवन की दुर्दम उमगों को निर्लज्जता की शरण लेनी पडती है।। लाज और शर्म के सौन्दर्य और उसके अस्तित्व का गला घुट जाता है। पशु सा बनना पडता है। दो-दो सौ

१– व्हिटले कमीशन की रिपोर्ट', पृष्ठ २७१

दो वर्ग के लोग रहते थे (१) प्रशासनाधिकारी वर्ग, (२) व्यापारी वर्ग, (३)कारीगर, आदि। मध्यवर्ग नाम की कोई चीज नहीं थी। पहले और दूसरे वर्ग के लोग प्राय सम्पन्न होते थे। और शेष, अच्छे-भले खाते-पीते लोग थे। इन शहरों में हाथ की कारीगरी का नमूना दिखाई पड़ा करता था। विचित्रताओं से पूर्ण बारीक कारीगरी का प्रचार था। विलास के लिए, वैभव-प्रदर्शन के लिए और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चीजें बनाई जाती थीं। बनाने म असाधारण परिश्रम और कुशलता की आवश्यकता थी। वस्तुएँ मध्यतम और कलात्मक होती थीं। कारीगर स्वतन्त्र रूप से भी काम करते थे और राज्य द्वारा नियत मजदूरी पर भी। सामान्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति सामान्य कारीगर करते थे। राजनीतिक दृष्टि से सामन्तशाही की गुलामी थी। गावों की अपेक्षा ये शहर अपेक्षाकृत अधिक गतिशील, सक्रिय, सजीव, समृद्ध एव उन्नतिशील थे। बाहरी दुनिया के सम्पर्क मे रहते थे। दूसरे देशों से सम्पर्क भी था। कुछ अधिक विलसित थे। जीवन में विविधता, विचित्रता, कौतूहल, आश्चर्य उत्तेजना और सनसनी अधिक थी। अच्छी और कलात्मक वस्तुओं के ग्राहक और संरक्षक यहां अधिक थे अत वे यहां बनाई भी अधिक जाती थीं। आदर्शवादी एव आध्यात्मिक दर्शन, धार्मिकों का अनुशासन तथा रूढ़ियों एव परम्पराओं का पालन अधिक होता था। यह संस्कृति मूलत और तत्वत धार्मिक थी।

अंगरेजों ने भारतीय नगरों का भी रूप बदल दिया। कारीगरी और कला-कौशल समाप्त कर दिया। इंगलैंड की बनी वस्तुएँ खुले और निर्बाध रूप से भारत में आने लगीं। भारत की बनी वस्तुओं के इंगलैंड जाने पर बहुत अधिक कर बढ़ा दिये गये। तैयार माल की जगह कच्चा माल भारत से अधिक मँगवाया गया। वस्तुओं के यातायात का व्यय और उनकी चुंगी की दर बढ़ा दी गई। भारत म अंग रेज व्यापारियों को विशेष सुविधाएँ दी जाने लगीं। रेलें चला दी गयीं। भारतीय कारीगरों को अपने राज-रहस्य बताने के लिए विवश किया गया। प्रदर्शिनियों मे अंगरेजी माल को अधिक आकर्षक रूप मे उपस्थित किया गया। इन सबके परिणाम-स्वरूप भारतीय नगरों की कला-कारीगरी चौपट हो गयी। कारीगरों का सामाजिक महत्व घट गया। यूरोपीय फैशन के अनुकरण ने तथा यूरोप से आने वाली सस्ती वस्तुओं ने भारतीय कारीगरी का बाजार और संरक्षण समाप्त कर दिया। शहर वाले कारीगरी की जगह नौकरी और नौकरी मे भी सरकारी नौकरी को अधिक आदर देने लगे। हिन्दी के सम्पूर्ण कथा-साहित्य मे आधुनिक युग के चित्रकार, दर्जी, बर्तन बनाने वाले कुम्हार खिलौने बनाने वाले, आदि अनेक ऐसे वर्ग वालों का सम्भ्रान्त एव गौरवमय रूप में चित्रण कहीं भी न मिलेगा। इन नगरों मे समाज के निम्नलिखित

वर्ग के लोग पाए जाते हैं —(१) पूंजीपति, उद्योगपति, व्यापारपति, आदि, (२)छोटे व्यापारी और दूकानदार, (३) छोटे-मोटे नौकर और मजदूर, और (४) व्यावसायिक वर्ग, जैसे-डाक्टर, वकील, अध्यापक, लेखक, मैनेजर आदि। इसमे मध्यवर्ग के बुद्धिवादी और शिक्षित लोग होते हैं।

पहला वर्ग ही आधुनिक भारतीय बुर्जुआ है। इसका उदय उद्योग, व्यापार और बैंको, आदि के प्रचार के तथा कुछ उद्योगो के-थोडे-बहुत औद्योगीक ए के—साथ साथ हुआ है। १६०५ ई० तक यह औद्योगिक वर्ग पर्याप्त रूप से सशक्त और जागरूक हो गया था। इसकी उन्नति अंगरेजी साम्राज्यवाद के उद्देश्यों की पूर्ति मे बाधक होती और अंगरेजी साम्राज्यवाद की उन्नति इसकी अधोगति की सहढता थी। अंगरेज किसी भी सच्चे भारतीय को सम्पन्न न देख सकता था और न उसका आदर कर सकता था और सच्चा भारतीय अंगरेजों के द्वारा सतत किये जाने वाले अपमानो और उन्नति के रास्ते मे डाली जाने वाली रुकावटो से क्षुब्ध होने लगा था। हितों मे टकराहट हो गई थी। यही से राष्ट्रीयत का उदय हुआ। भारत के राष्ट्रीय उद्योगों का सरक्षण, विकासशील उद्योगों को सरकारी सहायता की प्राप्ति, उच्चतम नौकरियो की प्राप्ति और उसकी प्राप्ति के लिये सुविधाओं की प्राप्ति, पद और प्रशासन में भाग पाने की सुविधा, आदि बीसवीं सदी के प्रथम दशक से ही ये लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में आने लगे थे स्वदेशी के समथन और विदेशो के बहिष्कार मे इन्होंने पर्याप्त उत्साह से भाग लिया क्योंकि इससे अन्ततोगत्वा लाभ इन्ही का था। १६१६—२० ई० के बाद काँग्रेस मे इन्हीं लोगो का महत्त्व और प्रभुत्व बढा। खद्दर से इन्हे कोई डर नही था क्योकि ये खद्दर की कमजोरियो को पहचानते थे। इनमें से कुछ ने पहना खद्दर और उत्पादन किया मिल के कपडो का! वर्ग-सघर्ष के विरोध, ट्रस्टीशिप, आदि के सिद्धान्तो मे इन्होने अपने लाभ को सम्भावना देख ली थी। इन्होंने कांग्रेस का खुले और छिपे, दोनो रूपो में साथ दिया और इसी प्रकार कांग्रेस ने भी इनका साथ दिया। इनके बिना शायद कांग्रेस का अस्तित्व ही अकल्पित हो गया था। बात यह है कि भारत का औद्योगीकरण अभी शहरो मे ही और वह भी कुछ धनपतियो के ही हाथों मे केन्द्रित है। भारत के समस्त आर्थिक जीवन को उद्योगपतियो के कुछेक घराने ही परिचालित और नियंत्रित किये हैं। १६४० ई० मे अशोक मेहता ने लिखा था कि हमारे देश की ५ ० प्रमुख औद्योगिक कम्पनियो को २००० डायरेक्टर चलाते हैं डायरेक्टरो की वास्तविक सख्या ८५० ही है क्योंकि ७० व्यक्ति १००० विभिन्न जगहो के और १० आदमी ३०० जगहो के डायरेक्टर थे। सर पुरुषोत्तमदास ठाकुर दास ६१ व्यापारों के डायरेक्टर थे। इन उद्योगो के लिए जिन बैंको से रुपये लिये

की भावना से भरा हुआ अपने गांव लौटता है क्योंकि यह गांव उसका है यह घर उसका है जब कि शहर उसका नहीं वहाँ का घर उसका अपना घर नहीं। पीढ़ियों के सम्बन्ध का सशक्त प्रभाव और आकर्षण होता है। प्रत्येक परिवार का एक कुल देवता होता है जिसकी विशेष पूजा होती है और जिसका उस परिवार के साथ घरेलू सम्बन्ध होता है। ईश्वर और सामान्य देवता के साथ हमारा सम्बन्ध वस्तुतः बहुत ही अनौपचारिक ढंग का होता है। कोई दुराव नहीं कोई छिपाव नहीं कोई फार्मेलिटी नहीं। व्रत त्यौहार उत्सव और पर्व सैकड़ों की संख्या में होते हैं। तीर्थ-यात्राएं होती हैं। देवताओं की सवारियां निकलती हैं। देहातों की एक विशिष्ट संस्कृति है— अर्थात् कृषि संस्कृति। वहां एक सौन्दर्य है— अर्थात् गरीबी का सौन्दर्य अकृत्रिम सौन्दर्य श्रम का सौन्दर्य प्रकृति का सौन्दर्य। वहां की एक व्यवस्था है— अर्थात् असहायता आपत्ति निधनता श्रम और जीवन की सजीवनी में समन्वय-स्थापना के परिणामस्वरूप उद्भूत व्यवस्था। यह प्रगतिशीलता की विरोधिनी नहीं किन्तु चूंकि दूध की जली बिल्ली मट्ठा भी फूंक-फूंक कर पीती है अतएव यह सतर्क शंकक और साथ ही साथ चिन्तनीय अविवेक है। इस संस्कृति की प्रवृत्ति शताब्दियों के अनुभव से निर्धारित एवं निर्मित हुई है।

अंगरेजों ने भारत में जो भूमि व्यवस्था चलाई उसके कारण भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति हो गयी अर्थात् क्रय-विक्रय की वस्तु। धरती माता का भाव समाप्तप्राय हो चला। गांवों की आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी रुपये का महत्व बढ़ा। एकता खत्म हो गयी। उत्पादन बिक्रयार्थ होने लगा। जमीन धन का साधन हो गयी। उसे रखने और बढ़ाने का लोभ जनमा। मुकद्दमेबाजी बढ़ी। देहात अब एक तन नहीं रह गये। उन पर शहर की ?? और समस्त देश की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ने लगा। प्रेमचन्द ने देहात का जो चित्रण किया है उसमें ये सब प्रवृत्तियां हैं। उनका और राहुल सांकृत्यायन के साहित्य जिस नवीन चेतना से सम्पन्न है उसका दर्शन मध्ययुग में असम्भव था क्योंकि तब के देहात पूर्णतः एकलित थे। अधिक जमीन बटाई पर उठाई जाने लगी दान में दी जाने लगी और लगान पर ??ई जाने लगी। उद्योगों के अभाव में खेती पर दबाव पड़ा। जमीन बटने लगी। उन्नतिशील कृषि कम स्वरूप हो गया और उग्रतम अभिशापों के साथ निर्धनता बढ़ी। बीच-बिचाव करने वालों के कारण अनाज बचत पर भी धन की कमी पूरी नहीं हुई। गरीबी के कारण काम दोषपूर्ण होने लगा और दोषपूर्ण काम के कारण गरीबी बढ़ने लगी। ऋण लेना प्रारम्भ हुआ। लोग साहूकारों और जमींदारों के चंगुल में फंसने लगे। खेती के मालिक कम हो गये। भूमिहीन किसान अधिक हुए।

खेती पर काम करने वाले मजूरों की संख्या बढी। कारिन्दों का महत्व बढा। देहातों मे न पूंजीवाद है, न औद्योगीकरण। आज भी वहां विकृत सामंतवाद है। कारीगरों के नाम पर बढई, लोहार, मोची, छोटे-मोटे सोनार आदि भद्दे एवं कलात्मकता-शून्य व्यवसायी पाए जाने लगे। जिनको रोटी के लाले पडे हैं उनमे कलात्मकता का प्रचार हो भी तो कैसे ! देहात पढे-लिखे आदमियो की रुचियों और आकांक्षाओं की पूर्ति मे असमर्थ है और इसलिए ऐसे लोग वहां नहीं पाए जाते। सरकारी पदाधिकारी — चाहे वे कितने ही छोटे क्यों न हों — वहा सबसे अधिक आदर पाते हैं। कृषि की अधोगति चरम सीमा पर है। अल्पतम साधन, पुराने ढग की खेती, आदि अनेक दोषो के कारण न अच्छे ढग से खेती हो पाती है, न उत्पादन बढ पाता है। खेती के योग्य उपजाऊ जमीन या तो ऊसर पडी। या उस पर झाड-झखाड और जगल खडे हैं। विदेशी सरकार को इसके लिए दर्द भी नही होता था ! होता भी तो क्यो !! जानकारी और सुविधा के अभाव मे कडे के रूप मे गोबर को जला डाला जाता है। अंगरेजी व्यवस्था ने जमीन का मालिक रुपये वालों को बना दिया। जो खेती का अपना होता था वह किसान खेत का मालिक नही रह गया और जिसे खेत की धूल भी नही लगती थी वह उसका पति हो गया ! पतित्व पैसे के बल पर कायम रह सकता था ! अस्तु, जमींदार सीधे-टेढे ढंग से किसान से अधिकाधिक रुपया चाहने और खींचने लगा। उनके बीच का मधुर सम्बन्ध— मानवीय रिश्ता— समाप्त हो गया। जमीन उपेक्षित हो गयी खेती नगण्य हो गयी और किसान को निचोड डाला गया। फिर भी, न पूरा पडा तो जमीन छीन ली गयी। किसान बेदखल हो गया ! पैसे की कमी से इन्सान पीस डाला गया किसान बर्बाद हो गया। ऐसे किसान का जमींदार से लेकर वकील तक सभी अपने-अपने ढग से शोषण करते हैं। प्रेमचन्द ने किसानो की इन सारी स्थितियो का बडा ही मार्मिक चित्रण उपस्थित किया है। जी तोड कर श्रम करने वाला किसान न जीवन से त्राण पा सका, न मरते समय !! भारत के देहात का किसान बर्बादी की आखिरी हद तक पहुंच गया ! अब वहा भी परिवर्तन होने लगे हैं। शिक्षा तथा शहर का सम्पर्क, धन और सुविधा की चाह और प्रबल, दण्ड-विधान के भय से मुक्ति एवं उन्हे न मानने तथा उनसे बचे रह सकने की सुविधा तक इनकी पहुंच, आदि उन्हे बहुत अधिक परिवर्तित कर रही है।

शहर का जीवन—

अंगरेजी राज्य के पूर्व भारत मे प्राय तीन प्रकार के शहर थे—(१) राजनैतिक महत्व के, (२) धार्मिक महत्व के, और (३) व्यापारिक महत्व के। इनमे प्राय:

परिवारों के लिये दो नल, १६ से २० परिवारों के लिये एक-एक शौचालय ! कभी-कभी सार्वजनिक शौचालयों की शरण ! रहने के कमरे दरबों-जैसे ! इतने नीचे कि आदमी ठीक से खड़ा भी न हो सके। कमरे में इतना अन्धेरा कि आखें अन्धेरे की ही अभ्यस्त होकर देखें ! रजनी पामदत्त ने एक ऐसा उदाहरण भी प्रस्तुत किया है जहा १५ फीट लम्बे और १२ फीट चौडे मकान मे ६ परिवार अर्थात् ३० प्राणी थे जिनमे ३ गर्भवती महिलाएं (या मादाएं !) भी थी और जहा रात मे ६-६ चूल्हे जलते थे।[१] अंगरेजो ने अपना माल जो भारत म सस्ते दाम पर खपाना प्रारम्भ किया तो बेचारे कारीगरो ने अपने औजारों से 'राम राम' कर लिया और खाली हाथ श्रीहीन-मुखी श्रम बेचने लगे। श्रमिक बढ़े। श्रम की महत्ता घटी। पैसे का मूल्य बढा। मजदूरो को पैसा कम मिला। परिवार के स्त्री और बच्चे भी मजदूरी करने जाने लगे। इधर देह मेहनत से चूर और जीवन परवशताओ और सीमाओं से मजबूर, और उधर श्रम-विहीन हरामखोरो का पैसे और अधिकार तथा पद और साधनो से सम्पन्न खाली जीवन, यानी शैतान की दुकान-सा मन और रबड की तरह खिचती जाने वाली वासना ! सुन्दर और असुन्दर शरीर बडे और छोटे की वासनाओ की छुरियों से दिन या रात किसी-भी समय और कहीं-भी हलाल किये जाने लगे ! प्रकृति की मगल-कारिणी व्यवस्था एक गिलास पानी जैसी हो गई ! श्रम बिका, श्रमिक बिका, तन बिका, जीवन बिका, कला बिकी, कलाकार बिका, बुद्धि बिकी, बुद्धिमान बिका। द्वितीय महायुद्ध मे यह वर्ग कफन और नमक तक के लिये मोहताज हो गया था। औद्योगिक नगरो की शान-शौकत दूनी हो गई। उजाड और निर्जन सडकों के दोनों ओर भव्यतम इमारतो वाली बाजारें बस गई। वस्तुओं के दाम पाच गुने और छ गुने बढ़े। मजदूरी नहीं बढी। चोरबाजारी खुलकर खेली। इस वर्ग की कमाई हाथ स मुह तक आते-आते समाप्त हो जाती है। श्रम का फल से कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया। सामूहिक और बडे पैमाने की मशीनों वाली उत्पादन-पद्धति मे यह वर्ग सवहारा हो गया है। श्रमिक, श्रम और उसके उत्पादन मे कोई भी आतरिक सम्बन्ध नही रह गया। आज कोई भी एक वस्तु एक मजदूर की बनाई हुई नहीं रहती। जाति और वश की श्रेष्ठता समाप्त हो गई। धर्म का सामाजिक महत्व खत्म हो गया। मूल्य और मान्यतायें बदल गई। रूढिया और प्रथायें बदल गई। विश्वास बदले। परिवार का स्वरूप बदला। नारी मुक्त होने लगी। पैसे की कमी के कारण इस वर्ग के बच्चे अधिक पढ भी नहीं पाते और यदि पढ भी जाय और अच्छी श्रेणी

१-'इंडिया टू-डे', अध्याय ११

मे उत्तीर्ण भी हो जाँय तब भी समाज मे उनके लिये अच्छी जगह बडी ही कठिनाई से मिलती है । मिलने का उपाय इन्ही लोगो की कृपा-दृष्टि प्राप्त करना है । प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण युवक की प्रतिभा इन्टरव्यू रूपी हथौडे से परास्त करके चूर-चूर करदी जाती है । 'डिड नाट इम्प्रेस' एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिसने जाने कितने तपस्वी 'रामो' की 'अयोध्याये' हरली हैं ! इसके विपरीत, चाय की एक प्याली पर, एक पत्र पर, टेलीफोन के सन्देश मात्र पर अच्छे-अच्छे धनपतियो के उन पुत्रो को मिल जातेहैं जिन्हे पढाई के समय कुछ भी कष्ट नही उठाना पडा बल्कि उनकी पढाई का खर्च प्रथम श्रेणी के गरीब छात्रो के जीवन भर की कमाई के कुल धन से भी अधिक होता है । वे तब भी आनन्द करते हैं और अब भी हमे तब भी उनकी दया चाहिये थी और अब भी । उनके वर्ग म प्रवेश पाने के लिये गरीब वर्ग के छात्र को कौन-कौन सी और कितनी कितनी कीमतें नही चुकानी पडती । और फिर भी सही मानों मे प्रवेश क्या कभी हो पाता है ! और अगर हो भी पाता हो तो कितनो का ! उस वर्ग का मूर्ख भी स्वर्ग सुख भोगता है । इस वर्ग का योग्य भी उस वर्ग के मूर्ख के आनन्द सुख का हजारवाँ भाग तक नही पा पाता ! सभवत योग्यता, क्षमता, सुख और समृद्धि म किसी प्रकार का कोई भी सम्बन्ध नही ! मूर्ख धनपति मालिक या मैनेजर हो जाता है । (पैतृक परम्परा से प्राप्त अधिकारो के बल पर), योग्य विद्वान उसका नौकर बनता है—दया पर आश्रित ! इस वर्ग मे कोई कलम का मजूर है और कोई हाथ-पैरो का । कलम के मजूर की आँखो को रात दिन का श्रम गड्ढे मे ढकेल देता है और उस पर टूटी कमानी का चश्मा चढ जाता है, और हाथो-पैरो के मजूर की शरीर शक्ति पर क्षीणता का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है । कमर दोनो की टूट जाती हैं । जीवन दोनो का दयनीय होता है । मानव का अपमान दोनो जगहो पर होता है । चिन्तन-स्वातन्त्र्य और क्रान्तिपूर्ण दृष्टि दोनो मे नही होती । रूढियो, रीतियो, परम्पराओ, अन्धविश्वासो, आदि का पालन दोनो बडी आस्था और निष्ठा से करते हैं । बचपन मे खेलना, मार खाकर पढना, शादी-ब्याह करना, बच्चे पैदा करना, सम्बन्धियो से यथासम्भव व्यवहार बनाये रखना और सबसे निवाह करते चलना, 'मालिक' को खुश रखकर 'तरक्की' और 'बख्शीश' पाना और इसी तरह रहते हुए एक दिन ससार से चले जाना मात्र ही इनका जीवन है । जीवन की छोटी-मोटी आवश्यकताओ एव आकाक्षाओ की पूर्ति म भी ये असमर्थ रहते हैं । इनका जीवन बडा सघर्षशील होता है । ये ऊँची बातो तक पहुँचने ही नही पाते । मजदूर अपेक्षा कृत अधिक जल्दी सगठित हो जाता है । इनका सामाजिक महत्व बहुत होता है यद्यपि बुर्जुआ ने उसको मान्यता दी नही है क्योकि इनसे काम करवाते रहना वह अपना

अधिकार समझता है। दोनों वर्गों का बौद्धिक ह्रास बहुत अधिक हो चुका है। इनमें इतनी भी बौद्धिक जागृति या चेतना नहीं है कि वे स्वयं अपनी बातें कह सकें। १९१८ ई० के बाद ये लोग कुछ संगठित हुए और तब इनका हथियार हुआ हड़ताल। औद्योगीकरण और वर्ग संघर्ष की चेतना थोड़ी-थोड़ी जगने लगी है। इनका राजनीति के क्षेत्र में प्रतिनिधित्व एकाध उच्च वर्गीय और कुछ निम्नवर्गीय लोगों ने किया है। साहित्य में इनका प्रतिनिधित्व व लोग करते हैं निम्न मध्यवर्ग के किन्तु असाधारण कष्ट उठाकर पढ़-लिखकर कुछ सोचने और लिखने लायक हो गये हैं। प्रेमचन्द ऐसों के गौरवपूर्ण शिखर हैं। इनके कष्टों की प्रत्यक्ष अनुभूति जिनको नहीं है ऐसे कलाकारों की रचनायें उच्चकोटि की कलाकृति नहीं बन पातीं।

मध्य वर्ग—

लोहे को लकड़ी काटने के लिये लकड़ी का बेंट बनाना पड़ता है। यदि अंगरेज का लोहा और भारत को लकड़ी मान लिया जाय तो भारत की समृद्धि को काटने और लूटने के लिये कुछ भारतवासियों की आवश्यकता अंगरेजों को पड़ी और अंगरेजों ने अंगरेजी पढ़े लिखे लोगों का एक वर्ग भारत में इसी उद्देश्य से निर्मित कर लिया। यह वर्ग तन से भारतवासी और मन से अंगरेज बन गया। फलस्वरूप यही भारत का मध्यवर्ग हो गया। बी० बी० मिश्र ने भारतीय मध्यवर्ग की सूची कुछ इस प्रकार दी है[1] —

१—थोक व्यापार से सम्बन्धित ऊपर के कुछ बड़े लोगों को छोड़कर व्यापारी कम्पनियों के डायरेक्टरों, सक्रिय साझेदारों, प्रोप्राइटरों, एजेन्टों और दुकानदारों का वर्ग,

२—व्यक्तिगत बैंकों, व्यापारों और माल तैयार करने वाले कारोबारों में नौकरी करने वाले उद्योग-विशेषज्ञ सुपरवाइजर, इन्सपेक्टर और मैनेजर, आदि विभिन्न पदाधिकारी,

३—चेम्बर आफ कामर्स तथा अन्य व्यापारिक संस्थाओं में लेकर राजनीतिक संस्थाओं ट्रेड यूनियनों, जन कल्याणकारी, सांस्कृतिक और शैक्षणिक संगठनों, आदि के बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाने वाले अफसर,

४—असैनिक तथा अन्य प्रकार के नागरिक क्षेत्रों में नौकरी करने वाले लोगों में से सरकार के सचिवों और हाईकोर्ट के न्यायाधिकारियों की हैसियत से ऊपर के लोगों को छोड़कर बाकी सभी लोग (इनमें कृषि, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण,

---

१—'दि इंडियन मिडिल क्लासेज', पृष्ठ १२, १३

परिवहन तथा सूचना विभागो म नौकरी करने वाले भी हैं),

५ – वकील डाक्टर प्रोफेसर और प्राध्यापक उच्च और मध्य श्रेणी के लेखक और पत्रकार सगीतज्ञ तथा अन्य प्रकार के कलाकार तथा धर्मोपदेशक आदि।

६ – बिना कमाई किये हुए मिलने वाली आमदनी या व्यक्तिगत रूप से थोडी-बहुत देखभाल कर लेने से मिलने वाली आमदनी पर जीवन बिताने वाले तथा कथित 'बड आदमी' सम्मिलित कृषि स्वामित्व तथा भूस्वामित्व के अधिकारी, किसी फण्ड से निश्चित आय पाने वाले और लगान देने वाले काश्तकार, जमींदार आदि

७ – अच्छ बडे दुकानदार होटलो के मालिक ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियो के मैनेजर एकाउन्टेन्ट तथा अन्य अफसर, आदि

८ – दहातो म उद्योग या व्यवसाय चलाने वाले वे लोग जिनकी भू सम्पत्ति पर वेतन भोगी मनेजर आदि कर्मचारी काम करते हैं

९ विश्वविद्यालयो या उन्ही के समान स्तर पर उच्चतम शिक्षा मे पूरा समय लगाने वाले शिक्षार्थी,

१० – मनेजर ऊँचे वेतन पाने वाले क्लर्क, आदि, और

११ – माध्यमिक शिक्षा सस्थाओ की उच्चतर कक्षाओं के अध्यापक जिला बोर्डो और म्युनिसिपल बोर्डो के अफसर सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ता आदि।

उपर्युक्त सूची पर एक दृष्टि डालन से यह स्पष्ट विदित हो जायेगा कि भारत के अपने सास्कृतिक विधान-व्यवस्था मे इनका इन रूपो मे कोई अस्तित्व नहीं था। जब यूरोपीय समाज-व्यवस्था भारत म लागू की गई तभी ये अनिवार्य हुए। यह वर्ग भारतीयता के मूल स्रोत से अलग था और इसकी विशेषता हुई अपने धर्म, समाज और सस्कृति से पूर्ण अनभिज्ञता तथा यूरोपीय समाज और सस्कृति की अन्ध भक्ति। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है अंगरेजो ने हिन्दुस्तान में एक नई जमात या जाति पदा कर दी थी और वह थी अंगरेजी पढ़े-लिखो की जमात, जो अपनी निजी दुनिया म रहती थी आम जनता स अलग-अलग थी और जो हमेशा ही – यहा तक कि विरोध के अवसरो पर भी-अपने शासको के मुह की तरफ देखती थी।[1] इस वग का उदय या विकास हमारी सामाजिक प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघात के परिणामस्वरूप या हमारी आवश्यकतानुसार नहीं हुआ था। यह नकलचियो का वग था न कि नये मूल्यो और नई रीतियो का आविष्कार करने वाला। अंगरेजो द्वारा

---

१ 'हिन्दुस्तान की कहानी' पृष्ठ ३७१

विकसित की गई अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसकी कल्पना उठी थी। भारत की शिक्षा की व्यवस्था और आयोजना इन्ही को ध्यान मे रख कर की गई थी। प्रारम्भ मे इनकी सारी प्रवृत्तिया अंगरेजों की प्रारम्भिक कल्पना के अनुसार ही विकसित हुई । अंगरेजों मे इनका अस्तित्व था अतएव ये उन्हीं के भक्त थे। अगरेजी व्यवस्था की प्रकृतिया इनकी जन्म भूमि थी अतएव वे इन्हीं की पोषक भी थी। अगरेजो के चले जाने के बाद भी इनका यह अगरेजी-पद्धति प्रेम समाप्त नहीं हुआ। किसी न किसी रूप मे दिखाई दो पड जाता है – कभी अगरेजी चलाए रहने की कामना के रूप में और कभी अगरेजी वेशभूषा अपनाए रहने के रूप म। यह वग क्रान्ति तो क्या करेगा इसने तमस के प्रतीक काले रग के गाउन तक को दीक्षान्त समारोहों स हटाते नहीं बन सकता। कहा विद्या की सतप्रधान ज्योतिमयी उज्ज्वल कल्पना और कहा विद्याध्ययन की समाप्ति के बाद उसके प्रतीक के रूप मे काले रग के कपडे को अपनाए रहना !! नौकरी इस वर्ग का लक्ष्य हो गया ! सरकारी नौकरी की कामना और सरकार-भक्ति इसकी शोभा हो गई ! सरकारी नौकरी इसकी 'तरक्की थी और अपना 'रोग़ाब' (प्रेसटिज या कन्ट्रोल) बनाये रखना इसका पहला कर्तव्य हो गया। मालिक खुश रहें और इनकी अपनी इज्जत न घटे तो फिर जनता की शिक्षा, उनकी सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक उन्नति हो या न हो, कोई चिन्ता की बात नहीं। यह वर्ग बडो तेजी से बढा बुद्धिमान गरीब छात्र इस वग म आकर अपने खानदान का गौरव बढाने व ला माना जाने लगा। इस प्रकार शहर या यह वर्ग गाव की प्रतिभाए वहा से खींच कर उन्हें अपने मे समाहित करके गाव को प्रतिभा-विहीन करता रहा। यह वर्ग अगरेजो की कृपा और उनकी सभ्यता की सुविधाए भी भोगता रहा और अङ्गरेजो के बाद भारत की निधि का भी आनन्द लूटता रहा क्योंकि आजादी के बाद अगरेज भले ही चले गये हों उनकी व्यवस्था नहीं गई और जब उनकी व्यवस्था नहीं गई तो उस व्यवस्था की उपज और उस व्यवस्था को सफलतापूर्वक चलाते रहने के लिए अनिवार्य यह वर्ग इस वर्ग का महत्व और इस वर्ग की प्रवृत्तिया कैसे जा सकती हैं ? इसने गाव का शोषण किया या यो समझिए कि भारत के शोषण म यह सहयोगी बना। इसीलिए गान्धी जी ने लिखा है 'लेकिन एक सिलसिला बन गया है—१५० वर्षो से भी अधिक समय से-एक शहर है वह देहातियों से पैसे लेने के लिए है देहातों से कच्चा माल ले, देश-विदेशो म व्यापार करे और करोडो रुपए कमाए ' लेकिन करोडो रुपया देहातियो को नहीं मिलेगा, थोडा मिलेगा, ज्यादा रुपया करोडपतियों, धनिको तथा मालिको को मिलेगा शहर देहातियो को चूसने के लिए है।''[१] इस प्रकार अंगरेजी नीति ने भारती

---

१ प्रार्थना प्रवचन, भाग २ पृष्ठ १८८

समाज मे एक 'दोगला मध्यवर्ग' पैदा कर दिया जिसे धूर्जटीप्रसाद मुकर्जी ने 'भद्र लोक' की सुन्दर सज्ञा दी है जो "देश के सामाजिक–आर्थिक विकास मे कोई भी सच्चे ऐतिहासिक महत्व का कार्य नही करता, जो शेष जन-समूह से चार हाथ दूर ही रहता है और व्यावसायिक दृष्टि से भी अपने को सबसे अलग रखता है, इनमे से अधिकाश केवल लगान वसूल करने वाले मात्र हैं। जीवन की सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रो की यथार्थ प्रवृत्तियो से इनका कोई भी परिचय नही है। भारतीय सस्कृति के प्रति इनकी निष्ठा सस्कार और सदाचार से सुधार तक के बीच मरमा करती है। इनमे से बहुत कम लोग सामाजिक दृष्टि से क्रान्तिकारी होते हैं ···भारतीय सस्कृति सम्बन्धी इनकी जानकारी कुछ-भी नही होती··· ··इनकी सामाजिकता जितनी अधिक नगण्य है उतना ही अधिक वे अपनी सस्कृति और सभ्यता, रहन–सहन, बोल-चाल, चाल–ढाल, तौर-तरीके पर अभिमान करते हैं।"[1] सास्कृतिक दृष्टि से ये खोखले होते हैं और सास्कृतिक दृष्टि से ही ये दोगले भी होते हैं। अनेक कारणो से इनमे--से कुछ लोग धर्म और दर्शन की ओर अधिक झुक जाते हैं। इन लोगो ने हमारी स्थिति को नवीन रूप देने मे कोई- भी महत्वपूर्ण कार्य नही किया।

इस वर्ग मे परिवर्तन —

बीसवी शताब्दी के आते--त--आते इस वर्ग के कुछ लोग काफी बदल गये। बात यह है कि यह वर्ग एक प्रकार से गमले का पौधा था। इसकी जड पाश्चात्य सभ्यता या सस्कृति मे भी बहुत गहरी नही थी, इसीलिए अंगरेजो साम्राज्य के अतिशय अत्याचारो ने इस गाय को भी सिर हिलाने के लिए विवश कर दिया। अंगरेजो के व्यवहारो और नस्ल सम्बन्धी पक्षपातो तथा शोषण से छटपटा उठे। बातें इन्हे चुभी। उभार, सास्कृतिक पुनर्जागरण ने इनको एक नई दृष्टि दी। उदार और निष्पक्ष यूरोपवासियो के अध्ययन, खोज एव भारत की प्राचीन महानता सम्बन्धी निष्कर्षों ने भी उन्हें प्रेरणा दी। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा —

> हैं रह गये यद्यपि हमारे गीत आज रहे सहे
> पर दूसरो के वचन भी साक्षी हमारे हो रहे।[2]

परिणामस्वरूप इस नये वर्ग की पुरानी प्रवृत्तियाँ कुछ बदलने लगी। यह जागृत होकर सँभल गया। अपने मौलिक दोषो का पूरी तरह से निराकरण तो नही

---

१ 'माडर्न इन्डियन कल्चर', पृष्ठ २४

२ 'भारत भारती', पृष्ठ ७

न कर सका किन्तु दृष्टिकोण को यथासम्भव राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और प्रगतिशील करके देश के परिवर्तन में यह बहुत सहायक हुआ। आमूल क्रान्ति इसके बस की बात नहीं इसलिये इसने सुधार-मार्ग अपनाया। गान्धी के आदर्शों पर चलकर इस वर्ग ने अपने और जनता के बीच की खाई को भी पाटने का कुछ कार्य किया। बंगभंग के आंदोलन ने इस वर्ग को पहली बार झकझोरा था। इस वर्ग की पश्चिमी सभ्यता की अन्धानुकरण की प्रवृत्ति का सामान्य भारतीय जनता ने यथासम्भव तिरस्कार किया। इस कारण भी यह वर्ग सँभला। यह राष्ट्रीय हो गया। इसीलिये हमारी राष्ट्रीयता का प्रधान प्रकृति थी सुधार, न कि क्रान्ति फिर भी जो वास्तविकता है उसका स्थान अनुकरण नहीं ले सकता। गमले का पौधा असली पौधे से अच्छा नहीं हो सकता। इंगलैंड का मध्यवर्ग समाज का स्वाभाविक परिणाम था, यहाँ का ऐसा नहीं था। यही कारण है कि सांस्कृतिक पुनर्जागरण की उर्वर भूमिका में पल्लवित-पुष्पित होने पर भी भारतीय मध्यवर्ग द्वारा रचित आधुनिक हिन्दी साहित्य इंगलैंड के मध्यवर्ग द्वारा रचित साहित्य में बहुत उत्कृष्ट न हो सका। अपमान और अनादर सहने वाला यह वर्ग छुई-मुई की तरह था। जिसके अन्दर गहराई नहीं है या जिसकी जड़ें मजबूत नहीं हैं, छिछली या हल्की भावुकता उसकी स्वाभाविकता होती है। आधुनिक युग में इस वर्ग ने विवेक-विहीन नैतिकता और हल्की भावुकता की वृद्धि कर दी। जीवन के सभी क्षेत्रों में यह देखी जा सकती है। हमारी राजनीति, धर्म नीति, अर्थनीति, मनोरंजन आदि में हल्की भावुकता भी है। गहराई तक हम सोच ही नहीं पाते और यदि सोचते भी हैं तो उसे व्यवहार में ला नहीं पाते। साहित्य में यही दिखाई पड़ता है। प्रेमचन्द के प्रेमाश्रमों और सेवासदनों के पीछे, रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' के पीछे 'साकेत' की आश्रमवासिनी सीता, और यशोधरा के पीछे इसी हल्की भावुकता का अतिशय है। भारतवर्ष के खोखले मध्यवर्ग की असहाय स्थिति ने हमें बहुत अधिक प्राचीनमुखी कर दिया था। ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के रूप में यह मध्यवर्गीय निराशा-वाद भावुकता बड़े ही गूढ़ रूप में अभिव्यंजित होती है। जैसे सारी क्षमताएँ रखते हुए भी मध्यवर्ग का अन्तर खोखला था वैसे ही सभी प्रकार की शक्तियाँ रखते हुए भी 'प्रसाद' के नाटक-नायिकाएँ 'हाय' 'हाय' करती रहती हैं। समर्थ कलाकार ने शक्ति का हृदय प्रेम से कमजोर कर दिया। यह कमजोरी— यह भावुकता 'प्रसाद' के उस चन्द्रगुप्त में भी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का प्रथम सम्राट है। सम्भवतः नारी उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है। यह मध्यवर्ग आज की बात को किसी सुदूर ऐतिहासिक या प्रागैतिहासिक युग के व्यक्ति से कहलवाता है। मन की गहराई के

किसी कोने में कहीं किसी प्रकार का डर छिपा है जो अपनी बात अपने मुख से नहीं कहने देता, और आज यह बात कहने की नहीं रह गयी है कि यह मध्यवर्ग अंगरेजों से कितना अधिक डरता था ! हमारे समाज का एकमात्र नायक —यह मध्यवर्ग —कुछ उतना फीका, कुछ उतना हतप्रभ, कुछ उतना ही हल्का था जितना 'विराटा की पद्मिनी', 'झांसी की रानी', कचनार', आदि का नायक !! बीसवीं शती के चौथे और पांचवे दशक में इतिहास का यह छद्म कुछ-कुछ उतरने लगा। उपन्यासों के पात्र आधुनिक समाज के होने लगे किन्तु मध्यवर्गीय भावुकता–जनित हल्का रोमांसवाद यहां भी सक्रिय रहा। चाहे यशपाल हों, चाहे नागार्जुन, 'अज्ञेय' हों या लक्ष्मीनारायण मिश्र, हैं तो सभी मध्यवर्ग के ही ! जागरण अचेतन की कमजोरी नहीं समाप्त कर पाया। इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण मध्यवर्गीय धर्मवीर भारती का प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' है। भाषा और शैली की असाधारण मोहकता के बाद इस उपन्यास का सबसे बड़ा आकर्षण —जिसने शरत बाबू की कृतियों की ही तरह 'गुनाहों का देवता' को तरुण—तरुणियों में बहुत लोकप्रिय बना दिया है— वह मध्यवर्गीय फिल्मी रोमांस है जिसके कारण तरुणी सुधा तरुण चन्दर से नन्ही बच्ची की तरह ठनगन करती है। इस छिछली भावुकता में गुदगुदी तो है परन्तु वह गहराई नहीं जो मिलन के आनन्द को गम्भीर मर्यादित रूप दे सके और विछोह के दुख को सहने की शक्ति दे सके। यह मिलन को हलाहल और विछोह को आत्महत्या में बदल देती है। चन्दर में यही भावुकता है। उसके अन्दर अपनी प्रेमिका को अपनाने का नैतिक साहस नहीं और उसकी निर्बल भावुकता में इतनी सहानुभूति नहीं कि वह बिन्दी के प्यार को दुलार सके। निर्बल क्रूर होता है और चन्दर सुधा की चिता की राख से बिन्दी की मांग का क्रूर मजाक उड़ाता है ! यह स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं !! यह मध्यवर्ग शहर को पूर्ण रूप से अपना न सका और देहात से अपना मानसिक सम्बन्ध तोड़ न सका। उसका 'देहात' अंगरेजों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किया गया दयनीय देहात कम, उसकी अपनी कल्पना का रोमांटिक देहात अधिक है ! इस निर्मूल मध्यवर्ग के पास मीरा और राधा की भावुकता नहीं, सीता राम का वियोग नहीं, सूर-जैसा समर्पण नहीं, तुलसी-जैसी स्वस्थ जीवन दृष्टि और सांस्कृतिक समन्वय की क्षमता नहीं, केशव का पांडित्य नहीं, बिहारी की कला नहीं !!

- फिर भी, यह मध्यवर्ग सराहनीय है क्यों कि अपनी तमाम मौलिक कमजोरियों के होते हुए भी हमने भारत के लिए बहुत-कुछ किया। पराजित और सभी

तरह से शोषित भारत मे एक यह मध्यवर्ग ही ऐसा था जिसके कुछ लोग नवीन भारत को जन्म दे सके। अँगरेज इसका उपयोग अपने लाभ के लिए करना चाहते थे और उन्होंने बहुत दिनों तक किया भी किन्तु समय और अनुकूल परिस्थिति पा कर इस वर्ग के ही कुछ लोगों ने अपने को मध्यवर्गीय प्रवृत्तियों से यथासंभव अलग करके या उससे दूर होकर अन्ततोगत्वा देश और जाति की सेवा में अपने को लगा दिया। पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के कार्य में इस नये मध्यवर्ग ने बहुत अधिक भाग लिया। ये नवीन शिक्षण और ज्ञान के प्रवर्तक थे और जो नया भारत बना उसके नेता थे। यही वर्ग भारत का बुद्धिजीवी वर्ग हुआ भारत का मस्तिष्क हुआ भारत की आत्मा बना। निम्नवर्ग हतबुद्धि हतोत्साह और हताश था तथा कथित उच्चवर्ग हतप्रभ एवं हतचेतन। दोनों पराश्रित निष्क्रिय थे। सक्रियता चाहे किसी भी प्रकार की क्यों न हो—यदि थी या सम्भव थी तो केवल इसी नये मध्य वर्ग में। इस युग में बौद्धिक उन्नति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण माध्यम विश्वविद्यालय या स्नातकोत्तर विद्यालय ही था। इस नये मध्यवर्ग ने इन्हीं के द्वारा अनेक सामाजिक शास्त्रों अँगरेजी साहित्य संस्कृत इतिहास आदि का अध्ययन किया। प्राचीन और नवीन भारत का अध्ययन भी इन्हीं विश्वविद्यालयों में हुआ। भारत से सम्बन्ध रखने वाले तथ्यों और उनकी व्याख्याओं से— जो इन शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में थे —यद्यपि भारत का पूर्णत और वास्तविक चित्र नहीं उभरता था किन्तु इस अध्ययन से गतिशील मध्यवर्ग को यह लाभ अवश्य हुआ कि वह पूरी तरह से अन्धकार में नहीं रह गया। कुछ न कुछ आभास तो मिल ही गया। राष्ट्रीय प्रेरणा के लिए जिस एक झलक की आवश्यकता थी वह मिलने लगी। यह प्रेरणा पा कर मध्यवर्ग के इन लोगों ने अपने समाज की कमियों को सुधारने का सक्रिय प्रयत्न इस आलोच्य काल में प्रारम्भ कर दिया। नवीनता के लिए भी प्रेरणा मिली। पाश्चात्य प्रभावों ने दृष्टि को पूर्णत मौलिक तो नहीं रहने दिया किन्तु दृष्टि को सतुलित रखने का जितना प्रयत्न सम्भव था उतना इस नवीन मध्य-वर्ग ने किया। लगभग प्रत्येक कस्बे और शहर में विश्वविद्यालयों से शिक्षा पाए हुए लोग —वकील डाक्टर अध्यापक अफसर आदि फैल गये। ये ही लोग प्रगतिशील विचारों के फैलाने के माध्यम बने। इन्हीं के द्वारा सामाजिक और नैतिक जीवन का एक रूप निश्चित किया गया। उन्नति करने के एक आवश्यक उपकरण के रूप में पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता को स्वीकार किया गया। जातियों के अन्दर भी सुधारकों का उदय हुआ। रेल समाचार पत्र शिक्षा और राजनीतिक हलचलों ने पुरानी सीमाओं पुराने बन्धनों और दृष्टिकोणों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया।

ऊँची जाति के लोगो मे एक पत्नीव्रत नियम-सा हो गया। नारी शिक्षा बढी। विधवा विवाह से लोगों की झिझक अभी पूरी तरह से जा न सकी किन्तु विधवाओं की स्थिति सुधारने की माँग सभी ओर से उठने लगी। सास-बहू और ननद-भाभी का निश्चित-सा कलह इस वर्ग मे समाप्त सा हो गया है। इंगलैंड से लौटे हुए विद्यार्थी मामूली प्रायश्चित के पश्चात् जाति, धर्म और खान्दान मे वापस लिये जाने लगे। अन्तर्जातीय विवाह भी बरदाश्त किय जान लगे। जातियो को सामाजिक सस्था मात्र के रूप मे यह वेतन वर्ग देखने लगा। उसने उन्हें एक शाश्वत मानवीय विभाजन के रूप मे नही देखा। सांस्कृतिक दृष्टि से यह वर्ग कुछ अधिक उदार दृष्टिकोण और व्यवहार वाला हो गया। विभिन्न जातियो का पारस्परिक सहभोज अज्ञात रूप से ही स्वीकृत हो गया। इस युग म सास्कृतिक दृष्टि से बहुत समझौते हुए। रूढिवाद प्रगतिशीलता म बदल गया। अनेक राष्ट्रीय, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनो का आह्वान, सगठन और नतृत्व इस मध्यवर्ग ने ही किया। आत्मत्याग और कष्ट-सहन इस वर्ग के कुछ लोगो न बहुत किया। ये जन-साधारण के भी सम्पर्क मे आए। यही वर्ग बेकारी और असन्तोष का भी शिकार बना। रस्किन, मिल, रूसो, वाल्टेयर, टालस्टाय, मार्क्स लेनिन आदि के क्रांतिकारी विचार इस वर्ग के कुछ लोगो मे भर गये थे। अपनी-अपनी भाषाओं के साहित्य को भी इसी वर्ग ने फिर से समृद्ध करने का प्रयत्न किया। यही वर्ग साहित्य मे धर्म और दर्शन की जगह राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र, क्रान्ति और विद्रोह की भावना लाया। इसी वर्ग ने अधिकाधिक साहित्यिक पैदा किये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसी मध्य वर्ग के द्वारा इसी मध्यवर्ग के लिए इसी मध्यवर्ग का है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद विनिर्मित साहित्य की तुलना यदि उनके पूर्व निर्मित साहित्य से करें तो यह बात पूर्णत स्पष्ट हो जाती है। इस मध्यवर्ग मे दो प्रकार के लोग हैं। एक वे हैं जिनका विचार है कि उन्हें न कुछ सीखना है और न कुछ भूलना है। इस वर्ग का आधार है शास्त्र जो इसके लिए कारागार-सा बन गया है। यह प्रगति विरोधी है और प्राचीन की मानसिक दासता स्वीकार कर चुका है। इसमे किसी भी प्रकार की जिज्ञासा नहीं। यह वैज्ञानिक सत्य को असम्मान की दृष्टि से देखता है। इस वर्ग के लोगो के लिए सभी प्राचीन सिद्धान्त शाश्वत सत्य हैं। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो अतीत के भार से बिल्कुल मुक्त हो जाने की सलाह देते हैं क्योंकि भारत की आध्यात्मिकता ने आक्रमणकारियों और लुटेरो स इसकी रक्षा बिलकुल नही की। ये लोग भारत की दुर्दशा का दोष उसकी आध्यात्मिकता को देते हैं। इनके लिए पाश्चात्य सस्कृति— विशेषत. साम्यवादी सस्कृति— सब कुछ है। इन्हें

स खेल खेलकर अपनी कोठियां खड़ी करता है और तिजोरियां भरता है। यह है 'लक्ष्मी जी सदा सहाय' यह दयनीय मध्यवर्ग आज अध्यात्म की उपेक्षा करता है किन्तु अपने 'अहं' का दास है। इस वर्ग में फिर दिखावा बढ़ गया है वास्तविकता की कमी हो गई है। यह भारत के प्राण और भारत के वास्तविक रूप—देहात—से मानसिक दृष्टि से अब भी दूर है और इसलिए माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखा है, 'हम तो राहुरानी साहित्य लिखते हैं। थोड़े स दिमागी ऐयाशों को दूढ़कर उनकी रगों पर मिनकती या मूंछों पर सनकती इच्छाओं के वशीभूत जब उनकी तालियां सुन लेते हैं हम निहाल हो जाते हैं।' [१] यह मध्यवर्ग जैसे अपने जीवन में किसी को अपना गुरु नहीं समझता वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में भी इसने गुरु-शिष्य परम्परा का अन्त कर दिया है। जैसे इसके जीवन में शोषण और अनैतिकता है वैसे ही इसके द्वारा निर्मित साहित्यिक वातावरण में शोषण और अनैतिकता है। जैसे इसके जीवन में गहराई नहीं, केवल ऊपरी चमक दमक और दिखावा है वैसे ही इसके द्वारा रचित साहित्य में भी अब शैली की चमक, भाषा का सौन्दर्य, कला का आकर्षण अधिक है। जैसे यह हर नये फैशन का दीवाना है वैसे ही इसके द्वारा रचित साहित्य का स्वरूप भी शैली और भाषा का नयापन अधिक लिये है। साहित्य में भी नवीनता का सर्वग्राही मोह इतना बढ़ गया है कि दस-दस और पन्द्रह पन्द्रह वर्षों में नये वाद चल पड़ते हैं। दार्शनिक गहराई इस मध्यवर्ग के जीवन में कम है और इसके साहित्य में भी कम है। यशोलिप्सा जीवन में भी है और साहित्य में भी। व्यवसायिक वृत्ति इस मध्य वर्ग के जीवन में उत्तरोत्तर प्रधान होती गई है और इसके द्वारा निर्मित वातावरण तथा इसकी *साहित्यिक* वृत्तियों में भी। जीवन में भी उच्छृङ्खलता है और साहित्य वातावरण में भी। गुटबाजी जीवन के अन्य पक्षों में भी है और साहित्यिक वातावरण में भी। जीवन में भी चोरी भरी है और *साहित्य में भी*। जैसे जन-मंगल की भावना का कथन मात्र जीवन में है मगर जन-मंगल कोसों दूर है वैसे ही साहित्य में जनमंगल का नारा जोरों से लगता है किन्तु जनमंगल उससे होता नहीं। केसरीनारायण शुक्ल ने लिखा है, 'कवियों का समुदाय जिस (मध्यम) वर्ग से आता है उसकी जड़ें सामान्य जीवन के बीच नहीं जमी हैं। यह शिक्षित, दीक्षित और शिष्ट वर्ग देश की जीवन सरिता के ऊपर ही उतराता हुआ इधर से उधर बह रहा है।' [२] इसलिये

१—'सम्मेलन पत्रिका,' फाल्गुन २००० संवत् में प्रकाशित, 'साहित्य धर्म' शीर्षक लेख से

२—'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृष्ठ १८८

इनकी कविताओं में कृत्रिमता का प्राधान्य है। 'भारत भारती' और 'बच्चन' इसी मध्यवर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों से अनुप्राणित थे और यही इनकी असाधारण लोकप्रियता का रहस्य है। साहित्यकारों के बीच का स्नेह और वैमनस्य इसी मध्य-युगीन मन का स्नेह और वैमनस्य रहा है। यह मध्यवर्ग यथार्थ से दूर रहा और इसकी रचनाओं में भी यथार्थ का आभास मात्र-सैद्धान्तिक या कल्पना प्रधान रूप ही-मिलता है। जिस तरह की विद्वता इस वर्ग के पास है इनकी रचनाओं को समझने के लिये उसी तरह विद्वता-या विरचित मन और मनोवृत्ति-चाहिए। रामकुमार वर्मा, अश्क', भुवनेश्वर, जगदीशचन्द्र माथुर आदि के सामाजिक एकांकी नाटकों में यही मध्यवर्ग विशेष रूप से चित्रित है।

पन्त ने ठीक ही लिखा है, किन्तु हमारे निष्प्राण प्रेरणाशून्य साहित्य में उपचेतन की मध्यवर्गीय रुग्ण प्रवृत्तियों का चित्रण ही आज सृजन कौशल की कसौटी बन गया है और वे परस्पर के अहंकार-प्रदर्शन, लांछन तथा घात-प्रतिघात का क्षेत्र बन गयी हैं जिससे हम कुंठित बुद्धि के साथ सकीर्णहृदय भी होते जा रहे हैं।[1] इस मध्यवर्ग का हास्य भी मुक्त हृदय का हास नहीं रह गया है और रुदन भी शुद्ध हृदय का रुदन नहीं हैं। यह सैद्धान्तिक हँसी हँसता है और सैद्धान्तिक रोना रोता है। महादेवी के रुदन के विषय में सिसिल विश्वमोहन कुमार सिंह ने लिखा है, आपकी रोने की एक आदत सी हो गयी है ...... रोने की आदत ही नहीं रोने में आपको आनन्द आता है सुतरां, आपके दुखों से पाठकों के हृदय में दुख का सचार नहीं होता, न आपके प्रति सहानुभूति के भाव का ही जन्म होता है। एक सजग पाठक जानता है कि आप रो नहीं रही हैं, रोना आपकी कला का एक अंश है।[2] द्विवेदी युग के पूर्व यह मध्यवर्ग सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सद्य प्रभावों से सस्फूर्त और सोत्साह था और इसलिए उस युग के साहित्य पर जागरण, उत्साह और स्फूर्ति की छाप है। एक नवीनता है। एक प्रियकर जागरण है प्रौढ़ता भले ही नहीं है। उसके पश्चात् आर्यसमाज के पाञ्चजन्य-घोष के परिणाम-स्वरूप सामाजिक सुधारों का युग आया, उत्थान के प्रयत्नों का युग आया, कर्त्तव्य की शुष्कता का युग आया, नव्य सांस्कृतिक चेतना के सक्रिय होने का युग आया, सात्विकता का युग आया, और यह द्विवेदी युग है। फिर इस वर्ग ने गान्धी का नेतृत्व जीवन और साहित्य दोनों क्षेत्रों में स्वीकार किया। एक सात्विक भावुकता, एक आदर्शवाद, आदर्श प्रेम आदर्श जीवन, भावुकता, रोमांस आदि का जीवन आया और हमारे सामने 'प्रसाद', पन्त,

१ उत्तरा' पृष्ठ ११

२. 'हिमालय,' जुलाई १९४६, पृष्ठ ६५, ६६

'निराला, रामकुमार वर्मा, महादेवी, प्रेमचन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, आदि आए। बाद में यही वर्ग साम्यवाद, संघर्ष, कष्ट, भौतिकतावाद, पराजय, आदि से जीवन में भी प्रभावित हुआ और साहित्य में यथार्थवाद का या प्रगतिवाद का युग आया। नरेन्द्र 'अचल', यशपाल, पहाड़ी, भुवनेश्वर, आदि ने छायावाद की अशरीरी भावनाओं का अचल न पकड़ कर स्थूल मांसल शरीर का आकर्षण देखा। आगे चल कर इसी वर्ग में थोड़ी-बहुत सामाजिक चेतना जगी और तभी द्वितीय महायुद्ध आ गया जिसमें यह मध्यवर्ग बुरी तरह पिस गया और उसकी सारी पिछली मान्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट होने लगी। जीवन कराह उठा, मानव चुक गया, मानवता रो उठी और आदर्श धुँधले पड़ गये।। एक ओर महायुद्ध और दूसरी ओर १९४२ ई० का आन्दोलन। भारत की चेतना विमूढ़-सी हो उठी। होश आया तो आजादी मिली और नये प्रयोग प्रारम्भ हुए क्योंकि नयी समस्याएँ आ खड़ी हुईं और पराधीनता के युग के दृष्टिकोणों को बदलना अनिवार्य हो गया जिसकी पूरी तैयारी सम्भवतः हम नहीं कर पाए थे। प्रयोगों का युग देश में चला और प्रयोगवाद तथा नई कविता हिन्दी में। इस मध्य वर्ग का जीवन राजनैतिक तथा सामाजिक जागृति का वाहक हो गया है और इसका रचा साहित्य भी।

अँगरेजी राज्य में भारत का जीवन—एक सामान्य दृष्टि—

अन्त में भारतक जीवन पर जब एक बार हम फिर से दृष्टिपात करना चाहते हैं तब हमें दाडी यात्रा के समय गान्धी जी की कही यह उक्ति बरबस याद आ जाती है कि अँगरेजी राज्य ने भारत का नैतिक, भौतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक सभी तरह नाश किया है। शाह और खम्भाता ने लिखा है कि जन संख्या का १ प्रतिशत भाग राष्ट्रीय आय का १।३ भाग पाता है जबकि जनता का ६० प्रतिशत भाग राष्ट्रीय आय का ३० प्रतिशत पाता है।[१] द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने के ठीक पहले भारत की अधिकतर जनसंख्या के औसत प्राणी की आय एक पैनी से लेकर सवा पैनी तक थी। ब्रिटिश भारत में एक किसान की औसत आमदनी ४२ रुपये वार्षिक से अधिक नहीं ठहरती[२]। शाह और खम्भाता ने बड़े रोचक ढंग से हमारी गरीबी का अनुमान कराने का प्रयत्न किया है, भारत की औसत आमदनी सिर्फ इतनी है कि जनता के प्रत्येक ३ आदमियों में से केवल दो का पेट भरा जा सके या

१. 'दि वेल्थ एण्ड टैक्सेबुल कैपेसिटी आफ इन्डिया'

२ 'दि इन्डियन सैन्ट्रल बैंकिंग कमेटी, १९३१' के विवरण के प्रथम भाग का ३९ वां पृष्ठ।

या समझिए कि यदि उनको तीन बार खाने की आवश्यकता है तो दो ही बार खिलाया जा सके और वह भी तब जब वे इस बात के लिए तैयार किये जा सकें कि वे सबके सब नंगे रहेंगे, पूरे साल भर तक बिना घर के रहेंगे, मनोरंजन या खेल की कोई-भी चीज न मांगेंगे—खाने के अलावा और कुछ न चाहेंगे और उनका खाना निम्नतम स्तर का, रूखा-सूखा, मोटा-झोटा और कम से कम स्वास्थ्य प्रद होगा।[1] धार्मिक दृष्टि से हमारी स्थिति यह हो गयी है कि वेद बचे तो हैं किन्तु हैं वे पुस्तकालय के बेठनों में। स्तुतियां सभी देवताओं की की जाती हैं। ध्यान बाह्य रूप और वातावरण पर रहता है। जो सच्चिदानन्द-निराकार तत्व सभी का मूल है उस पर ध्यान ही नहीं जाता। वह दार्शनिक विवेचनों और साहित्यिक व्यंजनाओं मात्र के लिए रख छोड़ा गया है। आज ही मीराओं के कृष्ण दो-दो होने लगे हैं!! व्याकरण पांडित्य-प्रदर्शन के लिए हो गया है, वेद समझने के लिए नहीं। देवताओं की संख्या ३३ करोड़ बताई जाती है नाम सौ पचास के भी मुश्किल से याद होंगे। वेदों की जगह विष्णु सहस्रनाम का पाठ होता है। "भूत-प्रेत' सिद्ध किये जाते हैं। धर्म तर्क-बुद्धि से दूर कर दिया गया है। सम्पूर्णानन्द ने लिखा है, 'उपवासे तथा श्राद्धे न कुर्याद्दन्तधावनम् दन्तानां काष्ठसंयोगो दहत्यासप्तमं कुलम्......अब इसको कौन समझदार अपनी बुद्धि में उतार सकता है। वेद कहता है कि तपस्वी पाप-हीन योगी उसको प्राप्त होते हैं जो विष्णु का परमपद है परन्तु नया उपदेश यह है कि "यः करोति तृतीयायां विष्णोश्चन्दनपूजनम् वैशाखस्य सिते पक्षे स याति हरिमन्दिरम्।"[2] आगे फिर लिखा है "व्यास जी ने कहा है कि नाच्छित्वा परमर्माणि, नाकृत्वा कर्म दुष्करम् नाहत्वा मत्स्यघातीव, प्राप्नोति महतीं श्रियम्।" व्यास जी विष्णु के अवतार थे इसलिए उनकी कही हुई बात श्री सत्यनारायण देव को भी ज्ञात रही होगी पर वह (साधु) बनिए से यह एक बार भी नहीं पूछते कि तुमने इतना रुपया कैसे कमाया सत्यनारायण की पूजा से यही काम लिया जाता है। जो सरकारी अहलकारों को रिश्वत देने से निकाला जाता है—तुम जो चाहो करो, हम आंख बन्द कर लेंगे परन्तु हमारा हिस्सा देते जाओ।[3] अन्धविश्वास यहां तक है कि ब्राह्मणी माताएं भी अपने बच्चों पर फूंक डलवाने शुक्रवार को शाम मस्जिद के सामने खड़ी रहती देखी गयी हैं। ब्राह्मण लोग (पुजारी भी) विदेशी और विधर्मी शासकों के प्रति 'धर्मावतार' जैसे शब्दों का प्रयोग

---

१. 'दि वेल्थ एण्ड टेक्सेबुल कैपेसिटी आफ इण्डिया,' पृष्ठ २५३

२. 'ब्राह्मण सावधान', पृष्ठ ६

३. वही पृष्ठ ११

करते देखे गये हैं। देवता ऐसे हैं जिनसे हमारे साधारण धर्मभीरु गृहस्थ ही बहुत अच्छे ! विशिष्ट अधिकार सम्पन्न न होकर भी हमारे गृहस्थ दुराचारी और पर स्त्रीगामी तो नहीं होते। तपस्वियों का तप तो भंग नहीं करते ! उनकी अप्सराओं और गुप्तचराओं में क्या अन्तर !

लड़के-लड़की की योग्यता और उनके विवाह तथा नारी आदर्श के सम्बन्ध में व्रजमोहन व्यास ने लिखा है 'साधारण श्रेणी के माता-पिता लड़के को मोहल्ले की किसी पाठशाला में बिठा देते थे या किसी स्कूल में भरती करा देते थे और सोलह वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते उसका विवाह कर देते थे चाहे वह किसी भी दर्जे में पढ़ रहा हो। इसके आगे उसके भाग्य की बात थी। इतना वे अवश्य ख्याल रखते थे कि अपने लड़के के लिए बिरादरी में जहां तक हो सके किसी भले घर की लड़की लाना। भला घर उनकी समझ में वही है जहां की लड़कियां चुर जायें पर उफ न करें। उनके ख्याल से क्या गनीमत नहीं ये आजादी सांस लेते हैं बात करते हैं।' लड़की के माता पिता का एक सिद्धान्त था। लड़की का बाल-विवाह करना और उसे न पढ़ाना और यदि पढ़ाने का शौक चर्राया और उसकी माता यदि थोड़ा-बहुत पढ़ी लिखी हुई तो वह अपनी लड़की को केवल इतना पढ़ा देती थी कि वह भले-बुरे हनुमान चालीसा पढ़ सके और ससुराल में गाढ़े के समय मायके खबर भेज सके। लड़की के माता-पिता इस बात का बहुत ख्याल रखते थे कि लड़की की अभिलाषाओं की परिधि बहुत सीमित रहे वर को ढूंढने में लड़की के माता-पिता इस बात पर अधिक ज़ोर देते थे कि लड़की के भावी श्वसुर का घराना ऐसा है कि नहीं कि उनकी लड़की के मुंह में रूखा सूखा चारा पड़ जाए। लड़के की योग्यता का स्थान सदा गौण ही रहता था भगवान ने चाहा तो उनकी लड़की सुखी रहेगी और सुख की परिभाषा में वे युधिष्ठिर से सहमत थे — दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति यो नरः अऋणी च प्रवासी च स पृथिव्यां सुखी नरः। ससुराल जाने के समय लड़की को दो-चार ऐसे नुसखे बता दिये जाते थे कि सनद रहें और वक्त जरूरत काम आवें। एक तो उपर्युक्त युधिष्ठिर वाला। दूसरे कवि कुमारदास वाला — स्त्रियो न पुंसामुदयस्य साधनं न एव तद्धाम विभूति हेतवः। तद्विद्वियुक्तोऽपि घन प्रजृम्भते विना न मेघं विलसन्ति विद्युतः। और सबके ऊपर कालिदास वाला — भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ऐसे वातावरण में किसी भी भले घर की लड़की को मानसिक दुःख हो ही कैसे सकता है सोहागिन मरने पर स्वर्ग में जाती है, सती जी उसका दर्शन करने जाती हैं।[1] यह अवस्था

---

[1] सरस्वती', जनवरी १९६३, पृष्ठ ५७, ५८

अत्यन्त दयनीय थी ! यह जीवन अत्यन्त करुण जीवन था ! गरीबी, धार्मिक अन्ध-विश्वास, बीमारी, गन्दी आदतें, अधिकारी की दासता, धन-सम्पत्ति की लोलुपता, विधवा, अछूत, अविद्या, मूर्खता, नैतिक पतन, उद्योग धन्धो का पतन, असगठित कार्य, वास्तविक शिक्षा-व्यवस्था का अभाव, धार्मिक कर्मकाण्डो और संस्कारो का विवेक विहीन पालन, नये दृष्टिकोण का अभाव, स्वार्थी-भावरहित-निकम्मे लोगो की बढती हुई संख्या, दुर्भिक्ष, करुण मौते, अन्याय, अत्याचार, रिश्वत, मुनाफाखोरी, चोरी, जाति-पाति के झगडे, साहित्यिक मण्डली का धनी, जमींदार, अफसर, आदि के सामने अपने को हीन समझना तथा विद्वान साहित्यिक की अपेक्षा उन्ही का ध्यान रखना और उन्ही का प्रसग के गीत गाना, आदि आलोच्य काल के जीवन की सामान्य कहानी हैं। इस युग का चतुर और सफल व्यक्ति वह था जो मुकद्दमा जीतने की कला जानता था, जो झूठ बोलता था किन्तु यह कभी नहीं कहता था कि झूठ बोलना अच्छा है, जो शान से रटना जानता था, जो करता वह था जिसके विपरीत बोलता या लिखता था, जो रुपया कमाना जानता था, जो झूठ बोल कर झूठ लिख कर अपने को प्रतिष्ठित कर लेना जानता था, जो अपनी तारीफ करवाने की कला जानता था, जो सफाई के साथ बुराई का जीवन बिता सकता था, आदि।

द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थिति और भी विषम हो गई। शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है, 'राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि मे भारतीय सास्कृतिक पुनर्निर्माण (रिनेसाँ) के इस उत्थान का ऊर्ध्व विकास २० वी शताब्दी के चौथे दशक मे पहुँच कर रुक सा गया और ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।"[१] और स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् !! गान्धी जी ने लिखा है, "शताब्दियो पुरानी दासता की समाप्ति और आजादी के उदय के प्रारम्भ के साथ-साथ भारतीय समाज की सारी कमजोरियो का धरातल पर ऊपर आ जाना अनिवार्य है।"[२] हमारी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियो को द्वितीय महायुद्ध के बाद धक्का लगा। जीवन विमूढ, विक्षुब्ध एव विमत्त हो उठा। रूस और चीन के विचारो ने भी उद्बुद्ध और क्रियाशील किया। विवेकहीनता एव आन्तरिक सगठन के अभाव मे विघटित अन्तर ने उच्छृखलता और आत्महत्या का रूप धारण किया। हम भूल गये कि हम क्या हैं। पागल की तरह जिधर पाते हैं, दौड पडते हैं। व्यक्ति को जो थोडे-से अधिकार मिल गये हैं उनसे वह अपने को अनन्त-शक्ति-सम्पन्न समझ बैठा है। वह गहरे नही देखता, वह दूर

---

१. 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', पृष्ठ २४२

२ 'हरिजन', १ जून १९४७ ई०

तक नहीं देखता। आज का व्यक्ति केंचुआ हो गया है। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है 'अप्रैल (१६५६ ई०) में विश्व स्वास्थ्य दिवस के अवसर पर डाक्टरों ने मनुष्य की विपण्ण मन स्थिति पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है, उनका निष्कर्ष यह है कि आजकल अधिकांश लोग मानसिक रोग से पीडित होते जा रहे हैं ' घरेलू झगडे अच्छे भोजन का अभाव, पेशे का गलत चुनाव असामाजिक वातावरण, ये सब मानसिक रोग के कारण हैं।'[1] ऐसे मानसिक रोगी साहित्य मे भी हैं जो बेईमानी से ऊँचे पद प्राप्त करते हैं और शान से रहते हैं मगर साहित्य में कुण्ठा की वकालत करते हैं। आज का यह मानव निरंकुश हो गया है। धर्म और नीति पर से उसकी अपनी आस्था उठ गई है। संयम वह भूल गया है। कुछ सौ नोटों पर वह बिक जाता है। सद् चिन्तन के अभाव मे उसका जीवन जहरीला हो गया है अपने व्यवहार और अपनी लेखनी से वह औरों के जीवन को जहरीला बना रहा है। दलबन्दी है। प्रचार के साधनों को अधिकृत करने की कला आती है। अपनी किताब छपवाई जा सकती है। मित्रों से प्रशंसा लिखवाई जा सकती है। विरोधियों को गालियां दिलवाई जा सकती हैं। चूंकि विरोधी साधन-विहीन और संगठन-विहीन हैं, अतः उसकी बात सुनी न जाएगी इसलिए अपनी बात को मान्य घोषित किया जा सकता है। आज का मद-प्रमत्त यह लघु मानव काल-शक्ति और देव-शक्ति को भूल गया है। 'जब तक हूं शान से रहूँगा'—यह उसका 'मोटो' बन गया है। इस प्रकार यह युग हो गया है। अविश्वास का युग हो गया है। बात यह है कि प्राचीन आस्थाओं आदि के असामयिक, अनुपयोगी और नष्ट हो जाने का प्रचार पूरी शक्ति के साथ किया जा रहा है। नई आस्थाओं के दे सकने की क्षमता है नहीं। विनाश करना आसान है, निर्माण कर सकना, कठिन। अस्तु यह मानव विभ्रमात्मक सा हो गया है। पूँजीवाद बचपन से जवानी की ओर पैर बढ़ा रहा है और इसके साथ ही-साथ वे सारी समस्याएँ खड़ी हो गई हैं जो पश्चिम के व्यवसाय प्रधान देशों मे पहले से थी। देव संयोग कहिए या कुछ और, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत के जीवन की जो अवस्था थी उसमे और १६५० ई० के भारत के जीवन मे कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ पाया। यह पूरे का पूरा युग ही गम्भीर समस्याओं से आक्रान्त है। प्रतिक्रियाओं का धुआं सामाजिक जीवन मे भर गया है।

महादेवी ने लिखा है 'एक ओर समाज पक्षाघात से पीडित है और दूसरी ओर धर्म विक्षिप्त। एक चल ही नहीं सकता दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाया हुआ

---

१. 'वृन्त और विकास', पृष्ठ १२६

एक पैर से दौड़ लगा रहा है।[1] हम इन समस्याओं के समाधान में असहाय हैं क्योंकि न हमारे पास उतनी क्षमता है और न समस्याओं की उतनी गहरी पकड़। एक हल करते हैं तो दूसरी समस्या खड़ी हो जाती है। क्रान्ति एक फैशन बन गयी है। इस विकृति का चित्रण महादेवी के ही शब्दों में अत्यन्त कलात्मक ढंग से इस प्रकार किया गया है, 'शताब्दियों की दासता ने हमारी नैतिकता नष्ट कर दी ···· "हमारी वर्तमान विकृति में अन्धकार जैसी व्यापकता और मृत्यु-जैसी एकरसता तो है ही, साथ ही साथ उसकी व्यवहारिक विभिन्नता में विचित्र एक रूपता भी मिलेगी' ·· ···· 'हम अपनी व्याधिजनित असमर्थता' को स्वीकार न करके रास्ते की दुर्गमता, लक्ष्य की अप्राप्यता को ही दोष देते हैं ·· ·· सब जगह हमारा दम्भ गहरा है और विवेक उथला है ······· हमारा नैतिक पतन आज उस अजगर के समान हो उठा है जो सौन्दर्य और सत्य की सजीव प्रतिमाओं को भी सांस के साथ उदरस्थ कर लेता है और फिर अपने शरीर को तोड़-मरोड़ कर उन्हें चूर-चूर बना ऐसी स्थिति में पहुँचा देता है जिसमें वे उस अजगर के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहतीं ·· ····· आदर्श-गान से सन्तोष और परिस्थियों की विषमता के आगे झुकना—हार स्वीकार करना—इन दो को हमने अपनी दुर्बलता की बैसाखी बनाया है।[2] शान्ति के नाम पर अंगरेजों ने भारतीय जनता के जीवन को निरस्त्र करके उन्हें कायर बनाने का प्रयत्न किया और इसमें सन्देह नहीं कि वे बहुत दूर तक अपने उद्देश्य में सफल रहे। बुद्धि की मुक्ति और स्वतन्त्रता का नारा उठा कर उनकी कूटनीति ने हमारे समाज और हमारी पुरानी संस्कृति की नींव खोदने का प्रयास किया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे उसके रूप को अधिक क्षत-विक्षत कर सके। आज हम ब्राह्मण पुजारी को उस इजारेदार के रूप में देखते हैं जिसका संरक्षक हमें अपनी इच्छा और आवश्यकता के प्रतिकूल भी करना पड़ रहा है। इसके विपरीत, आज पुराना वर्णाश्रम धर्म—जाति का प्रभुत्व—चकनाचूर हो उठा है। इतने पर भी जाति-चेतना समाप्त होती नहीं दिखाई पड़ती। संयुक्त परिवार की एक-एक ईंट खिसकती जा रही है। पतिभक्ति गये-बीते युग की बात हो गयी है। पूर्ण सामंजस्य और सन्तुलन का अभाव है। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का समन्वय अभी हो ही नहीं पाया है। आस्था और साहित्य का नीर क्षीर मेल अभी नहीं हो पाया है। करते हैं बेईमानी और लिखते हैं ईमानदारी! करते कुछ हैं और लिखते कुछ हैं! यह है

१—'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध', पृ. ४६

२—'क्षणदा', पृ. ३०, ३४, ३६

हमारा – आज का –जीवन। लेकिन यह तस्वीर का एक पहलू है।

इसी एक चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है और वह इतना काला, इतना नैराश्यपूर्ण एवं इतना खेद जनक नहीं है। वह श्याम होते हुए भी घनश्याम है। इस चित्र की वास्तविकता को हम सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि में ही देख सकेंगे। इस चित्र की रेखाएं उसी के रंग में रंगी हुई हैं। यह हमारी राष्ट्रीय भावना की जन्मभूमि है। जब हम पर सांस्कृतिक आक्रमण हुए तब थियासोफी, आर्यसमाज सुधारवादी सनातनी, प्रगतिशील पौराणिक और धर्मप्राण राष्ट्रीयता की क्रमश उमड़ती हुई तरंगों ने विदेशी संस्कृति की बढ़ती हुई धारा की स्फूर्ति को अपने में समाहित कर लिया। इसने हमारी अहितकर प्रवृत्तियों के निराकरण का प्रयत्न किया। यह ठीक है कि उपर्युक्त जीवन दशाएं समाज में जितनी व्यापक हैं उतनी ये नहीं किन्तु तब यह भी तो सही है कि किसी भी राष्ट्र में लाख दो लाख व्यक्तियों की जीवन दशा का परिवर्तन समाज की ऊर्ध्वगति का द्योतक होता है शेष जनता के जीवन पर उनका प्रभाव बाद में पड़ा करता है किन्तु उन लाख-दो लाख का जीवन उस समाज की प्रगति का द्योतक निःसन्दिग्ध रूप से होता है। इस युग में भारत की स्थिति यही रही है। इस युग को मोटे तौर पर हम तीन विभिन्न स्थितियों में कल्पित कर सकते हैं — जागरण परिवर्तन और सुधार तथा क्रान्ति। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में ये तीनों स्थितियां पूरी तरह से स्पष्ट हैं — महावीर प्रसाद द्विवेदी के पहले का युग तथा 'अज्ञेय' और उनके बाद का युग। समाज के अपेक्षाकृत उन्नत भाग में ये तीनों स्थितियाँ स्पष्टतम रूप से दिखाई पड़ रही हैं। परिवर्तन की धारा सन्तोषप्रद रूप से निरन्तर प्रवहमान होती रही है। अपूर्व जागृति है। इस वर्ग में विचारों का आदान-प्रदान हुआ है। भावों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। जातीय और राष्ट्रीय एकता उभरती हुई दिखाई पड़ी है। गांधी और दयानन्द के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अछूतों की समस्या उग्रतम नहीं रह गयी। विरोधियों के साथ भी सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न होने लगे। अनुपयोगी मान्यताएं और रूढ़ियां टूटीं। सुधार और क्रान्ति के प्रयत्न हुए। हम झूठी निवृत्ति में नहीं और सच्ची प्रवृत्ति की ओर बढ़े। यह युग का उग्र राजनीतिक चेतना तथा आन्दोलनों का युग रहा। पूर्व और पश्चिम का जो सम्पर्क भारत के लिए अहितकर सिद्ध हो रहा था उसे भारत के लिए उपयोगी और हितकर बनाने का प्रयत्न किया गया। जड़ एवं विवशताजन्य क्रियाओं के स्थान पर सोच समझ कर सामूहिक रूप से कार्य किया जाने लगा। पूर्ण और व्यापक जीवन हमारा लक्ष्य बना और हम उस ओर बढ़े। गति पर अधिक ध्यान दिया गया। नारी और जाति–

चेतना मे ऐसे परिवर्तन हुए और हो रहे हैं कि वे नवीन और सशक्त समूह-चेतना के अनुकूल हो जाएँ। सामाजिक और राजनीतिक क्रियाशीलताओ के साथ साथ क्लब संस्थाएँ समितिया रेल मिलें, नौकरिया नित्य सामाजिक सम्पर्क को अनिवार्य बनाए हैं। ब्राह्मण प्राचार्य के साथ एक ही मेज पर रखी चाय और नाश्ता करता है। मोटी चोटी पूरी जनेऊ और पवित्र चौके वाले कर्मकाण्डी ब्राह्मण छात्र छात्राओ मे कुछ समय के बाद सार्वजनिक चौके म आ जाते हैं। जाति सम्बन्धी ऊँच नीच की भावना ऐसे अवसरो पर अचेतन मन की किसी अँधेरी कोठरी मे चोर की भाँति दुबक जाती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे यह जाति पाति का भेद कही नही दिखाई पडता। प्रसाद, पन्त, निराला महादेवी रामकुमार वर्मा भगवतीचरण वर्मा, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, आदि के माथे पर जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य का चिप्पक लगाना चाहता है वह-नौकरी देते समय एक चोर की तरह छोटे मोटे नये अनमन नवयुवको को भले ही इसका शिकार बनाले क्योकि तब वहा वही एक मात्र निर्णायक होता है और वह अपने को भगवान से कम नही समझता होगा-वह चाहे चतुर्वेदी हो, चाहे त्रिपाठी, चाहे द्विवेदी हो, चाहे गुप्त, चाहे वर्मा हो चाहे शर्मा-राष्ट्र-विरोधी है अनैतिक है, प्रगति विरोधी है और साक्षर होते हुए भी राक्षस है और अनुचित कार्य करना चाहता है। खुले रूप मे यह करने का साहस वह समय राक्षस भी नहीं करता होगा वह केवल कल्पना मे इन समय साहित्यिको के मस्तक पर जाति का चिप्पक लगाकर अपने दुष्ट मानस चक्षु के कलुष की कुलबुलाहट शान्त करता होगा। यह बात ज निवाद के सम्बन्ध मे की जा रही है। अस्तु नारियां स्वतन्त्र हो रही हैं। बहुपत्नि प्रथा समाप्त हो चली है। प्रेम और रोमान्स का वातावरण हो रहा है। चेतना का क्षेत्र विस्तृत हो रहा है जीवन और कर्म से जडता जा रही है। नृत्य सगीत नाटक, आदि सांस्कृतिक आयोजन भी लोगो की रुचि बन रहे हैं। नारियां जीवन के अनेक क्षेत्रो मे अपने लिए एक कानूनी जगह बना रही हैं। उनका सामाजिक और राजनीतिक महत्व बहुत अधिक बढ रहा है। उनको इस स्वतन्त्रता ने उनकी शिष्टता, सुशीलता और गार्हस्थ्य-निष्ठा किसी भी हालत मे कम नही की है। हा चद्दर ओढकर घूँघट डालकर, किसी के घर मे जाकर किसी की बेटी, किसी की पतोहू किसी की ननद आदि की चुगली चाई का रस लेने की आदत मे जरूर कमी हो गई है और सास पतोहू तथा ननद-भाभी का झगडा विषाक्त न होकर रसपूर्ण हो गया है। नारियां जड पत्नी न रहकर समझदारी के साथ आज्ञाकारिणी पत्नी हैं मूकतापूर्ण मोहमयी मा की जगह वे वास्तविक ममतामयी माँ

हैं। वे अब भी सेवा के लिये तत्पर हैं। बिना किसी भी प्रकार का असन्तोष प्रकट किये वह जागृत भारतीय नारी गृह कार्य मे भी मगन रहती है। घूंघट उठ गया मगर आख का शील नही गया है। चादर उतर गई है, मगर लाज बची है। नारियों के अन्दर आशाओ आकाक्षाओं के एक नये सुन्दर समार की चहल पहल दिखाई पड रही है। वे नये भारत के जीवन और प्रेम की मूल स्रोत हो रही हैं। मध्ययुगीन सन्तो ने उनको देखने का जो दृष्टिकोण दिया था उसे आज के जीवन ने अस्वीकार कर दिया है। आज उन्होने भारत मे फिर वही जगह पा ली है जो प्राचीन काल मे थी किन्तु आपत्तिकालीन मध्ययुग मे छिन गई थी। ध्यान रहे, मैं १९६४ ई० की निर्लज्ज एव फशनपरस्त आधुनिकाओ की बात नही कर रहा हूं। वे अभी हमारे समाज का महत्वपूर्ण वर्ग नही बन पाई हैं। मैं १९०० ई० से लेकर १९४६ ई० तक की सुशीलाओ और अन्नपूर्णाओ की बात कर रहा हूं। पौराणिक रूढ़ियो मे नये उद्देश्य, नये अर्थ और नई क्षमताएं खोजी जाने लगी हैं। अध्यापक, साहित्यिक और देश भक्त भी पूज्य हो रहा है। गान्धी, मालवीय, टैगोर, नेहरू और राधाकृष्णन की महत्ता आज के जगद्गुरू शकराचार्यों से किसी कदर भी कम नहीं है। विश्वास और पूजा का स्थान बुद्धि बल और सेवा ले रही है। 'भक्ति' के दीवानो का समय और स्थान निश्चित हो गया है। देश और जाति के दीवाने व्यापक हो रहे हैं। पुराने गौरवपूर्ण व्यक्तियो को आदर और श्रद्धा दी जाती है। उनकी प्रशसा के गीत गाये जाने हैं। वे कथा-कहानियों के विषय हो गये हैं। तथाकथित आध्यात्मि ता और विद्वता की अपेक्षा उपयोगी नैतिक सिद्धान्तो को अधिक मान्यता मिली है। अनेक नवयुवक और नवयुवतियो ने देश सेवा के लिये अच्छी-बड़ी और ऊँची नौकरियों को लात मार दिया है। विद्यालयों, अस्पतालो, अनाथालयों और सेनिटोरियमो, आदि मे भी अपना धन लगाकर धनी लोगो ने भी ये ही भाव प्रकट किये हैं। भारत की स्वतन्त्रता और विश्व मानवता की शान्ति के लिए इमो जन-कल्याण की भावना का उपयोग किया गया है. अहिंसा ने व्यापक रूप धारण किया है वह केवल चीटियो, गौरैयों, बकरियो और गायो, आदि की जड सुरक्षा का माध्यम ही नही रह गई है। बलिदान और तपस्या के अहिंसात्मक साधनो के द्वारा बुराइयों (शराब, आदि) के प्रतिरोध का स्वरूप भी इसने धारण किया है। भारत का सक्रिय मस्तिष्क अपने प्राचीन गौरव के रहस्यों की खोज मे भी लगा है ताकि विदेशी तत्वों को अपने अन्दर समाहित कर लेने वाली शक्ति मिल सके। जातियो और पौराणिक-धार्मिक विश्वासो का रूप बदलकर—कायापलट करके उन्हें व्यापक बनाकर सूक्ष्म और उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। परलोक का जादू लोगो के सिर पर उतना नहीं चढ़ता जितना पहले चढ़ता था। हमारी राष्ट्रीयता

को जनता ने भी स्वीकार किया है। उसे धर्म का भी समर्थन मिला है। वह सबके द्वारा मान्य और पूज्य हुई है। विश्व-मानवता का १/५ भाग उससे प्रेरित और अनुप्राणित हुआ है। यह इतिहास की एक बहुत बडी बात है। साथ ही, ध्यान रखने की बात यह भी है कि इसका उदय अगरेजी साम्राज्यवाद की भयानक पराधीनता के वातावरण मे हुआ। इस भावना तथा सास्कृतिक पुनर्जागरण ने पराधीन भारतीयो को साहस, शक्ति और दृष्टिकोण दिया और ये पंक्तियां सारे भारत की भावनाओ और आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व करने वाली हो गई, 'उस समय शिवाजी को मैं आदर्श पुरुष समझने लगा था। पिताजी पूछते थे, तुम आगे चलकर क्या करोगे, मैं कहता था, मैं शिवाजी बनूँगा, मेंसेलियन की तरह मैं जीवन बिताना चाहता हूँ।'[१] यही वह प्रेरणा थी जिसने हिन्दुओ और मुसलमानो की एकता का स्वप्न दिखाया। 'वन-वैभव' मे मैथिलीशरण गुप्त ने युधिष्ठिर से कहलाया—

> 'जहा तक है आपस की आन,
> वहा तक वे सौ हैं, हम पाँच
> किन्तु यदि करे दूसरा जाच
> गिने तो हमे एक सौ-पाच''

गान्धी की कल्पना हुई कि आपसी मामलो मे २५ करोड एक तरफ और ७ करोड दूसरी तरफ रहने वाली जातियो को अंगरेजो के सामने ३२ करोड के रूप मे उपस्थित होना चाहिए। आज यह बात कहने को नही रह गई है कि दोनो जातियो के मेल की नीव पर ही गान्धी-जनित राष्ट्रीयता का महल खडा हुआ था। हम जनतन्त्र और मानवतावाद के सम्पर्क मे आये। ये सभी अनुभूति नही बन सके—कमी इतनी ही रह गई है। सामान्य जन-जीवन बाहर से लाये हुए सिद्धान्तो और मताग्रहो को सहसा स्वीकार करता भी नही है। अतएव जन-जीवन मे केवल इतनी ही बात दिखाई पडी कि वह 'स्फूर्ति सम्पन्न' है, प्रगति के लिये उत्सुक है, अच्छे सुधारो के लिये तैयार है और यथासम्भव त्याग और बलिदान के लिये कटिबद्ध है। इस पूरे आलोच्य काल मे जीवन मे स्फूर्ति थी, उत्साह था, उमङ्ग थी—कभी थोडी-बहुत कम, कभी थोडी-बहुत अधिक। मैत्री और शत्रुता दोनो के कुछ मानी होते थे—आज की तरह दोनो निष्क्रिय-निष्प्रभ नही थी। बातें कम, काम अधिक होता था। जीवन की गति क्षिप्र थी, प्रेम था, सेवा थी। जाति और धर्म का व्यवधान स्नेह-बाधक नही था। निर्धन और दयनीय होकर भी जनता हँसती, गाती, नाचती हुई

१—'बन्दी जीवन', भाग १, भूमिका, पृष्ठ ११

'महाजनो येन गत स पन्था' चलकर अपना जीवन बिताती रही। पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की लहरें इस देवभूमि के तट पर टकरा-टकरा कर लौट गईं। भिगो भले ही गईं किन्तु डुबा न सकीं। भारतीय संस्कृति और सभ्यता का वास्तविक रक्षक तो यही वर्ग रहा। मध्य वर्ग का अग्रगामी दल पतवार बना। परिवर्तन की प्रक्रिया पहले इसी वर्ग में हुई क्योंकि अज्ञान रूप से यही वर्ग भारतीय संस्कृति सभ्यता की सेना की पहली पंक्ति था और विदेशी सभ्यता तथा संस्कृति के आक्रमण की टक्करें इसी वर्ग ने झेलीं। सौभाग्य की बात यह थी—अथवा सम्भवत यह स्वाभाविक ही था—कि इस वर्ग के जिस दल विशेष ने हिन्दी की सेवा की वह अन्तर और बाह्य दोनों ही रूपों में पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का जानकार तो था किन्तु मानसिक दृष्टि से उनका दास नहीं बना था। 'भारतेन्दु से लेकर आजकल के छात्र हिन्दी-सेवकों तक जिनका भी लगाव हिन्दी से रहा उनमें से अधिकांश ने पश्चिम को समझा तो लेकिन भारतीयता से दूर रहने की कसम नहीं खाई। इसका परिणाम यह हुआ कि हम उस विशाल भण्डार में से अपनी समझ और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपयोगी तत्व लेने में और अपना अपनापन बचाये रखकर उनसे लाभ उठाने में समर्थ हुए। भारत में ऐसे व्यक्ति भी पैदा हुए जो विदेश में भी धोती कुर्ता पहनने का साहस रखते थे। अपनी संस्कृति के प्रेमी और सादगी के पुजारी थे। मालवीय जी ने राष्ट्रीय भावनापूर्ण हिन्दू विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए इतना अधिक धन एकत्र कर लिया जितना किसी सार्वजनिक संस्था के लिये तब तक इकट्ठा नहीं हुआ था। हिन्दी प्रचार के लिए सभा, सम्मेलन और एकेडेमी, आदि की स्थापनाएं हुईं। रामकुमार वर्मा ने चाहा कि "जीवन फूल की तरह खिले और सुगन्धि की तरह समीर में जम जाय।" हम पढ लिख कर तैयार हुए और हमारी गृहणियां भी निरी अपढ नहीं रह गयीं। हमें अपने उद्यमी पूर्वजों से आगे बढने की धुन सवार हुई। 'बच्चन' ने लिखा है, "जिसकी पीठ के बीच में सीधी रीढ नहीं है वह संघर्ष नहीं कर सकता।"[१] नवीन भारत के पिछले ऐतिहासिक युगों में—पृष्ठभूमि में—'पीठ के बीच में'—हमें भारतीय संस्कृति की, मानव की गरिमा की, एक सीधी और मजबूत रीढ—अखण्ड परम्परा—बराबर दिखाई पडती है। वह रीढ इस युग में भी सप्राण रही। इसी ने द्विवेदी, गुप्त, प्रेमचन्द, 'प्रसाद', पन्त, 'निराला', श्यामसुन्दरदास, आदि को वह प्राणशक्ति दी कि ये लोग दैन्य, दुख, संकट, कष्ट, अपमान, ग्लानि आदि सह कर भी हिन्दी को आगे बढाते रहे, और यदि उन्हें प्रतीक मान लें, तो भारतीय अपने भारत को उन्नति की ओर बढाते रहे। इसी ने लोगों को राजनीतिक

१ 'नये पुराने झरोखे', पृष्ठ २१२

और सामाजिक क्रान्ति करने का साहस दिया। क्रान्तिकारिणी सुभद्राकुमारी चौहान का उल्लेख करते हुए महादेवी ने लिखा है, 'वे राजनैतिक जीवन में ही विद्रोहिणी नही रहीं, अपने पारिवारिक जीवन मे भी उन्होने अपने विद्रोह को सफलतापूर्वक उतार कर उसे सृजन का रूप दिया था — इतना ही नही जिस कन्यादान की प्रथा का सब मूक भाव से पालन करते आ रहे थे उसी के विरुद्ध उन्होंने घोषणा की — 'मैं कन्या-दान नही करूँगी। क्या मनुष्य २ को दान करनेका अधिकारी है ? क्या विवाह के उपरान्त मेरी बेटी मेरी नहीं रहेगी ?'[1] इस प्रकार स्वदेशाभिमान, स्वदेशी, संस्कृति पर जोर, प्राचीन साहित्य मे मस्तक स्थापित करना, पंच महाव्रत, समानता का भाव राष्ट्रभाषा, अपनी संस्कृति के प्रति गौरव की भावना, राजनीति का धार्मिक रूप भी स्वीकार करना और अहिंसा की नीति, निर्भयता, कष्ट-सहिष्णुता, क्रान्ति, नारी की स्थिति मे परिवर्तन, प्रेम सहानुभूति, आदि इस युग का नया जीवन हुआ।

विचित्रताओं से भरा हुआ भारत और उसके दृष्टिकोण—

इस प्रकार हम देखते है कि "सभ्यता और संस्कृति की सबसे पुरानी अवस्था से लेकर नवीनतम विकसित अवस्था तक के प्रत्येक स्तर के वर्ग भारतीय समाज मे पाए जाते हैं। बडे से बडे पैमाने की सामाजिक राजनीतिक और सांस्कृतिक समस्याएँ अपने नग्नतम रूप मे भारत के अन्दर देखी जा सकती हैं। विभिन्न नस्लों और धर्मों के पारस्परिक सम्बन्ध और सहअस्तित्व की समस्याएं, पुराने अन्धविश्वासों, ढहते हुए सामाजिक स्वरूपों, और परम्पराओं से संघर्ष करने की समस्या, शिक्षा के लिए प्रयत्न, नारी की स्वतन्त्रता के लिए लडाई, कृषि के पुनर्गठन और उद्योगों के पुनर्विकास, गाँवों और शहरों के बीच वाञ्छित एवं समुचित सम्बन्धों की समस्या, विभिन्न प्रकार और तीव्रतम रूप का वर्ग-संघर्ष, राष्ट्रीयता और समाजवाद के समुचित संबंध की समस्या—आधुनिक जगत की ऐसी अनेक प्रकार की समस्याएं विशेष तीखेपन और बडी तेजी के साथ[2] हमारे इस आलोच्य काल के भारत के सामने आयी। साम्यवाद के अध्ययन ने एक नवीनतम दृष्टिकोण दिया चीजों को देखने का, समस्याओं को समझने का और उनका हल निकालने का, पुरानी और नई चीजों पर विचार करने का। हम उस दृष्टिकोण को जीवन मे और आस्थाओं मे पूरी तरह से उतार नहीं पाए। पाश्चात्य सभ्यता ने हमें भौतिकवादी दृष्टिकोण दिया। इस वाद का सम्बन्ध केवल दृष्ट से है। अनिवार्य अदृश्य शक्तियों और तत्वों को यह वाद इन्कार

१. 'पथ के साथी', पृष्ठ ४५

२. रजनी पाम दत्त कृत 'इण्डिया टु डे', पृष्ठ १८

कर देता है। यह दृष्टिकोण भी पूरी तरह से हमारा नहीं हो सका। इनसे हमारा इतना लाभ अवश्य हुआ कि हम भौतिक तथ्यों के प्रति अपनी उदासीनता मिटा सके। लोकतन्त्र हमने इसलिए अपना लिया कि एक तो अंगरेजी व्यवस्था एक शताब्दी से भी अधिक समय से उसकी झांकी हमे दिखा रही थी और दूसरे, वह विश्व की नवीनतम, मान्य और शान्तिपूर्ण राज्य-व्यवस्था थी। हमारा आर्थिक संगठन भी उसी के अनुरूप चल रहा था। इस पूंजीवादी व्यवस्था पर आधारित लोकतन्त्र से हमने अपने सम्पूर्ण जीवन को सुधारने की आशा की जो अन्ततोगत्वा सफल नहीं हो सकती थी क्योंकि लोकतन्त्र का आधार है पूंजीवाद और पूंजीवाद का परिणाम है आर्थिक वैषम्य, अधिकारों का असन्तुलन, तथा अर्थ और अधिकार के केन्द्रीकरण से उत्पन्न व्यवहार और काम-सम्बन्धी अव्यवस्थाएं और अनीतियां। परिणामतः हमारा समाज इन विकृतियों का शिकार होने लगा। वस्तु प्रधान हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि हम व्यक्तिवादी हो चले। आकुलता, उग्रता, भ्रष्टाचार और विद्रोह हाथ आया। अहं की दीवाल अपने चारों ओर खड़ी करके उसमें अपना सिर छिपा कर हम उन शक्तियों से दूर रह कर अपने को सन्तुष्ट समझने लगे जिन पर हमारा कोई अधिकार नहीं किन्तु जो हमें प्रभावित करने पर तुली थी। अपने अतीत से मोह हो गया और हम परिवर्तन को अवांछित समझने लगे। संसार-समाज में जो-कुछ है उसे अधिक से अधिक भोगना चाहने लगे। हम इस लोक और इन्द्रिय-भोग में लिप्त हो गये और इस क्षणभंगुर जीवन में अधिक से भी अधिक जो सुखभोग सकते थे, भोगने की कामना करने लगे। भाग्यवाद का भी सहारा लेना पड़ा। विस्मृति और पलायन की इच्छा हुई। संयम की ऊपरी झलक बड़ी प्यारी लगी। सामान्य व्यक्ति विज्ञान से बड़ी-बड़ी आशाएँ करने और वैज्ञानिक मानव-जीवन को इन्द्रिय सुख और सुविधा के अनन्त उपकरणों से भरने पर तुल गया। आत्मा मरने लगी। विचारशील साहित्यिक ने चेतावनी दी, "यह विज्ञान हमारे समस्त सुखों का कोषाध्यक्ष होना चाहता है, जीवन की इकाई में आडम्बरों के शून्य जोड़ कर वह सहस्रों का गुमान करना चाहता है। वह इतना दुष्ट है कि संसार को बिगाड़ने के लिए ही बार-बार बनाता है।"[1] वैज्ञानिक स्वभाव और उससे सहज ही उत्पन्न बौद्धिक जिज्ञासाओं ने मात्र विश्वास पर ही स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। छानबीन, आलोचना और प्रश्न करने वाला स्वभाव बना। सहज-विश्वास का ह्रास हो गया। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन ने धर्म पर किये जाने वाले अन्धविश्वास की नींव खोद दी। धार्मिक उदारता आई। तकनीकी विकास नये-नये आर्थिक संगठन सामने ला रहा है। बड़ी बड़ी

1. रामकुमार वर्मा कृत 'आधुनिक कवि' भाग ३ की भूमिका, पृष्ठ ४

मशीनों ने उत्पादन के क्षेत्र में से व्यक्ति की अनिवार्य महत्ता और संगठनों तथा सामाजिक शक्तियों ने समाज के क्षेत्र से व्यक्ति की अनिवार्यता समाप्त कर दी है। मानव का अवमूल्यन हो गया है। हजारों पैदा होते हैं एक मर गया या मार डाला गया तो क्या हो गया! हजारों बकरे कटते हैं, एक मनुष्य भी कट गया तो क्या बिगड़ गया! मनुष्य का मूल्य पशु के तुल्य हो गया। वह मशीन का एक पुर्जा हो गया। दुर्घटना में उसके मर जाने पर उसके 'कम्पेन्सेशन' को—सिक्कों या नोटों में उसका मूल्य चुकाने की प्रथा चल पड़ी है!! सत्य अनुभव और प्रयोगों की सिद्धि का मुखापेक्षी बना दिया गया। वास्तविक दृष्टि के अभाव में कर्मकाण्ड को धर्म समझाने की भूल की जाने लगी। विज्ञान से प्राप्त सुविधाओं का भोग करते हुए भी धार्मिक जन विज्ञान की अवहेलना करते हैं! सामाजिक समस्याओं से उदासीन रहते हैं। विद्वानों का तिरस्कार और सम्मानों का आदर धार्मिकों की सामान्य प्रकृति हो गई। जड़ धार्मिकता ने भी मानव को मानव से लड़ाया है। जीवन में ढोंग समा गया। मानव विघटित हो गया। सत्य का निरादर यहां तक होने लगा कि यदि दस बीस हजार आदमी भ्रान्त हो गये तो उनकी भ्रान्ति को भी एक सामाजिक सत्य माना जाने लगा।

प्रचार के साधनों की सुलभता और सामान्य मानव की सहज कमजोरी ने वैयक्तिक और सामाजिक कूड़ा-करकट को भी साहित्यिक सम्पत्ति घोषित कर दिया है। अधिकांश बुद्धि-जीवी वर्ग मानसिक हीनता की भावना में पलता और बढ़ता है क्योंकि आदर प्रायः राजनीतिज्ञ का होता है, अध्यापक या विद्वान का नहीं! ऐसे लोग सिद्धान्त भी पश्चिम से लेना चाहते हैं और अनुभूतियाँ भी उन्हीं की पाना चाहते हैं। जीवन में जंग लग रहा है। सैद्धान्तिक व्याख्याओं वाली मोटी-मोटी पुस्तकें निकलती हैं। उच्च कोटि के चिन्तन और मनन का अभ्यास ही नहीं है—सम्भव भी नहीं। शिक्षा बिगड़ी, अध्यापक बिगड़ा, समाज बिगड़ा और अध्यापन व्यवसाय बन गया—ऐसा व्यवसाय जिसमें आमदनी सबसे कम, किन्तु जिसके व्यवसायी से उम्मीदें बहुत बड़ी बड़ी की गयीं। जिस प्रकार सभी प्रकार के व्यवसायों में भ्रष्टाचार का राज्य है उसी प्रकार अध्ययन में भी भ्रष्टाचार के प्रसाद खड़े हैं। अध्यापकों की दुर्दशा को लक्ष्य करके ही पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा है, 'उन्होंने कहा कि जो गर्दभ पूर्व जन्म में दूसरों के लिए आजीवन भारवहन कर सूखी घास खाता हुआ मर जाता है वह दूसरा जन्म लेकर मास्टर होता है।'[1] मध्ययुगीन भावुकता से अभी हमारा पीछा नहीं छूटा जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी

१– मेरी अपनी कथा', पृ. १४५

साहित्य को स्वस्थ हास्य और व्यग्य को उच्चकोटि की कृतियां नहीं मिल सकी। हिन्दी के बर्नार्ड शा का जन्म अभी होना है। सामाजिक प्रथाओं के अत्याचारो के प्रतिकार का आह्वान किया गया। बुराइयों की आलोचनाएं की गयीं। जाति प्रथा और ब्राह्मणवाद के विरुद्ध आवाजे उठी। रोमाटिक शादियां लोकप्रिय होने लगी। सुधारको ने आन्दोलन किये। प्रगतिशील लेखको ने इन्हे अपना विषय बनाया और पुस्तको मे सुधार के चित्र दिये। वहां के ये सुधार व्यक्ति और परिवार के जीवन मे अवतरित होने लगे। लोगो ने दहेज लेना कम किया। बहुतो को कुछ स्वतन्त्रता दी गयी। गरीब किन्तु सुन्दर लकड़ी का 'उद्धार' होने लगा। नारियों ने भी बाद में क्रान्ति की ओर कदम उठाया। भावनाओ मे असाधारण तीव्रता रखते हुए भी उनका क्रियात्मक रूप आजीवन असन्तोष एवं रुदन, आत्महत्या, आजीवन कौमार्य अध्यापिका या नर्स का जीवन अपनाने आदि तक सीमित रह गया। साहित्य मे ऐसे चित्रो की कमी नहीं जहां विवशता के कारण शरीर पति को, दैनिक जीवन सम्बन्धियो को और आत्मा प्रेमी को समर्पित कर दी गयी है। साहित्य के इन चित्रो के पीछे निर्बल भावुकता ही तो है। सच्ची बात तो यह है कि भारत आज बड़ी तेजी से बदल रहा है। यह असम्भव है कि किस परिवर्तन की कौन सी सीमा कहा है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण, गांधी राजनीतिक आन्दोलनो एव विश्व की तथा अपने राष्ट्र की परिस्थितियों ने हमको असाधारण गति से बदलना चाहा। एक नया समाज बनने वाला है। एक नये मानव का जन्म होने वाला है। बाह्य परिस्थितियां बड़ी ही तेजी से बदली हैं। एक विचित्र क्रान्ति हो रही है और वह भी लोकतन्त्रात्मक विधि से। एक ही वेग मे भारत उन सभी क्रान्तिमयी स्थितियो को पार कर जाना चाहता है जिसे पार करने मे सारे ससार को दो शताब्दियां लग गयी हैं। विडम्बना यह है कि जितनी तेजी से बाह्य परिस्थितियाँ हमारे बाह्य रूप को बदलना चाहती हैं हमारा सांस्कृतिक मन उतनी तेजी बदलने को तैयार नहीं। परिणामत बाह्य जीवन और मन मे असगति उत्पन्न हो गयी है। हमारी सारी दुनिया विकृतियां इसी असगति की प्रक्रिया हैं। जो जहा तक आगे बढ़कर सोच सका, उसने वहा तक बढ कर सोचा, सोचा तो आगे बढ़कर किन्तु मन उतना सुसङ्गत न हो सका, आदर्श न बदल सकीं। समाज के सास्कृतिक वातावरण का भी डर था। जितना बदल सके बदला। जितना न बदल सके, उसे छिपाया। नवीन का स्वागत किया, प्राचीन को छोड न सके। आपन को भी बदला—न बदला, अपने को भी बदला—न बदला। कुछ बातें बड़ी अच्छी, जीवनदायिनी और कल्याणकारिणी रहीं। हम यह नहीं भूल कि हम एक महान सास्कृतिक परम्पराओं वाले और शानदार इतिहास वाले देश के निवासी हैं। निराशा अध्यात्मवाद की हो तो हो, किन्तु सामान्यत जीवन को यथासम्भव निराशा

से बचाते हुए आशाओं और महत्वाकांक्षाओं से सुन्दर बनाते रहना है। शक्ति और पुरुषार्थ में पूरा विश्वास होना चाहिए और भाग्य पर आस्था रखनी चाहिए जिससे सन्तोष का सम्बल न लुट जाय। सबसे अलग रहने की नीति पूरी तरह से छोड़ दी गयी। सबको अपनाने मिलने और साथ ले जाकर चलने का स्वभाव बना। जीवन में भले ही बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु मस्तिष्क को नया दृष्टिकोण निश्चित रूप से मिला है। यह परिस्थितियों का परिणाम था, किसी नवीन दार्शनिक वैज्ञानिक चिन्तन का नहीं। सबसे अधिक तो हमने यह स्वीकार किया कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि नूनं नवमित्यवद्यम्, सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते, मूढ़ः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः।

यह प्राचीन और नवीन की–परंपरा और नवीनतम परिस्थिति की–विरोधी प्रकृति वालों की–संगति बिठाना–समुचित समन्वय–भारत की बहुत पुरानी सांस्कृतिक प्रकृति है। यह सदैव इतनी सक्रिय रही है कि भारत में शाश्वत तत्वों को परिवर्तनशील तत्वों से पूर्णतः पृथक कर सकना सहज नहीं है। नवीन आधुनिक युग में इसने यही करने का प्रयास किया। यह सही है कि समुचित एवं वांछित रूप में समन्वय अभी स्थापित नहीं हो सका किन्तु यह भी सही है कि समन्वय की प्रक्रिया प्रारम्भ से ही प्रारम्भ है। अंगरेजों के आने के पूर्व भारत के सामने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का प्रश्न था और यह प्रश्न भारत ने अपने ढङ्ग से बहुत कुछ हल भी कर लिया था। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का सुन्दर चित्र राजेन्द्र बाबू ने 'खंडित भारत' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। समन्वय समाहित कर लेने का–पचा लेने का–हजम कर लेने का–नाम नहीं है। समन्वय में विविधिताएं बनी रह सकती हैं। केवल वे एक दूसरे को काटती हुई नहीं चलती। अस्तु, प्रतीयमान दार्शनिक, धार्मिक, सौन्दर्य सम्बन्धी एवं जातिगत विरोधी प्रवृत्तियों के होते हुए भी हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक-सी जीवन-परम्पराएं और जीवन–पद्धतियां विकसित कीं। एक दूसरे की साधना पद्धतियों पर भी प्रभाव पड़ा। एक दूसरे के रहन–सहन, खान-पान रीति-रिवाज भी परस्पर प्रभावित हुए। दोनों में मतभेद भी है, दोनों में विरोध भी है दोनों में विभिन्नताएं भी हैं और दोनों का पृथक-पृथक अपना अस्तित्व भी है। समन्वय की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी और उसका जो सुफल मिल रहा था उसमें यदि बाधाएं न पड़ती तो शानदार स्वस्थ विकास होता। पर ऐसा नहीं हो सका। विरोध विभिन्नताएं और विविधताएं स्वार्थी दृष्टिकोण वाली उपनिवेशवादी विदेशी साम्राज्यवाद के हाथों में पड़ गई। उसने उन्हें विषाक्त कर दिया। अपने लाभ के लिये इनका उपयोग किया। यह मेल कितना शक्तिशाली हो सकता था,

इसका प्रमाण १६३१ ई० के आस-पास का समय जानना है। संसार की महानतम साम्राज्यवादी शक्ति के हाथ-पैर यह सम्मिलित शक्ति ढीले कर दे सकती थी। विभाजित होकर भी दो स्वतन्त्र देशों का निर्माण कर सकती है समन्वित होकर वह क्या नहीं कर सकती थी। इन्हें विपाक्त करके अँगरेजी साम्राज्यवाद ने विश्व-संस्कृति को किसी महत्वपूर्ण तत्व से वंचित कर दिया है।!! हिन्दी साहित्य भी उसी तत्व से वंचित हो गया। हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय का एक रूप हमें हिंदुओं के कायस्थ नामक वर्ग में मिलता है और इस वर्ग के माध्यम से जो परम्पराएँ आई उनमें न तो कठमुल्लापन है और न पंडिताऊपन। सांस्कृतिक दृष्टि से इस वर्ग ने बड़ी उदार मनोवृत्ति अपनाई थी और इसके द्वारा रचित आधुनिक हिंदी साहित्य में भी वह प्रवृत्ति है। मैं यह नहीं कहता कि अन्य किसी वर्ग ने ऐसा दृष्टिकोण नहीं पाया। अवश्य पाया है क्योंकि यह भारतीय संस्कृति की एक प्रधान प्रवृत्ति है, मैं कहना यह चाहता हूँ कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रत्यक्ष रूप इस वर्ग में इतना अधिक दिखाई पड़ा कि यह कहा जाने लगा 'कायस्थ आधा मुसलमान होता है।' समन्वय प्रवृत्ति से शक्ति लेकर इस वर्ग ने जो साहित्य आधुनिक हिन्दी को दिया उससे हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ी ही है भाषा की शक्ति में वृद्धि ही हुई है। समन्वय की यह प्रवृत्ति हमें पुरातन से भी सम्बद्ध रखती है और आधुनिक से भी। एक वर्ग इसे अपनाता है और एक वर्ग उसे। इसलिये आज से भारत में एक ओर उदारतावाद है और दूसरी ओर रूढ़िवाद, एक ओर अध्यात्मवादी वर्ग है और दूसरी ओर भौतिकवादी वर्ग, एक ओर बुद्धिवादी हैं और दूसरी ओर अनुकरणप्रिय। भारत में मजदूर बेगारी भी करता है और मजूरी भी। वस्तु विक्रयार्थ भी होती है और 'नजर देने' के लिये भी। सामन्तवादी प्रवृत्तियां भी हैं और साम्यवादी या प्रजातन्त्रवादी प्रवृत्तियां भी। साहित्य में भी दोनों का चित्रण है। आज भारत में भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय हो रहा है जिसका सुष्ठु रूप आधुनिक हिंदी साहित्य में-विशेष रूप से काव्य साहित्य में—मिल सकता है। आज का भारत सुधार और परिवर्तन से घबराता भी नहीं और प्राचीन को पूर्णतः तिलांजलि देने के लिये भी तैयार नहीं है। हम मानवतावादी भी हैं और ब्रह्म तथा ईश्वर को मानव से श्रेष्ठ भी मानते हैं। भाग्यवादी भी हैं और कर्मयोगी भी। यद्यपि साम्यवाद के महादेव के दर्शन धर्म के श्मशान में ही होते हैं किन्तु भारत में अनेक साम्यवादियों के अन्तरंग जीवन में धर्म की व्यावहारिक मान्यता पाई जा सकती है। विज्ञान ने भी यह पुरानी धारणा छोड़ दी है कि वह अंधविश्वास का समूलोच्छेद कर सकता है और जीवन के समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। आज का नवीनतम वैज्ञानिक और ईश्वर धर्म

को मानता है। इस प्रकार भारत का वर्तमान एक सन्धि-युग के बीच होकर चल रहा है। आज की हमारी संस्कृति, महाकवि अकबर के शब्दों में, न मशरिकी है, न मगरिबी है, वर्जीज साँचे में ढल रही है।' इसी के अनुरूप हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य न पूर्णत प्राचीन भारतीय साहित्य के सिद्धान्तों पर निर्मित होता है और न पूर्णत पाश्चात्य को दोनो के सिद्धान्तो को मिलाकर हमने अपना सिद्धान्त स्थिर किया है और नये भारत में तथा प्राचीन भारत से विषय वस्तु लिया है। भाषा हिन्दी है जो अपने नये वेश में न अँगरेजी से घृणा करती है, न उर्दू से। हाँ, अपना-पन अवश्य बनाये रखना चाहती है।

———

अध्याय १३

उपसंहार

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन का दृष्टिकोण – विभिन्न युगों के साहित्यिकों के मन पर पड़ने वाले प्रभाव —नये साहित्यक के लिए किस प्रकार रास्ता खोजा गया — किन-किन का प्रभाव पड़ा—बाहरी प्रभाव किस प्रकार स्वीकार किये गये—उर्दू का प्रभाव – संस्कृत का प्रभाव—अंगरेजी के प्रभाव का स्वरूप—पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—सांस्कृतिक पुनर्जागरण से प्राप्त प्रवृत्तियां—जीवन से उद्भूत प्रवृत्तियां —सिंहावलोकन, आधुनिक भारत की संस्कृति के विभिन्न उपादान — १-राजनीतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एवं तज्जन्य प्रवृत्तियां, २-युद्धों के अभिशाप . युद्धों के शुभ प्रभाव, ३-सांस्कृतिक पुनर्जागरण, ४-भारतीय अन्तर्चेतना, ५-समन्वयशील प्रकृति ६-उदार और ग्रहणशील प्रकृति, ७-आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था, ८-समाज का प्रगतिशील मध्यम वर्ग, ९-सुधारवादी मनोवृत्ति, १०-नारी जागरण, ११-राष्ट्रीयता, १२-गान्धीवाद और सत्याग्रह, और १३-पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व—सैधान्तिक प्राङ्गणों में इनका विनिमय—साहित्यिकों के मानस पर इनका प्रभाव —मंगलमय परिणाम ।

उपसंहार

विभिन्न प्रवृत्तियाँ और काल-विभाजन का दृष्टिकोण—

साहित्य मन पर पड़ने वाले प्रभावों और दृष्टिकोणों का प्रतिफलन होता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य भी आधुनिक काल अर्थात् बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी प्रदेश के निवासियों के जीवन की परिस्थितियों और उनके द्वारा उनके मन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों और उनसे निर्मित दृष्टिकोणों का परिणाम है। ये ही सब मिलकर संस्कृति की रूपरेखा बनाती हैं। पिछले अध्यायों में इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। ध्यान रखने की बात यह है कि इन पचास वर्षों के अन्दर भारत का जीवन और दृष्टिकोण असाधारण गति से परिवर्तित होता रहा है। भारतवासियों पर यह दोष लगाया जाता है—और कुछ हद तक सही भी है—कि उनकी परिवर्तन की गति बहुत मन्द होती है किन्तु इस युग के भारतीयों ने इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं वह नहीं बदला और बहुत हद तक नहीं बदला किन्तु जहाँ बदला है वहाँ आश्चर्यजनक रूप से बदला है, यह भी सही है। एक बात और ध्यान रखने की है। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य मध्यवर्ग का मध्यवर्ग के लिये और मध्यवर्ग के द्वारा लिखा गया है। मध्यवर्ग के जिन लोगों ने हिन्दी साहित्य लिखा है उन सबमें एक समानता आश्चर्यजनक रूप से बराबर मिलती है और वह है भारत को और हिन्दी साहित्य को विश्व में गौरवपूर्ण स्थान पाने का वास्तविक अधिकारी बनाने का प्रयत्न करना। मतभेद रहा है और बराबर रहा है मगर इतने रहा है कि कैसे और किस रूप में बनाया जाय, इसमें नहीं रहा कि बनाया जाये या नहीं, बनाने का प्रयत्न किया जाये या नहीं, एवं बनाया जा सकता है या नहीं। कैसे बनाया जावे यह अपने-अपने चिन्तन विचार एवं आस्था की बात है। हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य यथार्थ जीवन का परिचायक कम, दृष्टिकोण का परिचायक अधिक है। कारण यह है कि इस युग में हमारे दिन प्रति दिन के जीवन की अपेक्षा हमारा दृष्टिकोण अधिक प्रोज्ज्वल गौरवपूर्ण एवं प्रशस्त रहा है। जीवन का जितना रूप ऐसा रहा है उतना किसी न किसी रूप में साहित्य में आ गया है, और लाया गया है उसी दृष्टिकोण से देखने का एक विशेष चश्मा, दृष्टिकोण, अवश्य रहा

है। बात कुछ अजीब सी है किंतु है बिलकुल सही कि हमारा दृष्टिकोण हमारे जीवन यापन के स्वरूप से कुछ स्वतन्त्र या भिन्न रहा है, अर्थात् हमारे सोचने और करने में अन्तर रहा है। दृष्टि मे क्रान्ति थी, गति मे परम्परा और जीवन मे कमजोरियां। कारण यह है कि हमारी शिक्षा का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध रह नहीं गया था। शिक्षा दृष्टिकोण के निर्माण का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। इसलिए हमारा दृष्टिकोण हमारे जीवन से अलग जा पड़ा। अंगरेजों द्वारा बनाये गये मध्यवर्ग के ये दो रूप सर्वस्वीकृत है। इतने पर भी जीवन के चित्रो का अभाव बिलकुल रहा हो, ऐसी बात नही क्योंकि जीवन की शक्ति कुछ कम नही होती और बिलकुल सम्बन्ध विच्छेद करके साहित्य चल भी नही सकता था। इसलिए प्रेमचन्द का ग्राम्य चित्रण यथार्थ के बहुत कुछ अनुरूप होते हुए भी एक दृष्टिकोण विशेष का परिचायक है—आदर्शोन्मुख यथार्थवादका। आधुनिक हिन्दी साहित्य लिखने वाला मध्यवर्ग का यह व्यक्ति भी समय के साथ बहुत तेजी के साथ बदला है और इसका परिणाम यह हुआ है कि १९०० ई० का साहित्यिक १९०८ ई० के साहित्यिक से, १९०९ ई० का १९१६ ई० के साहित्यिक से, १९१७ ई० का १९२५ ई० के साहित्यिक से, १९२६ ई० का १९३५ ई० के साहित्यिक से, १९३६ ई० का १९४२ ई० के साहित्यिक से और १९४३ ई० का १९४५ और १९५० ई० के साहित्यिक से बहुत-बहुत भिन्न रहा है। तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि एक अवधि की बातें दूसरी अवधि मे बिलकुल नही पाई जातीं। बात यह है कि परिवर्तन कई प्रकार से हुआ करता है। कभी भिन्न प्रकार के शब्दो का अनुपात बदल जाता है, कभी शैली की चुस्ती मे कुछ ढीलापन या कुछ और अधिक सुगठन आ जाता है, कभी प्रकार विशेष की कृतियो की मात्रा अधिक हो जाती है और कभी एक ही कृति बहुत कृतियो से अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हो जाती है, कभी विषय बदल जाता है, कभी एक विशेष विषय पर अधिक रचनाएं की जाती हैं और कभी अपेक्षाकृत कम, इस प्रकार इन दस-दस और पांच-पांच वर्षों मे भी आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर परिवर्तन हुए हैं जो समय की गति की क्षिप्रता एवं दृष्टिकोण के परिवर्तन के सूचक हैं। भारतीय समाज की जीवन धारा इतनी तेजी से नहीं बदलती—बदल भी नहीं सकती, हां, सोचने का ढंग बदल सकता है और वह हुआ। ऐसा हुआ कि कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं ने समय-समय पर कुछ महा पुरुष पैदा किये। उन्होंने आवश्यकतानुसार समाज मे हलचलें पैदा की अर्थात् युगानुकुल नवीन विचारधाराओं का प्रचार किया। इससे अपने समाज के प्रगतिशील एवं क्रान्ति-चेता कुछ मध्यवर्गीय सदस्यों मे नवीन आशाओं, आकांक्षाओं एवं महत्वाकांक्षाओं का उदय हुआ। इन्होंने अपना परिवर्तन किया और

दूमरों से भी परिवर्त्तित होने का अनुरोध किया। बातें कहने, अनुरोध करने का, और वाछित रास्ते पर चला देने के प्रयत्नो का ढग बलात्मक हो सके, इसलिए अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक निधियों एव विधाओ पर भी दृष्टि डाली और जिन परिस्थितियो म हमारे अन्दर ये आकाक्षाएँ उत्पन्न हुई थी, विदेशो मे उस प्रकार की परिस्थितियो म उत्पन्न साहित्यिक विधाओ एव साहित्य को भी भली भाँति देखा। तब अपनी शक्ति और सीमा के अनुसार सबसे अच्छा जो कुछ हो सकता था वह उपस्थित किया गया। ऐसा साहित्य लिखते समय जहा एक ओर प्राचीन काल के उच्च कोटि के गौरव को प्राप्त करने की इच्छा थी वहाँ दूसरी ओर वर्तमान जीवन को सुधारने और सुन्दर करने की भी अभिलाषा थी। एक शानदार प्राचीन परम्परा वाले देश के विकृत वर्तमान म जागृत समझ एव उदार मानव की जो अभिलाषा, जो उद्देश्य एव जो दृष्टिकोण हो सकता है उसी से प्रेरित हो कर लोगो ने आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचना की। अपने देश जाति और साहित्य के उत्थान की महत्वाकाक्षा और उसके लिए प्रयत्न प्रयास निज गौरव के प्रति जागरूकता के दृष्टिकोण और दूसरो से सीखने और लेने के उदार दृष्टिकोण के विभिन्न तानो बानो से हमारे इस आलोच्य काल की सस्कृति का बाह्यरूप अभिव्यजित रूप — निर्मित हुआ है और यही इस युग के हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। इसी से प्रवृत्तियाँ निर्मित हुई हैं।

वैसे यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो भारतेन्दु से आज तक का साहित्य एक क्रम मे — एक अटूट परम्परा है—एक अविच्छिन्न प्रवाह मे आता है। इसका कारण यह है कि जिस भारत प्रेम का उदय भारतेन्दु-युग मे हुआ था उसी का विस्तार आज तक हुआ है लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन है, उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग अन्त म जिन नवीन शक्तियों का बीजारोपण हुआ वे उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अकुरित हुई और केवल बीसवी शताब्दी मे पूर्णत प्रस्फुटित हुई है।[१] ये तत्व या शक्तिया थी राष्ट्र-प्रेम या राष्ट्रीयता, भारत के सांस्कृतिक गौरव की चेतना, भारत के पुनरुत्थान की भावना विषय और वस्तु—दोनो ही दृष्टियो से साहित्य और साहित्यिक की सीमाओ का टूट जाना, जीवन धारा का मर्यादित रूप से प्रगतिशील हो उठना अर्थात् सरोवर के बधे हुए जल की तरह न हो कर तटो से मर्यादित और फिर भी गतिशील जलधारा की तरह हो उठना जिसका तात्पर्य यह हुआ कि अपनी ऐतिहासिक एवं सास्कृतिक जातिगत विशिष्टताओ के प्रति जागरूक होने के द्वारा ऊर्ध्व एव सबल प्राण हो कर बाहरी प्रभावो को सुन्दर ढग से स्वीकार करके अपनी शक्तियो, क्षमताओ एव सभावनाओ को विस्तृत करके उनको साहित्यक

१– 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका', पृ १५५

अभिव्यक्ति करना आदि। ये शक्तियां एवं प्रवृत्तियां बीसवीं शताब्दी में सप्राण एवं सक्रिय रहीं। अन्तर इस प्रकार हुआ कि कभी इनमें से कोई तत्व अधिक महत्त्व पा गया और कभी कोई, कभी किसी एक की अनुभूति और अभिव्यक्ति अधिक तीव्रता पा गयी और कभी किसी दूसर की। साहित्य में अन्तर एक बात के कारण और अधिक प्रतीत होता है और वह बात है अभिव्यक्ति के माध्यम—भाषा—की अक्षमता के दूर होने के विभिन्न स्तर। महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा, मैथिलीशरण गुप्त की भाषा, 'हरिऔध' की भाषा, माखनलाल चतुर्वेदी और 'नवीन' की भाषा, 'प्रसाद'–पन्त–'निराला' की भाषा, रामकुमार वर्मा–महादेवी वर्मा की भाषा, भगवतीचरण वर्मा–अंचल–नरेन्द्र की भाषा, 'अज्ञेय' 'बच्चन' 'दिनकर' आदि की भाषा नागार्जुन और धर्मवीर भारती आदि की भाषा तथा इधर के कवि सम्मेलनी कवियों की भाषा विभिन्न स्तरों और परिवर्तन के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करती है। श्री कृष्णलाल ने १६०० ई० से लेकर १६२५ ई० तक के काल को तीन विभिन्न कालों में विभाजित किया है '—१६०० ई०, १६०८ ई० से १६१६ ई० और १६१६ ई० से १६२५ ई० तक।[1] इसके बाद १६२५ ई० से १६३५ ई० तक एक प्रकार की, १६३५ ई० से १६४५ ई० तक दूसरे प्रकार की, और १६४५ ई० से १६५० ई० तक एक तीसरे ही प्रकार की विचारधारा और तदनुरूप शैली की रचनाएँ हिन्दी में प्रचलित हुईं। व्यक्ति–स्वातन्त्र्य और रुचि वैभिन्न्य प्रधान आधुनिक युग में यह कहना असम्भव है कि उपर्युक्त तिथियों के पहले या बाद में उस प्रकार–विशेष का साहित्य नहीं लिखा गया। यहाँ भी कसौटी महत्व, प्रचुरता या प्रधानता की ही है।

विभिन्न युगों के साहित्यकों के मन पर पड़ने वाला प्रभाव—

१६०० ई० से १६०८ ई० तक का हिन्दी प्रेमी एवं हिन्दी का साहित्यिक पूर्ण रूप से आदर्शवादी था। वह नीति का अनुयायी और ऊँची बातें सुनना, सोचना और यदि हो सके तो लिखना उसकी आकांक्षा थी। उसके पास अभी समर्थ भाषा नहीं थी क्योंकि उस युग में जो भाषा साहित्य की भाषा बनने आ गयी थी वह सक्षमता, सामर्थ्य और सुन्दरता की आकांक्षिणी थी उसे ऐसी बनाना था। इस काल की साहित्यिक चेतना पर यह दायित्व भी था और उसने इसे उठाया क्योंकि ऐसा करना उसने अपना धर्म एवं 'कर्त्तव्य' समझा। इस युग के व्यक्ति ने स्वामी विवेकानन्द, और स्वामी रामतीर्थ के दर्शन किये थे। दयानन्द के उपदेश और आर्यसमाज की

१–आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'

बातें वातावरण मे गुंजाई आ रही थी। यह युग सास्कृतिक पुनरुत्थान की निकटतम भूमिका मे था और उससे बहुत अधिक अनुप्राणित एव अनुप्रेरित था। यही कारण था कि जिसे इसने 'धर्म' अथवा 'कर्तव्य' समझ लिया उसके लिए यह जीवन न्योछावर कर सकता था। इसके पास नीति का बल या धन, प्रचार अथवा पद का नहीं। इसे सुनहरे भविष्य का भी लालच नहीं था। यह व्यक्ति हिन्दी के प्रति असाधारण और अविचल रूप से आस्थावान था। ज्ञान-प्रचार की आकांक्षा ने देश-विदेश की घटनाओ और वहा की अच्छी-अच्छी बातो की ओर ले जाना और उसे अपनी भाषा के द्वारा अपने साहित्य मे लाने के लिए उत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया था। मस्तिष्क और चिन्तन ऊँचा किया जा रहा था। इस युग के लेखक के पास भाषा का कोई भी आदर्श नहीं था। इसका गद्य अव्यवस्थित था। प्राणों मे नव युग की अदम्य प्रेरणा थी, वाणी मे प्रारम्भिक अटपटापन था। दुख के साथ कहना पड रहा है कि १६५० ई० मे स्थिति बिल्कुल उलट गयी अर्थात् वाणी मे प्रौढता का सामर्थ्य आ गया किन्तु बुद्धि मे अविवेक का उन्माद आ गया!

१६०८ ई० के बीतते-बीतते अर्थात् आठ वर्षो के अथक प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप इस युग के साहित्यकों ने भाषा का एक मानदन्ड स्थिर कर लिया था। खडी बोली का मान्य और सुष्ठ रूप सामने आ गया था। इसे पाकर इसके द्वारा अब हमने अपनी आशाओ और आकाक्षाओं को व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। देश को उँचा उठाने के लिए अपनी सभ्यता, सस्कृति और इतिहास की वे बातें, जो हमारा शीश गर्व से उन्नत कर सकती थी, हमारे जीवन को सही रास्ते पर लगा सकती थी और हमारे मानस को उन्नत और श्रेष्ठ बना सकती थीं साहित्य मे अभिव्यक्त की जाने लगी। कर्कश खडी बोली काव्योपयुक्त बनने लगी थी। सस्कृति के मोह ने सस्कृत का अनुरागी बना दिया था। गद्य विदेशी ज्ञान विज्ञान को और अपने देश को उठाने मे उपयोगी बातो को हिन्दी जनता के सम्मुख निसकोच रूप मे ला रहा था। मस्तिष्क का क्षितिज व्यापक होने लगा था।

१६१६ ई० के बाद हिन्दी साहित्यिक वस्तुत असाधारण भावनाओं-कल्पनाओं, वृत्तियों-मनोवृत्तियो, आशाओ-आकाक्षाओ, योजनाओ और प्रयत्नों, तथा वेगों और उत्साहो वाला व्यक्ति था। आर्यसमाज द्वारा प्रेरित समाज सुधारों की रूपरेखाएँ महायुद्ध के पश्चात् अगरेजी साम्राज्य द्वारा प्रदत्त राष्ट्रीय क्षोभ और निराशाए, महात्मा गान्धी द्वारा उपस्थित किया गया विश्व का अप्रतिम राजनीतिक आन्दोलन तथा जीवन का सास्कृतिक पुनरुत्थान, अगरेजी साहित्य में अध्ययन से प्राप्त नवीन

विधाएं एवं नये क्षितिज, अपने प्राचीन साहित्य के अध्ययन से प्राप्त परम्पराएं, इन दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से उद्भूत आत्मगौरव की भावना तथा नवीन महान साहित्य के सृजन की प्रेरणा, टैगोर की साहित्यिक ऊंचाई तक पहुँचने के प्रयत्न, अपने इतिहास के गौरवशाली अध्यायों और उनके अवशिष्ट प्रतीकों की जानकारी से प्राप्त सन्तोष, आत्महीनता की भावना को निकाल फेंकना, जो चीज अपने यहां नहीं है मगर नवीन जीवन व्यवसाय के कारण अपने लिए उपयोगी है उसके लिए दूसरे के यहां का माडेल स्वीकार करके अपने यहां के हवा पानी मिट्टी में लगभग वैसा ही दूसरा तैयार कर लेने की उदारता आदि उस युग के साहित्यिक की मनोस्थिति के विभिन्न उपकरण हैं। हर प्रकार की अभिव्यक्ति में सक्षम एवं समर्थ साहित्यिक खड़ी बोली सर्वमान्य रूप में सबके सामने आ गयी। 'सबके' का तात्पर्य उन लोगों से है जो हीन मनोवृत्ति से उठ चुके थे—नहीं तो हिन्दी से द्वेष करने वाले हिन्दू और मुसलमान भाई १९६४ ई० तक भी कभी कभी झलक जाते हैं। उच्च कोटि के साहित्य के लिए सामान्यतः जो कुछ चाहिए था वह सब सुलभ हो गया। गद्य और पद्य दोनों में इस तरह के लेखक सामने आए और कृतियां पढ़ने को मिलीं कि हिन्दी गर्व से सिर उठाने लगी। बलिदानियों का बलिदान एवं तपस्वियों की तपस्या रंग ले आई। ये प्रवृत्तियां कुछ धीमी गति से क्रियाशील थीं और इनसे प्रभावित लोगों की संख्या भी अपेक्षाकृत कम थी। गद्य में प्रौढ़ता आ गई थी किन्तु कलात्मकता का अभाव था। साहित्यिक मानव मन और आत्मा के सूक्ष्म प्रदेश की ओर उतना नहीं बढ़ा था। यह सब हुआ १९२५ ई० के पश्चात्। सब जीवन की गति अत्यन्त क्षिप्र हो उठी थी। भारतीय रंगमंच पर ऐतिहासिक महत्व की घटनाएं घटीं। भारतीय चेतना और प्रतिभा आपाद-मस्तक आलोड़ित-विलोड़ित हो उठी। लक्ष्य देदीप्यमान था। उसकी प्राप्ति के साधन पर अखण्ड विश्वास। कुछ कर गुजरने की इच्छा थी। 'इन्कलाब' के वातावरण में कला फलित हो रही थी।

अब प्रश्न केवल देशी और विदेशी का ही नहीं रह गया था, गरीब और अमीर का भी था। पूंजीपति और पूंजीविहीन की भी समस्या सामने आ गई थी। देखने का दृष्टिकोण विदेशी अवश्य था परन्तु मध्यवर्गीय बुद्धिवादी हिन्दी के साहित्यिकों ने भी वह दृष्टिकोण अपना लिया था। इस दृष्टिकोण वाले दृष्टि और भारत की सांस्कृतिक दृष्टि मे समन्वय नही स्थापित कर सके थे। बहुत-कुछ सिद्धान्तवादी होने के कारण इनकी जडें जीवन की गहराइयो मे नही जाने पाई थी। इस वर्ग के लेखको का भी दृष्टिकोण भारत का उत्थान, भारतीय जीवन की उपयोगी व्याख्या और इस दृष्टिकोण से उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण करना था।

१९४५ ई० के बाद के नये साहित्यिको का मनोविज्ञान और उनका प्रेरणा-स्रोत तथा उनके महत्व एव ऐतिहासिक महत्व का अनुमान अभी गहरे विवाद का विषय है। यह साहित्यिक आज भी रास्ते की ही खोज कर रहा है। यह वर्ग द्वितीय महायुद्ध के बाद के जिस करुण, दयनीय एव असन्तोषपूर्ण जीवन की पृष्ठभूमि मे अपने साहित्य की रचना करने की बात कहता है उस जीवन की गहराइया मे जा कर उसकी अनुभूति इस वर्ग ने की नही। यह पश्चिम के सिद्धान्तो के चश्मे को आखो पर, और मन ही मन अपनी बुद्धि का 'तिकडमबाजी' मे लगाए रहता है। अटपटी बानी बोलता है, आन्तकित कर देने वाली व्याख्याएं करता है, शोर मचाना जानता है, प्रतिपक्षी को परास्त करने की सारी कलाएं जानता है, देखना केवल इतना ही है कि क्या काल देवता को भी परास्त करना जानता है !! इसकी जडें अपने देश के जीवन और सस्कृति मे नहीं हैं। यह 'नई चीज' देने का रौब गांठने के लोभ मे पश्चिम की नकल करता है। साधनाहीन कच्चे नवयुवको के लिए इधर बडा आकर्षण है।

ये हैं इन पचास वर्षो के काल के विभिन्न युगो के लेखको की मनोवृत्तियो के प्रेरणा स्रोत एव उनके मानस पर पडने वाले विभिन्न प्रभाव।

नये साहित्य के लिए किस प्रकार रास्ता खोजा गया—

महत्व की दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के प्रथम-आठ-दस वर्षों के साहित्यिको *का कार्य बडा ही कठिन और बडा ही महत्वपूर्ण था क्योकि* उनको नया रास्ता ढूंढ निकालना था और "···· ·· नया मार्ग ढूंढ निकालना भी साधारण काम न था। रास्ते सभी अनजाने थे। किसी ओर अन्धाधुन्ध ढग से बहना भी खतरे से खाली न था। फूंक-फूंककर पैर रखने की आवश्यकता थी। इस कठिन अवसर पर हमने पथ-प्रदर्शको ने बडे साहस और उत्साह का परिचय दिया। ब्रजभाषा के स्थान पर काव्य मे खडी बोली का प्रयोग होने लगा। सस्कृत, बगला और अंगरेजी ग्रन्थो का अनुवाद

करके शब्दों की पूंजी बढ़ाई गई। अन्य साहित्यों के अध्ययन से भावक्षेत्र का विस्तार बढ़ाया गया—।"[१]

किन-किन का प्रभाव पड़ा ?

गान्धी जी के द्वारा प्रचारित देश प्रेम, स्वातन्त्र्य संघर्ष, जागरण, सुधार, साम्प्रदायिक एकता, धार्मिक औदार्य, परसेवा, आदि ऊंचे विचार अपनाए गये जिससे देश और जाति का कल्याण हो सके। सत्य और अहिंसा को अपनी आस्थाओं और धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुरूप कर लिया गया। विरोधों अथवा विभिन्नताओं म समझौता करके भी साहित्य लिखा गया। भारतीय नवजागरण ने तो भावों और विचारों का, विषयों और विषय के स्रोतों का, अक्षय भण्डार ही खोल दिया था। पश्चिम से नये दृष्टिकोण और नये सिद्धान्त मिले जिनके प्रकाश म साहित्य का नया रूप निखरा। संस्कृत, बंगला, अंगरेजी, उर्दू, फारसी, मराठी, आदि के साहित्यों की जानकारी से भी स्वरूप और दृष्टिकोण को वांछित रूप देने म सहायता की। अनुवादों क द्वारा लियक, टैगोर, आदि महान विभूतियों के विचार और साहित्य म भी हमारा परिचय हुआ और हमारी निधि बढ़ी। हमारे म: का क्षितिज और अधिक विस्तृत हुआ। हम अपने जीवन और राजनीति मे देशभक्ति और मानव के कल्याण की जिन भावना से प्रेरित हो कर क्रान्ति कर रहे थे उन्हीं भावनाओं और उद्देश्यों न साहित्य मे भी क्रांति उपस्थित कर दी। 'प्रसाद' पन्त और 'निराला' ने रूप विधान म और प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादियों ने साहित्य की आत्मा मे भी क्रान्ति की। लक्ष्य फिर भी श्रेयस्कर का दर्शन ही रहा।

बाहरी प्रभाव किस प्रकार स्वीकार किये गये ?

भारतीय सास्कृतिक तत्वो का उल्लेख किया आ चुका है, जैसे—समन्वय, सहिष्णुता, आस्तिकता, ब्रह्म धार्मिकता एव नैतिकत, उपेक्षा न करते हुए भी लौकिकता को आवश्यकता से अधिक न बढने देना, अलौकिक पर आस्था, आदि—उन सबका हिन्दी के आधुनिक साहित्यिक ने बराबर ध्यान रक्खा है। बाह्य रूप अवश्य बदला है किन्तु हमारी ये सास्कृतिक प्रवृत्तिया अक्षुण्ण हैं—बराबर पाई जाती हैं। इसीलिए हम महाकाव्य के उपयुक्त महान कल्पनाएँ कर सकने में बराबर समर्थ रहे हैं और इसी सास्कृनिक उत्तराधिकार के अभाव मे उर्दू महाकाव्य देने मे असफल रही है। इसी भाव-वैभव की भूमिका के कारण ही हमारी भावनाएँ और धारणाएँ असमर्थ कभी नही होने पाईं—वे विकलाग कभी भी नही हुई। हमारे आधुनिक युग के साहित्यिक को उत्तराधिकार मे भक्ति और उपासना का वातावरण, सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, जायसी, केशव, बिहारी, घनानन्द आदि का काव्य-वैभव सस्कृत का विपुल साहित्य और असाधारण काव्यशास्त्र, वेद उपनिषद्-गीता-बुद्ध-जैन, आदि की अद्वितीय दार्शनिक सम्पत्ति, रामायण और महाभारत जसा कथा काव्य, कृष्ण राम, आदि की प्राप्ति हुई। इन्ही के द्वारा उसके चिन्तन, मनन, मन, कल्पना भावना, आदर्श, आशा, आकाक्षा, कर्म, आदि की रूपरेखा निर्मित होती है। फिर, वह वतमान को देखता है तथा पश्चिम के भी ज्ञान-विज्ञान और साहित्य का अध्ययन करता है। तत्पश्चात् आत्मा की रुचि, प्राणो की क्षमता, बुद्धि की विशेषता, सच्चाई और ईमानदारी, आदि के आधार पर उसके साहित्य की रूपरेखा निश्चित होती है। इसमे युग और परिस्थिति का रग भरा जाता है। पृष्ठभूमि सास्कृतिक होती है, बीज वर्तमान के बोये जाते हैं और अधिकतर पाश्चात्य ढग के बर्तनो मे उपस्थित किये जाते हैं। मध्ययुगीन और प्राचीन आदर्श, मान्यताएँ, कसौटिया, प्रवृत्तिया, आदि भी साथ-साथ चल रही हैं। हम उस समय अपनी श्रेष्ठतम विभूति अपनी श्रेष्ठतम कला और उच्चकोटि की साधना के द्वारा उत्कृष्टतम रूप मे समाज के सामने उपस्थित कर सन्तोष प्राप्त करने की वृत्ति मे थे। इसके लिए अधिक से अधिक त्याग, बलिदान, कष्ट, सहिष्णुता, आदि की आवश्यकता पडी। हमने अपने मे ये गुण भी पैदा कर लिये क्योकि हमे अपने और अपनो के सामने गौरवास्पद रूप मे खडा करना था क्योकि हमारा अतीत गौरवमय था। हमने औरो से लिया है और बहुत-कुछ लिया है—भले ही उतना नहीं ले पाए जितना अँगरेजी ने दूसरो से लिया। फिर भी, हमारे अपनाने की एक योजना थी। हमने उसी को अपनाया जो हमारे लिए उपयोगी था और हमारी प्रकृति के अनुकूल था। ऐसा भी हुआ है कि आज अपनाया और कल, जब उसकी आवश्यकता नही रह गई, छोड दिया या अपनी आवश्यकता और प्रकृति के अनुसार उसमे परि-

वर्णन करते रहे। न लेना जड़ता का द्योतक होता है, लेकर पचा लेना, जीवन की निशानी। हमारे लेने में जीवन का स्पन्दन रहा है। बंगला साहित्य का हमारे ऊपर जो ऋण है उसे हम नतमस्तक होकर स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि उनका साहित्य हममे कुछ पहले लिखा जा चुका था, अतएव लिखना प्रारम्भ करने के पहले हमने उसे पढा था और उसमे सहायता भी ली थी। फिर भी, यह बात जोर देकर कही जा सकती है कि यदि टैगोर, द्विजेन्द्रलाल राय और शरत हमारे सामने न होते और फिर भी हम लिखते, तो जो लिखते वह आज के लिखने से कम महत्वपूर्ण न होता। कारण यह है कि हमे लिखने की प्रेरणा नवीन जीवन, नवीन परिस्थितियो एव सास्कृतिक पुनर्जागरण ने दी है, बगाल ने नही। बगाल ने मदद दी है, प्रेरणा नही। हमारे और बँगला साहित्य मे यदि कुछ साम्य है तो इसका अर्थ यह नही है कि चूँकि वह हमसे पहले लिखा गया है इसलिए हमने उसकी नकल की है। साम्य इसलिए है कि बगाल और हिन्दी प्रदेश दोनो के नवयुग की पृष्ठभूमि मे एक ही नव सास्कृतिक पुनर्जागरण रहा है। टैगोर के रहस्यवाद को भी कबीर से प्रेरणा मिली है और रामकुमार वर्मा के रहस्यवाद की पृष्ठभूमि मे भी कबीर है। किसी बडे साथी की कृति की प्रशसा करते हुए उसी के समान कुछ लिखना सदैव नकल ही नही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में समसामयिक जीवन और स्वतन्त्र अध्ययन से कम सहायता नही मिली है। नगेन्द्र ने लिखा है, 'वास्तव मे भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उडने के लिए पंख फडफडा रही थी।'[1] अस्तु, इसी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रेमचन्द ने अपने चारों ओर के जीवन से प्रेरणा ली तथा सुदर्शन ने पुराण शैली में सामाजिक सत्यो की व्यजना भी की है। बात यह है कि जिस प्रकार की हमारी जीवन-चेतना रही है उसी के अनुरूप हमने अपनी भाषा और शैली में भी परिवर्तन कर लिया। इसीलिये द्विवेदी युग के बाद छायावाद का युग आया था। यह परिवर्तन किसी भी विदेशी प्रभाव के कारण नहीं हुआ। अंगरेजी और बगला साहित्य यदि हमारे सामने न भी होता तब भी हमने यह परिवर्तन किया होता। आखिर, घनानन्द के सामने कौन अंगरेजी या बगला साहित्य था ? बात यह है कि उस समय विद्रोह, उन्मूलन, परिवर्तन और सुधार समस्त चेतन मन की मनोवृत्ति हो गई थी जिसके अन्दर आधुनिक हिन्दी का साहित्य भी आता है। बेचारा हिन्दी का साहित्यिक अथवा हिन्दी का प्रेमी बडा अभागा होता है। उसको बददिमाग अधिकारी और उसकी पूँछ—दोनो के व्यग्य, कटूक्तिया, परिहास, ताने, तिरस्कार,

---

१—'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तिया', पृष्ठ ६

आदि बराबर मिलते हैं। जिनकी बुद्धि की दिवालापन सूर्य की रोशनी की तरह सर्वविदित है, वे भी हिन्दी न लेने-पढ़ने को एक गौरव की बात समझ कर हिन्दी वालो पर एक उपेक्षा की हँसी बिखराते रहते हैं। पहले तो लोग बेहिचक कह डालते थे कि हिन्दी मे 'हनुमान चालीसा' के अलावा और है ही क्या! इधर जब इस साहित्य की श्रेष्ठता लोगो को आकृष्ट करने लगी तब इस बात को स्वयंसिद्ध मान कर कि हिन्दी वाला बेवकूफ होता है, वह भला ऐसी ऊँची और बडी बात कैसे कह सकता है—क्योंकि इन लोगों के विचारों के अनुसार ऊची और बडी बात केवल अंगरेजी में ही सम्भव है—ये यह दिखाने का प्रयत्न करने लगे कि उसका सब-कुछ अच्छा अंगरेजी की नक़ल है वहीं से ली गयी है और इनमे हिन्दी वालो का अपना कुछ भी नही है। 'निराला' के साथी और उनको अच्छी तरह जानने वाले रामनिवास शर्मा कहते हैं—"निराला न्यू वेरी लिटिल इंग्लिश पोयेट्री बिफोर ही बिकेम दि ग्रेट पोयेट दैट ही इज '' ही हैज नाट बीन इन्फ्लुएन्स्ड बाई एनी पर्टिकुलर रोमैंटिक पोएट ' '''हिज रियल इन्सपायरर्स और तुलसीदास एण्ड रवीन्द्रनाथ। ए रेवेलस पर्सनालिटी, सच ऐज निरालाज, इज़ नाट बिल्ट अप बाई इन्फ्लुएन्सेज बट ग्रोज आउट आफ लाइफ इटसेल्फ।"[1] 'बच्चन' कहते हैं, "नथिंग कैन बी मोर फारफेच्ड दैन टु थिंक दैट दि यूरोपियन रोमैंटिक मूवमैंट एन्ड छायावाद आर बेसिकली सिमिलर मूवमेन्ट्स। यूरोपियन रोमैन्टिक मूवमेन्ट वाज दि आफ्टरमाथ आफ दि ग्रेट रेवोल्यूशन। एँड छायावाद? इट एमरज्ड आफ्टर दि कम्पलीट सरेंडर आफ इण्डिया अन्डर दि ब्रिटिश बूट। ऐक्चुअली इट इज दि एमरशन आफ दि सोल आफ इण्डिया व्हिच वुड नेवर बी एन्स्लेव्ड ...... ।"[2] जो कुछ भी प्रभाव माना जा सकता है वह छिछला था—सुपरफिशल। जिस पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को बनते हुए देखा है उनका कहना है कि 'हिन्दी मे उपन्यासो का विकास केवल पाश्चात्य उपन्यासो की देखा-देखी ही नहीं हुआ, न पाश्चात्य देशों के श्रेष्ठ उपन्यासों की परम्परा से ही विशेष प्रेरणा ली गई है और न किसी लेखक ने किसी महान पाश्चात्य उपन्यास के पैमाने पर हिन्दी मे प्रयोग करने का साहस ही किया है।"[3] निबन्ध को इसलिए अधिक अपनाया गया कि वे नई चेतना को लोगो तक पहुँचाने मे सबसे अधिक सहायक थे। आलोचना के विषय मे उक्त लेखक का विचार है कि "भारत की प्राचीन

१. रवीन्द्र सहाय वर्मा कृत 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' के परिशिष्ट से उद्धृत

२ वही

३ मेरी अपनी कथा'

सांस्कृतिक परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण की व्यापक चेतना प्रेरणाओं से अपना अन्त संस्कार करते हुए हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विकास-स्थितियों के समानान्तर हिन्दी आलोचना ने भी प्रगति की है।"[१] हिन्दी की सर्वप्रथम कहानी 'इन्दुमती', जो १९०० ई० में निकली थी के लेखक किशोरीलाल गोस्वामी के अन्तरंग मित्र श्री नारायण चतुर्वेदी का कथन है कि गोस्वामी जी अंगरेजी नहीं जानते थे और उनकी कहानी अंगरेजी प्रभाव से पूर्णतः मुक्त है। इसके बिल्कुल विपरीत विचार अंगरेजी के कुछ उन विद्वानों के हैं जिनको पी० एच० डी० यही सिद्ध करने के उपलक्ष में मिली है कि "अपने काव्यादर्श में उसे अंगरेजी साहित्य के रोमांटिक आन्दोलन से विशेष प्रेरणा मिली। यहां तक कि छायावाद ने उक्त आन्दोलन की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को ग्रहण किया ....हिन्दी छायावाद की मुख्य प्रवृत्तियां रोमैंटिक साहित्य की प्रवृत्तियों के इतनी अनुरूप हैं कि वे उनकी छाया मात्र प्रतीत होती हैं।"[२] उक्त विद्वान की पुस्तकें पढ़ने पर ऐसा लगता है कि समस्त आधुनिक हिन्दी कविता, कविता के आदर्श कविता के स्वरूप, आलोचना, आलोचना के प्रकार, कथा साहित्य, आदि सब-कुछ अंगरेजी से लिया गया है। कुछ सीधे अंगरेजी से लिया गया है और कुछ अंगरेजी से प्रभावित बंगला से। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी अंगरेजी की देन हैं, पन्त भी, 'प्रसाद' भी, प्रेमचन्द भी! किसी ने कभी कहा था कि अंगरेज हमें सभ्य बनाने आए हैं। आज कहा जा रहा है अंगरेज ने हमें हमारा नवीन साहित्य दिया!!! और, इसका आधार, है (१) हमारी पत्र-पत्रिकाओं में अंगरेजी कविताओं के अनुवाद भी प्रकाशित हुए, (२) हमारे विश्वविद्यालयों में अंगरेज कवियों की कविताएं भी पढ़ाई जाती थी, (३) पाश्चात्य कवियों और लेखकों सम्बन्धी परिचयात्मक निबन्ध हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए, (४) पाश्चात्य महापुरुषों पर भी हिन्दी में कविताएं लिखी गई, (५) चूंकि "वर्ड्सवर्थ की भांति द्विवेदी जी भी मनुष्य और प्रकृति को काव्य का मुख्य विषय मानते थे"[३] अतएव वर्ड्सवर्थ से वे अवश्य प्रभावित थे (यदि कुतर्क न कहा जाय तो इसी के स्वर में स्वर मिलाकर कहूं कि वर्ड्सवर्थ का अनुकरण किये बिना द्विवेदी जी सम्भवतः मनुष्य और प्रकृति को काव्य का विषय मान ही नहीं सकते थे!), (६) अवतारवाद की भावना के विरुद्ध जो भाव पैदा हुए वे अंगरेजी बुद्धिवाद के परिणामस्वरूप थे (दयानन्द, विवेकानन्द, आदि द्वारा

---

१ मेरी अपनी कथा

२ रवीन्द्र सहाय वर्मा कृत 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव' पृष्ठ १३१-१४०

३ रवीन्द्र सहाय वर्मा कृत 'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव'

प्रवर्तित सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणाम स्वरूप नहीं[1]), (७) युक्तिवाद, मानवतावाद, हरिजनोद्धार, नारी स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता, आदि के विषय मे यह कहना है, "२०वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों मे भारतीय विचारधारा मे प्रतिवर्तनवाद (रिवाइवलिज्म) की भावना प्रबल हो रही थी किन्तु इस प्रवृत्ति को मूल प्रेरणा पाश्चात्य विद्वानो द्वारा किये गये शोधकार्य से प्राप्त हुई थी।"[2]

तात्पर्य यह कि हमे यह मान लेना चाहिये कि विवेकानन्द के मानव-प्रेम पर काम्टे की पाजिटिविस्ट फिलासफी का प्रभाव था, न कि परमहंस रामकृष्ण की भावना और उनके द्वारा दी गई दिव्य दृष्टि एवं दिव्य अनुभूति का! रामचन्द्र शुक्ल जी ने रस सिद्धान्त और लोकसंग्रह की भावना आई० ए० रिचार्डस से ली थी—यह मान लेने पर पाश्चात्य प्रभाव और अधिक सूक्ष्म सिद्ध हो सकता है! मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त! रामकुमार वर्मा, प्रसाद', पन्त, 'निराला', महादेवी अपने विषय में चाहे जो कुछ कहे, किन्तु हमको यही मानना चाहिये कि वे 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त से अवश्य प्रभावित हैं! हिन्दी मे गीतकाव्य की परम्परा चाहे जितनी पुरानी रही हो इस पर सर्वाधिक प्रभाव 'लिरिक पोयट्री' का ही मानना विद्वत्ता है! और उससे भी अधिक चमत्कारिक विद्वत्ता यह मानने मे है कि छायावाद पर शैली पर—रोमांटिक कवियों—विशेषकर शैली के प्रतीकवाद का ही प्रभाव पड़ा है! भले ही पन्त कहते हों कि उनमे शैली का-सा वेग नहीं है, किन्तु इसमे क्या! इससे शैली पर कोई प्रभाव नही पड़ता!! 'शक्तिशाली हो विजयी बनो' का प्रेरणा-स्रोत 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' की विचारधारा ही माननी है! जहाँ कहीं भी 'कण' या 'विद्युतकण' लिखे दिखाई दें वहीं 'इलेक्ट्रानिक थियरी' या थियरी आफ एलेक्ट्रानिक कनवर्टेबिलिटी' की मुहर लग जानी चाहिए! 'सत्य शिव सुन्दरम्' के शीर्षक से जो कुछ भी हिन्दी वाला कहता है वह प्लेटो और अरस्तू की नकल मात्र है! 'कबीर का रहस्यवाद' रामकुमार वर्मा तभी लिख पाये जब इवलिन अन्डरहिल ने उनकी 'पर्याप्त सहायता' की! भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, और प्रतापनारायण मिश्र ने अँगरेजी 'पत्रकारिता से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त की!' हिन्दी के कवियों की चोरी या नकल के कुछ नमूने देख ही क्यों न लिये जायँ—

असल—माई थीम इज नो अदर देन दि हार्ट आफ मैन (वर्डसवर्थ)
नकल—मानव मे चिर विश्वास मुझे! (पन्त)

१—कोष्ठक का वाक्य मेरा है।
२—'हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव', पृष्ठ ११६

असल—टीच मी हाफ दि ग्लेडनेस दैट दाई ब्रेन मस्ट नो, सच हार्मोनियस मेडनेस
फ्राम दाई लिप्स वुड फ्लो।

नकल—शिक्षा दो न हे मधुर कुमारि मुझे भी अपना मधुमय गान।

असल—आर ड्राइव माई डेड थाट्स ओवर दि युनिवर्स
लाइक विदर्ड लीव्ज टु क्विकेन ए न्यू बर्थ

नकल—कलकंठिनि, निज कलरव में भर, अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन-वन, घर घर नाचें तृण तरु पात।

ये उदाहरण विद्वानों के दिये हुए हैं। इसी के बिलकुल अनुरूप छोटा-सा एक उदाहरण मैं भी देना चाहता हूँ। इसे स्वीकार कर लेने से अंगरेजी और भी महान हो जायेगी।

असल—'रिवर्स गो टु दि सी'

नकल—सरिता जल अम्बुधि पहुँ जाई।

और किस प्रकार निष्कर्ष उपर्युक्त उदाहरणों से निकाले जाते हैं वैसे ही निष्कर्ष निकाल कर कहना चाहता हूँ कि बेचारे तुलसीदास ने उपर्युक्त अंगरेजी पंक्ति कितनी कुशलता से अपनाली है। वे करते भी क्या, क्योंकि ऐसा किये बिना वे अच्छे कवि हो ही नहीं सकते थे!! कारण स्पष्ट है—हायर थाट्स आर पासिबुल ओनली इन इंगलिश'? गुलामी कितनी बुरी होती है, कितनी बुरी!!

कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी के कवियों या लेखकों पर पाश्चात्य लेखकों या विचारधाराओं का कोई भी और किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा। प्रभाव पड़ा है किन्तु उसी प्रकार का और उसी प्रकार से जैसे दो समर्थ साथियों का एक दूसरे पर तब पड़ता है जब उनका कुछ दिनों के लिये साथ हो जाता है। हमने किसी की नकल नहीं की और किसी के विचार अपने करके नहीं लिखे। हमारा जीवन जिस प्रकार का था और हमारे पास भाषा जिस प्रकार की थी हमने उसी के अनुसार एक सजीव प्राणी की भांति साहित्य प्रस्तुत किया। जब हमारी खड़ी बोली उतनी समर्थ नहीं थी कि हम उसमें सूक्ष्म भावों और रहस्यमय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कर सकते तब हमने गद्यात्मक भावों को काव्यात्मकता विहीन छन्दों में प्रकट किया। जब भाषा और सूक्ष्म हुई तब इतिवृत्तात्मक कविता लिखी। और अधिक सामर्थ्य आया तब अन्तर के सूक्ष्मतम भावों को ललित काव्यात्मकतापूर्ण शैली में प्रकट किया। हमने उखड़ी और लड़खड़ाती हुई भाषा और रूखी शैली में समाज सुधार सम्बन्धी कथाएँ भी लिखी हैं और 'प्रसाद' की सुमधुर भाषा में साहित्यिकता से संस्कृति, दर्शन और ललित कल्पना की अभिव्यक्ति भी की है। हमने अपने

जीवन और अपनी शक्ति का अनुकरण किया है किसी के साहित्यिक को अपना करके नहीं लिख दिया। हमारे लिखने का एक उद्देश्य था—चाहे वह उद्देश्य प्रत्यक्ष रहा हो और चाहे अप्रत्यक्ष। हमारे साहित्य का हमारे जीवन और हमारे दृष्टिकोण से सम्बन्ध था। वह अनुकरण मात्र नहीं है। अनुकरण अथवा मात्र प्रभावों के आधार पर पलने वाला साहित्य उतना महान अथवा उतनी उच्चकोटि का नहीं हो सकता जैसा कि हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य है। अब यदि कोई सूर्य के अस्तित्व से भी इन्कार करे तो किया ही क्या जा सकता है। छायावाद का साहित्य इसीलिए श्रेष्ठ है क्योंकि लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के विचारों के अनुसार वास्तव में छायावाद बीसवीं शताब्दी के हिन्दी कवि के मन पर पड़े प्रभाव के फलस्वरूप उत्पन्न चेतना का प्रतीक है।[१] इसी प्रकार हिन्दी उपन्यास राष्ट्रीय विकास और सामाजिक परिष्कार के अस्त्र के रूप में भी काम करता आया है। 'सेवासदन' और 'भारत भारती' अपने युग की असाधारण पुस्तकें हैं जो प्रकाशित होते ही प्रत्येक हिन्दी प्रेमी के पास पहुँच गई थीं। इनके लेखकों को देखने के लिए हाल विद्यार्थियों से खचाखच भर जाते थे। अनुकरण या उधार से प्राप्त तत्व ऐसी योग्यता का जनक नहीं हो सकता। कलाकार 'बच्चन' ने न फिट्जेराल्ड का अनुकरण किया है, न उमर खैयाम का वह ऋणी है। मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, आकुल अन्तर, एकान्त सगीत, सतरंगिनी के 'बच्चन' के बारे में जो ऐसा कहता है वह या तो झूठ बोलता है या 'बच्चन' को समझ नहीं पाया। 'बच्चन' ने लिखा है, मैंने तो अपने हृदय के अन्दर देखा है और लिखा है"... मैं भावनाओं का कवि हूँ .....।"[२] इन छायावादी युग के कवियों ने जनता और पढ़े लिखों के मन में इतना घर कर लिया था कि पत्रिकाओं में 'प्रसाद, पन्त, 'निराला', महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, 'बच्चन' आदि की कविताएँ उत्सुकता और व्यग्रता पूर्वक खोजी जाती थीं और उन्हें सग्रहीत करने का प्रयत्न किया जाता था। यह इसीलिए नहीं हो सकता था कि वह वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, बायरन, ब्लेक आदि की नकल या जूठन है बल्कि इसलिए होता था कि इन कविताओं से पाठकों को उनके मन की रुचि, भाषा आदि को सन्तुष्ट करने वाला कोई तत्व मिलता था। सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने चेतना उदात्त कर दी थी। यह साहित्य उसी चेतना का आईना था। 'दिनकर' का 'अभिनव मानव' अणु युग की विषमता को चित्रित करके नवमानव की प्रिय कल्पना, मधुर आदर्श, उपस्थित करता है और इसीलिए प्रिय है। इसीलिए वह सत्साहित्य है। अमर साहित्य है। उपन्यास आधुनिक युग की देन है।

१—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ३२४
२—'नये पुराने झरोखे'

आधुनिक मानव के वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है, पश्चिम की देन होते हुए भी पश्चिम की नक्ल नहीं है। पाश्चात्य सभ्यता से हमारा जीवन बाह्य रूप में जितना भी प्रभावित था वस्तुत आधुनिक हिन्दी साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति और साथ-साथ हमारी मनोवृत्तियों, आशाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है और इसलिए यह कोई हीनता, सकोच या आश्चर्य की बात नहीं कि हमारे साहित्य का बाह्य रूप थोड़ा-बहुत पश्चिम के ढग या प्रकार का हो गया। तात्पर्य यह है कि इस युग में हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का निर्माण पाश्चात्य सभ्यता तथा तत्कालीन परिस्थितियों से आवृत जीवन से उद्भूत होती हुई प्रवृत्तियों से, पुनरुत्थान के कुछ प्रभावों एव तत्वों से और विभिन्न साहित्यों के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप हो जाने वाले परिवर्तनों से हुआ है।

उर्दू का प्रभाव—

उर्दू ने हमको शैली की रोचकता का एक आदर्श रूप दिखाया था जिस उर्दू ने हमको यह रूप दिखाया था वह उर्दू फारसी और अरबी के कठिन शब्दों से लदी हुई नहीं थी, बल्कि व्यावहारिक रूवानी उर्दू थी। उदाहरणार्थ—'ये जलवे की फरावानी, ये अर्जानी, ये उरियानी, फिर इस शिद्दत की तावानी कि हम पर्दा समझते हैं' ने कोई प्रभाव नहीं डाला। प्रभाव डाला तो इन पंक्तियों ने 'जमाना आ रहा है जब इसे समझे सब ऐ 'अमगर', अभी तो आप खुद कहते हैं, खुद तनहा समझते हैं।' 'गुलशन परस्त हूँ मुझे गुल ही नहीं अजीज' का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना इसका कि 'काँटों से भी निबाह किये जा रहा हूँ मैं।' 'वो लाख सामने हैं पर अब इसको क्या करूँ, दिल मानता नहीं कि नजर कामयाब है'—जैसी अभिव्यक्तियों की शैली का कुछ अधिक प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव पड़ने का कारण यह था कि हम स्वय शास्त्रीयता से सर्व सुलभता की ओर बढ़ रहे थे क्योंकि भारत में भी यह युग जनतंत्रात्मक प्रवृत्तियों का था। राजाओं की कैद से जब साहित्यिक छूटा तो उसे जनता के सामने आना पड़ा और जब वह जनता के सामने आया तो जनता की समझ में आने वाली बात जनता की समझ में आ सकने वाली भाषा और शैली में कहेगा ही। चूंकि हिन्दी उर्दू की भाषा की मूल प्रकृति कुछ एक ही है, अतएव उर्दू की इस सरलता वाली प्रकृति ने, जो हमारे लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपयोगी थी, हमारा कार्य कुछ सरल कर दिया और हमने उस ढग पर लिखने का कुछ प्रयत्न भी किया।

संस्कृत का प्रभाव—

संस्कृत ने आधुनिक हिन्दी साहित्य को शब्दकोष दिया, व्याकरण दिया, कविता की 'रीति' दी अर्थात् काव्यशास्त्र दिया, तथा विषयों और भावों की विपुल

सम्पत्ति खोल दी किन्तु संस्कृत हिन्दी को हिन्दी की प्रकृति नहीं दे सकती थी। यह हमें जनबोली ही दे सकती थी। बाकी, अपने पूर्वज राष्ट्रीय भाषा और साहित्य अर्थात् संस्कृत से आधुनिक जीवन की प्रवृत्तियों, आशाओं और आकांक्षाओं के अनुकूल एवं अनुरूप हमें जो कुछ लेना चाहिये था वह हमने लिया। इस प्रकार जैसे हिन्दी अंगरेजी की नकल नहीं है, उर्दू की नकल नहीं है, वैसे ही संस्कृत का भी कोई अंग नहीं है जूठन नहीं हैं, अवशिष्ट या उच्छिष्ट नहीं है, एवं रूपान्तर मात्र नहीं है। जैसे पूज्यपाद प्रपितामह के प्रपितामह जी अपने प्रपौत्र के प्रपौत्र नहीं हो सकते, दोनों के अस्तित्व, जीवन और व्यक्तित्व में अन्तर होता है वही स्थिति संस्कृत और हिन्दी की है। हिन्दी का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है। पुराने लोग अपने अहङ्कार में नये का तिरस्कार और नये के लिये यह भी एक भ्रामक उक्ति है (और बहुत प्रचलित है कि हिन्दी संस्कृत से निकली है या संस्कृत हिन्दी की माता है। तथ्य यह है वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत, उससे पाली, उससे प्राकृत, उससे अपभ्रंश, उससे पुरानी हिन्दी, उससे आधुनिक हिन्दी अर्थात् रिश्ता यों बना—प्रप्रप्रपितामही, उससे प्रप्रपितामही उससे पितामही, उससे माता, उससे पुत्री। संस्कृत में हमारे संस्कारों के तत्व है, प्रकृति या जीवन के नहीं ! जैसे तुलसी बाल्मीकि नहीं, मीरा राधा नहीं, गान्धी हरिश्चन्द्र नहीं, जवाहर अर्जुन नहीं वैसे ही हिन्दी संस्कृत नहीं। अपनी अनिवार्यता सदैव घोषित करते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के पण्डित हिन्दी के लिये संस्कृत को उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य भी समझते हैं। कभी-कभी प्रेमचन्द, भारतेन्दु कबीर, जायसी, नन्ददास, रत्नाकर, पद्माकर, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, रामकुमार वर्मा, निबन्ध साहित्य, आदि को बी० ए० के पाठ्यक्रम, से केवल इसीलिये हटना पड़ जाता है कि संस्कृत अध्ययन को उस एक प्रश्न पत्र या लगभग आधा भाग देना ही है ! यह जबरदस्ती है, अन्याय है ! हिन्दी का कल्याण संस्कृत का तिलक लगाने से नहीं हो सकता। हम संस्कृत का ऋण स्वीकार करते हैं किन्तु वह हमारे सिर पर बैठकर कब तक जीवित रहे ? 'अज्ञेय', यशपाल 'पहाड़ी, भगवतीचरण वर्मा, 'नवीन' 'बच्चन', 'दिनकर', 'अंचल', सियारामशरण गुप्त, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, 'निराला' आदि का साहित्य क्या संस्कृत का आचार्य बने बिना नहीं ही समझा जा सकता ? यदि जिन-जिन का प्रभाव पड़ा है उन सबका अध्ययन आवश्यक है तो बी० ए० के हिन्दी पाठ्यक्रम में ५० प्रतिशत उर्दू के (फिराक के कथानुसार), ४० प्रतिशत या ४० प्रतिशत संस्कृत के, फिर प्रतिशत का गणित बदलकर जो कुछ बचे उतने प्रतिशत अंगरेजी के साहित्य की पंक्तियां हिन्दी के बी० ए० के छात्रों को पढ़ाई जाय ! रही हिन्दी, सो उसमें पढ़ने के लिये है ही क्या ?

अंगरेजी के प्रभाव का स्वरूप—

अंगरेजी का ऋण हमारे ऊपर इतना ही है कि 'पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से जिस स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला अंगरेजी साहित्य के अध्ययन से वह और भी अधिक पुष्ट और शक्तिमान हो गया।'[1] बड़े ही सुलझे हुए ढंग से 'दिनकर' ने अंगरेजी साहित्य के हिन्दी पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्यांकन किया है। वे कहते हैं, "अंगरेजी साहित्य के माध्यम से हम भारतवासी यूरोप की सभी चिन्त धाराओं का उत्तराधिकार आप से आप प्राप्त करते आये हैं। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी कविता प्रधानतः उन्हीं कारणों से आन्दोलित हो रही थी जो हिन्दी काव्य की परम्परा और हिन्दी भाषी की रुचि में उत्पन्न हुए थे। किन्तु जब हिन्दी काव्य में नये क्षितिज के निर्माण की समस्या सुलझाई जा रही थी तभी देश और विदेश के कवियों की वाणी ने हमारा पथ निर्देश किया और हम अपने अनुकूल एक नवीन स्तर स्थिर करने में सहायता पहुँचाई हमारी आकुलता समुद्र पार की लय में ही व्यक्त की जा सकती थी और जिसका भारतीय रूप रवीन्द्रनाथ में दमक रहा था।'[2] पश्चिम की विधि-विधाओं का भारतीयकरण करके उसमें हमने अपने तत्कालीन भारतीय मानस की अभिव्यक्ति की। टैगोर अथवा विस्तृत बंगला साहित्य का हिन्दी पर जो ऋण है वह इसी प्रकार का है कि उन्होंने वह ढंग पहले अपना लिया जो हमने बाद में अपनाया। इसलिए हमारे अवदान में उसके अनुवाद हुए के स्वरूप का प्रभाव ज्ञात और अज्ञात दोनों रूपों से पड़ गया क्योंकि शायद दोनों साहित्यकों की एक ही मांग थी, एक ही आवश्यकता थी। अस्तु, हमने पश्चिम का साहित्य-समझा और सोचा कि चूँकि यह चीज अच्छी है इसलिए इस तरह की कोई चीज हमारे साहित्य में भी होनी चाहिए। यह सोचकर कभी हमने वह विधा ली (जैसे—उपन्यास, कहानी आलोचना, रिपोर्टज, एकांकियों का नया ढंग, आदि) और कभी वह खाका। तत्पश्चात् रंग भरना आरम्भ किया। इस प्रकार चीज बनकर तैयार हुई। ध्यान से देखें तो इस चीज में जीवन और आत्मा हमारी अपनी है। 'चित्रलेखा' के लिए कोई भगवतीचरण वर्मा को 'थाया' का ऋणी कैसे मान सकता है! चित्रलेखा चित्रलेखा है, वह थाया हो ही नहीं सकती। चित्रलेखा का मन, उसका मनोविज्ञान, उसका जीवन, उसका स्वभाव, उसकी बाह्य रूपरेखा, उसका ज्ञान और उसका दर्शन भारतीय जीवन और इतिहास की देन है। ढांचा मात्र कला नहीं है। पतलून और

१—श्री कृष्णलाल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृष्ठ १४

२—'काव्य की भूमिका' पृ ७३

कोट पहन लेने पर राधाकृष्णन् और नेहरू अंगरेज नहीं हो सकते, ठीक वैसे ही, जैसे साड़ी-ब्लाउज पहन लेने पर एलिजाबेथ (द्वतीय) भारतीय ललना नहीं हो सकती। इसी प्रकार थाया चित्रलेखा नहीं हो सकती और न चित्रलेखा, थाया। १६२६ ई० मे 'साहित्य पाठक' जी ने लिखा था, मेरे एक मित्र का कथन है कि 'रगभूमि' आख की किरकिरी और 'वैनेटी फेयर'—तीनो उपन्यासो के मस्तिष्क मे एक ही प्रकार के अंकुरित हुए थे पर एक से कागजी दिखौआ वृक्ष, दूसरे से छोटा पर सच्चा पौधा तीसरे से हरा भरा वृक्ष उगा।'[1] मुझे इस आलोचना से यही दिखाई पडता है कि लेखक ने थैकर की अपेक्षा टैगोर को और टैगोर की अपेक्षा प्रेमचन्द को छोटा एव असमर्थ लिख देने मे अपने लिए कोई भी खतरा नही देखा। सम्भवत उसकी चेतना मे अंगरेजी पर आस्था विश्वास तथा अंगरेजी का आतक सबसे अधिक था और बंगला का उससे कम था। हिन्दी तो घर की अयोग्य नौकरानी समझी ही जाती है। श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' लिखा। तब तक हिन्दी मे कहानी, एकाकी, निबन्ध, उपन्यास, आदि लिखे जाने प्रारम्भ हो गये थे। इनका साहित्य इतना प्रचुर था नहीं कि उसके आधार पर नया आलोचना शास्त्र बन गया। पश्चिम के साहित्य का परिचय हमको मिल ही गया था और उससे भी प्रभावित होकर हम आगे बढ रहे ही थे। ऐसी स्थिति मे श्यामसुन्दर दास जी ने हडसन के 'इन्ट्रोडक्शन टु लिटरेचर' का सहारा और कही रूपान्तर तक ले लिया किन्तु बाबू साहब की पुस्तक का और हडसन साहब की पुस्तक का अपना अपना स्वतन्त्र महत्व विशेषता और व्यक्तित्व है। इसी रूप मे हम पर जानसन, रिचार्ड्स, टेन, वर्ट्सवर्थ, इलियट आदि का प्रभाव पडा है। हा, प्रयोगवादी वीर अवश्य पश्चिम के साहित्यो की नकल कर रहे हैं और पूरी नकल कर रहे हैं। स्वतन्त्र भारत के अनेक नवयुवक तेजी से उसी प्रकार पश्चिम के फैशनो का अन्धानुकरण कर रहे हैं जैसे १८ वी और १६ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे करने लगे थे। इन्हीं नवयुवको की तरह ये लोग भी हैं। इनके ऊपर अंगरेजी के नये साहित्य और साहित्यिको का ही प्रभाव है। स्वतन्त्र होने के बाद भारत का जीवन और उसकी आस्था भी किसी सबल सफल सांस्कृतिक नेतृत्व के अभाव मे लडखडा सी गयी है किन्तु ये अनुकरण के कारण अपने साहित्य मे उस उसी प्रकार का दिखा रहे हैं मानो युरोपीय जीवन का बड़ भाग (जिससे ऐसा साहित्य बहा निकल रहा है) भारत मे ला कर धर ही दिया गया है।

पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—

बीसवी सदी के आते-आते हमारे जीवन का बाह्य रूप पश्चिमी सभ्यता के

१— 'समालोचक', सख्या ४, भाग २, १६२६ ई०

रग मे काफी रग गया था। ज्यों-ज्यों समय बीता, यह रग कही गाढा और कहीं फीका होने लगा। पुनर्जागरण ने हमें जो सदेश दिया था उसके अनुसार हम अधिकाधिक स्थानो पर अपने को और अपनी भाषा को लाने लगे थे। अँगरेजी भाषा और साहित्य से हमारा परिचय हो ही चला था। कभी अनुवाद के क्षेत्र मे और कभी कभी मौलिक साहित्य के भी क्षेत्र मे हमे वैसी अभिव्यक्तियाँ भी करनी पडी जिनका हमारी सभ्यता एव हमारी चिन्तनधारा से कोई भी सम्बन्ध नही था किन्तु जो देखने में अच्छी लगती थी। ऐसा करते समय हमने मूल भाव को सुरक्षित रखते हुए अपनी संस्कृत भाषा के शब्दो मे उन व्यजनाओ को लाने का प्रयास किया। इस प्रकार अँगरेजी शब्दो और मुहावरो, आदि के सफल और कभी-कभी असफल अनुवाद भी हो गये और प्रचलित हो गये। 'सुनहरे दिन', आदि ऐसी ही अभिव्यक्तियाँ हैं ऐसे ही प्रयोग हैं। इसी प्रकार अलकारो को भी अपनाया और उनका नामकरण किया गया। पश्चिमी सस्कृति के एक अग —मार्क्सवादी सस्कृति—के परिणामस्वरूप हमारे यहा लोक गीतो के महत्वाकन को प्रोत्साहन मिला। प्रगतिवाद भी पश्चिम की ही देन है। आधुनिक विज्ञान एव भौतिक शास्त्र तथा सामाजिक विषयो के अध्ययन की प्रेरणा भी पश्चिम से ही मिली है। अति बौद्धिक दृष्टिकोण भौतिकवादी पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण मे ही प्राप्त हुआ है। रेडियो, पत्र-पत्रिकाएँ, सिनेमा, साहित्य और राजनीति, लौकिक विषयो के प्रति अत्यधिक जागरूकता, गद्य का प्राधान्य, साहित्य पर आर्थिक दृष्टिकोण का प्रभाव, अध्ययन-अध्यापन का साहित्य से सम्बन्ध साहित्य और भाषा का ऐतिहासिक और सिद्धान्तो के अनुसार समझने की दृष्टि, सिद्धान्तो के आधार पर साहित्य का निर्माण, आदि पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टियाँ हैं। इनका हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ा है।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण से प्राप्त प्रवृत्तियाँ—

जैसा कि पिछले अध्यायो मे स्पष्ट किया जा चुका है, सांस्कृतिक पुनरुत्थान हमारे आधुनिक हिन्दी साहित्य का नियामक है। रवीन्द्र, दयानन्द और गान्धी भारतीय सभ्यता और सस्कृति के प्रतीक थे। प्रेम और सौन्दर्य सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण रहस्यवाद, छायावाद, वेदान्त, प्रकृति-चित्रण, अपरोक्ष-अनुभूति, समरसता, विरह, आनन्दवाद, अद्वैत, स्वदेशप्रेम, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, परिवर्तन की पुकार, परम्परा इतिहास, प्रेम, यान्त्रिक सभ्यता के प्रति विरोध, मातृभू, 'भारत माता एव मातृभाषा की सेवा, आदर्शवाद त्याग, बलिदान, जागरण-नाद, प्रवृत्ति मार्ग की ओर गति, भक्ति, भारतीय वेशभूषा के प्रति प्रेम, जातिवाद का तिरस्कार, व्यक्ति स्वातंत्र्य,"

साहित्यकार बनने की धुन, राजनीतिज्ञों के प्रति असाधारण आदर, दिन-प्रतिदिन के जीवन का साहित्य पर पडने वाला प्रभाव, एकता की भावना, सुधारवादी दृष्टि, नैतिक दृष्टि, सर्वतोमुखी उदारता, क्रान्तिपूर्ण दृष्टि, अतीत का गौरव गान, असाधारण उत्साह व्यापक राष्ट्रीय जागृति की हलचलें, सगठन, आर्यसमाजी बौद्धिकता, नारी जागरण, प्राचीन साहित्य का अध्ययन, पवित्रतावाद, विद्रोह, भारतीय दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओ का अध्ययन आदि वृत्तियाँ हमको नव-जागरण या सास्कृतिक पुनरुत्थान के आन्दोलनो से ही प्राप्त हुई हैं और इन्होंने साहित्य की कायापलट कर दी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक प्रतिभाएँ इस प्रकार प्रकट होने लगी जैसे सूर्यकी किरणो का स्पर्श पा कर कमल दल खिलने लगें। द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने 'प्रिय-प्रवास' मे भारतीय सस्कृति का जो स्वरूप देखा है उसके विभिन्न तत्व हैं आदर्श परिवार, आदर्श समाज, अवतारवाद, ईश्वर-प्रार्थना, व्रत, पूजा, तीर्थ, उत्सव, काग से शकुन जानना, भाग्यवाद, जाति-प्रेम, राष्ट्रीयता, सर्वभूतहित, लोकसेवा, सात्विक कार्य अहिंसा सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आध्यात्मिकता, नवधा भक्ति, नारी का महत्व, अस्पृश्यता, समन्वय, आदि।[१] इनके पीछे नवजागरण की ही प्रेरणा है। 'भारत भारती' मे इस नवजागरण की ही भावना भरी है। कामायनी में जिस नवीन मानव-सस्कृति की सृष्टि की कल्पना की गई है उसके भी विभिन्न तत्वो का उदय नवजागरण के ही प्रभात मे सम्भव हुआ है। जितना यह सही हो सकता है कि रामकुमार वर्मा की कला पश्चात्य कला से प्रभावित है उससे अधिक यह सही है कि उनकी कृतियों के भीतर जो आत्मा है उसकी सजीवनी शक्ति भारतीय है और सांस्कृतिक पुनर्जागरण से मिली है। 'दिनकर' ने लिखा है, 'हिन्दू नवोत्थान का ध्येय प्राचीन भारत से नवीन यूरोप की एकता की साधना था और यह ध्येय छायावादी कविता पर भी पूर्णरूप से चरितार्थ होता है। 'प्रसाद', 'निराला' पन्त और महादेवी की कविताओं की रीढ भारत के प्राचीन सत्यो की अनुभूति है।'[२] उदारता, पश्चिम की उपयोगी बातों को ले लेना, प्राचीन काल के महत्वपूर्ण तत्वो के प्रति आदर राष्ट्रीय स्वाभिमान अपनी सस्कृति और सभ्यता के प्रति आदर, आदि नवोत्थान के ही विभिन्न तत्व हैं। इनके बिना नये आधुनिक हिन्दी साहित्य की कल्पना भी नही की जा सकती।

जीवन से उद्भूत प्रवृत्तियाँ—

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे जीवन की प्रवृत्तियो से भी

१. 'प्रियप्रवास मे काव्य, सस्कृति और दर्शन'

२. 'काव्य की भूमिका' पृष्ठ ३८

प्रभावित हुआ है। प्रेमचन्द का समस्त विशाल साहित्य दिन प्रति दिन तक के जीवन का चोखा चित्र है—अलबम है।

इस युग में हमारा जीवन भाव प्रधान से बुद्धि प्रधान और एकरसता प्रधान से समस्या प्रधान हो गया। कवियों का भी जीवन इससे अछूता न रह सका जिसका परिणाम यह हुआ कि कविता में भी बुद्धिवाद घुस पड़ा। गद्य-लेखकों की ही संख्या नहीं बढ़ी, गद्य के विभिन्न विधाएं भी लोगों ने अपनी अपनी रुचि और आवश्यकतानुसार अपनाई। सम्भवतः कोई भी महत्वपूर्ण कवि ऐसा नहीं है जिसने गद्य न लिखा हो। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप व्यक्ति और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में बड़ा ही वैषम्य उत्पन्न हो गया था। सामञ्जस्य वृत्ति की भारतीय जनता ने इस वैषम्य को विविधता एवं विचित्रता तथा विभिन्नता का रूप दे दिया। इतना अपना लिया कि उनका विदेशीपन निकल गया। वे अपनी हो गई। हमारा अधोवस्त्र पहले दो था—धोती और पायजामा, अब वह दो के बजाय चार हो गया—धोती, पायजामा, निकर और पतलून। जीवन की इसी प्रवृत्ति के अनुसार हमने बाहरी तत्वों को इस प्रकार अपने में मिला लिया कि हमारा साहित्य नया, और पहले से अधिक आकर्षकता लगता है परन्तु विदेशी नहीं लगता। हम समन्वय करना जानते हैं। साहित्य में वह और भी अधिक सुन्दर ढंग से हुआ। जीवन की गति और रूप में ज्यों-ज्यों परिवर्तन हुआ है त्यों-त्यों हमारा साहित्य रूप बदलता रहा है। अस्तु जैसे द्विवेदी जी के समय का जीवन प्रेमचन्द जी के समय के जीवन से भिन्न है वैसे ही दोनों का साहित्य भी भिन्न है। 'प्रसाद' और 'अज्ञेय' के समय के जीवन का अन्तर इनके अपने-अपने साहित्य में स्पष्ट है। हमारी नीति धार्मिकता, अहिंसा, शान्तिप्रियता एवं आस्तिकता के ही अनुकूल हमारा साहित्य भी है। जैसे हमारा जीवन साहसिक नहीं था वैसे ही हमारा साहित्य भी साहसिकता प्रधान तत्वों से रहित है। दोनों महा युद्धों से प्रभावित हमारा जीवन भी हमारे साहित्य के स्वरूप को बदलने में समर्थ हुआ है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों हमारे जीवन पर नवीन शिक्षा एवं वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव पड़ा है त्यों-त्यों साहित्य बदला है। पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष रत हमारे जीवन एवं हमारे उस संघर्ष के स्वरूप-अहिंसात्मक आन्दोलन—ने भी साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है। हमारे जीवन का एक पक्ष जेल-जीवन का भी था और उसके भी चित्र साहित्य में हैं। १९४७ ई० के बाद हमारे जीवन में साधना और संघर्ष की जगह फैशन ने ले ली है और वह फैशन साहित्य में भी मिलता है। राष्ट्रीय चेतना की अनुभूति के बिना राष्ट्रीय कविताओं का लिखना, कुण्ठित हुए बिना कुण्ठा का नारा लगाना, दुखी हुए बिना दुख का रोना रोना और अनुकरण तथा सिद्धान्त के आधार पर साहित्य का सृजन करना फैशनेबल मानस की ही माँग

पूरी करता है। हमारे जीवन का आधार चूंकि लगडी नैतिकता है इसलिए यदा-कदा हमारा साहित्य नैतिकता की एव उससे प्रफुल्लित मस्तिष्क की उच्चतम कोटि की कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप नही धारण कर पाया। उनमे अपरिपक्वता (मोडियाक्रिटी) है। इसका कारण यह भी है कि साहित्यिक हमारे समाज का ऐसा नगण्यतम प्राणी है जो ईमानदारी की दरकार भी कही नही पाता। धनी, अफसर, राजनीतिज्ञ, ऊची कक्षाओ के अध्यापक, सम्पादक, क्लर्क आदि सबके बाद साहित्यिक की ओर दृष्टि जाती है तो व्यग्य भरे वाक्य सुनने को मिलते हैं। साहित्य मे 'व्याज स्तुति' होती है, जीवन मे 'व्याजास्तुति'–बहाने से की गई अवमानना–सुनने को मिलती है। साहित्यिक शोषण और आत्महीनता का शिकार होता है तो उसका साहित्य उतना ऊंचा नही हो सकता जितना ऊंचा उठा देने मे वह समर्थ है। 'प्रसाद' और कालिदास का यह अन्तर उल्लेखनीय है।[1] आज का कथा–साहित्य व्यक्ति और समाज के अन्तर सघर्ष का अभिव्यजक है। इस पूरे युग मे विज्ञान की जानकारी तो लोगो को होन लगी थी किन्तु विज्ञान या वैज्ञानिक तथ्य हमारी आस्था, विश्वास, जन परम्परा और आत्मा के अश नही बन सके थे। इसका परिणाम यह हुआ कि ये साहित्य मे नही घुस पाये। इनके आधार पर साहित्य न लिखा जा सका। वह स्थान धर्म पौराणिक गाथाओ एव वर्तमान जीवन एव इतिहास ही लिये रहा और 'इन्विजिबुल मैन'–जैसी कृतियो की रचना अभी नही हो सकी। 'प्रसाद' की 'कामायनी' मे जो भारतीय सस्कृति है वह यो ही–सैद्धान्तिक आग्रह के कारण–नही है। उसका ठोस आधार है। वह 'प्रसाद' के अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन का भी चित्र है। इसके विषय मे रायकृष्णदास ने लिखा है, एक ओर तो यह सौरगी दुनिया, दूसरी ओर धर्म का कर्मठ, जटिल, अवरुद्ध किन्तु दार्शनिक वातावरण। यह कुल कट्टर शैव था .. साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के दार्शनिक तत्व का भी विचार हुआ करता था······सस्कृत की ओर भी इस कुल की अभिरुचि थी और उसमे उपयोग्य गति भी थी······प्रसाद जी के भाई शम्भुरत्न के मारने के लिये प्रतिद्वन्दी कौटुम्बियो का मारण–प्रयोग कराना······दर्जी का उसे भग कर देना ······दूसरे दिन बताना ···· दिखाना ······ प्रसाद जी के नियतिवाद मे इस घटना की भी छाप थी।[1] मानवता की व्यापक प्रतिष्ठा ने जीवन मे ही किसान, मजदूर एव निम्न वर्ग को देखने के लिये सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि नही दी, साहित्य मे भी उनके लिये महत्वपूर्ण स्थान निश्चित किया। जीवन मे गावो की प्रतिष्ठा बढी और साहित्य लोक कथाओ और लोक गीतो के

१–'हिमालय' पत्रिका, नवम्बर १९४६, पृष्ठ ५, ८

आधार पर रचनाएं हुई । विश्वनाथ मिश्र ने रानी सारंधा, राजा हरदौल, आकाश-दीप, आदि कहानियों के मूल स्रोत ग्राम कथाओं में ढूंढे हैं।[१] इस प्रकार हमारे साहित्य की ध्वनि जीवन संगीत की अनुरूपता एवं उसके अनुकरण में तरंगित हुई है।

१—'हिन्दी अनुशीलन 'पत्रिका, वर्ष २, अंक ३, पृष्ठ ४७

शृङ्खला की एक नई कड़ी तो बना मगर उसमें सर्वथा विच्छिन्न, भिन्न तथा प्रतिकूल नहीं होने पाया। साथ ही, हमको जो एक पुष्ट आधार मिल गया तो हमारा साहित्य परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-मात्र—लहरों की थपेड़ों मात्र—हवा के झोंको मात्र—का ही साहित्य नहीं रह गया। हमारा साहित्यिक अपने को निर्मूल-अपरूटेड-कभी अनुभव नहीं करता। वह केवल गुदगुदाता नहीं, सिखाता भी है, सहायता भी देता है। हम काव्य ही नहीं, महाकाव्य भी लिख सकते हैं और बराबर लिखते हैं प्रायः यह प्रश्न उठता है कि उर्दू साहित्य में महाकाव्य क्यो नहीं लिखे गये। इसका उत्तर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का महत्व ही दे सकेगा।

पुनरुत्थान की जो प्रेरणा राष्ट्रीय भावनाओं को उभाड़ रही थी उसी से यह विचार भी मिला कि हमें महान् अतीत वाले देश की महान परम्पराओं के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस निश्चय ने हमारे साहित्य को पुष्टतम भारतीय-दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान कर दी। वैष्णव भक्ति का आधार मैथिलीशरण गुप्त की हिन्दुत्व प्रधान राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक दृष्टि को मिला। 'निराला' की रहस्यानुभूति को अद्वैतवाद-विशिष्ट वेदान्त की आधार भूमि मिली। 'प्रसाद' मे शैवागम, उपनिषद् आदि के दर्शन मिलते हैं। पन्त मे सर्वात्मवाद है। महादेवी म गौतमबुद्ध की करुणा और रामकुमार वर्मा मे कबीर का दार्शनिक चिन्तन और वेदान्त की ठोस भूमि है। सामान्य दार्शनिक मान्यताओं से कोई भी कृति अलग नही रह सकी। आधुनिक हिन्दी साहित्य मे हलके मनोरंजन वाली, केवल गुदगुदी लगाने वाली, चेतना के ऊपरी स्तर मात्र को हलके-से स्पर्श करने वाली, शब्द-चमत्कार मात्र पर आधारित रचनाएँ नही हैं। उनका कलात्मक स्तर या साहित्यिक स्तर भले ही बहुत ऊँचा न हो किन्तु वे भाव की दृष्टि से हलकी नहीं हैं। इसी युग के उर्दू काव्य साहित्य से तुलना करने पर यह बात और अधिक स्पष्ट रूप मे हमारे सामने आ जाती है।

उपनिषद्, वेद, अद्वैतवाद, सर्वात्मवाद, बौद्धदर्शन, संस्कृत साहित्य, एवं कबीर, आदि के अध्ययन, मनन, एवं चिन्तन के परिणामस्वरूप भावुक साहित्यकार की दृष्टि, उसका दृष्टिकोण एवं उसकी विचार-प्रक्रिया रहस्यानुभूति के निकटतम पहुँचने लगी। हिन्दी की छायावादी शैली मे लिखी रहस्यवादी रचनाओं की यही पृष्ठभूमि है।

अस्तु, जहा हमको मिटाने के लिए पुरानी, अनावश्यक एवं असामयिक रूढियाँ थीं, राजनीतिक परतन्त्रता थी और नई सभ्यता के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति थी एवं हीन मनोवृत्ति थी वहा हमे सजीवनी बूटी पिलाने के लिए बज-अंग-बली (बजरंग

बली) के रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध का सांस्कृतिक पुनरुत्थान आया था और हममें एक नया जीवन, नई स्फूर्ति, नई आशा नई आकांक्षा करवटें लेने लगी थी जिसने श्रम, सहिष्णुता, समन्वय, त्याग, बलिदान, कष्ट सहन करने की शक्ति, काम करने की लगन, सीखने और अपनाने की इच्छा, अपने आपको ठीक समझने की शक्ति उदारता, साहस, आदि गुण हममें ला दिये थे। हमारे पास जितना भी, जो-कुछ भी, जैसा-कुछ भी था उसी से हमने कार्य करना प्रारम्भ किया। एक बार फिर सिद्ध हो गया कि 'कार्यसिद्धि सत्त्वेभवति महता नोपकरणे'। इस युग के आधुनिक हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में यही है। एक ओर था अनुकरणशील विडम्बना प्रधान भावुकता से भरा हुआ, क्रान्ति-युद्ध-विहीन, शोषित-दलित-त्रस्त विकृत तथा पराधीनता और शोषण, हीनता और दीनता में पराभवमुखी जीवन और दूसरी ओर थी स्वतन्त्रता की आकांक्षा, प्राचीन काल की महानता पर विश्वास और उठने तथा महानता प्राप्त करने की इच्छा और नये पुराने के समन्वय की प्रवृत्ति। १६३५—३६ ई० के लगभग श्री नारायण चतुर्वेदी लिखित इतिहास की एक पुस्तक वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। उसकी भूमिका के अन्त में था —

शानदार था भूत भविष्यत भी महान है
अगर सुधारें आप उसे जो वर्तमान है।

यही इस युग के भारत और भारतीयों की, हिन्दी और हिन्दी वालों की मनोवृत्ति थी जिससे साहित्य की विभिन्न किरणें निकली हैं।

(४) भारतीय अन्तर्चेतना

अंग्रेजी बोलने, अंग्रेजी साहित्य पर अधिकारी रखने मेज पर छुरी कांटे से भोजन करने एवं अमेरिका में बनी बहुमूल्य मोटर कारों पर चलने वाला बुद्धि प्रधान व्यक्ति भी भगवान के सामने श्रद्धा से सिर झुकाता है, 'प्रसाद पाता है। भक्ति की कविताएं लिखता है, पतिव्रता का आदर करता है एवं कन्यादान करता है। राम चरितमानस का नवाह्न पाठ डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के भी घर पर होता है और पैन्ट और टाई पहनने वाला भी मस्तक पर चन्दन का टीका लगाता है। रेडियो से प्रतिदिन मीरा, सूर, तुलसी, कबीर, आदि के पद प्रसारित होते हैं। यह सब देख कर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि भारतीय जीवन और समाज का बाह्य रूपवेश से ले कर बुद्धि तक और रुचि से लेकर मनोरंजन तक—पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित हो रहा है किन्तु अन्तर्चेतना, संस्कृति या आत्मा अभी भारतीयता के ही रंग में रंगी है।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य—

चूंकि इस काल में भारतवासियों ने युद्ध के प्रलयकर दृश्य नहीं देखे अतएव 'पृथ्वीराज-रासो' जैसा युद्ध-काव्य नहीं लिखा जा सका। युद्ध की समस्याओं ने हमारे जीवन को आक्रान्त किया था इसलिए युद्ध की समस्या पर 'कुरुक्षेत्र' जैसा महत्वपूर्ण काव्य रचा जा सका। द्वितीय महायुद्ध के कारण भारतीय जनता के जीवन और दृष्टिकोण की जो दुर्दशा हो गयी थी उसको आधार बना कर हिन्दी में अनेक सफल कहानियां लिखी गयीं। मासिक 'हंस' में ऐसी बहुत सी कहानियाँ उन दिनों प्रकाशित हुई थीं यह भी कहा जाता था कि इसी के कारण जीवन और दृष्टिकोण जो कुंठित एवं विकृत हुआ तो हिंदी में स्वाभाविक रूप से कुण्ठावादी या विकृतिवादी (प्रयोगवादी) साहित्य की एक धारा ही चल पड़ी। इन युद्धों के साथ हमारी राष्ट्रीय भावनाओं एवं आकांक्षाओं का तादात्म्य नहीं हो सका था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस समय देश के अन्दर अनेक ऐसी कविताएँ और कहानियां लिखी गयीं जिनकी आयु अधिक से अधिक तीस दिनों तक की ही होती थी क्योंकि जहां पत्र का नया अंक मिला वहां फिर उसको कोई भूल कर भी नहीं देखता था। बंगाल का १६४४ ई० वाला अकाल द्वितीय महायुद्ध की देन था और उसने हिन्दी के साहित्यकों की आत्मा को जितना अधिक व्यथित कर दिया उसकी एक झांकी महादेवी वर्मा द्वारा सम्पादित 'बंग भू' और बच्चन के 'बंगाल का काल' में मिल सकती है।

(३) सांस्कृतिक पुनर्जागरण का प्रभाव —

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते भारत में रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, दयानन्द, रामतीर्थ, आदि के प्रचार के परिणामस्वरूप भारतीय अपने देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता पर अडिग विश्वास करने लगे थे। पुरातत्व विभाग की खुदाइयों से प्राप्त ध्वंसावशेषों, मूर्तियों, आदि के, काशीप्रसाद जायसवाल, आदि इतिहासज्ञों के अन्वेषणों के और यूरोप के विद्वानों की प्रशंसापूर्ण सम्मतियों के परिणामस्वरूप हमारे अन्दर अपने देश की प्राचीन उपलब्धियों के प्रति असाधारण निष्ठा उत्पन्न हो गई थी। श्रीमत एनी बेसेन्ट, आदि भारत के धर्म और आध्यात्मवाद को, मैक्समूलर, आदि उसके दर्शन को, कोथलेवी-मोनिएर विलियम्स, आदि उसके साहित्य को और हेवेल, आदि उसकी कलाओं को विश्व में असाधारण एवं अद्वितीय मानते थे। इन सबका शुभ परिणाम यह हुआ कि हमारे अन्दर आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई। हमारी वर्तमान दुर्दशा जहां-जहां हमारा सिर शर्म से झुकने

को विवश कर देती थी प्राचीन ऋषियों-मुनियों-शास्त्रों आदि के नाम ले-लेकर अपने प्राचीन गौरव की याद कर-करके वहीं हम गर्व से अपनी ग्रीवा उन्नत कर लेते थे। बराबर यह बात याद आती रहती थी कि जो देश आज बहुत सभ्य बनते हैं और हम पर शासन करके हमें सभ्य बनाने का दावा करते हैं वे उस समय नितान्त असभ्य एवं बर्बर थे जब हमारे देश में उच्चकोटि की सभ्यता और संस्कृति का विकास हो चुका था। आवश्यकता इस बात की समझी गई कि भारत को जो इस समय अपने को भूल गया है पुनः जागृत होकर अपने को पहचाने और अपने वर्तमान को भी गौरव एवं उन्नत बनाने के लिये प्रयत्नशील हो।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य—

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप हमने अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत की ओर दृष्टि डाली और वहां से श्रेष्ठतम रत्न खोज निकाले। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास प्रसाद की ऐतिहासिक कहानियां तथा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, अलका, सिहरण, चन्द्रगुप्त, अजात शत्रु गौतमबुद्ध अशोक, हर्ष, शिवाजी, पन्नादाई, राणाप्रताप, आदि अद्भुत और चरित्र हमें प्राप्त हुए।

इस पुनरुत्थान का एक प्रभाव और हमारे साहित्य पर पड़ा। हमने अपने पात्रों में उन सभी गुणों एवं चारित्रिक विशेषताओं का समावेश कर दिया या उनमें उनको ढूंढ निकाला जिनकी आवश्यकता थी। 'मधूलिका'[1] राष्ट्र के लिये अपने व्यक्तिगत सुख को न्यौछावर कर देती है। पन्नादाई स्वामिभक्ति की कसौटी पर अपने पुत्र को न्यौछावर कर देती है।[2] शिवाजी[3] में चरित्र की अनोखी ऊँचाई मनोहर विभुता, विलक्षण श्रेष्ठता है। लहनासिंह के अन्दर वीरता के साथ-साथ त्याग से परिपूर्ण आकर्षण तीव्रतम एवं मंजुलतम प्रेम, मनमनसाहत और वफादारी है।[4] रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' उन सभी गुणों से परिपूर्ण है जिनकी हमें उस समय आवश्यकता थी। साहित्य में निष्ठा और आस्था का स्वर था।

प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य, धर्म तथा दर्शन की समृद्धतम सम्पत्ति पाकर हमारे साहित्यिक गौरव के साथ नवीन की सर्जना करने चले। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा आधुनिक साहित्य नवीन होता हुआ भी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को

१—'प्रसाद' की 'पुरस्कार' शीर्षक कहानी

२—गोविन्दवल्लभ पन्त का 'राजमुकुट'

३—रामकुमार वर्मा का 'शिवाजी'

४—चन्द्रधर गुलेरी की 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी

अंगरेजी साम्राज्यवादी सरकार की भयानक दमन–नीति तथा घोर आतंक के कारण हिन्दी का साहित्यिक उग्रतम राजनीतिक भावनाओ से हिन्दी साहित्य को भर नही सकता था। यदि किसी ने बहुत साहस करके कुछ लिखा भी तो वह जब्त कर लिया जाता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि कवि सांस्कृतिक स्तर पर आकर जनता की चेतना को उदात्त करने में लग गया। ऐतिहासिक चरित्रों की अवतारणा (जैसे 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' के पर्णदत्त, 'चन्द्रगुप्त' के चन्द्रगुप्त, सिंहरण अलका आदि) करके देशभक्ति की भावना जगाने का काम उसने किया। देशद्रोही भटार्क और आम्भीक की ही श्रेणी मे वस्तुत अंगरेजी साम्राज्य के पिट्ठुओं की गणना हो सकती है और घृणा, तिरस्कार एव अवमानना के जो भाव इनके प्रति व्यक्त हुए हैं वे इन लेखको की उन भावनाओ के प्रतीक हैं जो अंगरेजी साम्राज्य का साथ देने वालों के लिए उनके मन मे थी। अस्तु हमारे ये साहित्यिक खुले रूप में तो कुछ विशेष न कह पाए किन्तु जनता की देशभक्ति प्रबुद्ध करने मे इनका योग अवश्य रहा।

आस्थाओ, व्यवस्थाओं, रूढियो और रीतियों की दृष्टि से जो अब भी मध्ययुगीन थी, मध्ययुगीन जनता का मनोरजन मध्ययुगीन लोक नाटक एव लोक-रगमच से हो जाता था न जीवन मे नाटकीयता रह गयी थी और न उसके अनुरूप रगमच की आवश्यकता पडी। साहित्यिक दृष्टि और मूल्य से वचित समूह अपना छिछला मनोरजन 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनियो' के नाटको से करने लगा। कुछ चिन्तनशील-उदात्त-वृत्ति वालो को यह खला मगर उनकी सख्या, उनको प्रोत्साहित करने वालो की सख्या, उनका समर्थन करने वालो की सख्या अपेक्षाकृत कम ही थी। साहित्यिक नाटको का जनता से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। साहित्यिक नाटक दृश्य न रख कर 'पाठ्य' हो गये। अध्ययन-अध्यापन के विषय मात्र हो गये। हिन्दी के शेक्सपियर, गोल्डस्मिथ, बर्नार्ड शा की अभी प्रतीक्षा है। विश्वविद्यालयो मे कुछ नाटक अभिनीत अवश्य होते हैं किन्तु वह रगमच भी जनता का रगमच नही कहा जा सकता।

ईर्ष्या-द्वेष और छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति पहले खेमे के आलोचको मे बहुत पाई जाती थी और उनकी आलोचना का लक्ष्य कभी-कभी व्यक्ति भी हो जाता था। पराधीनताजन्य मनोवैज्ञानिक एव चारित्रिक दोषो ने साहित्य को प्राय असाधारण कोटि का नहीं होने दिया। साहसिक उपन्यासो का प्राय अभाव भी इसी कारण

रहा। साम्प्रदायिक विद्वेष कारण हिन्दी के इस काल का साहित्य मुसलमान साहित्यिक प्रतिभाओ के योग-दान अधिकाशत वचित रहा।

युद्धो के अभिशाप युद्धो के शुभ प्रभाव—

इस काल मे भारत के अन्दर युद्ध नही हुए और सामान्य जनता को सेनाओ के लडने के दृश्यों की—मारकाट, —रक्त-प्रवाह, हो-हल्ला' घायलो की चीत्कार, वीभत्स दृश्यो, बमों के विस्फोट, आदि की अनुभूति नहीं हुई।

फिर भी, इसम कोई सदेह नही कि युद्धों एव तज्जन्य परिस्थितियो ने भारतीय जन मानस और राजनीति को बहुत प्रभावित किया है कि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अग था और इसलिए इगलैंड जब किसी राष्ट्र स युद्ध करता था तो भारत को उस युद्ध मे अपने-आप ही सम्मिलित समझ लिया जाता था। भारतीय सेना—स्थल युद्ध म विश्व की सर्वश्रेष्ठ एव अपराजेय सेना लडने जाती थी। यूरोप के पराजित गोरे राष्ट्रो की जनता के लिए ये देवदूत थे, उद्धारक थे, राजा थे।[1] गोरी जातियो के सैनिको के साथ कधे से कधा मिलाकर लडने वाले पराजित गोरे राष्ट्रो के उद्धारक गोरो को पराजित करने वाले गोरी मेमो और गोरे साहबों की श्रद्धा-सम्मान-आदर के पात्र! हम भारतीय!! परिणामत गोरों का आतक और प्रभुत्व समाप्त हो गया। जापान ने जो रूस को हराया था उसके कारण भी गोरों की अपराजेयता का भ्रम मिट गया।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब अंगरेजो ने अपना वचन पालने के स्थान पर "रौलट ऐक्ट' तथा अमृतसर-जलियाँवाला के काण्ड दिये तो फिर भारत ने उन पर न कभी विश्वास किया और न सामान्यत उन्हें माफ ही किया। द्वितीय महायुद्ध मे अंगरेजों की हार ने स्वय इनका प्रभुत्व और राज्य लोगो के मन पर से हटा दिया। तात्पर्य यह कि ये युद्ध भारत को उसके लक्ष्य के क्रमश निकटतर ले जाते रहे।

इन युद्धों के कारण भारत की सामान्य जनता और उसके मध्यवर्ग को असाधारण कष्ट उठाना पडा। लोग कफन और नमक तक के लिए तरस गले। बलात् चन्दा वसूला जाता था। राष्ट्रीय भावनाओं और आकाक्षाओं को क्रूरतापूर्वक कुचला जाता था। अकाल के दृश्य उपस्थित हुए। नैतिकता नष्ट-भ्रष्ट हो चली। चोर बाजार ने लाखों राक्षसो को कुबेर बना दिया। इन्सान मिट चला। इन्सानियत क्षत विक्षत हो गयी। आस्थाएं और विश्वास ढहने लगे। राष्ट्रीय-वीरों और नेताओ के स्वागत और राष्ट्रीय कार्यक्रमों एव राष्ट्रीय आकाक्षाओ की पूर्ति की सम्भावनाओ से उत्पन्न उमग और स्फूर्ति से ही विघटन के ये घाव भर सके थे।

१—'उसने कहा था' कहानी मे अभिव्यजित भावों के आधार पर।

सिंहावलोकन

आधुनिक भारत की सम्कृति के विभिन्न उपादान—

अभी तक किये गये समस्त विवेचनों पर पुन दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारतवर्ष की सस्कृति के विभिन्न उपादान निम्नलिखित हैं —

१—राजनीतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एव तज्जन्य प्रवृत्तियाँ,

२—युद्धो के अभिशाप युद्धो के शुभ प्रभाव,

३—सास्कृतिक पुनर्जागरण,

४—भारतीय अन्तर्चेतना,

५—समन्वयशील प्रकृति,

६—उदार और ग्रहणशील प्रकृति,

७—आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था,

८—समाज का प्रगतिशील मध्यम वर्ग,

९—सुधारवादी मनोवृत्ति,

१०—नारी जागरण,

११—राष्ट्रीयता

१२—गान्धीवाद और सत्याग्रह, और

१३—पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व ।

(१) राजनीतिक पराधीनता से अभिशप्त वातावरण एव तज्जन्य प्रवृत्तियाँ

बीसवीं शताब्दी के आते-आते भारत को अंग्रेजों की राजनीतिक पराधीनता की शृङ्खलाएँ असह्य रूप से चुभने लगी थी। नवोदित पूँजीवादी वर्ग यह समझ गया था कि अंगरेजो के रहते उसकी उन्नति असम्भव है। अकाल पड रहे थे। आर्थिक शोषण भयानक रूप से जारी था। गरीबी बढती जा रही थी। देश के औद्योगीकरण की कल्पना एक कष्ट-कल्पना थी। निकृष्ट शिक्षा ने महान देश भारत के नवयुवकों के जीवन की सफलता को छोटी-छोटी नौकरियो और उनमे प्राप्तव्य छोटे-छोटे 'प्रोमो-

दास तक ही सीमित कर दिया था। भारत के सपूतों के लिए अच्छा नौकर बनने के अतिरिक्त न तो और कोई सम्भावना थी और न अन्य किसी प्रकार की आशा महत्वाकांक्षा। हमारी विशिष्टताओं की सूची में सामान्यतः ये तत्व आते थे,—स्वार्थपरता, छिद्रान्वेषण, ईर्ष्या-द्वेष, चुगली, राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रीय आकांक्षाओं का अभाव सिफारिश प्रियता, चाटुकारिता, शोषण, विकृत अहं, हीन भावना, जीवन धर्म-दर्शन के विभिन्न तत्वों को एक दूसरेसे स्वतन्त्र,असम्बद्ध एव निरपेक्ष समझना, चिन्तन स्वातन्त्र्य-साहसिकता-नाटकीयता मौलिकता-नवीन कार्यारम्भ की शक्ति एव स्फूर्ति का अभाव, आदि। सवत्र अधिकारों का अपहरण हो रहा था और उपर्युक्त कमियों के होते हुए भी हम त्राण के लिए छटपटा रहे थे। परिणामतः अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों को असफल बनाने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक विद्वेष उभाड़ा गया जिसका परिणाम यह हुआ कि अब कुछ समय के लिए तो निश्चित रूप से इन जातियों में से अधिकांश के हृदय पारस्परिक द्वेष से भर गये। दंगे हुए। दानवता खुल कर खेली और देश बट-कट गया।

उपर्युक्त उपादान और हिन्दी साहित्य—

भारतीय जीवन को उसके सांस्कृतिक परिवेश से पृथक करके जो जीवन पाश्चात्य जीवन-व्यवस्था के साचे में शोषण के उद्देश्य से ढाला जाने लगा तो भारतीय जीवन अत्यन्त दयनीय हो उठा। आर्थिक दृष्टि से हम पशु से भी गयी बीती स्थिति में आ गये। विपन्नता जन्म-जन्मान्तर की संगिनी हो गई। नैतिकता और बौद्धिकता अपनी निम्नतम स्थिति में पहुँच गई। हमें अपनेपन से भी घृणा होने लगी।

हमारा दयनीय जीवन साहित्य की पृष्ठभूमि मात्र बन सका। इस जीवन की वृत्तियाँ हमारे दृष्टिकोण को कोई नवीन दिशा नहीं प्रदान कर सकीं।

साधनों की अनुपस्थिति जीवन भावप्रधान हो जाता है। कल्पना वास्तविकता के अभाव की पूर्ति करने का प्रयत्न करती है। हमारा साहित्य भी—विशेषतः काव्य साहित्य कल्पना प्रधान हो गया।

कविता को कल्पना, भ्रम, दर्शन, आस्था, आदि की अभिव्यक्ति के लिये और गद्य को चिन्तन, बौद्धिकता, विवेचन, यथार्थ जीवन आदि की अभिव्यक्ति के लिए मान लिया गया। परिणाम यह हुआ कि करुण जीवन के यथार्थ चित्र कथा-एव नाट्य साहित्य या रेखाचित्रों में जितने मिलते हैं, कविता में उतने नहीं। महादेवी का काव्य उनका कुछ और ही रूप प्रदर्शित करता है, और गद्य कुछ और ही। दलित मानव के प्रति सहानुभूति रेखाचित्रों में, बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने का सात्विक आक्रोश एव विवेक समन्वित आह्वान शृङ्खला की कड़ियों में, चिन्तन और मनन विवेचनात्मक गद्य में, तथा भाव विगलित तरल कवि-हृदय गीतों में व्यक्त हुआ है।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

आधुनिक हिन्दी साहित्य मे भी यही भारतीय अन्तर्चेतना विद्यमान है। द्विवेदी युग मे यह अन्तर्चेतना हिन्दी-काव्य मे विशेष रूप से व्याप्त रही है। मैथिलीशरण गुप्त हिन्दू सस्कृति के कवि माने जाते हैं। 'हिन्दू', वैतालिक', 'गुरुकुल', 'साकेत', 'यशोधरा', आदि काव्य ग्रन्थो मे भारतीय अन्तर्चेतना ही व्यक्त हुई है। 'भारत-भारती तो भारत की भारती है ही। 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' पर भी इसी का रग है। 'कामायनी' काव्य तथा 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', आदि ऐतिहासिक नाटको की अन्तरात्मा पूर्णरूपेण भारतीय है। 'राम की शक्ति पूजा' के वातावरण एव उसकी पृष्ठभूमि मे भारतीयता है। रहस्यवादी कविताए भी भारतीय अन्तर्चेतना के परिपार्श्व मे हैं। प्राचीन काल के एव राजपूत युग के ऐतिहासिक उपन्यासो मे चित्रित देश-काल तो भारतीय है ही, नायक और नायिकाओ की मनोवृत्तियाँ एव उनके आदर्श भी भारतीय हैं। उदाहरण के रूप मे 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'कचनार' 'विराटा की पद्मिनी,' गढ कुन्डार' एव 'मृगनयनी', आदि उपन्यासो का अवलोकन किया जा सकता है। रामकुमार वर्मा के 'ऋतुराज', 'शिवाजी' 'राजरानी सीता', 'चारुमित्रा', आदि को पढने के बाद भारतीय सभ्यता और सस्कृति के ही चित्र उभरते हैं। उनके शिवाजी जब अपहृता महिला को अपनी माता-जैसा गौरवपूर्ण पद देते हैं तब 'मातृवत परदारेषु' वाली नीति-उक्ति ही याद आती हैं। तुलसीदास की 'सीता जी' की ही तरह उनकी राजरानी साता भी तिनके की ओट करके ही परपुरुष से बोलती है। 'ऋतुराज' का समस्त वातावरण प्राचीन काल का है। भयानक भूचाल आया है। मृत्यु सम्मुख है। एक भारतीय नारी कहती है "कोई बात नही। भगवान की मुस्कान का ध्यान करिए। शिव के ताण्डव का। धैर्य और शान्ति के साथ, मेरे प्राण-नाथ अन्त के अनन्त के सामने डट जाइये।"[१] यह भारतीय अन्तर्चेतना है जो मृत्यु के समय भी घबडाने नही देती।

(५)-समन्वयशील प्रकृति—

भारतीय सस्कृति की समन्वयशील प्रकृति का यह परिणाम हुआ है कि भारत ने पाश्चात्य जीवन-पद्धति और भारतीय जीवन-पद्धति को परस्पर समीप लाने का प्रयास किया है और आज भारतीय गृहस्थ-जीवन के अन्दर पतलून और धोती तथा सिन्दूर और पाउडर मे कोई भी विरोध नही रह गया है। भारत की आधुनिक सगीत कला, वास्तु कला, चित्रकला, वेशभूषा, खानपान, मनोविनोद, शृगार, सजावट आदि

१ 'मृगनयनी', पृष्ठ ४४०

न तो विशुद्ध रूप से भारतीय हैं और पाश्चात्य ही दोनों को सयोजित करने का अथवा, दोनों म सगति बिठाने का प्रयत्न हो रहा है। धार्मिक कर्मकाण्डो, सामाजिक रूढियो रीतियो, शिक्षापद्धति, भाषा आदि सभी क्षेत्रो मे समन्वय की प्रक्रियाएँ ज्ञात एवं अज्ञात रूप से सक्रिय हैं। साहित्य इसका अपवाद नहीं।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

हमारी अपनी संस्कृति की प्रकृति समन्वयात्मिका रही है और इसकी आवश्यकता सम्भवत, १८५७ ई० से लेकर अब तक जितनी रही उतनी निकट भूतकाल मे कभी भी नही रही। कुछ तो इस कारण, और कुछ इसलिए भी, कि अँगरेजों ने यह संस्कृति अब हम पर लाद दी है और इससे मुक्ति नहीं, हमने यह सोचा कि समन्वय किया जाए। उदारवृत्ति के कारण हमने सामञ्जस्य न अँगरेजो से। घृणा की न अँगरेजो से।यह अवश्य चाहा कि हमारा अपनापन न मिटनेपाए। यह प्रवृत्ति समाज म भी है और साहित्य मे भी।

इस दृष्टिकोण के साथ जब राष्ट्रीयता भी मिल गई तब हमारा प्रयत्न यह हुआ कि ऐसा साहित्य रचा जाय जो अपनी उत्कृष्टता मे अँगरेजी से हीन न ठहरे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब आध्यात्मिकता प्रधान भारतीय दृष्टिकोण यदि हमारी एक आंख बना तो भौतिकता प्रधान पाश्चात्य दृष्टिकोण दूसरी आँख। आदर्श और यथार्थ का साथ हो गया। भावुकता और व्यावहारिकता मे अनुरूपता आ गयी। भक्ति का साथ ज्ञान से हो गया। रहस्यवादी अनुभूतियां चिन्तन से प्राप्त की जाने लगी राम और कृष्ण के चरित्र पर बुद्धिवादी दृष्टि पडने लगी। यह अवश्य है कि कहीं बुद्धि अधिक हो गयी है और कहीं भावुकता। एक ही व्यक्ति और एक ही कृति मे कभी बुद्धि प्रधान हो गया है और कभी भावना। वैष्णव भक्ति पर पाश्चात्य बुद्धिवाद की दृष्टि पडी। 'हरिऔध' ने अपने 'प्रियप्रवास' मे कृष्णचरित को बुद्धिवादी व्याख्या के साथ उपस्थित किया। मैथिलीशरण गुप्त ने प्रश्न किया—'राम। तुम मानव हो' ईश्वर नहीं हो क्या?' किन्तु आगे चल कर 'साकेत' में हनुमान को भरत के पास से जब वे द्रोण पर्वत के साथ लंका को उड़ कर जाते हुए प्रस्तुत करते हैं तब उनका उड़ना योग शक्ति के द्वारा दिखाया जाता है। यह भक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक स्थूल साधन हुआ। कैकयी के चित्रकूट भाषण मे बुद्धि प्रधान है, भावुकता नहीं। 'पञ्चवटी' मे शूर्पणखा के सामने जब सीता ने लक्ष्मण के लिए ये परिहास वाक्य कहे कि 'पर मे ब्याही बहू छोड़ कर यहाँ भाग आये हैं ये' तब वहाँ देव भावना ने मानवीय दृष्टिकोण से समझौता साध लिया फिर भी, देव भावना खडित नहीं हुई।

पंत 'प्रसाद' 'निराला' के हाथों खडी बोली ने जो छायावादी स्वरूप पाया उसमे भी भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का समन्वय ढूँढ़ा जा सकता है। इस

स्वरूप निर्माण मे जहा सस्कृत की 'विच्छित्ति' या मोती जैसी तरलता लाने का प्रयास है, सस्कृत के तत्सम शब्दो की प्रधानता है, वहा के सन्धि समास विशेषण आदि हैं, वहा इसकी विशेषण-निर्माण-पद्धति पर टैगोर तथा अंगरेजी का भी प्रभाव है। अलकारो मे जहा विशुद्ध भारतीय अलकार (अनुप्रास, उपमा, रूपक, आदि) हैं वहाँ (पर्सानीफिकेशन) मानवीकरण, (ट्रांस्फर्ड एपीथेट) विशेषण विपर्यय, पेथेटिक फॅलेसी आदि के ढग पर बनाए गये शब्द भी हैं।

६-उदार और ग्रहणशीला प्रवृति—

भारत राष्ट्र को पराधीनता से निकाल कर अभ्युदय की ओर ले जाकर उसे उसके प्राचीन गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए कटिबद्ध भारतवासियो को यह पूर्ण रूप से विदित हो गया था कि प्राचीन होने ही के कारण न तो सब-कुछ सर्वथा ग्राह्य हो सकता है और न नवीन के कारण त्याज्य। उनके सम्मुख लक्ष्य स्पष्ट था अर्थात भारत की शक्ति और सम्भावनाओ को सस्फूर्त एव सक्रिय करना। इसके लिए उन्होन गौरवपूर्ण अतीत के उन सभी तत्वो को ले लिया जो आधुनिक युग मे किसी न किसी प्रकार उपयोगी हो सकते थे। साथ ही, आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के अनिवार्य एव उपयोगी तत्वो को भी स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार उद्देश्य से प्रेरित हो कर भारत की उदार और ग्रहणशीला प्रकृति इस युग मे मधु-मक्षिकाओ की भाति मधु-सचय करने लगी।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

उक्त प्रवृत्ति का प्रभाव यह पडा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य प्राचीन और नवीन का पावन सगम हो गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से देखने पर हमको मिलता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य मे एक ओर आधुनिक जीवन की स्थितिया, परिस्थितिया' घटनाएं, दृष्टिकोण एव विचारधाराएं हैं, और दूसरी ओर वैदिक, उपनिषत्कालीन रामयण और महाभारत की कहानिया एव प्राचीन तथा मध्ययुगो की घटनाएं, आदि। हमारा दृष्टिकोण आदर्शवादी भी है और यथार्थवादी भी। हम श्रद्धालु और विश्वासी भी है और विज्ञानवादी बौद्धिक भी। राम हमारे लिए ईश्वर भी हैं और मानव भी। हमारी नाट्यकला की आयोजना पाश्चात्य और भारतीय नाट्यकलाओ के सुन्दरतम तत्वों के सम्मिलिन से हुई है। उसमे रस भी है और मनोविज्ञान भी। यदि हमारे रामचन्द्र शुक्ल रसवादी एव आदर्शोन्मुखी आलोचनाएं लिखते हैं तो प्रकाशचन्द्र गुप्त, नगेन्द्र रामविलास शर्मा, आदि अनेक लेखक साम्यवादी दृष्टिकोण से विवेचनाएं एवं विमर्श प्रस्तुत करते हैं। प्राय हमारी काव्यालोचना की कसौटी भारतीय, और कथा, एकाकी निबन्ध, आदि की पाश्चात्य है। हम

आधुनिक शैली के पद्य, गीत, सानेट एवं रूबाइयाँ भी लिखते हैं और कवित्त तथा सवैये भी। इस दृष्टि से 'यशोधरा' और 'कुरुक्षेत्र' का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमर गीत' प्राचीन छन्द-शैली-कथा में नवीन देश भक्ति की भावना की अभिव्यक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है। 'कृष्णायन' भी इसी प्रकार का काव्य है। ऐहिकता और आध्यात्मिकता का सम्मिलित रूप आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य प्रस्तुत करता है। हम इस युग में तुलसीदास की दोहा-चौपाई वाली शैली पर 'साकत'—जैसी गद्य काव्य कृतियाँ भी।

(७) आत्मतत्व के प्रति अविचलित आस्था—

शताब्दियों से साहित्य में आत्मतत्व के प्रति जो निष्ठा अभिव्यक्त हुई है वही निष्ठा आधुनिक परिस्थितियों में बिखरने के स्थान पर और भी सश्लिष्ट रूप प्राप्त कर सकी है। यही आत्म-मय निष्ठा भारतीय संस्कृति की आधार भूत भावना है। इसमें आध्यात्मिक तथा लौकिक, दोनों ही तत्व समन्वित होकर भारतीय जीवन की विविध पार्श्वमयी चेतना को साहित्य में व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत उपादान और हिंदी साहित्य–

आधुनिक भारतीय जीवन में देशभक्ति एक प्रमुख लौकिक तत्व है। आत्म-तत्व से समन्वित होकर यह लौकिक तत्व जब हिन्दी साहित्य में व्यक्त हुआ तब उसका रूप यों हुआ–

> चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
> नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
> आनन-श्री छाया शशि उपमित
> ज्ञान मूढ़ गीता प्रकाशिनी !
> सफल आज उसका तप-संयम
> पिला अहिंसा-स्तन्य सुधोपम,
> हरती जन-मन भय, भव-तम भ्रम,
> जग-जननी जीवन विकासिनी ।[1]

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी की सुप्रसिद्ध पंक्तियाँ—

> मुझे तोड़कर हे वनमाली, उस पथ पर तुम देना फेंक
> मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाएँ वीर अनेक

भारत देश के आधुनिक वीर मानव की उस प्रकृति को अभिव्यंजित करती हैं

[1]-पन्त की 'भारत माता' शीर्षक कविता

जिसमे लौकिकता और आध्यात्मिकता आत्म-तत्व से समन्वित होकर एक उद्देश्य की ओर उन्मुख हैं।

आत्म तत्व की अनुभूति से वंचित होकर भारतीय चेतना एक पग आगे नही बढ़ सकती। प्रसाद जी प्रारम्भ से ही मानते थे—

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी
दिव्य शिल्पी के कला-कौशल सभी[1]

इस 'दिव्यशिल्पी' या आत्म तत्व की स्पष्ट रूपरेखा कोई नही जानता किन्तु उसका आभास निश्चित रूप से मिलता है। पन्त की 'मौन निमन्त्रण' कविता मे वह आभास उपस्थित है। रहस्यवादी अनुभूति आत्म तत्व पर अविचलित आस्था रखने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकती है। मैथिलीशरण गुप्त की वैष्णव भक्ति का और रामकुमार वर्मा के प्रार्थना गीतो का आधार आत्म तत्व की अनुभूति ही है। गोपालशरण जी की ये पंक्तिया कैसा अचरज है न मैं ने जान पाय कभी मेरे चित्त मे ही छिपा मेरा चितचोर है' मानव मे परम-आत्मा को स्थित मानकर ही लिखी जा सकती थी। लौकिक छवि भी उसी दिव्य प्रभा से मंडित है—

रूप अतन्द्र चन्द्रमुख श्रमरुचि
पलक ताल तम मृग दृग हारे
देख दिव्य छवि लोचन हारे[2]

पन्त ने नारी को 'धरा मे थी तुम स्वर्ग-पुनीत' कहकर जो—

तुम्हारे छूने मे था प्राण, सग मे पावन गगा-स्नान
तुम्हारी वाणी मे कल्याण ! त्रिवेणी की लहरों का गान

माना वह इसीलिए सम्भव हो सका कि उनकी इस नारी मे आत्म तत्व सामान्य की अपेक्षा कही अधिक जागृत होकर उसके लौकिक अस्तित्व को दिव्य बना सका। इसी प्रकार पन्त ने स्पष्ट रूप से माना कि 'चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय, चिन्मय प्रकाश से विकसित लय' आत्म तत्व पर अविश्वास करके कोई नही कह सकता—'विधाता की कल्याणी सृष्टि।' इस दृष्टि से सम्पन्न होकर ही 'प्रसाद' कह सके कि 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो।' 'दिनकर' ने मानव का श्रेय 'दिव्य भावो के जगत मे जागरण का गान' और 'आत्मा का किरण अभियान' ही माना है। माखन-लाल चतुर्वेदी के 'साहित्य देवता' और रायकृष्ण दास की 'साधना' की पृष्ठभूमि मे

१—सुधाकर पाण्डेय की 'प्रसाद जी की कविताएँ' पृष्ठ ६१

२—'निराला'

भी यही आत्म तत्व है। जिस गान्धीवाद का प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्य पर असन्दिग्ध है उसकी आधार भूमि यही आत्म तत्व है। छायावाद और रहस्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि में उपस्थित सर्वात्मवाद में भी आत्म तत्व है।

(८) समाज का प्रगतिशील मध्यम वर्ग—

पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था ने समाज में जिस मध्यम वर्ग की उत्पत्ति कर दी थी उसका एक भाग तो अपने अस्तित्व और स्वार्थपूर्ति के लिये पूरी तरह से अंगरेजी साम्राज्यवाद पर आधारित था और इसीलिए पूरी तरह से उसका भक्त और दास होकर राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टिकोण से एकदम निस्पृह हो चला था, किन्तु दूसरा भाग, जिसमें डाक्टर, प्रोफेसर, वकील, व्यापारी, आदि थे, अंगरेजों से कुछ दूर रहा। उनका प्रत्यक्ष रूप से दास नहीं था। उन्हीं पर उनका आधारित नहीं था। इसके अन्दर जीवन के कुछ स्पन्दन शेष थे जो सुयोग्य नेतृत्व का आह्वान पाकर हुँकारों, सिंहनादों और क्रियाशीलताओं में परिवर्तित हो गये। सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता के कारण ये जागृति भारत की प्रथम पंक्ति बने। रूसी साम्यवाद से प्रभावित हो कर इनमें से कुछ लोग आमूल क्रान्ति का आह्वान करने लगे। भारतीय संस्कृति से अनुरंजित होकर इस वर्ग के अधिकांश लोग कायाकल्प के द्वारा उत्थान के लिए सक्रिय हुए। इन्होंने अपने को नवीन जीवन और नवीन वातावरण के अनुरूप परिवर्तित किया। ये परम्पराओं और प्रथाओं को बिल्कुल छोड़ना पसन्द नहीं करते थे। उनको मानते और पालते थे। उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए उनकी युगानुकूल-यथावश्यक बौद्धिक व्याख्याएँ उपस्थित करते थे। ये कुलीन विवाह, सम्मिलित परिवार, मर्यादित जीवन, संयमित वासना, कर्मकाण्ड, आदि के समर्थक थे और इन्हीं के अनुरूप इनका जीवन चलता था। जो अव्यावहारिक था उसे ये धीरे-धीरे छोड़ देते थे। अस्तु, विवाह के अवसर पर पहने जाने वाले 'मौर', 'जामा-जोड़ा', आदि धीरे-धीरे प्राय परित्यक्त ही हो गये हैं। पहले श्रीवास्तव कायस्थ श्रीवास्तव कायस्थ-घराने में ही विवाह करते थे किन्तु अब सक्सेना-घरानों से भी उनके ब्याह-सम्बन्ध जुड़ने लगे। इसी वर्ग की प्रतिभा ने परम्परा का प्रगति से परिणय करा दिया। जीवन मर्यादापूर्ण ढंग से प्रगत्योन्मुखी हो कर गतिशील हो उठा। विकास के पथ में आने वाली बाधाओं और कठिनाइयों का इस वर्ग ने वीरतापूर्वक सामना किया। उन्नति की पूरी कीमत चुकाई। देश के लिए, धर्म के लिए, भाषा के लिए गान्धी-नेहरू विवेकानन्द--रामतीर्थ, दयानन्द-श्रद्धानन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी-प्रेमचन्द आदि के रूप में इस वर्ग ने त्याग, तपस्या, बलिदान,

कष्ट सहिष्णुता, आदि के अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किये। अपने सामर्थ्य और अधिकार के बाहर की बातों (विवाह—व्यवस्था, आदि) के कारण भले ही इनकी कल्पना की उड़ान, बौद्धिक उपलब्धियां एवं कला—कुशलता एक निश्चित वृत्त के भीतर ही रह गयी, फिर भी १६५० ई० तक भारत जो-कुछ बन सका उसका श्रेय एक मात्र इसी वर्ग को है।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

उपर्युक्त वर्ग के ही कुछ लोगों ने हिंदी के प्रति रुचि जाग्रत की और आधुनिक हिन्दी—साहित्य की रचना की। परिणामस्वरूप यह विडम्बना प्रधान मध्य-वर्गीय जीवन हम साहित्यिकों को न तो उतना ईमानदार रहने देता है और न उतना ऊँचा कि हम आधुनिक युग की मीरा अथवा सूर के दर्शन कर सकें। हम न ईमानदार बेईमान हैं न ईमानदार नास्तिक न ईमानदार बुद्धिवादी न ईमानदार भौतिकतावादी साथ ही, हम ईमानदार भक्त भी नहीं ईमानदार पुजारी भी नहीं, ईमानदार ईश्वरवादी भी नहीं, ईमानदार अध्यात्मवादी भी नहीं। ईमानदार रावण युग की विभूति होता है ईमानदार तुलसी मानवता के मस्तक का चन्दन है। यह ईमानदारी जिस साहित्यिक में जितनी मात्रा में रही उसका साहित्य उतना ही महान हुआ मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, निराला आदि इसके उदाहरण रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं।

यह भी एक कारण था कि हमारे साहित्य में बुद्धि और कल्पना की ऊंचाई तथा कला का स्तर एक सीमा तक ही रह गया। आधुनिक युग के बाल्मीकि और व्यास, आधुनिक युग के सूर, एवं आधुनिक युग के रामायण और महाभारत की प्रतीक्षा अब भी करती रह गयी। नहीं तो, आज के युग की परिस्थितियाँ नये महाभारत या रामायण की रचना करवाने में समर्थ है।

सेवा सदन में वेश्या की जो समस्या उठाई गयी है वह प्रगति और परम्परा के समन्वय का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यह एक तथ्य है कि वेश्या-वृत्ति का कारण, आर्थिक विषमता और पूंजीवादी या सामन्तवादी मनोवृत्ति है और जब तक किसी क्रान्ति द्वारा ये वर्ग न मिटाए जायेंगे तब तक वेश्यावृत्ति समाप्त न होगी —चाहे जितने आश्रम खोले जायें। आश्रम की कल्पना क्रान्ति और रूढ़ि के समन्वय की ही उपज है।

फिर भी, प्रेमचन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'प्रसाद', आदि ने त्याग और

बलिदान के द्वारा हिन्दी साहित्य को पर्याप्त सेवा की है। हजार कष्ट सहते हुए भी श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी की सेवा और समृद्धि की है। हिन्दी को 'केरियर' बनाने के एक साधन के रूप में तो स्वतन्त्र भारत के नवयुवकों ने अपनाया है। उसके पहले वह माता थी और उसके लिए कुछ करना सेवा और कर्तव्य समझा जाता था। कुछ भी हो, इस ढंग से और दृष्टिकोण से कार्य करते हुए आधुनिक हिन्दी साहित्य को इसी प्रगतिशील मध्यवर्ग ने एक श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण साहित्य का स्वरूप प्रदान किया है।

(६) सुधारवादी मनोवृत्ति--

भारत के अतीत गौरव की अनुभूति और वर्तमान अधोगति की चुभन ने हमारी चेतना को आत्मोत्थान के लिए विकल कर दिया। हमने अपने भूतकाल की महानता पर विश्वास कर ही लिया था। इसलिए यह स्वतः सिद्ध हो गया कि हमारी व्यवस्थाओं और हमारी सामाजिक संस्थाओं की नींव उन्हीं महान पुरुषों ने डाली थी और उन्हीं ने इनकी योजनाएँ की थी जिनकी प्रतिभा, साधना, मौलिकता एवं संयोजन-कुशलता संसार के इतिहास में अद्वितीय है। हमारे वर्तमान दोषों और विकृतियों का कारण हमारा आत्मस्वरूप-विस्मरण एवं मध्ययुगीन आपत्तिमूलक परिस्थितियाँ हैं। अस्तु, हमारी व्यवस्थाओं, मान्यताओं एवं सामाजिक संस्थाओं के आमूलोच्छेद का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बात केवल सुधार की रह जाती है। हमारे समाज के कुछ लोगों ने यह माना कि हमको अपनी समस्त प्राचीन वृत्तियों-प्रवृत्तियों, रीतियों-रिवाजों, प्रथाओं-परम्पराओं, आस्थाओं-विश्वासों तथा सिद्धान्तों-आदर्शों को वैसे का वैसा ही पुनः स्वीकार कर लेना चाहिये। अधिकांश लोगों का यह विचार हुआ कि आधुनिक परिस्थितियों एवं वातावरण को ध्यान में रख कर उसके अनुरूप अपने अन्दर आवश्यक सुधार करना होगा। सबसे पहले धर्म के क्षेत्र में सुधार करना पड़ा। हमने धार्मिकों और धर्म-स्थानों को बौद्धिक, युक्तिवादी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ कर दिया। उनके दुराचरण एवं उनकी अनीतियाँ विवेचना, आलोचना एवं तिरस्कार का विषय बनी। अन्धश्रद्धा और राष्ट्र की उन्नति के साधन के रूप में देखा जाने लगा। "मैं खोजता तुझे था जब कुंज और वन में" तब भगवान दीनों के द्वार पर हमारी प्रतीक्षा करता था अर्थात् भगवान का निवास 'मन्दिर' नहीं रह गये। दीनों की सेवा वास्तविक भगवदाराधना हो गयी। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की तीन कहानियों की तरह अपने केवल पांच निबन्धों के बल पर अमर हो जाने वाले अध्यापक पूर्णसिंह ने लिखा, "ईंट, पत्थर, चूना, कुछ ही कहो--आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मस्जिद गिरजा और पोथी

मे न करेंगे ...मनुष्य की अनमोल आत्मा मे ईश्वर के दर्शन करेंगे.. ...यही धर्म है . मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है"।[1] इसी प्रकार सामाजिक परम्पराओं को बौद्धिक दृष्टिकोण से तथा वातावरण की माग से मर्यादित हो जाना पड़ा। नवीनतम व्याख्याओ के कारण धर्म और समाज के विभिन्न प्राचीन तत्व नये ही रूप मे और नयी-नयी शक्तियो और सम्भावनाओ से परिपूर्ण होकर उपस्थित हुए। उन सबका वैज्ञानिक औचित्य सिद्ध किया गया। अमानवीय एव विघटनकारी तत्वो जैसे-वेश्या, दहेज, फैशन, आडम्बर, आधुनिक शिक्षा, हरिजनो की दुर्दशा, आदि-मे मानवतावादी दृष्टिकोण से यथावश्यक सुधार अथवा परिवर्तन किये गये।

प्रस्तुत उपादान और हिन्दी साहित्य—

साहित्य-सर्जना का लक्ष्य उत्थान था। इसीलिए सामाजिक, व्यक्तिगत या राजनीतिक विकार ही साहित्य मे प्रधान नही होने पाया। वह साहित्य मे आलम्बन रूप मे बहुत कम आने पाया है। जहा आया है वहा उत्थान की भावना के उद्दीपन के रूप मे ही लाया गया है। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद यही है। केवल चित्रण के लिए वैयक्तिक या सामाजिक विकारो का चित्रण आधुनिक हिन्दी साहित्य मे भी नगण्य है। 'कला कला के लिए' या उद्देश्य-विहीन यथार्थवादी दृष्टि आधुनिक हिन्दी साहित्य मे स्थायी या मुख्य प्रवृत्ति बन कर नही आ पायी है।

फिर भी, साहित्यिक एव कलात्मकता की उस रुचि ने, जिस पर कुछ पाश्चात्य धारणा का भी प्रभाव पड चला था, उद्देश्य के आदर्शवादी रूप को धर्मोपदेश का रूप नही धारण करने दिया। साहित्य रस चाहिए था। उपदेश देना लेखक का कार्य नही रह गया। वह साहित्य रस इस प्रकार दे कि जो कार्य वह उपदेश से पूरा कर सकता था वह अब मन पर प्रभाव डालकर अप्रत्यक्ष रूप से पूरा करे। उपदेश देने सुनने का युग जा रहा था। साहित्य और धर्मोपदेश दो स्वतन्त्र और पृथक बातें हो गयी। समाज से भी कथावाचको का एव उपदेशको का महत्व समाप्त हो रहा था क्यो कि वे युग से पीछे पड गये थे।

इसी वर्तमान को सुधारने के उद्देश्य से ही हिन्दी का उपन्यास साहित्य, कहानी साहित्य, नाटक साहित्य, निबन्ध साहित्य, आदि व्यक्तिगत एव सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक, सुधारो एव उत्थान के विचारो और भावनाओं से भरा

१ 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध से

पड़ा है। सुधारों की यह रूपरेखा कभी गान्धीवादी होती थी, कभी साम्यवादी और कभी केवल प्रगतिशीलता से परिपूर्ण मात्र। यह सुधारवादी दृष्टिकोण कभी प्रधान हो जाता था और कभी परोक्ष रूप से सामने आता था। 'सेवासदन' और 'रंगभूमि' पहले के उदाहरण हैं तथा 'कंकाल' आदि दूसरे के।

(१०)-नारी जागरण—

बीसवीं शताब्दी के भारत की सर्वाधिक मधुमयी, मंजुल एवं प्रोज्ज्वल, उपलब्धि अथवा यों कहा जाय कि 'उन्नीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक' पुनर्जागरण की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण देन नारी जागरण है। इस आधुनिक नारी ने भारत के सांस्कृतिक नारीत्व के किसी भी अलंकार या आभूषण का अपमान या परित्याग नहीं किया है। इसने समस्त अनावश्यक मध्ययुगीन विकृतियों को झटक दिया है। साथ ही, इसने अपने को आधुनिक युग के भारत की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल भी लिया है। इस नारी का आदर्श पाश्चात्य नारी का स्वरूप बिल्कुल नहीं है। यह साया नहीं पहनती, हैट नहीं लगाती, इसमें पाश्चात्य लोच-लचक-नाज-अन्दाज नहीं और इसके प्रेमावेग की अभिव्यंजना प्लेट फार्मों पर होने वाले आलिंगनों और चुम्बनों से नहीं होती। यह अब भी घर की रानी है। इसके लोचन शील से सजे होते हैं। इसने मातृत्व नहीं खोया है। इसने पर्दा उठा दिया है कि नग्नता या निर्लज्जता इसे बिलकुल अच्छी नहीं लगती। यह अब भी पतिव्रता है। सुशिक्षिता हो कर यह और भी उपयोगी हो गयी है। घर को तिलांजलि न देकर भी यह राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक, शैक्षणिक,आदि क्षेत्रों में अपने देश और समाज के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है।

प्रस्तुत उत्पादन और हिन्दी साहित्य—

इसका सबसे बड़ा प्रभाव हिन्दी साहित्य पर यह पड़ा कि हिन्दी को महिला साहित्यकारों की अनेक सशक्त कलाकृतियां प्राप्त होने लगीं। महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, सुमित्राकुमारी सिनहा, तारा पाण्डेय, आदि कवयित्रियों की काव्य-वीणा के स्वरों से हिन्दी का साहित्यिक जगत गूंज उठा। कोकिल के काव्य का आध्यात्मिक स्वर अनेक काव्य को सन्त काव्य-जैसी सात्विक आभा प्रदान किये हैं। "वे न केवल भूमि पर चलती हैं और न केवल आकाश में ही उड़ती हैं, बल्कि दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य उनकी काव्य शैली में पाया जाता है" .... "वे कोमल और गहरी अनुभूतियों को सरल-सहज रूप में रखने की असाधारण कला पर अधिकार

रखती है।"[1] इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि इनकी कविताओं के विषय में यह कहा गया, "... ऐसा लगा कि कुछ नया सुन रहा हूँ। आजकल इस भाषा में कम लोग बोलते हैं ......ये भक्ति के भजन बन गये हैं"[2]

सखि अब रस बरसे मैं भीजूँ।
भीतर बरसे बाहर बरसे दिन बरसे भर रानी
सत्य लगन की झरी लगी है रुकती नहिं न सिरानी
जाने किस तरंग पर घर की वस्तु वस्तु लहराती
द्रव तो बहै सभी कोई जाने अद्रव बही अब जाती
रस मुझमें भीजा मैं रस में मनिक-मनिक कर भीजूं।[3]

अस्तु, दिनेश नन्दिनी के गद्य-काव्य, उषादेवी मित्रा के उपन्यास, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा की कहानियाँ, आदि हिन्दी की निधियाँ हैं। महादेवी वर्मा के रेखाचित्र असाधारण एवं अद्वितीय हैं। पद्मावती शबनम और शचीरानी गुर्टू आलोचना के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। कंचनलता सब्बरवाल की लेखनी बहुमुखी है।

(११) राष्ट्रीयता—

इस युग में भारत के अन्दर जो राष्ट्रचेतना एवं जो राष्ट्र प्रेम प्रबुद्ध हुआ उसमें अनेक तत्व ऐसे थे जो भारतीय संस्कृति से प्राप्त हुए थे। इस शताब्दी के प्रारम्भ में प्रेम का सम्बन्ध धर्म एवं अध्यात्म से हो गया था। राष्ट्रोत्थान की प्रेरणा को ईश्वरेच्छा माना गया। भारत देश को भौगोलिक प्रदेश मात्र न मानकर एक आध्यात्मिक अस्तित्व माना गया। बलिदानियों ने उसे 'माता' माना इसकी महत्ता स्वर्ग से भी अधिक मानी गई फाँसी के तख्ते पर हँस हँस कर झूलने वालों के हाथों में 'गीता' दिखाई पड़ने लगती। आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों ने वीरों की भावना को नया ही रंग दे दिया। राष्ट्र प्रेमी असाधारण रूप से भावुक होते थे। लोगों ने शत्रु में भी अपनी आत्मा की छवि देखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार भारत की राष्ट्रीयता घृणा-द्वेष एवं लघुताओं से मुक्त होकर जिस दीप्ति से आभासित हुई उसमें वह तमस्-दोष या कलुष नहीं रह गया जिसके कारण पाश्चात्य राष्ट्रवाद अवांछित हो रहा था। यन्त्रवाद, औद्योगीकरण, भोगवाद हिंसा, लोलुपता, आदि से मुक्त होकर भारतीय राष्ट्रवाद सात्विकताप्रधान होकर सर्वोदय की ओर अग्रसर हुआ।

१—'सुहागिन' में धीरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित 'परिचय' से
२—सुहागिन' में हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'परिचय-पत्र' में
३—'सुहागिन', पृष्ठ ५७

रूप म भी है। वह आलंकारिक रूप म भी है। इस दृष्टि से सुमित्रानन्दन पन्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्राय प्रत्येक छायावादी कवि प्रकृति-प्रेमी रहा है। कुछेक उदाहरण देखिए—

नौका मे उठती जल हिलोर
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।
विस्फारित नयनो से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल
जिनके लघु दीपों को चचल, अ चल की ओट किये अविरल
फिरती लहरे लुक-छिप पल पल।
सामने शुक की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल मे कल,
रुपहरे कचों मे हो ओझल
लहरो के घूँघट से झुक-झुक, दशम का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक रुक[1]
नीले नभ के शतदल पर, वह बैठी शारद हासिनि,
मृदु करतल पर शशी मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिनि।[2]
कौन तुम शुभ्र किरण वसना
सीखा केवल हँसना-केवल हँसना
शुभ्र किरण वसना।
मन्द मलय भर अङ्ग गन्ध मृदु
बादल अलकावलि कुचित ऋतु
तारक तार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु,
सुकृत पुंज अशना।[3]

'निराला' का 'बादल राग', 'सन्ध्या सुन्दरी', आदि कविताएँ साहित्य की अमूल्य निधियां हैं। प्रेमचन्द, वृन्दावनलाल वर्मा, 'प्रसाद', आदि के कथा साहित्य एव नाटक-साहित्य मे भी यह प्रकृति-चित्रण है और चित्र को रस प्रदान करने मे समर्थ हुआ है। विराग्नी पद्मिनी' की 'उड़ि गये फुलवा रहि गई बास' ऐसी ही उक्ति है।

१—पन्त लिखित 'नौका विहार' कविता
२—पन्त लिखित 'चांदनी' कविता
३—'निराला' लिखित 'गीतिका' से

यह प्रकृति सौंदर्य कभी-कभी हमारी सामाजिक दुर्दशा के चित्र को और भी अधिक मार्मिक बना देता है। मैथिलीशरण गुप्त गावो के सौन्दर्य का चित्र खीचते हैं'—

अहा ! ग्राम्य जीवन भी क्या है
क्यो न इसे सबका मन चाहे''' ''' (आदि)

इस प्रकार वे गांवो की प्रकृति की सुन्दरता चित्रित करते-करते अन्त मे कह उठते हैं—'

शिक्षा की यदि कमी न होती
तो ये गाव स्वर्ग बन जाते '' (आदि)

१२-गांधीवाद और सत्याग्रह—

आधुनिक युग मे गाधीजी देश को जिस रास्ते पर ले चले थे वह सर्वथा नया न होते हुए भी विलक्षण एव चमत्कार पूर्ण था। लोगो ने धर्म और नीति को व्यावहारिक जीवन के क्षेत्रो से बहिष्कृत कर दिया था। लोग आज भी कभी-कभी कह दिया करते हैं, भई, हम सन्यासी नही हैं ! घर-गिरस्ती म तो यह सब (अनीति के कार्य) चलता ही रहता है ! 'तुम्हे यही सब करना है तो हिमालय पर चले जाओ !' आदि। इसकी एक झाँकी 'साकेत' के अष्टम सर्ग म चित्रित चित्रकूट-सभा के अवसर पर वामदेव के कथनो मे मिल सकती हैं। गान्धी जी ने वारागना राजनीति को सत्य और अहिंसा की अनुगामिनी बनाकर कुलवधू का रूप दे दिया। प्रार्थना के बिना वे रह नही सकते थे। वे सबका उत्थान चाहते थे। सबमे उनी आत्म तत्व के दर्शन करते थे। यही कारण है कि वे किसी को भी तत्वत. बुरा न मानकर सभी का हृदय परिवर्तन सम्भव मानते थे। साधन-शुद्धि पर उनका विश्वास था। वे श्रम का आदर करते थे और उसे सबके लिये अनिवार्य मानते थे। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को वे भारत के लिये अनुपयोगी समझते थे। खद्दर और चर्खे मे उन्हे भारत का कल्याण दिखाई पडता था। राजनीति मे उनका आदर्श रामराज्य था। हिन्दू-मुसलिम एकता उन्हे इष्ट थी। यम-नियम, आदि को मिलाकर उन्होने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य असग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सर्व-धर्म-समानत्व, स्वदेशी और अस्पृश्यता का पालन सबके लिये अनिवार्य कर दिया था। ग्रामोद्योग मे ही वे ग्रामो की समृद्धि सम्भव मानते थे। मादक वस्तुओ को वे त्याज्य मानते थे। साम्राज्यवाद से लडने के लिये उन्होने सत्याग्रह का कार्यक्रम देश के सामने उपस्थित किया था।—सत्याग्रही अनीति को आत्मिक, वैचारिक, क्रियात्मक, आदि किसी भी प्रकार का सहयोग नही,

स्पष्ट है कि यह गान्धीदर्शन है। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के आठवें सर्ग की आत्मा गान्धीवादी दर्शन मे अनुरंजित है। उनकी सीता कहती हैं :.......
'आओ हम कातें-बुनें गान की लय मे'। पन्त ने महात्मा गान्धी पर कई उच्चकोटि की कविताएं लिखी हैं। उनकी कुछ पक्तिया देखिए,—

पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक
मुक्त हुए तुम, मुक्त हुए जन, हे जग वद्य महात्मन्
मानव आत्मा के प्रतीक ! आदर्शों से तुम ऊपर
निज उद्देश्यो से महान, निज यश से विशद, चिरतन[१]

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, श्री मन्ननारायण अग्रवाल आदि कवियो ने भी गान्धी का गौरव गान किया है। प्रेमचन्द के 'रगभूमि' और 'कर्मभूमि' नामक उपन्यासो और 'समरयात्रा' की अनेक कहानियो मे गान्धी के सत्याग्रह का कलात्मक चित्रण है। 'रगभूमि का सूरदास तो उच्चकोटि का सत्याग्रही है।

(१३)—पाश्चात्य सस्कृति और सभ्यता के उपयोगी तत्व—

पाश्चात्य सभ्यता के तत्व हमारे देश मे साम्राज्यवादी अँगरेज अपने लाभ के लिए लाया था, जैसे-रेल, टेलीफोन, आदि। उन्होंने जो आर्थिक व्यवस्था, कानून शिक्षा-प्रणाली, आदि चलाई वह भी उनके अपने लाभ के लिये ही थी। इस प्रकार हमने जो पाश्चात्य जीवन-पद्धति अपनाई वह इसलिये कि राजनीतिक पराधीनता के कारण हम ऐसा करने के लिए विवश थे। वह हमारी आवश्यकता या स्वाभाविकता नही थी। यही कारण है कि पाश्चात्य जीवन-पद्धति या आधुनिकता आशिक रूप मे ही भारत मे स्वीकार की गयी। ध्यान यह रखा गया कि केवल उन्ही तत्वो को अपनाया जाय जिसका प्रयोग शास्त्र-निषिद्ध न हो, जो हमारी सस्कृति के प्रतिकूल न पडे और जो हमारी उन्नति के लिए उपयोगी हो। हमको पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति स्वीकार करनी पडी जिसके परिणाम-स्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अनुसन्धान की भावना और तत्वो एव तथ्यो को परखने की बौद्धिक दृष्टि प्राप्त हुई। भौतिकवादी दृष्टिकोण भी मिला जिससे हमे पुन. प्रवृत्ति मार्ग की महत्ता अवगत हुई। नये नये वैज्ञानिक आविष्कारो ने जीवन को सुविधा जनक वस्तुओ से परिपूर्ण कर दिया। रेल, प्रेस, डाक-व्यवस्था, समाचार-पत्र आदि का जीवन पर बडा ही

१—'महात्मा जी के प्रति' शीर्षक कविता से

महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है और इनके अनुसार आज के भारतीय का एक विशिष्ट मनोविज्ञान बना है। युक्तिवादी दृष्टि, मानवतावादी दृष्टिकोण, लोकतन्त्रीय विचारधारा एवं उपयोगितावादी विचारधारा एवं साम्यवाद पाश्चात्य सभ्यता की ही देन हैं। इन्हीं सबके कारण हरिजन भी विद्याध्ययन करने लगा है और द्विवेदी-त्रिवेदी-चतुर्वेदी भी। दृष्टि परिवर्तन ने अनेक मान्यताओं को स्वयमेव जीवन में निकल जाने को बाध्य कर दिया है। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए संस्थाओं और संगठनों का उपयोग भी पाश्चात्य व्यवस्था है। इस सभ्यता और संस्कृति ने जीवन और विचारधारा को नवीन आयाम प्रदान किये है।

बीसवीं शताब्दी हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास के एक नवीन अध्याय की शताब्दी है। इस नवीनतम सांस्कृतिक मोड़—संस्कृति की नवीनतम करवट—का कारण है पाश्चात्य संस्कृति से इसका सम्पर्क। इस सम्पर्क ने संस्कृति के प्रत्येक अंग में उलट-फेर पैदा किये हैं। अस्तु, साहित्य भी प्रभावित हुआ है।

विषय के क्षेत्र में परिवर्तन इस प्रकार हुआ है कि अब जीवन का कोई भी पक्ष अथवा समाज का कोई भी अंग साहित्य की सीमा से बाहर नहीं रह गया। सभी साहित्य लिखते हैं, सभी पढ़ते हैं, और सभी साहित्य के विषय बनते हैं।

दृष्टिकोण में परिवर्तन यह हुआ कि भौतिक जीवन अपने उसी रूप में साहित्य में व्यक्त होने लगा। आदर्श के साथ साथ यथार्थ भी महत्वपूर्ण हुआ।

स्वरूप में परिवर्तन यह हुआ कि अब काव्य की प्रधानता न रह कर गद्य की प्रधानता हो गयी। निबन्ध, शोध प्रबन्ध, नाटक, एकांकी, कहानी उपन्यास, साहित्य का इतिहास, साहित्य-शास्त्र गद्य काव्य, शब्दचित्र, आदि लिखे जाते लगे।

शैली में परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य 'रीति'—प्रधान नहीं रह गया। अलंकारों, आदि की प्रमुखता नहीं रह गयी।

साहित्य का सम्बन्ध कुछ विशिष्ट लोगों से ही न रह कर सबसे हो गया।

सबसे बड़ा परिवर्तन भाषा के क्षेत्र में हुआ। अनेक कारणों से, जिनका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा, बीसवीं शताब्दी के आते आते यह निश्चित हो गया कि हमारे ज्ञान-विज्ञान अर्थात् उपयोगी साहित्य या गद्य साहित्य की भाषा ब्रजभाषा नहीं रह सकती। मध्ययुग की काव्य भाषा आधुनिक युग की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति की भाषा नहीं हो सकती। साथ ही यह भी तै हो गया कि यह भी नहीं हो सकता कि कविता की भाषा कोई दूसरी रहे, और गद्य की

कोई दूसरी। अस्तु, खड़ी बोली साहित्य की भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। भाषा का यह परिवर्तन बड़ा ही क्रान्तिकारी हुआ। काव्य का रूप ही बदल गया। काव्य भाषा के माधुर्य की वह कसौटी बदल गयी जो व्रजभाषा मात्र पर ही लागू होती थी। खड़ी बोली की प्रकृति का भी इसमें बड़ा हाथ था। इस भाषा को सवारने-सजाने में संस्कृत का सहारा लिया गया। बीसवीं शताब्दी का प्रथम दशक इसी में लग गया। दो बातें देखने में आईं। आचार्य द्विवेदी के नेतृत्व में जो प्रयत्न हुआ उससे भाषा में गद्यात्मकता आ गयी। वह काव्य की भाषा के रूप में सन्तोषजनक न लगी। 'प्रसाद -पन्त--'निराला' ने जो रूप दिया वह प्रसादगुण विहीन हो गया। दोनों ही स्थितियों में भाषा जन समूह की अपनी भाषा नहीं रह गयी। 'प्रसाद' पन्त 'निराला', महादेवी, रामकुमार वर्मा, आदि ने बहुत अच्छा लिखा है लेकिन जो कुछ लिखा है वह जनता का अपना न हो सका। वह वर्ग विशेष की निधि है।

पुनरुत्थान से प्रेरणा पाकर जब हम सँभले और देश के गौरवपूर्ण भविष्य की कामना करने लगे तब पाश्चात्य विचारधाराओं का भी हमने उपयोग करना चाहा। इसी समय साम्यवादी विचारधारा सामने आई। उसकी युक्तियुक्तता से आकृष्ट होकर कुछ लोगों ने उसे अपनाने का प्रयत्न किया। हिन्दी के ऐसे साहित्यिकों ने मार्क्सवादी साहित्य का प्रणयन किया। मार्क्सवाद में ईश्वर के लिए स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि अनीश्वरवादी भावनाओं की एवं ईश्वर के प्रति आक्रोश व्यक्त करने वाली रचनाएँ भी सामने आईं।

उपर्युक्त साहित्य सिद्धान्त प्रधान रहा क्यों कि जीवन अभी उसके अनुसार ढल नहीं पाया था और वह हमारी संस्कृति नहीं बन पाया था।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुगठित एवं सुव्यवस्थित संस्थाओं का उपयोग पाश्चात्य विधान है और हिन्दी के सेवकों ने इसका उपयोग यथाशक्य उत्साह और लगन के साथ किया है।

सैद्धान्तिक प्रारूपों में इनका विनिमय—

बीसवीं शताब्दी के भारत की संस्कृति के इन विभिन्न उपादानों का महत्व असाधारण है। इनके बिना आधुनिक भारतीय जीवन सम्बन्धी सैद्धान्तिक प्रारूपों की कल्पना ही नहीं हो सकती। सिद्धान्त के रूप में हम इस युग की जो धारणा बनाना चाहेंगे तत्व रूप में ये निष्कर्ष अवश्य ही उसमें उपस्थित होंगे।

इस युग को हम आधुनिक भारत का पुनरुत्थान-काल या संस्कृति काल कह

सकते हैं। हमारे जीवन और समाज की समस्त क्रियाएँ इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर नियोजित की गयी हैं।

स्वार्थपूर्ण एवं शोषण-प्रधान अँग्रेजी साम्राज्यवाद ने भारत का सभी प्रकार से अहित किया था और हमारी अवस्था अत्यन्त करुण हो गयी थी।

राजनीतिक परतन्त्रता के कारण उन घटनाओं ने जीवन को और भी अधिक दयनीय बना दिया था स्वतन्त्र रहने पर जिनका निवारण हम कर सकते थे और इसलिए देश में क्षोभ का वातावरण बन गया था और स्वाधीनता प्राप्त करने की तीव्रतम इच्छा पैदा हो गयी थी।

अँगरेजों ने राज्य-शासन और अधिकार को हमारे शोषण का साधन बनाया था। इसीलिए हमने सबसे पहले उनके इस शासन और अधिकार को समाप्त करना ही अर्थात् उनकी राजनीतिक परतन्त्रता से मुक्त होना ही हमने अपना लक्ष्य बनाया।

सामान्यत सांस्कृतिक और विशेषत राजनीतिक पराधीनता के परिणाम-स्वरूप हमारे समाज में कुछ दोष आगए थे जिन्होंने जीवन, दृष्टिकोण और साहित्य सभी पर अपना निश्चित प्रभाव डाला।

भारत की अपनी परम्पराएँ इतनी समर्थ थी कि वे भारत को पूर्ण रूप से मृत या नष्ट कभी-भी नहीं होने दे सकती थीं।

अस्तु, नवोत्थान की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप हमारे अन्दर अपनी वर्तमान दुर्दशा और उसके कारणों को ठीक से समझ लेने की प्रेरणा और क्षमता उत्पन्न हुई, अपनी पुरानी महानता को पुन प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई, समाज में सर्वतोमुखी सुधार करने के दृष्टिकोण और स्वरूप प्राप्त करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई, आत्महीनता की ग्रन्थि यथासम्भव नहीं उत्पन्न होने पाई, आस्था-विहीन न होने की प्रवृत्ति बनी, लघुताओं, त्रुटियों एवं दोषों से अपने दृष्टि-कोण अपनी विचारधारा को यथासम्भव बचाए रखने की इच्छा पैदा हुई, सीमाओं और अभावों के होते हुए भी कर्त्तव्यपालन की दृढ़ इच्छा-शक्ति बराबर रही तथा यथार्थ और बौद्धिकता पर आदर्श और भावुकता का अंकुश बनाए रखने का औचित्य समझ में आया।

साहित्य के क्षेत्र में पश्चिम से हमने जो-कुछ लिया उसे अपना बना कर लिया। यह लेना इसलिए भी आवश्यक हो गया था कि हमारे जीवन की व्यवस्थाएँ थोड़ी-बहुत पश्चिम की जीवन-व्यवस्था के ढग पर हो रही थीं जिसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम की साहित्यिक विधाएँ भी हमारी तात्कालिक जीवन-व्यवस्था और उसकी अभिव्यक्ति के अनुकूल हो गयीं क्योंकि साहित्यिक विधाओं के स्वरूप का

सम्बन्ध जीवन की व्यवस्था के अनुसार होता है।

भारतीय संस्कृति की जो परम्पराएं हमें पीढ़ियों से मिलती चली आ रही थी और जो अब हमारी जातीय विशेषताएं बन गयी थी अथवा जिनका ज्ञान हमें अध्ययन के द्वारा हुआ था उनके कारण हमारी दृष्टि संकुचित नही होने पायी, हममें अनावश्यक कट्टरता कम-से-कम मात्रा मे रह गयी, हममे द्वेष बहुत कम आने पाया, हमारी समन्वय वृत्ति सक्रिय रही और हम नि सकोच रूप से ग्रहण कर सके और दे सके।

लक्ष्य की एकता के कारण उपर्युक्त प्रवृत्तिया एक दूसरे की सहयोगिनी और सम्बन्धिनी बन जाती हैं। एक दूसरे मे लीन भी हो जाती हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता के आन्दोलनो मे आध्यात्मिक और नैतिकता समा गयी। इस दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि प्रथम उपादान के परिणामस्वरूप ही दूसरे उपादान का उदय होता है। तात्पर्य यह है कि राजनीतिक पराधीनता का ही यह फल हुआ कि यद्यपि हमारे देश मे युद्ध नही हुए फिर भी युद्ध-जन्य परिस्थितियो की विभीषिकाओ से हम उतने ही आक्रान्त हुए जितने युद्ध-रत देश। पराधीनता का दुष्परिणाम यह हुआ कि युद्ध जीतकर भी हम विजयोल्लास से आल्हादित नही होने पाए। इस क्षेत्र मे अंगरेजो ने जो नीति अपनाई थी उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता की भावना मे अधिकाधिक उबाल आता गया। तात्पर्य यह है कि इस दूसरे उपादान से ग्यारहवा उपादान अर्थात् राष्ट्रीयता पोषित हुई। इस ग्यारहवें उपादान का सम्बन्ध तीसरे उपादान अर्थात् सांस्कृतिक पुनर्जागरण से हो गया। इस सम्मिलन ने हमारी राष्ट्रीयता को विलक्षणता प्रदान की। इन तीसरे उपादान का घनिष्ठतम सम्बन्ध—कारण कार्य सम्बन्ध-पाँचवे (समन्वयशील प्रकृति), सातवें (आत्मतत्व के प्रति आस्था) और चौथे (भारतीय अन्तर्चेतना) उपादानो से हुआ। गान्धीवाद और सत्याग्रह अर्थात् बारहवें उपादान की प्राप्ति भी तीसरे उपादान से ही सम्भव हुई और इसी तीसरे उपादान की पृष्ठभूमि मे ही आठवा उपादान अर्थात् प्रगतिशील मध्यवर्ग की सक्रियता, दसवा उपादान (नारी जागरण) तथा छठवा उपादान अर्थात् ग्रहणशील प्रकृतिशील पनप सकी और हम इन उपादानो से लाभान्वित हो पाए। इसी प्रकार आधुनिक युग की सस्कृति के छठवें उपादान के सुफल के रूप मे ही तेरहवें उपादान की प्राप्ति हुई। तात्पर्य यह है कि नवीनतम संस्कृति के ये उपकरण एक-दूसरे के निकट भी हैं, एक दूसरे के अनुरूप भी हैं एक दूसरे के अनुकूल भी हैं, इनका एक दूसरे मे प्रवेश भी होता है और इनमे पारस्परिक विनिमय भी होता हैं। इन्होने आपस मे एक दूसरे को बहुत प्रभावित किया है। उदाहरण के रूप मे, तीसरे (सांस्कृतिक पुनर्जागरण)

और तेरहवें (पाश्चात्य तत्व) के एक दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव असंदिग्ध ही नहीं महत्वपूर्ण भी हैं।

साहित्यिकों के मानस पर इनका प्रभाव—

हमारे साहित्य की रचना उदार हृदय सेवा–भावना से प्रेरित कर्तव्यपरायण त्यागी–बलिदानी आदर्शवादी उच्चतर तथा प्रगतिशील मानस वाले अनुभूति प्रधान व्यक्तियों ने की है। साहित्यिक का मानस प्रकृतितः अनुभूति–प्रधान होता है। वह जनसाधारण की अपेक्षा कहीं अधिक भावुक होता है जीवन की जिन परिस्थितियों को साधारण स्वभाव का मानव सहज रूप में स्वीकार कर लेता है उन्हें साहित्यकार विवशता के कारण स्वीकार करके भी संवेदनशील मानस में स्वीकार नहीं करता। उसके अन्दर असंतोष क्षोभ, आक्रोश विद्रोह की भावनाएँ सक्रिय रहती हैं। शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाज साम्राज्यवादी अंगरेज की कूटनीति एवं स्वार्थ वृत्ति के परिणामस्वरूप जिस दुर्दशा में ग्रस्त हो गया था उसे हमारा सजग साहित्यकार प्रत्यक्ष रूप से देखता और अनुभव करता था और उन अनुभूतियों को किसी न किसी प्रकार अपने साहित्य में अभिव्यक्त करता रहता था। किसी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव में ये अभिव्यक्तियाँ निरुद्देश्य एवं असफल हो जातीं किन्तु हमारा यह साहित्यिक उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दुत्व के नवोत्थान की छाया में उत्पन्न हुआ था और इसी छाया में उसकी चेतना का विकास भी हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वह निरुद्देश्य नहीं होने पाया। अनेक महान आत्माओं की साधना चिन्तन, मनन उपदेशों व्याख्यानों और पुस्तकों के प्रचार के परिणामस्वरूप समाज में नवोत्थान की प्रवृत्तियाँ गतिशील हुई थीं। उन्हीं व्याख्यानों, और उपदेशों को हमारे साहित्यिक ने सुना। उन्हीं पुस्तकों का उसने अध्ययन और मनन किया। इन महात्माओं में से कुछ के सम्पर्क में हमारे साहित्यिक आए भी। परिणाम यह हुआ कि इनके अन्दर भी कुछ विशेष आकांक्षाएँ उत्पन्न हो गयीं। मूल स्रोत के एक ही होने के कारण इन साहित्यिकों की आशाओं–आकांक्षाओं और समाज की आशाओं–आकांक्षाओं में अनुरूपता और एकरूपता आ गयी। अस्तु साहित्यिकों का मानस इस स्थिति में हो गया कि समाज की भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियाँ– उपर्युक्त निष्कर्ष — उसको प्रभावित कर सकें। साहित्यिक प्रभावित हुआ। व्यक्तिगत क्षमताओं शक्तियों, सामर्थ्यों रुचियों, अनुभवों, पारिवारिक परम्पराओं, शिक्षा–दीक्षा के प्रकारों और स्वरूपों अपने–अपने उत्तरदायित्वों और परिस्थितियों के परिणामस्वरूप किसी साहित्यिक की कृतियों में उपर्युक्त निष्कर्षों में से कुछ मिलेंगे और किसी में कुछ किसी में कुछ अधिक मिलेंगे और किसी में कुछ कम, किन्तु यदि हम इस युग

·····फिर भी इस युग के सत्य को यथाशक्ति लोकभाषा में लिखकर देश की जनता को वे उद्बुद्ध करते रहे।[1]

विश्व की दो महानतम संस्कृतियों के—जिनमें से एक का अतीत अद्वितीय रूप से महान था और दूसरे का वर्तमान असाधारण रूप से प्रभावशाली और आकर्षक तथा जिनमें से एक के कुछ अनावश्यक एवं असामयिक तत्वों को निकालना अनिवार्य था और दूसरे की तरुणाई को कुछ विवेक देना आवश्यक था—संगम के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के कारण जो हमारा आधुनिक हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी के इस प्रथमार्द्ध में बना उसको नये क्षितिज, नये आयाम नई छायाएँ, नई रचनाएँ और नये आस्वाद मिले जिसके परिणामस्वरूप—

औरै भांति कुंजन में गुंजरत भौंर-भौर
औरै डार औरन में बौरन के ह्वै गयो।
कहै 'पद्माकर' सु औरै भांति गलियान
छलिया छबीले छैल और छबि छ्वै गयो।
औरै भांति बिहंग समाज में अवाज होत
ऐसे ऋतुराज के न आज दिन द्वै गयो।
औरै रस, औरै रीति, औरै राग, औरे रंग,
औरे तन, औरे मन, औरे बन ह्वै गयो।

१—'हिन्दी साहित्य', पृष्ठ ५०७

परिशिष्ट (अ)

हिन्दी पुस्तक सूची

पुस्तक नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशन वर्ष
१—अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अधिवेशन के साहित्य-परिषद के सभापति रामकुमार वर्मा का भाषण।			
२—अध्ययन और आस्वाद	गुलाबराय	—	१९५७ ई०
३—अनामिका	निराला	दूसरा सं०	२००५ वि०
४—अनुशीलन	रामकुमार वर्मा	पहला	१९५७ ई०
५—अर्वाचीन भारत का इतिहास	ईश्वरीप्रसाद	पहला	१९५८ ई०
६—आँसू	जयशंकर 'प्रसाद'	—	सं० २००६ वि०
७—आकाश-गंगा	रामकुमार वर्मा	पहला	१९४९ ई०
८—आकाश-दीप	जयशंकर प्रसाद	—	१९५५ ई०
९—आज का भारतीय साहित्य	—	दूसरा	१९६२ ई०
१०—आत्मकथा	राजेन्द्रप्रसाद	संशोधित संस्करण	१९५७ ई०
११—आत्मकथा	मू० ले० महात्मा गाँधी अनु० काशीनाथ त्रिवेदी	—	१९५७ ई०
१२—आधुनिक कवि भाग २	पन्त	—	१९५८ ई०
१३—आधुनिक कवि भाग ३	रामकुमार वर्मा	—	१९९८ वि०
१४—आधुनिक कहानियां	—	पहला	१९५२ ई०
१५—आधुनिक काल का इतिहास	सी डी एम केटेलबी	—	१९५८ ई०
१६—आधुनिक काव्य धारा	केसरीनारायण शुक्ल	तीसरा	२००७ वि०
१७—आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत	केसरीनारायण शुक्ल	पहला	२००४ वि०
१८—आधुनिक भारत	शंकरदत्तात्रेय जावडेकर	—	१९५३ ई०
१९—आधुनिक भारत का निर्माण	एम आर शर्मा	—	१९५८ ई०
२०—आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे वाजपेयी	पहला	२००७ वि०
२१—आधुनिक साहित्य की आर्थिक भूमिका	शिवनाथ	पहला	२००६ वि०
२२—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां	नगेन्द्र	—	२००८ वि०
२३—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना	पुत्तूलाल शुक्ल	पहला	२०१४ वि०
२४—आधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	तीसरा	१९५४ ई०
२५—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	श्री कृष्णलाल	तीसरा	१९५४ ई०
२६—आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	पहला	१९५२ ई०

२७ - आर्य संस्कृति	बलदेव उपाध्याय	दूसरा	१९५४ ई०
२८—इस्लाम की रूपरेखा	राहुल सांकृत्यायन	दूसरा	१९५६ ई०
२९—इस्लाम का परिचय	मौलवी अबू मुहम्मद इमामुद्दीन	पहला	१९४७ ई०
३०—उत्तरा	पन्त	पहला	१९४९ ई०
३१—उद्भव घातक	रामाकर	—	—
३२—उपयोगितावाद	मू०ले० स्टुअर्ट मिल अनु० उमरावसिंह	पहला	१९२४ ई०
३३—कर्मयोग	विवेकानन्द	तीसरा	१९५४ ई०
३४—कला और संस्कृति	वासुदेवशरण अग्रवाल	दूसरा	१९५८ ई०
३५—कला-साहित्य-शास्त्र	हरिदत्त दुबे	पहला	१९६० ई०
३६—कांग्रेस का इतिहास (संक्षिप्त)	पट्टाभि सीतारामैया	पहला	१९५८ ई०
३७—कामायनी	'प्रसाद'	—	२०१३ ई०
३८—कामायनी में काव्य,संस्कृति,दर्शन	द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	पहला	१९५९ ई०
३९—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	'प्रसाद'	—	२०१० वि०
४०—काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र	दूसरा	१९५१ ई०
४१—काव्य और संगीत का पारस्परिक संबंध	उमामिश्र	पहला	१९६२ ई०
४२—काव्य और भूमिका	'दिनकर'	पहला	१९९८ वि०
४३—काव्य में रहस्यवाद	रामचन्द्र शुक्ल	पहला	१९८६ वि०
४४—कुछ स्मृतियां और स्फुट विचार	सम्पूर्णानन्द	पहला	२०१८ वि०
४५—कोणार्क	जगदीशचन्द्र माथुर	दूसरा	२०११ वि०
४६—कौमुदी महोत्सव	रामकुमार वर्मा	पहला	१९४१ ई०
४७—क्षणदा	महादेवी वर्मा	पहला	२०१३ वि०
४८—खण्डित भारत	राजेन्द्रप्रसाद	दूसरा	२००३ वि०
४९—गान्धीवाद और मार्क्सवाद	श्रीकृष्णदत्त पालीवाल	पहला	१९४६ ई०
५०—गान्धीवाद और समाजवाद	सम्पूर्णानन्द	चौथा	१९४८ ई०
५१—ग्राम्या	पन्त	—	२००८ वि०
५२—गोदान	प्रेमचन्द	—	१९५४ ई०
५३—गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्र शुक्ल	सातवां	२००८ वि०
५४—चन्द्रगुप्त मौर्य	'प्रसाद'	ग्यारहवां	२०१५ वि०
५५—चिंतामणि (दोनों भाग)	रामचन्द्र शुक्ल	—	१९५० ई०
५६—चिदम्बरा	पन्त	पहला	१९५९ ई०
५७—चित्रलेखा	भगवतीचरण वर्मा	—	२०१६ वि०

५८—छन्द प्रभाकर	जगन्नाथप्रसाद 'भानु'	—	१९२५ ई०
५९—जीवन के तत्व और काव्यके सिद्धान्त	लक्ष्मीनारायण सुधांशु	—	१९५० ई०
६०—ज्योति-विहग	शान्तिप्रिय द्विवेदी	—	२००८ वि०
६१—ज्ञानयोग	विवेकानन्द	—	१९५० ई०
६२—झरना	'प्रसाद'	—	२००९ वि०
६३—दादा कामरेड	यशपाल	छठा	१९५२ ई०
६४—दीपशिखा	महादेवी वर्मा	दूसरा	१९४६ ई०
६५—दुखी भारत	लाजपत राय	—	१९२८ ई०
६६—दो-आब	शमशेरबहादुर सिंह	—	१९४८ ई०
६७—ध्रुवस्वामिनी	प्रसाद	पन्द्रहवां	२०१६ वि०
६८—नया साहित्य नये प्रश्न	नन्ददुलारे वाजपेयी	पहला	१९५५ ई०
६९—नये पुराने झरोखे	'बच्चन'	पहला	१९६२ ई०
७०—निबन्ध नवनीत	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	पहला	१९५७ ई०
७१—नीरजा	महादेवी वर्मा	—	१९५१
७२—नूतन ब्रजभाषा काव्य मंजरी	रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	पहला	१९६० ई०
७३—पथ के साथी	महादेवी वर्मा	पहला	१९५६ ई०
७४—परिमल	'निराला'	छठां	१९५४ ई०
७५—पल्लव	पन्त	पांचवां	२००५ वि०
७६—पल्लविनी	पन्त	—	१९४७ ई०
७७—पाश्चात्य दर्शनोंका इतिहास	देवराज	—	१९५२ ई०
७८—पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव	आर एस वर्मा	पहला	१९६० ई०
७९—प्रबंध प्रतिमा	निराला	पहला	१९४० ई०
८०—प्रसाद का काव्य	प्रेमशंकर	पहला	२०१२ वि०
८१—प्रार्थना प्रवचन भाग १	गांधी	दूसरा	१९५३ ई०
८२—प्रार्थना प्रवचन भाग २	गान्धी	दूसरा	१९५४ ई०
८३—प्रिय प्रवास मे काव्य संस्कृति और दर्शन	द्वारिकाप्रसाद सक्सेना	पहला	१९६० ई०
८४—पृथ्वीराज की आंखें	रामकुमार वर्मा	सातवां	२००४ वि०
८५—बंगला पर हिन्दी का प्रभाव	ब्रह्मानन्द	पहला	१९६२ ई०
८६—बन्दी जीवन भाग १	शचीन्द्रनाथ सान्याल	चौथा	१९३८ ई०
८७—बन्दी जीवन भाग २	शचीन्द्रनाथ सान्याल	चौथा	१९३८ ई०
८८—बापू के कदमो मे	राजेन्द्रप्रसाद	—	१९५० ई०

१५०—वेदान्त धर्म	'विवेकानन्द	पहला	१९३५ ई०
१५१—शिल्प और दर्शन	पन्त	पहला	१९६१ ई०
१५२—शेष स्मृतियाँ	रघुवीर सिंह	पहला	१९३९ ई०
१५३—श्री रामकृष्ण परमहंस	स्वामी चिदात्मानन्द	दूसरा	—
१५४—संस्कृति का दार्शनिक विवेचन	देवराज	—	१९५७ ई०
१५५—संस्कृति के चार अध्याय	'दिनकर'	पहला	१९५६ ई०
१५६—सांस्कृतिक भारत	भगवतशरण उपाध्याय	पहला	१९५९ ई०
१५७—सभ्यता और संस्कृति	हजारीलाल द्विवेदी	दूसरा	१९५५ ई०
१५८—सर्वोदय दर्शन	दादा धर्माधिकारी	—	१९६० ई०
१५९—सत्यार्थप्रकाश	दयानन्द	२४वां	१९६१ ई०
१६०—सतरंगिनी	'बच्चन'	—	१९५१ ई०
१६१—समय और हम	जैनेन्द्र	पहला	१९६३ ई०
१६२—समन्वय	भगवानदास	पहला	१९५४ ई०
१६३—साकेत	मैथलीशरण गुप्त	—	२०१ ई०
१६४—साकेत-एक अध्ययन	नगेन्द्र	सातवां	२०१२ वि०
१६५—साठ वर्ष-एक रेखांकन	पन्त	पहला	१९६० ई०
१६६—सामधेनी	'दिनकर'	तीसरा	१९५५ ई०
१६७—साम्यवाद ही क्यों?	राहुल सांकृत्यायन	१९३१ ई० का रिप्रिन्ट	
१६८—साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध	महादेवी वर्मा	पहला	१९६२ ई०
१६९—साहित्य, शिक्षा और संस्कृति	राजेन्द्रप्रसाद	पहला	१९५२ ई०
१७०—साहित्य का मर्म	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५२ ई०
१७१—सुहागिनें	विद्यावती कोकिल	पहला	१९५२ ई०
१७२—सोपान	'बच्चन'	पहला	२०१५ वि०
१७३—सौन्दर्यतत्त्व	मू०ले० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, अनु० आनन्दप्रकाश दीक्षित	पहला	२०१७ वि०
१७४—सौन्दर्य तत्व और काव्य सिद्धान्त	मू०ले० सुरेंद्रबार लिंगे, अनु० मनोहर काले	पहला	१९६३ ई०
१७५—स्कन्द गुप्त	'प्रसाद'	चौदहवां	२०१८ ई०
१७६—स्वामी रामतीर्थ	बालबोध कार्यालय, बनारस		
१७७—स्वामी रामतीर्थ—उनके उपदेश	रामतीर्थ प्रकाशन लीग, लखनऊ		
१७८—हल्दीघाटी	श्यामनारायण पाण्डेय		

१७६—हिम किरीटिनी	माखनलाल चतुर्वेदी		२००७ वि०
१८०—हिन्द स्वराज्य	गान्धी	पाचवा	१९५३ ई०
१८१—हिन्दी काव्य पर आग्ल प्रभाव	रवीन्द्रसहाय वर्मा	पहला	१९५४ ई०
१८२—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास	भगीरथ मिश्र	पहला	२००५ वि०
१८३—हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन	लक्ष्मीनारायण गुप्त	पहला	१९६१ ई०
१८४—हिन्दी साहित्य	श्यामसुन्दरदास	दसवा	१९५६ ई०
१८५—हिन्दी साहित्य	हजारीप्रसाद द्विवेदी		१९५५ ई०
१८६—हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	ग्यारहवा	१९५७ ई०
१८७—हिन्दी साहित्य का इतिहास	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	पहला	१९५६ ई०
१८८—हिन्दी साहित्यका परिचय	चतुरसेन शास्त्री	पहला	१९५२ ई०
१८९—हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास भाग१	सम्पादित	पहला	१९५७ ई०
१९०—हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारीप्रसाद द्विवेदी	दूसरा	१९४४ ई०
१९१—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	शिवदानसिंह चौहान	दूसरा	१९६१ ई०
१९२—हिन्दुस्तान की कहानी (सक्षिप्त)	जवाहरलाल नेहरू	—	१९५४ ई०
१९३—हिन्दुस्तान की समस्याएँ	जवाहरलाल नेहरू	आठवा	१९५५ ई०
१९४—हिन्दू सस्कृति की रक्षा	इन्द्रविद्या वाचस्पति		१९४० ई०

पत्र-पत्रिकाएँ

अदिति, अवन्तिका, आलोचना, आजकल, कल्पना, कल्याण (हिन्दू सस्कृति अंक), केसरी, धर्मयुग, निकष, प्रतीक, माधुरी, रसवन्ती (अनूप शर्मा विशेषाक, निराला विशेषांक-कृतित्व), विशाल भारत, सकेत, सगम, समालोचक, सम्मेलन पत्रिका (लोक सस्कृति अङ्क, कला अ क), सरस्वती (काग्रेस मिनिस्ट्री अंक, सरस्वती हीरक जयन्ती विशेषाक), हस, हिन्दी-अनुशीलन, हरिजन, हिमालय।

शब्द-सागर

नालन्दा विशाल शब्द-सागर

परिशिष्ट (व)

अंगरेजी पुस्तक सूची

पुस्तक नाम	लेखक	संस्करण	प्रकाशन वर्ष
१–आटोबाइग्राफी	जवाहरलाल नेहरु	—	१९१५ ई० का रिप्रिंट
२–बाबर प्रदेस्ट नीड	क० मा० मुंशी		१९५३ ई०
३–इंडियन इन्हेरिटेंस भाग २	मम्पादित	पहला	१९५६ ई०
४ इंडियन मिडिल क्लासेज	बी बी मिश्र		१९६१ ई०
५–इंडियन इजज	लाला जितकिल		१९५८ ई०
६ इंडियन टु डे	रजनी पामदत्त		१९४६ ई०
७ इस्लाम इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान मरे०टी० टाइटस			१९५९ ई०
८–ईस्ट एण्ड वेस्ट	राधाकृष्णन्	पहला	१९५५ ई०
९ एकनामिक हिस्टी आफ इंडिया	आर सी दत्त	दूसरा	१९०६ ई०
१० एग्रीकल्चरल प्राब्लम आफ इंडिया	सी बी ममोरिया	—	१९५८ ई०
११ एजूकेशन इन इंडिया	एस एन मुकर्जी	चौथा	१९६० ई०
१२ एजूकेशन इन इंडिया	अरकाट लक्ष्मण स्वामी मुदलियार	पहला	१९६० ई०
१३ एजूकेशन इन रिसेन्ट इंडिया	एम अ तेकर	पाचवा	१९५७ ई०
१४ ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इंडिया	नूरुल्ला और नायक		१९५ ई०
१५–ए हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन इन्डिया एण्ड पाकिस्तान	एफ० ई० की नौमरा		१९५९ ई०
१६–कल्चर एण्ड सोसायटी	जी एस घुरे	पहला	१९५८ ई०
१७ कल्चरल यूनिटी आफ इंडिया	सद्दू एमरसन		१९५६ ई०
१८ कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया भाग ३		दूसरा	१९५३ ई०
१९ कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया भाग ४		दूसरा	१९५६ ई०
२० गाधियन प्लान रीकास्ट	एस एन अग्रवाल	पहला	१९४८ ई०
२१ गुजरात एण्ड इटस लिटरेचर	के० एम० मुंशी		१९.५ ई०
२२ टुवर्ड्स यूनिवर्सल मैन	टगोर		१९६१ ई०
२३ ट्राइब्लिज्म	जान मेकजी	पहला	१९५० ई०
२४–डिस्कवरी आफ इंडिया	जवाहरलाल नेहरु		१९५६ ई०
२५–दि आर्य समाज	लाजपतराय		१९१५ ई०
२६–दि इंडस्ट्रियल एवाल्युशन आफ इंडिया इन रीसेंट टाइम्स	डी आर गैडगिल		१९१९ ई०